श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

मोक्षशास्त्र प्रवचन

५, ६, ७, ८, ९ व १० भाग

प्रवक्ता :
अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रकाशक :
खेमचन्द जैन सर्राफ,
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

स्वाध्यायार्थी बन्धु, मन्दिर एवं लाइब्रेरियोंको
भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मन्दिरकी ओरसे अर्धमूल्यमें।

प्रथम संस्करण १०००] सन् १९७६ [लागत १२)५० रु०

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, संरक्षक, अध्यक्ष एव प्रधान ट्रस्टी, सदर मेरठ
(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ
(३) श्रीमान् लाला लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ, सहारनपुर

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके प्रवर्तक महानुभावों की नामावली—

१	श्रीमान् सेठ भवरीलाल जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
२	,, वर्णीसघ ज्ञानप्रभावना समिति, कार्यालय,	कानपुर
३	,, कृष्णचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
४	,, सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
५	श्रीमती सोवती देवी जी जैन,	गिरिडीह
६	श्रीमान् मित्रसैन नाहरसिंहजी जैन,	मुजफ्फरनगर
७	,, प्रेमचन्द ओमप्रकाश, प्रेमपुरी,	मेरठ
८	,, सलेखचन्द लालचन्द जी जैन,	मुजफ्फरनगर
९	,, दीपचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
१०	,, बारूमल प्रेमचन्द जी जैन,	मसूरी
११	,, बाबूराम मुरारीलाल जी जैन,	ज्वालापुर
१२	,, केवलराम उग्रसैन जी जैन,	जगाधरी
१३	,, सेठ गैदामल दगडूशाह जी जैन,	सनावद
१४	,, मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मडी,	मुजफ्फरनगर
१५	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन,	देहरादून
१६	श्रीमान् जयकुमार वीरसैन जी जैन,	सदर मेरठ
१७	,, मत्री, जैन समाज,	खण्डवा
१८	,, बाबूराम अकलकप्रसाद जी जैन,	तिस्सा
१९	,, विशालचन्द जी जैन रईस,	सहारनपुर
२०	,, बा० हरीचन्दजी ज्योतिप्रसाद जी जैन, ओवरसियर,	इटावा
२१	श्रीमती सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जैनसघी,	जयपुर
२२	,, मत्राणी, दिगम्बर जैन महिला समाज,	गया
२३	श्रीमान् सेठ समल जी पाण्ड्या,	गिरिडीह
२४	,, बा० गिरनारीलाल चिरजीलाल जी जैन,	,,
२५	,, बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी	,,

२६	श्रीमान्	सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी,	मुजफ्फरनगर
२७	,,	सुखबीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ,	बडौत
२८	,,	गोकुलचद हरकचद जी गोधा,	लालगोला
२९	,,	दीपचंद जी जैन रिटायर्ड सुप्रिन्टेन्डेन्ट इजीनियर,	कानपुर
३०	,,	मत्री, दि० जैनसमाज, नाई की मंडी,	आगरा
३१	श्रीमती	सचालिका, दि० जैन महिलामडल, नमककी मडी	,,
३२	श्रीमान्	नेमिचन्द जी जैन, रुडकी प्रेस,	रुडकी
३३	,,	भब्बनलाल शिवप्रसाद जी जैन, चिलकाना वाले,	सहारनपुर
३४	,,	रोशनलाल के० सी० जैन,	,,
३५	,,	मोल्हडमल श्रीपाल जी, जैन, जैन वेस्ट	,,
३६	,,	बनवारीलाल निरजनलाल जी जैन,	शिमला
३७	,,	सेठ शीतलप्रसाद जी जैन,	सदर मेरठ
३८		दिगम्बर जैनसमाज,	गोटेगाँव
३९	श्रीमती	माता जी धनवती देवी जैन, राजागज,	इटावा
४०	श्रीमान्	ब्र० मुख्त्यारसिंह जी जैन, "नित्यानन्द"	रुडकी
४१	,,	लाला महेन्द्रकुमार जी जैन,	चिलकाना
४२	,,	लाला आदीश्वरप्रसाद राकेशकुमार जैन,	,,
४३	,,	हुकमचद मोतीचद जैन,	सुलतानपुर
४४	,,	ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन,	सदर मेरठ
४५	,,	इन्द्रजीत जी जैन, वकील, स्वरूपनगर,	कानपुर
४६	श्रीमती	कैलाशवती जैन, ध० प० चौ० जयप्रसाद जी,	सुलतानपुर
४७	श्रीमान्	* गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, बजाज,	गया
४८	,,	* बा० जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छावडा,	झूमरीतिलैया
४९	,,	* सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन वडजात्या,	जयपुर
५०	,,	* बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. आ.	सदर मेरठ
५१	,,	× जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन,	सहारनपुर
५२	,,	× जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन,	शिमला

नोटः—जिन नामोंके पहले * ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आ गये हैं, शेष आने हैं तथा जिन नामोके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नही आया, सभी बाकी है।

आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं रागवितान।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मै हूं वह है भगवान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुःख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुंचू निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मै जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ॥५॥

•••○○•••

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरोंपर निम्नाकित पद्धतियों में भारतमे अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है। आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमे श्रोतावो द्वारा सामूहिक रूपमे।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरपर।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समय छात्रो द्वारा।
४—सूर्योदयसे एक घटा पूर्व परिवारमे एकत्रित बालक, बालिका, महिला तथा पुरुषो द्वारा।
५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओ द्वारा।

मोक्षशास्त्र प्रवचन

पंचम व षष्ठ भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥९॥

तत्त्वोके अधिगमके उपायभूत प्रमाणके विवरणका प्रारम्भ—मोक्षशास्त्रका यह ९वां सूत्र है, इसमे अन्वयव्यतिरेकात्मक ज्ञानका परिचय कराया है। ज्ञान ५ प्रकारके है—१—मतिज्ञान, २—श्रुतज्ञान, ३—अवधिज्ञान, ४—मनःपर्ययज्ञान और ५—केवलज्ञान। यह सूत्र यहाँ क्यो रखा गया? इसका प्रसग क्या? तो जैसे बताया था कि मोक्षशास्त्रका प्रथम अध्याय वस्तुस्वरूप जाननेके उपायका वर्णन करने वाला है। प्रासगिक बात वर्तमानमे तीन चार सूत्रोमे कहकर आगे सभी उनके जाननेके उपायोको बताने वाला वर्णन है। कैसे उन तत्त्वोका न्यास होता है। कैसे उनका अधिगम होता है? तो बताया गया था कि प्रमाण और नयोसे तत्त्वका जानना होता है। तो प्रमाण क्या चीज है, उसके विवरणमे कुछ सूत्र आयेंगे और अन्तमे नय क्या चीज है, इसके वर्णनमे सूत्र आयेगे। इस तरह वस्तुके जाननेका उपाय वर्णन करनेमे प्रथम अध्याय समाप्त हो गया। उसके बाद उन तत्त्वोका वर्णन चलेगा। यद्यपि सामान्य तौरसे ऐसा कह देते है कि पहले चार अध्यायोमे जीव तत्त्वका वर्णन है, पर जो प्रस्तावित किए गए ७ तत्त्व है उनमे जीवतत्त्वका वर्णन द्वितीय अध्यायमे शुरू होता है। जहाँ जीवके स्वतत्त्व बताये गए वहाँ पहले अध्यायमे तत्त्वके जाननेके जो उपाय बताये गए है वह उपाय है ज्ञानात्मक और ज्ञान है आत्माका तत्त्व। इसलिए प्रथम अध्यायको भी जीवतत्त्वके वर्णनमे शामिल कर लिया गया। पर उसमे विश्लेषण करें तो पहला अध्याय तो प्ररूपित है अधिगमके उपायका वर्णन करनेमे, और दूसरे अध्यायसे है प्रस्तावित जीव तत्त्वका वर्णन। तो प्रमाण क्या चीज है उसका विवरण किया जा रहा। प्रमाण ज्ञान होता है, अन्य कुछ प्रमाण नही होता। वैसे लोकमे कहते है ऐसा कि कब्जा भी प्रमाण है, गवाह भी प्रमाण है, दस्तावेज भी प्रमाण है। जैसे कागज होता है रजिस्ट्री किया हुआ तो उसे अदालतमे पेश कर देते हैं कि तुम्हारे पास क्या प्रमाण है, तो उन्होने कागज पेश कर दिया

कि यह प्रमाण है। सो कई प्रकारसे लोग कहते, लेकिन उस कागजका अर्थ क्या ? उस कागजमे जो लिखा है उससे जो ज्ञान बना वह ज्ञान प्रमाण बना। ज्ञान ही प्रमाण है, अन्य कुछ प्रमाण नही होता। और उसका कारण बताया है न्यायशास्त्रमे कि हितका लाभ और अहितका परिहार करनेमे समर्थ चूकि ज्ञान ही है, अतएव ज्ञान प्रमाण है। और उस ज्ञानकी व्याख्या की है—जो स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय करने वाला हो वह कहलाता है प्रमाण अर्थात् ज्ञान। तो प्रमाणका वर्णन, ज्ञानका वर्णन, वह एक ही चीज होती है।

शक्तिव्यक्त्यात्मक ज्ञानकी सिद्धि—यहाँ इस सूत्रके कहनेसे एक और दार्शनिक बात स्पष्ट होती है कि कुछ लोग मानते है कि हाँ ज्ञान ही तत्त्व है। और ऐसा ज्ञान, जो ध्रुव है, अपरिणामी है, सर्वव्यापक है, सर्वरूप है, ऐसा ज्ञानब्रह्म वह ही एक तत्त्व है। उन्होंने ज्ञानकी दशा, ज्ञानकी पर्याय, ज्ञानकी व्यक्ति स्वीकार नही की, ऐसे ज्ञानाद्वैती, ब्रह्माद्वैती, सम्वेदनाद्वैती, प्रतिभासाद्वैती आदि अनेक दार्शनिक है जो यह स्वीकार करते है कि ज्ञान अन्वयरूप ही होता है। अगर सोचा जाय कि जगतमे कोई भी तत्त्व ऐसा है क्या जो अन्वयरूप हो ? अर्थात् जो केवल द्रव्यमात्र हो, अथवा केवल एक स्वभावमात्र हो। पर्याय कुछ न हो, परिणति कुछ न हो, व्यक्ति कुछ न हो, ऐसा जगतमे कोई सत् नही होता। जो भी सत् है वह द्रव्यपर्यायात्मक ही होता है। तो अन्वयमात्र सत् नही, किन्तु अन्वयव्यतिरेकात्मक सत् होता है। व्यतिरेक मायने पर्याय, अन्वय मायने द्रव्यत्व। देखो उन दार्शनिकोने काम तो करना चाहा बहुत भला, जिसको जैनशासन भी एक नयसे समर्थित करता है। आखिर जब कुछ सोचा, तत्त्वका परिचय किया, बहुतसी बातें जानी तो जाननेके बाद अन्तमे एक यह प्रश्न हुआ, समस्या आयी कि आखिर अपना हित किसमे है ? किसको शरण मानें, कहाँ दृष्टि दें कि हमारा भला हो ? जगत मे वे दिखने वाले पदार्थ विनाशीक हैं, भिन्न हैं, मायारूप हैं छाया है, इनपर दृष्टि देनेसे क्या प्रभाव होता है ? देखिये प्रथम तो यह उपयोग ही अस्थिर है। विषयवासनाओसे सस्कृत होनेसे यह उपयोग अस्थिर हो गया और फिर यह उपयोग करे अस्थिरको विषयभूत तो विषय भी अस्थिर, उपयोग भी अस्थिर, ऐसेमे गुजारा कैसे चलेगा ? तो पहले यह बात निमित्तकी कहेगे, विषय तो स्थिर हो। एक ओरसे तो बेपरवाही हो, कि लो अब विषय क्या है ? स्थिर विषय है, अन्वयरूप विषय है। व्यतिरेक तो सब अस्थिर होता। अन्वयरूप द्रव्यत्व है—इसमे भी अनेक धारणायें चली। किसी ने सत् ब्रह्म कहा, पर सत् स्व भी है, पर भी है, अनेक सब कुछ है। तो जानने वाला तो यह उपयोग हो और विषय बने कोई पर तो उसमे भी एक रास्ता नहीं हो सकता। कोई निजका अन्वय होना चाहिए, तो वह मिला क्या ? ज्ञानस्वभाव। देखिये आत्मा चाहने वालेको इस सहज निरपेक्ष ज्ञानस्वभावका शरण गहना चाहिए। इसका आलम्बन, इसका आश्रय, इसकी मग्नता होनी चाहिए। इतने प्रयो-

जनको देखते हो तो ऐसा लगता है कि उन दार्शनिकोंने बहुत अच्छा सोचा। एक अन्वयमात्र ज्ञान है, ऐसा ही वह ब्रह्म है, लेकिन वस्तु सत् किस प्रकार होता है? उसके लिये स्पष्ट कथन है—"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक होता है।

प्रतिक्षण पर्यायकी अनिवारितता—देखो गुण तो भेद करके कल्पनाओ द्वारा समझा जायगा, अतएव कोई बहुत ठीक ठीक जाननेको चले तो गुणकी तो उपेक्षा की जा सकती है, क्योकि वहाँ तो स्वभावको भेदकर स्वभावमे ही भेद डालकर गुण समझा जाता है। जैसे कि आत्माका स्वभाव है चैतन्य। अब उस चैतन्यस्वरूपको कैसे जानें? तो कहते है कि देखो जहाँ ज्ञान है, जहाँ दर्शन है सामान्य प्रतिभास, विशेष प्रतिभास अथवा श्रद्धान है, प्रतीति है, रुचि है अनेक बातें कहकर समझाया जा सकता है। तो गुणोको तो हम स्वभावके समझनेके लिए उन भेदोको समझते है, तो एक बार चाहे गुणकी बात न कहे, एक अभेदस्वभावको ही माने तो काम चलेगा। परन्तु पर्यायको न माने तो जैसे स्वभाव न माननेसे वस्तु नही रहती ऐसे ही पर्याय न माननेसे वस्तु नही रहती। पर्यायसे मतलब यहाँ स्वभावकी तरह एक प्रति समयकी अखण्ड पर्याय। पर्यायमे भी भेद किया जाता है, तो गुणभेदकी तरह भिन्न-भिन्न पर्यायें जाननेमे आती हैं। जैसे - मतिज्ञानादिक हैं, ये क्रोधाधिक है, अविकारी या विकारी पर्याय ये सब जाने जाते है। तो स्वभावमे भेद डालकर जैसे अखण्ड स्वभावका परिचय हम गुणो द्वारा करते है, ऐसे ही पर्यायमे भेद डालकर, कुछ भिन्न-भिन्न पर्यायो द्वारा जितने गुण माने समझे हैं उतनी ही उनकी परिणतिया बताकर हम उस अखण्ड पर्यायको समझना चाहते है। जैसे वस्तु अखड है वैसे ही उसकी प्रति समयमे कोई न कोई परिणति है वह भी अवक्तव्य है अखड है, जब जो है तब वह उसे कोई टाल नही सकता। कोई परिणति तो होती ही है प्रति समय, अन्यथा द्रव्यत्व न रहेगा। अब वह परिणति वास्तवमे कैसी है, इसको बतानेके लिए कोई शब्द नही है। तो जैसे व्यवहारसे हम गुणभेद करके स्वभावकी पहिचान करते हैं ऐसे ही पर्याय देख करके हम एक अखण्ड पर्यायको भी समझते है। मतलब यह है कि द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु है, इसमे किसी प्रकारका सशय नही। अब इसमे से कोई केवल द्रव्यअशको ही पूर्ण वस्तु मान ले तो वह जैसे एक एकान्त है एसे ही कोई पर्यायमात्रको ही पूर्ण वस्तु मान ले तो वह एक एकान्त है। वस द्रव्य और पर्याय इनके ही भूलके विस्तारमे अनेक दार्शनिकोकी उत्पत्ति हुई है। तो यह सूत्र उस विवादको सुलझा देता है। ज्ञान केवल अन्वयरूप नही, ज्ञान केवल व्यतिरेकरूप नही। तो मतिज्ञान स्वतत्र चीज हो, श्रुतज्ञान स्वतत्र चीज हो आदिक ये सभी स्वतन्त्र हो सो नही और ज्ञान इन ५ से रहित मात्र एक अन्वय-मात्र जिसकी परिणति नही, व्यक्ति नही, ऐसा हो, सो भी नही; यह ध्वनि निकल रही है मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्—इस सूत्रसे।

कि यह प्रमाण है। सो कई प्रकारसे लोग कहते, लेकिन उस कागजका अर्थ क्या ? उस कागजमे जो लिखा है उससे जो ज्ञान बना वह ज्ञान प्रमाण बना। ज्ञान ही प्रमाण है, अन्य कुछ प्रमाण नही होता। और उसका कारण बताया है न्यायशास्त्रमे कि हितका लाभ और अहितका परिहार करनेमे समर्थ चूकि ज्ञान ही है, अतएव ज्ञान प्रमाण है। और उस ज्ञानकी व्याख्या की है—जो स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय करने वाला हो वह कहलाता है प्रमाण अर्थात् ज्ञान। तो प्रमाणका वर्णन, ज्ञानका वर्णन, वह एक ही चीज होती है।

शक्तिव्यक्त्यात्मक ज्ञानकी सिद्धि—यहाँ इस सूत्रके कहनेसे एक और दार्शनिक बात स्पष्ट होती है कि कुछ लोग मानते है कि हाँ ज्ञान ही तत्त्व है। और ऐसा ज्ञान, जो ध्रुव है, अपरिणामी है, सर्वव्यापक है, सर्वरूप है, ऐसा ज्ञानब्रह्म वह ही एक तत्त्व है। उन्होंने ज्ञानकी दशा, ज्ञानकी पर्याय, ज्ञानकी व्यक्ति स्वीकार नही की, ऐसे ज्ञानाद्वैती, ब्रह्माद्वैती, सम्वेदनाद्वैती, प्रतिभासाद्वैती आदि अनेक दार्शनिक है जो यह स्वीकार करते है कि ज्ञान अन्वयरूप ही होता है। अगर सोचा जाय कि जगतमे कोई भी तत्त्व ऐसा है क्या जो अन्वयरूप हो ? अर्थात् जो केवल द्रव्यमात्र हो, अथवा केवल एक स्वभावमात्र हो। पर्याय कुछ न हो, परिणति कुछ न हो, व्यक्ति कुछ न हो, ऐसा जगतमे कोई सत् नही होता। जो भी सत् है वह द्रव्यपर्यायात्मक ही होता है। तो अन्वयमात्र सत् नही, किन्तु अन्वयव्यतिरेकात्मक सत् होता है। व्यतिरेक मायने पर्याय, अन्वय मायने द्रव्यत्व। देखो उन दार्शनिकोने काम तो करना चाहा बहुत भला, जिसको जैनशासन भी एक नयसे समर्थित करता है। आखिर जब कुछ सोचा, तत्त्वका परिचय किया, बहुतसी बातें जानी तो जाननेके बाद अन्तमे एक यह प्रश्न हुआ, समस्या आयी कि आखिर अपना हित किसमे है ? किसको शरण मानें, कहाँ दृष्टि दें कि हमारा भला हो ? जगत मे ये दिखने वाले पदार्थ विनाशीक है, भिन्न हैं, मायारूप है छाया है, इनपर दृष्टि देनेसे क्या प्रभाव होता है ? देखिये प्रथम तो यह उपयोग ही अस्थिर है। विषयवासनाओसे सस्कृत होनेसे यह उपयोग अस्थिर हो गया और फिर यह उपयोग करे अस्थिरको विषयभूत तो विषय भी अस्थिर, उपयोग भी अस्थिर, ऐसेमे गुजारा कैसे चलेगा ? तो पहले यह बात निमित्तकी कहेगे, विषय तो स्थिर हो। एक ओरसे तो बेपरवाही हो, कि लो अब विषय क्या है ? स्थिर विषय है, अन्वयरूप विषय है। व्यतिरेक तो सब अस्थिर होता। अन्वयरूप द्रव्यत्व है-—इसमे भी अनेक धारणायें चली। किसी ने सत् ब्रह्म कहा, पर सत् स्व भी है, पर भी है, अनेक सब कुछ है। तो जानने वाला तो यह उपयोग हो और विषय बने कोई पर तो उसमे भी एक रास्ता नहीं हो सकता। कोई निजका अन्वय होना चाहिए, तो वह मिला क्या ? ज्ञानस्वभाव। देखिये आत्मा चाहने वालेको इस सहज निरपेक्ष ज्ञानस्वभावका शरण गहना चाहिए। इसका आलम्बन, इसका आश्रय, इसकी मग्नता होनी चाहिए। इतने प्रयो-

जनको देखते हो तो ऐसा लगता है कि उन दार्शनिकोने बहुत अच्छा सोचा। एक अन्वयमात्र ज्ञान है, ऐसा ही वह ब्रह्म है, लेकिन वस्तु सत् किस प्रकार होता है? उसके लिये स्पष्ट कथन है—"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्" वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक होता है।

प्रतिक्षण पर्यायकी अनिवारितता—देखो गुण तो भेद करके कल्पनाओ द्वारा समझा जायगा, अतएव कोई बहुत ठीक ठीक जाननेको चले तो गुणको तो उपेक्षा की जा सकती है, क्योकि वहाँ तो स्वभावको भेदकर स्वभावमे ही भेद डालकर गुण समझा जाता है। जैसे कि आत्माका स्वभाव है चैतन्य। अब उस चैतन्यस्वरूपको कैसे जानें? तो कहते है कि देखो जहाँ ज्ञान है, जहाँ दर्शन है सामान्य प्रतिभास, विशेष प्रतिभास अथवा श्रद्धान है, प्रतीति है, रुचि है अनेक बातें कहकर समझाया जा सकता है। तो गुणोको तो हम स्वभावके समझनेके लिए उन भेदोको समझते है, तो एक बार चाहे गुणकी बात न कहे, एक अभेदस्वभावको ही माने तो काम चलेगा। परन्तु पर्यायको न मानें तो जैसे स्वभाव न माननेसे वस्तु नही रहती ऐसे ही पर्याय न माननेसे वस्तु नही रहती। पर्यायसे मतलब यहाँ स्वभावकी तरह एक प्रति समयकी अखण्ड पर्याय। पर्यायमे भी भेद किया जाता है, तो गुणभेदकी तरह भिन्न-भिन्न पर्यायें जाननेमे आती हैं। जैसे ५ मतिज्ञानादिक हैं, ये क्रोधाधिक है, अविकारी या विकारी पर्याय ये सब जाने जाते है। तो स्वभावमे भेद डालकर जैसे अखण्ड स्वभावका परिचय हम गुणो द्वारा करते है, ऐसे ही पर्यायमे भेद डालकर, कुछ भिन्न-भिन्न पर्यायो द्वारा जितने गुण माने समझे हैं उतनी ही उनकी परिणतिया बताकर हम उस अखण्ड पर्यायको समझना चाहते है। जैसे वस्तु अखड है वैसे ही उसको प्रति समयमे कोई न कोई परिणति है वह भी अवक्तव्य है अखड है, जब जो है तब वह उसे कोई टाल नही सकता। कोई परिणति तो होती ही है प्रति समय, अन्यथा द्रव्यत्व न रहेगा। अब वह परिणति वास्तवमे कैसी है, इसको बतानेके लिए कोई शब्द नही है। तो जैसे व्यवहारसे हम गुणभेद करके स्वभावकी पहिचान करते है ऐसे ही पर्याय देख करके हम एक अखण्ड पर्यायको भी समझते है। मतलब यह है कि द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु है, इसमे किसी प्रकारका सशय नही। अब इसमे से कोई केवल द्रव्यअशको ही पूर्ण वस्तु मान ले तो वह जैसे एक एकान्त है ऐसे ही कोई पर्यायमात्रको ही पूर्ण वस्तु मान ले तो वह एक एकान्त है। बस द्रव्य और पर्याय इनके ही भूलके विस्तारमे अनेक दार्शनिकोकी उत्पत्ति हुई है। तो यह सूत्र उस विवादको सुलझा देता है। ज्ञान केवल अन्वयरूप नही, ज्ञान केवल व्यतिरेकरूप नही। तो मतिज्ञान स्वतत्र चीज हो, श्रुतज्ञान स्वतत्र चीज हो आदिक ये सभी स्वतन्त्र हो सो नही और ज्ञान इन ५ से रहित मात्र एक अन्वयमात्र जिसकी परिणति नही, व्यक्ति नही, ऐसा हो, सो भी नही, यह ध्वनि निकल रही है मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्—इस सूत्रसे।

सूत्रमे निश्चयव्यवहारात्मक वर्णनकी झलक—देखिये आचार्यदेवकी कृतियाँ प्रकृत्या ऐसी बनती है कि जिनके समयमे चाहे वे आचार्य खुद भी न सोचें कि इसमे हमे कोई मर्म रखना है, मगर जो सुलझा हुआ है, ज्ञानी पुरुष है, उसके वचन ऐसे ही सहज निकलते हैं कि जिसमे अनेक मर्म पडे हुए है। देखो सूत्रोमे निश्चय और व्यवहार दोनोकी झलक आती जायगी। जैसे कहा—'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' मोक्षमार्ग निश्चयवचन है, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि व्यवहारवचन है। कैसे ? एक तो वह बहुवचन है और व्यवहारमे बहुत्व होता है और मोक्षमार्ग एकवचन है और एक एकत्वनिश्चय की दृष्टिमे आता है। दूसरे ये तीन है, यह एक है, निश्चयका विषय एक होता है। व्यवहारके विषय अनेक होते है, ऐसे सभी सूत्रोमे और जितनी रचनायें है प्रत्येक कथनोमे, प्रत्येक वाक्योमे केवल निश्चय निश्चयकी ही वात न मिलेगी, केवल व्यवहार-व्यवहारकी ही बात न मिलेगी। वह रचना ही ऐसी है कि ऐसा ही समन्वित हो जाता है कि वह समन्वय झलक जाय। जैसे तत्त्व ७ बताये—'जीवाजीवास्रवबधसवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।' तो तत्त्व यह निश्चयवचन है और जीवाजीवादि व्यवहार वचन है, ये बहुवचनमे है। ये ७ है, तत्त्व एक वचन है, एक है, सामान्य है, तब अर्थ करना चाहिए ये ७ तत्त्व है। बहुवचन भी न बोलें कि ये ७ तत्त्व है और उनकी प्रयोजकता देखें—भूतार्थनयसे अधिगत जो एकता हैं वह प्रयोजन है, यह स्वयं अपने आप प्रकट होता है। इस सूत्रमे भी देखो मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ये ५ हैं। ज्ञानम् एक है, वह बहुवचन है, ज्ञान एक वचन है। ये ५ ज्ञान है। नो ज्ञान अन्वयरूप न हो तो ये ५ नही हो सकते। ये ५ परिणतिया न हो तो अन्वय वाला ज्ञान नही होता।

वस्तुकी अन्वयव्यतिरेकात्मकता—एक दृष्टान्त लो, बालक जवान और बूढा और एक मनुष्य, ये चार बातें समझो। तो मनुष्य तो है अन्वयरूप। जितने अशके लिये दृष्टान्त दिया उतनेमे घटाना है। यहाँ मनुष्य अन्वयरूप है और बालक, जवान, बूढ़ा यह व्यतिरेकरूप है। बालक, जवान, बूढा—इन तीनमे कुछ न हो, ऐसा कोई मनुष्य कोई सामने ला सकेगा क्या ? नही ला सकता। और मनुष्य न हो, केवल बालक ला दे, जवान ला दे या बूढा ला दे तो मिल जायगा क्या ? तो जैसे मनुष्य अन्वयरूप है और बालक, जवान, बूढा व्यतिरेकरूप है। बालक, जवान, बूढा इस व्यतिरेकके बिना मनुष्य नही और मनुष्य अन्वयके बिना बालक जवान बूढा ऐसा व्यतिरेक न मिलेगा। तो ऐसी समस्त वस्तुओकी बात समझ लीजिए कि जितने भी सत् है, जो भी सत् है वे नियमसे उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है। इसीको कहा अन्वय-व्यतिरेक। व्यतिरेकमे आया, उत्पाद, व्यय, अन्वयमे आया ध्रौव्य। तो यह निर्णय सबके विषयमे करें। व्यतिरेक बिना अन्वय नही, अन्वय बिना व्यतिरेक नही, लेकिन अपना एक प्रयोजन यह समझना है कि हम व्यतिरेकको सर्वस्व मान लें और व्यतिरेकको ही हम अपना

लक्ष्य समझते रहे तो यहाँ हमारा (आत्माका) गुजारा ठीक न बनेगा। आत्महितकी दृष्टिसे इस व्यतिरेकको गौण करके अन्वय लक्ष्यमे लेना है और अपने आपमे उस शुद्ध अनस्तत्त्वको निरखना है। जो न कषाय सहित है, न कषायरहित है।

असाधारण शाश्वत लक्षणसे परमार्थ तत्त्वकी प्रसिद्धि—देखो लक्ष्य प्रसिद्ध होता है असाधारण लक्षण दृष्टिमे आनेसे। आत्माका लक्षण न तो कषायसहित है और न कषायरहित है। कषायसहित नही है यह तो झट समझमे आ जायगा कि कषाय औपाधिक है, नैमित्तिक है, परभाव है। भले ही है आत्माकी परिणति, मगर स्वय ही निमित्त बनकर यह आत्मा अपनेमे स्वभावसे विकार बनाता हो ऐसा नही। यदि ऐसा हो तो वह नित्यकर्ता बन जायगा विकारका और यह स्थायी भाव हो जायगा। तो ये कषायें आत्माकी नही, अतएव आत्मा कषायसहित नही, यह बात शीघ्र समझमे आ जायगी। मगर आत्मा कषायरहित नही, इस बातको समझनेमे थोडा विचार करना होगा। कषायरहित इससे आपने समझा क्या ? लक्ष्यमे क्या लिया ? वस्तु लक्ष्यमे आती है विधि द्वारा। जैसे चौकीका क्या स्वरूप है—मैलसहित या मैलरहित। चौकीपर मैल तो आ ही जाता है और वहाँ कोई कहे कि बताओ चौकीका क्या स्वरूप है—मैलसहित या मैलरहित ? तो कहेगे कि मैलसहित, यह तो चौकी नही है, तो चौकी तो अपनेमे सहज स्वय जो है सो है। मैल तो ऊपरसे आया है, मैल सहितपना चौकीका स्वरूप कैसे बता दिया जायगा ? तो क्या चौकी मैलरहित है ? मैलरहित कहनेमे चौकीकी कौनसी बात कही गई यह तो बताओ ? चौकीकी निजकी कोई बात कहनेमे आयी क्या ? कोई बात कहनेमे नही आई है। तो चौकी मैलरहित भी नही, दूसरी बात। जैसे किसी पुरुषको कहा कि कैदमे है तो वह बुरा मानेगा और किसीसे कहा कि कैद से छूट गया तो वह भी बुरा मानेगा। कोई कहेगा कि अच्छी बात तो कह रहे—कैदसे छूट गया, मगर कैदसे छूट गया ऐसा बोलनेमे वह कैदमे था, ऐसा स्मरण तो बना दिया है। आखिर दोषकी बात तो बता दी और यदि पुरुषको प्रशसित करना है तो उसके कहनेका यह ढग नही ? इसी प्रकार आत्माको कहा कषायसहित, वह तो बनता नही स्वभाव दृष्टिमे। क्योकि स्वभाव आत्माका कषायरूप नही है और कषायरहित कहा तो इसमे इतनी बात ख्यालमे आ गई कि यह कषायसहित था, अब कषायरहित है। मगर आत्मस्वभाव कषायरूप अनादि अनन्त कभी भी नही होता। देखो स्वय कोई पदार्थ अपने आपकी ओरसे विकाररूप को लिए हुए हो तो वह पदार्थ अपना सत्त्व ही नही बना सकता। पदार्थका सत्त्व तब ही होता कि जब वह पदार्थ स्वयं अपने आप सहज निरपेक्ष निज विशुद्ध स्वभावको लिए हुए है। तो उस ही स्वभावकी चर्चा एकान्तत. उन दार्शनिकोंने सर्वस्व पूर्ण वस्तु मानकर की कि ज्ञान तो अन्वयरूप ही है। उसका इस सूत्रमे स्वयं निषेध हो गया जब कहा कि मति श्रुत आदिक

भेदमे रहने वाले ज्ञानमे ही तुम अन्वय देख सकोगे। इससे अतिरिक्त आप अन्वय ही नही देख सकते। जैसे बालक, जवान, बूढा—इन अवस्थाओमे ही तुम मनुष्य देख सकोगे, अलगसे मनुष्य न देख सकोगे, इसलिए वस्तुको अन्वयव्यतिरेकात्मक मानियेगा।

सत्‌की उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकताका एक चित्रण—देखो आजकलका जो राष्ट्रीय झडा है यह लहराकर दुनियाको एक जिनशासनके इस सूत्रको वतला रहा है—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्, उसमे रग है तीन—हरा, लाल और सफेद। हरे रगका वर्णन होता है उत्पादके लिए। जिसने कोई अलकारिक साहित्य पढा हो तो हर जगह उत्कर्षके प्रकरणमे हरे रगका वर्णन आयगा। यहाँ भी बूढे लोग कह देते है—कहो बाबा जी, आप मजेमे है ना ? तो वह झट कह देता है, हाँ हम खूब हरे-भरे है, खूब नाती-पोते है, अच्छा कामकाज है, मायने वे उत्पादको, इस बातको हरे-भरे रूपमे बताते है। हरा उत्पादके लिए आता है और लाल व्ययके लिए आता है। साहित्यमे लाल हो गया, खून-खच्चर हो गया, लाल रगके वर्णनसे विनाशकी बात बतायी जाती है, और सफेद ध्रौव्यमे आता है। रग भी तीन हैं, और वे रग भी कितना बढिया ढगसे है कि एक ओर हरा, एक ओर लाल और बीचमे सफेद, जो यह ध्वनित करता है कि सफेदपर ही हरा होता है, सफेदपर ही लाल रग आता है, जिसका अर्थ है कि सफेद मायने ध्रौव्य। जो ध्रुव वस्तु है उसमे उत्पाद और व्यय होता है। और देखो हरा भी सफेदको छुवे हुए है, उत्पाद व्यय होनेपर भी ध्रौव्यको लिए हुए है। वस्तुका स्वरूप यह ही है। यह झडा लहराकर बतला रहा है, और देखो उसमे एक चक्र रहता है उसको समझिये धर्मचक्र। और सुयोग देखिये कि उसमे २४ ही लाइन खीची जाती है जो यह बतलाती है कि २४वें तीर्थंकरके धर्मचक्रमे यह बात जाहिर होती है वह झडा लहराकर कह रहा है कि उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्, वस्तु अन्वयव्यतिरेकात्मक है।

परकी उपेक्षा व निजकी अभिमुखतामें ही आत्महितका लाभ—देखिये भाई आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानमय है, ज्ञानमूर्ति है। और जो स्वभाव है, स्वरूप है, सर्वस्व है वही मेरा सब कुछ है। ज्ञानसे ही हमारा महत्त्व है, उत्कर्ष है, पवित्रता, शान्ति, भलाई यह ही एक मात्र शरण है। जगतके ये सारे पदार्थ जो सयोगसे आये हुए हैं, जो मेरेसे भिन्न पडे हैं, ये पदार्थ मेरे लिए कोई शरण नही है। चूँकि जो गृहस्थ जन है, गृहस्थीमे रहते है तो गृहस्थीमे आवश्यक है धन वैभव, मकान, परिजन—यह ही तो गृहस्थीका रूप है। तो इन सबको गुजारा कमेटी मानकर रहना, अपना कुछ मानकर मत रहना। यह मेरा घर है, ये मेरे परिजन हैं, ये मेरे मित्र है, यह मेरा यश है, यह मेरी बात है, यह मेरा पक्ष है, यह कुछ मानकर न रहना। इन सबसे निराला अपने आपमे ज्ञानस्वभावमे यह मैं हू, ऐसा अनुभव करना है। मगर ऐसा अनुभव बनाये रहनेके लिए बडा निरपेक्ष होनेकी आवश्यकता है। घरसे मत-

लब नही, किसी दूसरी वस्तुसे मतलब नही, शरीर नही छूट सकता तो बाहर शरीरमात्र ही रहे और अन्तः एक अपने स्वभावकी धुनमे रहे। ऐसा निरपेक्ष होकर स्वभावकी आराधना जिससे नही बनती वह गृहस्थधर्म अङ्गीकार करता है और वहाँ गुजारा चलानेके लिए ये बातें आवश्यक है। तो यह इस शरीरका, इस भवका इन भोजनपान आदिक सुविधावोका गुजारा करनेके लिए यह निवास है। यहाँ मेरा कुछ नही है, मेरा हित नही है, यह पक है, कीचड है, मेरा सर्वस्व नही है, यह छूट जायगा। देखो यदि यह विश्वास हो कि ये सब समागम छूट जायेंगे तो इतने ही विश्वासपर बहुत धीरता आयगी, क्योंकि सम्यग्ज्ञान कर रहा ना, सम्यग्ज्ञानके बलपर धीरता होती है। देखो लोग बारातमे हजारो रुपयेकी बारूद फूंक देते हैं, मालिक लोग उसका बुरा नही मानते और एक कटोरी खो जाय दो रुपयेकी तो उसका दु:ख विशेष करते हैं। क्या फर्क पड गया ? उसने उस हजारको पहलेसे ही सोच रखा था कि यह तो मिटनेके लिए है, तो फूट जानेपर भी दु ख नही होता। और दो रुपयेकी कटोरीमे यह विश्वास बना था कि यह तो जिन्दगीभर तकके लिए है तो उसके गुमनेपर दु ख मानता है। तो मिले हुए समागमको यह समझ लें कि ये सब मिटनेके लिए है, बिखरनेके लिए है, तो इनमे ममता न जगेगी और पद-पदपर कष्ट महसूस न होगा, ऐसे ही समझिये कि इस सच्चे ज्ञानमे ही हमको धीरता, तृप्ति, सतोष, पवित्रता सब कुछ लाभ मिलता है और भ्रममे हमको सर्व अनर्थ मिलता है।

"मतिश्रुतावधि मन पर्यय केवलानि ज्ञानम्" इस सूत्रमे क्या समझाया जा रहा है ? ज्ञानका लक्षण बतानेके लिए यह सूत्र नही कहा गया। ज्ञानका लक्षण तो शब्द द्वारा, निरुक्ति द्वारा समझ लेना चाहिए। इस मोक्षशास्त्रमे ज्ञानका और चारित्रका लक्षण नही कहा। सम्यग्दर्शनका लक्षण कहनेके लिए एक अलगसे सूत्र बताया है उसका कारण क्या है ? कारण यह है कि ज्ञानमे जो शब्द हैं उन शब्दोसे ही ज्ञानकी बात प्रकट हो जाती है। चारित्रके शब्दसे ही चारित्रकी बात प्रकट हो जाती है, जो उसका लक्षण है। पर सम्यग्दर्शनमे जो दर्शन शब्द है उससे अर्थकी प्रतीति सही नही बनती, क्योंकि दर्शनका देखना भी अर्थ है, आँखसे अवलोकन करना भी अर्थ है। तो चूंकि दर्शन शब्दके अनेक अर्थ है, अतः सम्यग्दर्शन शब्दसे सम्यग्दर्शनकी सही बात प्रकट नही होती, अत सम्यग्दर्शनका लक्षण कहनेकी जरूरत पडी, पर ज्ञान शब्दमे ही ज्ञानका अर्थ पडा है। जो जाने सो ज्ञान। जिसके द्वारा जाना जाय सो ज्ञान। जो जानना सो ज्ञान। तो ज्ञानका अर्थ तो ज्ञान शब्दसे ही जाहिर है। यहाँ तो बतानेका मुख्य प्रयोजन यह है कि ज्ञान पर्यायरहित नही अर्थात् ज्ञानकी यहाँ ५ पर्यायें है—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल। और ऐसा कहनेका प्रयोजन यह है कि जो दार्शनिक पर्यायरहित स्वभावको मानते है, उनका निराकरण और जो स्वभावरहित पर्यायको मानते है

उनका निराकरण इस सूत्रसे हो जाता है। अच्छा तो अब लक्षणीय बातपर विचार करो। ज्ञानका लक्षण कहनेको तो सूत्र कहा नहीं गया। तो फिर हाँ मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल इनका ही लक्षण इससे समझ लीजिए। इसका लक्षण भी अलगसे बताया नही गया सूत्रमे। उसका कारण यह है कि सूत्र ग्रन्थ बडा परिमित प्रमाणित संक्षिप्त हुआ करता है कि जो बात स्वय स्पष्ट हो जाय उस बातको कहनेकी पुनरुक्ति सूत्र ग्रन्थमे नही हुआ करती।

मतिज्ञानका निर्देशन—मति, श्रुत, शब्द ही जो उनका अर्थ है उसे बता देता है और वह किस तरह अर्थ है मनन मतिः, यथा मन्यते सा मतिः, मतिज्ञानावरणके क्षयोपशम होनेसे जिसके द्वारा मनन होता है उसे मति कहते है। मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर याने इन्द्रिय और मनके व्यापारके निमित्तसे परिचय बनता है उस परिचयका नाम है मतिज्ञान। देखो मतिज्ञान निर्विकल्प ज्ञान है। इन पाँचो ज्ञानोमे एक श्रुतज्ञान तो सविकल्प है, शेषके चार ज्ञान निर्विकल्प है। यहाँ विकल्पका अर्थ है सोच विचार तरङ्ग। विकल्पके तीन अर्थ होते है। विकल्पके मायने प्रतिबिम्ब ज्ञेयाकार सो ऐसा विकल्प तो ज्ञानका भूषण है, स्वरूप है, वह तो दूर होता नही, वह ज्ञानके साथ ही लगा है, सो जानना, इसका भी नाम विकल्प है। और उसमे विचार उठें, तर्कणा उठें तो उसका भी नाम विकल्प है। ऐसा विकल्प केवल श्रुतज्ञानमे है, चार ज्ञानोमे नही, और विकल्पके मायने रागद्वेष यह तीसरा अर्थ है। तो इस तीसरे अर्थका यहाँ प्रसङ्ग ही नही है। तो मतिज्ञान निर्विकल्प है। अब आप ध्यानमे लावो कि मतिज्ञानका क्या विषय बनता? आँखें खुली, देखनेमे आया, क्या देखनेमे आया? हरा रग आया देखनेमे। अरे यह विकल्प बना कि श्रुत-ज्ञान बन गया। जहाँ इतने विचार उठे, जहाँ तरङ्ग उठे वह श्रुतज्ञान है, और विचारके बिना, विशेषताके बिना जो ज्ञानमे आया वह मतिज्ञान है। देखिये—यद्यपि कुछ समझानेके लिए ऐसा बताया जाता कि देखो जो पहले हरा बोला वह तो मतिज्ञान है और यह जानें कि गहरा है, अच्छा है, यह श्रुतज्ञान है। जहाँ कुछ भी विचार उठे, वह सब श्रुतज्ञान कहलाता है। मतिज्ञान तो निर्विकल्प है और इस दृष्टिसे देखें तो हम आपके स्वानुभवके लिए मतिज्ञानकी कितनी बडी उपयोगिता है? मतिज्ञानसे निर्णय करें। वह निर्णायक ज्ञान है, पर सारे निर्णय, सारी विशेषतायें, सारी तरङ्गमालायें ये सब जहाँ गुप्त हो जायें, शान्त हो जायें, विलीन हो जायें, ऐसी कोई ज्ञानधारा आये वहाँ ही तो स्वानुभवका मार्ग मिलेगा। तो मति शब्द एक मनु ज्ञाने धातु है उससे बना है, उससे क्तिन् प्रत्यय होता है, सो क् और न् का लोप हो जाता है तब उससे मति शब्द बनता है अर्थात् जानना सो मति है। मतिज्ञानमे क्या जाना गया? स्व और अर्थ।

ज्ञानमे स्वार्थव्यवसायात्मकताकी अनिवारित रीति—देखिये जितने ज्ञान होते हैं

सभी ज्ञानोकी यह प्रक्रिया है कि वह स्व और अर्थको जानता है। जैसे दार्शनिक शास्त्रमे कहा है कि स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय कराने वाला ज्ञान प्रमाण होता है। जहाँ केवल आत्मा ही जाना जा रहा है वहाँ स्व और अर्थ क्या ? जो ज्ञान जान रहा है वह तो स्व और आत्मा अर्थ है। जहाँ परवस्तु जानी जा रही है वहाँ स्व और अर्थ क्या ? जानने वाला ज्ञान स्व और जाननेमे आया हुआ वस्तु है अर्थ। प्रत्येक ज्ञानमे स्व और अर्थ दोनोका निर्णय पडा हुआ है। और मोटे रूपसे यो समझिये—क्यो भाई जैसे यहाँ परवस्तुका उदाहरण ले रहे, यहाँ से आपने जाना कि वह सिंहासन रखा है तो आपको ठीक अनुभव हो गया कि यह सिंहासन ही तो दीखा। सिंहासनके बारेमे पूरा निश्चग है ना, यह सिंहासन ही है, और सिंहासन है ऐसा जो जान रहा है उस ज्ञानके बारेमे भी तो निश्चयके साथ निश्चय पडा हुआ है कि यह ज्ञान ठीक ही है। ठिकाई करनेमे दो जगह निर्णय बनता है। जिसको जाना जा रहा है वहाँ की ठिकाई और जो जान रहा है उस ज्ञानकी ठिकाई। एक कल्पना करो कि हम उस सिंहासनके बारेमे पक्का निर्णय किए हैं कि यह सिंहासन है, सही चीज है। वहा तो हम निश्चय किए बैठे और जानने वाले ज्ञानमे हम संशय करे कि उसे जानने वाला जो यह ज्ञान है यह ठीक है कि नही ? अगर यहा सशय है तो वहा भी सशय है और यहाँ अपने ज्ञानकी ठिकाई है तो वहाँ भी ठिकाई है। ज्ञानका स्वरूप है ऐसा कि जो निजका और अर्थका निश्चय करता है, यहाँ निजके मायने ज्ञान लेना है, आत्मा नही और यह सब जगह घटेगा। जो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जन है वे भी परवस्तुको जानते है। तो उनके उस व्यवहारमे स्व और अर्थका निश्चय पडा है। जान रहे कि यह चीज है, वहाँ भी निर्णय है और जिस ज्ञानसे जान रहे कि यह चीज है, उस ज्ञानका भी निर्णय है कि मेरा ज्ञान सही है। और लोग कहते भी है मेरा ज्ञान सही है और बात ऐसी ही है। बातमे भी सहीपन बैठाना और ज्ञानमे भी, इससे सिद्ध है कि सहीपनका सम्बन्ध दोनोके साथ होता है। तो मतिज्ञान स्व और अर्थको जानता है। जो स्वय ज्ञान है वह तो है स्व और जो जाना जा रहा है वह होता है अर्थ।

केवल स्व या केवल अर्थके परिचयके एकान्तवादका निराकरण—क्यो जी, आप लोग सोचते होगे कि ऐसा बतानेकी क्या जरूरत है ? क्या कोई ऐसे भी लोग है जो यह विश्वास बनाये हो कि ज्ञान स्वको ही जानता है, अर्थको नही जानता। या क्या कोई ऐसे भी लोग है कि जो यह कहते हो कि ज्ञान अर्थको ही जानता है, स्वको नही जानता ? हां है दार्शनिक ऐसे। जैसे ज्ञानाद्वैतवादी। उनका मतव्य है कि जगतमे अर्थ कोई है ही नही। सब सूना है। केवल एक स्वज्ञान है, ज्ञानमात्र है। यह है बौद्धोका एक भेद ज्ञानाद्वैतवादी, उसकी चर्चा है। तो उनका मंतव्य यह है कि जगतमे जो कुछ है वह सब ज्ञान ज्ञानमात्र है। बाहरी पदार्थ कुछ नही हैं। अब देखो जो इस तरहका विश्वास लेकर चल रहा हो कि भाई

ज्ञानसे प्रयोजन है, ज्ञानसे काम है, सो ज्ञानको ही सत् कहो और बाकी जगतकी और बातें है, या पर्यायें है, या पदार्थ है उनसे हमे मतलब नही, उनका सत् मत कहो तो बस इसके ही समर्थक है वे एकातवादी, जो यह कह रहे है कि ज्ञान ही ज्ञान हैं सब, अन्य कुछ सत् नही। तो ऐसे दार्शनिक है जो स्वको ही मानते है और अर्थको नही मानते। अच्छा तो फिर ऐसे भी कोई दार्शनिक है क्या कि जो अर्थको मानते हैं और स्वको नही मानते। हा ऐसे भी हैं। जैसे जानना तो होता है, मगर वह जानना पदार्थसे निकलता है। ऐसा मानते है कोई दार्शनिक कि ज्ञान स्वय कोई चीज नही है और न ज्ञान स्वको जानना है। ज्ञान जो होता है वह पदार्थसे निकलता है और इसी कारण ही यह निर्णय बनता है कि इस ज्ञानने इस पदार्थको जाना और को नही जाना, क्योकि जो ज्ञान जिस पदार्थसे बनेगा वह ज्ञान उस पदार्थको जानने वाला कहलायगा, ऐसा भी मानने वाले दार्शनिक है। जो केवल अर्थ अर्थको ही मानते है, स्वको नही मानते। तो इस सूत्रमे दोनो प्रकारके एकान्तवादियोका निराकरण है। ज्ञानके इन लक्षणोसे कि ज्ञान उसे कहते है जो स्व और अपूर्व अर्थको जाने, निश्चय करे उसे कहते है ज्ञान।

एक विलक्षणता और देखो, ऐसे भी दार्शनिक है कि जो यह तो कहते हैं कि स्व भी जाननेमे आया, पर भी जाननेमे आया, पर जो ज्ञान निश्चय करे वह ज्ञान अप्रमाण है और जब तक निश्चय नही होता तब तक वह ज्ञान प्रमाण है। आपको सुननेमे कुछ अटपटासा लगता होगा, मगर उनकी दलील जब सुनो तो आपको बहुत विचार करना पडेगा कि ये कहलाते है प्रत्यक्षवादी याने वे क्षणिकवादी लोग जो यह कहते है कि जिस क्षणमे जो बात हुई, चाहे पर्याय लगा ले, चाहे पदार्थ ही लगा लें। जिस क्षणमे जो पदार्थ उत्पन्न हो उसको जब हम जानने चलते है तो निश्चयात्मक तो जाननेमे देर होती है, समय बहुत छोटा होता है ना, तो जब हम जानते है तो वह पदार्थ निकल जाता है, नष्ट हो जाता है। अब जो पदार्थ नष्ट गया जितने समयमे तो ज्ञानने किसे जाना ? असत्को जाना याने कल्पना ही रही, क्योकि पदार्थ तो रहा ही नही। और जो असत्को जाने सो अप्रमाण। तो जिस समय वह पदार्थ था उस समय भी ज्ञान हुआ, मगर उस समयका ज्ञान निश्चय करने वाला नही था। निश्चय करनेमे थोडा समय लगेगा तो जब निश्चय बने तो वह सविकल्प ज्ञान है। विकल्प बिना निश्चय नही होता। तो निश्चय करने वाला ज्ञान तो अप्रमाण है और जहाँ निश्चय नही, विकल्प नही, ऐसा जो प्रतिभास है वह प्रमाण है। ऐसे मानने वाले भी दार्शनिक है। तो उन दार्शनिकोका निराकरण होता है, व्यवसायात्मक ज्ञान होता है इस वाक्यसे। जो स्व और अर्थका निश्चय करे वह प्रमाण होता है। ये दो बातें बराबर सबमे देखते जावो। मतिज्ञानने जो जाना वह मानो इस तरह जाना जिस तरहका ज्ञान अभी बतलाया, क्षणिकवादी

का बताया। विकल्प हुआ बादमे। तो जाननेमे आया पहले निर्विकल्परूपसे। बस जो मतिज्ञान है सो ही उनका निर्विकल्प प्रत्यक्ष है। मगर अन्तर इतना है कि मतिज्ञानमे तो निर्णय है और उनका निर्विकल्प प्रत्यक्षमे निर्णय नही है।

मतिज्ञानके निर्देशका उपसंहार—मतिज्ञानको सरल बातोमे यह समझ लो कि ५ इन्द्रिय और मनके द्वारा जो पहिले पहिले बोध होता है उसे कहते है मतिज्ञान। हम आपके समस्त ज्ञान विस्तारकी नीव है मतिज्ञान, क्योकि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। अब उसमे एक सूक्ष्मतासे परिचय बनायें तो आपके सुननेमे शब्द आ रहे ना? तो जहाँ इतना अर्थ लगा आपके अन्दर तो वह सुनना मतिज्ञान नही। तो श्रुतज्ञान बन गया, क्योकि वहाँ आपका विचार उत्पन्न हुआ। इसी तरह प्रत्येक इन्द्रिय और मनकी बात है, ऐसा विलक्षण विषय है मतिज्ञानका कि यदि मतिज्ञानका विषय ही समझमे आया तो ख्याल और विकल्पकी सिट्टी भूल जाय, वहाँ ख्याल, विकल्प तरग कुछ नही उत्पन्न होते, ऐसा पवित्र विषय है मतिज्ञान का। यह सम्यग्ज्ञानकी बात चल रही है। यह सब कुछ बतानेके लिए यह प्रकरण तो नही चल रहा, मगर बतानेसे ही तो इसका विशेप बोध होगा। प्रकरण तो यह चल रहा कि पदार्थके जाननेके उपाय क्या क्या है—प्रमाण और नय। प्रमाणका नम्बर है यह। पमाण क्या चीज है? सम्यग्ज्ञान प्रमाण, सम्यग्ज्ञान प्रमाण है। सम्यग्ज्ञान क्या है? तो यह मति-श्रुत, अवधि, मन पर्यय व केवलज्ञान है सम्यग्ज्ञान। ये इसकी पर्यायें है, ये परिणतियाँ है। मतिज्ञानके भेद आयेंगे आगे। इस भेदसे मतिज्ञानके बारेमे बहुत परिचय मिलेगा।

श्रुतज्ञानका निर्देश—अब श्रुतज्ञानका स्वरूप देखिये—श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे जो श्रवण करना है वह श्रुत है। अब यहाँपर श्रवणके मायने कानोसे सुनना ही अर्थ नही, यह उपलक्षित शब्द है। श्रवण करना मतिज्ञानसे जो जाना है उसका श्रवण करना, उसके सम्बधमे कुछ चिन्तन होना सो श्रुतज्ञान है। अभी किसीसे कोई बात कहे और वह ध्यानसे न सुने, सुन तो रहा है, कानोमे ढक्कन तो लगे नही हैं, आँखोमे जरूर ढक्कन है, चाहे तो इन दोनो ढक्कनोको बद कर लिया। हमे आपको नही देखना है तो ढक्कन बद कर लिया, मगर हमे आपकी बात नही सुनना तो इसका आप क्या उपाय बनायेंगे? कानोमे ढक्कन तो है नही, वे सुननेमे आयेंगे, मगर एक साधारण तौरसे सुन लेना, ऐसा ही अगर कोई सुन रहा है और इसमे कोई चिन्तन, मनन, ध्यान नही बना रहा है तो आप उससे कहते—अरे सुन नही रहे? सुन तो रहे। उसे सुनना नही कहते याने कुछ विचार करते हुए सुनें उसका नाम यहाँ सुनना समझिये। तो मतिज्ञानपूर्वक जो इसी विषयके सम्बन्धमे अधिक परिचय है वह सब श्रुतज्ञान है। देखो जो देखनेमे, जो समझमे आया सो मतिज्ञान और यह अमुक है, गहरा रग है, हरा रग है, यह भी जाना गया है आदिक

बातें सोचना सो श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान भी स्व और अर्थका निश्चायक है। जो जाना जा रहा है, चाहे पर अर्थ जाना जा रहा हो, चाहे आत्मपदार्थ जाना जा रहा हो उसका परिचय बनता रहता है। और जो ज्ञान जान रहा है उसका भी निश्चय बन सकता है। यहाँ मोटी बात यह समझनी है कि जिस ज्ञानसे हम चीजको निश्चित जान रहे है तो पहले यो समझ लो कि इस ज्ञानके जाननेका हमे निश्चय है कि यह जो मेरा ज्ञान है वह सही है, उसके ही साथ बाह्य अर्थके सहीपनका निश्चय चलता है। यह ज्ञानका स्वरूप है, ज्ञानकी प्रकृति है। ज्ञान खुद अपने आपमे सदेह बनाये तो अर्थपरिचयमे नि सदिग्धता नही हो सकती। जैसे यह सीप है कि चादी ? ऐसा जब डावाडोल बाह्य पदार्थके बारेमे परिचय चल रहा हो तो साथमे यह ज्ञानका डावाडोल भी चल रहा कि नही ? दोनो जगह डावाडोल है। और यदि निश्चय है तो दोनो जगह निश्चय है। तो श्रुतज्ञान भी स्व और अर्थका निश्चय करने वाला होता है। अब देखिये—भाई, सब कुछ निश्चयव्यवहारात्मक है कथन। अब यहाँ यदि केवल निश्चयसे देखें तो यह कहे कि ज्ञान केवल स्वको जान रहा है, व्यवहारसे देखें तो कहे कि परको जान रहा है, अर्थको जान रहा है। आत्माके ही ज्ञानमे स्व और पर लगे हुए है। जो जान रहा है सो स्व और जो ज्ञेय आत्मा है सो पर।

आत्माके परिचय व अनुभवकी पद्धति—देखो आत्माके अनुभव करनेकी जो पद्धति है वहाँ परिचयपद्धतिसे मिलती है—अनुभवपद्धति। मगर परिचयपद्धति और अनुभवपद्धति की एक सूक्ष्मता देखिये। किसी भी पदार्थको हम जानते है तो उस पदार्थका परिचय इन चार दृष्टियोसे होता है—(१) द्रव्य, (२) क्षेत्र, (३) काल, (४) भाव। एक इस पुस्तकका ही हम ज्ञान करें तो द्रव्यदृष्टिसे यह पुस्तक है, जो पिण्ड है, जो हाथमे लिए है, यह तो द्रव्य से जाना। क्षेत्रसे जाना—इसका जितना आकार प्रकार है, लम्बाई, चौडाई, मोटाई है, ऐसा जो इसका परिचय बनता तो क्षेत्रदृष्टिसे बनता। और इसकी जो वर्तमान परिणति है वजनदार, हल्का, हरा, पुराना, नया, पुष्ट, कमजोर जो कुछ भी आप जान रहे हैं यह किस दृष्टिसे जाना ? कालदृष्टिसे। और इसमे जो शक्ति है, गुण हैं उनको जाना स्वभावदृष्टिसे। इसी तरह आत्माका भी परिचय चार दृष्टियोसे मिलता है। द्रव्यदृष्टि अर्थात् गुण पर्यायपिण्ड। वह सब जो कुछ एक है वह द्रव्यदृष्टिसे जाना। क्षेत्रदृष्टिसे जाना आत्माका फैलाव। जैसे अभी पैरके नखसे लेकर सिर तक इतना लम्बा-चौडा आत्मा है कि प्रदेशसे जाना, क्षेत्रसे जाना। कालसे जाना—आत्मामे जो कुछ परिणति हुई—विकारी परिणति, अविकारी परिणति, यह स्वभाव नही जाननेमे आया। क्रोध कर रहे तो क्रोध, शान्त रहे तो शान्ति। ये सब परिणतियाँ जानी तो कालदृष्टिसे। और भावदृष्टिसे क्या जाना ? भाव होते है दो प्रकारसे। भेदरूप भावदृष्टि और अभेदरूप भावदृष्टि। भेदरूप भावदृष्टिसे जाना कि आत्मामे ज्ञानगुण है, दर्शनगुण

है, चारित्रगुण है, आनन्दगुण है और अभेदभावदृष्टिसे जाना कि आत्मा चिदात्मक है, चैतन्य-स्वरूपमात्र है। वहाँ भेद नही होता। तो अब यह देखें कि परिचयके बिना हम अनुभवके पात्र नही बन सकते। मगर परिचयमें हमने जो-जो कुछ समझा है उस उससे उत्तीर्ण होकर उन उनको पार करके जब हमें अभेदभाव दृष्टिसे अपने आपमे अपना प्रयोग करना है तब हमें वहाँ स्वानुभव बनेगा।

निजमे स्व व परके परिचयका विभाग—अब देखो द्रव्यसे भी हमने जो आत्मा जाना, अनुभवमे जो आत्मा जाना उसके सामने तो पर है। क्षेत्रसे हमने आत्मा जाना, किन्तु अनुभवसे जो आत्मा जाना उसके आगे पर है। कालसे जाना सो पर है, गुणसे जाना सो पर है, और अभेददृष्टिसे जो एक चिदात्मक अनुभव बना वह है आत्मा। स्व और परकी व्यवस्थायें बहुत विस्तृत है। उसका यह प्रकरण नही है। "प्रमाणनयैरधिगमः।" सूत्रका जब प्रकरण था तो वहाँ इसको बहुत स्पष्ट किया गया था। यहाँ स्व और अर्थसे मतलब है—स्व मायने खुद याने जानने वाला ज्ञान, न कि आत्मा और अर्थ मायने जो कुछ ज्ञानमे विषय हो रहा है वह पदार्थ। तो देखो अर्थ तो हुआ व्यवहार और स्व हुआ निश्चय और जाननेमे दो के बिना जानना होता ही नही। केवल अर्थ–अर्थको जानें, स्व न हो तो ज्ञान नही बनता। केवल ज्ञान स्व हो और वहाँ अर्थ न हो याने ज्ञेय न हो कुछ तो ज्ञानकी मुद्रा नही बनती। इतनेपर भी आप इन सब परिचयोका उपयोग क्या करेंगे और उनका प्रयोजन क्या है? एक धुन होनी चाहिए, बस निर्विकल्प एक अनादि अनन्त निज सहज परमात्मतत्त्वकी दृष्टि प्रतीति अनुभूति उसके लिए जो–जो करना पडे सो करें। क्या करना पडेगा? सयम, तपश्चरण, विशुद्धि, कषायकी मदता। जो कुछ करना पडे करें, किसके लाभके लिए? एक मेरे अपने आपके अनादि अनन्त अहेतुक सहज परमात्मतत्त्वका अनुभवात्मक परिचय रहा करे इस प्रयोजनके लिए। क्योकि अभी अपन बहुत दूर खडे है। दूर खडेके मायने इस अनुभवरूप महलमे पहुचनेके लिए इससे हम कितनी दूर खडे हैं इतनी दूर रहने वाले है। तो यहाँ ज्ञानके प्रकरणमे बोल रहे हैं कि स्वार्थे मतिः स्वार्थे श्रुत, स्व और अर्थके बारेमे जो मनन है सो मति है, श्रुत ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर जो श्रवण है, चिन्तन है उसे कहते है श्रुतज्ञान।

अवधिज्ञानका निर्देश—अवधिज्ञान किसका नाम है? अवधिज्ञानावरणके विगम होने से, विगम तो नही होता, किन्तु जैसा विगम है वह है क्षयोपशम। तो जितना क्षयोपशम हो उतना अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेमे स्व और अर्थका जो ज्ञान है उसे कहते है अवधि-ज्ञान। देखो अवधिज्ञान इन्द्रिय और मनकी सहायताके बिना होता है, केवल आत्माके आश्रय से होता है और इसीलिए इसे प्रत्यक्ष कहते है, फिर भी इस आत्मप्रदेशमे, इस देहमे अवधि-ज्ञान होते समय जहाँ वहीं भी एक ऐसे चिह्नसे हो जाते है जिसे आप समझिये कि ये म

इन्द्रिय और मनका प्रतिनिधित्व कर रहे है। अब समझ लो कि निरपेक्ष होनेपर भी अभी इतनी कमजोरी है और उसके ऐसे चिह्न करणानुयोगमे तीन-चार प्रकारके बताये गए है। अवधिज्ञानकी प्रकृति होती है कि नीचेका क्षेत्र ज्यादा जाने, यह अवधिज्ञानकी प्रकृति है। जानता है अवधिज्ञान चारो ओरकी बात। जितनी भी मर्यादा हो, लेकिन उसमे नीचेके क्षेत्र की म्याद अधिक होती है, अगल-बगलकी म्याद उससे कम होती है और ऊपरकी म्याद उससे भी कम होती है। यह अवधिज्ञानसे जाननेकी प्रकृति है। अवधिज्ञानसे जाना। जाननेके बाद अगर किसीको बताना हो तो वह अवधिज्ञानसे न बता सकेगा, श्रुतज्ञानसे बतावेगा। अवधिज्ञान तो इस ढगका काम करता है जिस ढगसे मतिज्ञान काम करता है। मतिज्ञान निर्विकल्प है। अवधिज्ञान भी निर्विकल्प है। जैसे मतिज्ञानसे जाना, श्रुतज्ञानसे बखाना तो अवधिज्ञानसे जाना और श्रुतज्ञानसे बखाना। पुराणोमे जहाँ कही चर्चा आती है कि अमुक राजा अवधिज्ञानी मुनिके पास पहुचा, उसने अपना पूर्वभव पूछा तो अवधिज्ञानी मुनि महाराजने उत्तर दिया। इतनेमे हो क्या गया उनके अदर कि अवधिज्ञानसे तो मतिज्ञानकी तरह ऐसा साफ स्पष्ट जान लिया जैसे कि हम आँखोसे स्पष्ट जानते है उससे भी स्पष्ट। इस प्रकार इन्द्रिय मनकी सहायताके बिना अवधिज्ञानसे यहाँ वहाँके पदार्थ जाने जाते है, जाने गए और अब जब उनको बताने लगे तो उस ज्ञानका स्मरण रहा अभी। जो अवधिज्ञानसे जाना उसका उनके बराबर अवधारण है और फिर श्रुतज्ञानके उपयोगसे दूसरेको बताते है। जिस समय बता रहे उस समय अवधिज्ञानसे जान नही रहे। जिस समय अवधिज्ञानसे जान रहे उस समय बता नही रहे, यो अवधिज्ञान भी मतिज्ञानकी तरह निर्विकल्प होता है। तो यह सम्यग्ज्ञान इन चार पर्यायोरूप होता है जिसमे मति, श्रुत, अवधिज्ञानका सक्षेपमे स्वरूप कहा, अब आगे कहेगे।

मन पर्ययज्ञानका निर्देशन—"मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलानि ज्ञानम्" इस सूत्रके विवरणके प्रसगमे मनःपर्यय ज्ञानकी बात कह रहे है। मन पर्ययमे चार शब्द है—मन परि, इण, अञ्। मनः एक उपपद है, परि उपसर्ग है, इण गतौ धातु है और अञ् इसमे प्रत्यय लगता है। सबका सधि होनेपर मनःपर्यय शब्द बनता है। इस शब्दके अनुसार इसका अर्थ है, मनकी बातको जो चारो ओरसे जाने उसे मन पर्यय कहते है। यह निरुक्ति अर्थ हुआ। आगमार्थ क्या है ? मन पर्यय ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे परकीय मनोगत अर्थोंको आत्मीय शक्तिसे इन्द्रिय और मनकी सहायतासे जाने उसे मन.पर्यय ज्ञान कहते है। यहाँ मन एक अवलम्बन मात्र है। कही मनके द्वारा मन·पर्ययज्ञान नही होता। यह तो आत्मीय शक्तिसे होता है तब ही प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। पर जैसे वृद्ध पुरुष चलता तो अपनी शक्तिसे है, मगर लाठी अवलम्बन मात्र है या जैसे दूर रहने वाले चद्रमाको देखते है और उसे किसी बच्चेको दिखाना है तो किसी डडे या अगुलीके सहारेसे दिखाते है। तो वह अगुली या डडा आलम्बन मात्र

है । देखा तो आँखोसे ही जाता है, ऐसे ही मनःपर्यय ज्ञानमे जाना तो आत्मासे ही जाता है, मगर अवलम्बन है मन । किसका मन ? परकीय मन और स्वकीय मन । इनमे इतना अतर समझना कि दूसरेके मनके आलम्बनका अर्थ इतना है कि दूसरेके मनमे आया हुआ विकल्प, पदार्थ विषयभूत होता है । यह परकीय मन तो विषयभूतकी अपेक्षा अवलम्बन है, और स्वकीय मन ईहामतिज्ञान पूर्वक मतिज्ञान होता है । इस रूपसे अवलम्बन मात्र है । जैसे अवधिज्ञान अवधिदर्शनपूर्वक होता है ऐसे ही मन.पर्ययज्ञान किस दर्शनपूर्वक होता है ? कोई दर्शन अलग क्यो नही बताया गया ? तो उसका कारण यह है कि मन पर्ययज्ञान ईहामति पूर्वक होता है तो वह दर्शनपूर्वक नही होता । इसका कारण क्या है कि जब पहले कुछ एक मनमे तर्कणा जगती है—जानूँ, इस प्रकारकी आकाक्षा बनती है और स्वकीय मनमे प्रयोग प्रारम्भ होता है तब इसके अधिकारी मुनिके यह विकल्प मिटकर मन पर्ययज्ञान बनता है और दूसरेके मनके भाव या मनमे जो बात आयी हो वह जान लिया जाता है । तो यो मन पर्यय ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है और यह ज्ञान ज्ञानसामान्यका एक परिणमन है ।

केवलज्ञानका निर्देशन—केवलज्ञान--केवलज्ञानका अर्थ क्या है कि केवल याने असहाय, स्वसहायक, मात्र, प्योर, वही वही जो क्षायोपशमिक ज्ञानके सहायसे रहित है, केवल आत्मशक्ति से स्वभावत जो जानना होता है वह है केवलज्ञान । तो जो असहाय हो उसे केवल बोलते हैं । असहायका अर्थ क्या ? स्वसहाय । कही इस तरह अर्थ न लगाना कि बेचारा असहाय है, इसका कोई मददगार नही है । अरे असहाय होना सबसे ऊँचा पद है और असहाय होना, यह तो एक स्वाधीनताकी बात है । तो प्रभुका केवलज्ञान असहाय है । इन्द्रिय मनकी अपेक्षा नही रखता कि सामने पदार्थ हो, वर्तमानमे पदार्थ हो आदिक अभिमुखताकी अपेक्षा नही रखता, और किसी ज्ञानपूर्वक वह भी सहायकी अपेक्षा नही रखता, ऐसा असहाय स्वय समर्थ ज्ञ.न केवलज्ञान है । दूसरी प्रकारसे केवलज्ञानका अर्थ समझिये—यह केवल शब्द बना है किव धातुसे "यदर्थ अर्थिनः मार्गं केवते तत् केवलम् ।" जिसके लिए भव्य जीव मार्गकी सेवा करते है उसे कहते है केवल । किसलिए लोग धर्ममे लग रहे ? एक अपने वास्तविक स्वरूपके लाभ के लिए । जो स्वय सहज हो सो हो अर्थात् क्या होता वहाँ केवलज्ञान । तो जिसके लिए जिस एक स्वाभ.विक ज्ञानके लिए अर्थी जन, भव्य जन मार्गकी सेवा करते है उसे कहते है केवलज्ञान । देखो केवलज्ञानमे दो शब्द पडे है—के और वल । क सज्ञा है और उसका अर्थ आत्मा होता है । एकाक्षरी कोशमे क के मायने है आत्मा और के है सप्तमी विभक्तिमे । के मायने आत्मामे जो सामर्थ्य है वह सब सामर्थ्य आत्मामे है, प्रकट है । ऐसी जहाँ स्थिति हो उसे कहते है केवल । और ऐसी सामर्थ्य वाला जो ज्ञान है उसे कहते है केवलज्ञान ।

निमित्त और उपादानकी दृष्टिसे केवलज्ञानके आविर्भावका दिग्दर्शन—केवलज्ञान कैसे

हुआ ? इसके सम्बन्धमे मोक्षशास्त्रमे दशम अध्यायका पहला सूत्र है मोहका क्षय होनेसे और ज्ञानावरण, ,दर्शनावरण अन्तरायका क्षय होनेसे केवल प्रकट हुआ है। तो कितनी बातें आयी ? मोहका क्षय। सो मोहका क्षय होता है तीन जगहमे और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तरायका क्षय होता है एक जगहमे। ऐसे ४ पद वे कौन है ? मोहके क्षयके लिए तीन विभाग बनाओ। एक बार होगा दर्शनमोहका क्षय और उसीके साथ चारित्रमोहकी चार प्रकृतियां। इन ७ का होता है एक पदमे क्षय। वह क्षय चौथे गुणस्थानसे लेकर ७ वे गुणस्थान तकके बीच कही भी हो सकता है। शेष बची जो चारित्र मोहकी २१ प्रकृतियाँ है उन मे से २० का क्षय होता है ६ वें गुणस्थानमे और सज्वलन लोभका क्षय होता है १० वे गुणस्थानमे और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय इन तीनका क्षय होता है १२ वें गुणस्थान के अन्तमे। इस प्रकार चारो घातिया कर्मोका क्षय हो जानेपर केवलज्ञान प्रकट होता है। अच्छा अब जरा उपादानदृष्टिमे देखिये तो बताया गया है कि अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण ज्ञानस्वभावका उपादान करके उसके ऊपर प्रवेश करने वाले केवलज्ञानरूप होकर वह आत्मपरिणति है। हुआ क्या ? देखो यह बात झट समझमे आयगी कि छद्मस्थ अवस्थाके बाद केवलज्ञान हुआ इस प्रसगमे कि अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावका आश्रय करके केवलज्ञान हुआ, पर जहाँ केवलज्ञान हो रहा है और प्रतिसमय केवलज्ञान चल रहा है वहाँ केवलज्ञानके विकासकी क्या विधियां है, याने प्रतिक्षण केवलज्ञान जो होता चले जा रहा है उसकी क्या विधि है ? उसकी भी यह ही विधि है कि कारणसमयसारको उपादान कर कार्यसमयसार चलता जा रहा है। कारणसमयसार पारिणामिक भाव ध्रुव उपादान, ओघशक्ति ये सब शाश्वत अनादि अनन्त हैं। कही प्रभु हो जानेपर स्वभाव मिट गया हो सो बात नही, उस ही स्वभावका उपादान कर यह शुद्ध पर्याय प्रकट होती जा रही है, ऐसा यह केवलज्ञान जो कि सहज है, पवित्र है, निरपेक्ष है तो इस ज्ञानमे इतनी सामर्थ्य है कि जो भी सत् था, है, होगा, सत् तो सदा रहता है, मगर पर्याय अपेक्षा समझना है कि जो सत् था, है, होगा वह सब एक साथ ऐसे केवलज्ञानमे प्रतिबिम्बित होता है, प्रकट होता है, ज्ञान होता है जैसे कि मानो कोई पूर्वकाल और भविष्यकाल और वर्तमानकालके इतिहासके पुरुषोका चित्र एक पटमे हो और जैसे इस पटके चित्रको हम एक साथ देख लेते हैं, ऐसे ही वहाँ उपयोगमे समस्त त्रिलोक त्रिकालवर्ती पदार्थ स्पष्ट एक साथ प्रतिबिम्बित होते है, ऐसा विशुद्ध केवलज्ञान वह भी ज्ञान है। इस तरह ज्ञानकी इन ५ अवस्थाओका वर्णन इस सूत्रमे किया गया है।

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय व केवलज्ञानके अर्थकी शब्द द्वारा प्रतिपत्ति—इन ५ ज्ञानोका अलगसे अर्थ करने वाला कोई सूत्र नही है। मत रहो। कारण यह है कि शब्द द्वारा

ही इस ज्ञानका स्वरूप जान लिया जाता है । जब शब्दसे जानना न बने तब कोई लक्षणान्तर की सूचना देनी होती है । अब इस सूत्रमे यह देखिये कि इन ५ ज्ञानोके नाम इस क्रमसे क्यो रखे गए ? और तरह भी रख सकते थे—श्रुत, मति, अवधि, इस ढगसे भी रख सकते थे । किसी भी प्रकार रख सकते थे । यह ही क्रम क्यो रखा कि पहले मतिज्ञान, फिर श्रुतज्ञान, फिर अवधिज्ञान, फिर मन पर्ययज्ञान, फिर केवलज्ञान । देखिये सूत्र पाठकी बात, जो आप लोग भक्तिसे पर्वके दिन या भक्तिमे जब पाठ कर लेते है तो किसका पाठ करते और उस पाठमे क्या बोला करते, वह ही कुछ बात यहाँ कह रहे है । ५ ज्ञान यहाँ बताये गए है—जो इन्द्रिय, मनसे एकदेश विशद ज्ञान करे उसका नाम मतिज्ञान और मतिज्ञानसे जानकर उस विषयमे विशेष प्रतिपत्ति पाये उसका नाम श्रुतज्ञान । और इन्द्रिय, मनकी सहायता बिना कुछ भूत भविष्य और दूर क्षेत्रके रूपी पदार्थोंको जाने सो अवधिज्ञान और दूसरेके मनमे रहने वाले विकल्प विचारोको इन्द्रिय मनकी सहायता बिना आत्मीय शक्तिसे जाने सो मन.पर्ययज्ञान और आत्म-शक्तिसे पूर्ण निरावरण होनेके कारण जो सर्व सत्को एक साथ जाने उसको कहते है केवल-ज्ञान । वे ५ ज्ञान क्या है यह किसी और को चर्चा नही की जा रही है, यह हमारी ही चर्चा है । कुछ ज्ञान अभी ऐसा है, जो नही है उसका इस ज्ञानमे पूर्ण सामर्थ्य पडा हुआ है, स्वभाव पडा हुआ है । अब जो विधि है, जो विधान है उस ढगपूर्वक बने तो उसका विकास होता है ।

सूत्रमे मतिका सर्वप्रथम और इसके बाद श्रुत शब्दका प्रयोग करनेका कारण—इन ५ ज्ञानोको इस सूत्रमे कैसा क्रमसे रखा गया ? इसका कारण सुनो । सबसे पहले क्या रखा ? मति । सबसे पहले मति रखनेके तीन कारण हैं । पहली बात तो यह है कि यह शब्द स्वन्त है अर्थात् सु संज्ञा वाला है । जिस शब्दके अतमे "इ" और "उ" लगा हो उसको सु सज्ञा वाले बोलते है और सु संज्ञा वाले शब्दोका प्रकृत्या पहले ही बोलना बनता है । देखो रिवाज भी ऐसा होता है । अब कुछ और सुनिये, बात यह है कि इकारान्त शब्द है, सु सज्ञा वाला है, इतने मात्रसे पहले कहनेका अधिकार नही, एक कारण यह भी है । दूसरा कारण यह है कि इसमे अल्प अक्षर है । इन ५ मे सबसे थोडे अक्षर इसीमे है, कैसे जाना ? देख लो व्यञ्जन दो है और स्वर भी दो हैं । अब सबमे लगा लो । श्रुतमे तीन व्यञ्जन है, दो स्वर है, अवधि मे तो २ व्यञ्जन हैं व ३ स्वर हैं, मनःपर्ययमे भी ज्यादा, केवलमे भी ज्यादा, तो थोडे अक्षर हैं इसलिए मतिका पूर्व निपात है । जब कभी आपको दो चार लडकोका नाम लेना होता है बुलानेके लिए तो प्रकृत्या जिसके थोडे अक्षर हो नामके वह नाम पहले लेनेमे आता है कुछ ऐसी आदत भी है लोगोकी । तो इन दो कारणोसे मतिका प्रयोग पहिले किया है । और तीसरा कारण यह है कि इसका विषय अल्प है । मतिज्ञानका विषय तो सबसे छोटा है ना वरतार भी नही है । प्रारम्भिक ज्ञान है यह हम आप जीवोका । इन तीन कारणोसे मति

शब्दको इस सूत्रमे पहले लिखा गया है। मतिके बाद श्रुत शब्द क्यो दिया कि श्रुतका सम्बन्ध मतिसे अधिक है। श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है और श्रुतज्ञान मतिको लेकर होता है। इस कारण श्रुतज्ञानको मतिज्ञानके बाद कहा। यो परोक्षज्ञानसे पहले निपटा दिया, क्योकि हम आपके ये सब ज्ञान चलते है। तो जो हम आपमे बात प्रसिद्ध होती है और यह सबमे होती ही रहती है अनादिसे। तो जो चल रहा है उसकी बात पहले करनी होती है। इस तरह इस सूत्रमे मति और श्रुत शब्दका पहले निपात किया।

प्रत्यक्षज्ञानोमे प्रथम अवधि, पश्चात् मनःपर्ययके प्रयोगका कारण—अब इसके बाद प्रत्यक्षज्ञानका क्रम देखिये। इसमे क्रम दिया है—अवधि, मन पर्यय और केवल, इन तीनमे अवधिज्ञानको पहले क्यो रखा है ? इसका कारण यह है कि इन तीन ज्ञानोमे सबसे कम विशुद्धि अवधिज्ञानमे है। देखो तभी तो अवधिज्ञानके ससारमे स्वामी भी अधिक सख्यामे हैं। नारकी सभी अवधिज्ञानी है। अब उसमे सम्यग्ज्ञान मिथ्याज्ञानका भेद करके छाँटे भेद यह एक अलग बात है, फिर भी चारो गतियोमे अवधिज्ञानी सम्यग्ज्ञानी हो सकते हैं। और यो अवधिज्ञानी मनःपर्ययज्ञानीसे बहुत अधिक सख्यामे पाये जाते है। अवधिज्ञानकी विशुद्धि अल्प है मन.पर्ययज्ञानसे। दूसरा कारण यह है कि अवधि शब्दमे मात्रायें थोडी है। अवधि की कितनी मात्रायें है ? तीन। मात्रायें मायने जहाँ ह्रस्व दीर्घ स्वरोंके अनुसार प्रयोगकाल का माप हो जाये। ह्रस्व स्वरमे एक मात्रा है, दीर्घमे दो और सयुक्त व्यञ्जन आया, उससे पहले चाहे ह्रस्व स्वर भी हो, उसकी दो मात्रायें—विसर्ग और अनुसार हो तो दो दो मात्रायें हैं। यहाँ अ, व उत्तरवर्ती अ व ध उत्तरवर्ती इ—ये तीन मात्रामे स्वर हैं, इससे तो मन पर्ययमे बहुत मात्रा हैं, अक्षर भी है। केवलमे भी ४ मात्रा है—के मे दो हैं, व की एक, ल की एक, इस तरह वहाँ चार मात्रायें है। तो अवधिमे मात्राओके अल्प होनेसे भी अवधिज्ञान का पहले निपात किया। दूसरी बात यह है कि अवधि शब्द भी सुसंज्ञा वाला है, इकारान्त शब्द है तो इन तीन कारणोसे अवधि शब्दका पहले प्रयोग किया। देखो पढते हैं ना ५ ज्ञान, मति श्रुत अवधि मन पर्यय केवल—उनमे यह बतला रहे है कि इस क्रमसे लोग बोलते क्यो हैं और ढगसे क्यो नही बोल उठते ? उसका कारण बतलाया जा रहा है कि इन कारणोसे इसका यह क्रम रखा है। अब इसके बाद रखा मन पर्ययको। इसका कारण यह है कि अवधिज्ञानसे मन.पर्ययज्ञानमे विशुद्धि अधिक है। मनःपर्यय विशिष्ट ऋद्धिधारी मुनियोके ही होता है। उनमे से सभी मुनियोके नही, किन्तु जो विशेष सयत है और मन पर्यय ऋद्धि प्राप्त हो गई है उनके ही मनःपर्ययज्ञान प्रकट होता है। तो अत्यन्त विशेष विशुद्धि होनेके कारण याने सर्वाधिक ज्ञानसे भी अधिक विशुद्धि ऋजुमति मन पर्ययज्ञानमे है। उससे अधिक विशुद्ध विपुलमति मनःपर्ययज्ञानमे है। तो अवधिज्ञानसे विशेष विशुद्धि होनेके कारण अवधिज्ञानके

बाद मनःपर्ययज्ञानको रखा गया है और फिर मनःपर्ययज्ञानमे विपुलमतिके तो नियम है कि यह नियमसे केवलज्ञान पायगा, संसारसे पार होगा। इतनी विशेष विशुद्धि होनेके कारण मनःपर्ययज्ञानको अवधिज्ञानके बाद रखा।

अन्तमे केवलज्ञानका सूत्रमें प्रयोग करनेका कारण—अन्तमे केवलज्ञान रखा। इसका कारण यह है कि ज्ञानके प्रकर्षका पूर्ण अतिशय यहा ही है, इससे पहले सब छोटे ज्ञान कहलाते है, तब ही मनःपर्ययज्ञान हो जानेपर भी औदयिक भावकी अपेक्षा मनःपर्ययज्ञानके मालिकके अज्ञानभाव बताया गया है जहाँ तक केवलज्ञानावरणका उदय है वहा तक औदयिक अज्ञानभाव बताया गया है। तो केवल ज्ञान तो है एक ज्ञानका अत्यन्त प्रकर्ष और अतिशय का पद है और साथ ही मुक्त अवस्था हो जाने पर भी केवलज्ञान बना रहता है, अरहत अवस्थामे भी केवलज्ञान है और उसके बाद सिद्ध हो गए तो वहा भी केवलज्ञान रहता है। इस अतिशयके कारण केवलज्ञानको अन्तमे कहा। और यही केवलज्ञान मुक्तिका कारण है। यद्यपि जीवन्मुक्त अरहत अवस्थामें है, मगर सर्वथा मुक्त याने द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म इन सबसे छूटनेकी बात इस केवलज्ञानसे ही तो हुई है, सिद्ध हुए है।

पांच ज्ञानोके समूहको ज्ञान कहे जाने वाले अनिष्ट अर्थकी निवृत्ति—अब देखो एक बडे कामका दार्शनिक विषयका जिक्र आयगा, कुछ कठिन जरूर पड जायगा, मगर थोडा साहस बनायें, सुनें तो कुछ कुछ तो आयगा ही समझमे और भी आये तो भी धैर्य रखे कि हम जैनशासनकी ऐसी मर्मकी बात सुन रहे है कि जो इतनी कठिन हो रही है। इतनी कठिनना तो अन्य किसी दर्शनमे न मिलेगी। कथा है, कहानी है, चरित्र है, स्वरूप है, इसने किया, उन्होने किया। देखो इस सूत्रमे दो पद है—मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि और दूसरा पद है ज्ञान। इसका क्या यह अर्थ है कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान—इन पाच ज्ञानोका जो समूह है उसे कहते हैं ज्ञान। क्या यह अर्थ आपको जंच रहा है या यह अर्थ जच रहा है कि मतिज्ञान ज्ञान है, श्रुतज्ञान ज्ञान है, अवधिज्ञान ज्ञान है, मनःपर्ययज्ञान ज्ञान है, केवलज्ञान ज्ञान है, ये दो बातें सामने रख रहे हैं। आपको क्या जंच रहा ? देखो यदि समूह अर्थ लिया जाय कि इन ५ का जो समूह है वह ज्ञान है, इसमे कितनी आपत्तिया आती है ? ५ ज्ञानोका समूह क्या किसीमे मिलेगा ? और जब न मिलेगा तो इसके मायने है कि जीव ज्ञान वाला नही है। केवलज्ञान तो ऐसा है कि जहाँ चार ज्ञान होते ही नही हैं, केवल एक ही रहता है—केवलज्ञान। तो केवलज्ञान फिर ज्ञान न ठहरेगा, क्योंकि जब यह अर्थ लगावेंगे कि ५ का जो समूह है सो ज्ञान है तो ठीक बैठा तो नही।

एक आत्मामें संभावित चार ज्ञान होनेपर भी उपयोगकी अपेक्षा एक समयमे एक ही ज्ञान हो सकनेसे ज्ञानसमूहको ज्ञान कहे जाने वाले अनिष्ट अर्थकी निवृत्ति—प्रथम चार

ज्ञानोमे अगर कहा जाय मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, इनका जो समूह है सो ज्ञान है। तो यहाँ भी ठीक नही बैठता। सभी जीव चार ज्ञानके धारी नही होते। कोई तीन ज्ञानके भ धारी होते, कोई दो के भी, एक वात। दूसरी वात यह है कि जिसके दो ज्ञान भी है, तीन है या चार हैं, उनके भी उपयोगमे केवल एक ही ज्ञान होता है। लब्धिकी अपेक्षा चार ज्ञान तक रह सकेंगे, मगर उपयोगकी अपेक्षा तो एक ही ज्ञान रहता है। जव कोई अवधिज्ञान का उपयोग कर रहा है तो अवधिज्ञान ही है, तीन ज्ञान नही है उपयोगमे। जब मतिज्ञानका उपयोग किया जा रहा है तो मतिज्ञान ही है, शेष ज्ञान नही। लब्धि अपेक्षा तो शेष ज्ञान है, मगर उपयोगकी अपेक्षा प्रतिसमय किसी भी जीवको एक जीवको एक ही ज्ञान होता है, और इतना ही नही एक ज्ञानमे भी जो विषय नाना है उनके भेदसे जिस विषयको लेकर ज्ञान हो रहा है उस विषयका ही ज्ञान है। शेष ज्ञान लब्धिमे पडे हुए हैं। जैसे एक मतिज्ञान है, वह ५ इन्द्रिय और मनके द्वारा जानता है। उसकी ६ विधियाँ है, पर जिस समय यह चक्षुरिन्द्रिय द्वारा जान रहा है उस समय उसका उपयोग उस ही ज्ञानमे है। आपको ऐसा लग रहा होगा कि इस समय तो हम सुन भी रहे है, देख भी रहे है और कुछ छू भी रहे हैं, बहुतसे ज्ञान कर रहे है, कैसे कहा जा रहा है कि इस इन्द्रियजज्ञानमे भी जिस इन्द्रियसे ज्ञान हो रहा उस समय वही उपयोग है, दूसरा उपयोग नही। तो आपकी तो यह शका हुई और हम आपको यह बात रखें कि यह तो बतलावो कि आप जो सोच रहे है कि एक ही बारमे, एक ही समयमे हमने ये अनेक ज्ञान कर लिये, तो आप इस समय जानते है क्या कि एक समय कितना कहलाता है ? एक चुटकी बजायी तो उसमे अनगिनते समय होते है। उनमेसे क्या आप एक समयमे सब कर रहे है ? अरे वे बहुत समय हो जाते है। तो ऐसा ही लगता है कि हम एक साथ सब कर रहे है। देखो कभी आप लोग तेलमे बेसनकी पपडियाँ बनाते हैं कडी-कडी और पूरी साबुत एक पपडी लेकर खाने बैठते, टुकडे करके नही, करते ही है बच्चे लोग ऐसा। कडी-कडी पपडियाँ उठाकर खाने लगे, तो देखो उस समय चरचर हो रहा तो कठोर स्पर्शका ज्ञान भी हो रहा, हाथमे ले रहे कि यह जान रहे कडी कडी है। स्पर्शका भी ज्ञान कर रहे, और घी का बास तो तनिक देरमे जाना जाता, मगर तेलकी बास तो तुरन्त खूब जान जाते। तो देखो गधका भी ज्ञान कर रहे, रसका भी ज्ञान हो रहा है, और आँखोसे भी देख रहे तब ही तो हमने खस्ता पपडियोकी बात कही, और कडककी कड-कड आवाजके शब्द भी सुनाई दे रहे है। तो यहाँ मोटे रूपसे ऐसा लगता कि ये पाँचो ज्ञान एक साथ एक समयमे हो रहे हैं, पर एक समयमे नही होते। वह समय बहुत सूक्ष्म चीज है। अनगिनते समयोमे वह सब होता रहता है, मगर वह सब चल रहा है उपयोग क्रम वाला। जानते है वहाँ भी क्रमसे, कभी इसे, कभी उसे। तो ऐसे ही एक विज्ञानमे भी जब आपका स्पर्शनइन्द्रियका उपयोग चल रहा है, स्पर्शका ही उपयोग है, अन्यका सब लब्धिरूप

है, तो यह बात नही कह सकते कि इन ५ ज्ञानोके समूहको ज्ञान कहते है। इसमे तो बाधा है। तब यह कहना चाहिए कि मतिज्ञान ज्ञान है, श्रुतज्ञान ज्ञान है, अवधिज्ञान ज्ञान है, मनःपर्ययज्ञान ज्ञान है और केवलज्ञान ज्ञान है। इसको यो समझिये कि जो यहाँ ज्ञानशब्द लगाया है तो यह समूह अर्थमे नही लगा, किन्तु प्रत्येकमे लगा। कई बाते ऐसी होती है कि समूहपर लागू होती है, कई ऐसे वाक्य होते कि जो प्रत्येकपर लागू होते। जैसे मानो किसी मौहल्लेके लोगोने अपनी गली बहुत गन्दी कर रखी तो वहाँ यह आदेश होता है कि इस मौहल्ले वालो पर १००) रु० जुर्माना। तो उसका क्या अर्थ है कि सभी लोग १००-१०० रुपये दे ? वह एक सामूहिक बात है। अगर कोई कहे कि इस मौहल्ले वालोकी पगत करो तो क्या वह खाना सामूहिक होगा ? वह तो प्रत्येक व्यक्तिका अलग-अलगमे होगा। कहा दो व्यक्तियोका नाम लेकर कि फलाने चंदको, फलाने लालको, अमुक प्रसादको भोजन कराओ तो प्रत्येकके साथ भोजनक्रिया लगेगी। तो जैसे इस भुजि क्रियाका सम्बध प्रत्येकके साथ लगा उसी प्रकार यहाँ मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय व केवल प्रत्येकके साथ ज्ञान शब्द लगेगा। इतना निर्णय हो गया। अब यहाँ एक बहुत विकट समस्या आती है, एक दार्शनिक समस्या कि भाई ज्ञान शब्द तो सामान्य है और ये ५ है विशेष। क्या एक सामान्य इन ५ मे एक साथ प्रवेश कर जायगा ? इस सम्बधमे एक बहुत विस्तृत शका समाधान होगा, जो एक दार्शनिक विषय है, और इसमे आपको कई उपयोगी बातें भी मिलेंगी, जिसका वर्णन अब आगे करेंगे।

सामान्यकी अनेकव्यक्तिव्यापिता—"मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्" इस सूत्रमे जो दो पद दिए हैं उनसे क्या जाहिर होता है, इस समस्यापर विचार चल रहा है। एक अर्थ तो यो हो सकता है कि मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल इन ५ ज्ञानोका समूह ज्ञान कहलाता है, और एक अर्थ यह हो सकता है कि मतिज्ञान ज्ञान है, श्रुतज्ञान ज्ञान है, अवधिज्ञान ज्ञान है, मनःपर्ययज्ञान ज्ञान है और केवलज्ञान भी ज्ञान है। इन दो मे से यह तो अनिष्ट अर्थ है कि इन ५ का समूह ज्ञान है और इष्ट यह है कि यह भी ज्ञानं, यह भी ज्ञान, ये ५ प्रत्येक ज्ञान है। ज्ञान शब्द इन ५ मे प्रयुक्त होगा। यहाँ ज्ञान तो सामान्य है और ये ५ विशेष हैं। सामान्य अपने अनेक विशेषोमे रहा करता है। तो प्रत्येक विशेषमे सामान्यकी बात बतायी जायगी। जैसे मनुष्यसामान्य और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या जो-जो भी और बातें बतायी जायें—मद्रासी, हिन्दुस्तानी, अमेरिकन, रसियन आदिक, तो रसियन भी मनुष्य, अमेरिकन भी मनुष्य और हिन्दुस्तानी भी मनुष्य। और मनुष्य है एक सामान्य शब्द। तो देखो मनुष्यसामान्य अपने विशेषोमे रहा अथवा जैसे स्वर्णके कई आभूषण है—कडा, कुण्डल आदिक। तो कडा भी स्वर्ण है, कुण्डल भी स्वर्ण है। तो स्वर्णसामान्य अपने विशेषोमे रहता है, इसी तरह ज्ञानसामान्य अपने विशेषोमे याने मति, श्रुत आदिक ५ भेदोमे मिलते हैं।

सामान्यकी कथचित् एकरूपता व कथंचित् अनेकरूपता होनेसे अनेकस्वाश्रयताकी सिद्धि—ज्ञानसामान्यकी अनेकज्ञानव्यापकताकी बात सुनकर एक शका आ सकती है कि इस तरह तो सामान्य अनेक हो जायेंगे। मतिज्ञानमे भी ज्ञानसामान्य है, श्रुतज्ञानमे भी ज्ञान-सामान्य है सभी प्रत्येकमे ज्ञानसामान्य है। तो यो सामान्य अनेक हो जायेंगे। तो उत्तर यह है कि हो जाने दो, कथंचित् सामान्य अनेक है, कथचित् एक है। इनमे से एक किसी पक्षका हठ किया जायगा तो उससे वस्तुकी सिद्धि नही होती। जैसे अगर वैशेषिकोकी तरह यह एकान्त कर लिया जाय कि सामान्य एक ही होता है और अनेक अपने विशेषोमे रहते है तो पहली बात तो यह है कि जो सर्वथा एक है वह अनेकमे एक साथ कैसे रह सकता है? जैसे एक परमाणु अनेक स्कधोमे एक साथ कैसे रह सकता है? इसी तरह सर्वथा एक सामान्य अनेक विशेषोमे कैसे रह सकता है? दूसरी बात यह जाने कि यदि सामान्य सर्वथा एक ही कहा जाय तो जैसे मनुष्य सामान्य है, अगर उसको एक ही कहा जाय सर्वथा तो जैसे मनुष्य बिखरे बैठे है दो-दो हाथके अन्तरसे तो मनुष्यसामान्य तो एक है, अब इस व्यक्तिमे मनुष्य-सामान्य है और जो बीचमे अन्तराल पड गया वहाँ मनुष्यसामान्य है कि नही, यह बताओ? अगर कहो कि उस अन्तरालमे मनुष्यसामान्य नही, उसे छोडकर जो आगे बैठा है उसमे है मनुष्यसामान्य है तो सर्वथा एक मनुष्यसामान्य तो न रहा। अच्छा कोई यदि इस बातपर हठ करे कि सामान्य तो सर्वथा अनेक ही मान लें, जितने आदमी है उतने ही सामान्य है, तो ऐसा अगर अनेकपनेकी बात मानेंगे तो समानता फिर न रहेगी। तो समानता क्या, सामान्य क्या? तो सामान्य स्वरूपत एक है और व्यक्तियोमे रहनेकी अपेक्षा अनेक है।

ज्ञानसामान्यकी स्वरूपतः एकता व अनेकस्वाश्रयकी अपेक्षा अनेकता—अब कुछ थोडी गहरी चर्चा आयगी, मगर ऐसा समझो कि गहरी चर्चा भी सुनें, सरल भी सुनें तो उससे एक लाभ होगा कि गहरी चर्चा सुनने पर थोडा तो कुछ बोध होगा, कुछ न होगा तो यह तो ध्यानमे आयगा कि जैनशासनमे कितने गहन तत्त्वोका स्पष्टीकरण है? दूसरी बात—गहन विषय रोज-रोज सुननेपर सरल भी हो सकता है। तीसरी बात—अतीव सरल सरल सुन करके लाभ क्या पावोगे? ज्ञान तो तत्त्वकी, मूलकी समझनी होगी। तो सब तरहकी बात समझनेका चित्तमे साहस रखें। सामान्य ज्ञानसामान्य है और ये ५ है ज्ञानविशेष। ज्ञानसामान्य इन ५ ज्ञानोमे रहता है अर्थात् यह भी ज्ञान है, यह भी ज्ञान है, ऐसी जो प्रतीति रहती सबको वह सिद्ध करती है कि सामान्य कथञ्चित् अनेक है, कथञ्चित एक है। सर्वथा एक माननेपर जो सामान्यके अनेक आश्रय है, जिन विशेषोमे व्यक्तियोमे वह रहता है उनमे एक साथ रह सकनेकी बात कैसे बनेगी? और अगर कहो कि हम तो सामान्यको सर्वथा एक ही मानेंगे और वह क्रम-क्रमसे रहेगा सबमे तो जिस वक्त मनुष्यपना रसियनमे रहा तो

उस समय बाकी लोगोमे मनुष्यत्व बन ही न पायगा और फिर सामान्यका यह स्वरूप ही नही है। सामान्यका अभाव हो जायगा। सामान्य उसे कहते है जो एक होकर भी अनेकमे एक साथ रहे। सो भैया! सामान्य एक तो है स्वरूपकी अपेक्षा और अनेक है आधारकी अपेक्षा। चूंकि उनका आधार, उनका आश्रय वे नाना है, इसलिए सामान्य कथञ्चित् बहुत है और चूंकि स्वरूप सबका एक है, तो स्वरूपदृष्टिसे सामान्य एक है। यहाँ यह शका न रखना कि एक होकर बहुत कैसे हो जायेंगे? जो एक है तो एक है, जो अनेक है सो अनेक है। एक होकर भी अनेक बने, इसका क्या मतलब? इसका अर्थ यह है कि जैसे मनुष्यपना तो एक है ना, मनुष्यके स्वरूपमे तो अन्तर नही है ना, इस अपेक्षासे तो एक है और वह बहुत व्यक्तियोमे रहता है तो इस व्यक्तिमे भी मनुष्यपना है, इस व्यक्तिमे भी मनुष्यपना है और क्यो जी, बीचमे जो समुद्र पडे हैं वहाँ एक भी मानो मनुष्य नही पाया जाता है तो क्या वह एक टूट गया क्या? जो एक होता है वह तो अखण्ड होता है। एकका स्वरूप क्या है? जो अखण्ड हो उसे एक कहते है। जैसे टेबिल रखी है, बतलावो यह एक द्रव्य है कि अनेक? मोटेरूपमे कहेगे कि एक चौकी है। अरे वस्तुत देखो तो अनेक परमाणुओका यह पिण्ड है, और तभी तो इसके टुकडे हो जाते है। एक तखत चीर दिया तो दो हो गए, फिर चार हो गए, फिर अनेक हो गए, फिर उनके भी अनेक हिस्से करते जाइये। एकका कभी टुकडा नही होता। जो वास्तवमे एक है उसका कभी दूसरा हिस्सा नही हो सकता। १०० पैसोका रुपया है तो रुपया अनेक वस्तु है, उसमे १०० पैसे है, और मानो व्यवहारमे अगर उस पैसेके खण्ड भी होते तो जैसे पहले छदाम दमडी होती थी, छोटेसे भी छोटा नाप हो, उसका खण्ड नही होता। उसे एक यूनिट मान लेते है, एकके खण्ड नही होते। सामान्य यदि एक ही है तो उसके टुकडे न होना चाहिए। इसलिए सामान्य प्रदेशत एक नही है, किन्तु स्वरूपतः एक है और वह एक बहुत व्यक्तियोमे तादात्म्य रूपसे रहता है, वह बहुत व्यक्तियोमे यो ही नही रहता। रसियनका मनुष्यके साथ तादात्म्य है। यह नही है कि उसमे मनुष्यपना घुसा है इसलिये रसियन मनुष्य कहलाते है। विशेषमे सामान्यका तादात्म्य है। उन व्यक्तियोमे सामान्यका तादात्म्य है। तो इसी प्रकार जो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, ये ५ ज्ञान है। इन ज्ञानोमे ज्ञानसामान्यका तादात्म्य है। अब इस समय थोडा ५–७ मिनट कुछ समझमे न आये तो भी धैर्य धारण करके सुनना।

सामान्यविशेषात्मक माननेमें तादात्म्य अतादात्म्यका प्रसंग बनाकर उठाई गई शंका और उसका समाधान—इस प्रसगमे एक गहरी समस्या आती है। शंकाकार यहाँ यह कह सकता है कि देखो जब एक सामान्य अनेकमे रह गया तो जैसे रसियनमे भी मनुष्यका तादात्म्य है, इडियनमे भी। तो देखो मनुष्यका तादात्म्य रसियनमे है। जिस स्वरूपसे तादात्म्य

उसमे है उस स्वरूपसे तादात्म्य इडियनमे तो नही है । तो जिस स्वरूपको लेकर इस सामान्य का व्यक्तिमे तादात्म्य नही है और जिस स्वरूपको लेकर सामान्यका व्यक्तिमे तादात्म्य है—वे दोनो स्वरूप व्यक्तिसे भिन्न है या अभिन्न ? सामान्यसे भिन्न है या अभिन्न या परस्पर वे दोनो भिन्न है या अभिन्न है ? एक शका रख दी । देखो कभी भी किसीका मुख बद करना हो चर्चामे तो उसके सामने एक प्रश्न यह रख दिया करो कि बताओ यह इससे भिन्न है कि अभिन्न ? स्याद्वादी तो उसपर विजय पा जायेंगे, मगर एकान्तवादी तो वहाँ पराजित हो जायेंगे । समाधानमे सोचिये—ऐसी शका करने वाले अभी अनभिज्ञ है । वास्तविकता तो यह है कि जिस स्वरूपको लेकर भेदका व्यवहार किया जा रहा है, भेद कही अन्यत्र नही दिखता है, उस स्वरूपका ही नाम भेद है याने भेददृष्टिसे सामान्यकी बात बतायी गई है । यहा तादात्म्य है, यहाँ नही है, और जिस दृष्टिसे अभेदकी बात कही है वह स्वरूप अभेद है, पर एक बात तो बतायें शकाकार कि शकाकारने भेद और अभेदकी शका उठा कैसे दी ? मालूम होता है कि शकाकार भेद और अभेदको स्वीकार तो कर रहा है तब ही तो उस आधारपर शका की । तो यह बात सुनकर शकाकारका दिल दहल गया । हमपर विपत्ति डाल दी । तो उसने कहा कि हम भेद अभेद—इन दो बातोको नही मानते, किन्तु दूसरे लोग मानते हैं, उनके माननेके आधारपर हम शका कर रहे, तो कहा वाह, दूसरेके माननेके आधारपर बात कर रहे हो तो दूसरेका मानना स्वीकार है कि नही ? अगर स्वीकार है तो झगडा मिटा, और अगर नही स्वीकार है तो फिर झगडा नही कर सकते । बात यह है कि एक ही जगह सामान्य और विशेष दोनो ठहरे रहते है । एक ही आदमीमे मनुष्यसामान्य और व्यक्तिविशेष—ये दोनो बराबर है, उनमे कोई दोष नही आता । कोई कहे कि सामान्य और विशेष, जिनका स्वरूप जुदा-जुदा है तो ये एक साथ ठहर कैसे जायेंगे ? अरे उनमे विरोध ही नही है । वस्तु एक है, जीव एक है, मगर उसमे नित्यपना भी है, अनित्यपना भी है—ये दोनो एक साथ कैसे ठहर गए ? ठहर गए, कोई विरोध नही । नित्य अनित्य विरोधी हैं या अविरोधी ? कथञ्चित् विरोधी है, कथञ्चित् अविरोधी । एक वस्तुमे मिल गए इसलिए अविरोधी और स्वरूप उनका भिन्न-भिन्न इसलिए विरोधी । तो कहते है कि विरुद्ध धर्मका एक वस्तुमे अवस्थान होनेको अनेकात कहते हैं । यहाँ न अनवस्था दोष है, न विरोध आता है, न भिन्न-भिन्न आधार मानने का प्रसग आता है । ठीक सीधे प्रतीति हो रही है कि वस्तु सामान्यविशेषात्मक है । यह भी एक विशेष है अन्यथा वस्तु तो अवक्तव्य है, जो है सो है, पर ऐसा कहनेसे गुजारा तो नही चलना है ।

व्यवहारके बिना प्रतिपादन न हो सकनेसे तीर्थविच्छेदकी आपत्ति—व्यवहारके बिना कुछ भी गुजारा नही चल सकता । बस एक वस्तुको मानते जावो अवक्तव्य अवक्तव्य, तो

क्या समझोगे ? क्या समझावोगे ? कहाँ चलोगे ? व्यवहारका आश्रय लेना ही होगा । वस्तु सामान्यविशेषात्मक है । जितना प्रतिपादन होता है वह व्यवहारसे ही होता है । परमार्थ गूगा है । वह प्रतिपादन नही कर सकता । वह तो एक लक्ष्यमे आनेका तत्त्व है । जितनी प्रवृत्ति है तीर्थप्रवृत्ति, जितना धर्मका प्रवाह है, जितनी परम्परा है वह व्यवहार द्वारा चलती है । परमार्थका प्रतिपादक होता है व्यवहार । परमार्थ स्वयं अपना प्रतिपादक नही हो सकता । वह तो शुद्ध नयका विषय है, अखण्ड है, अवक्तव्य है । तो यह भी व्यवहार है कि वस्तु सामान्यविशेषात्मक है । मगर यह बतलाओ कि क्या यह बात असत्य है ? है नही क्या सामान्यरूप आत्मा ? है नही क्या विशेषरूप आत्मा ? नही है, ऐसा निषेध करके उस सामान्यविशेषात्मक विकल्पसे अतिक्रान्त होकर अवक्तव्य तत्त्वमे आनेका पात्र न होगा । जो समझा वस्तु सामान्यविशेषात्मक है, अब उसमे विशेषको गौण कर सामान्यको मुख्य कर और आगे बढते है तो सामान्य जब विकल्पसे छूटता है तो दोनोसे अतिक्रान्त होकर केवल एक शुद्ध ज्ञानमात्र स्थितिका अनुभव करता है । तो वस्तु सामान्यविशेषात्मक है । हर जगह घटाते जावो । इसमे किसी प्रकारकी बाधा नही आती ।

अभेद और भेदके आधारपर द्रव्यार्थिक नय व पर्यायार्थिक नयका समर्थन—देखो मूल में नय दो होते हैं—(१) द्रव्यार्थिक नय और (२) पर्यायार्थिक नय । इनका लक्षण यह बताया गया है कि जिसका प्रयोजन द्रव्य हो सो द्रव्यार्थिक नय, जिसका प्रयोजन पर्याय हो सो पर्यायार्थिक नय । ऐसा लक्षण क्यो कहा ? तो इन नयोके द्वारा जो कुछ है भी खोज करनेकी प्रचुरता है वह इसी विधिसे है कि द्रव्यको देखो, पर्यायको देखो, पर इन नयोकी मूल मशा क्या है ? इनकी मूल मशा है अभेद और भेद । द्रव्यार्थिक नयका विषय है अभेद और पर्यायार्थिक नयका विषय है भेद । और देखो यह नयचक्र बडा गहन है, इसका पार होना कोई एक सामान्य गप्पोमे नही बनता । कभी पर्याय भी द्रव्यार्थिक नयका विषय हो जाता है, कभी द्रव्य भी पर्यायार्थिक नयका विषय हो जाता है । कैसे ? देखो जो कथन आये जो प्रसग हो, वह प्रकरण, वह मूड इन नयोकी जान बनाता है । ये नय खुद अपनी जान लिए हुए नही हैं । आशय ही नयोके प्राण बनाता है । जिस समय हम वस्तुमे एक समयकी पर्याय निरख रहे हैं तो वह पर्याय बतलाओ अखण्ड है कि नही ? उस समयमे और उसी अखण्ड पर्यायको जब हम भेद करके यह निरखेंगे कि यह ज्ञानगुण, दर्शनगुण व आनन्दगुणकी पर्याय । जैसे स्वभाव मे भेद करके गुण निरखे गए थे ऐसे ही एक समयकी अखण्ड पर्यायके भेद करके यह अमुक गुणकी पर्याय, यह अमुक गुणकी पर्याय, ऐसा भेद देखेंगे तो सामने दो बातें आयेंगी—अखण्ड पर्याय और नाना पर्यायें । तो अखण्ड पर्याय तो है द्रव्यार्थिक नयका विषय और नाना पर्याय है पर्यायार्थिक नयका विषय । इन नयोका मूल आशय समझना चाहिए । इन नयोका आशय

है अभेदनय और भेदनय । षड्खंडागममे सामान्य विवरणको द्रव्यार्थिक नय कह दिया और विशेष कथनको पर्यायार्थिक नय कह दिया, जहाँ सामान्य विवरणके बाद विशेष विवरण दिया । जैसे पहिले यह कह दिया जाय कि "ज्ञान पाँच प्रकारके है" और फिर कहा जाय "मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन.पर्ययज्ञान व केवलज्ञान" और वहाँ कोई शका करे कि "ज्ञान पञ्चविधम्" इससे ही सब जान लिया, फिर नामप्ररूपक सूत्र बोलनेकी क्या जरूरत, तो समाधान होगा कि द्रव्यार्थिकनयकी रुचि वाले शिष्योको पहिला कथन दिया है, अब पर्यायार्थिक नयकी रुचि वालोको अगला कथन करते है । अच्छा, मानो कि सत्, सत्मे देखिये—सर्व पदार्थोंका सग्रह आ गया । जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और ये समस्त अनन्त पदार्थोंका समुदाय एक सत्मे आ गया । सत् कहा और अब हम करते है उसका भेद । जीव पुद्गल अणु, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य करें, भेद एक सामान्य-सामान्य रूपसे ही, पर्यायको लेकर न करे, द्रव्यको लेकर कर लिया जाय तो अब यहाँ दो बातें सामने आयी—(१) सत् और (२) जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य आदि ऐसी ६ बातें रखें । तो देखो सत्का जानना तो हुआ द्रव्यार्थिक नयसे और उन ६ द्रव्योका जानना हुआ पर्यायार्थिक नयसे । अब बतलावो उन ६ को पर्यायरूपसे हाजिर नही कर रहे, हम कर रहे द्रव्यरूपसे हाजिर, लेकिन यह भेद बनता वह अभेद है । जो अभेद है वह द्रव्यार्थिक और जो भेद है वह पर्यायार्थिक ।

अभेदनय और भेदनय इन मूल दो नयोके आधारपर समस्त प्ररूपण—नयोको पहिचाननेकी नीनिका आधार अभेद और भेद है, द्रव्य और पर्याय नही । हाँ, द्रव्य और पर्याय जब सामने रखते है तो वहाँ द्रव्य अभेद है, पर्याय भेद है, इसलिए द्रव्यका बताना द्रव्यार्थिक नय है और पर्यायका बताना पर्यायार्थिक नय है । यह नय ऐसा एक समझाने वाला नय है कि जैसे परोपकार करनेकी जिसमे धुन सवार हो, मनुष्यमे तो जैसे वह मनुष्य अपना कुछ न देखकर मुझे यह आपत्त आ गई कि यहाँ मैं पकडा जाऊँगा, मैं बरबाद हो जाऊँगा, मेरा यहाँ विनाश हो जायगा, वह मनुष्य यह कुछ न देखकर अपनी धुनके अनुसार सबके उपकारमे लगा रहता है, ऐसे ही यह नय ऐसा उपकारी है कि यह अपना विनाश भी नही देखता और यह भव्य जीवोको समझानेमे इस तरह लगा रहता है । अभी देखो ना, जब बोला कि सत् तो यह है द्रव्यार्थिक नयसे, और ६ द्रव्य है पर्यायार्थिक नयसे । क्या जीव, यह पर्यायार्थिक नय है ? और बोल रहे जीवद्रव्य, मगर जब जीवद्रव्य और जीवके ज्ञानादिक गुण जब ये दो बातें सामने रखेंगे तो पर्यायार्थिक नयने जिस जीवद्रव्यका समर्थन किया था अब यह पर्यायार्थिक नय गुणोका समर्थन करेगा और द्रव्यार्थिक नय जीवद्रव्यका समर्थन करेगा । तो नयोकी बात किसी एक जगह जो लगावेंगे उसकी अपेक्षा कोई भेद या अभेद दीखा वह नय बदलकर दूसरे

का समर्थन करने लगेगा। किसी एक जगह बोलकर उसीको पकडकर रहेगा। तो वहाँ विस-वाद होता है। निर्विवादिता तो ज्ञानकलापर निर्भर है। यह नय तो यो निरन्तर नाच ही रहा है। जैसी दृष्टि करे वैसा नय खडा, जैसा आशय बनाया वैसा नय खडा। यह नयचक्र बडा गहन जंगल है। यो सामान्यरीतिसे इसका पार न पायेंगे। इसके लिये गहन तत्त्वाभ्यास, गुरुचरणप्रसाद व निष्पक्ष मनन चाहिये।

ज्ञानसामान्य बिना ज्ञानविशेषोंका अभाव और ज्ञानविशेष बिना सामान्यज्ञानका अभाव हो जानेसे ज्ञानके सामान्यविशेषात्मकताकी तरह सर्वत्र सामान्यविशेषात्मकताकी सिद्धि—यहाँ मूल चर्चा चल रही है ज्ञान और इन ५ विशेषोकी। याने मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। ये ५ विशेष ज्ञानमय है, और सभी जगहोमें, सभी पदार्थोंमे आप निरखते जावो, सर्वत्र सामान्यविशेषात्मकताका परिचय मिलेगा। केवल सामान्य ही हो, विशेष झूठ हो, ऐसा सामान्य कुछ नही है, केवल विशेष हो, सामान्य कुछ न हो तो विशेष कुछ नही। देखो जिस घरमे जब झगडा हो जायगा और जिससे दिल लग गया तो वह आदमी कहता है कि है तो यह ही और बाकी तो है ही नही। बाकी मर गए क्या ? अरे रह तो रहे घरमे। अब तुम्हारा जिस तरफ दिल लगा तो कहते कि बस सत्ता तो है इसकी, बाकी तो मर गए। तो मर तो नही गए। अरे भाई, तुम्हारा दिल इस ओर लगा है तो लगा लो दिल, मगर मर गएका ख्याल न करो। वे है, जिन्दा है, पर तुम्हारी दृष्टि इस ओर है सो प्रधान बन गया, और हमको हित यहाँ मालूम पडता है तो प्रधान बन गया। तब ही तो आचार्योंकी पद्धति यह रही कल्याणमे बढनेकी कि व्यवहारका विरोध न कर, निश्चयका आलम्बन लेकर मोहको दूर करके, फिर निश्चयसे भी अतिक्रान्त होकर अनुभवमे पहुच जाना। तो देखो सामान्यविशेषात्मकताके बिना वस्तुकी सत्ता नही होती। वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है, इसमे कोई बाधक नही है। यहाँ तक आये।

सामान्यमात्रपरिच्छेदक या विशेषमात्रपरिच्छेदक ज्ञानकी संभवता न होनेसे वस्तुकी सामान्यविशेषात्मकताकी सिद्धि—अब कोई शकाकार कहता है कि सुनो—अभी मामला खत्म न करो। वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। इसमे बाधक प्रमाण है केवल सामान्यमात्रका ज्ञान करने वाला हमारा ज्ञान उसमे बाधक है। ऐसा कोई सामान्यको मानने वाला कह रहा है तो कह दो कि तुम अपनी मान्यता अपने घरमे रखो, इसे कोई भी समझदार नही मान सकता। केवल सामान्यमात्र कोई वस्तु होती ही नही। सामान्यविशेषात्मक वस्तुमे सामान्यको मुख्य करके जो बोध होता है उसको कहते हैं सामान्यका ज्ञान। सामान्यका ज्ञान करते समय केवल सामान्यका ज्ञान नही हो रहा, सामान्यविशेषात्मक वस्तुका सामान्यकी प्रधानतासे ज्ञान हो रहा, उसका अर्थ यह है। तो कोई एक वैशेपिक एकान्तवादी दार्शनिक बोलते है, ठहरो, विशेषको जानने वाला जो ज्ञान है वह इस बातका बाधक है कि वस्तु सामान्यविशेषात्मक

है। वस्तु तो केवल विशेष-विशेष मात्र है। तो कहते है कि तुम अपनी बात अपने मनमे रखो। कोई भी पदार्थ ऐसा नही है जो केवल विशेष विशेषरूप हो और सामान्यरूप न हो। देखो जब कभी किसी वस्तुमे विशेष अशका बोध हो रहा है तो यह न समझो कि मात्र केवल विशेषका बोध हो रहा, किन्तु सामान्यविशेषात्मक वस्तुका विशेष धर्मकी मुख्यतामे बोध हो रहा। अब देखो यह बात यो कुछ जल्दी समझमे आयगी। इसी मोक्षशास्त्रमे द्वितीय अध्याय मे जब कहा है कि मतिज्ञान इन १२ प्रकारका ज्ञान कराता है तो वहाँ झट आगे कह दिया अर्थरूप—जो पहले कहा है याने इन बारह प्रकारके पदार्थोका ज्ञान होता है सो बहु आदि का अलगसे ज्ञान नही होता। कोई केवल अलगसे बहु आदिका ज्ञान कर सकता क्या? कोई इन आदमियोको तो जाने नही और कह दे कि बहुत है। तो कोई पदार्थसे अलग समझ सकता है क्या? एकको या बहुविधको या किसी प्रकारको या मनुष्यसामान्यको? नही। सभी ज्ञान पदार्थको ही जानते है। जो कोई जानता है वह कोई अलगसे गुणको नही जान सकता, न अलगसे पर्याय जान सकता, न कोई अलगसे द्रव्य जान सकता, न अलगसे कोई विशेष जान सकता, किन्तु पदार्थ ही इस-इस रूपमे जाननेमे आ रहा है।

ज्ञानविषयकी सामान्यविशेषात्मकताकी भाति ज्ञानकी भी सामान्यविशेषात्मकता— प्रमाणका विषय सामान्यविशेषात्मक वस्तु है। ज्ञानका विषय न सामान्य है, न विशेष है। जाना जा रहा है सामान्यविशेषात्मक पदार्थ और उसको जब इस सामान्यकी प्रधानतासे जानते है तो हमारे ज्ञानमे सामान्य आ रहा। उस ही वस्तुको जब हम विशेषकी प्रधानतासे जानते हैं तो हमारे ज्ञानमे वह विशेष आ रहा है। पदार्थ सामान्यविशेषात्मक ही होता है। तो प्रमाणमे क्या बात लेनी है कि ये मति, श्रुत, अवधि आदिक ५ ज्ञान ये ज्ञानात्मक है और ज्ञान इन ५ को छोडकर अलग कही रहता नही। सामान्य विशेषव्यापी होता है। तो वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। यहाँ यह निर्णय रखना चाहिए। देखो आप भी सामान्यविशेषात्मक हैं, हम भी सामान्यविशेषात्मक है और सिद्ध भगवान ये भी सामान्यविशेषात्मक है। निगोद जीव, ये भी सामान्यविशेषात्मक है। अज्ञानी, ये भी सामान्यविशेषात्मक है। ज्ञान, यह भी सामान्यविशेषात्मक है। और सामान्य परखनेकी पद्धति है अभेद तथा विशेष परखनेकी पद्धति है भेद। अब अभेद एक दृष्टिसे जो समझमे आया वह है सामान्य तथा विशेषदृष्टिसे, भेददृष्टिसे जो समझमे आया सो है विशेष। पदार्थ तो जो है सो है, अवक्तव्य है, हर प्रकारसे परिचय करनेके बाद वस्तु जब समझमे आती है तब विकल्प न करके केवल उस वस्तुको ज्ञान मे ले वहाँ उसकी अखण्डताकी सही प्रतीति होती है अन्यथा अखण्ड वस्तुको भी हम वचनोसे बोलते जायें तो वह खण्ड ही हो रहा। वचनोसे अखण्डका ज्ञान नही, किन्तु उसका परिचय होनेपर सर्वनयवाद प्रमाण सब अतिक्रान्त हो जाय और एक केवल स्व निज लक्ष्य रहे तो

निजकी अखण्डता उसको मालूम पडती है । तो यहाँ इस प्रकरणमे ज्ञानसामान्यके ५ विशेष बताये जा रहे है ।

प्रकृतसूत्रके दोनों पदोके साथ एवकारकी संभवता—जिस प्रमाणके द्वारा वस्तुका परिचय होता है उस प्रमाणका विवरण चल रहा है । प्रमाण कहो अथवा ज्ञान कहो, ज्ञान ही प्रमाण है । उसका विवरण इस सूत्रमे किया गया है—मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् । अर्थ तो सामान्यतया यह है कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान यह ज्ञान है । देखो साधारणतया कुछ भी बोलते है, पर बोलनेमे एवका अर्थ छिपा हुआ रहता है, याने निश्चयके साथ जो बात बोली जाती है उसमे एव भी न लगाया जाय तो भी वहाँ एव मानने जैसा ही अवधारण बना हुआ है । अवधारण बिना कोई व्यवहार नही होता । जहाँ कोई कहे कि बस अब हम मदिर जाते हैं तो अवधारण तो हो गया, अब हम मदिर जाते ही है, उसके अभिप्रायमे न जाने क्या पडा हुआ है कि अब ही हम मदिर जाते हैं अब । हम ही मदिर जाते है, अब हम मदिर जाते ही है, अब हम मदिर ही जाते है, इतने शब्द बोले कि उन शब्दोके साथ ही लगानेसे जुदे जुदे भाव हो जाते हैं । अब यहाँ पर केवल ही की ही एक जिज्ञासा हो रही है । हम अवधारण कहाँ कर रहे ? इसका अर्थ क्या यह लगायें कि मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल ही सामान्य ज्ञान हैं, या यह अवधारण बनायें कि मति, श्रुत अवधि, मनःपर्यय, केवल, ये ज्ञान ही है । इस तरह कहाँ एव लगाये । समाधान यह है कि दोनो जगह ही एव लग सकता है । जिस समय यह कहा कि मति श्रुत अवधि मन पर्यय केवल—ये ५ ही ज्ञान है, उससे किसका व्यवच्छेद हुआ कि भाई जो कुमति, कुश्रुत, कुअवधि है, यह ज्ञान नही है । जब कभी 'ही' लगाते है तो किसी दूसरी बातका निषेध हुआ करता है । 'ही' निषेध करने वाला होता है अन्यका । तो जब यह कहा कि ये पाँचो ही ज्ञान है तो उसका अर्थ यह है कि कुमति, कुश्रुत, कुअवधि—इनमे सम्यग्ज्ञानरूपता नही है । यह सूत्र है सम्यग्ज्ञानके विशेषको बताने वाला, और जब यह अवधारण करते है कि मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय, केवल ये ज्ञान ही है, यहा ज्ञानके, द्वितीय पदके आगे एवकार मानते है तो उससे यह अर्थ ध्वनित होता है कि इन ५ मे अज्ञानता जरा भी नही है । अज्ञानता होती है मिथ्यात्वके उदय होनेपर और ये जो ५ ज्ञान बताये गए हैं, ये होते है चौथे गुणस्थानसे प्रारम्भ । मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, ये तो चौथे गुणस्थानसे लेकर १२ वे गुणस्थान तक होते है । मन-पर्ययज्ञान छठे गुणस्थानसे लेकर १२ वें गुणस्थान तक होता है और केवलज्ञान १३ वें, १४ वे गुणस्थानमे होता है और गुणस्थानसे अतीत जो सिद्ध प्रभु है उनमे भी होता है, तो दोनो जगह अवधारणकी बात बोल सकते है । यहां कोई यह आशका न रखे कि ऐसा कैसे होगा कि दोनो जगह एवकार रह सके । उसमे विरोध तो तब होता कि

एक जगह एवकार लगानेसे दूसरी जगह एव लगनेसे जो निश्चय होता उसका यहाँ विरोध करते तब तो विरोध हो। अगर ये एक दूसरेका विरोध नही करते तो दोनो ही जगह अवधारण होता है। जैसे एक सूत्र है जो आगे द्वितीय अध्यायमे आयगा—देवनारकाणाम् उपपाद: याने देव और नारकियोके उपपाद जन्म होता है। इसमे दोनो जगह 'ही' लग जग जायगा। देव नारकियोके ही उपपाद जन्म होता है तथा देव नारकियोके उपपाद जन्म ही होता है और उन अर्थोंका कोई परस्पर विरोध नही है। इसी प्रकार यहाँ भी समझना। इस अवधारणसे क्या समझा कि यह सूत्र जो है वह सम्यग्ज्ञानके भेदको बताने वाला है, न कि कुमति, कुश्रुत, कुअवधिरूप ज्ञानोको भी और प्रमाण भी यह ही है, क्योकि जिस प्रमाणसे हम वस्तुकी जानकारी करते है उसी प्रमाणका वर्णन चल रहा है। कही कुज्ञानसे जानकारी तो नही होती और साथ ही यह भी यहाँ निश्चय हो गया कि यहाँ मिथ्यात्वका उदय नही है। यह ज्ञान मिथ्यात्वके विच्छेदके बाद ही बनता है। तब यहाँ तक इतनी बात निर्णीत हो गई कि ये ५ ज्ञान विशेष ज्ञान है।

मतिज्ञानका विवरण—अब थोडा थोडा इन ५ ज्ञानोके विषयमे स्वरूप देखना। विशेष तब भी समझ लेंगे जब इसके भेद आयेंगे, इसके विषय बताये जायेंगे, वहाँ भी झलक आयगी। सो अब क्रमश देखिये पहले क्या कहा गया ? मतिज्ञान। देखो यह चर्चा दूसरेकी नही है हमारी आपकी खुदकी बात है। हम आप जितना जो कुछ जाना करते हैं रात दिन वह मति और श्रुत द्वारा जानते रहते है। सर्वप्रथम इन्द्रिय और मनके निमित्तसे जो जाना गया वह तो मतिज्ञान है और उसके बाद उसके विषयमे जो विशेष समझा गया वह सब श्रुतज्ञान है। तो 'मति' इतना ही शब्द दिया है। इतना शब्द देनेसे मालूम होता है कि स्मृति प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान—ये सब भी मतिज्ञान कहलाते है। अब देखिये मतिज्ञानका इतना प्रखर विस्तार है कि जो ऐसा लग रहा है कि इसमे तो बडा विचार किया जाना है तब यह ज्ञान बनता है। वह भी मनोविषयक होनेसे मतिज्ञान कहलाता है। मतिके बारेमे प्रसिद्ध तो यह ही है कि जो इन्द्रिय और मनसे अभिमुख पदार्थको जाने सो मतिज्ञान, सो इसका नाम मति नही है। इसका नाम है अक्षमति अथवा दूसरा नाम धरो आभिनिबोधिक ज्ञान। जो अभिमुख व नियत विषयको जाने उसे कहते हैं आभिनिबोधिक ज्ञान। जैसे चक्षुके द्वारा रूप ही जाना जा सकता है अन्य कुछ नही। घ्राणके द्वारा गंध ही, कर्णके द्वारा शब्द ही और रसना के द्वारा रस ही। इसमे इन्द्रियका विषय नियत है और यह नियत विषयको ही जानता है और सामने आया हुआ अभिमुख आये हुएको ही जानता है, इसलिए इसका नाम है दूसरा आभिनिबोद्धिक ज्ञान। यह सब ज्ञानकी चर्चा है। एक ज्ञानकी समस्या हल हो जाय तो सब हल हो जाय। मैं ज्ञानस्वरूप हू और मेरे ज्ञानके ऐसे ऐसे परिणमन होते हैं। इतनी ही बात

तो समझनेकी है, वही यहाँ कहा जा रहा है। ज्ञानसामान्यके मायने तो है वह एक ज्ञानशक्ति, ज्ञानस्वरूप और ज्ञान विशेषके मायने है कि इसका परिणमन इसकी परिणतियाँ क्या क्या हुआ करती है ?

वस्त्वंश सामान्य व विशेषका सामान्यविशेषात्मक वस्तुमे अभेद व भेददृष्टि द्वारा परिचय—पदार्थमे सामान्य और विशेष कुछ अलगसे पडे हुए नही है। पदार्थ तो पदार्थ ही है। जब हम सामान्यरूपसे देखते है तो हमे सामान्यका बोध होता है, विशेषरूपसे देखते है तो हमे विशेषका बोध होता है। सामान्य स्वतत्र तत्त्व नही है, विशेष स्वतत्र तत्त्व नही है। जैसे कि द्रव्यत्व और गुण, पर्याय ये कोई स्वतत्र सत् नही है। एक अर्थ है, और उस अर्थको, उस ही पदार्थको जब हम भेद द्रव्यार्थिक नयसे देखते है तो गुण समझमे आया। अशग्राहक पर्यायार्थिक नयसे देखते है तो गुण समझमे आया। पर्यायका अर्थ केवल परिणमन ही नही है। पर्याय, भेद, अश ये सब एकार्थवाचक शब्द है। तो जब हमने अश देखा पर्यायार्थिक नयसे देखा तो गुण समझमे आये और जब हमने परिणमनवाचक पर्यायार्थिकनयसे देखा तो पर्याय समझमे आयी। कही वस्तुमे द्रव्यत्व स्वतत्र सत् हो, गुण स्वतत्र सत् हो, पर्याय स्वतत्र सत् हो, ऐसा नही है। अगर स्वतत्र सत् है तो आप जानते है कि सत्मे ६ साधारण गुण होते है—अस्तित्व, वस्तुत्वादिक। तो क्या पर्यायमे ६ साधारण गुण है या पर्याय क्या उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है ? तो यह ही लक्षण है सत्का—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्। अगर गुण सत् है तो क्या वह उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है ? अगर गुण सत् है तो क्या अस्तित्व आदिक साधारणगुण वाला है। उन गुणोमे एक प्रदेशवत्व गुण आया तो क्या गुण प्रदेशवान् है और क्या पर्याय प्रदेशवान है, क्या द्रव्यत्व प्रदेशवान है ? अरे वह अर्थ प्रदेशवान है, वस्तु प्रदेशवान है जिसमे हम नयोके द्वारा द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व निरखते है ? तो यह नयचक्र बडा गहन है और जिसको ज्ञानकलासे अपने आपमे ज्ञानकी लीला करनेका अभ्यास बन गया है अर्थात् एक वस्तुके परखनेके ज्ञानकी नीति रीति भली प्रकार आयी है तब ही इस नयचक्रमे प्रवेश हो सकता है।

यह सब निश्चय और व्यवहार बदलते रहने वाली चीज है। जैसे जब हम बोलते हैं कि यह जो पर्याय दिखती मनुष्य, वह जीव है तो यह तो व्यवहारनयसे हुआ ना और इसकी तुलनामे द्रव्यार्थिकनयसे क्या हो गया यानि निश्चयसे कि जो क्रोध, मान, माया, लोभका आधारभूत है ऐसा जो कोई जीव है वह जीव है। अब मुकाबला देखते जाना, जहाँ एक द्रव्य व्यञ्जन पर्याय रूपमे पेश किया गया, इस मनुष्यपर्यायको सामने रखा तो उसके मुकाबलेमे क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी जीव निश्चयनयका विषय बन गया, और जब इसके मुकाबले विचारादि वाले ज्ञानकी परिणतियो वाला मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, यह है जीव, इसको रखा तो कषाय वाला जीव है यह व्यवहारनयसे बन गया और मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी जीव है यह

निश्चयनयसे बन गया । और जब एक ज्ञानसामान्यको सामने रखा तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, यह व्यवहारनयसे कहा गया और ज्ञानसामान्य यह निश्चयनयसे कहा गया और जब एक अखण्ड चित्वस्तुको निरखा तो उसके सामने जीवमे ज्ञानस्वभाव है यह व्यवहारनयका कथन बन गया और अखण्ड एक चिदात्मक वस्तु जो लक्ष्यमे आयी वह निश्चयका विषय बन गया । हाँ, शुद्धनय एक ऐसा है कि जो बदलता नही है, बाकीके निश्चयनय व्यवहारनय बदल जाते है । जैसे-जैसे उत्तरोत्तर अन्तर्दृष्टि मिलती जाती है वैसे ही वैसे निश्चयनय व्यवहारनय बनते जाते है, पर मूलमे जो शुद्धनय है वह किसी भी समय व्यवहारनयका रूप नही रखता है, उसका विषय है अखण्ड चिदात्मक वस्तु तो मूल तो सबका वही है । अब उपाधिसंसर्ग है तो इस उपाधिका जितना क्षयोपशम हो रहा है उतना यहाँ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान आदिक ये प्रकट हो रहे हैं । देखो—सम्यग्ज्ञानी पुरुष आत्महितकी आकाक्षा रखने वाला पुरुष इतना सुलझा हुआ है, इतना निर्विवाद होता है कि उसको कही शल्य, पक्ष, हठ, कषाय, आग्रह आदिकका स्थान नही होता, क्योकि उसके लिए सारा यह चैतन्यलोक, यह जीवलोक, परमात्मस्वरूपमे दिख रहा है । जिसे अपने आपके बारेमे निर्णय है कि हू तो यह मैं सहज परमात्मतत्त्व रूप, यहाँ अपराध कहाँ, यहाँसे विवेक कार्य प्राप्त हो लेगा ।

नयोमे प्रतिपक्षनयकी बातमे विधि या निषेध द्वारा दखल न देकर अपने विषयको निरखनेकी नीति—देखिये—शुद्धनयमे निर्णयकी बात नही कही जाती, निर्णीत सारका लक्ष्य किया जाता है । निर्णय करने वाला व्यवहारनय होता है । नय तो एक विषयको देखता है, निश्चयनय और व्यवहारनय दोनोकी बात करेगा । दोनोकी रक्षा वह करता है, क्योकि व्यवहार ही परमार्थका प्रतिपादक है । जहाँ ऐसे निर्णयकी बात मिल गई वहाँ आपको व्यवहार नयका प्रयोग देखना होगा । व्यवहारनयमे कई कलायें होती हैं, निर्णायकता है और एक द्वैत पक्षका दर्शक है । इसकी अनेक कलायें है और निश्चयनयकी केवल एक कला है । एक द्रव्यको देखना । देखो जब जिस नयसे देखते है जब जिस नयका प्रयोग करते हैं उस समय हम प्रतिपक्षनयका विरोध करते है तो हम उस नयके उपयोगको गदा कर देते हैं । किसी भी नयका प्रयोग, किसी भी नयकी दृष्टि प्रतिपक्षनयका विरोध नही करती, किन्तु अपने विषयको ही दिखाती है । नयोका काम है कि नय अपने विषयको दिखाये । प्रतिपक्षनयका विरोध करे यह नयका काम नहीं है । और जब नयकी नीतिकी ईमानदारी हम खो बैठते है तब विवाद होता है । हम किसी नयसे बात कहे और प्रतिपक्षनयका उसके साथ हम विरोध रखें या प्रतिपक्षनयके विषयकी बात भी उसमे लगायें तो हम वहाँ उस नयका ,सही उपयोग नही कर सकते । अरे नयोकी इस नीतिके अनुसार जो नयवादके विषयमे पडेगा उसका जीवन बडा सुलझा हुआ रहेगा, और जहाँ उपयोग सुलझा हुआ है, जिसके उपयोगमे किसी भी नयका

पक्षपात नही है वही जीव तो समयसार बननेके योग्य है । जो नयपक्षसे अनिक्रान्त है, उसी को समयसार मिलता है । जब जिससे देखें तब उसके विषयको वेधडक देखें, पर अभिप्रायमे प्रमाणके विरुद्ध न चलें तो सर्व बातें निभती जायेंगी ।

सांसारिक सुखसे विमुख होकर ज्ञानानन्दस्वभावी अन्तस्तत्त्वके अभिमुख होनेका कर्तव्य—सर्व ज्ञानोका प्रयोजन क्या है ? सो आचार्य कुन्दकुन्ददेवने बताया कि जो जीव आत्माको अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य आदिक रूपमे अनुभव कर लेता है वह समस्त जैनशासनको जानता है । समस्त जैनशासनका प्रयोजन यह है कि भव्य जीव अपने आपको अच्छा बना लें याने ये निराकुल हो जायें, समारपरिभ्रमणसे छूट जायें, ऐसी अपनी स्थिति पा ले, बस यह ही सब समझनेका प्रयोजन है । तो देखो खूब आनन्दसे रहे, मौज किया, धन वैभव जोडा इसीको ही सर्वस्व मानते रहे, पुत्र, मित्र, स्त्री, कुटुम्ब पक्ष, पार्टी दोस्ती आदिक इन सब बातोमे ही उलझे रहे तो देखो जीवनकी गाड़ी तो बडी वेगसे जा रही है । कुछ ही दिनोमे यहांसे कूच करना पडेगा । अनेक उलझनें, अगर अपने उपयोगमे डाल रखी तो उससे जो हम कल्याणसे वंचित रहे तो इसकी पूर्ति कोई दूसरा कर न जायगा और न अब भी पूर्ति कर सकता है । अपनी जिम्मेदारी अपने आपपर समझें और अपने आपको ऐसा एक समर्थ समझें कि मैं ही तो अपनी गुत्थियां सुलझाता हू, अपनेको गुत्थियोमे उलझाता हू । मेरेमे तो वह सामर्थ्य है कि किसीका सहारा लिए बिना भी यदि हम वास्तवमे परको पर जानकर उससे विरक्त हो गए है तो एक अपने आपके परमविश्रामके बलपर हम अपने आपमे सम्यग्ज्ञान प्रकट कर सकते है । अपने आपपर बहुत बडी जिम्मेदारी है । अगर इसको न सभाला और मोह रागके ही चक्करमे रात दिन रहे तो यह बहुत महगा पडेगा । विषय भोगना सरल है, सस्ता है, मगर ये कितने महगे पडते है ? एक भवमे मौज ले लिया और खूब मौजसे, आनन्द से रहे, इन्द्रिय विषयोकी प्रीतिमे ही समय गुजारे और मरकर गधा सूकर कीडा-मकौडा आदि कुछ बन गए तो फिर क्या करेंगे और मानो एकेन्द्रिय हो गए । असज्ञी बन गए तब फिर वश क्या चलेगा ? तो वर्तमानमे जो मनुष्यभव पाया है वह क्या इसलिए है कि खूब धन वैभव जोड ले ? क्या इसलिए है कि इन ५ इन्द्रियके विषयोका खूब मौज लूट ले ? क्या इसलिए है कि धर्मके मामलेमे विवाद, चर्चा, प्रसंग, कषाय आदिकमे अपना जीवन उलझाकर गुजार दे ? किसलिए जीवन है सो बताओ ? जीवन है एक ऐसा रास्ता पानेके लिए कि जिससे हम अपने आपके स्वभावमे मग्न हो सकें, वह मार्ग मिलेगा निष्पक्षरूपसे ज्ञान और वृत्ति होने पर, उसके लिए तत्त्वाभ्यास करें, सत्सग करें, अनुभवी पुरुषोकी उपासनामे रहकर उनके अनुभवका क्रम आप निरखिये, मात्र वचनोंसे नही, प्रवृत्तिसे, व्यवहारसे, देखनेसे अनेक तरहसे एक अनुभवकी वात आवे । भैया ! सब कुछ कर डालो एक अपने इस सहज ज्ञानघन

की उपासनाके लिए। उसी ज्ञानकी इस सूत्रमे चर्चा चल रही है कि ये ज्ञान ५ होते हैं— मतिज्ञान आदिक। मतिज्ञानादिक ये विशेष बतानेके दो काम है—एक तो सच्ची समझ बनावें और एक जो झूठी समझ है उसे दूर करें। झूठी समझ क्या है ? सो निरीक्षण कीजिये।

अनुमान आदि प्रमाण माने बिना इन्द्रियप्रत्यक्षके भी प्रमाणत्वकी असिद्धिका प्रसंग— कोई दार्शनिक ऐसे है कि जो केवल अक्षमतिको मानते है, इन्द्रियो द्वारा देखा, जाना, समझा बस यही सब कुछ है, अन्य कुछ है ही नही। और इसके सिवाय, इस ज्ञानके सिवाय और कोई ज्ञान ही नही, और कोई प्रमाण ही नही। प्रमाण केवल एक है। जो इन्द्रियजन्य मति-ज्ञान को ही मानते है ऐसे दार्शनिकोका नाम क्या है ? लौकायतिक अथवा चारुवाक्। लौका-यतिकके मायने यह है कि जैसा लौकिकोका आचरण है वैसा ही जिनका आचरण हो उनका नाम है लौकायतिक। मायने जैसे दुनिया मोहमे लग रही है, कुछ आगे पीछे की नही सोचते, मिलना चाहिए इन्द्रियविषय, आनन्द 'सुख, बस ऐसी जिनकी दृष्टि है, ऐसा ही प्रायः सारा लोक है, उनकी ही तरह जिनका आचरण है वे हैं लौकायतिक अथवा चारुवाक्। चारु कहते है सुन्दरको, जिनकी वाणी बडी सुन्दर लगे। अगर स्वच्छन्दताकी विषयभोगोकी बात कह दी जाय तो सबको रुचती है ना ? और उन विषयोमे स्वच्छन्दतामे धर्म बता दिया जाय तो उसके अनुयायी बहुत हो सकते ना, वे तो चाहते ही है, स्वभाव ही उनका यह है कि स्वच्छ-न्दताकी ओर विषयोकी ओर लगें और किसीका उपदेश स्वच्छन्दताको बताते जायें। चारुवाक् यह ही तो बतलाते हैं खूब खाओ, पियो, मौज उडाओ यह ही धर्म है। अरे मरनेके बाद कौन देख आया कि फिर आगमन होता कि नही। ऐसा उपदेश देते, जिनके गुरुका नाम है वृहस्पति। चारुवाक्के गुरुका नाम है वृहस्पति। वृहस्पतिका यह उपदेश है— खूब खाओ पियो, मौज उडावो, यह ही धर्म है। तो ऐसे आशय वाले दार्शनिक कहते हैं कि प्रमाण तो बस एक है यह इन्द्रिय प्रत्यक्ष (अक्षमति) जो इन इन्द्रियोसे देखा जा रहा, समझा जा रहा वही तो है, बाकी और कुछ नही। तो ऐसे है कुछ दार्शनिक जो केवल एक मतिको ही मानते है। मतिके जो और भेद हैं स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क आदि उनको भी नही माना, फिर श्रुतज्ञान, अवधिज्ञानकी तो बात क्या ? मगर अन्य प्रमाण माने बिना इस इन्द्रियप्रत्यक्षको भी वे क्या सिद्ध कर सकते ? इन्द्रिय प्रत्यक्ष कैसे प्रमाण है ? तो लौकायतिक कहते है कि वाह, इसमे कोई विसम्वाद ही नहीं होता है। यह इन्द्रियप्रत्यक्ष प्रमाण है, क्योकि विसम्वादका अभाव होनेसे याने संवादक होनेसे। जो हम देखते हैं, जानते हैं इसमे तो कही विवाद ही नही आ रहा है इसलिए प्रमाण है। तो भाई यह ही तो अनुमान बन गया। जहाँ यह सिद्ध किया कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण है सवादक होनेसे याने विसम्वाद विवाद न होनेसे, लो ये हेतु आ गया, साध्य आ गया, प्रतिज्ञा बन गई, अनुमान हो गया। हो गया ना अनुमान

प्रमाण तो मतिके अनर्थान्तरमे जो अनुमान है वह प्रसिद्ध हो गया।

स्मृति तर्क आदि प्रमाण माने बिना इन्द्रियप्रत्यक्ष व अनुमानके प्रमाणत्वकी सिद्धिकी अशक्यता—कोई दर्शन कहता है कि चलो ये तो दो तरहके प्रमाण मान लो इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनुमान और कुछ नही है। अच्छा तो वे यह बतलाते है कि अनुमान जो किया है, जैसे किसी पर्वतमे धुवाँ देखा और धुवाँ देखकर ज्ञान होता कि यहाँ अग्नि है धुवाँ होनेसे तो यह अनुमान बना कब ? तब बनता कि जब इसका वह स्मरण भी हो गया कि जहाँ-जहाँ धुवाँ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। हमने यह बात दसो जगह देखी है, उन दसो जगहोका स्मरण होता है तब ही तो यह तर्क बनता है, तो स्मृति भी आयी कि नही ? तर्क भी प्रमाण है, और ये सब बातें तब होती है जब प्रत्यभिज्ञान हो। मैने वहाँ देखा था, मै वहाँ देख रहा हू, तो ये सारे ज्ञान बराबर प्रमाण हैं। इसमे किसीका विरोध करना बनता नही। एकान्तवादी दार्शनिकोका जो मंतव्य है उसका निराकरण हो जाता है इस भेदको बतानेसे। तो मति शब्दसे कितनी बातें लेना ? मति, स्मृति। स्मरण भी ज्ञान होता कि नही ? ख्याल आता, याद आती। प्रत्यभिज्ञान भी होता, तर्क व अनुमान भी है। यह सब उन पर्यायोकी बात कह रहे है जो हमारे ज्ञानसामान्यको उपादान करके परिणमन करते है कर्मविरामके अनुसार। जो विशेषोको परखते है वे विशेषोमे रहने वाले सामान्यको सुगमतया स्पष्ट रखते है। जैसे जो आदमियोको जानता है, कितने आदमी, ऐसे लोग, वह इनमे रहने वाले मनुष्य सामान्यको भी समझ लेता है।

विशेष अथवा व्यक्तियोंको माने बिना सामान्यकी सिद्धिकी असंभवता—व्यक्तिको जाने नही, सामान्य-सामान्यकी बात करे तो उनका सामान्य ऐसा है जैसे कि एक हौवा डराने का। यह ही तो चला नित्यत्व एकातवादमे। केवल सामान्यतत्त्वको रखा—सर्वं वै खल्विद ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन। और कुछ है ही नही। तो जब उस ब्रह्मका, उस तत्त्वका, उस पदार्थ का कुछ परिणमन ही नही माना तो वह क्या है ? कोई सत् है क्या ? सत् नही। पर्यायशून्य कोई सत् नही होता। केवल एक मन बहलानेका ही है वह ब्रह्म। मन बहलानेका ही है वह सामान्य, जहाँ कि विशेषका निर्णय नही है। और विशेषका विरोध करके सामान्यको तका जा रहा है वह केवल हौवा मात्र है, चीज कुछ नही है। मगर आप कहेंगे कि प्रभाव तो पडता है। जिस समय हम अकेले सामान्य सामान्यकी बात करते है तो उसका असर तो होता है। हा हा असर तो यहा बच्चेको भी होता है, जब माता रोते हुए बच्चेको धमकाती है कि तू चुप हो जा, नही तो हौवा आ जायगा, तो वहाँ वह बच्चा चुप हो जायगा। तो क्या किसी किस्मका असर हो जानेसे हौवा सत् हो गया ? क्या पदार्थ हो गया ? एक कल्पना की चीज मात्र है। ऐसे-ऐसे दार्शनिक लोग हैं कि जो अपने ग्रन्थोमे पेजके पेजमे ऐसी शब्द-

छटा दिखा जायेंगे कि जिसका अर्थ लगानेमे बडा दिमाग लगेगा। उनका अर्थ करनेमे बडा जोड, समय व चित्त लगेगा और उसका उसमे चित्त लगा तो बाहरकी बातें कुछ भूल गए तो एक विलक्षण दशा वहाँ भी होगी और वहाँ पदार्थको बताया ही नही गया। तो बात कहनेकी सारभूत यह है कि निर्णय सब सही बनावें और ऐसी ही दृष्टि रखनेमे हमारा आत्म-हित होता है, ऐसी परख बनाकर उसकी मुख्यता ऐसी करें कि अपना कल्याण हो। सत्यका विरोध कर आगे बढना श्रेय नही, किन्तु जो प्रयोजनवान नही है ऐसे असत्यकी अपेक्षा कर प्रयोज्य सत्यकी दृष्टि लगाकर आगे बढनेमे श्रेय होता है।

मतिज्ञानका विस्तार—जिन प्रमाणोसे वस्तुस्वरूपकी जानकारी होती है उन प्रमाणो का विवरण यह चल रहा है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान—इन ५ ज्ञानो द्वारा, प्रमाण द्वारा वस्तुकी जानकारी होती है, जिनमे से मतिज्ञानके विषयमे ही कुछ प्रकरण चल रहा है। जहाँ मति शब्द दिया इसमे केवल इन्द्रिय प्रत्यक्ष ही ग्रहण न करना, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान—इन प्रमाणोका भी ग्रहण करना यह सब मतिज्ञान ही कहलाता है। अब थोडा ऐसा सोचना बन रहा होगा कि अनुमान तो बिना विचारपूर्वक नही चलता है और जब उसमे बडी तर्कणा होती है तब सिद्ध होता है, यह बात मतिज्ञान तो न कहलायगा ? हाँ कहलायगा। अनुमान प्रमाण जब तक स्वार्थ रहता है तब तक कह-लाता है मतिज्ञान और जब परार्थ होता है तब कहलाता है श्रुतज्ञान। जैसे आप कही चले जा रहे हैं और सहज ही आपको कही धूम दिख गया, अग्नि जान गए, ज्ञानमे ऐसी बात आ गई। अब जब हम उसमे व्याप्ति लगाये, दूसरोको बतायें समझायें, साधन साध्यका प्रयोग करें वह सब श्रुतज्ञान है। तो मतिज्ञानका कितना बडा विस्तार है यह आप अदाज कर लो। इसका बहुत विवरण तो तब आयगा जब इसके भेद बताये जायेंगे। और तब ध्यानमे आयगा कि मतिज्ञानका जो इतना बडा विस्तार है, अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभि-ज्ञान, तर्क, अनुमान, इतना बडा जो विस्तार है मतिज्ञानका उसमे से जो असज्ञी जीव हैं एके-न्द्रियसे लेकर असज्ञी जीव तक, उनके अवग्रह नामक मतिज्ञान होता है। ईहा, अवाय, धारणा विशेषतया वहाँसे शुरू हो जाता है जहाँसे मन शुरू होता है। अब आप समझो कि मन वाले पुरुषको कितना परिचय होता है और अवग्रहमे चार सज्ञाओकी मददसे कितना बडा बोध होता है ?

असंज्ञी जीवोके सज्ञाबल विशिष्ट अवग्रह मतिज्ञानकी लीला—चीटी शक्करपर पहुच जाय, चले फिरे, रास्ता बन जाय। जब चीटियोका रास्ता बनता है तो चाहे मिलटरीके जवान लाइन छोड दें, मगर उन चीटियोकी लाइन जरा भी इधर-उधर नही होती। वहासे भी चीटी आ रही, यहाँसे भी जा रही, रास्तेमे मुठभेड हो गई या भेंट हो गई, थोडा रुकना

भी हो गया, फिर वह आगे बढ गई। यो कितने ही बडे-बडे काम हो रहे है। और मन उनके है नही। मनके बिना भी ये सब काम करती है। आखिर है तो ये जीव भी ईश्वर-स्वरूप ही। गये बीते हो तो भी क्या? सद्भावोके बलसे उनके इतने बडे काम हो जाते है, और वे सब इस तरह बन गए जैसे मान लो एक प्राकृतिक काम हुए। वे चीटियाँ क्या कुछ बुद्धि लगाती है कि मेरा घर इतना अच्छा बने? मगर आपने देखा होगा कि नीचेके कण ऊपर ला लाकर एक अपना घरसा बना लेती हैं, और ऐसा घर बना लेती है कि कहो वैसा आप भी न बना पावें। निम्न पर्याय होनेपर कितना विस्तार है इस ज्ञानका? कितना ही कर्मसे आच्छन्न हो गया यह जीव, फिर भी ज्ञानावरणका निमित्त इतना निमित्त नही बन सकता कि इस ज्ञानका सर्वापहार हो जाय। जो निगोद जीव हैं वहाँ भी यह ज्ञान चमक रहा। है वह अक्षरके अनन्तवें भाग, मगर ज्ञान न रहे बिल्कुल, ऐसा कही नही हो सकता। हां तो देखिये—इस मतिज्ञानमे कितने ज्ञान आ गए? इन्द्रियप्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान।

गृहीतग्राही बताकर श्रुतज्ञानको अप्रमाण बतानेकी शंकाका निराकरण—यहा एक शका हो सकती है कि स्मरण जब होता है तो उस ही चीजका स्मरण होता है जिसको हमने पहले देखा हो, सुना हो, परिचय किया हो। अज्ञातका स्मरण तो होता नही। कोई न कोई विधिसे कभी भी किसी भी समय चाहे पूर्वभवमे भी जाना, कल परसो जाना, पर जाना हो तो स्मरण होता है। तो शकाकार यहाँ यह कह रहा कि पहले प्रमाणसे जिसको हमने ग्रहण कर लिया था उसीको ही स्मरणने जाना तो स्मरणने किया क्या? ग्रहण किएको ही जाना। और ग्रहण किए हुएको ग्रहण करे उसे कहते हैं ग्रहीतग्राही, और ग्रहीतग्राही ज्ञान अप्रमाण होता है। कैसे अप्रमाण? ऐसा अदाज कर लो कि जैसे किसीने जाना कि यह घडी, अब १० मिनट तक घडी घडी घडी ऐसा वह करता रहे तो उसे तो लोग पागल कहेगे, क्योकि वह ग्रहीतग्राही ज्ञान चल रहा। ग्रहीतग्राही ज्ञान अप्रमाण होता है। तो स्मृतिने जब पहले ग्रहण किए हुएको ही जाना तो ग्रहीतग्राही होनेसे अप्रमाण क्यो न हो जायगा? क्यो उसको महत्त्व देते? एक यह शकाकारकी शका है। अब समाधानमे सोचें—देखो अगर प्रमाणसे ग्रहण किए हुएको पुनः प्रमाणसे जाना जाय और उसे अप्रमाण कह दे तो सब कुछ अप्रमाण हो जायगा। जो जिसको प्रमाण कहता है वह भी अप्रमाण हो जायगा। कैसे? जो लोग मानते है कि इन्द्रियप्रत्यक्ष ही प्रमाण है और जब उनसे पूछो कि इन्द्रियप्रत्यक्ष ही प्रमाण है यह तुमने कैसे जाना? तो वे कहेगे कि सम्वादक है, विसम्वाद नही होता, सही परिचय कर रहे है इसलिए प्रमाण है। तो देखो अनुमानका रूप बन गया। इन्द्रियप्रत्यक्ष प्रमाण है, क्योकि सम्वादक होनेसे, विसम्वादका अभाव होनेसे। देखो यह जो अनुमान बना रहे हो वह प्रमाण है कि अप्रमाण? अगर कहो कि अप्रमाण है तो अप्रमाणका जो विषय है वह भी

अप्रमाण हो जाता है । इस अनुमानसे इन्द्रियप्रत्यक्षकी प्रमाणता सिद्ध की जा रही है और अनुमान हो गया खोटा तो इन्द्रियप्रत्यक्ष प्रमाण है—यह बात न घटी मानना पडा ना और कहो कि नही, अनुमान प्रमाणरूप है तो हम कहेगे कि गृहीतग्राही हो गया, क्योकि अनुमान तर्क प्रमाणसे गृहीतविषयको ग्रहण करता, प्रमाण कैसे हो गया ? याने जिस इन्द्रियप्रत्यक्षसे सब कुछ समझा उसीके बारेमे अनुमान बोला जा रहा है । जिसको जो कोई कुछ समझे उस शब्द द्वारा समझा गया ग्रहीतग्राही हो गया तो ऐसा गृहीतग्राही होनेसे अप्रमाण नही होता, किन्तु उतना का ही इतना गृहीतका ग्रहण चलता रहे, उस विषयमे कोई रच भी परिवर्तन न हो तो वह न्यायसे गृहीतग्राही होनेसे अप्रमाण माना गया है याने गृहीत और अगृहीत दोनोका जहा ग्रहण हो रहा है वहाँ गृहीतग्राहीका दोष नहीं होता और जहा केवल गृहीत अशका ही ग्रहण किया जा रहा है दूसरे ज्ञानसे न कम, न बढ, न बदलकर, उसे अप्रमाण कहेगे, और लोग पागल भी कहेगे । जो बात कहते उतने को ही बारबार कहा गया । तो अब इस कुञ्जीसे सोचो कि मतिज्ञानने जो ग्रहण किया उसको स्मरणने जाना तो क्या उसी ढगसे जाना जैसे मतिज्ञानने जाना ? नही । जैसे मान लो आपका कोई कानपुरमे रहता है और यहा बैठे हुए ही आपने उसका स्मरण कर लिया । घरका बच्चा है, उसे आपने देखा ना घरमे । तो जो इन्द्रियप्रत्यक्ष हो उससे इसमे विशेषता है ना । आजके विषयमे विषय भी बदला हुआ है, पद्धति भी बदली हुई है, वह एक देश प्रत्यक्ष है । यह स्मरण परोक्ष है । यद्यपि इन्द्रियप्रत्यक्ष भी परोक्ष ज्ञान है, लेकिन इसको एकदेशप्रत्यक्ष कहते हैं और स्मृति है परोक्ष, इतना तो अन्तर है । गृहीतग्राही बताकर इसे अप्रमाण कहे, वह बात ठीक नही । गृहीतको जाना, मगर उसका विषय बदलता है । यह बात सब जगह चलती रहेगी, सिद्ध होता रहेगा ।

गृहीतग्राही बताकर केवलज्ञानको अप्रमाण कहनेकी शंकाका निराकरण—गृहीतग्राहिताका अभाव केवलज्ञानमे घटाना जरा कठिन पड जायगा । कह सकते हैं कि बस केवलज्ञान मे जो तीन लोक, तीन काल सब कुछ जब जान लिया पहले समयमे और दूसरे समयमे वही जाना, न कम न बढ़, क्योकि असत्को जाने तो वह बढ़ जायगा और कोई सत छूट जाय जाननेसे तो वह कम हो जावेगा । सो तो नही है तब केवलज्ञान गृहीतग्राही ही हो जायगा अप्रमाण, ऐसी शङ्काका समाधान यह है कि ज्ञेय पदार्थ क्षेत्र व कालसे परिवर्तित होते हैं, सो ज्ञेयके परिवर्तनसे ज्ञेयाकार परिवर्तित है, किन्तु है ज्ञान उतना है । देखो यद्यपि समस्त त्रिलोक, त्रिकालवर्ती ज्ञानमे आ रहा, यह जो विषय बदलता रहता है । पदार्थ क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर है, कालसे कालान्तर है, अन्तर तो होता है । जो आज भविष्य है वह कल वर्तमान है, तो जब ऐसा कालपरिणमन और क्षेत्रपरिणमन इन वस्तुओमे चल रहे हैं और केवलज्ञानका

विपय है एक तो जैसा काल विच्छिन्नतया पहले जाना वही तो न रहा, एक बात । दूसरी बात केवलज्ञानमे प्रमाण अप्रमाणकी प्रमुखता मत दें । प्रमुखता वहाँ दी जाती है जहा प्रमाण की प्रतिपक्षताकी सभावना साथ लगी रहती है । उससे किया निर्णय । सभी ज्ञान सवादक है, प्रमाण है । उनका काम उनके साथ है, तथापि निर्णायिक श्रुतज्ञान है, निर्णायिक मतिज्ञान है, निर्णायक क्षायोपशमिक ज्ञान है । वह तो एक सहज प्रतिभास मात्र है । है मगर प्रमाण । मगर हम आप सबको प्रमाणता जहा खोजनी है वहा तो गृहीतग्राही नही कहलाता । जहां ग्रहीतके साथ अगृहीत भी जाना जा रहा है वह गृहीतग्राही नही कहलाता ।

अपनी बातकी चर्चा—मतिज्ञानके सम्बन्धमे जरा कुछ वर्णनके बाद अब श्रुतज्ञानके बारेमे कुछ विचार करें । श्रुतज्ञान, 'श्रुत' ऐसा कहनेसे बना क्या, मिला क्या, समझा क्या ? देखो यह चर्चा हम आपकी चल रही है । मतिज्ञान श्रुतज्ञान है ना, वह हम आपके रहता है और उसकी हम बात बोल रहे, वह तो लग रही कठिन और कही परकीय चर्चा करें तो वह लगेगी सरल । यह कैसे भेद पड गया ? अभी कुछ गहनोका जिक्र करें, कुछ बाहरी साज श्रृङ्गारका जिक्र करें तो वह जल्दी समझमे आ जाती है, परकी बात तो झट समझमे आ जाती है और स्वकी बात, मति, श्रुतज्ञानकी बात समझना कठिन लग रहा है । ऐसा न बनाओ चित्त । देखिये ये जो श्रृङ्गार होते है वे क्यो होते हैं ? क्यो करते है श्रृङ्गार ? कानमे ततैया जैसा गहना ? मस्तकमे मकडी जैसी टिकली, नाकमे मक्खी बैठ गई ऐसी पुङ्गइया, कमरमे साँप जैसी करधनी आदि जो अनेक प्रकारके श्रृङ्गारके गहने चले हैं तो उनका प्रयोजन क्या है ? तो श्रृङ्गारका प्रयोजन यह है कि हमारा रूप अच्छा नही है तो जरा अच्छे जचने लगें । हमारी शोभा नही है, गदा शरीर है, अपवित्र है तो जरा सुहावना लगने लगे । मूल प्रयोजन श्रृङ्गारका यह है । इसको खूब खोज करके समझलो । भले ही वह कुछ और प्रक्रियामे आ गया, पर श्रृङ्गारका जो आविष्कार सर्वप्रथम हुआ होगा वह इसी प्रयोजन को लेकर हुआ होगा, ऐसा हमारा कुछ आभास है । तो यह शरीर तो गदा है ही, अगर थोडो यह सोच लें कि इस मुखको देखकर कुछ अच्छा भी लगता तो थोडा इसपर भी विचार कर लो कि इस नाक, मुख, आँख, कान आदिके अन्दर भरा क्या है ? अगर इसपर कुछ ध्यान चला जाय तो शायद इस शरीरके प्रति अभी उपेक्षा हो जाय । कदाचित् नाकसे जरासी नाक खिसक पडे तो सारे सौन्दर्यमे बाधा आ जायगी ।

तो इस श्रृगारको ऐसा समझो कि यह तो एक इस अपवित्रताकी प्रक्रिया है । यह शरीर गदा है, अपवित्र है, विनाशीक है । तो उसकी यह प्रतिक्रिया कि चमकते हुए मोतीके दाने अगर नाकपर धर लें तो इसकी पोल ढक जायगी । यह जो शरीरमे अपवित्रता की पोल भरी है, इसके ढकनेके लिए ही मानो ये साज-श्रृगारके साधन बने हैं । देखो हम

यहाँ यह नही कह रहे कि सब लोग गहने उतारकर फेंक दें, वह जब एक रूढि बन गई, वैसी बात चल रही तो वैसा थोडा तो करना ही पडता है, मगर भीतरमे यह विश्वास बनायें कि इसमे मेरा श्रृङ्गार नही है, मेरा श्रृङ्गार है ज्ञान, ध्यान, सयम, तपश्चरण आदिकसे। अब बतलाओ, जो लोग शरीरको बडा सुकुमाल प्रकृतिका बना लेते है—हमसे रातको भोजन न छूटेगा, पानी न छूटेगा, एकाशन न बनेगा , अरे वे इस शरीरको कितना ही लाड-प्यार करके रखे, मगर मरण होगा तो वह बच जायगा क्या ? और शरीरको बडे तपश्चरणमे लगावें अपनी शक्तिअनुसार, तो उससे कुछ भाव विशुद्ध है, उससे कुछ लाभ भी मिलेगा। तो भाई इस शरीरको सुकुमाल प्रकृतिका न बनावें, कष्टसहिष्णु बनावे और आत्माका श्रृंगार श्रद्धान, ज्ञान, आचरणसे है। हो सके तो बतावो जिससे कि भव-भवके सकट दूर हो। तो हम यह चर्चा कर रहे हैं इस जीवकी, आत्माकी, खुदकी। वहाँ भीतरमे क्या गुजर रही है ? बतलाओ इस समय सुन रहे न, कुछ जान भी रहे, तो जो तुम भीतर कर रहे उसीकी बात कह रहे यह है मतिज्ञान और श्रुतज्ञान।

श्रुतज्ञानकी अनिवारित प्रमाणता—श्रुतज्ञान ज्ञान ही है। पहले कहा था ना कि अवधारण दोनो तरफ लगता है, श्रुतज्ञान ज्ञान ही है, अज्ञान नही है, क्योकि मिथ्यात्वका ससर्ग नही है। यह सम्यग्ज्ञानकी बात चल रही है, उसे श्रुतज्ञान बोलते हैं। जब-जब श्रुतज्ञान बोला तो सम्यक्श्रुतज्ञान यह समझ लो। तो जो लोग श्रुतको अज्ञान मानते है, अप्रमाण मानते हैं, ऐसे दार्शनिकोके मतव्यका श्रुत शब्द देनेसे निराकरण होता है इस सूत्र द्वारा। श्रुतज्ञान प्रमाण है, क्योकि वह अपने विषयमे सम्वादक है, सच्ची जानकारी देता है। श्रुतज्ञान वास्तवमे तो कुछ है ही, क्योकि उस प्रकार ज्ञान किया जा रहा है। मतिज्ञानसे ज्ञान विषयमे ज्ञानका वैसा विशेष परिणमन है और फिर जो लोग कुछ शब्द बोलते हैं उसका नाम भी श्रुत है, शब्द श्रुत है और जो शास्त्रमे लिखा है उसका भी नाम श्रुत। कोई पूछे कि अच्छा हम लेखा-जोखा रखते हैं, बहीखाता रखते है यह भी श्रुत है कि नही ? तो है तो यह भी श्रुत, मगर इस श्रुतकी बात नही कह रहे, यहाँ सम्यक्श्रुतकी बात कह रहे। यह न सोचना कि हमारी बहीको भी श्रुत बता दिया तो ठीक है, हम तो उसकी रात-दिन खूब उपासना कर ही रहे है (हसी), किन्तु श्रुतज्ञान ही अपने विषयमे सम्वादक है, इस कारणसे वह प्रमाण है। श्रुतको कौन प्रमाण नही मानता ? जो नही मानता उसे भी आखिर अपने शास्त्रको प्रमाण मानना पडेगा तब इष्ट सिद्ध होगा। बहुतसे दार्शनिक है ? चारुवाक् जिन्होने केवल एक इन्द्रियप्रत्यक्षको ही प्रमाण माना उन्होंने भी श्रुतज्ञान तो किया, उसके लिए स्मृति आदिक भी चाहिये। सो सब कर तो रहे, अपने शास्त्र भी बताते, पर उनको प्रमाण कहनेमे शर्म आती है। बौद्ध लोगोंने प्रत्यक्ष व अनुमान दो प्रमाण माने हैं, वे भी आगमको प्रमाण नही

मानते । अब विडम्बनाकी बात देखिये—जोशमे आकर शास्त्र सामने धर देगे कि देखो यह लिखा है । जब चर्चा चलती होगी, कोई बात कहनी होगी तो अपना शास्त्र जो कुछ होगा उसको दिखाकर कहेगे कि देखो यह लिखा है । देखो व्यवहारमे तो आगम प्रमाणका व्यवहार बना रहे, और कहते कि प्रत्यक्ष व अनुमान यह ही प्रमाण है । आगम प्रमाण नही । तो ऐसे जो-जो भी दार्शनिक आगमको प्रमाण नही मानते वे अपने इष्ट प्रमाणको भी सिद्ध नही कर सकते । श्रुतज्ञान प्रमाण है ।

श्रुतज्ञानकी प्रमाणताके विषयमे शंका व समाधान—शकाकार कहता है कि हम तो यह देखते है कि कोई कोई बात अप्रमाण भी नजर आती है शास्त्रमे आगममे । अब जो यो समझ लो चाहे वह परम्परासे चला आया हुआ न हो, किसी ने कुछ ऊपरी बात मिला दी हो, कैसे ही समझ लो, शका तो हो सकती, विसम्वाद तो होता है । हम तो देखते है पुराणो मे, शास्त्रोमे कि कोई बात विवादकी भी रखी रहती है । प्रमाण कैसे मानें ? अच्छा, तुम इस सारे श्रुतज्ञानको प्रमाण कहते हो तो देखो इन्द्रियप्रत्यक्षसे भी हम जिस चीजको जानते है उसमे भी हम धोखा खाते कि नही ! कई जगह धोखा खाते यहाँ भी देखो–थी तो रस्सी और समझ गए सांप तो यहाँ भी यह कह दो फिर कि इन्द्रियप्रत्यक्ष अप्रमाण हो गया । यदि कहो कि कही विसवाद है तो इससे कही यह बात तो न हो जायगी कि सारे इन्द्रियप्रत्यक्ष अप्रमाण हो जायें । तब ऐसा यहाँ भी समझ लो कि यदि कोई स्थल विसवादापन्न है, कोई बात अगर अप्रमाण है तो उससे कही सब बाते तो अप्रमाण न हो जायेंगी । यहा एक निर्णय बनाना चाहिए । जो आप्त है, सर्वज्ञ है उसकी मूल धारासे चला आया हुआ जो वचन है वह कभी भी अप्रमाण हो ही नही सकता । निर्णय करो कि यह तो अमुक अल्पज्ञ था, असयमी था उसने बनाया है । इससे फर्क पडा है । अभी आप देखो सयमी पुरुषोके द्वारा जो रचना होगी वह दूसरे ढंगकी होगी और जब असयमीके द्वारा रचना होगी तो थोडा भीतरके उपादानकी योग्यताके सस्कारके कारण वचनोकी टोनमे, अर्थमे भेद आ जायगा । आप ध्यान दो, अच्छा और भी आप देखो । जैसे जो गुड खाता है उसके लिए कहा जाय कि महाराज हमारे बच्चेको गुडका त्याग करा दो, तो उसका त्याग कराना बडा कठिन हो जाता है । एक कथानक है ऐसा कि जब किसीने कहा कि महाराज आप हमारे बच्चेको गुडके त्यागका नियम दिला दें, तो उसने कुछ सोच विचारकर कहा—अच्छा १५ दिन बाद दिलायेंगे । अब उसने खुद १५ दिन तक साधना करके गुडका त्याग कर दिया । उसके बाद उस बच्चेको गुडके त्यागका नियम दिया । किसी ने कहा महाराज आपने १५ दिन पहले नियम क्यो न दिया था ? तो बताया कि हम खुद गुड खाते थे इसलिए नियम न दिया था । तो यह प्राकृतिक बात है कि आप जिस किस्मकी बात करेंगे, आपका जैसा उपादान होगा । अनेक नियन्त्रण होने

पर भी वैसा व्यवहार बन पडेगा। किसीकी समझी हुई बातको आप बहुत बतायेगे। देखो आप ऐसा कहना, कितना ही समझाये जानेपर भी, आप जब दूसरेको वह बात कहने जायेंगे तो आप अपने उपादानके अनुकूल कोई एक छटा जरूर लगा देंगे। होता ही है ऐसा। आपने किसी नौकरको भेजा कि जावो उससे अमुक बात कह आओ, उसे खूब समझा दिया। खूब समझनेके बाद भी क्या वह आप जैसा समझा सकेगा? नही समझा सकता, क्योकि उसका उपादान ही और ढगका है। बातमे शब्दोका हेरफेर करेगा, हेरफेर न भी करें तो टोन तो बदल ही जायगा, तो प्रयोजन यह है कि हमको अगर कही विसम्वाद हो गया तो हमे मेल मिलाना चाहिए कि मूल आप्त सर्वज्ञदेवकी जो धारा चल रही है उससे मिलती हुई बात है या नही? मिलती हुई बात नही है तो आप यह समझ लो कि ये हमारे ऋषि सतोके वचन नही है, ये तो कोई ऊपरसे लगा दिए गए है। कही आगममे कोई बात अप्रमाणकी मिल जाय, कही एक जगह विसम्वाद हो तो उससे कही सारी जगह विसम्वाद नही करार किया जा सकता। अगर ऐसा करार कर दिया जाय तो समस्त इन्द्रियप्रत्यक्ष भी अप्रमाण हो जायगा, क्योकि इन्द्रियसे हमने मानो १०० बाते देखी और उनमेसे कोई एक दो बातें गलत निकल गईं तो उसमे कही यह नही करार किया जा सकता कि इन्द्रियप्रत्यक्ष अप्रमाण है।

क्वचित् विसवाद होनेसे सर्वत्र अप्रमाणताका अनियम—शकाकारने कहा था कि श्रुतज्ञान अप्रमाण है, क्योकि किसी जगह उसमे विसम्वाद भी देखा जा सकता है, तो ऐसा कहने वाला शकाकार अभिज्ञ नही है। हो सकता है कही विसम्वाद, मगर कही एक जगह विसम्वाद हो जानेसे कही वह श्रुत अप्रमाण नही हो गया। देखो जैसे मतिज्ञानके द्वारा हम जान लेते कि यह तालाब है और हमे पानी पीना है तो झट पहुच जाते है और पुस्तकके द्वारा आप जान जायें कि इस जगह नदी है तो आप नदीपर भी पहुच जाते हैं। तो जैसे मतिज्ञानसे जान करके उसके अर्थक्रिया होती है उसी प्रकार श्रुतज्ञानसे जानकर भी अर्थक्रिया होती है। इसलिए यह श्रुतप्रमाण है, क्वचित् विसवादक होनेसे अप्रमाण नही है, क्योकि उसमे मिलान करेंगे तो निर्णय हो जायगा—वीतराग ऋषिजनो द्वारा प्रणीत है आगम तो उसमे अप्रमाणताका अवकाश नही, मगर पडित लोग भी तो ग्रन्थ रचते ही हैं और विद्वान भी रचते ही है, उनमे अगर कही विसम्वाद हो गया तो कही उसके मायने यह नही है कि वह भी सब अप्रमाण है। जहाँ विवाद हो वहाँ मिला लो। आर्षमे तो विवाद नही, किन्तु जो अनार्ष है उसमे विसम्वाद हो सकता है। सो जहा सर्वज्ञताकी धारासे मिलान करता हो वह प्रमाण है और जहाँ मिलान न खाये वह प्रमाण नही है। तो वही कुछ अश मिलान न खाने से, उसका कुछ अश प्रमाण न होनेसे यह नही करार किया जा सकता कि समस्त श्रुतज्ञान अप्रमाण है। मतिज्ञानकी भाँति श्रुतज्ञान भी सवादक है, इस कारण यह श्रुतज्ञान इन

५ सम्यक्ज्ञानके विशेषोमे सम्मिलित किया है । जैसे मतिज्ञान प्रमाण है वैसे ही श्रुतज्ञान भी प्रमाण हैं । कही विसम्वाद आनेसे समस्त श्रुतज्ञान अप्रमाण नही हो गया । तो देखो श्रद्धा की बात बतलाते है कि जिनवाणीके वचनोमे जो शका करे सो जैन नही है । जिन कौन ? जिसने रागद्वेपको जीता वह जिन, अरहतदेव, जिसने रागद्वेषपर विजय किया वे आचार्य उपाध्याय और साधु । इनकी परम्परासे चला आया हुआ जो आगम है उसमे कभी भी शका न करनी चाहिए । कदाचित् अतिरिक्त शास्त्रोमे कही विसम्वाद हो तो उतनेके कारण सबको अप्रमाण करार न करना । जैसे इन्द्रियप्रत्यक्षसे हमे कई चीज अप्रमाण जची तो सारे इन्द्रियप्रमाण अप्रमाण नही होते । तो जो श्रुतज्ञानकी प्रमाणता नही मानते है उनका निराकरण इस श्रुतज्ञानके कथनसे हो जाता है ।

मति, श्रुतज्ञानके स्वामियोका कुछ दिग्दर्शन—बतलाओ कितने ज्ञानोकी बात चली अब तक ? दो ज्ञानोकी—(१) मतिज्ञानकी और (२) श्रुतज्ञानकी । ये सब ससारी जीवोमे पाये जाते है, अरहतके केवलज्ञान है । एक जो मुनि महाराज हो और मन.पर्ययज्ञानके धारी हो । आजकल तो मनःपर्ययज्ञानके धारी मुनि न हो सकेंगे, परमावधि व सर्वावधि ज्ञानके धारी नही हो सकते, हाँ देशावधि सम्यग्ज्ञानके धारी अब भी हो सकते है । पर प्रायः सबमे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान पाया जा रहा है । जो मनःपर्ययज्ञानके धारी है उनके भी मतिज्ञान व श्रुतज्ञान जो अवधिज्ञानके धारी है उनके भी मतिज्ञान व श्रुतज्ञान, जिनके ये नही हैं उनके भी मतिज्ञान व श्रुतज्ञान, और जिनके मन नही है उनके भी मति, श्रुत, है वह अज्ञान, वह इस प्रकारका श्रुतज्ञान कि जहाँ विवेकरहित है, हिताहितका ज्ञान नही, ऐसे ही उस मतिसे सम्बधित कुछ विशेष ज्ञान हैं उस ज्ञानमे, और इसी तरह उन असज्ञी जीवोके सम्भव है । जब श्रुतज्ञान है तो कोई न कोई उनमे ईहा अवाय होगा, मगर उनका ईहा अवाय जैसे श्रुतज्ञान स्पष्ट नही, ऐसे ही ईहा अवाय भी स्पष्ट नही । सज्ञाओके बलपर जितना ज्ञानविकास होता है उतना वहाँ ज्ञानविकास होता है । यो इस प्रकरणमे मतिज्ञान, श्रुतज्ञानका वर्णन किया ।

अवधि, मनःपर्यय व केवलज्ञानमें ज्ञानत्वकी सिद्धि—मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानिज्ञानम्, इस सूत्रमे मति और श्रुतज्ञानके बारेमे कुछ वर्णन हुआ था । अब यह जिज्ञासा हो रही है कि अवधि, मन·पर्यय और केवलज्ञान इनके वचनसे क्या बताया गया, क्या किया गया है, इसका क्या तात्पर्य है ? तो इन तीन बातोके बारेमे अब कुछ वर्णन किया जा रहा है, ये तीन ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान हैं । प्रत्यक्ष क्या ? आत्माका ही सहारा लेकर जो उत्पन्न हो उसे प्रत्यक्ष कहते हैं । अक्षके मायने इन्द्रिय भी है और अक्षके मायने आत्मा भी है । जो व्याप जाय उसे अक्ष कहते है । जो व्याप जाय, ऐसा जगतमे कौनसा तत्त्व है ? देखो विलक्षणता आत्मामे है कि यह ज्ञान निश्चयतः तो आत्माके प्रदेशोमे ही रहता है, मगर इसकी लीलाकी, इसकी वृत्ति

पर भी वैसा व्यवहार बन पडेगा। किसीकी समझी हुई बातको आप बहुत बतायेंगे। देखो आप ऐसा कहना, कितना ही समझाये जानेपर भी, आप जब दूसरेको वह बात कहने जायेंगे तो आप अपने उपादानके अनुकूल कोई एक छटा जरूर लगा देंगे। होता ही है ऐसा। आपने किसी नौकरको भेजा कि जावो उससे अमुक बात कह आओ, उसे खूब समझा दिया। खूब समझनेके बाद भी क्या वह आप जैसा समझा सकेगा ? नही समझा सकता, क्योकि उसका उपादान हो और ढगका है। बातमे शब्दोका हेरफेर करेगा, हेरफेर न भी करें तो टोन तो बदल ही जायगा, तो प्रयोजन यह है कि हमको अगर कही विसम्वाद हो गया तो हमे मेल मिलाना चाहिए कि मूल आप्त सर्वज्ञदेवकी जो धारा चल रही है उससे मिलती हुई बात है या नही ? मिलती हुई बात नही है तो आप यह समझ लो कि ये हमारे ऋषि सतोके वचन नही है, ये तो कोई ऊपरसे लगा दिए गए हैं। कही आगममे कोई बात अप्रमाणकी मिल जाय, कही एक जगह विसम्वाद हो तो उससे कही सारी जगह विसम्वाद नही करार किया जा सकता। अगर ऐसा करार कर दिया जाय तो समस्त इन्द्रियप्रत्यक्ष भी अप्रमाण हो जायगा, क्योकि इन्द्रियसे हमने मानो १०० बाते देखी और उनमेंसे कोई एक दो बातें गलत निकल गईं तो उसमे कही यह नही करार किया जा सकता कि इन्द्रियप्रत्यक्ष अप्रमाण है।

क्वचित् विसवाद होनेसे सर्वत्र अप्रमाणताका अनियम—शकाकारने कहा था कि श्रुतज्ञान अप्रमाण है, क्योकि किसी जगह उसमे विसम्वाद भी देखा जा सकता है, तो ऐसा कहने वाला शकाकार अभिज्ञ नही है। हो सकता है कही विसम्वाद, मगर कही एक जगह विसम्वाद हो जानेसे कही वह श्रुत अप्रमाण नही हो गया। देखो जैसे मतिज्ञानके द्वारा हम जान लेते कि यह तालाब है और हमे पानी पीना है तो झट पहुच जाते हैं और पुस्तकके द्वारा आप जान जायें कि इस जगह नदी है तो आप नदीपर भी पहुच जाते हैं। तो जैसे मतिज्ञानसे जान करके उसके अर्थक्रिया होती है उसी प्रकार श्रुतज्ञानसे जानकर भी अर्थक्रिया होती है। इसलिए यह श्रुतप्रमाण है, क्वचित् विसवादक होनेसे अप्रमाण नही है, क्योकि उसमे मिलान करेंगे तो निर्णय हो जायगा—वीतराग ऋषिजनो द्वारा प्रणीत है आगम तो उसमे अप्रमाणताका अवकाश नही, मगर पडित लोग भी तो ग्रन्थ रचते ही हैं और विद्वान भी रचते ही है, उनमे अगर कही विसम्वाद हो गया तो कही उसके मायने यह नही हैं कि वह भी सब अप्रमाण है। जहाँ विवाद हो वहाँ मिला लो। आर्षमे तो विवाद नही, किन्तु जो अनार्ष है उसमे विसम्वाद हो सकता है। सो जहा सर्वज्ञताकी धारासे मिलान करता हो वह प्रमाण है और जहां मिलान न खाये वह प्रमाण नही है। तो कही कुछ अश मिलान न खाने से, उसका कुछ अश प्रमाण न होनेसे यह नही करार किया जा सकता कि समस्त श्रुतज्ञान अप्रमाण है। मतिज्ञानकी भाँति श्रुतज्ञान भी सवादक है, इस कारण यह श्रुतज्ञान इन

५ सम्यक्ज्ञानके विशेषोमें सम्मिलित किया है। जैसे मतिज्ञान प्रमाण है वैसे ही श्रुतज्ञान भी प्रमाण है। कही विसम्वाद आनेसे समस्त श्रुतज्ञान अप्रमाण नही हो गया। तो देखो श्रद्धा की बात बतलाते है कि जिनवाणीके वचनोमे जो शका करे सो जैन नही है। जिन कौन ? जिसने रागद्वेषको जीता वह जिन, अरहतदेव, जिसने रागद्वेषपर विजय किया वे आचार्य उपाध्याय और साधु। इनकी परम्परासे चला आया हुआ जो आगम है उसमे कभी भी शका न करनी चाहिए। कदाचित् अतिरिक्त शास्त्रोमे कही विसम्वाद हो तो उतनेके कारण सबको अप्रमाण करार न करना। जैसे इन्द्रियप्रत्यक्षसे हमे कई चीज अप्रमाण जची तो सारे इन्द्रियप्रमाण अप्रमाण नही होते। तो जो श्रुतज्ञानकी प्रमाणता नही मानते है उनका निराकरण इस श्रुतज्ञानके कथनसे हो जाता है।

मति, श्रुतज्ञानके स्वामियोका कुछ दिग्दर्शन—बतलाओ कितने ज्ञानोकी बात चली अब तक ? दो ज्ञानोकी–(१) मतिज्ञानकी और (२) श्रुतज्ञानकी। ये सब ससारी जीवोमे पाये जाते है, अरहतके केवलज्ञान है। एक जो मुनि महाराज हो और मन पर्ययज्ञानके धारी हो। आजकल तो मनःपर्ययज्ञानके धारी मुनि न हो सकेंगे, परमावधि व सर्वावधि ज्ञानके धारी नही हो सकते, हाँ देशावधि सम्यग्ज्ञानके धारी अब भी हो सकते है। पर प्राय· सबमे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान पाया जा रहा है। जो मनःपर्ययज्ञानके धारी है उनके भी मतिज्ञान व श्रुतज्ञान जो अवधिज्ञानके धारी है उनके भी मतिज्ञान व श्रुतज्ञान, जिनके ये नही हैं उनके भी मतिज्ञान व श्रुतज्ञान, और जिनके मन नही है उनके भी मति, श्रुत, है वह अज्ञान, वह इस प्रकारका श्रुतज्ञान कि जहाँ विवेकरहित है, हिताहितका ज्ञान नही, ऐसे ही उस मतिसे सम्बधित कुछ विशेष ज्ञान हैं उस ज्ञानमे, और इसी तरह उन असज्ञी जीवोके सम्भव है। जब श्रुतज्ञान है तो कोई न कोई उनमे ईहा अवाय होगा, मगर उनका ईहा अवाय जैसे श्रुतज्ञान स्पष्ट नहीं, ऐसे ही ईहा अवाय भी स्पष्ट नही। सज्ञाओके बलपर जितना ज्ञानविकास होता है उतना वहाँ ज्ञानविकास होता है। यो इस प्रकरणमे मतिज्ञान, श्रुतज्ञानका वर्णन किया।

अवधि, मनःपर्यय व केवलज्ञानमे ज्ञानत्वकी सिद्धि—मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि-ज्ञानम्, इस सूत्रमे मति और श्रुतज्ञानके बारेमे कुछ वर्णन हुआ था। अब यह जिज्ञासा हो रही है कि अवधि, मन पर्यय और केवलज्ञान इनके वचनसे क्या बताया गया, क्या किया गया है, इसका क्या तात्पर्य है ? तो इन तीन बातोके बारेमे अब कुछ वर्णन किया जा रहा है, ये तीन ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान है। प्रत्यक्ष क्या ? आत्माका ही सहारा लेकर जो उत्पन्न हो उसे प्रत्यक्ष कहते है। अक्षके मायने इन्द्रिय भी है और अक्षके मायने आत्मा भी है। जो व्याप जाय उसे अक्ष कहते हैं। जो व्याप जाय, ऐसा जगतमे कौनसा तत्त्व है ? देखो विलक्षणता आत्मामे है कि यह ज्ञान निश्चयतः तो आत्माके प्रदेशोमे ही रहता है, मगर इसकी लीलाकी, इसकी वृत्ति

की जब प्रशसा करते तो ऐसा ही कहनेसे समझमे आता कि यह ज्ञान तीनो लोकोमे व अलोक मे फैल गया। व्याकरणशास्त्रसे एक मर्म आप और जान लेंगे कि प्रायः करके जितनी धातु गमन होनेके अर्थमे हैं उन्ही धातुवोका अर्थ प्रायः जानना भी है। जाना और जानना दोनोकी वाचक प्राय. एक धातु होती है। इससे व्यावहारिक रूप विदित होता है कि यह ज्ञान ऐसा जाता है कि जिसकी तरह और कोई चीज जा ही नही सकती। ऐसा लोकालोकमे व्यापक होता है। बस ज्ञानमय आत्मा है, अपना आत्मा भी ऐसा जाता है कि लोकालोकको व्याप जाता है, इसी कारण इसे अक्ष बोलते है अर्थात् आत्माका सहारा लेकर जो ज्ञान उत्पन्न हो उसे कहते हैं प्रत्यक्ष ज्ञान। सूत्रकार उतने ही शब्दोको सूत्रमे लगाते है कि जिसके बिना प्रतिपाद्यका प्रतिपादन नही हो सकता। तो उनके सूत्रमे जो कुछ भी शब्द हो वे निरर्थक नही होते, उनका वाच्य अर्थ है। तो सूत्रमे ही अवधि, मन पर्यय, केवल शब्द दिया है, उससे सिद्ध होता है कि वे ज्ञान ही है और अनुमानसे यो है कि इसके विरुद्ध कोई प्रमाण नही आ सकता जो इन ज्ञानोका अभाव सिद्ध कर दे।

अवधिज्ञान व मनःपर्ययज्ञानके अस्तित्वकी सुगम सिद्धि—भला जब ज्ञानमे इतनी सामर्थ्य है कि यह स्वतत्र हो जाय, पर ससर्गरहित हो जाय, केवल रह जाय, तो तीन लोक तीन कालके समस्त सत् इसके ज्ञेय हो जाते है, ऐसा जब केवलज्ञान सिद्ध है तो केवलज्ञानसे थोडा ज्ञान हो तो उसमे क्या आपत्ति? वे ही हो गए मन पर्यय और अवधिज्ञान। आखिर प्रत्यक्षकी पद्धति ही तो है—केवलज्ञान बडा है, जहाँ इतना बडा ज्ञान सम्भव है वहाँ अवधि-ज्ञान और मन·पर्ययज्ञानकी सम्भवतामे क्या सशय? वास्तवमे यह अपना प्रभु, परमात्मा मानो प्रति समय तैयार बना रहता है प्रकट होने के लिए और इसको शान्त निराकुल बनाने के लिए। किन्तु कोई इसका आदर ही न करे तो वहाँ इसका वश नही चलता। जब वह सहज परमात्मतत्त्व स्वरूपत ऐसा परविविक्त है और अपनी सारी शक्तियो मे तन्मय है कि यह तो सदा ही उद्यत है कि ऐसा ही पूर्ण प्रकट हो जाय, पर उपादान दृष्टिसे तो इस उपयोगमे अपनी अशक्तिसे इसको दबा रखा है और उपयोग ऐसा बन क्यो गया? देखो जो भी चीज विषम हो, अपने स्वभावसे विपरीत चले तो वहाँ परनिमित्त अवश्य है। परससर्ग हुए बिना कोई वस्तु विकृत नही हो सकती। तो क्या निमित्त है? कर्मविपाक। कर्मोदय, कर्मविपाक और ये उपयोगके विकार। इनकी होड अनादि कालसे लग रही है। अनादि परम्परासे यह परस्पर निमित्तनैमित्तिक भावकी रीतिमे बढ़ते हुए अब तक चले आ रहे है, और जब तक किसी विधिसे सम्यग्ज्ञान उत्पन्न नही होता तब तक इसकी धारामे कोई बाधा नही डाल पाता, फिर भी प्रकृत्या क्षयोपशम-लब्धि होती और बढ बढकर जब सम्यक्त्व हो, अपने ज्ञानकी सुध हो, स्वभावमे आश्रय हो

तो यह कर्म-मेघपटल दूर होता है। तो जैसे-जैसे अवध्यावरण कर्मका विगम विशेष हो, अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम हो वैसे ही वैसे यह अवधिज्ञान प्रत्यक्षज्ञान प्रकट होता जाता है। अवधिज्ञान देशावधि व थोडा अवधिज्ञान हो तो उसका क्षेत्र और काल बहुत थोडा होता है। कितना होता है कि आत्माके निकट ही रहने वाली किसी चीजको जान पाये और दूर का न जान सके। जो जघन्य अवधिज्ञान है और कालसे बहुत निकट अन्तर्मुहूर्तकी बातको जान पाये ऐसा जघन्य अवधिज्ञान और जब यह बढता है तो क्षेत्र भी बढता है, कालअवधि भी बढती है। यह नियम नही कि जघन्य अवधिज्ञान होकर ही आगेका अवधिज्ञान हो। परमावधि सर्वावधि ज्ञान होता है तो सारे लोकके रूपी पदार्थ जो असख्याते वर्षके अवधिके भूत भविष्यके पदार्थ ज्ञानमे आ जाते है। अवधिज्ञानका उत्कृष्ट विषय भी बहुत है। हाँ जो अवधिज्ञानके विषयमे न आ सके ऐसा अनन्त तो अनन्त है। अनन्त कई प्रकारके होते। कुछ ऐसे होते कि जिनका अन्त तो आयगा और नाम है अनन्त और ऐसा भी अनन्त है कि जिसमेसे अनन्त भी निकल जायें तो भी अक्षय अनन्त रहेगे। तो जो अवधिज्ञानके विषयसे दूर है उसे भी अनन्त कहते हैं और जो अक्षय है उसे भी अनन्त कहते है। तो उस अनन्त से एक भी कम हो वह असख्यात माना जाता है, ऐसी असख्यात पर्याय और लोकका सारा क्षेत्र अवधिज्ञानका विषय बन जाता है। ऐसा विषय होता है परमावधि सर्वावधिका और ऐसा ज्ञान जिसके प्रकट है वह चरम शरीर होता है। उसके बाद केवलज्ञान होता और मुक्त होते। एक देशावधि ही ऐसी है कि जिसके बाद कुछ नियम नही। चारो गतियोमे यह देशावधिज्ञान होता है। तिर्यञ्च भी अवधिज्ञानी होते है, ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है, ऐसे पशु-पक्षियोके भी अवधिज्ञान हो सकता है। मनुष्योके भी हो सकता है। जो श्रावक है, घरमे रहते है उनके भी हो सकता है। नारकियोमे भी हो सकता और देवोमे भी। तो अवधिकी कक्षायें बहुत है। वे सभी अवधिज्ञान इन्द्रिय और मनकी सहायताके बिना एक आत्मशक्तिसे प्रकट होते है।

आत्माश्रयसे ज्ञानबलका विकास—देखो एक थोडासा उदाहरण जब किसी बालक को या बडेको कोई भजन बोलते-बोलते या कोई बात करते करते भूल हो जाय, याद न आये तो वह दृष्टि कहा गडाता है? भीतरकी ओर याद करनेके लिए, न कि बाहर पुस्तक की ओर। याद पानेकी, स्मृति पानेकी क्या रीति है? तो यह उपयोग जब एक अपने आत्माकी ओर आता है तो इसमे महान बल प्रकट होता है। बाह्यपदार्थोंमे उपयोग लगा लगाकर अपनेको बलशाली बुद्धिमान समझना यह तो एक झूठी लडाईसी लडी जा रही है और बाह्यपदार्थोंका विकल्प त्यागकर एक अपने सहज आनन्दमय ज्ञानघन आत्मस्वभावपर उपयोग लगाना एक यह ऐसा सीधा काम है कि जिसके प्रभावसे अतुल्य बल प्रकट हो सकता है। आत्मबल ही वास्तविक बल है। शारीरिक बलको अगर वास्तविक बल माना जाय तब

तो एक बडी अलौकिक बात देखनेमे आ रही । उसका अर्थ लगाओ । एक ८ वर्ष
१०–१२ बडे पुष्ट पडोको (भैंसोको) हाँकता चला जाता है एक छोटामा डडा लिए
वे सब १०—१२ पडे (भैंसे) उस बालकके वशमे है । अब देखो एक पडेमे (भैं
कितना है ? कई घोडोकी ताकत मिलाकर एक भैंसेके बराबर ताकत होती है ।
बलशाली वे भैंसे एक बालकके वशमे हो गए तो इसमे अन्तर किस बातका है ? :
बुद्धिबलका, हृदय बलका । तो यह आत्मबल ही एक अमीरी है । बाहरमे अमीरी
मे क्या फर्क पडता है ? कोई बाहरमे बहुत अमीर (धनिक) हो और परमे ममता
तो उसे चैन कहा ? एक अमेरिकन, जिसका नाम "फोर्ड" जिसने "फोर्ड मोटर'
बडा आविष्कार किया उसे अरबपति कह लीजिए, खरबपति कह लीजिए, वह भी
छोटे नौकरोको देखकर उनसे बहुत ईर्ष्या करता था । उनको हसते गाते, काम कर
वह अपनेको बडा दुःखी और उनको बडा सुखी अनुभव करता था । अब बतलाओ
है एक अकेला यह चिन्मात्र और कुछ तो रहता नही । जो चिन्मात्र तत्त्व है वही
मगर यहा कहा कहा उपयोग देकर और क्या-क्या अपना बिगाड किया जा रहा
शासन पाया, अमूल्य समागम पाया तो उसका सदुपयोग कर लें, नही तो यह दु
पुनः मिलना कठिन है । दिन तो कटते ही हैं । सबके कटते हैं, विषयोमे काट लि
उसमे सार कुछ न मिलेगा और एक ज्ञान ध्यान सयम वैराग्यमे दिन काट लेंगे त
जब तक ससार है तब तक अतुल वैभव मिलेगा और अन्तमे मुक्ति प्राप्त हो जाए
के सारे सकट मिटेंगे । बोलो यहाँ दिल फसानेमे लाभ है या अपने आपमे दिल ल
है ? और बडे बडे ज्ञानविकास होते हैं, उनका साधन है आत्माश्रय । इसी पौरुषमे
ज्ञान उत्पन्न हुआ । यहा सम्यक् अवधिज्ञानकी बात चल रही है । सम्यग्दृष्टिके होत
के होता और यह अवधि कोई बडी चीज नही है । इच्छाओका अभाव हो, ए
लगन हो, ये सारे विलास ज्ञानविकास ये सब स्वय अभ्युदित हो जाते हैं । तो जब
होकर यह ज्ञान सारे लोकालोकको जान सकता है, ऐसा यह केवलज्ञानसे ही है
यथायोग्य किन्ही ससारी जीवोके ऊपरी रूपी पदार्थ उस भूत भविष्यका बाहरी
प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाय तो यह कोई बडी बात नही है । नियमतः अवधिज्ञान ज्ञान

मनःपर्ययज्ञानकी ज्ञानविशेषता—अब मन पर्ययज्ञानके विषयमे चिंतन क
चित्तमे आये हुए पदार्थका ज्ञान कर लेना मन पर्ययज्ञान है । जहाँ केवलज्ञान हो
वहा मन.पर्ययज्ञान बने तो इसमे क्या आश्चर्य ? यह भी इन्द्रिय मनकी सहा
आत्मीय शक्तिसे प्रकट होता है । प्रत्यक्ष ज्ञान भविष्यकी बात भी जानता और
पुराणोंमे कि अमुक दिन यह होगा, अमुक भवमे यह होगा । तो जहाँ एक भवकी

दी, एक दिनकी बात बता दी उसका अर्थ यह है कि सभी समयोमे जो कुछ है वह सब जानते है। मगर पदार्थमें जो विषम परिणमन होता है उसका जो विधान है उस विधानमे जैसा उपादान निमित्तका योग उस विधानसे योग्य उपादानमे अनुरूप परिणमता है ऐसा ही होता चला जायगा, ऐसे विधानपूर्वक जो कुछ हुआ, जो कुछ हो रहा है, जो कुछ होगा वह एक निर्मल ज्ञानीने जान लिया। मनःपर्यय परकीय मनोगत अर्थको जान लेता है। इसका भी विषय भूत भविष्य वर्तमान सभी अवधिसहित है।

सर्वजघन्यज्ञानका स्वामी—देखो ज्ञानकी सर्वजघन्य अवस्था क्या होती और सर्वोत्कृष्ट अवस्था क्या होती है ? निगोद जीव सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्तकके किस समय जघन्यज्ञान होता सो सुनिये, देखो किसकी चर्चा चल रही ? निगोद जीवकी। जिसके बारेमे कहा है—"एक श्वांस मे आठ दश बार। जन्म्यो मर्यो सह्यो दु.ख भार ॥" हाथकी नाडी एक बार उचकनेमे जितना समय लगता है उतनी देरमे १८ बार जन्ममरण होता है। इस श्वासकी बात नही कह रहे जो मुखसे निकलती है। मुखसे निकलनेकी श्वासमे तो बडी बेईमानी चल सकती है, कहो काफी देरमे श्वास मुखसे बाहर निकाली जाय ? कोई ऐसा करे तो भी कही उससे निगोद जीवोकी आयु लम्बी तो न हो जायगी। यहाँ हाथकी नाडीमे कोई बेईमानी नही कर सकता। हाँ कोई कमजोर पुरुष हुआ तो उसकी नाडी तो कुछ मदी चलेगी या तेज, मगर स्वस्थ पुरुषकी नाडी ठीक उचकती है। तो उस नाडीके एक बार उचकनेमे जितना समय लगता है उतने समयमे १८ बार जन्म होगा। देखो जन्मका ही नाम मरण है और मरणका ही नाम जन्म है। कोई ऐसा न सोच ले कि यह तो जन्ममरण दोनोका मिलाकर ३६ बार हो गया। तो जब गणितसे हिसाब लगाया जायगा तो एक सेकेण्डमे करोब २२–२३ बार जन्ममरण हो जाता है। ऐसे तो हैं वे निगोद जीव, तिसपर भी सूक्ष्म निगोद, और तिसपर भी लब्ध्यपर्याप्त। अब समझो, कितने जघन्य जीवोकी बात कह रहे, जो अनेक बार खूब जन्ममरण करके अनेक अनेक भवोमे एकत्र रह रहे और मरकर कही बहुत दूर चले जायें निगोद बननेके लिए और मोडा लेकर जाय उस जीवके उस समय पहले मोडके समय जो ज्ञान रहता है वह सर्व जघन्य ज्ञान रहता है। इसके अतिरिक्त अन्य अन्य जीवोके ज्ञान इससे अधिकाधिक मिलेंगे। उस जीवके जब कुछ अपने आप सक्लेशमे कुछ हीनता होती है उनका ज्ञान बढता है।

बहिरग निमित्त और अतरंग निमित्तके विश्लेषणका दिग्दर्शन—बताओ उन जीवोका क्या वश चले ? विशेष ज्ञान नही, मन नही और वहाँ कोई परिचय नही, जिनके वे कर्मका कैसे आश्रय लें ? ये कर्मोंको नही जान सक रहे वे निगोद और उनके पास नही चिपका रहे अपने उपयोगको तो क्या उनके विकार हट जायेंगे ? वे तो नैमित्तिक है, हो गए। बुद्धिमानी तो इसमे है कि जब हम आप लोगोको ज्ञान मिला तो हम इस आश्रयभूत निमित्तका

तो एक बडी अलौकिक बात देखनेमे आ रही। उसका अर्थ लगाओ। एक ८ वर्षका बालक १०–१२ बडे पुष्ट पडोको (भैसोको) हाँकता चला जाता है एक छोटासा डडा लिए हुए, और वे सब १०—१२ पडे (भैसे) उस बालकके वशमे है। अब देखो एक पडेमे (भैसेमे) बल कितना है? कई घोडोकी ताकत मिलाकर एक भैंसेके बराबर ताकत होती है। तो इतने बलशाली वे भैसे एक बालकके वशमे हो गए तो इसमे अन्तर किस बातका है? ज्ञानबलका बुद्धिबलका, हृदय बलका। तो यह आत्मबल ही एक अमीरी है। बाहरमे अमीरी व गरीबी मे क्या फर्क पडता है? कोई बाहरमे बहुत अमीर (धनिक) हो और परमे ममता रहती हो तो उसे चैन कहा? एक अमेरिकन, जिसका नाम "फोर्ड" जिसने "फोर्ड मोटर" का बहुत बडा आविष्कार किया उसे अरबपति कह लीजिए, खरबपति कह लीजिए, वह भी अपने छोटे छोटे नौकरोको देखकर उनसे बहुत ईर्ष्या करता था। उनको हसते गाते, काम करते देखकर वह अपनेको बडा दुःखी और उनको बडा सुखी अनुभव करता था। अब बतलाओ यहाँ रहता है एक अकेला यह चिन्मात्र और कुछ तो रहता नही। जो चिन्मात्र तत्त्व है वही तो रहेगा। मगर यहा कहा कहा उपयोग देकर और क्या-क्या अपना बिगाड किया जा रहा है? जैन शासन पाया, अमूल्य समागम पाया तो उसका सदुपयोग कर लें, नही तो यह दुर्लभ अवसर पुनः मिलना कठिन है। दिन तो कटते ही हैं। सबके कटते हैं, विषयोंमे काट लिया दिन तो उसमे सार कुछ न मिलेगा और एक ज्ञान ध्यान सयम वैराग्यमे दिन काट लेंगे तो भविष्यमे जब तक ससार है तब तक अतुल वैभव मिलेगा और अन्तमे मुक्ति प्राप्त हो जायगी, ससार के सारे सकट मिटेंगे। बोलो यहाँ दिल फसानेमे लाभ है या अपने आपमे दिल लगानेसे लाभ है? और बडे बडे ज्ञानविकास होते हैं, उनका साधन है आत्माश्रय। इसी पौरुषमे यह अवधि ज्ञान उत्पन्न हुआ। यहा सम्यक् अवधिज्ञानकी बात चल रही है। सम्यग्दृष्टिके होता, ज्ञानियो के होता और यह अवधि कोई बडी चीज नही है। इच्छाओका अभाव हो, एक आत्माकी लगन हो, ये सारे विलास ज्ञानविकास ये सब स्वय अभ्युदित हो जाते हैं। तो जब निरावरण होकर यह ज्ञान सारे लोकालोकको जान सकता है, ऐसा यह केवलज्ञानसे ही होता है, तब यथायोग्य किन्ही ससारी जीवोके ऊपरी रूपी पदार्थ उस भूत भविष्यका बाहरी पाटीका एक प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाय तो यह कोई बडी बात नही है। नियमत· अवधिज्ञान ज्ञानविशेष है।

मनःपर्ययज्ञानकी ज्ञानविशेषता—अब मन पर्ययज्ञानके विषयमे चिंतन करें। दूसरेके चित्तमे आये हुए पदार्थका ज्ञान कर लेना मन पर्ययज्ञान है। जहाँ केवलज्ञान हो सकता है वहा मन पर्ययज्ञान बने तो इसमे क्या आश्चर्य? यह भी इन्द्रिय मनकी सहायता बिना आत्मीय शक्तिसे प्रकट होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान भविष्यकी बात भी जानता और बताते ही हैं पुराणोंमे कि अमुक दिन यह होगा, अमुक भवमे यह होगा। तो जहाँ एक भवकी बात बता

दी, एक दिनकी बात बता दी उसका अर्थ यह है कि सभी समयोमे जो कुछ है वह सब जानते है। मगर पदार्थमें जो विषम परिणमन होता है उसका जो विधान है उस विधानमे जैसा उपादान निमित्तका योग उस विधानसे योग्य उपादानमे अनुरूप परिणमता है ऐसा ही होता चला जायगा, ऐसे विधानपूर्वक जो कुछ हुआ, जो कुछ हो रहा है, जो कुछ होगा वह एक निर्मल ज्ञानीने जान लिया। मनःपर्यय परकीय मनोगत अर्थको जान लेता है। इसका भी विषय भूत भविष्य वर्तमान सभी अवधिसहित है।

सर्वजघन्यज्ञानका स्वामी—देखो ज्ञानकी सर्वजघन्य अवस्था क्या होती और सर्वोत्कृष्ट अवस्था क्या होती है? निगोद जीव सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्तकके किस समय जघन्यज्ञान होता सो सुनिये, देखो किसकी चर्चा चल रही? निगोद जीवकी। जिसके बारेमे कहा है—"एक श्वांस मे आठ दश बार। जन्म्यो मर्यो सह्यो दु.ख भार॥" हाथकी नाडी एक बार उचकनेमे जितना समय लगता है उतनी देरमे १८ बार जन्ममरण होता है। इस श्वासकी बात नही कह रहे जो मुखसे निकलती है। मुखसे निकलनेकी श्वासमे तो बडी बेईमानी चल सकती है, कहो काफी देरमे श्वास मुखसे बाहर निकाली जाय? कोई ऐसा करे तो भी कही उससे निगोद जीवोकी आयु लम्बी तो न हो जायगी। यहाँ हाथकी नाडीमे कोई बेईमानी नही कर सकता। हाँ कोई कमजोर पुरुष हुआ तो उसकी नाडी तो कुछ मदी चलेगी या तेज, मगर स्वस्थ पुरुष की नाडी ठीक उचकती है। तो उस नाडीके एक बार उचकनेमे जितना समय लगता है उतने समयमे १८ बार जन्म होगा। देखो जन्मका ही नाम मरण है और मरणका ही नाम जन्म है। कोई ऐसा न सोच ले कि यह तो जन्ममरण दोनोका मिलाकर ३६ बार हो गया। तो जब गणितसे हिसाब लगाया जायगा तो एक सेकेण्डमे करोब २२-२३ बार जन्ममरण हो जाता है। ऐसे तो हैं वे निगोद जीव, तिसपर भी सूक्ष्म निगोद, और तिसपर भी लब्ध्यपर्याप्त। अब समझो, कितने जघन्य जीवोकी बात कह रहे, जो अनेक बार खूब जन्ममरण करके अनेक अनेक भवोमे एकत्र रह रहे और मरकर कही बहुत दूर चले जायें निगोद बननेके लिए और मोडा लेकर जाय उस जीवके उस समय पहले मोडके समय जो ज्ञान रहता है वह सर्व जघन्य ज्ञान रहता है। इसके अतिरिक्त अन्य अन्य जीवोके ज्ञान इससे अधिकाधिक मिलेंगे। उस जीवके जब कुछ अपने आप सक्लेशमे कुछ हीनता होती है उनका ज्ञान बढता है।

बहिरग निमित्त और अतरंग निमित्तके विश्लेषणका दिग्दर्शन—बताओ उन जीवो का क्या वश चले? विशेष ज्ञान नही, मन नही और वहाँ कोई परिचय नही, जिनके वे कर्मं का कैसे आश्रय लें? ये कर्मोको नही जान सक रहे वे निगोद और उनके पास नही चिपका रहे अपने उपयोगको तो क्या उनके विकार हट जायेंगे? वे तो नैमित्तिक है, हो गए। बुद्धिमानी तो इसमे है कि जब हम आप लोगोको ज्ञान मिला तो हम इस आश्रयभूत निमित्तका

आश्रय न करें, आधीनता न सोचें, इसको दिलमे न रखें। इससे हमारी प्रगति बनेगी। ये बाहरी पदार्थ ऐसे है कि इनमे उपयोग दें तो ये निमित्त कहलायेंगे, न उपयोग दें तो निमित्त न कहलायेंगे। मानो कोई एक छोटी उमरकी महिला है तो उसको पिता तो देखता है और तरहसे, भाई देखता है और दृष्टिमे, श्वसुर देखता है और दृष्टिमे, पति देखता है और दृष्टिमे। अरे वह तो एक ही है, अगर वह किसीके भावका निमित्त हो तो सबके एक ही किस्मके भाव बनना चाहिए था, मगर जिसकी जैसी दृष्टि है उस दृष्टिके अनुसार उस बाह्य पदार्थका आश्रय लेकर वह अपने वैसे विकल्प बना रहा। देखो ये बाहरी पदार्थ निमित्त नही कहलाते, ये आश्रयभूत कहलाते। इनको उपचरित निमित्त बोलते है। मगर कर्मविपाक जो चल रहा है वह उपचरित निमित्त नही है। हम जानते हो तो, न जानते हो तो। न जानने वाले तो अनतानत जीव है। जैसा जो कुछ दुनियाके और पदार्थोंके साथ निमित्तनैमित्तिक व्यवहार है वहाँ भी चल रहा है, सो ही विधि यहाँ है, पर यह फर्क हो जाता है कि जो ज्ञानी जीव बाह्य विषयोका इन पदार्थोंका आश्रय नही लेते उनके व्यक्त विकार नही होता, हाँ अव्यक्त विकार रहते है, वे विकार व्यक्त नही हो पाते, और विकार व्यक्त न हो पायें, तो उनके चोट नही लगती है। वे बहुत साधारण आस्रव बधके हेतु होते हैं, जिनको अध्यात्मशास्त्रमे दृष्टिमे नही लिया है, करणानुयोग उन विकारोका वर्णन करता और कुछ ऐसा समझ लो।

सम्यक्त्वकी अनतससारच्छेदकता—किसी जीवने सम्यक्त्व पा लिया तो सम्यक्त्व पानेसे अनन्त ससार कट गया ना? अब रह गया मान, लो करोड वर्षका ससार या कुछ कम अर्द्धपुद्गल परिवर्तन सही, यह इतना बडा ससार इस अनन्त ससारके आगे क्या गिनती रखता है? जैसे किसी पर एक लाखका कर्जा हो और ९९९९९) रु० अदा कर चुका हो, केवल १) रुपये का ही कर्जा शेष रहा तो उसे लोग कर्जा भी नही कहते इतने बडे धनके सामने, ऐसे ही समझ लो कि जहा सम्यग्दृष्टि जीवोका अनत ससार मिट गया वहाँ ये करोड, अरब खरब वर्ष कुछ गिनती भी रखते है क्या? अरे उनकी कुछ भी गिनती नही है। एक जगह यह कथानक आया है कि कोई एक श्रावक किसी समवशरणमे जा रहा था तो उसे मुनि महाराज रास्तेमे मिले। मुनि महाराजने उस श्रावकसे कहा कि तुम समवशरणमे जा रहे हो वहाँसे हमारे विषयमे जानकारी करके आना कि अभी हमारे कितने भव शेष है? वे मुनिराज उस समय एक छेवलेके पेडके नीचे बैठे हुए थे। छेवलेके पेडमे तो देखा होगा कि बहुत कम पत्ते होते है। खैर, वह श्रावक जब समवशरणमे पहुचा और प्रश्न किया कि अभी अमुक मुनि महाराजके कितने भव शेष हैं? तो गणधरदेवने वहाँ उत्तर दिया कि वह मुनिराज जिस वृक्षके नीचे बैठे होगे उसमे जितने पत्ते होगे उतने भव अभी शेष है। तो वह श्रावक जब वापिस आया और मुनि महाराजको एक इमलीके वृक्षके नीचे बैठा हुआ पाया

तो अपना माथा धुनते हुए बडे खेदके साथ बोला—महाराज ! अभी तो आपके बहुत भव शेष है । समवशरणमे बताया है कि जिस वृक्षके नीचे बैठे हुए है उसमे जितने पत्ते है उतने भव अभी शेष है, तो वहाँ मुनि महाराज बोले—अरे श्रावक तू व्यर्थ दु खी क्यो होता ? अरे गिनती तो आ गई । उस अनन्तकालके सामने ये लाख, करोड, अरब भव कुछ भी तो गिनती नही रखते । और ये लाखो, करोडो भव तो एक ही दिनमे खतम किए जा सकते है । तो जैसे कहते है ना, कला, शृङ्गार, एक शोभाकी बात । सार बात बस यही है आत्माके सहज-स्वरूपको जानकर उस रूप अपनेको अनुभव करें कि मै तो यह हू, और झगडे सारे खतम । बाकीके जो और विवाद उठ खडे होते उनसे आत्मा ऐसा झुँझला जाता और भीतरमे ऐसा कषाय बैठ जाता कि वह स्वभावाश्रय करनेका पात्र नही रहता । उनसे हमे क्या प्रयोजन ? तो एक निर्णय है अपनेको निज सहज स्वभावरूप मानना कि यह मै हू और मेरा कार्य इसके अनुरूप केवल ज्ञाता द्रष्टा रहना है । बात केवल यह है, ऐसा पाना है, बस यही एक धुन रहनी चाहिए, फिर आपकी कही अरक्षा नही है ।

अवधि, मनःपर्यय व केवलज्ञानकी अबाधित अध्यक्षता—ये अवधिज्ञान, मन पर्यय ज्ञान, केवलज्ञान ये तीन अतीन्द्रिय ज्ञान है, इनका बाधक कोई प्रमाण नही है जिससे कि इस की प्रमाणतामे बाधा आये । न युक्तिसे बाधा, न आगमसे और न प्रत्यक्षसे बाधा । जो इन्द्रियप्रत्यक्ष है उसका तो विषय ही नही । बाधा कैसे वह डालेगा ? युक्तियाँ ऐसी अबाधित है जैसी कि जो अभी कुछ कही । जिससे अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान ये सिद्ध हो जाते है । दोनो ज्ञानोमे कला है ना जाननेकी । जाना, कितना जाना ? मेरा तो जानना जब काम है तो उसमे अवधि क्या कि कितना जाने ? वह तो जब तक दबा है सो कम जानता है । और उसका आवरण हट जाय तो वह तो सर्व जानेगा, पर युक्तिसे सोच लो । जो चीज किसी उपाधिके मिलने से घटती है और उपाधिके दूर होने से बढती है, यदि उपाधि बिल्कुल दूर हो जाय तो वह अपने प्रकर्षमे आयगा कि नही ? तो यह ज्ञान जब रागादिक आवरणा-दिक अतरग बहिरग उपाधियोके ससर्ग घटते है और इनके वियोगसे बढते है तो जहाँ वियोग होता है वहाँ यह सम्भव है कि सर्वथा भी वियोग हो सकता । तो जहाँ आवरणका सर्वथा वियोग हो वहाँ ज्ञान पूरा प्रकट हो जायगा । युक्ति बताती है, आगम बताता है, अनुभव बता देगा । इस प्रत्यक्षज्ञानके माननेमे किसी प्रकारकी बाधा नही । तो मतिश्रुतावधिमनःपर्यय केवलानि ज्ञानम्मे जो ५ ज्ञान विशेष बताया है वह बिल्कुल ठीक है । इसके अतिरिक्त जो कुछ भी ज्ञान बतावेंगे वे इन ५ मे शामिल हो जायेंगे, कोई छूटा नही । और इनसे अधिक कहनेकी जरूरत नही है । ये ५ ज्ञान विशेष है और ये सभीके सभी ज्ञान कहलाते है, दोनो तरहसे अवधारण है । ये ५ ही ज्ञान है, दूसरा कोई ज्ञान नही कुमति कुश्रुत वगैरह । ये

५ ज्ञान ही है, इनमे अज्ञानका लवलेश नही। इस तरह उमा स्वामी महाराजने जो सूत्रमे रचना की वह दार्शनिक दृष्टिसे, करणानुयोगसे, अध्यात्मदृष्टिमे, सभी दृष्टियोमे इसके क्रम नाम सभी सगत बैठते है। इस तरह इन ५ ज्ञानोके बारेमे कुछ स्वरूपका वर्णन किया। अब इसके सम्बन्धमे जो कुछ स्फुट आशकायें हो सकती है उनका विवरण चलेगा।

आत्महितभावनासहित वाचन श्रवणकी उपयोगिता—शान्ति पानेकी विधि, धर्मधारणकी विधि, जिनवचन सुननेकी विधि, जिनवचन पठन वाचन करने की विधि, कषाय मद करके, बाहरी उपयोग हटाकर एक निजहितकी ही भावना रखकर बनती है। हितमय, शिवरूप मगलमय जो निजका सहज स्वरूप है उसके आलम्बनकी भावना हो तो हमारे ये दर्शन, पूजन, स्वाध्याय, सत्सग आदि सब सफल हो जाते हैं। श्री उमास्वामी महाराजके इस रचित ९ वें सूत्रमे ज्ञानकी बात चल रही है, किसकी बात चल रही है ? जिसमे कषायका नाम नही, जहां कष्टका नाम नही, ऐसा ज्ञानस्वरूप, किन्तु उपाधिका ससर्ग पाकर और उपयोग द्वारा बाह्य पदार्थोमे रमकर याने उपचरित निमित्तका आश्रयकर वास्तविक निमित्तके सान्निध्यमे यह दशा चलती है। वहां यह समझना चाहिए कि ये सब विकार औपाधिक हैं, मेरेको बरबाद करनेके लिए आते हैं, ये महिमान है, महिमा नही जिनकी, हमारे लिए जिनका कोई महत्त्व नही, मेरेको बरबाद करने आते हैं विकार। विकार मेरा स्वरूप नही। ये मेरे स्वरूपसे नही उठे, मेरे स्वभावसे नही आये। मुझको मूढ बनना पडा, ऐसी ही मेरी योग्यता और ऐसा ही निमित्त सन्निधान कि यह बात बन रही है, पर ये सब मैं नही हू। मै तो एक चैतन्य सत् हू और जिसको बहुत सुगमतया समझना हो तो अपने आपमे मैं ज्ञानमात्र हू, ज्ञान मात्र हू, ऐसी अन्तरमे दृष्टि रहे। उस ही ज्ञानस्वभावकी पर्यायके बारेमे बात चल रही है। ये ज्ञानविशेष ५ होते है—मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय, केवल, इन ५ ज्ञानोका सामान्यतया स्वरूप अब तक कहा गया है। अब कुछ इसमे विशेषतायें बतायी जा रही हैं।

मतिज्ञान व श्रुतज्ञानमे एकत्वकी आशका—पहली बात यह सामने आ रही है कि मति, श्रुत ये दो ज्ञान अलग-अलग क्यो कहे गए ? ये तो दोनो एक ही बात हैं ? कैसे एक बात है कि देखो मति श्रुत ये सहचर है, ये साथ रहा करते है, साथ चला करते हैं। बताया ही गया है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अनादिकालसे चले आ रहे हैं। अज्ञानअवस्थामे कुमति कुश्रुतरूप तो चलो सम्यक्त्व हो गया तो उनका बन गया मति श्रुत रूप, पर मति श्रुत तो चले आ रहे है, इनमे साहचर्य है, सो फिर ये एक हो गए, उन्हे दो कैसे कहा ? यह सब शकाकारकी शका चल रही है और देखो ये दोनो एक ही जगह रह रहे हैं। एक ही आत्मा मे रहते हैं। कोई आत्माके प्रदेश भिन्न है क्या ? मतिज्ञान आत्मामे इतने हिस्सेमे रहे और श्रुतज्ञान आत्माके इस हिस्सेमे रहे, जब ये दोनो एक साथ एक जगह रह रहे है तो ये एक

ही हैं, इनमे नानापन नही है। तीसरी बात यह देखनेमे आ रही है कि मति और श्रुतज्ञानमे कोई विशेपता नजर नही आती। सभी जीवोके हो रहा है। मति भी परोक्षज्ञान है, श्रुत भी परोक्षज्ञान है, और उस परोक्षताके नाते इसमे कोई विशेषता नही, इस कारणसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमे एकता है। एक ही चीज है, इनको अलग-अलग दो सख्यामे क्यो कहा गया? शंकाकार अपनी शका कह चुका।

साहचर्य और एकत्रावस्थान हेतुसे मति श्रुतमें नानात्व सिद्ध हो जानेसे शंकाकारोक्त इन दो हेतुओमे विरुद्ध हेत्वाभासता—अब समाधानमे कुछ विचार करके देखें तो जो बात शकाकारने मति और श्रुतज्ञानको एक करनेके लिए कही वह ही बात मति और श्रुतको भिन्न-भिन्न बतानेके लिए हेतु बनती है। पहला हेतु दिया था कि यह सहचर है, एक साथ रहता है, एक साथ चलती है तो इसीसे ही सिद्ध हुआ कि ये दो अलग-अलग है। जो साथ साथ चले, साथ साथ रहे वह एक क्या? कोई एक हो तो क्या उसमे यह कहा जायगा कि ये साथ साथ जा रहे? अरे दो हो तो कहा जायगा कि साथ-साथ जाते है। तो साहचर्य हेतु से तो यह सिद्ध होता है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान—ये दोनो अलग-अलग ही है। देखो समझो, तुम्हारी वर्तमान हालतकी बात कही जा रही है। जो ज्ञान जगता है भीतर वह दो तरहसे जग रहा है। सभी लोग खूब सोच लो इन्द्रिय और मनसे कोई बात जान ली, जानते कि नही और उस इन्द्रिय मनसे जानी हुई बातके बारेमे कुछ और अधिक सोचना है, विचारना है, समझना है तो यही हो गया श्रुतज्ञान। पहले हो गया मतिज्ञान। तो यह मतिज्ञान और यह श्रुतज्ञान ये दोनो हम आपके चल रहे हैं। उसीके बारेमे प्रश्न हुआ था कि जब दोनो एक साथ रहते हैं, चलते है तब ये एक होना चाहिए। तो उत्तर सीधा हो गया कि जब एक साथ रहते हैं तो दो अपने आप सिद्ध हो गए। दूसरा हेतु शकाकारने यह बतलाया था कि ये दोनो एक आत्मामे रहते है इसलिए एक है। तो इससे ही सिद्ध है कि ये अनेक है, एक जगह ये रहे तो उससे ही सिद्ध है कि अनेक हो गए। एक घरमे रहते है १० आदमी, तो अपने आप सिद्ध हो गया कि वे १० अनेक हैं, वे १० एक नही है। जैसे कहा कि एक आत्मामे ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदिक अनेक गुण है तो इनके कहनेसे ही सिद्ध हो गया कि वे गुण अनेक है।

अशुद्ध नय शुद्ध नयके विषयकी संक्षिप्त चर्चा—अब देखो जिस दृष्टिमे जो बात कही जाय उसको उस दृष्टिमे समझना। अब भेदनयकी दृष्टिमे कहा जा रहा है कि गुण अनेक है उस दृष्टिमे अनेक समझ लो, मगर शुद्धनयसे देखने पर, स्वभावदृष्टिसे निरखनेपर तो यह ज्ञात होता है कि गुण तो है नही, एक अखण्ड चैतन्यशक्ति मात्र है। स्याद्वादका इतना बडा उप-कार है कि जो एक सही मार्गमें इस जीवको लगा देता है। नयोका प्रयोग किस तरह करना,

प्रमाणका प्रयोग कैसे करना ? इन बातोका परिचय न होने पर यहां कुछ उलझन होती है, विसम्वाद होता है। रीति यह है कि जिस नयसे कहा जाय उस नयके विषयको ही उस मूडमे तकना चाहिए, अन्य नयोके विषयका विरोध न करना चाहिए। उसकी चर्चा ही नही। उसका निषेध करनेका ही यहां अवकाश नही, क्योकि जिस नयके मूडमे लग रहे उस ही नयके विषयको समझना है और यदि दूसरी बातके सम्बन्धमे वोलना है तो उस नयके मूडमे आइये और उस नयकी बात करें। तव इसके विरुद्ध बात एक आत्मामे अभी तकी जा सकती है कि देखो वतलाओ यह जीव कषायोसे भरा हुआ है कि नही ? एक दृष्टिसे देखो तो कषाय कलि हो रहे, कषायें समग्र प्रदेशोमे छायी हैं, और एक स्वभावदृष्टिसे देखो तो कषायो का नाम ही नही, स्वभावदृष्टिमे स्वभावस्वरूप तका जा रहा है। एक नयसे देखते है तो यहां कषायोकी कालिमा भरी पडी है। एक नयसे देखते है तो यहां शान्ति ही शान्ति है। आश्चर्य होता है कि कैसे हो गई कषायें ? यह तो स्वभाव है ही नही। तो जिस नयसे जव जो बात हुई हो तव उस नयको ग्रहण करके समझना चाहिए और उस वक्त वक्ताके मूड (दिमाग) मे अपना मूड (दिमाग) मिलाकर सुनना चाहिए। लेकिन वक्ताको भी चाहिए कि वह सप्रतिपक्ष वर्णन करे। जव वर्णन ही करने बैठे है तो वहां दोनो नयोके विषयोको बताते जायें। एक एक वाक्यमे समयसारमे व्यवहार और निश्चय दोनोकी बात कही है। जहां यह कहा कि आत्मा किसका कर्ता भोक्ता है तो उसकी विधि वताते हुए कहते है दृष्टान्तमे कि जैसे वायुके चलने और न चलनेके निमित्तसे समुद्रमे तरग और निस्तरग अवस्था होती है। तो भी वह समुद्र तो अपने आपमे ही अपनेको तरगरूप करता हुआ अपनेको ही अनुभवता है और अपनेको निस्तरगरूप करता हुआ अपनेको ही अनुभवता है। ऐसे ही यह आत्मा कर्मविपाकके उदयके निमित्त और कर्मके विपाकके अभावके निमित्तसे यह जीव ससार नि.ससार अवस्थाको पाता है। फिर भी यह जोव ही तो ससरण, ससार रूप, विभावरूप हुआ अपनेको तकता है इस तरह और अनुभवता है और निःससाररूप होता अपने आपको ही परिणमाता हुआ अपने को करता और भोगता है। व्यवहार और निश्चय ये दोनो सम्यग्ज्ञानके अश हैं। हां उपचार एक रूढि है, भाषा है, लौकिक भाषा है। एक बडा ध्यान देने की बात है कि बहुत साधारणसी बात होनेके कारण याने लोग तो समझदार होते ही हैं, परख सकते हैं, तो व्यवहार शब्दका प्रयोग सम्यग्ज्ञानके अशरूप व्यवहारके लिए भी होता है और व्यवहारका प्रयोग उपचारके लिए भी होता है, पर ऐसा सामान्यतया ज्यादह विश्लेषण नही किया। आचार्य सतोने व्यवहार व्यवहार शब्दसे कही श्रुतज्ञानाश व्यवहार के लिये कभी उपचार अर्थमे व्यवहारका प्रयोग किया। उपचारकी बातको भी कभी कभी उपचार शब्द देकर भी कह देते और कभी व्यवहार शब्द कहकर भी कहते हैं। तो उसको

कारण यह है कि वह एक इतनी साधारणसी बात थी कि उनकी समझमे न आया ऐसा कि लोग यहाँ विवेक न कर पायेंगे कि यह व्यवहार तो सम्यग्ज्ञानके अशके लिए प्रयुक्त है और यह व्यवहार उपचारके लिए प्रयुक्त है। उपचारमे तो ऐसी बात है कि उपचार जैसा कहे वैसा असत्य है। उसका अर्थ लगाना चाहिए कि वैसा नही है, और प्रकार है, पर व्यवहारमे जो कि सम्यग्ज्ञानका अंश है उसमे यह बात घटित नही होती कि व्यवहारनय जैसा कहता है सो असत्य है। व्यवहारनयने बताया कि आगका निमित्त पाकर कागज जल जाता है तो हम इसे असत्य कैसे कह दे ? उपचारने बताया कि आगने कागज जला दिया, हाँ ऐसा ही समझे तो वह असत्य है, क्योकि आग तो अपने प्रदेशमे अपनी उष्णताका परिणमन करेगी, अन्य पदार्थमे परिणति न करेगी।

तत्त्वाधिगमके उपायोके दिग्दर्शनमे प्रमाण और नयोका विवरण होनेसे उनमे असत्यताका अभाव—ऐसा ध्यानमे रखें कि यह सम्यग्ज्ञानका प्रकरण है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की बात चल रही है और पहले अध्यायमे पूरे सम्यग्ज्ञानकी ही बात है। थोडासा प्रसग पाकर थोडासा कुमति, कुश्रुत, कुअवधिके बारेमे बताया, सो अलगसे सूत्र लिखा है—"मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च तथा सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्।" जहाँ खोटे ज्ञानकी बात करते है वहाँ दो सूत्र आये हैं, जिसमे कुज्ञानकी बात करी, मायने अप्रमाणकी बात करी, और अन्तिम सूत्रमे नयोकी बात करी। नयके विषयमे जहाँ प्रतिज्ञा की कि प्रमाणनयैरधिगमः प्रमाण और नयोसे तत्त्वका अधिगम होता है। जिसके द्वारा अधिगम होता है वह यदि असत्य है तो अधिगम क्या सत्य होगा ? जिसके द्वारा हमने जाना वह ज्ञान यदि असत्य है तो जो जानकारी बनी क्या वह सत्य बन जायगी ? वह भी असत्य हो जायगी। तो प्रमाण नयोंके द्वारा सच्चा ज्ञान होता है कि झूठा ज्ञान होता है ? सच्चा ज्ञान होता है। और नयोंके भेद बताये गए—नैगमनय, सग्रहनय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढ़नय और भूतार्थनय—इन ७ नयोंके द्वारा जो ज्ञान होता है वह सत्य ज्ञान होता है कि असत्य ? सत्य। उनका जो निश्चय है, जो जाना है वह सत्य है, क्योकि नय सत्य हैं। इनके द्वारा अधिगम बताया गया है।

आश्रयभूत निमित्त व अन्वयव्यतिरेकी निमित्त इनका तथा अव्यक्त विकार व व्यक्त विकार इनका अन्तर समझनेसे निर्विसंवादता व शान्तिका उद्भव—थोडा दो जगह भेदप्रदर्शन रखकर आगमकी कथनी सुनना और करना चाहे सो बडा स्पष्टीकरण होगा, विसम्वाद न रहेगा और बहुत शाति मिलेगी। दो बातें क्या ? एक तो समझना चाहिए आश्रयभूत निमित्त और अन्वयव्यतिरेकी निमित्त, तथा दूसरी बात समझनी चाहिये—अव्यक्त विकार व व्यक्त विकार। देखो—जीव और अजीवमें तो दो ही कारण माने गए हैं—(१) उपादान और

(२) निमित्त। काठ धरा है और वहा आग पडी है तो काठ जल गया। तो वहा उपादान काठ है और निमित्त आग है। सो काठ जल गया या हवा चली तो पत्ते झड गए, तो पत्ता उपादान है जो अपनेमे क्रिया कर गया। हवाका चलना निमित्त है। जहा अजीव अजीव ही हो वहा तीन बातें न घटित होगी। वहा दो ही बाते होती हैं—(१) उपादान और निमित्त, लेकिन जीवके विकारके प्रसगमे तीन बातें हुआ करती है—(१) उपादान, (२) निमित्त और (३) आश्रयभूत। चूकि यह उपयोगात्मक है ना, विकारस्वरूप है तो जो विषयभूत है, उसे भी निमित्त कहते है और जो निमित्त है उसे भी निमित्त कहते हैं। तो ये तीन बातें आती है जीवके विकारमे, अन्य जीव अजीवके प्रसगमे ये तीन बातें नही होती। तो जब ये तीन बातें हुईं तो कुछ तो अन्तर तो होगा ही ना, आश्रयभूत और अन्वयव्यतिरेकी निमित्तमे। आश्रयभूत निमित्तकी यह स्थिति है कि हम यदि उपयोग लगायें, उसमे उपयोग जुटायें तो वह निमित्त होता है अन्यथा निमित्त नही, और इसीको कहते हैं परका आश्रय करे तो निमित्त है, नही तो नही। यह बात है आश्रयभूत निमित्तमे। यह जान-जानकर बुद्धिपूर्वक इस बाह्य विषयभूत पदार्थका आश्रय लेते हैं और अपनेमे विकार व्यक्त करते है। तो परका आश्रय लेने से क्या होता है ? व्यक्त विकार। और जहा परका आश्रय न लें और कर्मविपाक भी नही है तो विकार स्थिति न बनेगी। और परका आश्रय न लें और कर्मविपाक चलता रहे तो वहा अव्यक्त विकार होगा। जैसे जब कोई चीज बडी तेजीसे घूमती है। जैसे यह पखा बडी तेजीसे चल रहा है तो उसका जो केन्द्रबिन्दु है, ठीक बीचका स्थान है वह किसीको घूमता हुआ व्यक्त नजर नही आता, और उस पखेकी जो पखुडिया है वे व्यक्त घूमती हुई नजर आती है। और कोई यदि उन पखुडियोमे एक चद्दर बाध दे या उसमे कुछ लटका दे तो उसका घूमना व्यक्त नजर आता है। तो ऐसी व्यक्त अव्यक्तकी बात है, कुछ नजर नही आती, कुछ नजर आती, कुछ यो ही होता, तो देखो अध्यात्मशास्त्रका और करणानुयोगका परस्पर विरोध नही है, जो यह कहा जाय कि वह व्यवहारका विषय है, तो जिसे कहते हैं सो नही है, वह झूठ है। व्यवहारमे यह बात घटित नही होती। उपचारमे यह बात होती है। जो लोकरूढि है उसमे यह बात है कि जैसा कहे वैसा नही। देखो इस वर्णनका विरोध कैसे नही ? अव्यक्त विकारका वर्णन करणानुयोग करता है, व्यक्त विकारका भी करता है, अध्यात्मग्रन्थ व्यक्त विकारकी बात कहता है कि ज्ञानी जीवके, सम्यग्दृष्टि जीवके आस्रवभावना का अभिप्राय न होनेसे वह निरास्रव है। अविरतसम्यग्दृष्टि जीवके ४१ प्रकृतियोका ही तो निरास्रवपना है कि शेष सब कर्मप्रकृतियोका निरास्रवपना है ? तो शेष प्रकृतियोका जो आस्रव चल रहा है वह अप्रत्याख्यानावरणादिक निमित्तोका पाकर चल रहा है। श्रेणीमे जहाँ बुद्धि विकारको नही ग्रहण करती, बुद्धि एक स्वमे है और वहा भी विकार चल रहा है अव्यक्त-

विकार । आस्रवके मायने विकार । तो अव्यक्त विकारका वहां बराबर निमित्तनैमित्तिक योग चल रहा है ।

कर्तव्य और उदाहरणपूर्वक निर्णय—अपनेको करनेका काम है बुद्धिपूर्वक । हमें क्या समझना, क्या करना, कैसे रहना, बस उसी बुद्धिपूर्वक चर्याके आधारसे ही तो हमारे सुधारका उद्यम है, हमे विषयोमे न प्रवर्तना, कषायोमे न लगना और एक कषायरहित जो आत्माका शुद्ध ज्ञानस्वभाव है उसकी उपासनामे लगना । लगते है, करते ही यह है, दूसरी बात न सोचे कि और बातें हो रही हैं, अव्यक्त विकार हो रहे है, सोचनेकी जरूरत नही है, जो है उसका निर्णय कर लिया । अब उन बाहरी निर्णयोको हमे सदा चित्तमें नही रखना है । निर्णय न हो तब तो नुक्सान है, निर्णय हो सही तो अब जो हमारा प्रायोजनिक है उसका आश्रय लेनेमे हमारा कल्याण है । प्रयोज्य क्या है ? यह शुद्ध आत्मतत्त्व, सहज आत्म-स्वभाव, यह शक्तिमात्र चैतन्यस्वरूप, जो मुनियोके मनमे निरन्तर निवास करता है, उसका आश्रय लें । तो देखो एक बात तो यह समझनी है निमित्तके बारेमे कि निमित्त दो तरहके होते हैं—दृष्टिमे यह रख लें, फिर सबका उत्तर मिल जायगा । जो लोग शका रखते है या जो लोग ऐसा विश्वास रखते हैं कि समवशरणमे जाय तो सम्यग्दर्शन हो, समवशरणमे जाना सम्यक्त्वका निमित्त है और कहते हैं कि समवशरणमे तो यह जीव अनेक बार गया, सम्यक्त्व तो हुआ नही, बात दोनो ओरसे ठीक है । एक बोल रहा है बहिरग निमित्तकी दृष्टिसे, एक बोल रहा है कि यह अन्वयव्यतिरेकी निमित्त नहीं है कि जिसको सम्यग्दर्शन हो, समवशरण मे पहुचे तब ही हो और न पहुचे तो न हो, समवशरणमे पहुचे तो ऐसा नियम नहीं है, इस लिए ये बाह्य साधन कहलाते हैं । वास्तविक निमित्त तो है दर्शनमोहकी तीन प्रकृतियाँ और ४ चारित्रमोह की, यो ७ प्रकृतियोका उपशम, क्षय, क्षयोपशम—यह अन्तरंग निमित्त हो तो यहाँ व्यभिचार न पडेगा कि जिसको सम्यक्त्व हो गया हो और इसका उपशम, क्षय, क्षयो-पशम न हुआ हो फिर भी सम्यक्त्व हो जाय या किसीके उपशम, क्षय, क्षयोपशम हो और न हो सम्यक्त्व यह अन्वयव्यतिरेकी निमित्त नही है । अब जैसे बताया गया है ना, किसीको देवऋद्धिके देखनेसे सम्यक्त्व होता, किसीको वेदनाके अनुभवसे सम्यक्त्व होता तो ये सब बाह्य साधन है, इनके साथ अविनाभाव नियम नही है, तो ये दो प्रकारके निमित्त जाननेसे अनेक समस्याओंकी उलझन दूर हो जाती है । इसी प्रकार व्यक्त विकार और अव्यक्त विकार, इनका निर्णय हो जाने पर बहुतसे विकार समाप्त हो जाते हैं ।

संसरणमुक्तिके लिये अपने प्रारंभिक कर्तव्यका दिग्दर्शन—अपने को करना क्या ? वह तो स्पष्ट बात है । व्यवहारनयका विरोध न कर मध्यस्थ होकर निश्चयनयका आलम्बन लेकर मोहको नष्ट करता हुआ अपनेको परसे विविक्त निज ज्ञानस्वरूपमय अनुभव करना, यह

मैं हू, बस यह है अपनी प्रगतिका उपाय, यह है मुक्तिका साधन। तो जहाँ साधनकी बात कही जाय वहा तो एक लक्ष्य होता है और देखो लोग साधनमे विवाद नो करने नही और अन्य निर्णयके प्रसगमे विवाद करते है। किसीको वहुत भी ज्ञान न हो और एक अन्त-स्वभाव का बोध हो वह कल्याणमार्गमे लग जाता है। पशु-पक्षी वगैरह तो जीव, अजीव, आस्रव आदिके नाम भी नही बोल सकते है, अरे जिनकी जीभ इतनी मोटी कि बाँय बाँय करते, ओ ओ करते, ची ची करते, अक्षर भी नही बोल पाते, ऐसे वदर, भैंसा, बैल वगैरह जो तत्त्वोके नाम भी नही जानते, व्याख्यान नही समझते, कोई भीतरी विश्लेपणका चिन्तन नही करते, लेकिन प्रायोजनिक बात उनको मिल गई, यह मैं हू, भीतर जो लक्ष्यमे आया, एक प्रतिभासमात्र चैतन्यस्वरूप यह मैं हू, इतना उनके बोध बना तो काम बन गया। तो अनेक पशु पक्षी रहते जीवनभर सम्यग्दृष्टि। कोई विरला ऐसा भी है कि सयमासयम पाता है उन पशु-पक्षियोमे, मच्छोमे जितने वहाँ सम्यग्दृष्टि मिलेंगे वे सब एक इस चैतन्य-स्वभावकी भासनापर मिलेंगे। देखो ससारमे सम्यग्दृष्टियोकी ज्यादा सख्या तिर्यञ्चोमे है, मनुष्योमे नही है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि मनुष्य तिर्यञ्चोमे है, मनुष्योमे नही है। ज्ञानी सम्य-ग्दृष्टि मनुष्य तिर्यंच सम्यग्दृष्टि ज्ञानी मनुष्यकी अपेक्षा कम है। आखिर तिर्यंचलोकका कितना बडा विस्तार है? कितनी जगह तिर्यञ्च रह रहे हैं, कितनी सख्या है? ढाई द्वीपका कितना बडा क्षेत्र है? यहाँ भी तिर्यञ्च, समुद्रमे भी तिर्यञ्च, ढाई द्वीपके बाहर जो एक द्वीप है अन्तिम, उसका तो इतना बडा विस्तार है कि उसके अन्दर शेपके सारे द्वीप समुद्रका जितना विस्तार है उससे अधिक और उसके आगे है। एक स्वयभूरमण समुद्र, उसको तो इससे अधिक विस्तार है, वहाँ भी तिर्यञ्च। तो सख्या जहाँ बतायी गई द्रव्यप्रमाणानुगममे तो बताया गया है सयमासयमी जीवोकी सख्या तिर्यञ्चोसे ज्यादह पायी जाती है। अब उससे सम्यग्दृष्टियो की सख्याका अनुमान कर लो। जिसे कल्याण करना है उसके लिए उपाय सुगम है और जिसको आत्महितकी प्रीति नही है उसके लिए ज्ञानमे विवाद, आचारमे विवाद, भेष-भूषामे विवाद। जहाँ कही रहे वही अपना विवाद। कषाये जहाँ चाहे की जा सकती है। तो गुणग्राहिता अपने चित्तमे रहना उत्तम है, क्योकि यह ससार है। यहा कोई दूसरा मदद-गार नहीं है कि जिसका कोई राग या द्वेष या पक्ष या कोई बात विचार कर अपनेको शरण मान सके कि मैं तो अब शरण हो गया। कोई मददगार नहीं। प्रभुका उपदेश है स्पष्ट कि अपने आपके सहारे चलो। तुम्हारा ही भगवान आत्मा तुम्हारा आलबन है। तो करनेका तो खुद काम है ना? तो स्वयकी ऐसी जिम्मेदारी समझकर हमे स्वयसे अपना निर्णय लेते हुए अपनी प्रगतिमे चलना है।

शंकाकारोक्त अविशेषत्व हेतुसे भी मति श्रुतमें भेद सिद्ध हो जानेसे अविशेषत्व हेतु

की भी विरुद्ध हेत्वाभासता--यह प्रकरण है ज्ञानस्वभावविशेषका। मतिज्ञान श्रुतज्ञानमे एकता, एक साथ रहते है, इस कारणसे हो जाय सो नही, बल्कि एक जगह रहते है, इससे तो अनेकता सिद्ध हो गई, और कोई कहे कि इसमे समानता पायी जा रही है, इसलिए तो ये दोनो एक हो गए। तो यह हेतु भी विरुद्ध है। जिसमे समानता पायी जाय वे दो रहेंगे एक नही। एक साथ पैदा हुए दो बालक जिनकी शक्ल-सूरत एक है, पहिचान नही सकते कि यह और है, यह और है। वे भी दो हैं, भले ही समानता है। तो इनमे समानता है, ऐसा कोई कहे तो उससे ही यह जाहिर हो जाता है कि ये दो है, भिन्न-भिन्न है, एक नही है। तो मतिज्ञान श्रुतज्ञानको एक बनानेके लिए, बतानेके लिए जो शकाकारने हेतु उपस्थित किया उन हेतुवोसे यह सिद्ध होता है कि ये दो भिन्न-भिन्न ज्ञान है।

मति श्रुतमे एकत्व सिद्ध करनेके लिये शंकाकारोक्त तीन हेतुओके विरुद्धहेत्वाभासपनेका उपसंहार—कल यह चर्चा थी कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको अलग-अलग क्यो कहा गया? ये दोनो एक है और दोनोको एक सिद्ध करनेके लिए हेतु दिये थे तीन। एक तो यह कि ये दोनो सहचर है। दूसरा यह कि दोनोका एक ही वस्तुमे अवस्थान है, और तीसरा हेतु यह कि इन दोनोमे समानता पायी जाती है। इसका उत्तर दे दिया गया था कि जिन तीन हेतुवो द्वारा तुम मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमे एकत्व सिद्ध करते हो उन्ही हेतुवो द्वारा नानात्व सिद्ध होता है। इस कारण ये तीनो हेतु विरुद्धहेत्वाभास है अर्थात् झूठे हेतु है। और विरुद्ध नाम का वह झूठा हेतु है तो जो बात सिद्ध करना चाहे उससे उल्टी ही सिद्ध हो जाय उन्ही हेतुवों से तो उन हेतुवोका नाम है विरुद्धहेत्वाभास। अनुमानप्रमाणका दार्शनिक शास्त्रमे बहुत बडा प्रकरण है और अजैन दर्शनमे तो केवल अनुमानप्रमाणपर बडे-बडे मोटे-मोटे ग्रन्थ बने है। जैनदर्शनने जितना प्रयोजनवान समझा उतना वर्णन विशदरूपमे किया है, ऐसा सक्षेपमे हेतु-साध्य प्रतिज्ञाके बारेमे विवरण करके स्पष्ट किया है। किसी भी बातको सिद्ध करनेके लिए हेतु बोला जाता है, वह हेतु यदि अन्वयव्यतिरेकी है तब तो साध्यकी सिद्धि करता है। यह ज्ञायक हेतु है, कारकहेतु नही, और यदि उनमे दोष है हेतुवोमे तो वह साध्य सिद्ध नही कर सकता, ऐसा दोषदूषित हेत्वाभास कहलाता है हेतु। असिद्ध विरुद्ध, अनैकातिक अकिंचित्कर, ये सब झूठे हेतु कहलाते हैं। उनमेसे ये विरुद्ध नामका दूषित हेतु है।

मति श्रुतमे अभेद सिद्ध करनेके लिये शंकाकार द्वारा प्रस्तुत सहचर्य एकत्रावस्थान व अविशेषत्व हेतुओकी असिद्धहेत्वाभासताका कथन--अब आज यह बतला रहे है कि इन हेतुवो में दूसरा दोष है असिद्ध नामका। जो हेतु दे रहे हो वह यहाँ घटित ही नही हो रहा। जैसे पहले हेतु दिया कि यह सहचर है, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान एक साथ रहते हैं, यह बात सर्वथा सिद्ध नही। लब्धिकी अपेक्षा तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान एक साथ रहते हैं, पर उपयोगकी

अपेक्षा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान एक साथ रहते ही नही। छद्मस्थ जीवोके उपयोग युगपत् नही होता, क्रमश होता हे। जब मतिज्ञान उपयोगरूप है तब श्रुतज्ञान उपयोगरूप नही। तो साहचर्य तो न रहा। तो इसमे साहचर्यहेतु असिद्धहेत्वाभास है। पहले हेतुमे असिद्ध नामका हेत्वाभास दोष आता है। दूसरा हेतु कहा—एकत्र अवस्थान। अरे एकत्र अवस्थान क्या है ? वस्तुत तो दोनोमे सहज स्थिति है, स्वरूप है। स्वरूपके ये प्रकार है। और पर्यायदृष्टिसे ये भी एक साथ नही रह रहे याने उपयोगदृष्टिसे इनका एक जगह अवस्थान नही है। जब मतिज्ञानोपयोग है तब श्रुतज्ञानोपयोगका अवस्थान नहीं। जब श्रुतज्ञानोपयोग है तब मतिज्ञानोपयोगका स्थान नही। तीसरा हेतु दिया था कि इन दोनोमे विशेषता नही। मति और श्रुतज्ञान दोनोमे समानता है, लेकिन यह हेतु असिद्ध है। पर्यायदृष्टिसे समानता है ही नही। मति और श्रुतज्ञानको कैसे समान बोलते, इस विषयका अलगसे प्रकरण आयगा, पर सामान्यतया यह समझ लो कि भले ही मतिज्ञान, श्रुतज्ञान परोक्ष है और साथ ही इन दोनोका विषय समस्त द्रव्य है। जैसे बतलाते है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका निबन्ध असर्व पर्याय द्रव्योमे है, लेकिन फिर भी इनमे कितने भेद है ? श्रुतज्ञानका विषय तो उतना है जितना कि केवलज्ञानका विषय है। फर्क यह बताया है कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष जानता और स्पष्ट जानता, और श्रुतज्ञान परोक्षरूपसे सबको जानता, जैसे कि अगर ऐसा श्रुतज्ञानसे जान लिया कि सब अनेकान्तात्मक है सत् होनेसे तो यह बतलाओ कि इसमे कौनसी चीज छूट गई ? केवलज्ञानने भी सबको जाना और श्रुतज्ञानने इस रूपमे सबको जान लिया। अब भिन्न-भिन्न अलग-अलग व्यक्ति-व्यक्ति जाननेकी जरूरत ही नही है श्रुतज्ञानमे। उसने तो एक सामान्यरूपसे सब कुछ जान लिया और इसीलिए आप्त मीमासामे बताया है कि स्याद्वाद और केवलज्ञान इनमे साक्षात् और असाक्षात्कारका अन्तर है, पर सबको केवल जानता, सबको यह जानता है। श्रुतज्ञानने जान लिया कि काल अनादि अनन्त है, उसकी आदि ही नही, बोलो सारे कालको जान लिया कि नही ? अब देखो उसका फर्क यह श्रुत है परोक्षरूपमे। और मतिज्ञानका कितना विषय है ? जो सामने चीज हो, कुछ पर्यायरूप है वही विषय है। तो विशेषता है इन दोनोमे। सर्वथा समानता नही कह सकते। और इसके अतिरिक्त अगर मति और श्रुतमे कथञ्चित् एकत्व कहे तब तो ठीक है, मगर सर्वथा कहे तो ठीक नही है। सामान्यविवक्षामे तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमे ये तीन हेतु सही बन जाते है। इनमे साहचर्य है। वे एकमे रहते है। इनमे समानता है, पर विशेष दृष्टिसे देखा जाय तो इनमे अन्तर आता है, वह पर्यायको देखता है। तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमे कथञ्चित् एकत्व है, कथञ्चित् नानात्व है, सर्वथा एकत्व नही। इस तरह आत्मामे जो-जो कुछ बतावेंगे, सबमे कथञ्चित् एकत्व है। आत्माको छोडकर अलग आत्माकी चीज कहाँ बसती है ? पर जब भेद जानना है, विवरण समझना

है तो वहाँ विशेष जानना ही होगा।

मतिश्रुतमें अभेद सिद्ध करनेके लिये शकाकार द्वारा प्रस्तुत कारण कार्यभावत्व हेतु की विरुद्ध हेत्वाभासताका कथन—अब यहाँ शकाकार एक नई बात और रख रहा है। शकाकार कहता है कि हम तो ऐसा समझते हैं कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमे कार्य कारण भाव है ना। मतिज्ञान कारण है, श्रुतज्ञान कार्य है तब ही तो बताया गया मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है। तो इससे सिद्ध हो गया कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमे अभेद है। कार्य कारण भाव होनेसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमे एकता है, क्योकि कार्य कारण कोई न्यारी जगह रहते हैं क्या ? वह तो एक उपादानका उपादेय तत्त्व है। मगर उस उपादानको छोडकर कारण कही रहता हो, कार्य कही रहता हो तो उनमे नानापन सिद्ध करें। जब इनमे उपादान उपादेय भाव है, कारण कार्य भाव है तो इनमे एकता है। शकाकारकी इस शकाके समाधानमे कहते है कि तुम जो जो हेतु देते हो उन्ही हेतुवोसे भेद भी सिद्ध हो जाता है। तुम ही खुद कह रहे हो कि मतिज्ञान कारण है, श्रुतज्ञान कार्य है, लो भेद हो गया ना, क्योकि कारणत्व धर्मविशिष्ट चीज और कार्यत्व धर्मविशिष्ट चीज। अगर ये दोनो एक हो जायें तो कारण कार्य कहनेकी गुञ्जाइश ही कहाँ रही ? तो कारण कार्य भेद बताकर भी मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमे एकत्व सिद्ध नही कर सकते, क्योकि यह हेतु भी विरुद्धहेत्वाभास है, नानापनको सिद्ध करने वाला है। देखो बात बराबर चल रही है हम आपकी। भीतर क्या होता है, किस तरहसे हमारा ज्ञानपरिणमन चलता है, चर्चा उसकी कर रहे। और अपने पर ही बीती हुई बात समझमे न आये या समझना न चाहे तो यह बात एक व्यामोहकी है। भीतर दृष्टि दें तो सब समझमे आयगा। इन्द्रिय और मनसे जो हमने जाना वह है मतिज्ञान। जानते है ना, ऐसा रोज जानते है और तरहका जानना है कहाँ अभी ? ऐसा ही तो जाना करते है, और मतिज्ञानसे जाने हुए विषयमे कुछ और विशेष समझना, सो श्रुतज्ञान है। ये दोनो बातें हम आपके २४ घटे चल रही है। उसीके सम्बधमे यहाँ शका समाधान चल रहा है दार्शनिक विधिसे। यहाँ शकाकार यह बात रख रहा कि मति-श्रुत एकदम लगातार होते है, उनमे कारण-कार्य भाव है, इसलिए दोनो एक हैं, कुछ अलग वस्तुकी चीज नही है। उत्तर यह दिया जा रहा है कि पर्यायदृष्टिसे ही तो कार्यकारण भाव देखा जाता है। तो पर्यायदृष्टिसे ही उसका उत्तर समझना चाहिए। जब कारणकार्य भाव देखा तो इसमे ही भेद सिद्ध हो जाता है। उपादान उपादेय भाव या कारणकार्यभाव बताना कथञ्चित् भेदके बिना सम्भव नही है। यदि एक ही बात हो कि भेद नही है, अभेद है तो उसमे कारण कार्य क्या कहेगे ? एकको तो देख लो, इससे आगे अधिकार नही है। जितना प्रतिपादन होगा, कारण-कार्यभाव बताना आदि जो कुछ कहेगे वह भेदके बिना नही कह सकते। इसलिए कारणकार्य

भावका हेतु देकर मतिज्ञान और श्रुतज्ञानकी एकता सिद्ध करना यह विरुद्ध पडता है। यह हेतुविरुद्ध हेत्वाभास है। हाँ कथञ्चित् एकता सिद्ध करेंगे तो इसमे हमे कोई अनिष्ट बात नही। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान एक ही आत्माकी पर्याय है, पूर्वापर होती है, उपादान उपादेय हैं, कथञ्चित् एक है, मगर उपादान उपादेय भाव बताना, कारणकार्य भाव बताना यह सर्वथा एकमे सम्भव नही है। इसीसे ही भेद सिद्ध हो रहा।

विषयाभेद हेतु बताकर मति श्रुतमे सर्वथा अभेद सिद्ध करनेके प्रयासकी असफलता—सामान्यतया मतिश्रुत ज्ञानके बारेमे एकत्वविषयक चर्चा समाधान सुनकर एक प्रकरण अब और लीजिए। शकाकार कहता है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विषय एक है। और जब विषय एक है तो उनमे भेद न होना चाहिए। एक ही मान लो। मोटे रूपसे तो यो समझो कि मतिज्ञानने जिस बातको जाना, श्रुतज्ञानने भी उसे जाना, पर विकार रूपमे यो समझ लो कि आगे सूत्र आयगा—"मतिश्रुतयोर्निबधो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।" मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विषय नियम कुछ पर्याययुक्त समस्त द्रव्य है। लो यह ही तो मतिज्ञानका विषय है और यह ही श्रुतज्ञानका विषय है। अब भेदकी क्या गुजाइश रही ? एक ही मान लो, और जब एक मान लोगे तो इसमे ५ बातें न कहनी चाहिएँ, एक ही कहना चाहिए, क्योकि मति श्रुत तो एक हो गए, पुनरुक्त दोष आ जायगा दो शब्द बोलनेसे। इस शकाके समाधानमे सोचिये कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका सामान्यसे ऐसा विषय बताया है, इतनेपर भी इसके विषयमे कितने भेद है ? श्रुतज्ञान तो केवलज्ञानकी तरह सर्व तत्त्वार्थोको ग्रहण करने वाला है। फर्क है तो प्रत्यक्ष परोक्षका है, पर मतिज्ञानका ऐसा विषय तो नही। अगर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान—इन दोनोको एकसा विषय मान लेंगे तो अर्थ यह हुआ कि मतिज्ञान भी केवलज्ञानवत् सबको जानने वाला हो गया। ऐसा तो नही है। उसकी तो सीमा बनी हुई है, और स्पष्ट कहा गया है—"स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।" स्याद्वाद और केवलज्ञान सर्वतत्त्वोका प्रकाशन करने वाला है। अच्छा अनादि अनन्त किसने समझाया और उसमे झूठ क्या ? यह सब श्रुतज्ञानकी महिमा है। लोक और अलोकको किसने समझाया ? अलोकाकाश अपरिमित है और जब श्रुतज्ञानसे उसका ध्यान बने तो अपने आप समझमे आ रहा है कि हाँ उसका कही अन्त नही हो सकता। अलोकाकाशका कही अन्त हो तो आयगा अलोकाकाशके बात ? कुछ तो बताना चाहिए। कोई ठोस चीज आयगी क्या ? अरे ठोस जहाँ है वहाँ भी आकाश है, और ठोस वहाँ है ही नही। अलोकाकाश है तो आप विकारसे ही समझ जावोगे कि वह अनन्त है। तो यह बात कहना कि इन दोनोके विषयमे अभेद है, इसलिए मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमे एकता है, वह ठीक नही है। श्रुतज्ञानको बताया है कि वह सर्व व्यञ्जन पर्याय समाक्रान्त सर्वद्रव्यका ग्राही है, और यह भी कथन है कि वह केवलज्ञानकी तरह समस्त तत्त्वार्थोका ग्रहण करने वाला है।

विशालसे विशाल मतिज्ञानसे भी श्रुतज्ञानकी विशालताका प्रतिपादन—देखो मतिज्ञान चाहे कितना ही बडा हो, बडे विशाल ज्ञान वाला मतिज्ञान है। जैसे तर्क, अनुमान, प्रत्यभिज्ञान आदि ये भी तो मतिज्ञान ही है। ५ ज्ञानोमे जो मतिज्ञान कहा है उसका ही अनर्थान्तर है मति, स्मृति, सज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध आदि तो तर्कमे कितना विचार चलता है ? देखो सामने किसी पर्वतमे धुवाँ देखा तो अनुमान बनाते है कि यहाँ अग्नि है धुवाँ होनेसे। अब देखो तर्क ज्ञान हुआ तब ही तो अनुमान हुआ और तर्कमे कितना जाना ? जहाँ-जहाँ धुवाँ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। जहाँ अग्नि नही होती है वहाँ धुवाँ नही होता है। अब बोलो जहा-जहा और वहाँ-वहामे कितनी समझ डाल दिया ? क्या अपने घरका ही रसोईघर देखा ? देखो तर्कका कितना विषय है ? क्या व्याप्ति लगाया, कितना क्षेत्र बढ गया, कितना विशाल ज्ञान हुआ, ऐसा तर्क आदि भी श्रुतज्ञानके बराबर नही हो सकता, क्योकि श्रुतज्ञान तो अनन्त व्यञ्जन पर्यायोसे समक्रान्त सर्वद्रव्योको जानता है, क्योकि सभी द्रव्योमे अनन्त पर्यायें है। सभीमे प्रत्येकमे ऐसा बोध करते हुए सर्वद्रव्योको श्रुतज्ञान परोक्ष रूपसे जाने तो यह इसका महान् विषय हुआ ना ? सर्व अनन्त व्यञ्जन पर्यायें, व्यञ्जन पर्यायमे सभी पर्याय ले लो। कोई व्यञ्जन पर्याय द्रव्य व्यञ्जन पर्याय सर्व आकार वाले, सर्व भावो वाले पर्यायोसे समन्वित सारे द्रव्योको श्रुतने जाना, ऐसा मति नही जानता। मतिज्ञान तो नियत विषयको जानता है। कभी थोडा अन्तर आयगा तो जरासा, जैसे बाजारमे आ रहे और न बडे, न छोटे नीबू आपको कही दिख गए तो उन्हे देखकर आपके गलेमे खटास उतर आयी। तो भाई चखा तो है नही, और खट्टेका ज्ञान कैसे हो गया ? तो आप जानते है इसे बोलते है अनुक्तज्ञान। जिस इन्द्रियका जो विषय नियत है उस इन्द्रियसे जानकर दूसरे इन्द्रियके विषयका बोध हो जाता है। यह क्वचित् होता है ऐसा, पर अपने नियतपनेको नही छोड सकते, और ऐसा हो तो उसमे कुछ विचार भी आपका ज्ञान सस्कार भी साथ है सो देखो ऐसे इसका बोध होता है। तो ग्रन्थोमे लिखा है कि असर्व पर्याय द्रव्योको मति श्रुत जानता तो इतने मात्रसे एक बात मत समझ लो। उनमे फर्क तो होता ही है भाई ! घोडेकी भी पूछ, गधेकी भी पूछ, अब पूछ पूंछ होनेसे दोनो एक हो जायेंगे क्या ? अनेक जगह आप देख लो। कई बात सामान्यरूपसे एकपनेके रूपसे बोला जाता है, पर क्या विशेषरूपसे भी उन्हे एक समझ लोगे ? तो विषयके भेदसे भी मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अभेद सिद्ध होते है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमे एकता सिद्ध नही हो सकती। एक विषय है, मगर वहा भी भेद पडा हुआ है, सर्वथा अभेद नही। एक ही कम्पनीमे मैनेजर भी काम करता है और कोई एक मजदूर भी काम करता है। कम्पनी एक है, विषय एक है, उसी कामको बढाना है। तो सामान्यतया तो एक कह दिया जाता, यह भी वही काम करता, यह भी वही काम करता,

यो समानता तो हो गई, पर क्या एकता आ जायगी ? उनमे भेद है । तो सामान्यरूपमे मतिज्ञान श्रुतज्ञानका विषय एक बताकर भी सर्वथा एक नही। उनमे परस्पर बहुत भेद है । तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान बराबर भिन्न-भिन्न है, इसलिए उमास्वामी महाराजने सूत्रमे जो ५ ज्ञानोका निर्देश किया है वह बिल्कुल सगत है । चर्चा चल रही है इस बातकी कि इससे अधिक क्यो नही कहा, इससे कम क्यो नही कहा ? ५ ही क्यो बताया ? ज्यादा तो कुछ मिलेगा नही । कोईसा भी ज्ञान बताओ, ५ मे शामिल हो जायेंगे, और कम हो नही सकते, उसकी यह चर्चा चल रही है ।

इन्द्रियातीन्द्रियनिमित्तत्वकी अविशेषता दिखाकर मति श्रुतमे सर्वथा अभेद सिद्ध करने का शकाकारका विफल प्रयास—अब शकाकार कहता है कि चलो मति श्रुतज्ञान साहचर्यसे एक नही बना । एकत्व अवस्थानसे एक नही बना, अविशेषसे एक नही बनता और कार्य-कारणभावसे एक नही बना और विषय एक है, इस तरह भी एक नही बना तो अब सुनो हमारा एक अन्तिम हेतु । ये दोनो इन्द्रिय और अनिन्द्रियके आधीन है । मतिज्ञान भी इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होता है और श्रुतज्ञान भी । तो जब उनका निमित्तरूप एक है इसलिए दोनो एक हो जायेंगे । इनको न्यारा-न्यारा मत कहो । शङ्काकी बात तो स्पष्ट है ना । याने मतिज्ञान उत्पन्न होता है तो वह भी इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होता है । बताया ही है—तदिन्द्रियातीन्द्रियनिमित्त । और वह श्रुतज्ञान भी इन्द्रिय और अतीन्द्रियके निमित्तसे होता है । ससारके सब जीवोमे श्रुतज्ञान बताया ना, और दो इन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, एकेन्द्रिय इनके तो इन्द्रिय ही है, मन तो है नही और श्रुतज्ञान सबके कहा । देखो प्रसगमे ध्यान देनेकी बात एक यह है कि प्रकरण चल रहा है सम्यक् श्रुतज्ञानका । यह श्रुतज्ञान मन वालेके होता और सामान्यतया श्रुतज्ञान सब छद्मस्थ ससारी जीवोके होता, इसमे विरोध नही है, पर श्रुतज्ञान श्रुतज्ञानमे ही फर्क है । सम्यग्ज्ञान श्रुतज्ञान इन्द्रियसे नही होता । वह मनसे ही होता है । तो यहाँ प्रकरण चल रहा है सम्यग्यज्ञानका । याने जिन प्रमाण और नयोसे तत्त्वार्थका अधि-गम होता है उन प्रमाण और नयोका विश्लेषण चल रहा है । तो इस प्रथम अध्यायमे जितनी प्रमाणकी बात कही जाय वह सब सच है । और जितने नयोका निर्देश किया जाय वह सब सच है । सत्य उपाय द्वारा सत्यका ज्ञान कराया जा रहा है, क्योकि सकल्प है ऐसा कि तत्त्वार्थका अधिगम प्रमाण और नयोसे सही होता है उसी प्रमाणके विवरणमे यह सूत्र है, श्रुत प्रमाण है । तो यह श्रुतज्ञान इन्द्रियकी अपेक्षा नही रखता । मतिज्ञान तो इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है । किन्तु श्रुतज्ञान इन्द्रियकी अपेक्षा नही रखता । वह मन विचार-पूर्वक होता है, अतएव निमित्तकी एकता सिद्ध नही होती । और भी बात देखो, कोई अगर ऐसा कहे कि मतिज्ञानपूर्वक तो श्रुतज्ञान होता और मतिज्ञान इन्द्रिय और मनसे होता और

मतिपूर्वक श्रुत होता तो इन्द्रिय निमित्तत्व तो हो ही गया। हाँ हाँ हो गया। मगर साक्षात् नही हुआ। साक्षात् तो इन्द्रियकी अपेक्षा नही रख रहा। पहली परम्परासे अगर इन्द्रिय सापेक्ष कहो श्रुतज्ञानको तो इसमे कोई बाधा नही। तब देखो इन्द्रिय सापेक्ष भी कहा तो ये दो भेद तो डालने ही पडेगे। मतिज्ञान तो साक्षात् इन्द्रियापेक्ष है और श्रुतज्ञान असाक्षात् इन्द्रियापेक्षी है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको एक कैसे कहा जा रहा ?

ईहादिज्ञान और श्रुतज्ञानमे अनिन्द्रियनिमित्तत्व बताकर भी मतिश्रुतमे अभेद सिद्ध करनेका दुराग्रह—शङ्काकार जिज्ञासु पुरुष वह होता है कि जहाँ तक शङ्का हो, सदेह हो, दम हो शक्ति हो, बराबर निपटारा करनेके लिए पूछता ही जाय। अब इस प्रसगमे शङ्काकार यह कहता है कि देखो मतिज्ञान ४ प्रकारका है—(१) अवग्रह, (२) ईहा, (३) अवाय और (४) धारणा। इनमे से अवग्रहकी बात तो छोड दो, मगर ईहा, अवाय, धारणा ये मनसे हुए और श्रुतज्ञान भी मनसे हुआ। यह विषय चल रहा है सम्यग्ज्ञानके प्रकरणका, यह बात ध्यानमे रखते हुए सब सुनना है। देखो इन चारका क्या मतलब ? सबके हो रहा है यह काम और खबर नही है कि हम क्या कर रहे ? कुछ ऐसा ढग बन रहा जैसे कि स्त्यानगृद्धि होती है। याने सोते हुए मे कही कोई काम कर आवे और वहासे आकर फिर सो जाय, उस किए हुए कामका पता ही उसे न रहे तो यह स्त्यानगृद्धि है। हमारी एक ऐसी विद्यार्थी अवस्थाकी घटना है कि हमसे एक दिन सुवह छात्र लोग कहने लगे कि तुम रातको करीब १२—१ बजे मन्दिरके द्वारके किवाड क्यो खटखटा रहे थे ? हमने कहा कि हम तो नही खटाखटा रहे थे। तो हो सकता है ऐसा कि हमारे छात्रावासके कमरे के पास ही तो मन्दिर था। हम रातको सोते हुएमे मन्दिरके द्वारपर पहुच गए होंगे और किवाड खटखटाया होगा, बादमे जाकर फिर सो गए होगे, उसका मुझे कुछ पता नही। तो कभी-कभी ऐसा हो जाता है। इसे कहते है स्त्यानगृद्धि। तो मानो जगतेमे भी ऐसे ही काम सारे कर रहे हम अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा करते रहते है, पर इनका पता नही है। कोई चीज देखकर प्रथम ही प्रथम जो आभास होता है वह अवग्रह है। अवग्रह इतना कमजोर ज्ञान है कि उसके बाद सशय भी सम्भव हो सकता है कि यह अमुक है कि अमुक। हालांकि सशय यहाँ नही है, मगर अवग्रहके बाद ऐसा कुछ समझने वाला ज्ञान होता है कि जिसमे यह समझ आती कि यह होना चाहिए। यह ही है ऐसा निर्धारण तो अवायमे है, मगर यह होना चाहिए, इस तरहका विचार ईहा में है। देखो ईहामे भी खोटा नही जाना। जो है उसे ही जाना। गलत नही जाना और अवायमे निश्चयसे जाना। और ईहामे सशय नही है, मगर उसके जानने की शैली इस प्रकार है कि यह यह होना चाहिए। दूसरी बात चित्तमे नही है। मगर इसके बाद जब अवधारण होता है कि यह है, यह अवाय हो गया। और जब धारणा हो गई

तो धारणा बन गई। बोलो होता है कि नही ऐसा। तो उनमेसे ईहा ज्ञान विचारपूर्वक होता है। तो ईहामे और श्रुतज्ञानमे तो अन्तर न रहा। शकाकार कह रहा कि अवग्रह को तो बोल दो, इन्द्रियसे भी होता, मनसे भी। ईहामे तो विचार चल रहा है। उसमे और श्रुतज्ञानमे अभेद है इसलिए एकत्व है। समाधान यह है कि इस रीतिसे भी उनमे एकता नही है, क्योकि ईहाकी अपेक्षा श्रुतज्ञान बहुज्ञानी है और इस विषयको आगे स्पष्ट करेंगे। समाधानमे सामान्यतया यह समझ लें कि ईहा तो एक विषयमे नियत विषयको ही ज्ञानमे ले रहा है और श्रुतज्ञानका विषय तो अनियत है। उसकी बराबरी ईहाज्ञान करेगा क्या ? जैसे कह देते ना ? कहाँ राम भगवान और कहाँ साधारण आदमी ? तो कहाँ तो श्रुतज्ञान महा विषय वाला और कहाँ ईहा जैसी छोटी चीज ? इस कारण मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमे एकत्व सिद्ध नही कर सकते। तो उमास्वामीने जो ५ ज्ञान बताया है वह बिल्कुल ठीक है और बहुत ही सगत है।

श्रवणनिमित्तकत्व हेतु देकर शंकाकार द्वारा मति श्रुतमे अभेद सिद्ध करनेका विफल प्रयास—"मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानिज्ञानम्।" इस सूत्रके प्रसगमे शकाकार कोशिश कर रहा है कि इतना बडा सूत्र न बनाना चाहिए, उसमेसे मति, श्रुत इन दो मे से एक कोई हटा लेना चाहिए। कारण यह है कि मति और श्रुत एक ही चीज है, अभेद है। इस शकाके प्रसगमे जो-जो हेतु आये थे उनका निराकरण किया। अब एक हेतु और दिया जा रहा है। शकाकार कहता है कि मति और श्रुतज्ञान तो एक ही चीज है, कारण कि मतिज्ञान भी श्रवण के निमित्तसे होता है और श्रुतज्ञान भी श्रवणके निमित्तसे होता है अर्थात् कर्णेन्द्रिय द्वारा मतिज्ञान भी बनता है और श्रुतमे तो नाम ही धरा है। उनका श्रवण तो श्रुतपद बताना ही है। तो इस तरह श्रवणनिमित्तक होनेसे इन दोनोमे एकता है। देखो शकाकार ऐसा हेतु दे रहा है कि जिन हेतुवोसे कुछ कुछ ठीक जचने लगे कि बात तो सही है, एक ही बात है। यह शकाकारका अन्तिम प्रयास है। सोचिये—समाधान यह है कि श्रुतज्ञान साक्षात् कर्णेन्द्रिय निमित्तक नही है, किन्तु श्रुतज्ञान एक तो मनोविचारपूर्वक चलता है। यह श्रुतज्ञान सम्यग्ज्ञानके प्रकरणमे है और सम्यग्ज्ञान कभी असज्ञी जीवके नही होता। उस श्रुतकी यह बात चल रही है। और रहा सामान्य श्रुत तो उसका यह प्रसग नही है। जिसको प्रमाण माना जा रहा है उस श्रुतज्ञानके बारेमे यह शका है। मति और श्रुत है एक श्रवणनिमित्तक होनेसे। मगर उत्तर यह सोचा जा रहा है कि तुम्हारा हेतु असिद्ध हेत्वाभास है, अर्थात् हेतु ही सिद्ध नही है। श्रुतज्ञान श्रवणनिमित्तक नही होता, क्योकि वह अनिन्द्रियवान है और अदृष्ट अर्थको जानता है और सजातीय विजातीय नाना अर्थोंको जानता है। इस श्रुतज्ञानको श्रवणनिमित्तक कैसे कहते ? उसका स्वभाव तो विलक्षण है।

श्रुतज्ञानको श्रवणनिमित्तकत्व माननेमे अन्य इन्द्रियज मतिपूर्वक श्रुतमें या अनिन्द्रियज श्रुतमें श्रुतज्ञानत्वकी असिद्धिका प्रसंग—अब दूसरी बात सोचो, यदि ऐसी ही हठ की जाय कि चूकि सुनकर ही तो अवधारण होता है, इस कारणसे श्रुतज्ञान कर्णेन्द्रिय निमित्तक है। ऐसा कहने वाले यह बतलायें, जो यह कहा जा रहा कि सुन करके ज्ञान दिया गया है श्रुतज्ञानमे, इसलिए श्रुतज्ञान श्रवणनिमित्तक है, श्रवण मायने सुनना। तो वे यह बतलायें कि सुननेके बाद जो श्रुतज्ञान बनता है तो उस शब्दका ही निर्णयरूप श्रुत बनता है या शब्दके वाच्यभूत अर्थके निर्णयरूप श्रुत बनता है। ध्यानसे सुननेकी बात है, कठिन नही है। सुन करके निश्चय होता है श्रुतज्ञानमे, ऐसा कहने वाले यह बतलाये कि सुन करके किसका निश्चय होता है ? जो शब्द बोला उस शब्दका निश्चय होता है या उस शब्दका वाच्यभूत जो अर्थ है उसका निश्चय होता है। अगर कहो कि सुन करके शब्दका निश्चय होता है तो यह बात तो मतिज्ञानमे ही हो जाती है, और कहो कि सुन करके अर्थका निश्चय होता है तो अब वह श्रवणनिमित्तक नही रहा। श्रवणनिमित्तक तो रहा मतिज्ञान और मतिज्ञानपूर्वक हुआ श्रुतज्ञान। कैसे श्रवणनिमित्तक कहकर मति और श्रुतमे अभेद सिद्ध नही होगा। दूसरी बात—थोडी देरको कुछ समय मान लो सुनकर जाने सो श्रुतज्ञान, तो इसके मायने यह हुआ कि जो इन्द्रियसे बने और मनसे बने। तो वह श्रुतज्ञान न रहा क्या ? केवल सुननेकी बातसे ही तो श्रुतज्ञान नही होता, स्पर्शनके बाद भी होता, रसके बाद भी होता। अधेरेमे जब कुछ दिखता नही है और टटोल रहे है और कोई चीज कोमल कोमलसी हाथमे आ गई तो निर्णय करते है कि यह तो मखमल है। अब स्पर्शनसे तो कोमल स्पर्श जाना, मगर उसके बाद यह मखमल है, यह अमुक चीज है, ऐसा जाना जाता है ना। देखो कडी कडी लगी यह तो हो गया मतिज्ञान। जान लिया यह घडी है, यह श्रुतज्ञान हो गया। तो कर्णेन्द्रियके बाद हो हो यह तो नियम न रहा, स्पर्शनके बाद भी हो गया, रसनाके बाद भी हो गया। अधेरेमे आम चूस रहे और बतलाया, यह तो और आमोसे अधिक रसीला है, यह तो बहुत बडा आम है, यह तो अमुक जातिका है। श्रुतज्ञान हो गया। तो रसनाइन्द्रियके प्रयोगके बाद भी तो श्रुतज्ञान होता है। सभी इन्द्रियोके बाद श्रुतज्ञान हो सकता। अगर श्रवणनिमित्तक श्रुतज्ञान है, ऐसा कहेगे तो बाकी श्रुतज्ञानको क्या कहेगे, बाकीके श्रुतज्ञानका विच्छेद हो जायगा। और देखो श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक भी होता है और श्रुतज्ञान श्रुतज्ञानपूर्वक भी होता है, उसका निमित्त इतनी दूर पड जाता है कि कितने ही श्रुतोके बाद श्रुत हो रहा। जैसे आँखोसे देखा, यह तो मतिज्ञान है और यह घडी है यह है श्रुतज्ञान और उसकी बनायी है, वहाँ मिलती है, ऐसे बनायी जाती है, हर जगह अलग-अलग एक-एक पुर्जेके कारखाने है, उन सबको जोडा जाना है, उनका उससे निर्माण होता है। अब देखो जितने श्रुत होते जा रहे है, वे सब श्रुत

पूर्वक होते जा रहे, इन्द्रियका काम नही। तो ऐसे ही जो श्रुत ही रहे वे कुछ न रहेंगे, इसलिए श्रवण निमित्तक हेतु बताकर मति और श्रुतज्ञानको एक कर देना और सूत्रको गलत बता देना यह सगत नही है।

श्रुत शब्दकी उपलक्षणार्थकतामे संगति—यदि ऐसा कहो कि वह तो एक उपलक्षणकी चीज है। सुन करके जाने सो श्रुत, इसे उपलक्षण कहा तो ठीक है। उपलक्षण उसे कहते कि कहे तो एक बात और समझ लें कई बात। जैसे कोई दही मथ रहा था और कोई काम ऐसा पडा कि मटकिया छोडकर दूर जाना पडा। तो बच्चेसे कहता—देखो दही देख लेना, कौवा न खा जाय। अब वह बच्चा देख रहा कि कौवा न खा जाय और अगर बिल्ली, कुत्ता वगैरह खा जायें तो क्या उन्हे वह बच्चा न भगायगा? अवश्य भगायगा। तो देखो कहा तो थोडा गया, मगर समझना चाहिए समग्र। इसी को कहते हैं उपलक्षण। तो अगर उपलक्षण से यह अर्थ बना दे—जो सुनता हो, जो जाने सो श्रुत, मायने सुनकर, देखकर, सूँघकर, विचारकर जो विशेष परिचय बनाया सो श्रुतज्ञान। तो कोई आपत्ति नही, फिर तो रास्ते पर आ गए। हाँ उपलक्षण किसलिए किया जाता कि प्रतिपत्तिका गौरव न होनेके लिए भारी शब्द न बोलना पडे। अब जैसे अग्रेजी शब्दोकी हिन्दी बनायी जाती है तो कई तो बहुत अच्छे बन जाते हैं। जैसे इंजीनियर, उसका शब्द है अभियंता, एक्ज्यूकिटिव याने अधिशासी। अब ऐसा चलते चलते ऐसी बात आयी कि चाय, इसकी भी जरा हिन्दी बना दो। कितनी जल्दी बोलते चाय। अब हिंदी बनाने बैठे—दुग्धशर्करामिश्रितसतप्त विशिष्टपत्रतोय मायने चाय। अब भला बताओ कोई गाडीसे उतरकर चाय लेने जाय और वह उतना बडा शब्द बोले, फिर चाय ले तो इतनी देरमे तो कहो गाडी छूट जाय। तो शब्द होता है किसलिए कि जानकारी हो जाय। शब्दोकी पूछा-पाछी नही की जाती अधिक। शब्दोसे अर्थके आशयका बोध होता है। शब्द पार न करेंगे। पार तो ज्ञान करेगा और उस ज्ञानको समझानेके लिए शब्द माध्यम हैं। तो इसी कारण यह उपलक्षणकी बात चला करती है। यदि उपलक्षणसे श्रुतको ऐसा बोल दे तो सगत बैठ जायगा, मगर हठ बनाकर कि नही, श्रुतमे तो जब श्रुत धातुका शब्द दिया है तो हम उस श्रुतका ही अर्थ लगायेंगे—सुनना। श्रुत्वावधारण सो ही श्रुत। ऐसी बात नही बनती। तो इस तरह श्रुतज्ञानमे व मतिज्ञानमे अभेदसिद्ध नही है। सामान्यतया अभेद है और विशेषदृष्टिसे भेद है। तब यह निर्णय रखें कि जैसे श्रुतज्ञानसे अवधि, मन:पर्यय केवल भिन्न पर्याय है इसी प्रकार मतिज्ञान भी श्रुतज्ञानसे भिन्न पर्याय है। इसी प्रकार मतिज्ञान भी श्रुतज्ञानसे भिन्न पर्याय है। भेद जाना जाता है स्वलक्षणसे।

मूलमें द्रव्यदृष्टि व पर्यायदृष्टि द्वारा अखंड स्वभाव व अखंड पर्यायकी सूचना—देखिये यह तो आचार्यसतो की करुणा है और मूलमे देखो तो वस्तुमे एक तो है स्वभाव और दूसरा

बात है पर्याय। स्वभाव भी अभेद है और पर्याय भी। जिस क्षण पदार्थमें जो पर्याय है उस समय वह पर्याय अखण्ड है। उनमे भेद डालना केवल समझानेके लिए है कि यह ज्ञान गुणकी पर्याय, यह दर्शनगुणकी पर्याय, यह अमुक गुणकी पर्याय। जैसा स्वभाव है वैसी ही पर्याय है। जैसे स्वभावको मना नही किया जा सकता वैसे ही पर्यायको मना नही की जा सकता। ये वस्तुकी दो बातें अकाट्य है। इतना तो हम सोच सकते है कि स्वभावमे भेददृष्टि करके गुणकी सिद्धि की। पर अखड पर्याय माननेमे हम ऐसी कोई भेददृष्टिकी बात नही सोच सकते जिससे कि गुणकी तरह नानापन बन सके। हाँ, एक अखण्ड पर्यायमे, अनेक पर्याय माननेमे वहाँ गुणकी तरह भेददृष्टि जगती है। जैसे स्वभावको खण्डित करके गुणके रूपमे पेश किया जाता है इसी तरह प्रति समयकी अखण्ड पर्यायका खण्डन करके यह अमुक गुणकी पर्याय अमुक गुणकी पर्याय यो खण्ड हो जाते है। वस्तुके दो अश है—(१) स्वभाव और (२) पर्याय। अब इनमे जो स्वभावका एकांत करते हैं और पर्यायको असत्य कहते है उनका नाम है नित्यत्वैकातवादी ब्रह्माद्वैतवादी आदि। और जो पर्यायका एकात करते वे है क्षणिकवादी बौद्ध। अब कभी-कभी ऐसा हो जाता कि जब दार्शनिक क्षेत्रका परिचय नही होता तो बात बोलते जाते और खुश होते जाते और यह पता नही पडता कि इसमे कौनसा मत आ गया, कौनसा दर्शन है? तो स्याद्वाद सबकी गुत्थी सुलझाता है। अब यह बात तो प्रयोजनकी है कि हम पर्यायकी दृष्टि न रखें। जो क्षणिक है, मिट जाता है उसकी ही हम दृष्टि रखें, लक्ष्य रखें। उससे चिपटे रहे तो हमारा सुधार न होगा। हमको गैल मिलेगी, सुधार होगा, मग्नता होगी तो स्वभावदृष्टि करनेसे होगी। तब पर्यायदृष्टि हमे अप्रयोजनवान् हुई और द्रव्यदृष्टि प्रयोजनवान् हुई। और देखो जितना कथन है आगममे वह इन दो नयोके आधारपर है और इन दो का पर्यायान्तर है—अभेद और भेद। कभी दो बात कही जायें तो उनकी आधारभूत दृष्टि ये दो जरूर लगानी हैं। द्रव्यदृष्टिसे यह है और पर्यायदृष्टिसे यह है। अब जैसे क्षणिकवादी कहते हैं कि क्षण-क्षणमे नया-नया जीव होता है, उसके पहले जीवसे कुछ मतलब नही। सत्ता तो उसकी भिन्न है। अच्छा और यह ही बात जैन शासन भी कहता कि प्रति समय की अवस्थाके भेदसे वे सब भिन्न-भिन्न हैं। मगर यह द्रव्यदृष्टि आशयमे साथ लगी है, पर्याय दृष्टिसे तो ऐसा है, पर द्रव्यदृष्टिसे अन्वित है, सतानरूप है। तो जब जिस दृष्टिका प्रयोजन हो उस दृष्टिसे बात करें, मगर उसके प्रतिपक्ष जो दृष्टि है उसको असत्य कहकर आगे न बढो, वह है मगर हम बात इसकी कर रहे है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके एकत्व व नानात्वका उपसहारात्मक कथन—अब बतलाओ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान एक हैं कि भिन्न-भिन्न? जिस दृष्टिसे लाभ मिले उसे मुख्य करो अन्यको गौण कर दो। तो एक दृष्टिसे तो यह जचता है कि वह ऐसा एक है कि मति, श्रुत ही क्या?

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल—ये सब एक हैं और इससे गहरे चलें तो हमें ज्ञान भी नही दिखता। ज्ञान गुण है आत्माका। ज्ञानगुण देखा तो यह भेद मान लिया, दर्शन भी गुण है, और भी गुण हैं। उनमेसे एक ज्ञान भी गुण है। अच्छा और गहरे चलें तो हमे चेतन भी नही विकल्पमे आता कि यह चेतन है। तो क्या आता ? आनन्द भोग रहे। कौन सा आनन्द ? सहज, अलौकिक विलक्षण। वह प्रतिभास बिना होता नही, ऐसा प्रतिभास रूप पर्याय चलता है। देखो जिसको जो मीठी चीज लगती हो, चाहे रसगुल्ला रख लो सासारिक सुखके दृष्टान्तमे, उसे आप खा रहे हो तो जब तक आप गप्प-सप्प करेंगे तब तक उसका पूरा आनन्द आप नही पा सकते। इसमे इतना खोवा है, इतना मैदा है, इतना घी पडा है, इतनी शक्कर पडी है·· इस प्रकारकी चर्चा ही यदि आप करते रहे तो उसके खानेमे आपको उत्कृष्ट स्वाद न आयगा। और गप्प विकल्प न कर आँखें मीचकर दांतोसे चबाकर यो ही गुटकते जायें, उसका रस चूसते जायें तो वहां आपको उस रसगुल्लेका आनन्द मिलेगा। तो जब ससारसुखमे यह चर्चा आपके आनन्दको न्यून कर देती है तब धर्मचर्चा भी सहज आनन्दको न्यून कर देती। स्वभावदृष्टि करो, अन्य दृष्टि करके उसकी कुछ भी चर्चा मत करो, मनमे मत गुनगुनाओ कि मैं चित्स्वरूप हू, ज्ञानस्वभावरूप हू। यदि इतनी भी बात रही तो आत्माका सहज आनन्द नही लूट सकते। भोजन बनाया जाता खानेके लिए और भोजन बनाकर फिर खाये नही तो उसे क्या बोलते ? अविवेकी। तो धर्मचर्चा की जाती है निर्विकल्प होनेके लिए। तो चर्चाओका भोजन तो तैयार कर लिया और निर्विकल्पताके प्रयोगमे आना नही चहते, याने उसका लक्ष्य नही बनाते कि मेरेको तो ऐसा होना है। अगर ऐसा लक्ष्य हो कि मेरेको तो ऐसा होना है, तो वह पहली बातोकी वेपरवाही कर जायगा। मेरा कुछ नही है, द्रव्य गुण पर्यायदृष्टिमे नही। एक ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी ही उसके धुन बन जाती है। तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमे अभेद है सामान्यदृष्टिसे, अभेददृष्टिसे। और भेद है पर्यायदृष्टिसे, विशेषदृष्टिसे। जैसे श्रुतज्ञानसे अवधिज्ञान भिन्न है ना ? भाई कैसे भिन्न बताया ? साधन भिन्न हैं, उसके लक्षण जुदे है, उसके प्रदेश जुदे है तो ऐसे ही तो श्रुतज्ञानका, मतिज्ञानका साधन जुदा है, स्वरूप जुदा है। उसे कहां एक अवस्था कहेगे ? तो जो सूत्र बताया गया है कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान, ये ५ ज्ञान हैं सो ठीक है, ये ५ पर्यायें है।

ज्ञानविशेषोकी सख्याका परिमित अवधारण—देखो अनेक दार्शनिकोंने और-और तरहसे प्रमाणके नाम पेश किए है, मगर उनमे कई ज्ञान तो छूट जाते है और कई ज्ञान पुनरुक्त हो जाते है। यह चर्चा आगेके सूत्रमे करेंगे। विषय यह लम्बा है कि कैसे अन्य दार्शनिक प्रमाण मानते हैं और वह सख्या कैसे अटपटी बन जाती है ? यहा ५ प्रमाण, ५ ज्ञान कहा, तो बिल्कुल सगत है। हम आप लोगोमे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान है। और जो विशेष क्षयोपशम

वाले है और विशुद्धि पाये हुए है उनके अवधिज्ञान होता है, और जो ऋद्धिधारी मुनीश्वर है उनके होता है मन पर्ययज्ञान । मन.पर्ययज्ञानका साधन दूसरा है, स्वरूप दूसरा है, लक्षण दूसरा है, पद्धति दूसरी है । और केवलज्ञान यह तो एक विलक्षण ही है । निरपेक्षज्ञान, जहाँ केवलज्ञान है वहाँ फिर किसी ज्ञानकी आवश्यकता नही लब्धि या आगे पीछे । जो केवली है सो प्रभु है । केवलज्ञानके बाद फिर दूसरा ज्ञान नही होता, वही चलता रहता है । इस तरह इस सूत्रमे यहा तक इन ५ पदोकी सार्थकता बतायी । अब इसके बाद इस सूत्रमे केवल दो विचारणीय प्रश्न रह गए । एक प्रस्ताव तो ऐसा कि जैसे कोई दार्शनिक कहते हैं कि जिस ज्ञानके द्वारा हम पदार्थ जानते हैं तो पदार्थ तो साफ ज्ञानमे आता है, स्पष्ट है, मगर जिस ज्ञानके द्वारा जानते वह ज्ञान परोक्ष है तो किसीको बोध नही होता । एक शंका यह आ रही । दूसरी शंका यह आयगी कि अरे कहाँ लगे फिर रहे ? ज्ञान तो अचेतन है, प्रकृतिका धर्म है । तो इन शकाओका वर्णन व निवारण अब आगे आयगा ।

करणभूत ज्ञानके अप्रत्यक्षत्वका मीमांसको द्वारा प्रस्ताव—"मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलानि ज्ञान" इस सूत्रमे ज्ञानसामान्यका सकेत है और ज्ञान विशेषणके नाम है । ये पाँचो ही ज्ञान हैं । ज्ञान किसे कहते है ? जो जाने सो ज्ञान । जिसके द्वारा जाना जाय सो ज्ञान, ऐसे ही ज्ञानके स्वरूपके सम्बंधमे अब यहाँ कुछ चर्चायें आ रही है । यह आत्मा जानता है, ज्ञानके ही द्वारा जानता है, पदार्थको जानता है और जानना होता है । इसमे आत्मा कर्ता हुआ, ज्ञानके द्वारा यह करण हुआ, पदार्थको यह कर्म हुआ और जानता है यह क्रिया हुई । इन चारोंके प्रकरणमे यहाँ मीमासक सिद्धान्तानुयायी यह बात रख रहे है कि देखो जिस पदार्थको जाना वह पदार्थ तो प्रत्यक्ष हो गया, स्पष्ट हो गया, खूब समझमे आ गया, मगर जिस ज्ञानके द्वारा जाना वह ज्ञान परोक्ष ही रहता है । जाननेमे पदार्थ आया, पर जिस ज्ञान के द्वारा जाना वह ज्ञान जाननेमे नही आता । जैसे बहुतसी बातें मिलती है । जैसे लोग दिनभर काम करते हैं, सूर्यको जो एक बार भी नही देखते, तो भले ही एक बार भी सूर्यको दिन भर नहीं देखते, फिर भी वे सब पदार्थोंको देख रहे है । यो जिसके द्वारा प्रकाशित हुआ पदार्थ उसे तो वे नहीं देख रहे और प्रकाशित पदार्थोंको देख रहे । तो इसी तरह जिस ज्ञानके द्वारा जानते है वह ज्ञान तो रहता है परोक्ष और जो पदार्थ जान लिया गया वह हो जाता है प्रत्यक्ष । इस तरह करण ज्ञान परोक्ष ही होता है, ऐसा मीमासकका सिद्धान्त है ।

मीमांसको द्वारा प्रस्तुत ज्ञानके अप्रत्यक्षत्वके प्रस्तावका स्पष्टीकरण—उक्त चर्चाके सम्बधमे यह जानना कि यहाँ दो प्रकारके मीमांसक होते है—भट्ट और प्रभाकर । भट्ट तो मानते हैं कि आत्मा प्रत्यक्ष होता है और पदार्थ प्रत्यक्ष होता है, पर ज्ञान प्रत्यक्ष नही होता और न फलज्ञान प्रत्यक्ष होता है, किन्तु प्रभाकर मानते है कि फलज्ञान प्रत्यक्ष होता और

पदार्थ प्रत्यक्ष होना । आत्मा और ज्ञान ये प्रत्यक्षमे नही आते । देखो, मीमासकोमे बाहरी बातें तो सब एक है—क्रिया, आचरण एक समान है और सिद्धातमे ऐसा भेद है । तो यहाँ मीमासकोंने क्या बात रखी कि ज्ञानके द्वारा हम पदार्थको जान जाते है । तो पदार्थ तो हमे साफ नजर आता है, पर ज्ञान नजर नही आता, ज्ञान स्पष्ट नही होता, ज्ञान परोक्ष रहता है । ज्ञान का जानना नही हुआ करता । पर ज्ञानके द्वारा पदार्थका जानना हुआ करता है । देखो यह बात ज्ञानके ज्ञानत्वके खिलाफ कही तो जा रही है, और प्राय· बहुतसे लोग सोच रहे होंगे कि बेचारा ठीक तो कह रहा, जब आँखें खोलते है तो पदार्थ एकदम दिख जाते और ज्ञानकी कौन खबर रखता है ?

ज्ञानको अप्रत्यक्षता माननेपर ज्ञेय पदार्थके भी अप्रत्यक्षत्वके नियमका प्रसङ्ग—अब यहाँ यथार्थता क्या है, सो समझिये—सीधा उत्तर यह है कि जिस ज्ञानके द्वारा पदार्थ जाना, यदि उस ज्ञानका ज्ञान नही है तो फिर पदार्थका भी ज्ञान नही हो सक्ता । भले ही कोई इस ओर उपयोग न दे और सीधा मान ले कि प्रत्यक्षपना होता है पदार्थका । ज्ञानका प्रत्यक्षपना नही होता । जैनसिद्धातमे जो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, परोक्ष ज्ञान कहे है सो पदार्थको जानने के लिए परोक्ष हैं, मगर खुद खुदके लिए प्रत्यक्ष है । और यहा यह बात कह रहे हैं मीमासक कि पदार्थके जाननेकी जहाँ तक बात है वहा तक तो प्रत्यक्ष है और जहाँ खुद ज्ञानको जानने की बात है, वहा परोक्ष है । बात क्या चल रही है कि जिस ज्ञानके द्वारा हम जानते हैं यह घडी है तो घडी है, इसका भी स्पष्ट ज्ञान होता, इसे बोलते है एकदेशविशद । और जिस ज्ञान के द्वारा जाना वह ज्ञान हमारे अपने आपमे तो स्पष्ट है–ज्ञानके द्वारा जाना । किन्तु मीमासक का यहा यह कथन है कि ज्ञान तो स्पष्ट नही होता, किन्तु पदार्थ स्पष्ट हो जाता है, ऐसा कहने वाले मीमासक स्वय अपने आप अपने पैरपर कुल्हाडी मारने जैसी बात कर रहे हैं, सो कैसे ? पहली बात तो यह है कि इसके लिए अनुमान या युक्ति क्या देना ? सभी लोग जानते है अपने-अपने आत्मामे कि मेरेमे ज्ञान है । यह ज्ञान इन्द्रियो द्वारा नही जाना जाता । इन्द्रियो द्वारा बाह्य पदार्थ जाने जाते हैं । ज्ञान तो खुदको जान लेता है । जैसे किसी कमरेमे कोई आदमी खडा है और उस कमरेमे खिडकियाँ हैं तो बाहरकी चीजोके जाननेके लिए खिडकियोका सहारा लेना होगा, पर खुदको जाननेके लिए क्या खिडकियोकी जरूरत है ? और खुदको तो स्वय जान ही रहा है, यदि बाहरकी चीजें जाने तो खिडकियो द्वारा जाने । इसी तरह बाहरी पदार्थोंको जाने तो यहाँ इन्द्रिय और मन व इन्द्रियके निमित्तसे जाने, पर खुदको जाननेके लिए इन्द्रिय मनकी खिडकियोकी जरूरत नही होती । चाहे मतिज्ञान हो, चाहे श्रुतज्ञान हो । ये परोक्ष कहलाते हैं । इस कारण कि ये उत्पत्तिमे पराधीन हैं याने इन्द्रिय और अनिन्द्रियका निमित्त पाकर होते हैं इसलिए परोक्ष हैं और इसी कारण पदार्थका स्पष्ट बोध भी नही होता,

पर ज्ञान खुदको जाने इसके लिए परोक्षता नही है। यह स्वयं प्रत्यक्ष आत्मा है, और ज्ञान भी प्रत्यक्ष है। तो जैसे हम अपने बारेमे परख लेते है कि मैने और ज्ञान द्वारा जाना ये दोनो प्रत्यक्ष है याने सबको स्वसंवेद्य है, पत्यक्ष आखोसे देखनेका नाम नही, किन्तु समझमे आया स्पष्ट उसका नाम है प्रत्यक्ष। प्रत्येक आत्मा जानता मै मैं, मैं आया, मै हू, इसको मैंने किया। तो उस मैं का अनुभव किसी न किसी तरह सबको हो रहा। चाहे अन्यरूपमे अनुभव करे, चाहे अह रूपसे अनुभव करे।

ज्ञानकी अवेद्यता होनेपर सुख दुःख आदिके अनुभवकी अशक्यता—अहका अनुभव यदि नही है तो दुःख भी नही हो सकता। अहका अनुभव नही है तो न सुख हो सकता और न आनन्द ही हो सकता। दुःख, सुख, आनन्द इनमे अन्तर है। दु:ख तो कहलाता है वह जो इन्द्रियको सुहावना न लगे, ख मायने इन्द्रिय, दु मायने असुहावना। जैसे दुर्जन मायने खोटे जन, मायने असुहावने जन। ऐसे ही दुःख मायने जो इन्द्रियोको असुहावना लगे। और जो इन्द्रियको सुहावना लगे वह है सुख और आनद जहाँ आकुलता नही है उसे कहते हैं आनन्द। आनन्द है आनन्द गुणकी स्वभाव पर्याय और दु:ख सुख हैं आनन्दगुणकी विभाव पर्याय। दुःखमे भी आकुलता, सुखमे भी आकुलता और दुःखकी अपेक्षा सुखमे इतनी विकट आकुलता रहती है कि उस आकुलतापूर्वक सुख भोगने वाले लोग लोगोकी निगाहमे पागल और बेवकूफ नजर आने लगते हैं, इतनी आकुलता रहती है और ऐसी आकुलतासे सुख भोगते है। तो कोई आनन्द पाये तो अहके अनुभव बिना नही पा सकता, कोई दुःख पाये तो अहके अनुभव बिना नही पा सकता और कोई सुख पाये तो वह भी अहंका अनुभव किए बिना नही पा सकता। जो अहका अनुभव अहमे अहके स्वरूपरूप कर रहा है उसे तो आनन्द मिलता है और जो अहका अनुभध पर्यायमे कर रहा है उसे दुःख सुख मिलता है। तो अहं का ज्ञान सबको है। तो खुदके लिए तो सबने समझ लिया कि मैं आत्मा प्रत्यक्ष हू और मेरे मे जो ज्ञान होता है जिसके द्वारा जानता हू वह भी प्रत्यक्ष है। ज्ञान और आत्मा जुदे तो नही हैं, किन्तु एक ही पदार्थमे कर्ता करणका भेद किया गया है और जैसे हमारा ज्ञान प्रत्यक्ष है तो अनुमानसे हम जानते हैं कि सबके लिए सबका ज्ञान उनको प्रत्यक्ष हो रहा है। जैसे कोई चीज मीठी लगती है ना, तो दूसरेके बारेमे भी ख्याल आता है कि यह ऐसे ही मीठी लगती होगी। कभी कोई त्यागी भोजन करता हो और वह भूल जाय कि यह चीज इसके साथ न खाना चाहिए, इसके साथ खाना चाहिए तो श्रावक झट बता देते कि महाराज इसको इसके साथ मिलाकर खावो। उनके चित्तमे ऐसा पडा हुआ है कि इसके खानेसे हमे मीठा लगता है ना, तो इन्हे भी मीठा लगेगा। तो सभी बातोका जैसे अपने आपमे स्पष्ट है ज्ञान, तो समझें कि दूसरेमे भी दूसरेका ज्ञान दूसरेके लिए स्पष्ट रहा करता है।

ज्ञानकी अनिवारित स्वसंवेद्यता तथा सम्यक्त्व होनेपर ज्ञानमात्रमे अहप्रत्ययका अनुभव— जब अहंकार छा जाता है तब इस जीवको ऐसा लगता है कि जानदार तो बस हम ही है, समझदार तो बस हम ही है, और सत्ता वाले तो हम ही हैं, बाकीमे जान नही, ये सब होगे ऐसे ही अट्ट सट्ट। मानो सबके दो आँखें है सारी दुनियामे, जिनमे डेढ आँखें तो हमारे पास है बाकी बची आधी आँख सारी दुनियाके पास है, इस प्रकारका अहकार करते हैं। अहकारकी मुद्रा ही ऐसी है। इसी प्रकार जब अहकार छाया रहता है तो वहा प्रभुताके दर्शन नही होते। जो ज्ञानी विशेष हैं वे तो बालकोकी तरह सरल होते है। बालकोमे घमड कम पाया जाता। बालकोमे सरलता पायी जाती है। उनको क्रोध क्षणिक रहता है, उनमे मायाचार नही रहता। कुछ लोभकी भी कमी रहती। कोई चीज पासमे हुई झट किसीको दे दिया। देखिये यह कोई खास बात नही कह रहे, एक अदाजा कह रहे। कही ऐसा नही है कि बालक तो मद कषाय वाले हो और जवान तेज कषाय वाले। पर एक प्रवृत्तिके रूपसे उदाहरण दे रहे। देख लो—बालक लोग आपसमे खेलते रहते है। उनमे परस्परमे मेल है। क्या आप बता सकते है कि उनका खेल बन्द कब होता ? अरे उनका खेल तभी बन्द होगा जब कि उनमे लडाई हो जाय। पर वह लडाई भी कैसी कि घर तक गये, कुछ पानी पीकर आये कि फिर एकमेक होकर खेलने लगे। तो वे लडके लोग प्रायः कोई बात मनमे नही धरते। बालक लोग प्रकृत्या ही सरल होते हैं। तभी तो मुनिजनोको बालक सदृश कहा। विकारप्रवृत्तिके प्रसगमे ये बालक सदृश होते हैं। तो जैसे हम समझते है अपने आपके लिए वैसा ही सबके लिए समझें, सबका आदर करे। अहकार इस जीवनको बिल्कुल बरबाद करने वाली बात है, और देखो मिथ्यात्वका सम्बन्ध विशेष अहकारके रूपमे बताते हैं। जहाँ अहकार है वहाँ निर्मोहता कहाँ ? गर्वमे स्वरूपकी सुध कहाँ ? क्रोधमे तो थोडी याद भी रहती है। लोभमे भी थोडी याद भी रहती है। प्रयोगसे समझ लो, अनुभवसे समझ लो। जब यह बुद्धि रहती है कि ये सब तुच्छ है और मैं इनमे खास हू तो उस समय उसे आत्माकी सुध है क्या ? अरे जैसे हम वैसे सब। हममे भी ज्ञान, सबमे भी ज्ञान। हमारे स्वरूपमे निरपराधता, सबके स्वरूपमे निरपराधता। तो जैसे मेरेको ज्ञान प्रत्यक्ष है ऐसे ही ससारके सभी जीवोको ज्ञान उनके लिए प्रत्यक्ष है। तो यह ही प्रत्यक्षपना परोक्षकी कल्पनाको दूर कर देता है। कोई भी ज्ञान परोक्ष नही होता अपने आपके सम्वेदनके लिए। प्रत्यक्ष और परोक्ष के जो भेद है ज्ञानमे ये बाह्य अर्थकी अपेक्षाके भेद है, स्वयकी अपेक्षासे ये भेद नही हैं। जो जितना है वह उतना प्रत्यक्ष करता है अपनेको। इस विषयमे दार्शनिक शास्त्रमें विशेष विवरण चलता है। हां पहिला दोष तो यह आया कि प्रत्यक्षसे ही विरुद्ध है। जो लोग कहते है कि करण ज्ञान परोक्ष होता है, जिस ज्ञानसे हम जानते वहाँ वस्तु तो प्रत्यक्ष है, और यह ज्ञान

हमे नही मालूम । यह प्रत्यक्ष नही, इसकी खबर नही सो बात नही । वहाँ ज्ञानकी पहले खबर है तब पदार्थको हमने जान पाया । कोई आदमी दिन भर काम करता है और ऊपर सिर भी न उठाये तो क्या उसे ज्ञान नहीं है कि सूर्य है तब यह उजेला है । सबको अपना अपना ज्ञान प्रत्यक्ष होता है ।

ज्ञानको स्वयमे अत्यन्त परोक्ष माननेपर प्रमाताओंका अनियम—ज्ञानकी स्वयमे परोक्षताके एकान्तमे दूसरा दोष देखो । यदि ऐसा माना जाय कि जिस ज्ञानके द्वारा पदार्थको जानते है तो पदार्थ तो है प्रत्यक्ष स्पष्ट और वह ज्ञान है परोक्ष, जिस ज्ञानके द्वारा हम जानते हैं । परोक्ष मायने क्या ? जिसकी समझ नही, स्पष्ट समझ नही तो मेरा ज्ञान मेरे लिए परोक्ष है तो अब उसका इससे कोई सम्बध तो न रहा । अब यह परोक्ष ज्ञान अगर इस मन्दिरकी चीजोको जान लेता तो दुनियाभरकी, बम्बई, कलकत्ता वगैरामे रहने वाले और लोग इस ही ज्ञानसे क्यो नही जान जाते ? जैसे वह ज्ञान हमारे लिए दूर पडा वैसे ही सबके लिए दूर है । अगर परोक्ष यह सब बातें प्रत्यक्ष बनें तो इसी परोक्ष ज्ञानसे सबको ये बाते प्रत्यक्ष हो जानी चाहिएँ । देखो प्रारम्भसे सुनो–जब हम पदार्थको जानते है तो इतनी मुद्रा बनती है । मैं ज्ञान के द्वारा अमुक चीजको जान रहा हू, ये चार बातें हुईं । तो देखो "मैं" यह भी हमारे ज्ञानमे है, "ज्ञानके द्वारा" यह भी हमारे ज्ञानमे है और चीजको जानता वह भी हमारे ज्ञानमे है, और जो जानना हो रहा वह भी समझमे है । चारो चीजे समझमे रहती है । मगर कोई लोग कहते है कि पदार्थ ही समझमे रहता, और तीन बातें समझमे नही रहती, कोई दो बातें समझमे नही । तो मोटी बात यह जान लें कि ज्ञान एक ऐसा प्रकाशक तत्त्व है कि खुद अगर प्रकाशमय नही है तो पदार्थ भी प्रकाशमे नही आता । जैसे दीपक अन्य पदार्थको तो प्रकाशित करे और खुद प्रकाशमय न हो, ऐसा कभी हो सकता क्या ? अगर ऐसा हो जाय तो कोई दीपकको उठानेके लिए जाय तो उसे दूसरा दीपक ले जाना पडे, और दूसरे दीपकको उठाने जाय तो तीसरा दीपक ले जाना पडा । यो तो फिर दीपकोकी संख्याकी कोई हद न रहेगी । अनेक दीपक उठाने जाना पडेंगे । यो दीपकोकी फैक्टरी बनाये जानेमे सारा जीवन लग जायगा और पदार्थको जान न पावेंगे । ऐसे ही हम जिस ज्ञानके द्वारा जानते हैं वह ज्ञान अगर जाननेमे नही है और उस ज्ञानको जाननेके लिए हमारे दूसरा ज्ञान बनाना पडेगा और दूसरे ज्ञानको जाननेके लिए तीसरा ज्ञान बनाना पडेगा । तीसरे ज्ञानको जाननेके लिए चौथा ज्ञान बनावें । अगर यही रोजिगार करते रहे तो फिर सामने पडी चीजका ज्ञान तो कर ही न पायेंगे । तो यहाँ यह निश्चित है कि ज्ञान स्वय प्रत्यक्ष है और ऐसे ही स्पष्ट ज्ञानके द्वारा हम पदार्थको जानते है । देखो एक पद्धति है–जब आखें खोलकर पदार्थको जान रहे है तो हमें उस ज्ञानके जाननेकी मजबूती नही है । जरा आखें बन्द करके जब विचारते है तो हमारा

ज्ञान हमको बहुत स्पष्ट नजर आता । जिस ज्ञानके द्वारा वैसा हम जाना करते है । तो ज्ञान का स्वरूप बता रहे कि यह चकचकायमान है, स्वय प्रकाशमान है, स्वय एक जाननरूप है ज्ञान । उसे कह दिया परोक्ष । कैसा विचित्र यह दार्शनिक है ?

आत्माकी ज्ञानमयता होनेके कारण ज्ञान होनेकी सहज वृत्ति—एक पुरुष किसी आचार्यके पास गया और कहा महाराज मेरेको ज्ञान नही है, मेरेको ज्ञान दीजिए । मेरेमे ज्ञान नही है मेरेको ज्ञान दीजिये । तो उसने कहा कि तुम चले जावो अमुक नदीके अमुक घाटपर, वहाँ एक मगरमच्छ रहता है वह तुम्हे ज्ञान देगा । तो गया वह पुरुष मगरके पास, बोला—मेरेको ज्ञान नही है मुझे ज्ञान दीजिए, मेरेमे ज्ञान नही है मेरेको ज्ञान दीजिये तो वह मगर-मच्छ बोला—अच्छा भाई ठहरो हम तुम्हे ज्ञान देंगे । देखो—तुम्हारे पास लोटा डोर है, जावो पासके उस कुवेंसे एक लोटा पानी खीच लावो, पहले हम अपनी प्यास बुझा लें, बाद मे तुम्हे ज्ञान देंगे । तो वह पुरुष बोला—अरे मुझे तो गुरु महाराजने भेजा, तो वह भी बेवकूफ मालूम होते और तुम्हे ज्ञानी बताया तो तुम भी बेवकूफ मालूम होते । अरे तुम स्वय पानीमे डूबे हुए हो, फिर भी प्यास बुझानेके लिए एक लोटा पानीकी माँग कर रहे हो । तो उस मगरमच्छने कहा कि भाई यही उत्तर तुम्हारे लिए भी है । तुम स्वय ज्ञानसे लबालब भरे हुए हो, फिर भी कहते हो कि मेरेको ज्ञान नही है, मुझे ज्ञान दे दो । अरे यह आत्मा ज्ञानसे लबालब भरा हुआ है । ज्ञानसिवाय आत्माका स्वरूप ही क्या, सो तो बताओ ? जैसे बाह्यपदार्थको हम देखते ना कि यह यह चौकी रूप वाली है, कठोर है, मोटी है, पिंडरूप है । ऐसे आत्मामे रूप, रस आदिक तो है नही ? यह आत्मा कैसा विलक्षण पदार्थ है कि जिसकी कुछ उपमा नही दी जा सकती । ज्ञानमय पदार्थ, ज्ञानमात्र, ज्ञानस्वरूप, ज्ञानरूप आत्मा । वह सत् है, इसलिए प्रदेशात्मक है । परमार्थ सत् है, उत्पादव्ययध्रौव्य वाला है । पर है वह ज्ञानस्वरूप आत्मा । तो ऐसा ज्ञानस्वरूप आत्मा है । जिस ज्ञानके द्वारा हम खुदके द्वारा जानते हैं, उस ज्ञानका स्पष्ट दर्शन नही हो पाता क्या ? यह ज्ञायक हेतु है जो हम पदार्थोंको जानते हैं जिस ज्ञानके द्वारा यह कहलाता है ज्ञायक । दो तरहके कारण होते है—ज्ञायक और कारक । कारक तो वह कहलाया कि जो कारण पडता है, निमित्त पडता है और ज्ञायक वह कहलाता है जो ज्ञान कराता है । जैसे भगवानका केवलज्ञान, ज्ञायकहेतु है, कारकहेतु नही । जो यह अर्थ लगाते कि भगवानने जाना सो होगा तो वह कारक हेतु नही । वह तो जो है सो जान लिया गया । वह ज्ञायक हेतु है, और जो ज्ञायक होता है वह खुद अगर अज्ञात हो तो ज्ञायक नहीं बन सकता । ज्ञायक तब ही ज्ञायक है जब कि खुद ज्ञात है । अज्ञात होकर कोई ज्ञायक नही बनता । तो हम जिस ज्ञानके द्वारा जानें वह ज्ञान ज्ञायक बना मायने ज्ञान कराने वाला बना । अब उस ज्ञानका ज्ञान न हो और ज्ञायक बन जाय, ऐसा नही हो सकता । जैसे

प्रकाशक पदार्थ वह बन सकता है जो खुद प्रकाशमय हो। जो खुद प्रकाशमय न हो वह दूसरेको प्रकाशित कर दे, ऐसा कभी होता नही। इसी तरह ज्ञान खुदमे ही ज्ञान द्वारा ज्ञानमे आ न रहा हो, आ ही नही सकता हो, ऐसा परोक्ष हो और उसके द्वारा विषयभूत पदार्थ ज्ञानमे आये ऐसा नही हो सकता है। इस कारण यह ही निर्णय रखना चाहिए कि ज्ञान अन्य ज्ञानके द्वारा नही जाना जाता, किन्तु ज्ञान स्वय अपने आपको जानता हुआ पदार्थको जाना करता है।

स्वयंके प्रसंगमे ज्ञाताकी भांति ज्ञान ज्ञेय व ज्ञप्तिकी भी प्रत्यक्षरूपता—ज्ञानकी पद्धतिके सम्बन्धमे यहाँ विचार चल रहा है। सभी लोगोको ज्ञान करते समय ऐसी मुद्रा बनती है कि मैं ज्ञानसे अमुक पदार्थको जान रहा हू। इसमे चार बातें आयी। "मै" कर्ता, "ज्ञानके द्वारा" करण, "अमुक पदार्थको" कर्म और "जान रहा हू" यह है क्रिया। यो कर्ता, कर्म, करण और क्रिया—इन चारमे से कुछ लोग तो यह कहते है कि पदार्थ तो प्रत्यक्ष हो जाता है, परन्तु कर्ता और करण प्रत्यक्ष नही होते। क्रिया कहो या फल कहो वह और अर्थ ये दो ही स्पष्ट होते हैं। तो किन्हीका कहना है कि करण और क्रिया याने फल ज्ञान ये दो स्पष्ट नही होते, केवल कर्ता और कर्म ही स्पष्ट होते है। परतु जैन सिद्धान्त यह बतला रहा है कि चारो ही स्पष्ट होते है—कोई पुरुष जान रहा है किसी पदार्थको, मानो खम्भेको जान रहा है। मैं जान रहा हू तो इस 'मैं' का भी बोध है कि नही ? चाहे किसी ढगसे हो, अगर बोध न हो तो फिर इस 'मैं' के पीछे लडाई क्यो होती ? इस मैं के पीछे तो लोग विवाद करने लगते। तो मालूम होता है कि उसे 'मै' के बारेमे बोध है। कैसा ही बोध सही। कोई जान रहा खम्भा। वहाँ कोई कहे कि नही है खम्भा। तो जानने वाले लोग ही विवाद करते है कि कैसे नही है खम्भा। खम्भा ही तो जाना जा रहा। तो जिस पदार्थको जाना वह भी प्रत्यक्ष हो गया और जिस ज्ञानके द्वारा जाना वह भी प्रत्यक्ष है। और देखो जानना भी स्पष्ट जाना जा रहा है। कोई कहे कि तुम्हारा ज्ञान झूठा है तो वहाँ झट लडाई हो जाती है कि कैसे हमारे ज्ञानको झूठा बताते ? तो ज्ञानका भी प्रत्यक्ष है और फलका भी प्रत्यक्ष है। जो यह माने कि करणज्ञान इस कारण प्रत्यक्ष नहीं है कि वह कर्मरूप से प्रत्यक्ष नही। ऐसा मानने वाले यह बतायें कि कर्ता आत्मा फिर कैसे प्रत्यक्ष होगा ? क्योकि आत्मा कर्मरूपसे तो प्रत्यक्ष होता नही। यदि आत्माको कर्ता रूपसे और कर्म रूपसे दोनो तरहसे प्रतिभास होना, प्रत्यक्ष होना मानोगे तो वहाँ भी फिर एक करण ज्ञान चाहिए, फिर और कर्ता चाहिए। इस तरहसे अनवस्था यहाँ भी आती है। तो सीधी बात मान लो कि मैं जानता हू, ज्ञानके द्वारा जानता हू, अमुक पदार्थको जानता हू। जानना हो रहा है, ये चारो बातें स्पष्ट रहा करती हैं। वहा ऐसा मत कहो कि केवल आत्मा प्रत्यक्ष है और अर्थ

प्रत्यक्ष है । करण ज्ञान व फल ज्ञान प्रत्यक्ष नही है । हाँ इतनी बात तो अवश्य है कि ज्ञान तो करणरूपसे प्रत्यक्ष है, आत्मा कर्ता रूपसे प्रत्यक्ष है और पदार्थ कर्मरूपसे प्रत्यक्ष है और फल क्रियारूपसे प्रत्यक्ष है । स्पष्ट चारो है । कही करणरूपसे प्रत्यक्ष होनेके कारण उसे प्रत्यक्ष नही मानते तो आत्मा भी प्रत्यक्ष नही रह सकता । क्योंकि वह भी कर्तारूपसे प्रत्यक्ष है, कर्मरूपसे प्रत्यक्ष नही । यह बात तो चल रही है भिन्न पदार्थके बोधके विषयमे, क्योकि दार्शनिक विधिसे स्वका और परका निर्णय होता है । परका यह आत्मा ज्ञान नही करता, स्वका करता है, यह बात तो एक निश्चयदृष्टिसे है । मगर क्या यह सर्वथा झूठ है कि बाहरी पदार्थोका आत्माको ज्ञान नही होता ? वह परमार्थ और व्यवहारका अन्तर है । जानने मे तो सब आयगा । चाहे जिस विधिसे जाननेमे आया हो, मगर आयगा प्रत्यक्ष, ऐसा सबने जाना । तो दार्शनिक विधिसे इस ही तत्त्वका निर्णय बना रहे, मैं भी स्पष्ट, ज्ञान भी स्पष्ट, पदार्थ भी स्पष्ट और क्रिया भी स्पष्ट ।

स्वयके प्रसंगमे फलज्ञानकी भाति ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयकी भी प्रत्यक्षता—अब मीमासकोंमे जो एक दूसरा भेद है प्रभाकर । वे कहते हैं कि फल स्पष्ट है, पर आत्मा स्पष्ट नही होता । मैं जानता हू, इसमे मै का भी बोध नही हो पाता । ज्ञानके द्वारा जानता हू, उसका भी बोध नही होता । बस पदार्थ जाना जा रहा है और ज्ञान समझमे आ रहा है । देखो जितने भी दार्शनिक होते है वे सब अपनी बुद्धि तो रखते ही है । कभी कभी ऐसा अपनेको भी समझ होती है कि जो दार्शनिक कह रहा वह ठीक ही तो कह रहा । प्राय लोगोको दिखता है कि लोग सब कुछ जान रहे है पर उन्हे अपने आपकी कुछ खबर नही और न ज्ञानकी खबर और जानना बन रहा है इसको भी वे दृढतासे कहते और पदार्थको भी दृढतासे कहते । ऐसा तो लोगोका समुदाय बहुत है । और देखो जब तक स्याद्वाद विधि पूर्ण समझमे न आये और अन्य दार्शनिकोकी विधि समझमे न आये तो ऐसा ना समझ वाले लोगोको कभी-कभी दूसरे दार्शनिको की बात भी प्रिय लगती है और अपने स्याद्वादविरोधका डर लगा है तो अपने स्याद्वादमे उसे ढाल देते हैं, पर एक यह बडा गहन ज्ञानका विषय है । नयचक्र बडा गहन बन है । उसमे यो ही साधारण जनोका प्रवेश नही होता । निर्णय करो प्रमाणसे पूरा, फिर तुम्हे जिसकी मुख्यतामे कल्याण जचे उसको दृष्टिमे कर लो ? परन्तु निर्णय ठीक रखो—वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है, सामान्यविशेषात्मक है, उसमे से न द्रव्य झूठा, न पर्याय झूठा, न सामान्य झूठा, न विशेष झूठा, जानो सबको । और जिससे स्वभाव दर्शनकी प्रेरणा मिले उसे मुख्य करें दूसरेको गौण करें, यह ही एक कल्याणकी रीति है । तो यहां ज्ञानकी बात चल रही है । 'मैं जानता हू' यह भी स्पष्ट है, 'जानता हू' यह भी स्पष्ट है, 'अमुकको' यह भी स्पष्ट है, 'ज्ञान द्वारा' यह भी स्पष्ट है । अगर कहो कि आत्माका प्रत्यक्ष इस कारण नही

होता कि इसका कर्मरूपसे ज्ञान नही होता । मैं जानता हू, यह ही ऐसा सोचता है जीव । मैं जीवको जानता हू, ऐसा तो नही सोचता कि मै को जानता हू । तो जब उसमे मैं न लगे, कर्मरूपसे उसका ज्ञान नही होता, इसलिए वह प्रत्यक्ष नही तो अरे प्रभाकर भाई यह ही बात तो तुम्हारेमे आयगी, फलमे बारेमे भी को नही लगा रहे वह भी कर्मरूपसे, नही जाना जाता तो उसे भी परोक्ष मान लो । अगर कहो कि उसका भी कर्मरूपसे ज्ञान हो जायगा तो फल-ज्ञान दूसरा हो गया । फिर उसका कर्मरूपसे प्रत्यक्ष होगा तो फलज्ञान तीसरा होगा । यो अनवस्था दोष आयगा । तो मै कर्ता, ज्ञान करण, ज्ञेय कर्म व ज्ञप्ति फल—ये चारो ही स्पष्ट समझो । चारोको स्पष्ट माने बिना कही ठिकाना न पड़ेगा । तो सीधा आप जान लें, मैं जानता यह भी स्पष्ट अर्थको जानता हूं, यह स्पष्ट व जान रहा हू यह भी स्पष्ट है । ये चारो बाते स्पष्ट होती है ज्ञानमे । तो ज्ञेयमे जैसे परोक्षता नही वैसे ही आत्माका परोक्षपना भी नही और ज्ञानमे भी परोक्षपना नही, फलमे भी परोक्षपना नही है । कोरी हठ मत करो ।

आत्मकृपालु होकर सहज परमात्मतत्त्वके उपासक बनो—भैया ! विवेक करो और देखो, अपनेको यहाँ पडी क्या है ? मनुष्य हुए है तो कर्तव्य यह है कि जिस प्रकार बने आत्म-हित कर लें । कषायें करनेके लिए जीवन नही है यह । और जो अपने जीवनको कषायोमें लगा देते है वे आत्महित नहीं पा सकते । कषाय तो धर्मके प्रसगमे भी मत करो । बल्कि अन्य कामोमे कषाय हो जाय, उसके घरमे, दूकानमे और जगह अगर कषाय जग जाय तो उसके तो उद्धारकी सम्भावना है, मगर धर्मके प्रसगमे, तत्त्वज्ञानमे, और बातोमे ऐसी कषाय जग जाय कि यह कुछ नही, यह विरोधी है, यह मेरा, वह फलानेका, वहाँ उद्धार पाना बहुत कठिन है । जैसे कहते है ना कि अन्य स्थानोमे पाप करे तो वह धर्मस्थानमे नष्ट हो जायगा और अगर धर्मस्थानमे पाप करे तो वह कहाँ नष्ट होगा ? तो भाई अगर कुछ ज्ञान है, बोध है तो सबसे पहले इसका आदर करो कि मेरेमे कषायें न जगें और फिर आत्मकृपालु होकर सोचो मुझे क्या करना ? यहाँ कुटुम्ब बनाकर जाना क्या ? उससे पूरा पड जायगा क्या ? या पक्षपार्टी बनाकर मर गए तो उससे पूरा पड जायगा क्या या कोई बहुत बडा यश कीर्ति नाम कमाकर चले गए तो उससे कुछ पूरा पड जायगा क्या ? अरे अपने आत्मापर कुछ दृष्टि करो और धर्मके प्रसंगमे, धर्म धारणके प्रकरणमे इन सब बातोका परिहार कर दो । बस मैं हू और मेरी दृष्टिमे मेरा स्वरूप है, और मेरी इस स्वरूपदृष्टिके सहायरूपमे प्रभुका स्वरूप है, भक्ति है । भक्ति और ज्ञान इन दो के सिवाय और क्या चाहिए ? अगर अपना उद्धार करना है तो दो बातें करो—भक्ति और उद्धार, क्योकि ये कषायें न जाने कहांसे कहाँ ले जायें, कहाँ पटक दें ? अभी आप देखो—आपकी ही समाजमे कुछ लोग ऐसे हो गए है कि जो बडे पडित भी माने जाते थे वे कषाय जग जानेके कारण अपने जीवनको बरबाद कर

गए । तो इन कपायोका अपनेमे अकुर ही मत जगे । कमसे कम धर्मके मामलेमे तो कषायें न जगे । और जगहकी कुबातमे तो धर्मके स्थानमे आयेंगे तो उसका निपटारा हो जायगा, ढग बन जायगा, किन्तु धर्मप्रसंगकी कषायका निपटारा कहाँ करोगे ? इसलिए हठ न करके कषाय न करके मै हू, मेरेको अपने आत्माका उद्धार करना है । आत्माका उद्धार स्वभावदृष्टि बिना नही हो सकता । स्वभावदर्शनके लिए हमारा जीवन है । उसमे ही हमको चलना है । एक मात्र यही दृष्टि रखें, देखो आपको आगमके प्रत्येक शब्दसे स्वभावदर्शनकी शिक्षा मिलेगी, अन्यथा वह आगम न कहलायगा । देखिये चार अनुयोग है–(१) प्रथमानुयोग, (२) करणानुयोग, (३) चरणानुयोग और (४) द्रव्यानुयोग । इन चारो अनुयोगोंसे आपको स्वभावदर्शनकी, ब्रह्मदर्शनकी शिक्षा मिलेगी । तो एक वास्तवमे अगर रुचि है स्वभावदर्शनकी तो सब जगहसे शिक्षा ले लेगा और जिसे स्वभावदर्शनकी रुचि नही है तो वह एक हठी हो जायगा । भैया ! हठी न बने और यह जानें कि इस विपत्तिसे भरे ससारमे हमारा जो यह जन्म मरण चल रहा है उस जीवनमे अगर कुछ वर्ष ऐंठ गए, शान बगराई, ममत्व किया तो मरण तो होगा ही, फिर क्या किया जायगा ? उसका परिणाम बहुत भयकर होगा । इससे इस १०—५ वर्षके आराममे आसक्त न रहे । और आराम भी कुछ नही, कष्ट ही है जिसे आराम मानते है । यहाँ तृप्त न रह कर एक अलौकिक आत्मीय मौजमे आवें और अपने स्वरूपको देखें, सतप्त हो जिससे कर्म भी कटें और जन्म मरणसे छुटकारा भी हो ।

ज्ञानकी स्वसवेदिताकी सवेदना––ज्ञान क्या जानता है, कैसे जानता है, यह अपनी ही चर्चा है । ज्ञान है ज्ञानज्योतिस्वरूप, वह अपनेमे अपना काम करता रहता है । उसका काम है जानना । सो ज्ञान परको विषयभूत बनाकर निज ज्ञेयाकारको जानता रहता है । इस तथ्यको यदि सीधा कहो कि ज्ञान परको जानता है तो भी कुछ हर्ज नही, क्योकि उसका अर्थ समझ लेगा । यहाँ एक शकाकार कह रहा है कि ज्ञान परको जानता है, इसमे तो हमे कोई आपत्ति नही । जान ही रहे, हम मकान जानते, स्त्री-पुत्रादिक परिजनको जानते, सबको जान रहे हैं, मगर हम ज्ञानको नही जान सकते । ऐसी बात तो थी मीमासककी । अब थोडा और ढगपर आये तो यह कहने आये कि ज्ञानको जाना तो जा सकता है, मगर ज्ञानके द्वारा जाना जा सकता है । जो ज्ञान वस्तुको जान रहा है वही ज्ञान अपने ज्ञानको भी जाना जाय, सो वात नही होती । अब यह प्रकरण रखा जा रहा है नैयायिक सिद्धान्तमे । ज्ञानको अस्वसम्वेदी मानते है । होती तो है उसकी समझ, मगर शकाकारको मदद दो तो सोचकर कुछ ऐसा लग रहा होगा कि हम जिस ज्ञानके द्वारा जिस पदार्थको जानते हैं और जब हम जाननेको चलते हैं कि इस पदार्थको जान रहे हैं तो यह ज्ञान हमारा सही है या नही ? जब यह ज्ञान उठता है तो कहता है कि हाँ सही है । इसी आधारपर शकाकार कह रहा है कि ज्ञान जाना जायगा

तो किसी दूसरे ज्ञानद्वारा जाना जायगा। उसकी युक्ति है कि ज्ञान चाहे कितना ही सूक्ष्म हो, कितना ही कुशल हो और स्पष्ट हो, मगर ज्ञान अपनेको यो नही जान सकता कि जैसे तलवार कितनी ही पैनी हो, मगर तलवार अपने आपको नही काट सकती। तो जैसे तलवार खुद को तलवारको नही काट सकती उसी तलवारको, ऐसे ही ज्ञान खुद-खुदको नही जान सकता, ऐसी एक आशका नैयायिकोकी ओरसे आ रही है। अब इसके समाधानमे चलें। तो जैसे उसने दृष्टात दिया ऐसा ही दृष्टात तो हम आप भी दे सकते है। सभी जानते है कि दीपक परको प्रकाशित करता है तो वह स्वप्रकाशक होता हुआ ही परका प्रकाश कर पाता है। जो स्वप्रकाशक न हो पदार्थ और परको प्रकाश कर दे ऐसा उदाहरण न मिलेगा। आप कहेगे कि बैट्री तो है ऐसी। जब बैंट्री जलती है तो वह बैंट्री नही दिखती। वह खुदको जो प्रकाशित नही करती, पर बाहरके सब पदार्थ प्रकाशित हो जाते है तो आप यह बतलावें कि बैंट्री कितनी कहलाती है ? क्या पीछे जो कोई एक बिलस्तकी लम्बी डडी लगी है वह बैंट्री कहलाती है ? अरे वह बैंट्री नही है। बैंट्री तो वह है जो आगेका बल्ब है, जो कि स्वय प्रकाशमान है। अगर वह ही प्रकाशमान न हो तो बाहरी पदार्थ प्रकाशित नही हो सकते। तो जैसे बैंट्री स्व-प्रकाशक होते हुए पर-प्रकाशक है, ऐसे ही यह ज्ञान स्व-प्रकाशक होते हुए पर-प्रकाशक है। तो यह ज्ञान स्वय चकचायमान है, सर्वांग प्रकाशमान है। वह परपदार्थोंका ज्ञान करता रहता है। तो ज्ञान स्वय अपने आपको भी जानता है और परको भी जानता है।

जितने रूपमे ज्ञान है उसे संवेदनके लिये अन्य ज्ञानकी अनावश्यकता—अब देखो जो एक थोडासा विचार किया था कि जब हम किसी ज्ञानको समझनेके लिए चलते है कि मेरा ज्ञान सही है या नही तो झट दूसरा ज्ञान पैदा हो जाता है। तो इसमे आपको दो बातें समझनी पडेंगी। एक तो यह कि जानने वाले ज्ञानके विषयमे अलगसे उसे समझनेकी जिज्ञासा कब होती है जब कि उस ज्ञानका विषयभूत जो पदार्थ है उसमे शका हो रही हो। जैसे पडी तो है सीप और जान रहे कि यह सीप है या चाँदी। जब वहाँ ही लटकपन चल रहा है तो वहाँ ही अपने ज्ञानका ज्ञान करनेके लिए अन्य ज्ञान चलता है याने पूर्व ज्ञानके लटकपनको दूर करनेके लिये ज्ञान बना। आप ठीक-ठीक समझते जावो। ज्ञानमे शका होती है तो ज्ञानके विषयभूत अर्थके बारेमे निर्णय न होनेपर शका होती है, ऐसी स्थितिमे अब यह ज्ञान प्रमेय बना और अन्य ज्ञान ज्ञायक बन गया। होती है ऐसी स्थिति, उसका अर्थ यह है, उस ही पदार्थमे होने वाले सशयका निवारण करनेके लिए दूसरा ज्ञान बनाते है और इसी कारण वह पहिला ज्ञान सशयज्ञान हुआ। वह ज्ञान बनता एक उस विषयका अचेत निवारण करनेके लिये। अब अचेतनका पदार्थका प्रतिनिधि बन गया वह और उसको समझनेके लिए एक नया ज्ञान उत्पन्न होता है। विषय बदल गया, पर एक ही विषयको लेकर जो ज्ञान बनता है, वह

ज्ञान स्वका प्रकाशक भी है और परका प्रकाशक भी है । अब देखना ज्ञान यदि स्वको न जाने और वह दूसरे ज्ञानके द्वारा जाना जाय, दूसरा ज्ञान तीसरे ज्ञानके द्वारा जाना जाय वह तीसरा ज्ञान किसी चौथे ज्ञानके द्वारा जाना जाय तो यह तो एक बडी विडम्बनाकी बात बन जायगी । पर ऐसा कभी हो नही सकता । जो ज्ञान सुखको नही जानता वह दूसरेको भी नही जान सकता । जब कोई विषयभूत परपदार्थ जाननेमे आता है तो वहाँ लोग यहाँ दृष्टि नही देते है तो लोग ऐसा जानते है कि हम पदार्थको तो जानते, मगर जिस ज्ञानके द्वारा जानते है उसको नही जानते । पर यह कभी हो नही सकता । जैसे दीपकके द्वारा परपदार्थ तो प्रकाशित हो जायें पर खुद प्रकाशित न हो, ऐसा कभी हो नही सकता । ऐसे ही यह आत्मा स्वय प्रकाश स्वरूप है, ज्ञानस्वरूप शाश्वत रहता है । इसका अन्य स्वरूप ही क्या ?

निजस्वरूपकी बेसुधीमे परेशानियोका भार—अपने स्वरूपकी सुध खोकर ही हम परकी आशा लगाये फिरते है । जैसे जिसके घरमे कही बहुत धन गडा है, पर उसका उसे पता नही है तो वह बडा दीन गरीब भिखारी कायर रहेगा । इसी प्रकार यह आत्मा अपने ही ज्ञानानन्दसे सम्पन्न है पर उसकी सुध न होनेसे वह परपदार्थोंका भिखारी बना फिर रहा है, उनसे अपने सुखकी आनन्दकी आशा करके भिखारी बना फिर रहा है । जैसे रेगिस्तानमे कोई हिरण किसी सूखी नदीमे अपनी प्यास बुझानेके लिए पानीकी तलाशमे इधर उधर खोजता फिर रहा था । दूरकी चमकती हुई रेत उसे पानी जैसी मालूम पडी तो वह गर्दन उठाकर उसकी ओर दौड लगाता है । जब वहाँ पहुचता है तो नीचे तो देखता नही है कि जहाँ देखा पानीका वहाँ नाम नही । वह तो मुँह उठाये दौडता रहता है कुछ और दूरदृष्टि डाली तो फिर दूरकी चमकती हुई रेत पानी जैसी मालूम पडी, फिर वहाँ दौड लगाया । वहाँ जाकर देखा तो पानीका नाम नही । यो वह हिरण दौड दौडकर अपनी प्यासकी वेदना को और भी बढा लेता है और अन्तमे दौड लगा लगाकर मर जाता है । ठीक ऐसे ही यह ससारी प्राणी अपने सुखस्वरूपको भूलकर बाह्य पदार्थोंसे सुखकी आशा करके उनके पीछे दौड लगा लगाकर हैरान हो जाता है, पर नम्र विवेकी बनकर जानना ही नही चाहता है कि यहाँ सुखका नाम नही, आखिर दौड लगा लगाकर अन्तमे यह मरणको प्राप्त हो जाता है । तो अब कुछ इस दौडसे हटना चाहिए और अपने आपके ज्ञानस्वरूपकी ओर कुछ दृष्टिपात करना चाहिए ।

ज्ञानकी स्वव्यवसायात्मकताका उपसहार—यहाँ ज्ञानस्वरूपकी बात चल रही है । आत्मा ज्ञानमय है, स्वय ज्ञानस्वरूप है तो उस ज्ञानकी कुछ सुध तो होनी चाहिए कि मैं किस प्रकार ज्ञानस्वरूप हू ? मैं ज्ञानरूप हू—इसमे स्व और परप्रकाशकताका गुण पडा हुआ है । ज्ञान अपना भी प्रकाशक है और परका भी प्रकाशक है । यहाँ स्वके मायने आत्मा नही

माना कि ज्ञान आत्माका प्रकाशक है और परका प्रकाशक है। भेददृष्टिसे निर्णयकी बात चल रही है। स्वके मायने है ज्ञान स्वयं खुद, क्योकि यह स्व-परप्रकाशकता मिथ्यादृष्टिके भी है, सम्यग्दृष्टिके भी है। ज्ञानमे ही स्वय ऐसी कला है कि ज्ञान स्वयका भी ज्ञान कर रहा है, अच्छा है, ठीक है, दृढता है। और परके बारेमे भी निर्णय कर रहा है। यहाँ अगर आत्मा को जाना तो आत्मा कहलायगा अर्थ और ज्ञान कहलायगा स्व। जैसे किसी परपदार्थको जानते समय पर तो हुआ पदार्थ और स्व हुआ ज्ञान। इसी प्रकार यह ज्ञान जब आत्माको जाने तो अर्थ तो हुआ आत्मा और स्व हुआ ज्ञान, अर्थात् ज्ञानमे ऐसी स्वपरप्रकाशकता अर्थात् स्वार्थव्यवसायीपन की कला है। यद्यपि ज्ञान आत्मासे जुदा नही है और इसी कारण ज्ञानने जाना कहो या आत्माने जाना कहो, फिर भी कर्ता कर्म क्रियाका भेद करके निर्णय कीजिए, वहा यह बात कही जा रही है कि ज्ञान जिसके अभिमुख हो वह तो है प्रकाश्य और वह ज्ञान कहलाता है प्रकाशक। तो उस ज्ञानके सम्बन्धमे निर्णय बना कि यह ज्ञान स्वय नही जाना जाता, यह अयुक्त कथन है। एक बात और ध्यान देनेकी है कि ज्ञानको स्वपरप्रकाशक कहा है, वहाँ परका अर्थ यह लगाना चाहिए कि ज्ञान अर्थका प्रकाशक है तथा स्वका अर्थ करना खुदका तो परपदार्थ जाना तो अर्थका प्रकाशक रहा, आत्मा जाना तो अर्थका प्रकाशक रहा। सो ज्ञानमे जब स्वका अर्थ किया तो ज्ञानके अतिरिक्त जो कुछ भी जाननेमे आया वह पर कहलाता है। ऐसा स्वपरव्यवसायात्मक ज्ञान स्वय अपने ज्ञानसे नही जाना जा रहा, किन्तु वह अन्य ज्ञानसे जाना जाता है, ऐसा कहने वाले नैयायिकोके मतव्यकी बात कुछ पहले बतायी गई थी। यहा इतनी बात समझना कि अगर ज्ञान खुदको न जाने और ज्ञान दूसरे ज्ञानके द्वारा जाना जाय तो दूसरे ज्ञानको जाननेके लिए तीसरा ज्ञान चाहिए। इस तरह बढते जायें कभी अवस्थान ही न होगा। तो लो पहले इसी कामसे न निपट पाये फिर पदार्थ जानना तो दूर रहा, क्योकि कोई भी ज्ञान अज्ञात रहे तो वह अपने विषयको नही जान सकता। देखो हेतु दो प्रकारके होते है ज्ञायक और कारक। ज्ञायक मायने ज्ञान करने वाला और कारक मायने उपादान और निमित्त। तो जो ज्ञायक हेतु होता है उसमे यह निश्चय है कि ज्ञायक अज्ञात होकर ज्ञान करने वाला नही होता।

ज्ञानको प्रकृतिधर्म मानने वालोकी ओरसे उठे हुए ज्ञानको अचेतन करार कर देनेके प्रस्तावपर विचार—मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्, इस सूत्रमे अनेक बातोका स्पष्टीकरण किया गया है। अब आखिरी एक बात आ रही है कि ये साख्यानुयायी कहते हैं कि ज्ञान तो अचेतनका धर्म है। ज्ञान अचेतन है, प्रकृतिका परिणाम है, वह चेतन नही है, उसका आत्मासे मतलब नही है। आत्मा तो सिर्फ चैतन्यस्वरूप है, पर उसमे ज्ञान नही है। ज्ञानमे और चेतनमे अन्तर है। ज्ञान तो एक विकल्प और समझमे आने वाली बात है, और

चेतन—एक चित् गया, चेत हो गया, बस इतनी ही उसमे बात है। ज्ञान तो चेतनका धर्म नही, किन्तु अचेतन—प्रवृत्तिका धर्म है। इस प्रकारकी समस्या साख्य सिद्धान्तकी ओरसे आ रही है, और वे कहते है कि देखो जो-जो प्रमेय होते है वे वे सब अचेतन होते हैं। जो-जो बात जाननेमे आती है वह वह सब अचेतन होती है। जैसे पृथ्वी, घडा, ये सब जाननेमे आ रहे तो ये अचेतन है। तो जाननेमे ज्ञान भी आ रहा है, इस सम्बधमे बहुत खुलासा नैयायिको के सिद्धान्तकी चर्चा करते हुए कर दिया है कि ज्ञान जाना जाता है, ज्ञान परोक्ष नही होता, ज्ञात होता है तब यह ज्ञान परको जानता है। तो ज्ञान जाननेमे आयी हुई चीज है ना? ज्ञेय है ना? तो जो जो ज्ञेय होता और जो प्रमेय होता वह सब अचेतन है। तो जैसे घडा, कपडा आदिक ज्ञेय बन रहे, जाननेमे आ रहे तो ये अचेतन है। इसी प्रकार यह ज्ञान भी जाननेमे आ रहा है इसलिए यह अचेतन है और अचेतन प्रकृतिका धर्म है। इस प्रकार साख्य-सिद्धान्तानुयायी ज्ञानको अचेतन जाहिर करनेका प्रस्ताव रख रहे है। हाँ बोलो इसका समर्थन करने वाला कोई है क्या? सब लोग इस दिलको टटोलने लगेंगे कि हम किस हृदयसे समर्थन करें? प्रतीतिमे तो आ रहा कि यह ज्ञान चेतने वाला है। सो यह चेतनका स्वरूप है। समर्थन करने वाला कोई नही उठ रहा, तो निर्णय होता है कि यह कथन यह प्रस्ताव प्रतीतिके विरुद्ध है, प्रतीतिका अपलाप करने वाला है। सभी जीवोका चेतनात्मक रूपसे इस ज्ञानका ज्ञान होता है। जैसे आत्माका चैतन्यात्मक रूपसे बोध होता ऐसे ही ज्ञानका भी चेतनात्मक रूपसे बोध होता है। यह प्रधानका परिणाम नही है। प्रधान मायने प्रकृति। प्रकृतिका क्या रूप है? कर्म। यह कर्मका परिणाम नही है ज्ञान, प्रधानका परिणाम नही है ज्ञान।

प्रकृतिविस्तारका दिग्दर्शन—देखो प्रकृतिका नाम प्रधान क्यो रखा कि यह ही तो प्रधान है। ससारका जितना ठाठबाट चल रहा है, ये जीव किलबिला रहे, जन्ममरण करते हैं, सुख दु:ख पाते है, जो जो कुछ भी विडम्बनायें बन रही है इनमे प्रधानका ही तो खेल है। प्रधान प्रकृतिका खेल रूप इस ससारकी इस सृष्टिमे प्रधान कौन है? प्रकृति। अब रह गई एक पुरुषकी बात तो उसकी सृष्टि ऐसी विलक्षण है कि वह दुनियाको दिखनेमे नही आती, अपने आपमे प्रतिभास मात्र है। वह लोगोके लिए प्रधान बन ही नही सकता, इसी लिए साख्योने प्रकृतिका नाम प्रधान रखा और प्रकृति नाम क्यो पडा? तो कृति मायने कार्य प्र मायने प्रकृष्ट। बहुत प्रकृष्ट जो कृति हो या प्रकृष्ट कृति जिससे बनती हो उसे कहते हैं प्रकृति। लोग कह तो देते हैं कि प्रकृति मायने कुदरत। अब कुदरत क्या? कहाँ देखें कुदरत? कही मिल जायगा कुदरत? कहते हैं कि कुदरतका सब खेल है। अरे वह कुदरत क्या है? नट है या क्या चीज है कुदरतका खेल? कहाँ देखें वह कुदरत क्या है? यह ही कर्म प्रकृति।

कर्मप्रकृति ऐसा समर्थ निमित्त है कि जिसका निमित्त पाकर ससारमे यह सब नाच हो रहा है। पर अपनेको इससे क्या मतलब ? नाच देखनेसे हमारा कोई प्रयोजन बनेगा क्या ? और नाचका जो निमित्त है, उस प्रकृतिकी पूजा करनेसे कोई प्रयोजन बनेगा क्या ? और तो जाने दो सम्यक्त्वका निमित्त है ७ प्रकृतियोका उपशम, क्षय, क्षयोपशम और कोई उपशम क्षय, क्षयोपशम की ही चर्चा बनाये, वहाँ ही दृष्टि गडाये तो उस समयमे सम्यक्त्व हो जायगा क्या ? निमित्त तो अवश्य है, मगर सम्यक्त्व एक ऐसी निर्विकल्प दशा है कि उस समयमे आश्रयभूत बाह्य पदार्थ नही होता। निमित्त नही होता यह बात नही, निमित्त तो होगा ही। जितने भी विषय कार्य होते है—विषयके मायने विभावपरिणमन व स्वभावकी आदि मायने जो काम पहले हो रहा हो उससे विपरीत कोई बात आये तो वह किसी निमित्त-पूर्वक होता है अन्यथा अनादिसे क्यो नही ऐसा हो रहा ? तो भले ही निमित्त है, लेकिन निमित्तका आश्रय करनेके समयमे सम्यक्त्व और स्वरूपमग्नता जैसी दशा नही होती है, ऐसी ही यह विधि है। स्वभावविकासका विधान ही ऐसा है कि एक स्वका आश्रय करने की धुन रखे तब जैसा जिस तरह होना है वह होता चलेगा। तो यह सारा ससार प्रधानका परिणाम है। जब कभी आप शिमला, मसूरी या काश्मीर वगैरहमे दृश्य देखते है तो बडे सुहावने लगते, पहाड, पेड, झरना और विभिन्न प्रकारके वृक्ष और अनेक प्रकारके पक्षी, जब ये सब दृष्टिमे आते है तो वहाँ झट कह उठते है कि वाह कितना सुन्दर प्राकृतिक दृश्य है ! तो वह प्रकृतिके मायने क्या ? प्रकृतिका अर्थ है कर्मकी प्रकृतियोका निमित्त पाकर बनावट होना। तो ये सब पेड बने है ये भी कर्मप्रकृतियोके निमित्तसे बने है। जलप्रवाह चल रहा, पक्षीजन कलरव कर रहे, जो जो कुछ भी हो रहा वह सब प्रकृतिका खेल है। तो प्रकृति है, मगर उसे सुन्दर न कहो। जगतमे कोई भी चीज हमारे लिए रम्य नही है। उसे अच्छा कह लो या सुन्दर ही कहलो, कुछ हर्ज नही। जगतमे जो भी बाह्य चीजें है वे सुन्दर हैं। सुन्दर के मायने सु उन्द् अर, सु मायने अच्छी तरहसे, उन्द् क्लेदने धातु है, जिसका अर्थ है तड-फाना और अर् प्रत्यय लग गया, तो उसका अर्थ हो गया कि जो अच्छी तरहसे तडफा तडफा कर बरबाद करे उसका नाम है सुन्दर, यह सुन्दरका अर्थ बतलाया। जिस सुन्दरपर लोग लट्टू है उसकी पोल बतायी है। क्या करें, रूढि हो गई तो अच्छे कामके लिए भी लोग सुन्दर शब्दका प्रयोग करने लगे। जैसे सत्य शिव सुन्दरम्—इस तरहसे सुन्दर शब्दका प्रयोग यदि शब्दानुरूप बोलना है तो न करना चाहिए। क्योकि सुन्दर शब्दका अर्थ है जो भली प्रकार तडफा कर नष्ट कर दे। हाँ वह प्राकृतिक दृश्य बडा सुन्दर लग रहा तो देखो सुन्दर है वह सब ही तो क्लेदा करने की भी सुध नही रहती। तो देखिये वह प्राकृतिक दृश्य बरबाद ही तो कर रहा। तो जितना जो कुछ यह ठाठबाट है, दृश्यमान जगत है वह सब प्रधानका

परिणाम है।

ज्ञानकी चेतकता और स्वार्थव्यवसायात्मकता—साख्यसिद्धान्तानुयायी कहते है कि जो बातें समझमे आयी वह सब प्रधानका परिणाम है। ज्ञान भी ज्ञानमे आता है तो वह भी प्रकृतिका परिणाम है। अचेतन है, आत्माकी चीज नही। ऐसा कहने वाले साख्योकी न तो यह बात प्रतीतिसे सिद्ध होती है और न युक्तिसे सिद्ध हो सकेगी, तब क्या मानना कि ज्ञान आत्माका धर्म है, चेतन है और उस ज्ञानके ये सम्यक् विशेष है। ज्ञान जितना होता है वह स्वार्थव्यवसायात्मक होता है। देखो ज्ञानका स्वरूप है यह दार्शनिक ढगमे जो सर्वत्र युक्तिसगत बैठेगा। जो स्वार्थ व्यवसायात्मक है उसे ज्ञान कहते हैं। अर्थ क्या? स्व मायने खुदका अर्थ मायने पदार्थका, व्यवसाय मायने निश्चय कराने वाला, जो खुदका और पदार्थका निश्चय कराने वाला है उसको ज्ञान कहते है। जब यह ज्ञान इन घटपट आदिकको जान रहा है तब उस समय स्व क्या है? यह ही जानने वाला ज्ञान और अर्थ क्या है? घट पट आदिक परपदार्थ और जब यह ज्ञान आत्माको जान रहा है तो स्व क्या कहलाया? ज्ञान, जानने वाला ज्ञान। और अर्थ क्या कहलाया? आत्मा। यह ज्ञानके स्वरूपकी बात कही जा रही है। जो स्वरूप अज्ञानीमे भी है, ज्ञानीमे भी है। तो ज्ञानका एक ढग है कि ज्ञान जानता है तो इस विधिसे ही जानता है कि ज्ञानका भी ज्ञान करता रहता है। आत्माका हो चाहे न हो और ज्ञानका भी ज्ञान सही जीवको हो या न हो, मगर ज्ञान है, जानना हो रहा है। जानना, इतना अगर खुदमे बोध न हो तो कुछ अनुभव ही न बनेगा। एकेन्द्रियको भी बोध है, केवल अपने ज्ञानसे जो कुछ भी समझ रहती है, जितना ज्ञान है, जितना अवग्रह है, जिस पदार्थको जानता है वह तो हुआ अर्थ और जिस ज्ञानके द्वारा जानता है वह हुआ स्व। यह ज्ञानका स्वरूप कहा जा रहा है। क्योकि थोडी देरको विचारो कि यदि ज्ञान स्वका भी ज्ञान नहीं कर पाता, केवल अर्थका ही ज्ञान कर पाता तो इसको कभी दुःखका अनुभव नही हो सकता, क्योकि दुःख आता है तो अनुभव किस विधिसे आता? ज्ञानात्मक विधिसे ही तो आता है। तो ज्ञान चल रहा सब जीवोंके निगोदसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तक सब जीवोमे। जो ज्ञान चल रहा, जहाँ जितनी योग्यता है चल रहा, वह इस विधिसे ही चल रहा कि वह स्वको भी जानता और अर्थको भी जानता, मगर विश्लेषण नही कर पाये यह बात अलग है। तो ऐसा यह ज्ञानका स्वरूप है जो स्व और अर्थका निश्चय कराये। तो ऐसा यह चैतन्य है। आत्माका ज्ञान है और साथ ही चूंकि सम्यक्‌का अधिकार है, सम्यग्ज्ञानका अधिकार है तो सम्यक् मति आदिक भेदोको लेना। इस ज्ञानसे निगोदका ज्ञान न लें, एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रियका ज्ञान न लें, पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि इसके ज्ञानकी बात इस सूत्रमे नही कह रहे हैं, क्योकि यह अध्याय जो बना है तो इस आधारपर बना है— प्रमाणनयैरधिगम। समस्त तत्त्वोका

सम्यग्दर्शन आदिकका जो बोध होता है वह प्रमाण और नयोसे होता है । तो उन्ही प्रमाणोकी चर्चा चल रही है । बोध करने वाला ज्ञान सम्यक् होता या मिथ्या ? सम्यक् होता तब ही तत्त्वका सच्चा बोध हो पाता । तो इनमे जो मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल ये ५ ज्ञानविशेष कहे है वह सम्यग्ज्ञानके विशेष कहे है । इस प्रकरणमे ज्ञानका स्वरूप प्रमाणके विवरणमे आया इसलिए कहा । यहाँ ज्ञानके इस स्वरूपकी बात और है, वह तो घटना है सब जीवोमे । और सम्यग्ज्ञानकी बात और है । तो इस प्रकार सम्यक् अधिकारमे इन ५ ज्ञानो का स्वरूप बताया है ।

मति श्रुत आदि ज्ञानविशेषोका निरुक्तिसे अर्थका परिचय—यह ६ वाँ सूत्र आज पूर्ण किया जा रहा है । इस सूत्रमे कुछ थोडा स्मरण करनेके लिए यह ध्यानमे लायें कि इस सूत्रमे क्या-क्या बात और क्या शिक्षा दी गई है ? देखो सर्वप्रथम यह बतलाया कि मति श्रुत अवधि मन.पर्यय केवल–इन ज्ञानोका जो स्वरूप नही कहा गया, सूत्रजी मे किसी जगह आया क्या ? निमित्त बता दिया, भेद बता दिया, विषय बता दिया । मगर ज्ञानके स्वरूपको कहने वाला एक भी सूत्र नही है, ऐसा क्यो ? ऐसा यो किया कि जो शब्द है उन्ही शब्दोसे इसका अर्थ क्या ज्ञान हो जाता है ? सो ज्ञानका अर्थ बताया ही गया था । माननेका नाम मति, जो प्रथम ही प्रथम ज्ञानमे आये सो मति । और सुनकर जाने सो श्रुत । उसे बताया उपलक्षण । सुनकर जाना विशेष सो श्रुत । और देखकर जानकर ज्ञान बढाया सो श्रुत । ५ इन्द्रिय और मनसे ज्ञान करके जो और विशेष ज्ञान किया गया सो श्रुत । और म्यादपूर्वक प्रत्यक्षसे जाना गया सो अवधि । अवधिज्ञान नीचेकी बातको ज्यादा जानता है, यह अवधिज्ञानकी खास विशेषता है, इसी कारण इसका नाम अवधि पडा । मन पर्ययज्ञान, दूसरेके मनकी पर्यायको जान लेना, मायने उसमे क्या बात सोची जा रही है उस पदार्थको जान लेना सो मनःपर्यय । और एक समभाव मात्र सिर्फ प्योर ज्ञान ही ज्ञान रहे, जो कि अपनी कलाके कारण सारे लोकालोक त्रिकालको जान जाय वह केवलज्ञान है । तो सर्व निरुक्तियोसे प्रथम प्रथम इनके लक्षणका वर्णन किया ।

ज्ञानसामान्यका ज्ञानविशेषोंमें अन्वय तथा सामान्य विशेषकी एकत्र अविरुद्धता—इस सूत्रकी रचनामे जाहिर होता है कि ज्ञानका अन्वय सबमे करना । कही यह न समझना कि ५ ज्ञानोका समूह मिलकर ज्ञान कहलायगा । मतिज्ञान भी ज्ञान है, श्रुतज्ञान भी ज्ञान है, अवधिज्ञान भी ज्ञान है, मन पर्ययज्ञान भी ज्ञान है और केवलज्ञान भी ज्ञान है । ये ५ पर्यायें है भिन्न-भिन्न समयोमे, अपने समयमे एक दूसरेकी अपेक्षा न रखकर स्वतत्र पर्याय है । तो ज्ञान ये पाँचो ही अपने आपमे सम्यक्त्वको लिए हुए है । यह सब बात सुनकर एक सामान्य विशेषकी याद आ जाती है कि वह ज्ञान तो सामान्य है जो इन पाँचोके साथ लगा है । मति-

ज्ञान भी ज्ञान है, श्रुतज्ञान भी ज्ञान है। जो इन पाचोके साथ लगा वह ज्ञान तो है सामान्य और ये ५ है विशेष। तो सामान्य और विशेष तो जुदी-जुदी बात है। ये लग कैसे गए एक जगह ? तो उसका उत्तर दिया है कि सामान्य जुदा नही, विशेप जुदा नही, किन्तु बात एक है। उसे सामान्यरूपसे देखें तो सामान्य मिलेगा, ज्ञानको विशेषरूपसे देखें तो विशेप मिलेगा ज्ञानमे। पदार्थमे सामान्य और विशेष अविरुद्ध रूपसे शाश्वत रहा करते है। और देखो सामान्य मायने स्वभाव और विशेष मायने पर्याय। सिद्ध भगवान हो गए, मगर वहाँ भी स्वभाव और पर्याय दो तथ्य है कि नही ? अवश्य है। तो कही भी हो, किसी भी जगह हो, कुछ भी हो जाय, सिद्ध हो जाय, सामान्यविशेपात्मकताको पदार्थ छोड नही सकता। यह कितनी एक प्राकृतिक बात है कि वह विशेषको गौरा कर दे और सामान्यको मुख्य करे और उसमे अपना अनुभव बनाये, ऐसे समयमे भी पर्याय छूटा नही, विशेष छूटा नही, पर उसका उपयोग विशेष नही है, सामान्य है अथवा मात्र सामान्य नही, सामान्यविशेषात्मक आत्मतत्त्वका सामान्यतया अवगम हो रहा है। तो निर्णय करें तो निष्पक्ष निर्णय करें, प्रमाणसे निर्णय करे प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है और वे दोनो तत्त्व पदार्थमे अविरोधरूपसे रहते है।

सूत्रमे दोनो पदोका अवधारण तथा मति श्रुतमे विशेषताका कथन—सूत्रमे यह दीख रहा कि यहाँ पद दो है और दोनो पदोमे एव लगेगा याने मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय, केवलज्ञान ही ज्ञान है। यह ही लो, इसके मायने यह ही ज्ञान है—कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ये ज्ञान नही, क्योकि उनके द्वारा तत्त्वोका, रत्नत्रयका बोध नही होता। अब दूसरी जगह एव लगायें तो मति, श्रुत, अवधि, मन-पर्यय, केवलज्ञान ज्ञान ही है, अज्ञान नही है। लो ज्ञानकी अचेतनताकी आरेका रखके आजके प्रसगमे शब्द काम आ गया। इस शकामे कि जो आजकी जा रही है। साख्य मान रहे थे कि ज्ञान प्रकृतिका धर्म है, चेतनका नही है। सो यहाँ स्पष्ट हो गया कि ये अज्ञान नही, वह अचेतनका धर्म नही है। तो दोनो ओरसे एवकार लगानेकी बात कही। फिर यह बात बतलायी कि मतिज्ञान कह तो दिया, पर मतिके कहनेसे स्मृति प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान ये सब साथ लगे समझना कि यह सब मतिज्ञान है। स्मृति आदिक ज्ञान भी प्रमाण है और मतिज्ञानके ही अनर्थान्तर है। देखो सक्षेपमे बात चल रही है, जो १३ दिन प्रवचन चला इस सूत्रपर उसकी बात सक्षेपमे उपसहारात्मक कथन है। आकुलता न करें। जो सुना है उसका एक सामान्य दिग्दर्शन कराया जा रहा है, फिर बताया गया कि मति और श्रुत इनको एक न समझना। शङ्काकार चाहता था कि ज्ञानके चार नाम रह जायें, मति, श्रुतमे से एक कह दें, बाकी और तीन कह दें, उनको कहा गया कि मति और श्रुतमे भेद है, और जिन बातोसे मति श्रुतमे शङ्काकार एकत्वसिद्ध करना चाहता था

उन्ही बातोसे मति और श्रुतमे भेद सिद्ध होता है। जैसे मति श्रुत सहचर है, साथ रहते है, इसी लिए तो नाना है आदिक हेतुवोसे मति श्रुतका नानापन सिद्ध किया गया और विषय देखें तो मतिका विषय तो थोडा है और श्रुतका विषय केवलज्ञान बराबर है। फर्क इतना है कि केवलज्ञान तो प्रत्यक्ष जानता और श्रुतज्ञान परोक्ष जानता। देखो एक निगाहमे डाल लो। जगतमे जहाँ जो चीज पडी वह सब पुद्गल है। बोलो तुमने जगतकी सारी चीजोको जान लिया कि नही ? जान तो लिया। अब प्रयोजन इसका कुछ नही, व्यग्रता कुछ नही कि चलो जाकर देखें तो सही और अपने काममे लें। एक बार हम अबसे करीब ३० साल पहले यात्रामे गए जैनबद्री तो गुरुजीने कहा कि देखो मैसूरके पास कृष्णसागर है उसे जरूर देख आना। गुरु जी का यह भाव था कि इनके मनमे यह न रहे कि हमने देख नही पाया, पर हम सोच रहे थे कि उसे क्या देखना, वहा बस ईंट पत्थर होगे, पानी होगा, पिण्ड होगा, पृथ्वी होगी, बिजली जलती होगी, सब पौद्गलिक चीजे होगी, उन सबको हमने यो ही जान लिया। जब कुछ प्रयोजन नही तो उनको अलग-अलग जाननेकी क्या जरूरत ? श्रुतज्ञानका बहुत बडा विषय है।

ज्ञानकी स्वसंवेदिता, चेतनता और ज्ञानप्रकर्षकी उपादेयता—इस प्रसगमे एक शङ्का आयी मीमासकोकी ओरसे कि जिस ज्ञानसे जानते हैं वह ज्ञान अपनेको नही जान पाता, आत्माको तो जान जाता है, पर खुदको नही जानता। इस विषयमे अभी एक दो दिन पहले काफी वर्णन हो चुका है। किसीका भी ज्ञान अज्ञात होकर पदार्थको नही जना सकता है, जैसे कि कोई भी रोशनी खुद बिना प्रकाशित हुए दूसरे पदार्थको प्रकाशित नही करा सकती। ज्ञान खुद जाना जाता है जैसे कि आत्मा समझा जाता उसी प्रकार ज्ञान भी स्पष्ट रहता है। फिर वर्णन आयगा कि ज्ञान अचेतन है। यह आज ही वर्णन चल रहा और प्रतीतिसे देखें, युक्तिसे देखें, अनुभवमे देखें, ज्ञान चेतनात्मक है। इस प्रकार इस सूत्रमे जो ५ ज्ञानविशेषो का वर्णन किया गया वह सब सम्यग्ज्ञान है। अब ज्ञानकी बात देखे तो जघन्य ज्ञान तो है उस निगोदिया जीवके, जो बहुत कालसे निगोदी बन रहा और मरकर किसी दूसरी जगह पैदा होता है निगोदमे ही और उसको मोडा लेकर जाना है तो पहले मोडमे जब वह है तो वहाँ उसके जघन्य ज्ञान है। बाकी तो सबके उससे अधिक-अधिक ज्ञान है। और यह ज्ञान बढ बढकर केवलज्ञानकी प्रकर्षताको प्राप्त कर लेता है। तो इस सूत्रके अन्तमे केवलज्ञानकी बात कही। उससे यह भाव ले कि केवलज्ञान ही हमारे लिए एक अन्तिम चीज है। वह प्राप्त हो तो सर्व सकट इसके दूर हो। इस सूत्रमे प्रमाणके विशेषणका सामान्य और विशेष रूपमे निर्देश करके अब उन ज्ञानविशेषोमे प्रमाणत्वका समर्थन करते है—

मोक्षशास्त्र प्रवचन

षष्ठ भाग

तत्प्रमाणे ॥१०॥

तत्प्रमाणे सूत्रमे अज्ञानरूपोकी प्रमाणताका तथा प्रमाणोकी मनमानी संख्या व रचनाका निराकरण—९ वे सूत्रमे बताया था कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यय-ज्ञान और केवलज्ञान ये पाँचो ही ज्ञान है। प्रत्येक ज्ञानमे उसका विस्तारसे वर्णन करनेके बाद अब १० वें सूत्रका अवतार हो रहा है। सूत्र है "तत् प्रमाणे"। यह ज्ञान दो प्रमाणरूप है। जिस ज्ञानके बारेमे ५ ज्ञानविशेष बताये थे वह ज्ञान दो प्रमाणरूप है। इस सूत्रमे मुख्यतया दो बातें बतायी गई है— जैसे पद दो है—तत् प्रमाणे, तत्का अर्थ है—वह ज्ञान, प्रमाणेका अर्थ है दो प्रमाण रूप है। तो यहाँ एकका अवधारण दोनो जगह लगेगा। वह ही दो प्रमाण रूप है। वह दो प्रमाणरूप ही है। इन दो एवकारोसे किन-किन मतोका निराकरण होता ? सो सब परखते रहना। वह ज्ञान ही दो प्रमाण रूप है अर्थात् अज्ञान नही है प्रमाणरूप, किन्तु ज्ञान ही है प्रमाणरूप। तो जो लोग ज्ञानको छोडकर अन्य-अन्य बातोको प्रमाण माना करते है उनके मतव्यका निराकरण हो जाता है। कोई कहता है कि इन्द्रियाँ प्रमाण हैं, कोई कहता है कि इन्द्रियोका सन्निकर्ष प्रमाण है, कोई कहता है कि नाना पदार्थोंका समूह जुट जाय वह प्रमाण है। इस प्रकार जो जो अज्ञानको प्रमाण मानते थे उन सबके मतव्यका निराकरण हो जाता है। ज्ञान ही प्रमाणरूप है, अज्ञान प्रमाणरूप नही होता। दूसरे पदमे जो एवका अवधारण किया है वह दो प्रमाणरूप ही है। इसमे प्रमाणकी जो मनमानी सख्या लोग मानते हैं उनका निराकरण हो जाता है ? प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे ही दो प्रमाण होते हैं। इनके भेद किए जायें तो परोक्ष तो हुए मति स्मृति सज्ञा, चिंता, अनुमान, आगम अथवा श्रुत कहो और प्रत्यक्षमे हुआ अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान, इनसे अतिरिक्त या अन्य-अन्य नामोसे जो सख्यायें मानी जाती है वे सही नही है। इस सूत्रमे इन दोनो बातोका बहुत विवेचन चलेगा। ज्ञान ही प्रमाण है अज्ञान नही। ज्ञान एक ऐसे ही दो प्रमाण सख्याओमे है, अन्यरूपसे नही। तो स्वरूप और सख्या—इन दोनोके सम्बन्धमे जा मतव्योमे भेद है,

नानापन है, इन सबका निराकरण हो जाता है। तो इस सूत्रसे दो बातोपर प्रकाश डाला है कि ज्ञान ही प्रमाण है, अज्ञान प्रमाण नही। और समस्त ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष इनमे से न कुछ है। उसके अलावा और कुछ नही।

इन्द्रियोकी प्रमासाधकतमता होनेसे प्रमाणरूपताका कुछ दार्शनिको द्वारा प्रस्ताव—अब सूत्र विरुद्ध दो मतव्योमे से पहली बातका विवरण किया जा रहा है। कुछ दार्शनिक कहते है कि ज्ञान प्रमाण नही है किन्तु इन्द्रियाँ प्रमाण है। क्योंकि प्रमाणका अर्थ है जो प्रमाका साधकतम हो, जो जानकारीमे खास साधकतम हो उसे कहते है प्रमाण। तो इन्द्रियोके बिना कोई ज्ञान मिलता नही। जब इन्द्रियाँ जाननेमे काम आ रही है तो हम तो जानते है कि इन्द्रियाँ ही प्रमाण है, अन्य कुछ प्रमाण नही। कभी योगियोको सातिशय प्रत्यक्ष होता है तो वहाँ भी योगजधर्मानुगृहीत इन्द्रिया ही प्रमाणभूत है। और देखो यदि ज्ञानको प्रमाण कहोगे तो ज्ञान तो सशयज्ञान भी ज्ञान है, वह भी प्रमाण हो बैठेगा। विपरीत ज्ञान भी ज्ञान है। वह भी प्रमाण हो जायगा। ज्ञानको प्रमाण माननेमे बडा दोष आता है, इसलिए ज्ञान प्रमाण नही है किन्तु इन्द्रिया प्रमाण है, ऐसा ये नैयायिक मीमासक सिद्धान्त वाले कह रहे है। चूंकि ज्ञानको प्रमाण माननेमे दोष आता, अतएव ज्ञान प्रमाण नही, किन्तु इन्द्रियाँ प्रमाण है। और ये ज्ञान ज्ञान चिल्लाने वाले लोग इन्द्रियोसे कोई काम ले नही और ज्ञान करके बता दें। जब ज्ञानमे साधकतम इन्द्रिया है तो इन्द्रिया ही प्रमाण है, अन्य कुछ प्रमाण नही। ज्ञान प्रमाण होता तो जो कुछ भी ज्ञान हो जाय वह सारा प्रमाण बन जाना चाहिए। कभी-कभी आखोमे ऐसी बीमारी हो जाती कि चन्द्रमा दो-दो, तीन-तीन, चार-चार दिखने लगते। तो ज्ञान तो हो रहा कि वे चार चन्द्रमा है, ज्ञान हुआ तो उसे प्रमाण मान लो। फिर क्यो कहते ऐसा कि तुमको गलत दिख रहा है। क्यो गलत हो रहा ? ज्ञान ही तो हो रहा। सो ज्ञान प्रमाण नही, किन्तु इन्द्रियाँ ही प्रमाण है। ऐसी यहा नैयायिक अपनी शङ्का रख रहे हैं।

इन्द्रियप्रमाणत्वकी आरेकापर मीमासाका प्रारम्भ—अब उक्त शङ्काके सम्बन्धमे विचार कीजिये। तत् प्रमाणे, इस सूत्रमे यह बात कही जा रही है कि वह ज्ञान दो प्रमाण रूप है। ज्ञान ही प्रमाण है, अज्ञान नही। ज्ञान दो प्रमाण रूप है, अन्य अटपट सख्यारूप नही। इस तरह इसमे दो बातोका दिग्दर्शन किया है। तो इस विषयमे जो शङ्काकारने शङ्का रखी थी कि हमे तो ज्ञान प्रमाण नही जचता, किन्तु ज्ञान करनेमे जो कारण पडता है, साधकतम है ऐसी जो इन्द्रियाँ है वे हमको तो प्रमाण लग रही है। तो ठीक ही है। ससारी जीवो को ज्ञानमे प्रेम नही है, इन्द्रियसे प्रेम है। इसलिए हर बातमे इन्द्रियको सामने रखकर ज्ञानमे रहते हैं। सभी लोग सोचो अपने अपने चित्तमे कि हमको ज्ञानमे प्रेम है या इन्द्रियमे ? इन्द्रिय

रो ? इन्द्रियके विषयभूत रूप, रस, गध, स्पर्श, इनमे कितनी अधिक प्रीति जगती है ? ज्ञानकी कभी कोई सुध लेता है ? इन्द्रियमे रुचि है इसलिए इन्द्रियजन्य ज्ञान और इन्द्रियजन्य सुखमे विश्वास बन रहा है । तो यहा प्रमाणको भी एक शङ्काकार बतला रहा कि ये इन्द्रिया प्रमाण है और युक्ति यह देते कि ज्ञानको प्रमाण मानेंगे तो बडा दोष आयगा । सशय ज्ञान भी प्रमाण बन बैठेगा । जब दो तीन चन्द्रमाओका ज्ञान होता किसीको तो वह ज्ञान भी प्रमाण बन बैठेगा, ऐसे अनेक जगह दोष आते है । तो इन प्रस्तुत आपत्तियोका तो फिर निराकरण करेंगे । अभी तो यह समझलें कि इन्द्रियाँ ही प्रमाण है, ज्ञान प्रमाण नही, इसमे कुछ तथ्य है या नही ? इसका दार्शनिक विधिसे अनुमान भी बनाया शङ्काकारने कि जो ज्ञान करनेमे साधकतम हो वही प्रमाण कहलाता है । जैसे किसी चीजको समझाने के लिए विशेषण प्रमाण होता है । जैसे कोई यहाँ पगडी बांधे बैठा है, उसका नाम लेकर किसीसे कहा जाय कि अमुक पुरुषको यहा बुला लावो, और वह उसे जानता था नही, सो पूछ बैठा कि कौन है वह पुरुष ? तो बताया गया कि जो पगडी वाला है वह अमुक पुरुष है । तो वह जाता है और उसे बुला लाता है । तो देखिये पगडी वाला यह विशेषण बन गया । तो जैसे विशेषको जाननेके लिये विशेषण प्रमाण है, ऐसे ही समस्त पदार्थोंको जाननेमे इन्द्रिया प्रमाण है, क्योकि इन्द्रिय द्वारा काम बना तब उसका ज्ञान हो सका । अब इसके उत्तरमे सुनो— शङ्काकार क्या कह रहा कि इन्द्रिया प्रमाण हैं । देखो दार्शनिक शास्त्रमे कुछ बातें समझनेके लिए दो पद्धतिया बनती हैं— एक तो अनेक विकल्प करके उन विकल्पोमे जवाब देना । यहा यह नही सोचना कि शङ्काकार पहले विकल्पमे ही परेशान हो जायगा, इस कारण विकल्प उठाये जाते हैं । और परेशान करनेका आचार्योंका मतव्य होता नही, लेकिन विकल्प द्वारा उत्तरका स्पष्टीकरण होता है और दूसरी पद्धति है अविनाभावी हेतु देना, सो इसी आधारपर इन्द्रिय प्रमाणतापर विचार चलेगा ।

भौतिक इन्द्रियोमे प्रमाणत्वकी असभवता——पहले यह इन्द्रियप्रमाणत्ववादी बतायें कि इन्द्रिया यदि प्रमाण है तो वे इन्द्रिया अचेतन है या चेतन है ? जिन इन्द्रियोको तुम प्रमाण बतला रहे हो वे इन्द्रिया अचेतन है या चेतन है ? भौतिक है या चेतन है ? यदि कहो कि इन्द्रिया तो भौतिक है तो भौतिक इन्द्रियाँ कभी प्रमाण नही बन सकती । जैसे घट पट, खम्भा, दरी, चौकी आदिक ये प्रमाण है क्या ? प्रमाण तो नही है । जब भौतिक हैं ये इन्द्रिया तो इन्द्रिया कैसे प्रमाण बन जायेंगी याने ज्ञानका साधकतम कैसे हो जायेंगी ? और यदि भौतिक इन्द्रिया प्रमाण बन जायें, ज्ञान बन जायें तो फिर जो पुरुष मर गया है उसकी द्रव्येन्द्रिया भी ज्ञान बन जायें, प्रमाण बन जायें । फिर वह उन इन्द्रियोके द्वारा कैसे नही जान पाता ? तो यहा शङ्काकार थोडो अपनी कुछ सफाई दे रहा है तो वे भौतिक

इन्द्रियाँ जो कि ज्ञानकी साधकतम है और वे प्रमाण है, किन्तु जब वह प्रमाणसे अधिष्ठित हो याने आत्मामे अधिष्ठित हो तब वे भौतिक इन्द्रियाँ प्रमाण होती है। जैसे लोग कह देते ना कि जब तक जीव है तब तक ये इन्द्रियाँ काम करती है, ज्ञान करती है। प्रमाण होता है, तो ऐसे ही जब तक प्रमाता ज्ञाता आत्माके द्वारा अधिष्ठित है इन्द्रियाँ, तब तक ये इन्द्रिया प्रमाण-भूत है। ऐसी बात शकाकारने रखी, तो इस विषयमे यह बात आसानीसे सोची जा सकती है कि जब यह शकाकार कह रहा है कि जब तक जीव है इन इन्द्रियोमे, इस शरीरमे तब तक इन्द्रियाँ प्रमाण है तो जब जीव सोया हुआ है, जब कोई आदमी सोया हुआ है तो बताओ वहाँ जीव है कि नही ? मरा तो नही वह। तो जीव जब तक है तब तक इन्द्रियाँ प्रमाण है ऐसा कहनेसे तो सोये हुए पुरुषकी इन्द्रियाँ भी प्रमाण बन जायें और सोते हुए मनुष्योकी इन्द्रियोसे प्रमाण तो नही होता कुछ, ज्ञान तो नही होता कुछ। तो यह भी कथन ठीक नही कि जब तक जीव सहित है तब तक इन्द्रियाँ प्रमाण है। यदि शङ्काकार यह कहे कि थोडी सी एक बात और जोड दो। जब तक जीव प्रयत्न वाला बन रहा है तब तक इन्द्रियाँ प्रमाण है। अब धीरे-धीरे शङ्काकार कुछ ठिकाने की ओर चल रहा है, मगर अपनी पर्याय-बुद्धिकी कुटेब नही छोड रहा। अब यह कह रहे है कि जब तक जीव है इस शरीरमे, इन्द्रियो मे और जब तक जीवका कोई प्रयत्न चलता है तब तक इन्द्रिया प्रमाण है। तो प्रयत्नवान जीवसे अधिष्ठित इन्द्रियाँ प्रमाणभूत है। ऐसा शङ्काकारका यह सुधार हो होकर प्रस्ताव आया है। तो अब पूछते है कि तुम कुछ-कुछ ठीक तो कह रहे हो कि व्यापार करते हुए जीवसे प्रतिष्ठित इन्द्रियाँ प्रमाण हैं, पर वह व्यापार, वह प्रयत्न, वह पौरुष क्या चीज है ? जैसे व्यापारसे सहित होने पर याने जैसा प्रयत्नयुक्त होनेसे इन्द्रिया काम करती है, ज्ञान होता है, प्रमाण बनता है वह प्रयत्न है क्या ? पहले यह ही बतलाओ कि वह प्रयत्न अचेतन है या चेतन ? जीव जो प्रयत्न करता है जाननेके लिए, जिस प्रयत्नसे सहित होकर ये इन्द्रिया प्रमाण बनती है वह प्रयत्न अचेतन है कि चेतन ? यदि कहो कि अचेतन है तो प्रयत्न करनेपर भी उसका धेला नही उठेगा, क्योकि अचेतन है प्रयत्न, तो अचेतन अकिञ्चित्कर है। जैसे घट-पट आदिक अचेतन है और ये चाहे कितना ही व्यापार करें, पर उनसे क्या कुछ ज्ञान उठता है ? तो आत्माका ही प्रयत्न, जिस प्रयत्नसे सहित होकर इन्द्रियाँ प्रमाण बनती है वह प्रयत्न यदि अचेतन है तो वह अकिञ्चित्कर है। वह प्रमाण नही बन सकता, उससे कुछ सहयोग नही मिल सकता, और यदि कहो कि इसमे वह प्रयत्न चेतन है, जिस प्रयत्नसे सहित होनेपर ये इन्द्रिया प्रमाणभूत होती है। तो आचार्यदेव कहते है कि लो आ। टिकाने आये। देखो जिस प्रयत्नको तुम चेतन कहते हो और जिस चेतन वाले इन्द्रियको प्रमाण कहते हो उसीका नाम ही भावेन्द्रिय है और भावेन्द्रिय प्रमाणभूत है।

भौतिक इन्द्रियोका परिचय— देखो जैनशासनके अनुसार इन्द्रिया दो प्रकारकी हैं— (१) द्रव्येन्द्रिय और (२) भावेन्द्रिय । द्रव्येन्द्रिय तो शरीरकी रचनारूप है जो दिख रही है। ये कान, नाक, आख, जीभ और यह सारा चमडा ये पाचो है द्रव्येन्द्रिय । ये द्रव्येन्द्रिय पौद्गलिक है, भौतिक है, तो इन इन्द्रियोमे भी देखो नामकर्मकी कैसी रचना है कि सब इन्द्रियोके साथ निर्वृत्ति और उपकरण लगे हुए है । निर्वृत्ति तो है वह जो खास इन्द्रिय है ना, जिसके निमित्तसे ज्ञान किया जाता है उसकी रचना और उपकरण क्या है ? उसकी रक्षा करनेके लिए जो आस-पासकी और चीजें बनी है वे हैं उपकरण । जैसे आप बतला सकते हैं क्या कि आख कितनी बडी है ? आप तो उतनी बडी बोलेंगे जितनी कि पूरी आख दिख रही है, पर आख उतनी बडी नही है । उस आखमे जो सफेदी है वह भी आख है क्या ? अच्छा तो जितना यह काला है वह तो आख होगी ? नही, नही जितना यह आँखका काला भाग दिख रहा है वह भी आँख नही है । तो उस कालेके अन्दर जो और काला है वह आँख होगी ? हा हा वह है द्रव्येन्द्रिय । तो अब देखो आख तो मसूरके दानेके बराबर है, मगर उसकी रक्षा करनेके लिए उसके पास और गोल-गोल काला पिण्ड लगा है और उसके बाद सफेद पिण्ड भी लगा है और इसके बाद भी इनमे पलक भी लग गए । आधी आये तो आखोको मीच लें, नही तो धूल आखोमे भर जायगी । देखो कितनी सुविधा सहूलियत मिल रही है ? सो इन पलकोसे क्या काम करें ? ये पलक किसलिए है ? अगर आधी आये, धूल आये तो आखें मीच लेनी चाहिएँ । और क्या-क्या कर लेंगे ? और जानना चाहते हो । अच्छा, देखो आख की पलकोका उत्तम सदुपयोग तो यह है कि इन्हे जब चाहे सदा बद रखे रहे । जब जरूरत हो तब थोडा खोल लें, अपना काम कर ले, बाकी समय इन ढक्कनोसे आँखोको बन्द किये रहे । देखो ये आखें और यह जीभ इन दोनोने परेशान कर रखा है सबको । जीभने तो इसकी इतनी परेशानी कर रखी कि कुछ पूछो ही नही । न शास्त्र सुनने दे, न सुनाने दे । एक तो यह ही परेशानी है । दूसरी परेशानी यह है कि कुछसे कुछ जीभ अगर लटका दे, बोल दे तो अभी लडाई खडी हो जाय । और तीसरी परेशानी यह है कि खूब चटपटी चटीली चीजें स्वाद लेनेके लिए इसे चाहियें । उसपर सापकी जीभ जैसी मटकती है, उसीके लिए तो रात-दिन मर रहे है, परेशान होते फिर रहे है । इस चार अगुलकी जीभने इस मनुष्यके जीवनको नीरस बना डाला । अच्छा, और आखोसे क्या परेशानी है ? जितनी सारी उलझनें इस मनुष्यको बनती हैं उनका प्रारम्भ इन आखोसे होता है । पहले तो वे आखें बहुत दिन तक तो देखती रही, फिर मनमे आया कि इससे बोल लें, फिर उससे बोलना शुरू किया । फिर मनने और राग बढ़ाया । और मोह बढा तो जितना बडीसे बडी उलझन है उन सारी उलझनोका मगलाचरण ये आखें करती हैं । तो देखो इतनी बडी कठिनाइया आती है इन दो आखोसे और

मुखसे। मगर देखो जितनी बडी बाधा इनसे मिल रही है उतनी बडी सुविधा भी हमारे पास है। आखोके लिए भी दो ढक्कन है और मुखके लिए भी दो ढक्कन है। है ना ओठ। अरे क्यो उलझनमे पडते ? उन ढक्कनोसे काम कर लो। दोनो ओठ बन्द कर लो, झगडा समाप्त, न हल्ला होगा न गुल्ला, न क्षोभ आयगा, न अशान्ति। इन आखोके पलक बन्द कर ले तो सारी कल्पनाये खत्म हो जायेंगी। ऐसा मार्ग निकल आनेकी सभावना है। तो देखो ये द्रव्येन्द्रिया निर्वृत्ति और उपकरण है।

द्रव्येन्द्रियोकी पौद्गलिक वर्गणाओसे निर्वृत्तता—ये द्रव्येन्द्रिया सब नामकर्मसे निर्वृत्त है। समयसारमे उदाहरण इस तरह दिया कि देखो जैसे लोहेसे बनी तलवार लोहमय है इसी तरह नामकर्म पौद्गलिकसे रची हुई जो इन्द्रिया है, शरीर है, वह पौद्गलिक है। तब जरा इसपर ध्यान दें—जैसे कहते है ना लोग कि कर्मपर दृष्टि दो तो निमित्त है, न दृष्टि दो तो निमित्त नही, पर यह भी याद है कि कर्मके चार भेद होते है—(१) जीवविपाकी, ( ) पुद्गलविपाकी, (३) क्षेत्रविपाकी और (४) भवविपाकी। तो इनमे पौद्गलिक कर्म तो अज्ञात है, उस पर कोई दृष्टि नही देता, न उसका कोई सहारा ले पाता, किन्तु उसका तो ठीक निमित्तनैमित्तिक योग चल रहा है। आश्रय लेता है कोई तो इन आश्रयभूत बाह्यपदार्थोका लेता है। अब निमित्त इसका भी नाम है, उसका भी नाम है। तो उपचरित निमित्त को भी निमित्त बोलते है और वास्तविक निमित्तको भी निमित्त कहते है, पर निमित्तनैमित्तिक कहकर अभी तो सबकी दृष्टिमे यह बात थी कि हा, ठीक ही तो है कि बाह्यपदार्थोका आश्रय ले तो विकार होता है, न लें तो विकार नही होता है। तो निमित्तका आश्रय करनेसे विकारोकी उत्पत्ति होती है। ठीक समझमे आ रहा है, मगर उससे हटकर वास्तविक निमित्तपर यदि ऐसा आक्रमण बने याने कहे कि कर्म कुछ निमित्त नही, उसका आश्रय लें तो निमित्त है। तो वहा कर्मकी ओरसे गलती यो नही कि निमित्त उपादानका इस तरहका सम्बन्ध नही है कि निमित्तको हम जानें तो वह निमित्त बने। अरे बाह्यमे जो निमित्त है वह उपचरित निमित्त कहलाता है। इसे कहते है आश्रयभूत कारण। एक जगह ऐसा घटालें तो सब जगह तो न घटेगा। एक वास्तविक निमित्तपर न घटा, अच्छा खैर इसे भी छोडो तो यह बतलाओ कि पुद्गलविपाकी कर्म प्रकृतिमे ऐसा घट सकता क्या कि उनका आश्रय लें, उन्हे जानें तो वे निमित्त बनें। वहा तो बिल्कुल ही घटित न होगा। कैसे ? पुद्गलविपाकी कर्मप्रकृतियोका उदय होता है तो उस समय शरीरकी रचना होती है। जितने प्रकारके बताये गए ये ही तो निमित्त है और वह इस ढगका निमित्त है, विलक्षण निमित्त है कि वह इस शरीर उपादानमे भी कुछ काल व भागमे मिलकर कुछ अगमे उपादान-सा बनकर कुछ शरीरका आरभ बनता, फिर चाहे वहांसे खिसक जाय यह बनेगा।

नामकर्मकी प्रकृतियाँ कुछ इसी ढगकी है, तब ही म॰तोस सारमे बडे स्पष्टरूपसे यह बताया है कि जैसे लोहेसे रची गई तलवार लोहामय है इसी तरह पौद्गलिक नामकर्म प्रकृतियोसे रचा गया शरीर (इन्द्रियाँ) पौद्गलिक है। इनकी रचनाके दृष्टान्तमे उपादानका दृष्टान्त दिया गया है। लोहा उपादान है तलवारका। तो वहाँ ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि जीवके भाव की वहाँ उस समय आश्रयकी बात नही लगती। यह तो भाव पहले कर चुका और जिस प्रकारका परिणाम किया उस प्रकारका नामकर्मका बन्ध हुआ। अब उदय कालमे वर्तमान भावकी देहरचनामे दाल नही गल रही। वहाँ तो उस प्रकारकी रचना बनी है, निमित्तनैमित्तिक योग है। भावोकी दुकान अब भी अपनी न्यारी चल रही। बाह्य वस्तुओका आश्रय करने पर जो विकार होता वह व्यक्त विकार बनता है, ऐसी वहाँ फैक्टरी चल ही रही है विभावकी। सो घातियाकर्मका जो विपाक है वह अलग है और नामकर्मकी जो चीज है उसकी पद्धति अलग है। निर्माण पद्धतिमे ही अन्तर है। यहाँ तीन कारण समझना है—निमित्त, उपादान और आश्रयभूत। रागद्वेषादिक कषाय विकार इनके होनेमे तीन कारण आते है—निमित्त उपादान और आश्रयभूत। किन्तु शरीररचनामे दो कारण है—निमित्त व उपादान तो सब जगह समझ लीजिए, जहा आश्रयभूत कारण है उसकी तो विशेष तैयारी है, मगर निमित्त और उपादानकी जो पद्धतिया हैं वे सर्वत्र एक ढ॰की हैं अर्थात् निमित्त उपादानमे कुछ करता नही, पर निमित्त उपस्थित हुए बिना विकार होता नही। इसका आप जितना अर्थ समझते हो उतना विवरणमे चले जायें।

अचेतन द्रव्येन्द्रियोमें प्रमाणत्वकी असंभवता चेतक भ.वेन्द्रियोमे प्रमाणत्वकी संभवता—बात क्या कही जा रही है प्रकृतमे ? ये इन्द्रियाँ जिनको कि प्रमाण कहा जा रहा है ये चेतन हैं तो वे भावेन्द्रिय कहलायेंगी। और जो द्रव्येन्द्रियाँ है वे भौतिक है, पौद्गलिक है वे केवल नामकर्मसे निष्पन्न हैं। उसमे जीवके भावका वहाँ सम्बन्ध नही है। यद्यपि जीव के आधारसे जब तक है तब तक ये इन्द्रियाँ काम करती है और इन्द्रियोकी रचना भी तब ही हुई है। इतना होनेपर भी द्रव्येन्द्रियकी रचनामे इस जीवके भावका सयोग नही, वहाँ पुद्गलविपाकी कर्मका निमित्त पाकर आहारवर्गणायें शरीररूप परिणम गईं। हाँ इतनी बात अवश्य है कि यह प्रमाता जीव वहाँ उपस्थित है तो इस तरहका काम चल रहा है। पर उपस्थित है, निमित्तपना नही है। द्रव्येन्द्रियोका निमित्तपना शरीर नामकर्मकी प्रकृतियोंसे है। तो बात यह इसलिए कही जा रही कि द्रव्येन्द्रिय निपट भौतिक है। जितनी द्रव्येन्द्रियाँ हैं उतनी की बात समझलो। थोडा एक कथन सुना होगा। निर्वृत्ति दो प्रकारकी कही गई है—(१) आभ्यतर निर्वृत्ति और (२) बाह्यनिर्वृत्ति। बाह्य निर्वृत्ति तो कहलाती है, इन इन्द्रियोके आकारमे आहारवर्गणाओकी, पौद्गलिक वर्गणाओको रचना और आभ्यन्तर

निर्वृत्ति वह कहलाती है कि उन इन्द्रियोमे आत्मप्रदेशका रहना। तो देखो इस तरह अधिष्ठाता मात्रका बोध होता है। इस शरीरमे ये आत्मप्रदेश निरन्तर बडे वेगपूर्वक चक्र लगाते रहते है, और जब आत्मप्रदेशका निरन्तर द्रुत गतिसे चक्र चलता है तो आप बतलाओ कि जो आत्मप्रदेश इन्द्रियपर है, आँखपर है वे प्रदेश तो वहाँ न रहे। बदल बदलकर प्रदेश चलते रहते हैं सारे शरीरमे। इन सब इन्द्रियोमे तो फिर ज्ञान कैसे होता ? ज्ञान यो होता कि चक्षुरिन्द्रियावरणका क्षयोपशम आँखकी जगह रहने वाले आत्मप्रदेशमे ही हो ऐसा नही, किन्तु वह तो सर्वत्र क्षयोपशम है, लगाता रहता चक्र। तो इससे यह ध्वनित होता है कि भले ही आभ्यन्तर निर्वृत्ति है द्रव्येन्द्रियके साथ, लेकिन उसकी उपादानमयी रचनामे उसका हाथ नही, अर्थात् ये आत्मप्रदेश उपादान बनकर द्रव्येन्द्रिय नही बनते। इस तरह ये द्रव्येन्द्रिया निपट पौद्गलिक है। तो अचेतन इन्द्रिया तो ज्ञान करती नही, चेतन इन्द्रिया ज्ञान करती है। उसका अर्थ है कि भावेन्द्रिया ज्ञान करती है। तो भावेन्द्रिया तो प्रमाण है और द्रव्येन्द्रिया प्रमाण नही। अब भावेन्द्रिय कैसे प्रमाण है और उससे सिद्धान्तका विरोध नही आता, यह बात आगे कहेगे।

शङ्काकार द्वारा प्रस्तुत इन्द्रियोकी प्रमाणताकी शङ्काके समाधानका उपसंहार—पदार्थके जाननेके उपाय यहा मुख्यतासे दो बताये गए थे— प्रमाण और नय। प्रमाण और नयोसे तत्त्वोका और सम्यग्दर्शन आदिकका अधिगम होता है। प्रमाण क्या चीज है ? उसके विवरणमे ६ वाँ सूत्र आया था कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवल ज्ञान ये ५ ज्ञान है और उसके समर्थनमे यह १० वा सूत्र आया कि वह सब दो प्रमाणरूप है— ज्ञान और प्रमाण ये दो बाते यद्यपि एक है लेकिन इनमे विशेषणविशेष्य भावका भेद है। प्रमाण तो है विशेष्य और ज्ञान है विशेषण। क्या है प्रमाण ? ज्ञान है प्रमाण। उस ज्ञान की प्रमाणताकी बात बहुत विस्तारसे चली थी। उस प्रकरणको सुनकर शङ्काकारने यह कहा था कि हमको तो ऐसा लगता है कि इन्द्रिय ही प्रमाण है, ज्ञान कुछ नही है। जानकारी जो होती है वह इन इन्द्रियोकी दयासे होती है और इन्द्रियोसे हम काम लेते रहते है तो इन्द्रिया ही प्रमाण है, ज्ञान प्रमाण नही है। इस शङ्काके समाधानमे यहा दो बातें आयी कि मान लो इन्द्रिया प्रमाण है तो जो इन्द्रियाँ प्रमाण है वे इन्द्रियाँ अचेतन है या चेतन ? अचेतन इन्द्रियाँ तो प्रमाण बन नही सकती और चेतन इन्द्रिय कहना सो ठीक है, सिद्धसाधन है। चेतन इन्द्रियके मायने भावेन्द्रिय यानि लब्धि और उपयोगरूप भावेन्द्रिय। ये भावेन्द्रियाँ किसकी पर्याय हैं ? ये चेतनकी विकृत पर्याय हैं, जीवकी परिणति है, पुद्गलकी परिणति नही। शब्द यद्यपि 'इन्द्रिय' लगा है इसमे, किन्तु साथमे भाव भी तो लगा है। भावेन्द्रिय, लब्धि और उपयोगको भावेन्द्रिय कहते है। अब यहा देखो लब्धिका अर्थ है आवरणका क्षयो-

पशम। तो आवरणका क्षयोपशम जीवमे है कि कर्ममे ? वह तो कर्ममे है। फिर यहाँ कैसे कह दिया कि भावेन्द्रिय इस जीवकी एक परिणति है। तो लब्धि मायने यह है कि आवरणका क्षयोपशम होनेपर जो योग्यता बनती है वह है लब्धि। तो वह योग्यता जीवकी है और उपयोग लगा, जिस ओर अभिमुख हुआ उसीका नाम उपयोग है। तो उपयोग तो उपयोग है ही। तो बात असलमे ज्ञान तक ही तो आयी। भावेन्द्रिय मायने ज्ञान। जैसे कुछ दार्शनिक मानते ना ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय और भौतिकेन्द्रिय। तो जो ज्ञानइन्द्रिय है सो ही भावेन्द्रिय है। यह प्रमाण है याने जहाँ मतिज्ञान और श्रुतज्ञान हो रहा है वहाके प्रसगकी बात है। सर्वत्र यह ही प्रमाण है सो नही, मगर भावेन्द्रिय प्रमाण ही है। भावेन्द्रिय ही प्रमाण है ऐसा नही, किन्तु अवधिज्ञान भी प्रमाण है। मन पर्ययज्ञान भी है, केवलज्ञान भी है वह भी प्रमाण है और जो भावेन्द्रिय है वह अप्रमाण नही, वह प्रमाणभूत है। तो ज्ञान ही प्रमाण है यह बात आयी ना ? जैसे अचेतन पक्षमे शङ्काकारने यह कहा था कि आत्मा व्यापारसहित हो तब उसकी इन्द्रिया प्रमाण है, तो वह व्यापार क्या है ? यह ही उपयोग। उपयोग लगायें, उस ओर अभिमुख हो, ध्यान दे तो वह ध्यान देना, उपयोग देना—ये सब ज्ञान ही कहलाते है। तो ज्ञान ही प्रमाण है, यह बात आयी।

शङ्काकार द्वारा इन्द्रियार्थ सन्निकर्षकी प्रमाणता मान लेनेका प्रस्ताव—इन्द्रियोकी प्रमाणता सिद्ध करनेमे जब थक गया शङ्काकार कि हमने इन्द्रियको प्रमाण सिद्ध करनेकी बहुत कोशिश की, मगर हम सफल न हो सके। अब क्या करें ? कसम तो यह खा रखी है कि हम न बोलेंगे मुखसे कि ज्ञान ही प्रमाण है। अब दाल कैसे गले ? तो एक बात और उनकी सुनो, वह कहता है—सुनो सुनो, अभी मामला खतम न करो, इन्द्रिया प्रमाण है, इसका अर्थ यह लगावो कि इन्द्रियोका सन्निकर्ष प्रमाण है। इन्द्रिया प्रमाण है, ऐसा कहने मे तो विपत्ति देना एक सरल बात हो गई। मगर इन्द्रिय और पदार्थ इनका जो भिडाव है वह प्रमाण है। जैसे स्पर्शनइन्द्रिय है, हाथ है ना ? हाथ तो स्पर्शनइन्द्रिय प्रमाण नही, किन्तु स्पर्शनइन्द्रिय और ठडा जल, ठडी बरफ इनका हो गया सम्बन्ध, तो यह है प्रमाण। इसे बोलते है इन्द्रियार्थसन्निकर्ष। अब इसमे क्या आपत्ति देंगे ? जब चीजमे हाथ लगाया तब ही तो ज्ञान बनता। जब जीभपर चीज रखा तब ही तो रसका ज्ञान बनता। जब नाकमे गधके परमाणु जायें तब ही तो गधका ज्ञान बनता और जब कानमे शब्द जायें तो शब्द सुनना बनता और आँखोसे कैसा सन्निकर्ष ? सो सुनो—शङ्काकार कह रहा है कि आखें यो अलग रहकर नही देखती है, आखोसे किरणें निकलती है और वे किरणे पदार्थपर लगती हैं, ऐसा जब भिडाव होता है आँखका और पदार्थका तब ज्ञान होता है तो वहा भी यह सन्निकर्ष है।

वास्तविकताका किञ्चित् दिग्दर्शन कराते हुये शङ्काकारकी शङ्काका विवरण—देखो बात सब आगे आयगी, प्रकरण होगा तो। इन्द्रिय और मन ये दो अप्राप्यकारी माने गए है। बाकी इन्द्रियाँ तो भिडकर जानती है। स्पर्शन तो जब स्पर्शनइन्द्रिय छुवे किसी चीजको तब स्पर्शका ज्ञान होता। ऐसे ही रसनापर जब कोई चीज आयी तो रसका ज्ञान होता, ऐसे ही नाकमे भी स्पर्श होता, मगर आँख बिना छुवे ही दूरसे पदार्थको जानती है। किरणकी बात गलत है कि आँखमे से किरणें निकलती है और पदार्थको छूती है तब जानती है। वह विषय एक अलग है। अगर किरणें निकलकर जाने तो आप यह बतलावो कि सामने अगर बहुत मोटा काँच रख दिया जाय तो किरणें तो काँचको छू जायेंगी, अड जायेंगी, फिर काँचके पीछेकी चीजें क्यो जाननेमे आ जाती हैं? आँखकी किरणें तो उस काँचसे अड गईं। अब आगे जा ही नही सकती। काचके पीछेकी चीज क्यो ज्ञानमे आ जाती है? आंखोसे किरणें निकलें, पदार्थको छुवें तब रूप जाननेमे आये, ऐसा नही है। खैर वर्तमानमे यह ही शङ्का चल रही है कि इन्द्रिय और पदार्थका सन्निकर्ष हो, सम्बन्ध हो वह प्रमाण है, ज्ञान प्रमाण नही है। देखो सत्य बात तो यह ही है कि ज्ञान ही प्रमाण है। कही आप जावो, कुछ भी प्रमाणमे वस्तु पेश करो, जब ज्ञान बनता है तब ठीकपनका निश्चय होता है कि हा बात सही है। जैसे आप रोकडखाता पेश करें, रजिस्ट्री वगैरा कागजात पेश करें तो वहा भी प्रमाण तब बनता है जब उनको देखकर यह ज्ञान बन जाता है कि हाँ बात सही है। घटना ऐसी हुई। ज्ञानको प्रमाण कहते हैं, न कि रोकड, रजिस्ट्री वगैराको प्रमाण कहते। ये तो ज्ञानके एक बाह्य साधन बन गए। उनको बाचकर, पढकर जाना गया। जो जाना गया, जो ज्ञान है सो प्रमाण है, किन्तु यहा शङ्काकार क्या कहता है कि इन्द्रिय और पदार्थका जो भिडाव है, लगाव है सो प्रमाण है। तो ये सन्निकर्षको प्रमाण कहते।

सन्निकर्षका अर्थ आत्माकी अर्थग्रहणयोग्यता माननेपर विसंवादकी समाप्ति—अब सन्निकर्षकी समस्याके उत्तरमे यह बात समझें कि सन्निकर्षका अर्थ अगर ढगसे हो जाय तो उसकी बात सही बन जायगी। परन्तु वास्तविकता हो कुछ और, कहे कुछ तो विवाद होता है। देखो बहुतसे विवाद दो कारणोसे हो रहे हैं। जो आपसमे फूट, मतभेद सिद्धांतके नामपर धर्मके नाम पर जो मत भेद चलते हैं उनकी आधारशिला दो है। एक यह है कि शब्द तो है सामान्य, उसके ८—१० अर्थ किए जा सकते है। अब कहने वाला शब्दका कुछ अर्थ समझ कर उसकी व्याख्या बना रहा, उसकी विशेषता बता रहा और सुनने वाला शब्दका दूसरा अर्थ रखकर उसे सुन रहा तो विरोध तो हो ही जायगा। जिस अर्थके आशयसे वक्ता कह रहा उसी अर्थका आशय रखकर सुने तो विरोध नही। दूसरी विरोधकी बात यह है कि कहा तो जाता नयसे ना, अब जो नयसे कह रहा है कोई वक्ता और श्रोता सुन रहा है किसी

दूसरे नयसे तो वहाँ विरोध हो ही जायगा। अब रही यह बात कि सत्य है कि नही ? तो उसका उत्तर यह है कि जिस नयसे कहे जा रहा वक्ता यदि उसके प्रतिपक्षी नयकी बात भी समझ रहा है तो उसके उस नयकी बात सत्य है। अगर प्रतिपक्ष नयकी बातमे विरोध करता है तो उसकी कही हुई बात असत्य है। देखो सत्य होकर भी असत्य है। एक नयमे जो बात समझी जाती, कही जाती वह तो उस नयमे सत्य है। मगर उस नयके प्रतिपक्षनय की बातका विरोध करे मायने प्रतिपक्षनयको असत्य कहे तो सत्य कहकर भी असत्य बन जाता है। तो ऐसी कुछ आधारशिलायें है जिनपर कि परस्पर विरोध हो जाता है और वे बातें समाप्त हो जायें तो विरोधका कही अवकाश क्या है ? यह जैनशासन विरोधके लिए उत्पन्न हुआ है क्या ? अरे यह शासन तो सबको आनन्द देनेके लिए है। जिस स्याद्वादमे यह सामर्थ्य है कि जैनशासनके अन्तर्गत अनेक प्रकार की समझदारी की बातें कही गई, भिन्न-भिन्न दार्शनिकोकी बातोका भी समन्वय कर सकते है और उनको एक जगह बिठला सकते हैं।

स्याद्वादमे विद्वेषके अवसरका अभाव—स्याद्वादमे क्या कही विरोध और फूटाफाटी का अवकाश भी है क्या ? नही है। तो ये सब बातें अपनी गल्तीसे होती हैं और काल पचमकाल है तो यह तो कभी अन्तमे जो प्रवृत्तिरूप धर्म है इसका तो निशान भी नही रहने का। उसीके चिन्ह चलते जा रहे। जैसे देखो कहते है ना कि छठे कालके अतमे प्रलय होगी। देखो लिखा तो है कि ७ दिन अग्निकी वर्षा होगी, ७ दिन धाराप्रवाह जलकी वर्षा होगी। आदि ७–७ दिन ७ प्रकारकी वर्षा होगी तो उसके प्रमाण तो अब ही मिल रहे। ये जो ऐटमबम, हाइड्रोजनबम वगैरा या और और जो अनेक प्रकारकी विनाशकारी शक्तिया जो आज तैयार की जा रही है तो वे क्यो तैयार की जा रही है ? अरे ये कभी न कभी तो फूटेंगे ही। जो आज अपने घरमे धरे है वही गड़बड हो जायगी। यह ही तो एक अग्नि जैसी वर्षा होगी। तो प्रलयकालके रूपक आज भी देखनेको मिल रहे है। उस छठे कालके वे दिन अवश्य आयेंगे जब कि यह सब कुछ हो जायगा। पर अपने लिए इतना ध्यान रखें कि हम बाहर क्या तकें, किसे तकें ? खुद दुःखी हैं, कर्म प्रेरित है, पर्यायमे अटके है, जन्म मरण करते है। तो जैसे किसी जगह कई लोगोकी दाढीमे आग लग जाय तो वहा क्या कोई पहले किसी दूसरे की दाढी बुझाने जायगा ? अरे वह तो पहले खुदकी दाढीकी आग बुझायगा तो ऐसे ही जब खुदमे इतनी विडम्बनायें बस रही है, दुःखी हो रहे है तो खुदका काम तो करना नही चाहते और व्यर्थकी बातोमे, व्यर्थकी गप्पोमे पडकर अपना जीवन व्यर्थ गवाते। जिस बातचीतमे कषायका अश जगनेकी सम्भावना हो या कषायके आधारपर ही कुछ रचा गया हो तो उसे गप्प बोलिये। जितना ज्ञानस्वभावकी ओर अभिमुख रहनेका यत्न है सो तो है कृत्य और जो कषायाश जगने की बात है वह सब है गप्प। अब गप्पकी तो आदत पड़ी हुई है। अच्छा तो

वह आदत तो मिटती नही । अब बुरी गप्प तो नही कर सकते, कुछ सज्जनता आयी है तो भली गप्प कर लो । गप्प बिना समय नही गुजरता कषायमे तो गप्पोकी कषायके कारण आदत पडी हुई है । उन गप्पोको छोडें और अपने आपका जो विशुद्ध कार्य है, जिमसे कल्याण हो उस बातमे आये । कहाँ है कल्याण इस सहज ज्ञानस्वरूपमे मग्न होनेमे । और दूसरी बात है ही नही । अब वह मिले कैसे ? तो उसका उपाय बताता है अभूतार्थनय । अभूतार्थनयसे जानें ७ तत्त्व, ६ पदार्थ, परिचय बनावें, सब विधि बतायेंगे । सब कुछ गैल बतायेंगे उस तरह चलें । तो यहाँ अभूतार्थनय द्वारा ही तो यह अधिगमकी बात चल रही है । प्रमाण और नयोसे पदार्थका ज्ञान करें । सम्यक्ज्ञानको प्रमाण कहा ।

अर्थग्रहणयोग्यत्व सन्निकर्षकी प्रमाणतामे विसंवादका अभाव—ज्ञानके बारेमे यह शङ्का चल रही है कि ज्ञान प्रमाण नही है, किन्तु सन्निकर्ष प्रमाण है । तो आचार्यदेव कहते है कि अगर सन्निकर्षका अर्थ यह लगावें कि आतमामे पदार्थको जाननेकी योग्यता होना सो सन्निकर्ष है । तब तो सन्निकर्षका नाम लेकर हम प्रमाण कह देंगे कि हाँ सन्निकर्ष प्रमाण है । अब देखो ऐसी-ऐसी बातें, ऐसे-ऐसे शब्द जो जैनशासनमे प्रयुक्त नही होते और उनका अर्थ ढंगसे लगा लें तो समन्वय बन जायगा । लो यहाँ सन्निकर्ष प्रमाण हो गया । पदार्थोंके ग्रहण की योग्यताका नाम अगर सन्निकर्ष है तो वह है चेतनात्मक और उस सन्निकर्षको प्रमाण माननेके लिए कौन मना करता है ? हां है सन्निकर्ष प्रमाण । भीतर जो ज्ञान चल रहा है, ज्ञान जगनेकी जो योग्यता है वह ज्ञान हुआ, वह ही प्रमाण है । और देखो जो भाववाचक शब्द होते ना, उनके तीन-तीन तरहसे अर्थ होते है । जैसे 'ज्ञान' यह भाववाचक शब्द है, तो तीन तरहसे अर्थ है । जो जाने सो ज्ञान । जिसके द्वारा जाना जाय सो ज्ञान । जो जानना सो ज्ञान । एक कर्तृत्वकी मुख्यतामे रहा, एक करणत्वकी मुख्यतामे रहा और एक भाव प्रधान रहा । तो प्रमाणके भी तीन अर्थ कर लीजिए—प्ररिणति इति प्रमाण, प्रमीयते अनेन इति प्रमाण, प्रकर्षेण मान इति प्रमाण । तो अब कर्तृत्वके रूपसे देखें अर्थको, जाननेकी योग्यतासे परिणत आत्मा ही तो पदार्थको जानता है तो वह प्रमाण कहलाया । यह प्रभु यह ज्ञान, यह ही प्रमाण है । कौन है हमारा देव ? ज्ञानदेवता । भगवानमे भी क्या हम तकते है ? ज्ञानदेवता, अपनेको भी क्या तके ? ज्ञानदेवता । अपना जो ज्ञानस्वभाव है उसको निरखें ।

ज्ञानधनरूपमे आत्मस्वरूपकी समझ होनेपर सर्वविवादोकी समाप्ति—देखो जब यह समझमे आ जावे कि मैं तो ज्ञानघन हू, ज्ञान ही मेरा धन है, अन्य कुछ मेरा धन नही है, तो देखो कितनी विपत्तियाँ नष्ट हो जाती है ? काहेका झगडा ? काहेका विवाद ? कलह विवाद सब अज्ञानमे ही जकडा हुआ है । देखो स्त्रीके वाचक तीन शब्द हैं—भार्या, दारा,

और कलत्र। अब इनके अर्थ क्या है सो देखो भार्या मायने जो गृहभारको बडी होशियारीसे सभाले, घरका पूरा बोझ सभाले, और कलत्र मायने जो शरीरकी रक्षा करे सो कलत्र। स्त्री न हो तो यह पति भी भूखो मरे और पुत्र भी। सबके शरीरकी यह रक्षा करती है। तो कल मायने शरीर उसकी जो रक्षा करे सो कलत्र और दाराका क्या अर्थ है दारयति भ्रातृन् भेदयति या सा दारा। जो भाई भाईमे लडाई करा दे, कलह करा दे उसे कहते है दारा। देखो लोग इसे गालीमे ले ले, कहते हैं ना गालीमे "दारी" मगर उसका अर्थ क्या है ? दाराका अर्थ है कि जो भाई भाईको लडा भिडाकर अलग करा दे। उनमे आपसमे पटती नही ना ? भाई भाई न्यारे न होना चाहे तो भी न्यारा करवा देती है। तो हम यह बतला रहे हैं कि अगर यो स्वरूप जान जायें सब कि मैं तो ज्ञानघन हू, मेरा तो ज्ञान ही सर्वस्व है और कुछ नही है तो क्यो लडाई हो ? ऐसी जानकारी करिये तो सब लडाई खतम। जब अपने ज्ञान की सुध नही रहती और बाहरी पदार्थोंको ही हम अपना धन समझते है तो वहाँ लडाई चलती है।

ज्ञानका महत्त्व समझ लेनेमे वास्तविक सम्पन्नताका अभ्युदय—ज्ञान ही अपना एक स्वरूप है। उस ही की बात चल रही है। यह ज्ञानप्रमाण है, अन्य कुछ प्रमाण नही। देखो यही एक बात काममे आयगी। सबसे बडी कीमतकी चीज है ज्ञान। धनकी कीमत नही। यह बात दिलमे खूब बैठा लो। अच्छा है, नही तो पथ न मिलेगा। मरण भी बहुत होगे, जन्म भी बहुत होंगे, ससारमे रुलना पडेगा। कीमती चीज, अमूल्य चीज तो ज्ञान है। धन का मूल्य नहो, धन कीमती नहीं। वह तो बाहरी वस्तु है। आया है तो जायगा, कही जावो। उससे मेरेको क्या मिलता ? विकल्प और उठते है और जितना गृहस्थीमे जरूरत है उतना तो स्वयमेव मिलता ही है। जहाँ इतना पुण्योदय है कि जैन शासन पाया है, उत्तम कुल पाया है वहाँ टोटा कुछ भी नही पडनेका। अगर तृष्णा चित्तमे है तो उसको निरन्तर हैरानी रहती है। इसलिए कीमत समझो ज्ञानकी। मेरेको ज्ञान जगे, उसके लिए तन भी जाय, मन भी जाय, धन भी जाय, प्राण भी जायें, वचन भी जायें, सब कुछ न्यौछावर हो और अपने को ज्ञान मिले तो समझो कि हमे सब कुछ मिल गया। अपना ज्ञान कलकित हो, रागद्वेष कषायादिकसे मलिन हो और चाहे राजपाट भी मिले तो भी विडम्बना है, विपत्ति है। सुख धनसे नही होता। सुख तो अपने ज्ञानसे होता है, विवेकसे, बुद्धिसे सुख होता है।

प्रमाता और प्रमाणमे कथंचित् भेद अभेद समझनेकी पद्धतिमे प्रमाणत्वकी शङ्काओ का निरसन—ज्ञानके प्रमाणके सम्बन्धमे चर्चा चल रही है। जो जाने सो ज्ञान, जो प्रमाणे सो प्रमाण। प्रमाण यह आत्मा ही है। तो जो लोग कहते है कि सन्निकर्ष प्रमाण है उनको

भी स्याद्वादी मना नही करते। मगर सन्निकर्षका अर्थ यह जानें कि पदार्थको जाननेकी योग्यतासे प्रवृत्त जीव जानता है। इसको कहते है सन्निकर्ष। इस प्रसगको सुनकर शङ्काकार घबडा गया। ये तो हमारी सारी बातें उलट दे रहे, सो शङ्काकार कहता है कि देखो तुम्हारे मतव्यसे यह जाहिर हो रहा कि तुम एक ही को दो बार कह रहे हो– प्रमाता और प्रमाण। मायने जो जानता सो प्रमाण। जानता कौन ? आत्मा। वह ही प्रमाण। तो प्रमाण क्या रहा ? वह तो प्रमाता रह गया। वह तो आत्मात्मक हो गया प्रमाण। प्रमाण तो कुछ न रहा। तो समाधानमे कहते है कि देखो प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति इन चारमे सर्वथा भेद नही है। कथञ्चित् भेद है, कथञ्चित् अभेद है। जानने वाला और जिसके द्वारा जाना गया, जिसको जाना और जो जानन हुआ, ये चारो बातें अलग नही है। एक ही की बाते है। इस लिए यह कोई दोष नही है कि प्रमाण नही रहा और मात्र प्रमाता ही रहा। प्रमाता और प्रमाणका कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध है। जिन दार्शनिकोने ज्ञाता और ज्ञानको बिल्कुल जुदा जुदा माना है, देखो जिसकी बात कर रहे—जानना कौन ? आत्मा, और जिसके द्वारा जाना गया उसका नाम ज्ञान। तो ज्ञान और ज्ञाता इन दो की बात कह रहे। जो जानता है सो ज्ञाता और जिसके द्वारा जानना है तो ज्ञान। ये दो बातें अलग-अलग है क्या ? है तो एक रूप और उसकी मुद्रामे बनाये गए हैं भेद, पर कोई दार्शनिक कहता है कि ये तो बिलकुल ऐसे जुदे है जैसे कि ये दो खम्भा खडे है। इनका परस्पर क्या मतलब ? बिलकुल जुदे जुदे है, ऐसे ही ज्ञान अलग है और ज्ञाता अलग है। बिल्कुल न्यारी-न्यारी दो बातें हैं, ऐसी शका-कार अपनी बात रख रहा है। तो देखो इसमे कितना बडा दोष है ? सत्यताके विरुद्ध कोई कहे तो वह निभ नही पाता। अब मान रहे ये लोग कि ज्ञान तो बिल्कुल अलग चीज है और ज्ञाता बिल्कुल अलग है। तो देखो जैसे जिस ज्ञानके द्वारा मुझ ज्ञाताको जानूं वह ज्ञान शकाकारकी दृष्टिमे हमसे अलग है ना और ऐसे ही दुनियामे जो अनेक मनुष्य है, जीव है उनसे भी अलग है। तो यह ज्ञान तो सबके लिए एक समान रहा ना ? हमसे भी अलग है और अन्य सब जीवोसे भी अलग है वह ज्ञान। तो जब यह ज्ञान सबके लिए एक समान निराला है तो इस ज्ञानके द्वारा हमको ही ज्ञान होता है, दुनिया भरको नही होता, इसका क्या कारण है ? क्योकि उस पदार्थविषयक ज्ञान मेरेसे बिल्कुल अलग पड़ा है और उस ज्ञानके द्वारा हम जानते है तो ऐसे अलग पडे हुए ज्ञानके द्वारा जैसे हम जान जाते हैं ऐसे ही अलग पडे हुए इस ज्ञानके द्वारा सारी दुनिया जान जाय। क्यो नही जानता ? जान जाना चाहिए। तो ज्ञानको ज्ञाता आत्मासे बिल्कुल अलग माननेमे कोई व्यवस्था नही बनती। इससे ही समझना चाहिए कि ज्ञाता ज्ञान निराले-निराले तत्त्व नही है। जो ज्ञान है सो मैं हू। जो मैं हू सो ही ज्ञान है।

ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वके अनुभवका प्रभाव—देखो स्वानुभवके लिए तो ज्ञानमात्रका अनुभव करना बहुत ही सहायक है। कोई कहे कि हमे अपना ज्ञान नही है, मेरेको आत्मा का ज्ञान नही है, तो जरा आत्माका ज्ञान तो करा दो। देखो आत्माका ज्ञान अभी बतावेंगे, थोडा एक बीचमे दृष्टान्त ले लो। एक राजा और मन्त्री थे, तो मन्त्री आत्माकी बात बहुत करता था और राजाको सुहाये नही, उसकी समझमे ही न आये। तो एक दिन राजा घोडे पर चढकर कही जा रहा था और रास्तेमे मन्त्रीका घर मिला तो वहाँ राजा मन्त्रीसे कहने लगा कि मन्त्रीजी मुझे आत्माकी बात समझा दो। तो मन्त्री बोला—महाराज! आप घोडेसे नीचे उतरिये, एक आध घन्टा आरामसे हमारे पास बैठिये तो हम तुम्हे आत्माकी बात सुनावें। तो राजा बोला— अरे हमे इतनी फुरसत कहाँ, हमे तो कोई ५-७ मिनटमे ही सुना दीजिए। तो मन्त्री बोला—महाराज यदि हमारा अपराध माफ हो तो हम ५-७ मिनटकी बात क्या, कोई पाव सेकेण्डमे ही समझा दें? हाँ हाँ माफ है, समझा दो। तो मन्त्रीने राजा के हाथसे कोडा छीन लिया और दो चार कोडे राजाके जमा दिया। राजा बोला—अरे रे रे भगवान। तो मन्त्री बोला—देखो भगवान तो तुम मान ही गए, कह ही रहे भगवान और जिससे अरे रे रे है वह है आत्मा। तो देखो भाई इस तरहसे अगर आत्माकी बात समझना चाहो तो यो समझलो और सीधे सीधे समझना चाहो तो वैसे समझ लो। हाँ जब आप अपने मे ऐसा ध्यान लगायें कि मैं ज्ञान ही ज्ञान हू, ज्ञान ज्ञान, ज्ञानका स्वरूप क्या? जानना। जाननेमे क्या हुआ करता? ऐसा प्रतिभास। बहुत गहरे घुसते जायें, ज्ञानकी बात सोचते जायें और अपनेको ज्ञानमात्र अनुभवते जाये। जब ज्ञानका विशुद्ध स्वरूप आपके ज्ञानमे होगा तो अनुभव जग जायगा। तो अपनेको ज्ञानमात्र इस तरहकी प्रतीतिमे लगाये तो यह होगा अपने सम्यग्ज्ञानका बहुत सरल उपायसे एक प्रयोग।

अचेतन होनेके कारण इन्द्रिय और इन्द्रियार्थसन्निकर्षमे प्रमाणत्वकी असंभवता—ज्ञान ही प्रमाण है, यह विषय चल रहा है, अज्ञान प्रमाण नही है। इन्द्रिया है अज्ञान, वह प्रमाण नही हो सकता और इन्द्रियका सन्निकर्ष भी है अचेतन, सो यह भी प्रमाण नही हो सकता। इस प्रसगमे सन्निकर्षवादीने अपना यह मतव्य रखा था कि इन्द्रियका और पदार्थ का सम्बन्ध हुआ तब ही ज्ञान होता है। होते हैं ना कूपमडूक, जो कुवेंमे मेढक होते है उनको क्या ज्ञान रहता है कि सारी दुनिया इतनी ही है जितना कि कुवा, उसके बाहर भी क्या है कुछ, सो परिचय नही रहता। एक बार हस कहीसे उडकर आया, कुवा की बाट पर बैठ गया, तो नीचेमे वह मेढक पूछता है कि तुम कौन हो? तो वह बोला—हस। कहा रहते? मानसरोवरमे। वह मान सरोवर कितना बडा है? बहुत बडा। तो मेढक ने एक पैर फैलाकर कहा—अजी इतना बडा? अरे इससे भी बडा। दूसरा पैर फैलाकर

कहा– क्या इतना बडा ? अरे इससे भी बडा। तीसरा पैर फैलाकर कहा तो क्या इतना बडा ? अरे इससे भी बडा, चौथा पैर फैलाकर कहा - तो क्या इतना बडा ? अरे इससे भी बडा। अब एक किनारेसे दूसरे किनारे तक उछलकर कहता है– तो क्या इतना बडा ? अरे इससे भी बहुत बडा। तो वह मेढक झुझलाकर बोला-- अरे तुम बिल्कुल झूठ कहते हो। इससे बडी तो दुनिया है ही नही। तो जो लोगोको ज्ञान चल रहा है--मतिज्ञान श्रुतज्ञान वही एक दृष्टिमे है शकाकारके और जब कुछ गहरी चर्चा आयगी तो यह बतलावेंगे। जो बडे-बडे ऋषि सत जन हैं, योगी जन है उनको कैसे ज्ञान हो गया ? प्रत्यक्ष ज्ञान है ना, तो कहेगे कि योगज धर्मसे अनुग्रहीत है उनकी इन्द्रियाँ, सो इन्द्रियका सन्निकर्ष होता है। अब यह कवायत ही तो दिमागकी चल रही है। इन्द्रिय और पदार्थका सन्निकर्ष प्रमाण है, ऐसा कहने वाले लोग यदि सन्निकर्षका अर्थ इतना माने कि पदार्थका ग्रहण करनेकी योग्यता से प्रवृत्त होकर आत्मा उन पदार्थोके जाननेके प्रति अभिमुख होता है तब तो ठीक है। सन्निकर्ष प्रमाण है। जहा चैतन्यका कुछ नाम ही न ले और मात्र इन्द्रिय और पदार्थका सन्निकर्ष कहा तो प्रमाण नही।

प्रमाण और प्रमातामे कथंचित् तादात्म्य होनेसे स्वयंके ज्ञानद्वारा स्वयंको ही जानकारी होनेकी सिद्धि—प्रमाण और प्रमातामे कथचित् तादात्म्य है, भेद नही है, और प्रमाता चेतन है, सो प्रमाण भी चेतनात्मक ही होता। यदि प्रमाता व प्रमाणमे भेद मानोगे कि जानने वाला आत्मा दूसरा पदार्थ है और जिस ज्ञानके द्वारा जाना जाता है वह दूसरा पदार्थ है। तो लो हमने जिस ज्ञानके द्वारा जाना वह तो हमसे न्यारा हुआ ना ? तो जैसे हमसे न्यारा है वह ज्ञान, ऐसे ही दुनिया भरके सब जीवोसे भी वह न्यारा है। उस ज्ञानमे हम ही जान पायें और दुनिया भर न जाने—यह भेद क्यो ? फिर तो सबको उस एक ज्ञानसे जानना चाहिए। इससे समझो कि प्रमाण ज्ञान इस आत्मामे जुदी चीज नही है। आत्मामे ही ज्ञानका तादात्म्य सम्बन्ध है, अन्यथा यह बात नही बन सकती कि इस ज्ञानके द्वारा हमको ही ज्ञान हो और दूसरेको न हो। इस पर शङ्काकार कहता है कि बात ऐसी है कि वह प्रमाण वह ज्ञान है तो आत्मामे जुदी चीज, मगर उस प्रमाणका सम्बन्ध जिस आत्मामे हो वह आत्मा जान पाता है उस ज्ञानसे, दूसरे आत्मा नही जान पाते। देखो ध्यान देकर सुनो, आगेकी बात भी समझमे आयगी। बात कही जा रही है खुदकी, निजकी। जिस ज्ञानके द्वारा हम जानते है उस ज्ञान को नैयायिक भिन्न कहते है। तो ज्ञान जुदा पदार्थ है और जानने वाला मै आत्मा जुदा पदार्थ हू। देखो किसी भी मनुष्यको मूढ नही कहा जा सकता। सबकी अपनी-अपनी दृष्टियाँ हैं, उनसे बोलते है। देखो ज्ञान और आत्मा अगर जुदे न हो तो वे दो नाम क्यो लेते ? एक ही नाम क्यो नही लेते ? और फिर उनमे कारक भेद क्यो लगाते कि आत्माने ज्ञानके

द्वारा जाना । तो कहाँ कारक भेद है ? अच्छा लक्षणभेद भी है । ज्ञानका स्वरूप जानना है और आत्माका स्वरूप जानना देखना, मग्न होना, आनन्द पाना है । तो कोई बात है थोडी बहुत, तब ही तो भेदकी बात कही किसीने । अब इसे अन्य दार्शनिकोने सर्वथा कह दिया तो इसमे दोष हो गया, कथचित् भेद कहते तो कोई दोष नही है ।

अभेदनय व भेदनयका एकवस्तुमे अविरोध—स्याद्वादकी झाँकी है गणेशकी मूर्ति । गणेश चौथके दिन गणेशकी मूर्ति बनते देखा होगा ? क्या रूपक बनना कि आदमी है और ऊपर सूड बैठी है, और नीचे चूहा है, उसका वाहन बताया गया चूहा । भला कोई ऐसा आदमी था क्या कि जो सूंड लगी पैदा हुआ हो या पीछे लगायी गई हो, और चूहापर बैठकर जाता हो ? जचता तो नही ऐसा, मगर भाव देखो अलकार है उस स्याद्वादकी झाँकी है । कैसे ? स्याद्वादमे देखिये दो नय होते है—(१) अभेदनय और (२) भेदनय । अभेदनयका काम है एकमेक करना, अखण्ड बनना और भेदनयका काम है उसके भेद करना, भिन्न-भिन्न बात विश्लेषण करना अर्थात् देखो यह सूड और यह धड इसका जो एकमेक बन गया है, यह दुनियाको अभेदनयका प्रतीक बताता है । अभेदनय ऐसा अभेद करता है कि जैसे धड और सूंडमे एकपना हो गया, अलकार ही तो है, और वाहन जो चूहा है वह है भेदनयका प्रतीक । जैसे चूहा किसी कागज या कपडेकी दूकानमे घुस जाय और वहाँ अपनी फैक्टरी चालू कर दे तो देखो वह कितने छोटे-छोटे टुकडे कर डालता है, और ऐसे छोटे टुकडे कर देगा कि जितने छोटे टुकडे आप नही कर सकते । तो वह चूहा भेदनयका प्रतीक है । भेद करे तो इस तरह करे और अभेद बने तो इस तरह बने । बस यह एक दर्शनिकी मुद्रा भर है और सभव है कि किसी समय अलकारो द्वारा ही सब कुछ समझाया जाता होगा । फिर लोग अलकारकी बात को भूल गए और देवताकी बात आ गई । मनुष्योको जो चीज ज्यादा उपकारी होती है उनकी आदत है कि वे उसमे देवताकी कल्पना कर डालते है और कालान्तरमे मूल तथ्य भूल जाते है । बहुतसे लोग तो अन्नको भी देवता मानते है, अरे अन्नको इधर-उधर न बहावो , अन्नको देवता क्यो कहा कि अन्न बडी उपकारी चीज है । ऐसे ही कुछ उपकार देख लेनेके आधारपर किसीके पीपल देवता हो गया, किसीके अग्नि देवता हो गया । अग्नि कैसी उपकारिणी कि इसके बिना किसीका काम न चलता था तो इसका इतना आभार माना कि इसे देवताका रूप दे दिया । कोई दो मनुष्य जा रहे थे—एक तो रूढि श्रद्धासे देवताको मानता था, दूसरा था प्रकट विरोधी । पहिलेने जाकर पीपलको नमस्कार किया । और दूसरा आदमी था इसका विरोधी, सो उसने पीपलके पत्ते तोड डाले । खैर, वह पहिला दिल मसोसकर रह गया कि देखो इसने हमारे देवताका अपमान किया । आगे जाकर एक करौंचका पेड मिला । सो पहिलेने उसे दूसरेको पाठ सिखानेके लिये नमस्कार किया, वहाँ भी उस विरोधी पुरुषने

करौंचकी डालियोको तोड ताड डाला। अब तो उस पुरुषके सारे शरीरमे खुजली आ गई, अपने शरीरको खुजाता हुआ वह कह रहा था—अरे इसका दूसरा देवता तो बहुत ही कठिन निकला। तो लोगोकी ऐसी आदत है कि जहाँ कुछ अपना स्वार्थ सधे, बात अधिक निभे उस मे अपने देवताकी कल्पना करते हैं। यहाँ भेदनय अभेदनयकी बात कह रहे है। जानने वाला यह ही ज्ञाता और जिस समझके द्वारा जानता है याने ज्ञान, वह है प्रमाण। तो ज्ञान और आत्मामे भेद नही है, तब तो यह बात बन जाती है कि जो पुरुष अपने ज्ञानके द्वारा जाने तो उसीको ही ज्ञान होता, दूसरेको नही होता। आप अपने अभिन्न ज्ञान द्वारा जानें तो आपको ही ज्ञान होगा, दूसरेको न होगा।

प्रमाणसे प्रमाताका संबंध बनाकर एक ज्ञान द्वारा सब जीवोको ज्ञान न हो सकनेका नियंत्रण करनेकी शङ्काकारकी योजना—वे अच्छा, मीमासक नैयायिक वैशेषिक बतायें तो सही कि जो ज्ञानको आत्मासे जुदा मानते हैं, जुदा पडा हुआ जो ज्ञान है उसके द्वारा यह ही जीव जानता है, सारे जीव क्यो नही जान जाते ? जैसे मेरे लिए जुदा है वैसे ही सबके लिए जुदा है। तो वह उत्तर यह देता है कि ज्ञानका जिस आत्माके साथ सम्बन्ध है वही आत्मा जानता है। उस ज्ञानके द्वारा दूसरा नही जानता। तो अब देखो ऐसी तर्कणा कर सकते ना, कि जब ज्ञान जुदी चीज है, अलग पडा हुआ है पृथक्द्रव्य है तो उस ज्ञानका हममें ही सम्बन्ध क्यो बना और से क्यो नही बना ? इन खम्भा चटाई आदिक अजीव पदार्थोंसे भी क्यो सम्बन्ध नही बनाया ? जब भिन्न है तो वह तो सबसे भिन्न है, सबके लिए एक समान है, वह मुझ आत्मामे ही सम्बन्ध बनाये, ऐसा क्यो ? सबसे क्यो सम्बंध नही बनाया ? तो इसके लिए वे यह कहते है कि भाई ज्ञानका आत्मासे सम्बन्ध है याने प्रमाणका प्रमातासे सम्बन्ध है। ज्ञानका इस जीवके साथ समवाय सम्बन्ध है, इस कारणसे इस ज्ञानके द्वारा हम ही जानते हैं, इस ज्ञानके द्वारा दुनिया नही जांन सकती। उनके ज्ञानसे वे जानेंगे। देखो सब दिमागकी कसरत चल रही है। सीधा मान लें तादात्म्य सम्बन्ध तो झगडा मिटे। जो कभी अलग नही हो सकता, न जो कभी पहले अलग था, ऐसी दो चीजोका जो सम्बन्ध है उसे कहते हैं वे सम्बन्धसे यह नियोग है। अब बताओ जो कभी अलग था नही, जो कभी अलग हो सकेगा नही, उसे कहते है तादात्म्य। तो तादात्म्य क्यो नही कहते ? सम्बन्धकी कल्पना क्यो करते ? यो कहते ये तादात्म्य तक को भी सम्बन्ध कि इनके भेद करनेका नशा चढ़ा हुआ है। जरासी बात देखी और भेद कर डाला, तब ही तो वे कहते हैं कि द्रव्य स्वतन्त्र सत् है, गुण स्वतत्र सत् है, क्रिया स्वतत्र सत् है, समवाय स्वतत्र सत् है, सामान्य स्वतत्र सत् है, विशेष स्वतत्र सत् है, यह भेदका नशा चढा है ना। प्रमाणको छोड दिया, इसलिए उनकी दृष्टिमे समझमे आयी कुछ अलग-सी बात तो झट समझ जाते है कि स्वतत्र सत् है।

आधारपर वैशेषिकवादकी उत्पत्ति हुई है। तो वे शङ्काकार कह रहे है कि जिस ज्ञानका, प्रमाणका जिस पमातामे समवाय सम्बन्ध हुआ उस ज्ञानके द्वारा वही जानता। तो अब इस बाबत विचार करो इसमे कितनी आपत्तियां आती है ? सो सुनो, और इस विषयको सुननेसे पहले सम्बन्धके नाम सुनो।

विशेषवादसम्मत सम्बन्धोका विवरण— दुनियामे सम्बन्ध कितनी तरहके माने हैं, शङ्काकार ने देखो इनकी दृष्टिमे पदार्थ ६ माने गए हैं– द्रव्य, गुण, पर्याय (क्रिया) सामान्य, विशेष और समवाय। पदार्थके मायने ये बिल्कुल अलग-अलग है, स्वतन्त्र है। किसीका किसीसे कुछ मतलब नही। ऐसे ये ६ पदार्थ माने, पर जैनशासन यह कहना है कि वे ६ नही है। वह तो सब एक पदार्थ है। उस एक पदार्थमे जब शाश्वत शक्तियोको देखा तो गुण नजर आये, जब समय समयकी परिणति देखा तो पर्याय नजर आयी। जब साधारण गुण देखा तो सामान्य नजर आया। जब असाधारण गुण देखा तो विशेष नजर आया। परंतु इतनी नजर होनेके आधारपर शङ्काकारने ५ स्वतन्त्र पदार्थ मान डाले। अब आफत यह पड गई कि जब ये सब अलग-अलग स्वतन्त्र पदार्थ है तो इसका कारण क्या है कि यह गुण इसी द्रव्यमे जुडा, अन्यमे क्यो नही जुड गया ? यह पर्याय इसी द्रव्यमे आयी औरमे क्यो नहीं पहुच गई ? यह सामान्य इन पदार्थोंमे आया औरोमे क्यो नही गया ? यह विशेष इसीमे रहा अन्यमे क्यो नही जुडा ? अब यह आपत्ति आ गयी सामने तो इस आपत्तिसे निपटारा पानेके लिए समवाय सम्बन्ध मानना पडा, तो यह तो है समवाय सम्बन्ध। द्रव्यमे गुणका सम्बन्ध, द्रव्यमे पर्यायका सम्बन्ध, सामान्य विशेषका सम्बन्ध, यह तो समवाय है, मगर द्रव्य तो बहुत हैं ना। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, नैयायिक सिद्धान्तके अनुसार आत्मा, दिशा, मन आदिक बहुतसे द्रव्य है, तो इन द्रव्योमे अगर द्रव्य-द्रव्यका सम्बन्ध हो तो उसका नाम धरा गया सयोग सम्बध। सम्बधका व्यौरा बतला रहे। जैसे चौकीपर पुस्तक रखी तो चौकी और पुस्तकके सम्बन्धका नाम क्या है ? सयोग सम्बन्ध। अच्छा अब आगे चलो, एक ही द्रव्यमे गुणका जो सम्बन्ध है वह है समवाय सम्बन्ध। नैयायिक सिद्धान्तके अनुसार सब बातें चल रही, क्योकि द्रव्यसे गुण न्यारे नही किए जा सकते। यह कहलाया समवाय सम्बन्ध। जैसे द्रव्यमे रूप है, रूपगुण है। पुद्गलमे रूप गुण हैं ना तो पुद्गलका रूप गुणके साथ जो सम्बन्ध हो उसका नाम हैं समवाय और एक पुद्गलका दूसरे पुद्गलके साथ सम्बन्ध बने तो उसका नाम धरा सयोग तो पुद्गल अणुका जो रूपके साथ सम्बन्ध है उसका नाम हुआ समवाय और रूपमे रूपत्व है तो रूपमे रूपत्वका जो सम्बन्ध है, जैसे मनुष्यमे मनुष्यपन, ऐसे ही रूपमे रूपत्व। इनका जो सम्बन्ध है इसका नाम क्या ? समवाय। और पुद्गलमे रूपत्व है तो यहां हुआ समवेतसमवाय सबंध। पुद्गलमे रूपका सम्बन्ध समवाय, पुद्गलमे रूपत्वका

सम्बन्ध-समवेत समवाय मायने समवेत रूपके साथ रूपत्वका समवाय है। तो कितना सम्बन्ध जोडा जा रहा है ? बडी हैरान गति अपनेको कर रखी है एक स्याद्वादका सहारा छोड़नेसे। जीवमे ज्ञानके सम्बन्धका नाम क्या धरा ? समवाय। और जैसे जीवमे ज्ञान है ऐसे ही शरीर को देखकर भी तो कहते कि शरीरमे ज्ञान है। तो शरीरका और ज्ञानका जो सम्बन्ध है उसका नाम है सयुक्तसमवाय अथवा स्वाश्रयसमवाय कैसे कि शरीरका और जीवका तो है संयोग सो यह तो बन गया सयुक्त और जीवमे है ज्ञानका समवाय तो शरीरमे ज्ञानका जो सम्बन्ध है उसका नाम है सयुक्त समवाय। और ज्ञानमे जो ज्ञानपना है, ज्ञानमे ज्ञानत्व, तो ज्ञानमे ज्ञानत्वका तो है समवाय और जीवमे ज्ञानत्वका है समवेत समवाय और शरीरका ज्ञानत्वके साथ है सयुक्त समवेत समवाय।

पांच ससम्पर्क सम्बन्धोके अतिरिक्त विशेषण विशेष्य भाव संबन्धकी आख्या करके शङ्काकारके पुराने प्रस्तावकी रिपीट—देखो दार्शनिक विषय जैनसिद्धान्तमे तो यो समझ लो, समझानेके लिए ही चलता है। किस तरह जीवको ज्ञान उत्पन्न हो ? यहाँ पाण्डित्य दिखानेका प्रयोजन नही है, यह तो भलाईका रास्ता निकालनेका प्रयोजन है, पर कुछ दार्श-निकोमे पाण्डित्यका प्रयोजन अधिक रहता है। यहाँ दार्शनिक बात कह रहे हैं, मजहबकी बात नही। तो जब देखेंगे तो कहा जायगा कि थोडी बात और उसकी रचना बनायी जायगी इतनी कठिन कि बहुत कुछ सुननेके बाद जरासा समझें। तो देखो ऐसे भी व्याख्यान होते कि नही कि कोई आधा घटा व्याख्यान हो जाय और बात कुछ न निकले कि इसने क्या कहा ? यह भी एक भाषणकी कला होती है। और कोई पुरुष कही एक आध मिनट ही बोले और कामकी ठीक बात थोडे शब्दोमे रख देता है तो ये ५ प्रकारके तो सम्बन्ध है और छठे प्रकारका सम्बन्ध क्या, विशेषण विशेष्य भाव ? जैसे छतरी वालेका लक्षण छतरी या अभिन्न विशेषण विशेष्य ले लो। फलाने पुरुषका लक्षण छगा। ६ अगुलियाँ होनेके कारण उसका नाम छगा पड गया। तो विशेषणका विशेष्यके साथ जो सम्बन्ध है वह एक सम्बन्ध है, ये ६ प्रकारके सम्बन्ध माने गए हैं। उनमे से जीवमे ज्ञानका समवाय सम्बन्ध है। यह बात कह रहे हैं। जहाँ ज्ञानका सम्बन्ध है वही जीव उस ज्ञानके द्वारा जानेगा, दूसरा न जानेगा—ऐसी बात शङ्काकारने रखी।

अब उक्त शङ्काका उत्तर देते है—देखो ध्यान न देंगे तब तो बडी कठिन बात लगेगी और यदि यह ध्यान आ जाय कि हमारी बात चल रही है, हमारे ज्ञानकी बात बतायी जा रही है कि मेरा ज्ञान कैसे होता, कैसे जानता, किस रूपमे होता है, यह अपने ठीक ज्ञान की बात कही जा रही है– इस आस्थासे सुनोगे तो सरल हो जावेगी। अभी किसीके लडकेकी बात कहने लगे कोई तो उसके सुननेमे तो वह बडी दिलचस्पी लेते है, जब कि लडका एक

जुदी चीज है। एक कल्पनामे ही तो माना है कि यह मेरा है तो उसकी बात कोई कहे तो लोग बडा दिल लगाकर उसे सुनते है। और जो वास्तवमे खास हमारी चीज है ज्ञान। जिसे छोडकर हम कभी रह नही सकते। मरण हो जायगा तो भी ज्ञान साथ लेकर जायेंगे। यहाँ बैठे तो ज्ञान साथ है। तुम कही जावो, ज्ञान एक ऐसा साथी है कि वह छिन भरको भी तो अलग नही हो सकता। आप यहाँ बैठे है तो आपके यहाँ न धन दौलत पास है, न मकान पास है, न भाई भतीजे पास है और ज्ञान देखो तो आपके पास है। कही चले जावो तो ऐसी जो आपकी निजकी चीज है ज्ञान, उसकी बात करें और उसमे दिल न लगे तो बताओ कुछ अच्छी बात है क्या? जो भिन्न चीज है, कल्पनाकी बात है उसे मान रखा है अपना, उसकी बात कहो तो बडा दिल लगता। तो यह अपनी बात है, ध्यानसे सुनो, ज्ञानकी बात कह रहे कि ज्ञान प्रमाण है और यह ज्ञान मेरे आत्मासे जुदा नही है, इतनी ही तो बात कही जा रही है, मगर शङ्काकार बीचमे ऐसी टाग अडा रहा है कि ज्ञान बिल्कुल अलग है, जीव अलग है, तो उसे समझा रहे कि अगर ज्ञान ऐसा अलग हा तो उस ज्ञानके द्वारा हम ही जानें, दूसरे न जानें, यह कैसे होगा? तो उत्तरमे कहा कि उस ज्ञानका प्रमाणका प्रमाताके साथ सम्बन्ध है इसलिए उस ज्ञानके द्वारा हम ही जानते है। अच्छा तो देखो जैसे ज्ञानका हमारे जीवके साथ सम्बन्ध है, ऐसे ही ज्ञानका हमारे शरीरके साथ भी सम्बन्ध है, कैसे? ज्ञानका जीवके साथ तो है समवाय सम्बन्ध और जीवका शरीरके साथ है सयोग सम्बन्ध। सो ज्ञानका शरीरके साथ सयुक्तसमवायका सम्बन्ध हो गया। फिर उस ज्ञानके द्वारा शरीर क्यो नही जानने लगता, फिर उस ज्ञानके द्वारा यह देह भी धर्मकी आराधनामे लगे। तो कथचित् जीवसे तादात्म्य माने बिना समस्याका हल न हो सकेगा।

ज्ञानका, प्रमाणका प्रमाता और फलके साथ सम्बध बताकर ज्ञान द्वारा एक ही प्रमाताको अधिगम होनेके नियन्त्रणकी शकाकारकी असफल योजना— अब शकाकार कहता है कि देखो इस जीवके साथ ज्ञानका सम्बन्ध भी है और फलका भी सम्बन्ध है और जिस प्रमाताके साथ प्रमाणका और फलका सम्बन्ध हो वह आत्मा जान सकेगा ज्ञानके द्वारा, देखो कुछ विशेषता क्या कर दी? पहले आत्माके ही साथ सम्बन्ध जोडकर अपनी बात रखता था शकाकार, अब आत्मा और फल दो के साथ इस ज्ञानका सम्बध रखा है, सो जिस जीवके साथ ज्ञानका और फलका सम्बन्ध हो वह ही जानेगा, दूसरा न जानेगा। देखो यह भी बात आपके पूरी समझमे आ गई, ध्यानसे सुनो—शङ्काकार यह कहता है कि ज्ञान तो अलग पडा, जीव अलग पडा, फिर जो यह आपत्ति दी कि ज्ञान अलग पडा तो उससे हम ही क्यो जानें? तो एक उत्तर यह दिया कि चूँकि उस ज्ञानके साथ मेरे आत्माका सम्बन्ध है इस लिए हम जानते हैं, तो इसमे दोष दिया तो यो तो शरीरका भी सम्बन्ध है तो इस दोषको

दूर करनेके लिए कहते कि मुझ जीवका इस ज्ञानके साथ सबध है, और ज्ञानका फल जो जानना है वह जानना भी हममे हो रहा तो उस जाननेसे भी सबन्ध है, तो हमारा ज्ञानसे सबन्ध है, फलसे सबन्ध है तब ही हम ही जानते, दूसरे नही जानते । तो इसका भी जवाब वही है कि ऐसा सबन्ध शरीरसे भी है दोनोका । शरीरसे ज्ञानका तो सयुक्तसमवाय सबन्ध है और उस फलका उस जाननेका भी इस शरीरके साथ सयुक्तसमवाय सबन्ध है । इस कारण से वही आपत्ति सामने खडी है कि अगर ज्ञान जुदी चीज है तो उस ज्ञानके द्वारा यह जीव ही क्यो जानता ? शरीर भी जाने, दूसरे जीव भी जानें और सारे पदार्थ जिन्दा हो बैठें, सब जानकार बन जायें, फिर तो कोई पुद्गल चीज ही नही कहलायी । तो इससे यह समझना कि भाई ज्ञान ही प्रमाण है और वह ज्ञान मेरा निजी स्वरूप है । मेरी ये परिणतियाँ चलती हैं । तो इस निज स्वरूपकी परिणतिके द्वारा हम ज्ञान कर रहे है, ऐसा हमारा स्वरूप है । तो इतनी बात समझलो कि मैं ज्ञानस्वरूप हू, ज्ञान ही प्रमाण है, ज्ञानको ही करता हू, ज्ञानको ही भोगता हू, ज्ञान ही फल है । ज्ञानके सिवाय मेरो और कोई दुनिया नही है । मैं ज्ञान ज्ञान मात्र हू ।

ज्ञानके प्रमाणत्वके प्रसंगमे प्राप्त समस्या व समाधानके विषयका स्मरण—ज्ञान ही प्रमाण है, इतनीसी बात सिद्ध करनेमे बडी-बडी बाधायें आ रही है । एक दार्शनिकने स्पष्ट यह ऐलान कर दिया था कि ज्ञान बिल्कुल अलग पदार्थ है और आत्मा बिल्कुल अलग पदार्थ है और कैसे ? उनका मूल सिद्धात है कि द्रव्य स्वतत्र सत् है और गुण स्वतत्र सत् है । ज्ञान गुण ही तो है । जैनशासनमे तो गुणसे तादात्म्य है । वे स्वतत्र सत् मान लेते हैं भिन्न पदार्थ । स्वतत्र सत्के मायने है जैसे कि जिसमे ६ साधारण गुण हो, प्रदेश भी न्यारा, आकार न्यारा, परिणमन न्यारा, उसकी बात ही अलग है, ऐसे उन्होने ६ स्वतत्र सत् माने है—द्रव्य, गुण, पर्याय, सामान्य, विशेष और समवाय । तो उसी आधारपर विशेषवादो कह रहे है कि ज्ञान गुण तो स्वतत्र पदार्थ है और यह आत्मा प्रमाता स्वतत्र पदार्थ है । और वह ज्ञान तभी तो अचेतन है । मुख्य बात तो यह चल रही थी कि ज्ञान अचेतन है, अचेतन प्रमाण है, इन्द्रिय प्रमाण है । इस विषयको लेकर बात चल रही थी । तो चलते-चलते ज्ञान का जिक्र आया, तो यहाँ यह बात रखी जा रही है कि ज्ञान अलग चीज है और इस ज्ञानका जिस प्रमाताके साथ, जिस आत्माके साथ और ज्ञानके फलका उसी आत्माके साथ सम्बन्ध हुआ, बस उस ज्ञानके द्वारा वह आत्मा जानता है । तो ऐसा यह ज्ञानस्वरूप प्रमाण और अधिगम, फल याने प्रमिति, इन दोनोके साथ आत्माका सम्बन्ध बताकर कोशिश की जा रही है कि इस कारणसे एक ज्ञानसे वही आत्मा जान पाता है, अन्यको उस ज्ञानसे ज्ञान होनेका प्रसग नही आता । किन्तु यह व्यर्थका परिश्रम है । सीधा तादात्म्य सम्बन्ध मान ले कि

आत्मा है और क्रिया करता है, वह अपनी पर्याय बदलता है, उसकी पर्याय जाननरूप होती है। देखो दो बातोका कोई निवारण नही कर सकता—स्वभाव और पर्याय। उसमे भेददृष्टि करें तो करण भी निकल आयगा, सम्प्रदान भी निकल जायगा, अपादान भी निकल आयगा, षट्कारक निकल आयगा। तो वह अभेदमे ही षट्कारक बना है और उस ही प्रकारसे परिणमन होता है और ज्ञान होता है। यदि ऐसा न मानो तो अपने शरीरके साथ और अन्य आत्माओके साथ ज्ञानका सबध बन बैठे, और फलका सबध बन बैठे। उसका कौन निवारण कर सकता है ? इससे मान लो कि यहाँ प्रमाताका प्रमाणके साथ अत्यन्त भेद नही है। आत्माकी ज्ञानसे भिन्नता नही है, और जो प्रमिति है याने अपना और पदार्थोंका निर्णय करना यह जो अधिगम है यह इस आत्मासे जुदी वस्तु नही है। इस तरहसे यह बात भली प्रकार बता दी गई कि प्रमाण भाव साधन भी है याने जानना सो प्रमाण।

गुणरूपसे, पर्यायरूपसे, सामान्यरूपसे व विशेषरूपसे सामान्यविशेषात्मक पदार्थके ही ज्ञानकी सभवता—अब देखो यद्यपि है पदार्थ एक ही, गुण, पर्याय, सामान्य, विशेष ये जुदे जुदे पदार्थ नही है, ये कोई सत् नही है। सत् तो यहाँ एक ही है—आत्मा, फिर भी पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे इसमे भेद करने पर गुण भी समझमे आये, पर्याय भी समझमे आयी, सामान्य समझमे आया, विशेष समझमे आया। तो देखो समझमे आया तब भी अलग गुण नही, अलग पर्याय नही, अलग सामान्य नही, अलग विशेष नही। केवल गुण ही हो सत् ऐसा है नही, केवल पर्याय ही हो सत् सो नही, केवल सामान्य ही हो सत् सो नही, केवल विशेष ही हो सत् सो नही। जाननमे भी ये निराश्रित चार चीजें आती नही, तब क्या जाननेमे आता ? सामान्यविशेषात्मक पदार्थ। देखो यह मूल बात न भूलना—"सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषय।" परीक्षामुखका सूत्र है कि ज्ञानका विषय, प्रमाणका विषयसामान्य विशेषात्मक पदार्थ है। जानी गयी वही वस्तु। अब वस्तु सामान्यमुखेन जानी जाय तो हम कहते हैं कि सामान्यका ज्ञान। हुआ है सामान्यमुखेन सामान्यविशेषात्मक वस्तुका बोध। जब विशेषमुखेन वस्तुका बोध हो तब कहते है कि विशेषका ज्ञान किया। होता है वहाँ विशेषमुखेन सामान्यविशेषात्मक वस्तु का बोध। इसी तरह जब गुणमुखेन पदार्थका बोध हो तो कहते है कि हमने गुणका ज्ञान किया। होता है वहाँ गुणमुखेन सामान्यविशेषात्मक वस्तुका बोध। जब पर्यायमुखेन जानते है तो कहते है कि हमने पर्यायका ज्ञान किया। होता है वहाँ क्या ? पर्यायमुखेन सामान्यविशेषात्मक वस्तुका ज्ञान। अब देखो जो मुख्य रहा, जिस अभिमुखतासे, जिन दृष्टियोमे तो वही बना प्रधान, इसलिए सामान्यविशेषात्मक वस्तुका ध्यान नही किया जा रहा। और कहा जा रहा है कि हमने तो पर्याय

को जाना। हमने तो गुणको जाना, हमने तो विशेषको जाना, हमने तो सामान्यको जाना, पर ये चार स्वतन्त्र अवस्तु है, इन्हे कोई जान ही नही सकता। जाना जाता है तो सत् जाना जाता है। अर्थ जाना जाता है जो कि साधारण, असाधारण गुणसे सहित पदार्थ है वह जाना जाता है। बस उसको जिसकी अभिमुखतासे जाना उसका ज्ञान कहलाता है। जैसे कोई फल खाया, रसका ज्ञान हुआ तो बताओ रसका ज्ञान हुआ क्या? रसमुखेन उस वस्तुका ज्ञान हुआ, वास्तविकता यह है और इस वास्तविकताको मोक्षशास्त्रने भी एक "अर्थस्य" सूत्र कह कर स्पष्ट कर दिया और दार्शनिक शास्त्र तो कहते ही है। और युक्ति और अनुभवसे भी यह आप परख सकते है। अगर स्वतन्त्र सत् हो गुणपर्याय सामान्य और विशेष, चारकी ही बात चल रही है। वैशेषिक मत वाले इन चारोको और द्रव्यको इन ५ को स्वतन्त्र सत् मानते है, यदि ऐसा हो तब आपत्ति यह आती है कि जब स्वतंत्र सत् है तो यह व्यवस्था कैसे बने कि ज्ञान आत्मामे ही होता है। हम कहते है कि ज्ञान चौकीमे होता है। अरे जब स्वतन्त्र सत् है, अलग अलग पदार्थ है तो उनका यह सम्बन्ध कैसे बना कि यह ज्ञान जीवका ही है, यह ज्ञान खम्भेका नही, यह आपत्ति आती है। यह पर्याय इस पदार्थकी ही है, यह पर्याय इसकी नही है। यह विपत्ति आयी। कैसे बता सके? जब भिन्न-भिन्न है तो उनको मानना पडा एक समवाय सम्बन्ध। तो ऐसे ५ पदार्थ वहाँ स्वतंत्र माने गए है और उसमे इस विज्ञानको रख रहे है कि ये सब अलग-अलग चीजें है। सुना है ऐसा हमने देखा तो नही, कि कोई एक मणिवाला साँप होता है जिसके फणमे मणि रहती है। तो उस मणिको वह सामने रख लेता है, खुश होता है, नाचता है, देखता है, और फिर जब अपनी तबियत भर लेता है तो उसको वह फिर अपने फणमे ले लेता है। देखिये यह बात सही है या गलत इसका हमे पता नही, पर एक दृष्टान्त दे रहे है, ऐसे ही विशेषवादी चल रहे है कि इस ज्ञान गुणको अलग करके धर दें, समझ लें और अब बात कर रहे, नाच रहे और फिर जब कोई आपत्ति आयगी तो झट उस ज्ञानको अपने पेटमे धर लेगे। सम्बन्ध बता देंगे कि समवाय सम्बन्ध है। तो वास्तविकता यह है कि द्रव्य तो एक है। किसी एक आत्माको ले लो, बस एक ही है। उस की ये विशेषतायें हैं कि ज्ञान गुण है, ज्ञानकी परिणति है। तो ऐसा जो एक ज्ञान है अभिन्न बस वह प्रमाण है।

प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमितिमें कथंचित् भेदरूपता व अभेदरूपताका विलास—अच्छा अब थोडा इस प्रसंगमें स्याद्वादका विलास देखो, चार चीज आयी सामने— ज्ञाता, ज्ञान ज्ञेय और ज्ञप्ति। ज्ञाता मायने जानने वाला। जिसके द्वारा जाना जा रहा है वह साधन है ज्ञान, जो जाना जा रहा है वह ज्ञेय पदार्थ और जो जानन चल रहा है सो ज्ञप्ति, ये चार बातें है। ये चारो ऐसे अभेद हैं कि देखो ज्ञाता तो जानने वाला बन रहा और जब ज्ञानको ही

जानने चले तो ज्ञाता ज्ञेय बन गया याने एक ही घरमे ये चारो ऐसे हेल-मेलसे हैं, ऐसी अपनी बदल करते रहते है कि जैसे कोई चार लडके बडे मित्र हो छोटे छोटे और वे दौडते खेलते है तो गद्द गद्द एकके ऊपर एक गिरते है, ऐसे ही यहाँ देखो कि जो अभी प्रमाता बना है वही प्रमेय बन जाता है। जानने वालेको जब हम जानने चलते हैं तो यह ज्ञेय बन गया न। तो प्रमाता ज्ञाता जानने वाला जब अपनेको जानता है उस समय वह स्वय प्रमेय वन जाता है। तो इसी तरह यह जानने वाला जब जाननेकी क्रियामे व्याप्त है तो बुद्धिपूर्वक स्वय प्रत्यक्ष होकर भी वह प्रमाण हो जाता है। और वही जाननेका रूप है, तो यह ही प्रमाता प्रमिति बन जाता है। तो एकान्तसे इनमे भेद मत डालो। भेददृष्टिमे भेद है और अभेद दृष्टिसे अभेद है। जैसे देखो-- क्षणिकवादियोने और नैयायिकोंने एक चित्रज्ञान माना है। चित्रज्ञान होता ही है याने ज्ञानमे दुनिया भरकी चीजें प्रतिबिम्बित हो रही है। तो अनेक बातें ज्ञानमे चलेंगी, इसको बोलते है चित्र, नाना विचित्र, विविध और देखो सब कुछ एक चित्रसा ही तो उमड गया है। ज्ञानमे जब समस्त पदार्थ ज्ञेय बन रहे तो ज्ञानमे वह चित्रकी ही तो झलक है सब। तो जब चित्रकी ओर दृष्टि देते हैं तो ज्ञान नाना रूप नजर आता है और जब एक मूल ज्ञानपर दृष्टि देते है तो ज्ञान एक नजर आता है। तो जैसे मेचक ज्ञान एक रूप भी है, अनेकरूप भी है। जैसे बताया ना कि आत्मा मेचक है कि अमेचक ? समयसारमे बताया दर्शन ज्ञान चारित्रवान् है, इस दृष्टिसे देखें तो मेचक है और चूँकि सब एक ही हैं, द्रव्य है, वह आत्मा अमेचक है। यहाँ ज्ञानकी बात कह रहे हैं कि यह ज्ञान चित्र विचित्र हो रहा है, अपने एक आत्मामे, तो उस दृष्टिसे तो यह मेचक है और चूकि ज्ञान एक है सो अमेचक है। मोटा दृष्टान्त लो। ८ चीजोको कूटकर एक दवा बना दी चूर्ण करके, बताओ वह एक है कि ८ है ? एक दृष्टिसे देखें तो ८ है और एक दृष्टिसे देखें तो एक है। अच्छा उन दो मे अलग-अलग जो एक-एक काम करता है बताओ वह काम चूर्ण कर सकता है क्या ? नही कर सकता। जैसे सोठ, मिर्च, पीपल, हर्र, बहेडा, आवला, अकरकरा व तोमर के बीज– इन ८ चीजोका चूर्ण बनाया जाय तो जो काम सोठ कर सकती है वह चूर्ण नही कर सकता, जो काम हर्र कर सकती है वह चूर्ण नही कर सकता और जो काम चूर्ण कर देगा वह काम वे चीजें अलग-अलग होकर नही कर सकती। देखो एक भी है, अनेक भी है तथा देखनेके प्रभाव भी जुदे-जुदे हैं। ऐसे ही यह ज्ञान एक भी है अनेक भी है। एक ज्ञान की बात कह रहे हैं। ज्ञानमे चूँकि सारा जगत प्रतिबिम्बित हो रहा तो यहाँ उतने ज्ञान हो रहे जितना ज्ञेय सत् हैं, मगर ज्ञान उतने कहाँ हैं ? ज्ञान तो वह एक है। तो जैसे चित्रज्ञान मे एकरूपता और अनेकरूपता दोनोका विरोध नही है, इसी प्रकार इस आत्मामे प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति इन चाररूपता और एकरूपताका विरोध नही है। भेददृष्टिसे चार

रूप है । अभेद दृष्टिसे एक ही रूप है ।

तत्त्वाधिगमविस्तारकी अपारता—यहाँ तक क्या बात आयी ? पुनः स्मरण करना । सूत्रजी मे पहले अध्यायमे पदार्थोंके जाननेके उपायका वर्णन है । देखो तत्त्वोके जाननेके उपायोंके वर्णनमे ही एक वर्ष लग जायगा और जब जानने चलेंगे तत्त्वोको तो इसमे न जाने कितने वर्ष लगेंगे ? तब ही तो कहते हैं कि सर्वार्थसिद्धिके देव ३३ सागर तक तत्त्वचर्चा, धर्मचर्चामे ही रत रहा करते हैं । देखो सर्वार्थसिद्धि ऊर्ध्वलोकमे समझदार ससारी जीवोकी सबसे ऊँची जगह है, उससे आगे कोई नही । फिर तो आगे एक मोक्षस्थान है । रह गए तो एक निगोदिया, तो उनका सब जगह अधिकार है । वे तो जहाँ सिद्ध बस रहे वहाँ भी रह रहे । तो देखो बहुत अच्छेका सब जगह गुजारा चलता है या बहुत बुरोका सब जगह गुजारा चलता है । निगोदियोंको कोई रोकने वाला नही । जहाँ सिद्धभगवानकी आत्माके प्रदेश है वहाँ भी वे निगोदिया जीव अपना काम कर रहे है । और देखो पापका उदय कि भक्तजन तो भगवानके दर्शनोको तरसते है और वे निगोदिया जीव सिद्धभगवानके आत्मप्रदेशोमे बैठे हैं और वे वहाँ दुःखी है । सिद्धक्षेत्रमे निगोदिया जीवोके रहनेसे कही उनका दुःख न कम हो जायगा ? देखो कितनी स्वतंत्रताकी बात है ? वे तो एक श्वासमे आठ-दस बार जन्म मरण करना, बस उनकी यह फैक्टरी चल रही है । और सिद्ध भगवान अनन्त आनन्दका काम कर रहे । तो उससे कुछ बहुत नीचे एक समझदार जीवोकी दुनिया है सर्वार्थसिद्धि । वे देव एक हाथकी अवगाहनाके होते है । जैसे यहाँ एक-एक हाथके छोटे बालक होते हैं, और मानो ऐसी ही शक्के हो, पर यहाँके बालकोमे तो नाक, थूक, खकार आदि गदी चीजें भरी है, वहाँ उनका वैक्रियक शरीर है, यहाँ बालकोमे अज्ञानता है, वहा बहुत ऊँचा ज्ञान है । देखो द्वादशागका ज्ञान इन्द्रके भी बताया, सर्वार्थसिद्धिके देवोके भी बताया, मगर केवली श्रुतकेवली नही बताया । देखिये कुछ बात रह जाती है जो कि निर्ग्रन्थ अवस्थामे ही होती है । जो मार्ग की बात मिलती है वह भी निर्ग्रन्थ अवस्थामे ही रहती है । एक तो ज्ञान है और दूसरे उसका प्रयोग है, इन दोनोमे फर्क है । तो इस तत्त्वचर्चामे सर्वार्थसिद्धिके देवोका ३३ सागर का समय गुजर जाता है ।

संयमकी विशेषतासे मनुष्यजीवनकी उत्कृष्टता— सर्वार्थसिद्धिके देव चर्चा यह भी करते होंगे कि देवपर्याय कुछ कामकी नही । चौथे गुणस्थानसे ऊपरकी परिणति बन सकती नही । एक मनुष्यपर्याय ही है, ऐसी कि जहाँ सयम धारण किया जा सकता है । देवगतिसे भी अधिक विशेषता मनुष्यगतिमे क्यो है ? सयमके कारण । सयमरहित ज्ञान और श्रद्धान, इन इन दो बातोमे देव तो मनुष्योके बराबर है और मनुष्योसे बढकर भी है, मगर मनुष्य विशेष खास ठीक है तो एक सयमके कारण । तो जिस सयमके कारण हम आप लोगोकी सर्वार्थसिद्धि

से भी अधिक विशेषता मानी जाती है, उस सयमका चित्तमे आदर न हो, उस सयमकी चटापटी न हो, उस सयमको घृणाकी दृष्टिसे देखें तो बताओ मनुष्य काहेको हुए ? देव बने रहते, नारकी बने रहते, घोडा, बैल वगैरा बने रहते याने सम्यग्दर्शनकी बातें तो घोडा बैल वगैरा मे भी हो सकती है, देवोमे भी हो सकती हैं, नारकियोमे भी हो सकती है, और इतनेके ही लाने अपने जीवनकी मर्यादा बना रखी है, इससे आगे कुछ सोचना ही नही है, और इससे आगेकी बातको घृणाकी दृष्टिसे देखना है तो भला बतलाओ मनुष्य होनेसे लाभ क्या पाया ? देखो यह बडी जिम्मेदारीका भव है। स्वच्छन्द मनमानी करनेमे कही प्रकृति तो प्रसन्न न हो जायगी। यहाँ तो जिस जिसका जो बनना है। जिस विधानकी बात जो है सो ही होगी, अन्य प्रकार न होगी। तो देखो सम्यक्त्वका उद्यम करें और सयम यथाशक्ति धारण करें। तो देखो ज्ञान नही भी हो पाया, सम्यक्त्व नही हो पाया, फिर भी आप मदकषायसे रहेगे तो अगले भवमे सम्यक्त्व मिल जायगा, वहाँ काम बन जायगा। और सम्यक्त्व हो गया, और फिर सयम साथ है तब तो उसको मोक्षका मार्ग मिल गया। चलना विशेष रह गया है। देखो दो बातें है– एक देखा जाना और एक चलना। देखा जाना हुआ इसका सम्यक्त्व और चलना हुआ सयम। मोक्षमार्गमे चले ना, मोक्षमार्ग दिख गया, मोक्षमार्गका प्रकाश हो गया, मोक्षमार्गकी शुरुआत आ गयी, अब चलनेकी भी बात आने दो। चलनेकी ओरसे उदासीन मत बनें। जितना बने, जो शक्ति है उस माफिक चलें और मदकषाय रहे।

जीवोमे चैतन्यमहाप्रभुकी याद कर उनसे घृणा न करनेमे आत्मरक्षा—देखो सबसे बडी भारी बात यह है कि सब जीवोमे मैत्रीभाव बनाओ, केवल मनुष्योमें ही नही, तिर्यञ्चो से भी, पशु-पक्षियोसे भी। देखो रास्ता चलते हुएमे यहाँ (भिन्डमे) पशु सूअर तो काफी मिलते हैं ना, तो उनको देखकर लोग छि. छि· करते हैं, नाक-भौ सिकोडते हैं। अरे उनसे क्या घृणा करना ? वे भी एक जीव है, आज इस पर्यायमे आ गए है। अब जरा विवेक रखें, समता रखें, उनसे बचकर निकल जायें, उनसे घृणा न करें। उनसे घृणा करना यह तो एक भीतरके अज्ञानकी सूचना है। अभी रास्तेमे कोई भगी-भगिन मिल जाते हैं तो उनसे लोग घृणा कर बैठते, छि छिः हट-हट के अपशब्द उनसे बोल देते है। भला बताओ, क्या उनके दिलमे चोट नही लगती होगी ? शायद वे यही सोच लेते होगे कि तुम हमे चाहे समझ पावो या न समझ पावो, पर हम तो तुम्हे समझ गए। अरे क्या भगी-भगिन भी सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकते ? अगर हो सकते तो फिर उनसे क्या घृणा करना ? नही भी हो ज्ञानी तो भी अन्त तो चैतन्य महाप्रभु है ही। तो सबसे प्रेमका व्यवहार करो। देखो जिसको यह परिचय हो गया है कि सर्व जीवोमे परमात्मस्वरूप है वह किसी जीवके प्रति अदयाका भाव न रखेगा और क्रूरताका बर्ताव न करेगा। परिस्थिति है ऐसी सो करना पडता है, बोलना पडता है,

मगर उसका व्यवहार क्रूरताका नही होगा । देखो अभी अपने जीवनमें कितनी ही बातोकी कमी है । पहली कमी तो यह है कि प्रेमसे बोलना और नम्रतासे रहना, इसका पाठ ही अभी नही सीखा है । इसकी बहुत बडी कमी है । वे अपने जीवनका उद्धार क्या कर सकेंगे जिन्हे दूसरोसे घृणा है, वे अपने जीवनको उन्नत क्या बना सकेंगे जिनको दूसरोंके प्रति अदया है, जिनका व्यवहार अप्रिय और कठोर ही बनता है वे कैसे अपनी उन्नति कर सकेंगे ? इससे भाई जो बाहरी बातें है, धन है, वैभव है, मकान है, गहना है, पक्ष हैं, पार्टी है—इनका मूल्य मत समझें । मूल्य समझें अपनी आत्मरक्षाका ।

सर्व जीवोमें सहजसिद्धपरमात्मतत्त्वके निहारनेकी कलाका उपकार—निहारो सब जीवोंमे अनादि अनन्त अहेतुक शाश्वत प्रकाशमान सहजपरमात्मतत्त्व । अच्छा और फिर इतनी खराबी क्यो हो गई है ? भाई-कर्म उपाधिका सम्बन्ध है, ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है । देखो निमित्तनैमित्तिक योगकी बात सही समझ लें तो आत्माकी प्रशसा कर पावेंगे । और ऐसा कहे कि कर्म कुछ नही, जीवकी योग्यता है तो सूअर बन गया, जीवमे योग्यता है तो निगोद बन गया । इसमे सभी जीवोके प्रति एक शुद्ध तत्त्वकी निगाह नही बन पाती है । और देखो अब भी इतनी पर्यायें बन रही है सूअरोकी, जीवोकी इतना होने पर भी ये सब परमात्मतत्त्व तो अपने स्वभावमे वैसे ही प्रकाशमान हैं, और यह सब कर्मोका नाच है, कर्मखेल है । हा ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि इसने ज्ञानविकल्प बसा लिया है । देखो कैसी स्थिति हो रही है इस प्रभुकी ? तो मूल बात एक यह सीख लें कि किसी भी जीव को देखें देख करके एक बार तो उसके अन्तरकी यह बात मनमे लावें कि यह भी सहज परमात्मस्वरूप है, हल्का नही है, तुच्छ नही है, दुष्ट नही है । यह भी सहजपरमात्मतत्त्व है और फिर जो बीत रही बात वह सब कर्मका नाच है । उसमें अनादि निमित्तनैमित्तिक योग ऐसा है कि इस तरह यह चल रहा है । ऐसा आत्मतत्त्वको जाननेके लिए ही समस्त शास्त्रोकी रचना होती है और कुछ प्रयोजन नही । आत्माको जानो, आत्माको मानो और आत्मामे मग्न हो जावो, केवल इसके लिए सर्व शास्त्र पुराण हैं । सब तरकीबोसे, सर्व उपायो से, सर्व नयोसे इस चैतन्यस्वरूपका सुध करायी गई है । तब आगममे जो जो बात कही है, जो जो उपाय बताये जा रहे हैं, प्रमाण, नय, निश्चय, व्यवहार, द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आदिक ये सब आचार्य संतोंने परम करुणा करके सत्य शान्तिका मार्ग दिखानेके लिये कहे हैं, उसमे अपनी बुद्धि लगायें और उस समस्त आगमकी श्रद्धा करें । आगमका एक-एक अक्षर प्रमाण है, और समस्त आगमका प्रयोजन ही इतना है । तब ही तो समयसारमे लिखा है कि जो आत्माको अबद्ध अस्पृष्ट, अनन्य नियत, असयुक्त अनुभव लेता है वह समस्त जैनशासनको समझ लेता है, क्योकि जैनशासनमे जो-जो कुछ भी उपाय बताया है, समझाया है उन सबका

प्रयोजन है यह है कि सहज शुद्ध परमात्मतत्त्वका दर्शन हो।

इन्द्रियार्थसंयोगरूप सन्निकर्षको प्रमाण माननेमे आपत्तिका दिग्दर्शन—इस प्रसंगमे किस बातका निर्णय किया जा रहा है, उसको एक नजरमें फिरसे ग्रहण करिये। ज्ञान प्रमाण है, यह प्रकरण चल रहा था। उस समय अनेक दार्शनिकोने अपनी-अपनी बात रखी। एक दार्शनिकने तो यह बात रखी कि इन्द्रिया प्रमाण है, पर अचेतन इन्द्रियको प्रमाण कैसे कोई मान सकता है ? तो वहासे चलकर अब वह कहने लगे कि इन्द्रियका और पदार्थका जो सम्बध होता है, सन्निकर्ष होता है यह प्रमाण है। तो इसी विषयमे चर्चा चल रही है कि देखो इन्द्रिय और पदार्थका सन्निकर्ष अगर प्रमाण मानते तो यहाँ बहुत बडी विडम्बनायें आती हैं। कैसे सम्बध होते है ६ प्रकारके ? सयोगसम्बध-- जैसे दो द्रव्योका सम्बन्ध बनाना, शरीरका और जीवका सम्बध बनाना, यह सयोगसम्बन्ध है। समवायसम्बध-- जीवोमे गुणो का सम्बध बनाना, यह समवायसम्बध है। ये सब बातें बतलायी जा रही है अन्य दर्शनकी ओरसे। सयुक्तसमवायसम्बध-- जैसे शरीरका ज्ञानके साथ सम्बन्ध है, शरीरका सयोग है जीवसे और जीवका समवाय है ज्ञानसे तो शरीरमे और ज्ञानमे सयुक्तसमवायसम्बध है। अब सयुक्तसमवेत समवायसम्बध देखिये-- जैसे शरीरका ज्ञानत्वसे सम्बन्ध देखें कि शरीरका सयोग है जीवमे ? जीवमे समवाय है ज्ञानका, ज्ञानमे समवाय है ज्ञानत्व भावका। तो शरीरका ज्ञानत्वसे कौनसा सम्बध बना ? सयुक्तसमवेतसमवाय। समवेतसमाय जीवमे ज्ञानका समवाय है, ज्ञानमे ज्ञानत्वका समवाय है तो जीवका ज्ञानत्वके साथ समवेतसमवाय सम्बध है। इन ५ सम्बधोके अलावा और भी अनेक सम्बध होते है। जैसे विशेषणविशेष्य सम्बध। तो सभी प्रकारके सम्बन्धोमे आपत्ति है कि यदि सन्निकर्षको प्रमाण मानते हो तो। कैसे ? सो सुनो-- इन्द्रियका पदार्थके साथ सयोग होनेसे ज्ञान होता है—यह बात मानते हैं वैशेषिक याने नेत्रसे खम्भाका सम्बन्ध बन गया, खम्भेका ज्ञान हो गया। देखो जैसे नेत्रका खम्भेसे सम्बध है, ऐसे ही नेत्रका आत्मासे भी सम्बध है। नेत्रका आकाशसे भी सम्बध है, सभी अन्य द्रव्योसे सम्बन्ध है। उनका ज्ञान क्यो नही होता ? इस खम्भेका ही ज्ञान क्यो ?

विशेषवादमे इन्द्रियोकी पृथक्-पृथक् द्रव्यरूपता-- देखो वैशेषिक दर्शनकी ओरसे एक बात और समझें—आंखें बनी है आगसे, कान बने हैं आकाशसे, नाक बनी है पृथ्वीसे, जीभ बनी है जलसे और स्पर्शन बना है हवासे। ऐसा वे मानते हैं। देखो चाहे बनना थोडा समझ मे आवे मुख्यताके अशसे, इन चीजोंसे, मगर वे सब पुद्गल द्रव्य है, और एक-एकसे एक नही बने, वे तो पुद्गल है, सर्वरूप हैं, आहारवर्गणायें हैं; बन गईं, पर ऐसा जो उन्होने समझ लिया उसका कुछ अदाजा तो होगा। आखिर वे भी मनुष्य हैं, सज्ञी जीव है, ज्ञान रखते हैं। कुछ तो अदाज किया होगा तो उनका अदाज देखो। आखें लगती है ना ऐसी जैसे आंखोंसे

किरणें निकलें, दीपकसे किरणें निकलें, कातिमान होता, इस तरह कोई आँखें लगती कि इससे किरणें निकलती है, चमकती है और फोटो आ ही जाते है सबके नेत्रमें। जैसे कैमरामे फोटो आती है, ऐसे ही आखोमे भी फोटो आते है जिन-जिन चीजोको देखें। और कभी लोग मरे हुए आदमीकी आंखे देखते हैं जांच करने वाले, जिसको किसीने मारा हो, कत्ल किया हो उसकी आंखें देखते है, ऐसा करते है आजकलके लोग। तो आ गई हो फोटो और बनी रहे, कुछ ऐसी बात होगी शायद। मतलब यह है कि आँखका कुछ अग्नि जैसा रूपक देखते हैं तब वहाँ यह माना। वस्तुतः तो यो नही है कि आख आगसे बने, मगर आंख मे आग जैसी कुछ समतासी लगी तो मान लिया उन्होने। अच्छा, और नाक बनी पृथ्वीसे। पृथ्वीका लक्षण माना है वैशेषिक नैयायिक जनोने गधवती पृथ्वी, जिसमे गध हो वह है पृथ्वी। जिसमे रस हो वह है पानी, जिसमे वर्ण हो वह है आग, स्पर्श हो वह है हवा और शब्द हो वह है आकाश—ऐसी ५ बातें मान लेते है तो कुछ एक अदाजसा लगा, बात समझमें न आयी और एकदम कुछ रूपकसा लगा तो मान लिया। जब पहले-पहले रेलगाडी निकली थी कोई अदाजसे १०० वर्ष पहले तो जिस दिन मानो उस शहरमे से निकली थी तो लोगोकी बडी भीड हुई, देखे तो सही, लोग कहते हैं कि एक इजन रहता है वह खीचता है। तो देखकर यह ही अदाज किया अनेक लोगोने कि हो न हो इसमे काली देवी बैठी है, वह चला रही है रेलगाडी। तो अब जाननेकी क्या बात ? कल्पनाकी क्या बात ? तो जैसे आत्मद्रव्य है वैसे ही पृथ्वी भी है, जल भी है, अग्नि है, आकाश है। तो जैसे इस पृथ्वीसे नेत्रका सयोग हुआ है, ऐसे ही आकाशका आदिका सयोग हो रहा है। फिर क्या वजह है कि ये आखें इस ही चीजको जानें और बाकी आकाश, आत्मा, दिशा, मन आदिक किसीको न जानें। तो इससे यह सिद्ध हुआ कि सयोग सम्बधके कारण ज्ञान नही होता और सयोग प्रमाण नही है, किन्तु ज्ञान प्रमाण है।

दार्शनिक विवरणका महत्त्व– देखो विषय तो कठिन है, पर सुनकर इतना अदाज कर लें कि हमारे आचार्य जन क्या-क्या रत्न भरकर घर गए और जब उनको समझते नही सो कुछ लोग घृणा करने लगे व कहने लगे कि यह सब गलत है, अशुद्ध है। मनमे इतना तक आ गया है कि केवल निश्चयैकान्तका जिससे अर्थ निकल सके उसको रखो बाकी सब शास्त्र जला डालो, केवल एक बस निश्चयएकान्तकी बात ही सही है, तो अब तो बाकी सारे शास्त्र जला देने चाहिएँ, ऐसा सोच डालते, पर वे यह नही पता करते कि श्रुतज्ञान प्रमाण है और श्रुतज्ञानके दोनो अग हैं– निश्चयनय और व्यवहारनय। इनमे न निश्चय अप्रमाण है, न व्यवहार। इनमे झूठा है तो उपचार। उपचार तो मिथ्या होता है, पर कही-कही व्यवहारको भी मिथ्या लिखते है। ठीक है, सही है, मगर यह सोचना चाहिए कि यह उपचार वाला

व्यवहार है। अच्छा देखो दूध दूध तो सबको कहते है– गाय, बकरी, भैस, ऊँटका और एक आकके पेडका भी दूध होता है। अब कहा जाय कि दूध पीना चाहिए, और कोई मूर्ख यह सुनकर आकका दूध छटाकभर निकालकर पी ले तो यह उसकी मूर्खता है ना ? विवेक करना चाहिए। दूध पीनेकी बात कहकर कौनसे दूधकी बात कही ? जैसे यहा विवेक करना, ऐसे ही यह भी विवेक करना कि व्यवहार मिथ्या है कहा, सो ठीक है, मगर विवेक करें श्रुतज्ञानका अशरूप व्यवहार मिथ्या है कि उपचाररूप व्यवहार मिथ्या है, निर्णय करना चाहिए। उपचाररूप व्यवहार मिथ्या है और श्रुतज्ञानका अंशरूप व्यवहार मिथ्या नही। देखो जब किसी के गुण समझमे आते है तब ही चित्त उमंगमे आता है कि मैं इनके चरणोमे लोट जाऊँ और आनन्दके अश्रुवोसे चरण पखारूँ। तो इन आचार्य सतोंने जो रत्न भरे हैं ये कुछ समझमे आयें तो आपको यह उमग आये कि वे अकलंकदेव, वे विद्यानन्द स्वामी, वे समतभद्र स्वामी, वे वीरसेन आचार्य, वे जयसेनाचार्य जो-जो महर्षि हुए, इनका नाम लेकर तब उमग उमडेगी ओह ! तुम्हारे चरणोमे लोट जाऊँ, तुम्हारे चरणोकी धूल मस्तकपर लगाऊँ। अब इन रत्नो को तो परखा नही, इससे उनके प्रति उपेक्षा रखती है कि कुछ नही है, ये आचार्य कुछ भी नही जानते हैं। ये रत्न बतला रहे हैं कि बडी युक्ति और करोटीसे उतरने वाला यह दार्शनिक विषय युक्तिसाध्य है। जैसे आप किसी बौद्धसे बातें करे और जैनी कहे कि ऐसा नही, हमारे शास्त्रोमे लिखा है। तो वे कहेगे कि हम नही मानते तुम्हारे शास्त्र, तुम उन शास्त्रो को अपनी आलमारीमे रखो। अपने आगमकी दुहाई देकर दूसरेको समझा सकते क्या ? वे तो नही मानेंगे, तो आपको युक्तियोसे समझाना पडेगा। उन ही युक्तियोका वर्णन दर्शनशास्त्रमे है और यह दर्शनशास्त्र इतना गहन वन है कि विद्यार्थी लोग भी जब विषय छाटने जाते है, सस्कृतके विद्यार्थियोंसे पूछा जाता है कि बोलो तुम कौनसा विषय लोगे ? जैसे यहाँ साइस, कामर्स, सस्कृत आदिमे छाटते है, ऐसे ही सिद्धान्त, न्याय और साहित्यमे लोग न्यायको कम पसद करते, साहित्यको ज्यादा पसंद करते, क्योकि उसका विषय सरल पडता है। तो न्याय का विषय कठिन तो पडता है, मगर जो दार्शनिक आनन्द लूटता है अपनेमे वस्तुके स्वरूपका युक्तियोसे ज्ञान करके, वह एक विलक्षण आनन्द है। दर्शनशास्त्रसे निर्णय किया हुआ वस्तुस्वरूप ऐसा सामने रहता है जैसे कि दिखने वाली चीज सामने हो।

नयोकी समीचीनताका आधार—भाई हम यही चाहते है कि सब अपने अपनेपर दया करें और सर्वविकल्पजालोको, ख्यालातोको, यहाँ वहांको भूलकर एक अपने वस्तुस्वरूप पर प्रमाण पद्धतिसे, स्याद्वाद विधिसे निर्णय करें। निर्णय करनेके बाद खुद यह ज्ञान हो जायगा। पर्यायदृष्टिको प्रमुख बनाकर कल्याण कर पायेंगे क्या ? न कर पायेंगे। तो स्वभाव दृष्टिको प्रमुख बनाकर कल्याण कर लेंगे क्या ? हाँ हाँ कर लेंगे। वह स्वभावदृष्टि उपादेय

है, मगर अज्ञानी बनकर स्वभावदृष्टिमे बढ़ें तो ऐसा सभीने किया है। अद्वैतवादियोने, इससे बढकर स्वभावकी महिमा कौन बतायगा कि जो बोलते है कि ब्रह्म एक है, अपरिणामी है, उसमे तरंग ही नही उठते, वह तो एक चैतन्यस्वरूप है। इतना भी अगर कहे कि उसमें ज्ञान होता है तो वे चोट खा जायेंगे। कहेगे कि यह बात नही बनती। उस चैतन्यस्वरूपमें ज्ञान भी नही। कैसे बढ़े वे स्वरूपकी ओर, मगर वह स्वरूप एकान्त बन गया, क्यो बन गया कि उस स्वभावनयका जो प्रतिपक्षी नय है, पर्यायार्थिक नय है उसका उन्होने विरोध किया। उस प्रमाणकी पहिचान यह है कि जिस नयसे बात करना हो सो करना सत्य है, असत्य कुछ नही है। जिन लोगोने जो-जो कुछ बात रखी असत्य कुछ नही है। वे सब निश्चय की बातें सत्य हैं, परंतु निश्चयनयका प्रतिपक्षी जो व्यवहारनय है उसका भी निर्णय जब समझमे रखे हो तो वह सत्य है। कोई कहे कि व्यवहारनयका जो विषय है ना गति वगैरा, वह सब असत्य है, तो वह असत्य नही है, सत्य है। कब सत्य है कि जब पर्याय दृष्टिका प्रतिपक्षी नय जो निश्चयनय है, द्रव्यार्थिकनय है, स्वभावनय है, उससे जानें कि आत्मा सहज शुद्ध परमात्मतत्त्व अनादि अनंत विराजमान है। ज्ञान न हो और केवल पर्याय पर्यायको ही रिपीट करें तो वह असत्य है। आचार्य संतोकी हम आपपर कितनी परम करुणा रही, जिसका आभार नही चुका सकते। सत्य ज्ञान कराकर स्वभावदृष्टिमे निःशंक प्रवेश करनेके लिए हुक्म दिया है। जब लक्ष्यमे चलो तब अगल-बगल कुछ मत झाको। जब स्वभावदर्शन करो तो पर्यायभेद गुण ज्ञान दर्शन आदिक कुछ मत झाँको। केवल एक अखण्ड निर्विकल्प स्वभावका दर्शन करो। ऐसा लक्ष्य बनानेकी पात्रता हममे कब आये जब हमने अभूतार्थनयसे ९ तत्त्वोके पदार्थोंका स्वरूप भली-भाँति निर्णय कर लिया है, समझ लिया हैं, तब इस तत्त्वमे रहने वाले एकत्वकी बात हम लक्ष्यमे ले सके है। तो दार्शनिक विषय कठिन तो है, मगर थोडा यह भी समझ लें कि हम अपने जीवनमे सब सरल सरल बातें सुनते तो आये, मगर जैनदर्शनमे युक्तिके आधारपर किस तरह तत्त्वका वर्णन किया जाता है, वह कानमे ही आ जाय। रोज रोज सुन करके ज्ञानमे भी आयगा, उपयोगपूर्वक सुननेसे कोई बात कठिन नही रहती।

व्यवहारनयकी उपकारिता—मिलता नही कुन्दकुन्दाचार्यकृत पट्खण्डागम। देखो जब उन्होने वर्णन किया होगा, दूसरी विधि ही नही है उसका वर्णन करनेकी, जैसा अन्य आचार्योंने वर्णन किया वही विषय तो बताया होगा व्यवहारमे। सभी प्रतिपादन व्यवहारनय से होते हैं, समयसारका भी प्रतिपादन व्यवहारनयसे बना तो मूल बातें दो तीन पहले धारणा मे लायें कि एक तो व्यवहारनय जहाँ मिथ्या कहा भी है वहाँ यह विवेक बनायें कि यह श्रुतज्ञानके अंशरूप व्यवहारनयका विषय है या उपचाररूप व्यवहारका विषय है। जैसे जब

दूध पीनेके लिए कहा जाय कि जावो दूध पियो, तो वहां यह विवेक करना चाहिए कि हम को कौनसा दूध पीनेके लिए बताया गया है ? गाय, भैंस आदिका दूध बताया गया या आक का। दूध दूध तो दोनोका है। उपचारका भी नाम व्यवहार है और श्रुतज्ञानके अंश रूप नयका भी नाम व्यवहार है। और देखो तो जितना प्रतिपादन है वह व्यवहारनयसे ही हो सकता है, निश्चयनयसे तो प्रतिपादन होता ही नही है। इसलिए जितने शास्त्र है, जितने आगम हैं, सब व्यवहारनयके आगम हैं, शुद्ध नयका आगम नही है। हो ही नही सकता। हां, शुद्ध नयके बारेमे कुछ सकेत भले ही होता है। शुद्ध नय तो एक लक्ष्यकी चीज है और हमारे सारे जीवनमे उपकारी श्रुतज्ञानके अशरूप इस व्यवहारनयका ज्ञान है और इसकी ही करुणासे हम भूतार्थनयका मर्म जान पाये तो हम जिस विधिसे सहज बढ बढकर भूतार्थके विषयका आनन्द लेनेकी योग्यता बनाते हैं वह सबको भी यह ही बतलाये कि इस तरहसे चलो, इस इस ढगसे रहो, धीरे धीरे बढो, यहां आना है, यह जानना है। कैसा उपकारी व्यवहार है ? एक माताके समान उपकारी है। जैसे माता अपने बच्चेका पालन-पोषण करती है और उसे तैयार करके खुद मर जाती है ऐसे ही वह व्यवहारनय इस जीवको एक भूतार्थनयका पात्र बनाकर, भूतार्थनयको लक्ष्यमे ले ऐसी योग्यता ला देता है यह व्यवहारनय फिर खुद मर जाता है।

तत्त्वगवेषियोके प्रति घृणा करनेकी अनुचितता—हम यहां एक ज्ञानप्रकाशकी बात कह रहे हैं कि ज्ञान प्रमाण है, इस सम्बन्धमे यहां टोक दिया गया कि ज्ञान प्रमाण नही, किन्तु इन्द्रिय और पदार्थका सन्निकर्ष प्रमाण है, सम्बन्ध प्रमाण है। देखो घरमे अगर ४-६ पुत्र हैं और उनमे कोई पुत्र कुपूत निकल आये तो माता क्या उस कुपूतको कुवेंमे पटक देती है ? अरे वह तो अपने सभी बच्चोका एक तरहसे पालन करती है, ऐसे ही देखो जितने भी दार्शनिक है वे सब जैनशासनके १२वें अगके वर्णनमे कहां कहांपर लट्टू होकर बन गए हैं ? जैनशासनसे बाहर बन गए पर उनको कुछ घृणाकी दृष्टिसे न देखो, किन्तु उन्होने कौनसा विचार बनाया कि जिससे उनको यह मतव्य जचा। इसकी खोज करें और खोज करके जो शिक्षा मिले अपनेको उसे ग्रहण कर लें। और दूसरे अगर सुधर जायें तो सुधर जाने दो। मुख्य बात यह है कि अपनी सभाल करो। इस बात पर कमर मत कसो कि यह दर्शन खोटा, यह दर्शन खोटा। समझ बने सबकी और रक्षा करें अपनी। यदि यह १०-२० वर्ष का जीवन यदि हमने दूसरे जीवोपर ही दृष्टि गडा-गडाकर बिता दिया—ये क्यो नही समझते, यह बात, ये क्यो नही समझते यह तत्त्व, ये समझ जायें, ये समझ जायें और न समझें और इसके खिलाफ कहे, तो गुस्सा आये तो ऐसे जीवनसे हम अपना क्या सुधार कर लेंगे ? हम तो सबसे निराले एक जैनशासनकी भक्तिमे रहने वाले हैं। मेरेको दूसरेसे कोई

प्रयोजन नही रहा। हो रहे सब काम, मगर आशय यह बनायें कि दूसरे लोग अच्छे चलें तो हमे खुशी है, पर कोई बुरे चले तो हमे बुरा माननेकी कुछ बात नही। इस ससारके अनन्तानन्त जीवोमे से अगर कुछ लोगोपर ही दृष्टि गडाये रहे तो उससे अपनेको क्या लाभ मिलेगा ? है सब जीव, अपनी सुध लें, अपने पर करुणा करें, ऐसा गम्भीर एक अपना प्रकाश बनाकर। गम्भीर प्रकाशके मायने यह है कि जैसे माता-पिता गम्भीरतासे कुपूत सुपूतमे भेद नही डालते, परिस्थितिवश थोडा व्यवहार तो हो जाता है और और प्रकारका, मगर भीतर आस्थामे तो जैसे उसके लिए एक है इसी प्रकार सर्व मतव्य वाले, सब प्रकारकी धारणा वाले, सबके सब मेरे ही तो है, साधर्मी जन है। वात्सल्य भीतरसे न बिगडे। अगर यह वात्सल्य बिगड जाता है तो हम खुद अपने इस विशुद्ध ज्ञानस्वभावके अनुभवके योग्य नही रह सकते। अपना काम प्रमुख रखें।

संयुक्तसमवाय नामक सन्निकर्षमें प्रमाणत्वका अभाव—हां प्रकरण क्या चल रहा है जरा फिर आयें कठिन बातपर। इन्द्रिय और पदार्थका सन्निकर्ष प्रमाण है, यह बात आयी वैशेपिकोकी। सो एक दोष तो यह दिया कि यह बात सयोग सम्बधमे घटित नही है। अब सयुक्तसमवायकी बात लीजिए, ऐसे ही आंखका सम्बध तो होता है इस खम्भेसे। खम्भामे है रूपका समवाय और हम आंखसे रूपको जान जाते है तो आंखका और रूपका कौनसा सम्बंध हुआ ? यह सयुक्तसमवाय। कोई आंखमे रूप तो है नही, इसलिए समवाय तो कह नही सकते और रूपका आखसे सयोग होता नही। इसलिए सयोग भी नही। अरे संयोग है खम्भे का और खम्भामे समवाय है रूपका। तो देखो जैसे हम सयुक्तसमवाय सम्बधसे आंख द्वारा रूपको जान जाते है तो क्यो जी आखका और खम्भेके रसका सयुक्तसमवाय नही है क्या ? कैसे ? आंखका सयोग है खम्भेसे और खम्भेमे समवाय है रसका तो संयुक्तसमवाय सम्बंधमे यदि हमने आखसे रूपको जाना तो आंख द्वारा ही हम रसको भी जान जावें। जानते है क्या ? नही जानते। यह दोष आता है, इसलिए सयुक्तसमवाय भी प्रमाण नही है। अच्छा और और देख लो— नेत्रका आकाशसे सयोग है, आकाशमे शब्दका समवाय है तो नेत्रका शब्द के साथ सयुक्तसमवाय हो गया। तो नेत्र शब्दको जानता है क्या ? नही जानता। तो सयुक्त समवाय सन्निकर्ष भी प्रमाण नही है, यह बात कही।

सयुक्तसमवेतसमवाय नामक सन्निकर्षमें प्रमाणत्वका अभाव— यहां चर्चा यह चल रही है कि इन्द्रियका और पदार्थका सम्बध प्रमाण नही होता, किन्तु ज्ञान प्रमाण होता है। इन्द्रिय और पदार्थका सम्बध प्रमाण होता—इसमे आपत्ति दी जा रही है। दो सम्बध तो दूषित हो गए, तीसरा सम्बन्ध देख लो—इसे बोलते सयुक्तसमवेतसमवाय। ध्यानमे लावो— जैसे खम्भामे रूप है और रूपमे रूपत्व है तो आंखका रूपत्वके साथ सयुक्तसमवेतसमवाय

सम्बन्ध है, मायने आँखका संयोग है खम्भासे, खम्भेमे समवाय है रूपका और रूपमे है रूपत्व का समवाय तो आँखका रूपत्वके साथ कौनसा नाता बना ? सयुक्तसमवेतसमवाय। जानते तो है, आँखके द्वारा रूपत्व जान गये, वैशेषिक मानते हैं कि रूप जाना तो रूपत्व भी जाना नेत्रसे। तो जैसे आखोके द्वारा रूपत्व जाना, ऐसे ही आखसे रसत्व शब्दत्व आदिक क्यो नही जानते, क्योकि इनमे भी सयुक्तसमवेतसमवाय है। तो यह तीसरा सयुक्तसमवेतसमवाय भी प्रमाण नही है। प्रमाण है तो ज्ञान प्रमाण है। कही भी देखो— सर्वत्र ज्ञान प्रमाण है। बस जान गए। अगर इतनी बात रखें कि जान गए। ज्ञातासे आगे कोई व्यवहार नही होता तो वह आप अपनी शुद्ध क्रिया कर रह, सही काम कर रहे। और जहा जाननेसे आगे बढे मायने रागद्वेषकी लगारमे आये बस वहीसे विपत्तिया हैं। जैसे अजायबघरमे बस देखने-देखने भरकी इजाजत है, चीज छूनेकी इजाजत नही है। अगर छुवोगे तो गिरफ्तार हो जावोगे, ऐसे ही दिखने वाले इन समागमोको देखनेभरकी इजाजत है, छूनेकी, भोगनेकी, राग करनेकी इजाजत नही है। अगर इन्हे छुवोगे तो शरीरकी गिरफ्तारीमे आ जावोगे, कर्मकी गिरफ्तारीमे आ जावोगे और ८४ लाख योनियोमे जन्ममरण करनेका दड मिलेगा। इसलिए केवल जाननहार रहे, रागद्वेषादिकका लगाव मत रखो। यह ज्ञान आत्माका धर्म है, इसका आत्मासे तादात्म्य सम्बध है। सो ज्ञान प्रमाण है, सन्निकर्ष प्रमाण नही।

कारकसाकल्यकी अप्रमाणता—"तत्प्रमाणे" इस सूत्रमे दो पद हैं—तत् प्रमाणे, अर्थ क्या है कि वह दो प्रमाणरूप है। है और निकाल दो— सीधा शब्दार्थ क्या हुआ ? वह दो प्रमाणरूप। इसमे सिर्फ 'तत्' इस शब्दकी ही व्याख्या चल रही है ५-६ दिनोसे। 'वह' इसका क्या अर्थ है ? जैनशासनने बात रखी कि 'ज्ञान' यह अर्थ है 'वह' का। याने ज्ञान प्रमाणरूप है। तो उसमे बाधक बन रहे है अनेक दर्शन। किसीने कहा—कारकसाकल्य प्रमाण है। कारकसाकल्यका अर्थ यह है कि जितनी चीजें चाहिएँ जाननेके लिए वे सारी चीजें इकट्ठी हो उसका नाम प्रमाण है। जैसे कुछ जानना है तो आख भी चाहिए, पदार्थ भी चाहिए, उजेला भी चाहिए। तो ऐसी जितनी बातें जाननेमे आवश्यक होती हैं उन सब चीजो का समुदाय मिल जाय तो वह प्रमाण है। कारकसाकल्यवादीका कहना है कि देखो आत्मा धरी रहे और उजेला न हो तो जान जाते क्या ? ऐसा य दार्शनिक अपना मतव्य बताते हैं। आत्मा ही आत्मा प्रमाण है, ज्ञान ही ज्ञान प्रमाण है। कहा धरा प्रमाण ? एक उजेलाभर न हो तो सब धरा रहे। आँखोके आगे कार्ड लगा दिया तो सब ज्ञान धरा रहा। तो ज्ञान प्रमाण नही, आत्मा प्रमाण नही, हो उनमे एक ज्ञान भी शामिल है, एक आत्मा भी शामिल है। पदार्थ है, उजेला है. ऐसी सारी चीजें मिल जायें तो उसे प्रमाण कहते हैं। "कहीकी ईंट कहीका रोडा, भानुमतीने कुनबा जोडा।" सब चीजें मिल जायें वह प्रमाण है। ऐसे

मतव्यका तो निराकरण खुद कर सकते है कि कही प्रकाश प्रमाण है क्या ? प्रकाश तो एक अचेतन द्रव्यपर्याय है, क्या वस्तु प्रमाण है ? वह तो एक चेतन पदार्थ है। कोई भी प्रमाण अचेतन नही हो सकता। चाहे आँख हो, चाहे शरीर हो, कोई भी पदार्थ प्रमाण नही होता। यो तो कितने ही प्रमाण मानने पड़ेंगे। जब कोई आप रजिस्ट्री या रुक्का पढ रहे हो, आपको चश्मा लगता हो तो देखो आँख प्रमाण हो गई, चश्मा, कागज, स्याही आदि प्रमाण हो गए, और वह घर भी प्रमाण हो गया जहाँ बैठकर पढते है। पानी बरसे तो खुलेमे तो नही पढ़ सकते। तो देखो कितने प्रमाण मानने पडे ? प्रमाण तो कोई एक ही है और वह है ज्ञान। तो सभी चीजें प्रमाण नही होती। समस्त कारकोका साकल्य याने समुदाय प्रमाण नही।

इन्द्रिय और इन्द्रियसन्निकर्षकी प्रमाणताके मन्तव्यकी चर्चाका स्मरण—दूसरा दार्शनिक बोला कि हाँ तुम ठीक कहते हो। सर्व कारकोका समूह प्रमाण नही। प्रमाण तो खाली इन्द्रिय ही इन्द्रिय है, क्योकि वह जाननेमे विशेष कारण है, साधकतम है सो इन्द्रिय प्रमाण है, और इन्द्रिय बिना कोई जीव जान तो लेगा नही। कोई जीव होता ही नही इन्द्रिय बिना। लोकमे कोई जीव ऐसा न मिलेगा जिसके इन्द्रियाँ नही है। उजेला बिना भी ज्ञान हो जायगा। बिल्लीको अंधेरी रातमे कैसे ज्ञान हो जाता, उजेला तो नही है। मगर इन्द्रिय बिना ज्ञान नही होगा, इसलिए इन्द्रिय ही प्रमाण है। इसका निराकरण पहिले काफी कर दिया गया। जिस इन्द्रियको तुम प्रमाण कहते हो वे इन्द्रियाँ भौतिक हैं, तो वे प्रमाण नही हैं। अचेतन प्रमाण नही होता और यदि कहो कि वे चेतन है इन्द्रिया तो ठीक प्रमाण हैं। मगर उसका अर्थ है भावेन्द्रिय। और भावेन्द्रिय है ज्ञानविशेष। तो ये भौतिक इन्द्रियाँ प्रमाण नही हो सकती। तो इसपर तीसरा दार्शनिक बोला कि इन्द्रिय तो प्रमाण नही है, पर इन्द्रिय और पदार्थमे जो भिडाव होता है वह प्रमाण है। इन्द्रिय पदार्थसे न भिडें और जान तो लें, बर्फको हाथसे छूते हैं, भिडत हो गई तो आपको ठड लग गई। अब बर्फ रहे और किसी बाहरी स्पर्शसे भिडत न हो तो ठडका ज्ञान कैसे हो सकता है ? ऐसा सन्निकर्षको ही प्रमाण कहने वाले दार्शनिकोके मतव्यके बारेमे चर्चा चल रही है। सन्निकर्ष होता है ६ प्रकारसे। उनमेसे तीन सन्निकर्षका वर्णन तो कल कर दिया गया।

समवायको प्रमाण माननेमे व्यभिचारका प्रदर्शन—अब चौथा सन्निकर्ष समवाय वाला है। उसकी चर्चा सुनिये। शकाकारका कहना है समवाय प्रमाण बनता है। देखो—कर्णसे श्रोत्रइन्द्रिय द्वारा शब्द सुना गया, और देखिये शब्दका आकाशमे समवाय मानते हैं वैशेषिक, और क्या मानते हैं कि जब शब्द सुने ना तो जैसे एक नाम ले लिया—महावीर। विशेषवादियोका यह कहना है कि जब 'म' बोला तब ज्ञान नही हुआ, जब 'हा' बोला तब ज्ञान नही हुआ, जब 'वी' बोला तब ज्ञान नही हुआ और जब 'र' बोला तब ज्ञान हुआ। शब्दमें

जितने शब्द है उनमे जो आखिरी शब्द है वह आखिरी शब्दका जो समवाय है वह ज्ञान कराता है और पहले जो शब्द बोले गए वे फोकटके थे । तो भला बतलाओ कि जब समवाय प्रमाण है तो पहला शब्द जो म बोला— क्या उसका आकाशसे समवाय नही है । आकाश तो व्यापक है और आकाशका गुण माना शब्द वैशेपिकोने वह भी व्यापक है । सभी जगह भरे पडे है शब्द । और देखो जब कोई पूछे कि जब शब्द सभी जगह भरे पडे हैं तो जब मुख चलाते है और शब्द उत्पन्न होते है तो वे कैसे उत्पन्न हो गए ? शब्द तो पहलेसे ही थे । तो वैशेषिकोका उत्तर यह है कि मुखसे शब्द उत्पन्न नहीं होते, किन्तु मुखसे शब्दका ढक्कन उघड जाता है । जैसे घरमे बहुत चीजें रखी हो और उनपर कपडा ढाक दिया तो कपडा उघाडनेसे क्या वे चीजे बन गईं या उघड गईं ? बनी नो नही, उघडी है । तो विशेषवादमे यह कहते हैं कि तालू ओठ चलानेसे शब्द उघडते है, बनते है, अपनी-अपनी गैल सबको मालूम है और सब अपनी-अपनी गैल निकाल लेते है । खैर, यह विषय अलग है, पर बात यहाँ यह कही जा रही है कि यह समवाय सन्निकर्ष ज्ञानका कारण होवे तो जिस समय एक शब्द महावीर बोला तो म के समय, हा के समय, वी के समय क्यो नही ज्ञान होता ? र के बाद क्यो ज्ञान होता ? र से ही ज्ञान क्यो होता है ? क्या शुरूके शब्दोमे समवाय सम्बन्ध नहीं है, और क्या श्रोत्रसे भिडते नही ? जब म बोला तो उसका आकाशमे समवाय है और आकाशसे ही श्रोत्र निर्मित है, क्यो नही ज्ञान होता ? तो इससे मालूम होता है कि समवाय प्रमाण नहीं है, ज्ञान प्रमाण है । जब म हा वी बोला तब तक ज्ञान नही बनता कि क्या बोला गया ? तो पूर्व सस्कारसहित र का जो बोध हुआ उससे जान लिया गया कि यह बोला गया । ज्ञान प्रमाण हो गया । तो यह चौथा सन्निकर्ष भी प्रमाणभूत नही है, किन्तु ज्ञान ही प्रमाण है ।

समवेतसमवायमे प्रमाणत्वकी असिद्धि— अब ५वाँ देखो, ५वाँ नाम है समवेतसमवाय । समवेतसमवाय, चूंकि कान और आकाश एक ही चीज है वैशेषिकोंके यहाँ, इसलिए इसे समवेतसमवाय बोलेंगे । कान तो शब्दको जान जायें, अभी शब्दकी बात कही थी, अब शब्दत्वकी मायने शब्दपनेकी बात कह रहे हैं । जैसे महावीर शब्द बोला तो म शब्दमे शब्दत्व है कि नही, हा शब्दमे शब्दत्व है कि नही, वी शब्दमे शब्दत्व है कि नही और र शब्दमे भी शब्दत्व है कि नही ? शब्दत्व तो सबमे है, पर र मे जो शब्दत्व है उसका बोध हुआ और बाकी तीन (म हा वी) मे क्यो नही हुआ ? तो सन्निकर्ष प्रमाणभूत नही है, क्योकि उसमे व्यभिचार आता है । सन्निकर्ष होते हुए भी ज्ञान नही हो रहा । तो कैसे कहते कि सन्निकर्ष प्रमाण है ? शब्दत्वका समवाय है शब्दमे, शब्दका समवाय है आकाशमे । आकाश और कान एक ही चीज है, क्योकि कान आकाशसे बनते हैं वैशेषिक दर्शनमे । यदि समवेतसमवाय

प्रमाण होता तो यहाँ व्यभिचार कैसे बन गया ? इससे सन्निकर्ष प्रमाण नही है, किन्तु ज्ञान ही प्रमाण है ।

विशेषणविशेष्य सम्बन्धादि नामक छठा सन्निकर्ष—अब छठा सम्बन्ध है विशेषण-विशेष्य भाव । याने कहते कहते जो कुछ और बच गए हो सम्बन्ध वे सबके सब ले लिये छठेमे । जैसे दानदाताओकी सूची लगती है ना; इनके इतने, इनके इतने और फुटकर इतने हो गए । तो ऐसे ही ५ सम्बन्ध बताये, अब छठवेंमे क्या बता दिया ? फुटकर, विशेषण-विशेष्य ले लिया, सयुक्तविशेषण लिया, सयुक्तसमवेत विशेषण लिया आदि जो जो मुँहपर आयें सब ले लो । क्यो लिया ? जब यह पूछा गया कि यह पदार्थ तो इन्द्रियके सम्बन्धसे जान लिया गया, एक मोटी बात है, मगर अभाव भी तो जाना जाता है । जैसे कहते है कि यहाँ लोटा नही है, यहा थाली नही रखी । अभाव भी तो जाननेमे आता । तो अभावके साथ कैसे इन्द्रियका भिडत हुआ सो त[illegible]ताओ ? समवायसे तो इन्द्रियकी भिडत नही, तब समवाय कैसे जाना जायगा ? यह समस्या सामने आती है ना । जो इस बातपर उतारू हो गए कि इन्द्रिय और पदार्थका भिडत हो, सन्निकर्ष हो तब ही ज्ञान हो सके तो वह बतायें कि अभावके साथ किसका भिडत होता है ? जो अभाव जाना गया तो उसके लिए एक फुटकर सम्बन्ध मानना पडा—विशेषणविशेष्य सम्बन्ध । कैसे कि देखो, कोई लडका गया कमरेमे मानो कोई थाली उठानेके लिए और वहाँ थी नही तो उस कमरेको देखकर वह कहता है कि वहाँ थाली नही है । तुमने अच्छी तरह देखा ? हाँ हाँ अच्छी तरह देखा । क्या ? थाली नही, यह देखा । तो इस अभावका कैसे सम्बन्ध बना ? कुछ गैल निकाली जा रही है सो सुनो । थालीका अभाव है कमरेका विशेषण । जैसे कमरेमे थाली नही है तो यह कमरा कैसा है ? थालीके अभाव वाला कमरा है । बन गया विशेषण । जैसे कहते है कि कपडा कैसा है ? साफ है । तो साफ बन गया विशेषण । ऐसे ही कमरा कैसा है ? थालीके अभाव वाला है । तो थाली का अभाव बन गया विशेषण और उस अभावका सम्बन्ध है कमरेके साथ और कमरेको आँखोसे जाना ही है तो यो अभावसे आँखोका सम्बन्ध बन गया । यह माना गया छठा सम्बन्ध ।

वस्तुतथ्योंको जाननेमे प्रमाद न करनेका अनुरोध—देखो सीधी-सादी दाल रोटी बनाकर रोज-रोज खाते खाते जी उकता जाता है ना, तो मन करता है कि चलो आज अमुक चीज बना लें, आज अमुक चीज बना ले । तो ऐसे ही समझो कि एक सीधी-सादी सरल बात जीव, पुद्गल, भेदविज्ञान, यही यही सीमित-सी बात सुनते रहे तो ठठेरेके कबूतर जैसी दशा हो जाती है । जैसे ठठेरेके यहाँ रहने वाले कबूतरके ऊपर रोज-रोज ठनठनकी आवाज होते रहनेका कुछ भी प्रभाव नही पडता, वह तो ज्यो का त्यो उस आवाजको सुनता

रहता है। वह ठनठनकी आवाज सुनकर भगता नही। ऐसे ही रोज रोज वही वही चीज सीमितरूपमे सुनते रहनेसे कुछ प्रभाव नही पडता। मन करना चाहिये कि कोई नई-नई चीजकी जानकारी करे। देखो काम तो न चलेगा दाल रोटी खाये विना, यह तो करना ही होगा। ऐसे ही काम तो न चलेगा भेदविज्ञान विना। पूरा तो इसीसे पडेगा कि जहाँ आत्मस्वातन्त्र्यका बोध हो। पुद्गलसे जीवको न्यारा समझें, कषायोसे जीवको न्यारा जानें। काम तो देगा यही भेदविज्ञान, स्वभावज्ञान। मगर रोज-रोज सुन सुन करके अपने-अपने अनुभवसे विचार लो कि वहीके वही है कि नही? कुछ उत्थान किया क्या? बात सही है, ठीक है। करना वही है, करो, मगर सीमित रटतमे तृप्त न हो जावो, ज्ञानके लिए तो सदा भूखे रहो। हमे तो सब तथ्य जानना है, सब कुछ समझना है। देखिये प्रथमानुयोगके कथानक पढें तो वहाँ भी ज्ञान और वैराग्यकी शिक्षा मिलती है। जब यहाँ ही नाटकोमे, थियेटरो मे व सनीमोमे देखते हुए बीच-बीच अश्रु आते रहते हैं और अन्तमे जब मुख्यपात्रके ऐश्वर्यका दृश्य सामने आता है तो वहाँ कितनी प्रसन्नता होती है तो ऐसे ही पुराण पुरुषोंके चरित्र सुनकर भी हमे ज्ञान और वैराग्यकी झलक मिले तो क्या सम्भव नही है? तो जैन आगम की कौनसी बात व्यर्थ है सो बताओ? सबका उपयोग उठाओ। उपयोग लेनेकी कला सीखो और देखो सब कुछ कहकर भी आना है भेदविज्ञानपर ही। सारे भोजन बनाकर भी आप खुश होंगे तो दाल रोटीसे ही। चाहे आप प्रथमानुयोग पढें, चाहे करणानुयोग पढें, चाहे चरणानुयोग और चाहे द्रव्यानुयोग। आखिर अन्तमे आना पडेगा अपने आत्मामे ही। कल्याण तो तब ही होगा। मगर सीमित बात ही रोज-रोज सुननेसे एक ऐसी स्थिति हो जाती है जैसे कि गाडीमे चलने वाला गलियार बैल। जैसे उसे कितना ही पोटा जाय, पर वह आगे नही बढता, ऐसे ही कितना ही समझाया जाय, पर आगे बढाव नही होता। तो भाई आगममे सर्व रत्न भरे है, सबसे लाभ है।

संयुक्तविशेषणादि सन्निकर्षोंमे प्रमाणत्वकी असिद्धि—यहाँ शङ्काकारकी चर्चा चल रही है कि ज्ञान प्रमाण नही है, सन्निकर्ष प्रमाण है। इस विषयमे बात चल रही है कि जो छठा सम्बन्ध माना है सन्निकर्ष विशेषणविशेष्य भावका तो विशेषणविशेष्य भाव मानते हुए कि थालीके अभावका सम्बन्ध है कमरेके साथ, कमरेको आँखोने देखा, इस तरह एक सयुक्तविशेषण सबन्ध द्वारा थालीके अभावको जाना। पर बताओ तो सही वि किसीको नासिकाका मल दूर करना हो तो सीधे ही क्यो नही छिडक देते। हाथको टेढा मेढा करके, उसकी विशेष कवायत करनेकी क्या जरूरत? सीधे सादे मान लो आखिर वे भी पहुचेंगे ज्ञान तक ही। ज्ञान ही प्रमाण है, अज्ञान प्रमाण नही होता। इस तरह कारकसाकल्य प्रमाण न रहा, इन्द्रिय प्रमाण न रहा, इन्द्रियव्यापार प्रमाण नही और इन्द्रिय सन्निकर्ष

प्रमाण नही ।

प्रतिनियत ज्ञानकी सिद्धिके लिये सन्निकर्षादिमे योग्यता माननेका विफल श्रम-- अब शकाकार जब कि सब बातसे थक गए कि सम्बध भी हो रहा है, फिर भी प्रमाण नही बन रहा । जैसे आँखोका आमके रससे सम्बंध बन रहा, क्योकि आममे रूप भी है, रस भी है । जब आँखसे देखा आम तो रससे भी सम्बध बन गया । कोई आम रससे जुदा तो नही है । पर रसज्ञान क्यो नही होता ? आखोसे रूपका ही ज्ञान क्यों होता ? तो उस विषयमे उत्तर देते है कि इस सन्निकर्षमे भी ऐसी योग्यता है कि किसी योग्यताको पाकर सन्निकर्ष ज्ञान कराता है और वह योग्यता नही होती तो ज्ञान नही कराता । उसका उत्तर साफ है । जब तुम योग्यतापर उतरो तो सीधे आत्मज्ञानकी योग्यतामे आ जावो, सम्बधकी योग्यतामे न उतरो और वह योग्यता क्या है ? ज्ञानावरणका क्षयोपशम । जैसे जिस ज्ञानावरणका क्षयोपशम है उसके अनुकूल उपयोग लगनेपर उसका ज्ञान होता है । देखो एक बात और ध्यानमे दो—स्वानुभव होता है ना वहा, पर कैसे होता स्वानुभव ? जिसके स्वानुभूत्यावरण प्रकृतिका क्षयोपशम है उसके उस क्षयोपशमलब्धिके होनेपर तथा उपयोग होनेपर स्वानुभूति होती है । प्रकृतियां १४८ ही नही हैं । ज्ञानावरणके कितने भेद ? मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन पर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण । अब देखिये मतिज्ञानावरणके कितने भेद हैं—अक्षमत्यावरण, स्मृत्यावरण, तर्कावरण, प्रत्यभिज्ञानावरण, अनुमानज्ञानावरण । अच्छा और हर एकके कितने भेद हैं ? कहते हैं कि इतने भेद लगा लो जितने पदार्थ होते है । जैसे इस कमरेमे १०० चीजे रखी है और उन १०० चीजोका ज्ञान कर रहे । खम्भा जाना तो निश्चित है कि हमारे खम्भाज्ञानावरणका क्षयोपशम है, चौकीको जाना तो चौकीज्ञानावरणका क्षयोपशम विदित है । कितने ज्ञानावरण होते हैं ? अरे जितने पदार्थोका ज्ञान नही हो रहा उतने ज्ञानावरण छाये थे जीवमे, और पदार्थ हैं सारे । तो एक आत्माका ज्ञान नही हो रहा तो क्या है ? आत्मज्ञानावरण छाया । और आत्मज्ञानावरणका विगम विशेष हो तो आत्मज्ञान हो जाय । तो जितना-जितना ज्ञान होता है उस उस पदार्थविषयक ज्ञानावरणका क्षयोपशम है, यह तो हुई ज्ञानलब्धि और इसका हुआ उपयोग याने उपयोग उस ओर लगा तो उसका ज्ञान होता है । इस तरह ज्ञान बनता है । और यो ज्ञान प्रमाण है । इस ज्ञानको छोडकर अन्य कुछ प्रमाण नही है ।

इन्द्रियशक्तिको प्रमाण कहनेका अर्थ अर्थग्रहणयोग्यता माननेपर भावेन्द्रियरूप ज्ञानके प्रमाणत्वकी सिद्धि—अब देखो होता है ना ऐसा कि जो हठी होता है वह मरते-मरते भी अपने हठको कोई न कोई बात कहता है । ऐसे ही पचायतमे एक जाटने अपने किसी हिसाबकी बातमे कह दिया कि ३० और ३० मिलकर ८० होते हैं । सभीने कहा—अरे ८० कैसे

होते ? ६० होते हैं। लो उसको हठ हो गई कि ३० और ३० मिलकर ८० ही होते हैं। और साथ ही यह भी कह बैठा कि यदि ३० और ३० मिलकर ८० न होते हो तो हम अपनी ५ भैसें जो करीब १०-१० सेर दूध देती है वे हम पचोको दे देंगे। यह बात उसकी स्त्रीको भी मालूम हुई। जब जाट घर गया, स्त्रीको उदास देखा तो उदासीका कारण पूछा—स्त्रीने कहा कि आपने पचायतमे कह दिया है कि ३० और ३० मिलकर ८० होते है और यह भी कह दिया है कि यदि ८० न होवें तो हम अपनी सभी भैंसें पचोको दे देंगे, सो हमे दुःख इस बातका है कि कल हमारी सभी भैसें पच लोग ले लेंगे। तो वह जाट बोला— अरी तू तो बडी नादान है, चाहे सभी लोग कहते फिरें कि ३० और ३० मिलकर ६० होते हैं, पर हम जब अपने मुखसे कहे कि ३० और ३० मिलकर ६० होते हैं तभी तो पच लोग भैंसें ले सकेंगे। यह हमारे पास लट्ठ किसलिये है ? तो भाई कोई ऐसी ही हठ करे तो उसका क्या इलाज ? यहाँ सन्निकर्षवादी अपनी सब बातोमे असफल हो गया तो अब वह कहता है कि चलो इन्द्रिय प्रमाण न सही, इन्द्रियसन्निकर्ष प्रमाण न सही, मगर इन्द्रियशक्ति तो प्रमाण है। इतनी बात तो हमारी रख लो। अब हमारा आखिरी समय है, हम आपसे विदा हो रहे हैं तो कमसे कम हमारी इतनी बात मानकर तो हमारी लाज रख लो। कह तो दो कि इन्द्रियशक्ति प्रमाण है। तो सुनो, इन्द्रियशक्तिका अर्थ क्या करते हो ? यह इन दार्शनिको से पूछ रहे। यदि कहो इन्द्रियकी योग्यता ही इन्द्रियशक्ति है तो बस वही तो बात आ गई। भावेन्द्रिय है, यही योग्यता है, यही ज्ञान है और यही प्रमाण कहलाता है। तो एक आत्मयोग्यता बिना, एक ज्ञानयोग्यता बिना तो प्रमाण नही आता, इसलिए ज्ञान ही प्रमाण है। ज्ञानको छोडकर अन्य कुछ प्रमाण नही। इन्द्रियशक्ति भी तो आत्माकी लब्धिका ही नाम है। जैसे बोला कि तीन इन्द्रिय जीवोमे जानने की शक्ति है, इसे चाहे यो बोलो कि तीन इन्द्रिय जीवमे तीन इन्द्रियावरणका क्षयोपशम है, तीन इन्द्रियसे जाननेकी योग्यता है। शक्ति योग्यतासे अलग क्या चीज है ? इसलिए इन्द्रियशक्ति प्रमाण कहा तो योग्यताका अर्थ समझ कर कहने चलो तो तुम्हारी हाँ मे हाँ कहे देते है। और यदि ज्ञान और योग्यताको छोडकर और कुछ हौवा हो तुम्हारी इन्द्रियशक्तिका अर्थ तो वहाँ पर भी तुम विचार करो, वह प्रमाण नही है। कोई भी अचेतन प्रमाण नही हो सकता। जो ज्ञान है, जिसमे चेतना है वह ही प्रमाण हो सकता, अन्य कुछ प्रमाण नही हो सकता।

ज्ञानके प्रमाणत्वकी चर्चामे अपनी ही खासकी चर्चा—भैया! बताओ; यह बात किसकी की जा रही है ? खुदकी। कुछ आदमी ऐसे भोले होते कि उनकी हो तो बात की जा रही हो और वे पहिचान नही कर पाते कि हमारी बात कही जा रही है। ऐसे ही कही तो जा रही है अपने आत्मज्ञानकी बात, आत्मा है, ज्ञानस्वरूप है, कैसा ज्ञान है ? कैसी

योग्यता है और समझमे न आये कि हमारी बात कही जा रही है और आँखें भी देखें कही और जगह, किसकी बात कही जा रही है, किसी और की बात कही जा रही है, तो वह ऐसा ही भोलापन समझिये। भाई ऐसा भोलापन दूर करो। बाह्य पदार्थोंमे तो भोले बन जावो, पर आत्माके ज्ञानमे भोले मत बनो। कुछ लोग कहते है कि हमारी याददास्त इतनी खराब हो गई कि हम भूल जाते है। ठीक है यह, मगर बाहरी पदार्थोंकी बात भूल जावो, इसकी भी खबर न रहे, उसकी भी खबर न रहे तो यह गुण है कि दोष है? अरे यह तो गुण है। और वे यह बतायें कि आत्माकी खबर तो कही नही भूलते? चाहे कितने ही वृद्ध हो जायें ५०–६०–७०–८० वर्षके हो जाये, कितनी ही बडी उम्रके हो जायें, फिर भी जिसने आत्मा का ज्ञान पाया है वह कभी उस आत्माकी बात को भूल नही सकता। चाहे इन्द्रियाँ कितनी ही शिथिल हो जायें, यहाँ तक कि मरण समयमे वह बेहोश जैसी हालतमे भी हो जाय, जिसे लोग समझ लेते कि यह तो बडा ज्ञानी था, पर इसको मरण समय बेहोशी है, ज्ञान बिगडा हुआ है, सावधानी नही है, इसका खोटा मरण हो रहा , पर ऐसी बात नही। ज्ञानी पुरुषको बेसुधीमे भी ज्ञानका तो प्रत्यक्ष होता ही है। उसे कोई नही मेट सकता। चाहे वह बेहोश हो जाय, उसकी कैसी भी स्थिति हो, जिसने ज्ञानका साक्षात्कार किया ऐसे पुरुषके ज्ञानको रोकने मे कोई समर्थ नही है। उसी ज्ञानकी यह चर्चा है कि हम आपमे जो ये ज्ञान बनते है तो उनकी विधि क्या है और प्रमाण कौन है? यह ज्ञान ही प्रमाण है।

इन्द्रिय, सन्निकर्ष व इन्द्रियशक्तिके प्रमितिमे कारणत्व व साधकतमत्वकी असिद्धि— प्रसग चल रहा है प्रमाणत्वके निर्णयका। निर्णय किया गया कि ज्ञान ही प्रमाण है। तब इसके खिलाफ अनेक दार्शनिक आये, उनमेसे इस समय तीन बातोको सामने रखिये। कोई लोग कहते है कि इन्द्रिय प्रमाण हैं, कोई कहते है कि इन्द्रिय व पदार्थका सम्बन्ध याने सन्निकर्ष प्रमाण है, तो कोई कहते है कि इन्द्रियकी शक्ति प्रमाण है– ये तीन बातें सामने रखो और उनके मुकाबलेमे एक बात सामने रखें। जैसे तराजूमे दो पलडे है– एकपर रखो ज्ञान और एकपर रखो ये तीन चीजें—इन्द्रिय, सन्निकर्ष और इन्द्रियशक्ति। अब इसका कुछ विवेचन छुटपुट विवाद संघर्षरूपमे समझियेगा। उन तीन बातोमे से किसीके लिये भी पूछा जा रहा है कि बतलावो ये इन्द्रिय और सन्निकर्ष और इन्द्रियशक्ति प्रमाण है, इसमे आपका हेतु क्या है? तो शकाकार कहते है कि बात यह है कि ये प्रमितिमे साधकतम है। साधकतम मायने किसी काममे जो असाधारण साधन हो। जैसे काठके काटनेमे कुल्हाडी साधकतम माना है। जो किसी कामके किये जानेमे विशेष साधकतम हो उसे कहते हैं साधकतम। वे कहते है कि इन्द्रियशक्तियाँ ये साधकतम हैं, इसलिए प्रमाण हैं। प्रमाणताका हेतु यह है कि यह साधकतम है। तो फिर पूछो कि यह इन्द्रिय आदि साधकतम है, इसका हेतु क्या? तो शकाकार

कहते है कि ये ज्ञानमे कारण हैं इस कारण साधकतम है। तो कहिये वाह, यह तो इतरेतरा-श्रय दोष हो गया। साधकतम होनेसे कारण सिद्ध होता है और कारण सिद्ध होनेसे साधक-तम बनता है। जैसे एक ताला आता है ना जो बिना चाभीके लग जाय। चाभी रह जाय संदूकमे और लगा दिया जाय ताला, तो क्या परिस्थिति होती है ? जब ताला खुले तब चाभी निकले, जब चाभी निकले तब ताला खुले। ऐसे ही यहाँ भी एक झंझट बना लिया। ये इन्द्रियसन्निकर्ष ये शक्तियाँ जब साधकतम सिद्ध होवें तो कारण बंने और जब कारण सिद्ध हो तो साधकतम बने। तो इस कारणसे इन तीनोको प्रमाण नही सिद्ध किया जा सकता।

इन्द्रियादिके प्रमाणत्व सिद्ध करनेके लिये प्रस्तुत तद्भावाभावसे भावाभाववत्ता हेतु की असिद्धि—अब यह दार्शनिक कहता है कि इस कारणसे प्रमाण न सिद्ध होनेपर हम एक नया कारण और बतावें सो सुनो। यहाँ इन्द्रियाँ, सन्निकर्ष और शक्तियोको प्रमाण मानने वाले कहते हैं कि बात यह है कि इनके होनेपर ज्ञान होता है, प्रमाण होता है और न होने पर प्रमाण नही होता इसलिए ये प्रमाण माने जाते है। तो उत्तर स्पष्ट है। पहले भी बता दिया कि यह सही बात नहीं है। कभी इन्द्रिय है तब भी ज्ञान नही होता, कही इन्द्रिय नहीं हैं तब भी ज्ञान होता। जैसे सर्वज्ञके इन्द्रिय नही है और ज्ञान होता है और सोये हुए पुरुषके इन्द्रियाँ हैं और ज्ञान नही होता, यह सन्निकर्षकी बात है और यह ही शक्तिकी बात है और अगर इस तरहसे प्रमाण कहते हो कि इसके होनेपर ज्ञान होता है और इसके न होनेपर ज्ञान नही होता, तो इस विधिमे आत्माका भी तो नाम कभी कभी ले लो, या इसे बिलकुल ही छोड रखोगे ? केवल इन्द्रिय इन्द्रिय ही गावोगे या आत्माका भी नाम लोगे ? वहाँ भी तो यह ही बात हो रही है कि आत्माके होनेपर प्रमाण होता है और आत्माके न होनेपर प्रमाण नही होता। तब शङ्काकार कहता है कि आत्माको हम प्रमाण यो नही मान सकते कि आत्मा तो है साधारण याने सब ही वस्तुओके ज्ञानका आधार। तो सबका तो नही प्रमाण होता रहता, प्रमाण और ज्ञान कभी होता है कभी नही और अगर ज्ञानका और प्रमाणका साधकतम हो तो सारा ज्ञान हमेशा एक साथ रहना चाहिए, जब सारा ज्ञान हो गया तो प्रमाण रहा ही नही। तो यह आत्मा साधारण है इसलिए यह प्रमाता प्रमितिका साधकतम नही है, तो आचार्यदेव कहते हैं ऐसा ही साधारण तो सन्निकर्ष और इन्द्रिय आदि है जो सब पदार्थोके लिये तैयार रहता है। अगर सन्निकर्ष, इन्द्रिय व इन्द्रियशक्ति प्रमाण हो तो जैसे आत्मामे दोष देते वही दोप इसमे आता है। तो शकाकार कहता है कि यह बात नही, इन्द्रिय और सन्निकर्ष और शक्ति तो कभी असाधारण भी बन जाती है याने कोई खास मौकेकी बात हो तो इन्द्रियशक्ति जानें, जहाँ मौका मिले, उसे असाधारण कहते हैं। तो उत्तर उसका भी यही है कि ऐसे ही आत्मा असाधारण बन जाता है। जब योग्यता हो,

साधन हो, उपयोग चले तो उसका ज्ञान होता है, नही तो नही होना, तो आत्मा प्रमाण है, ज्ञान प्रमाण है, अचेतन प्रमाण नही होता, ये छुटपुट सघर्ष चल रहे है, ये लम्बे-चौडे नही है, एक-एक बातके सघर्ष है। तो यह शकाकार दार्शनिक कहता है कि हम कैसे जानें कि आत्मामे असाधारणता है याने दोष यह दिया जा रहा कि आत्मा यदि ज्ञानका कारण है, ज्ञानका साधकतम है तो आत्मा तो सदा रहता तो उससे तो प्रतिनियत अर्थके ज्ञानका नियम तो नही बनता देखो जब आत्मा असाधारण बनता है तब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके योगकी सपत्ति मिलती है और तब ज्ञान बनता है, ऐसा ही तो उत्तर दिया था आचार्यने। तो शकाकार कहता है कि आत्माकी असाधारणताका क्या अर्थ है ? तो आचार्य कहते है कि तुम्हारे सन्निकर्षकी असाधारणताका क्या अर्थ है ? शकाकार कहता है कि विशिष्ट ज्ञान कार्यका हेतु बनना। ऐसे ही आचार्य कहते है यही आत्माकी बात है कि विशिष्ट ज्ञानका हेतु बनना। याने ज्ञानका मौका ही बनता है। तो शकाकार कहता है कि आत्मा तो सदा रहता है, तब तो सब चीजोके ज्ञानका आत्मा साधारण हेतु रहा। वह असाधारण कैसे हो सकेगा ? जब जब ज्ञान करे सभीका साधारण ज्ञान है आत्माको, चाहे सुबह ज्ञान करे तो, दोपहरको ज्ञान करे तो। उसे असाधारण कैसे कहते ? तो आचार्यदेव कहते है कि तुम्हारा सन्निकर्ष और इन्द्रियशक्ति भी सदा रहती है तो उसे तुम असाधारण कैसे कह दोगे ? तो शकाकार कहता है कि हम यो कहेगे—सुनो, जिस समय इन्द्रिय और सन्निकर्ष ज्ञानकी उत्पत्तिमे व्यापार कर रहे हो उस समय यह इन्द्रिय और सन्निकर्ष कारण है वाकी समय नही। तो कहते हैं कि यह ही बात हमारे आत्मामे भी कह लो कि जिस समय आत्मा किसी पदार्थकी जानकारी मे उपयोग लगा रहा है उस समय ज्ञानका कारण है वह, उस ज्ञानका प्रमाण है वह और इस कारण प्रमाणताकी व्यवस्था बन जायगी।

आत्माके कथचित् अनित्यत्वके कारण अर्थज्ञानमे उपयुक्तताके समय प्रतिनियम अर्थ के ज्ञानका प्रतिनियम—शकाकार कहता है कि हे जैन आचार्यो ! तुम आत्माकी वात, अगर आत्माकी असाधारणता उपयुक्तता व अनुपयुक्तताके कारण रखोगे तो तुम्हारा आत्मा अनित्य बन जायगा, याने जब उपयोग लगाया तो प्रमाण हुआ, तो जब उपयोग वाला दूसरा आत्मा उपयोग न करे तो अब यह आत्मा दूसरा, यो तुम्हारा आत्मा अनित्य बन जायगा। तो आचार्यदेव कहते हैं कि तुम घबडाओ मत। आत्मा अनित्य बन जाने दो, सत्यता यही है कि आत्मा कथञ्चित् नित्य है कथञ्चित् अनित्य। यदि आत्मा सर्वथा नित्य हो तो उसमे अर्थ क्रिया नही बन सकती। याने जो कूटस्थ अपरिणामी हो तो उसमे क्रिया प्रसग यह कुछ नही बन सकता। देखो जैसे कोई लोग एक ब्रह्म कूटस्थ नित्य अपरिणामी मानते है तो उसके मायने क्या ? जैसे लुहारकी दूकानमे जब किसी लुहारको हसिया खुरपा वगैरा कोई चीज

बनाना है तो वह उस लोहेको आगमे गर्म करता है फिर उसे कूटकर बनाता है, तो उस समय उस लुहारको चार लोहे चाहिए एक तो निहाई चाहिए, दूसरा—हथौडा चाहिए, तीसरा-- पकडनेके लिए संडासी चाहिए और जो कुट रहा वह चाहिए । अब उन चारो लोहो मे देखो तीन लोहा तो सांपकी जीभकी तरह लपलप करके चलते रहते है—सडासी भी, हथौडा भी और जो पिट रहा वह भी, मगर वह निहाई महाराज तो ज्योके त्यो रहते है । तो कूटस्थ उसका नाम है, याने जैसे निहाई है बिना अदल-बदल वाली । ऐसे ही ब्रह्मस्वरूपमे कुछ अदल-बदल नही है । इसे कहते है कूटस्थ अपरिणामी । अगर कोई पदार्थ कूटस्थ अपरिणामी हो तो उसमे कोई काम नही बन सकता । अच्छा यह बतलाओ कि ज्ञान कौन करता ? ब्रह्म, अरे वे कहते हैं कि नही, नही । ब्रह्म ज्ञान नही करता, किन्तु प्रकृति ज्ञान करती । अच्छा चलो प्रकृति करती, सुख दु ख कौन करता ? ब्रह्म, तो वे कहते—ब्रह्म नही करता प्रकृति करती । अच्छा चलो प्रकृति हो सही और सुख दु खको अनुभवता कौन हैं ? तो उन्होने कहा कि ज्ञानके द्वारा निश्चय की गई बातको यह चेतता है, सुख दुःखको यह ब्रह्म चेतता है । चलो चेना सही, कभी सुख दुःख चेता, कभी नही चेता । तब ही तो अर्थक्रिया कहलायगी । तो सर्वथा नित्य तो न रहा । सर्वथा नित्य माननेमे अर्थ क्रिया सम्भव नही है, इस कारण आत्मा सर्वथा नित्य नही, अतएव दोष नही दे सकते हैं ज्ञानकी प्रमाणतामे ये सिद्धान्तवादी जो इन्द्रिय और सन्निकर्ष और इन्द्रियशक्तिको प्रमाण मानते है ।

क्षणिकवादी दार्शनिक द्वारा तदाकारताको प्रमाण माननेका प्रस्तुत प्रस्ताव—अब चलो आचार्य महाराज मानो बहुत बोल बोलकर थक गए होगे, तो अब कुछ आराम करना है तो थोडा बौद्धोकी बात छेडकर आराम करेंगे, वे बौद्ध ही थोडा उनसे भिड लें । देखो बौद्धो, यह क्या कह रहे सन्निकर्षवादी, ये कह रहे है कि ये इन्द्रियाँ पदार्थके पास जाती है, इन्द्रियाँ पदार्थसे भिडती हैं तो ज्ञान होता है । तो बौद्ध कहते हैं– नही, सन्निकर्षवादियोकी बात गलत है । अब ये दोनो ही आ गए सामने । एक अलकारमे कह रहे, कोई सामने आये नही । यह सब आचार्यदेव ही प्रतिपादनका श्रम कर रहे हैं । बौद्ध कहते है कि इन्द्रियाँ पदार्थ के पास नही जाती, किन्तु पदार्थका आकार ज्ञानमे आता है इस तरह प्रमाण बनता है । अब आप जान गये होगे । यहाँ मूलमे दो बातोका प्रसग है– एक कहता है कि यह इन्द्रिय या ज्ञानेन्द्रिय अर्थके पास जाती है । वे इन्द्रिय ज्ञान ही तो है, मतलब यह ही निकला कि ज्ञान अर्थके पास जाकर बनता और बौद्ध कहते हैं कि अर्थ ज्ञानके पास आता है याने अर्थका आकार ज्ञानमे आता है तब ज्ञान होता है, बाहर खुद खिचकर नही आता, किन्तु अर्थका आकार आता है । और, जैनसिद्धात क्या कहता कि न तो ज्ञान अर्थके पास जाता है और न अर्थ या अर्थका आकार ज्ञानमे आता है, किन्तु यह ज्ञान राजा अपने ही किलेमे सुरक्षित बैठा हुआ

अपनी ही कलाके द्वारा अपने आप जो सत् है उसको जान लेता है। तो अब यह बात रखी जा रही है क्षणिकवादियोकी ओरसे कि पदार्थ जब आकार सौपता है ज्ञानको, ज्ञानमे आकार प्रतिबिम्बित होता है तो ज्ञान जानता है, देखो भाई एक आदत तो बनाओ, अगर विद्वान हो तो विद्वानसे प्रेम रखो, ये दार्शनिक, ये बौद्ध, ये वेदान्ती कुछ भी कहे मगर घृणा किसीसे या किसी बातपर न करो। प्रीति रखो। वे दार्शनिक भी प्रेमपात्र है, घृणाके पात्र नही, आखिर विद्वान ही तो है और देखो उनकी बात कुछ-कुछ समझमे भी आनी होगी कि भाई ठीक ही तो कह रहे, लगता तो है ऐसा कि मेरे ज्ञानमे आकार आ गया तब उस पदार्थको जाना और जैनी तो ज्ञेयाकार शब्द भी बोला करते है कि ज्ञानमे ज्ञेयाकार आया। तो भाई कोई थोडीसी त्रुटि होती है और उस त्रुटिका जब विसम्वाद बन जाता है तो वह एक पार्टी का (मतका) रूप रख लेता है। तुम जरा उस त्रुटिको ही देख लो मूलमे कितनी त्रुटि है? पर उसका अर्थ यह नही है कि इस ज्ञेयका जो आकार है वह यहा आ जाना। अगर आ जाय तो इसमे आकार नही रहा और यह भी अर्थ नही है कि इसका फोटो आ जाता। ज्ञेयाकारका अर्थ है अर्थविकल्प याने अर्थग्रहण, पदार्थके जाननेकी परिणति। और जाननेकी परिणतिका नाम विकल्प है।

ज्ञानमें अर्थाकारता न होकर अर्थग्रहणरूप विकल्पकी वृत्ति—देखो एक बहुत बडी सावधानी बिना जैनशासनका बोध ही नही कर सकते। देखो विकल्पके तो अनेक अर्थ हैं। विकल्प मायने रागद्वेष। रागद्वेषमय होना और विकल्प मायने रज मानना। जब कोई आता है ना किसी घर फेरेपर तो कहते हैं कि भाई तुम विकल्प न करो, मायने रज न करो। यो विकल्पके कितने ही अर्थ लगाते है, और विकल्प मायने है अर्थग्रहण याने जानकारी। अब विकल्प नाम सुनकर सब विकल्पोको एक लाठीसे हाकना तो बुद्धिमानी नही है। तुम निर्णय बनाओ कि इस विकल्पका क्या अर्थ है? बताते हैं ना कि ज्ञान तो सविकल्प होता है और दर्शन निर्विकल्प होता है और विकल्पका नाम सुनकर कोई यह अर्थ लगा दे कि देखो जैनियो ने भी तो कह दिया कि ज्ञान सविकल्प है, तो है ना रागद्वेष इसका स्वभाव। रागद्वेष इसमे से हट नही सकते क्योकि ज्ञान सविकल्प है और विकल्पके मायने है रागद्वेष। तो यह बात ठीक नही। विकल्पका अर्थ समझें सविकल्प ज्ञान है, यहाँ विकल्पका मतलब रागद्वेष नही किन्तु पदार्थकी जानकारी। देखो जानकारी एक शुद्ध तरग है। तरग तो हुई ना? और यह स्वभाव है आत्माका। आत्माका स्वभाव जगमग है। जगमग जानते हो किसे कहते है? जैसे दीपक का स्वभाव क्या? जगमग। जगमगके मायने क्या? दीपककी रोशनी बढ गई, घट गई फिर बढ गई, फिर घट गई, यह काम दीपकमे निरन्तर होता रहता है, बिजलीके बलबमे भी ऐसा ही होता। बहुत गौर करके देखो तो मालूम पडेगा जब अधिक जगमग हो तो स्पष्ट हो जाता

कि इसमे जगमग हो रहा। तो ऐसे ही समझो कि आत्मा जगमग रूप है। ज्ञान तो है जग और आनन्द है मग। वैसे भी देख लो मोटे रूपसे ज्ञान जब होता है तो कुछ अभिमुखता लेकर होता है, परकी अभिमुखता। शुद्ध ज्ञान हो तो भी अर्थ ग्रहण तो है, इतनी उठी बात तो है ज्ञान। ज्ञानका तो उठना स्वरूप है और आनन्दका भिचना स्वरूप है। कैसे ? जैसे ज्ञान अभिमुख होकर अपना स्वरूप पाता है, ऐसे ही आनन्द परके अभिमुख होकर अपना स्वरूप नही पाता, किन्तु अपने आपमे मग्न होकर निस्तरग होकर, गुप्त होकर, समरस होकर आनन्द पाता है। तो देखिये आत्मा निरन्तर जगमग रूप रहा याने ज्ञानानन्द रूप।

तदाकारताकी प्रमाणता माननेके प्रस्तावकी मीमासाका कुछ स्पष्टीकरण—अब मूल प्रकरणपर आइये—क्षणिकवादी यह कहते है कि ज्ञान यो नही बनता। ये पदार्थ अपना आकार सौपते हैं, सो जिस पदार्थने इस आत्माको, ज्ञानको आकार सौपा तो यह ज्ञान उस पदार्थको जानता है। उनका मतव्य यह है कि अर्थ मुफ्तमे ज्ञान नही खरीदता। क्षणिकवादी का कहना है कि ज्ञान अर्थका आकार लिए बिना पदार्थको जाने तो यह मुफ्त खरीदनेकी तरह है, पैसा तो दे नही और चीज ले ले ऐसा करे कोई तो मुफ्त खरीदना कहते ना, तो ऐसे ही जैनियोके ज्ञानको पदार्थने आकार तो दिया नही और पदार्थने अपना ज्ञान करा लिया तो ऐसी बौद्ध लोग जैनियोपर आपत्ति दे रहे है। तुम तो मुफ्त खरीदनेकी आदत वाले हो गए और उसे बौद्ध लोग मुफ्त खरीदनेकी बात ही नही करते। हम पदार्थका आकार पहले ज्ञानको सौपवा देते है उसके बाद ज्ञान पदार्थको जाने ऐसी व्यवस्था बनाते हैं। खैर इसका भी उत्तर दिया जायगा। ये बौद्ध भी कही-कही मुफ्त खरीददार बनते कि नही ? यह बताया जायगा, और अभी सुन लो थोडासा इनके यहा चार तरहके प्रत्यक्ष माने गए है-- (१) इन्द्रियज प्रत्यक्ष, (२) मानस प्रत्यक्ष, (३) योगिप्रत्यक्ष और (४) स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष। देखिये सबकी फैक्टरी अलग-अलग है। इन्द्रियज प्रत्यक्षका काम क्या है कि इन्द्रियसे इन पदार्थोंको जान लेवे, और समझ लेवे, और योगिप्रत्यक्षका अर्थ क्या है कि तीन लोक तीन कालके सब पदार्थोंको स्पष्ट जान लेवे और स्वसम्वेदन प्रत्यक्षका क्या अर्थ है कि ज्ञान अपने ही ज्ञानसे पूर्व ज्ञानको समझ लेवे याने निरन्तर ज्ञान होते रहते है ना तो उत्तर ज्ञान पूर्व ज्ञानको अनुभवमे ले लेवे, ज्ञान ज्ञानके स्वरूपको अनुभवमे लेवे इसे बोलते हैं स्वसम्वेदन। अब स्वसम्वेदनमे देखो-- यदि हमने इन्द्रियसे खम्भाको जाना तो यह बात बन गई कि खम्भेने आकार मेरे ज्ञान को सौप दिया तब हमने खम्भाको जाना। और स्वसम्वेदन प्रत्यक्षमे क्या बतलायें कि ज्ञानमे ज्ञानका आकार क्या सौंपा ? ज्ञानमे आकार ही नही और ज्ञानको ज्ञानने जान लिया तो ये आये ना मुफ्त खरीदने। ज्ञानका आकार तो ज्ञानमे आया नही और उस ज्ञानको जान लिया, तो ये एक सघर्षके वचन हैं। तो क्षणिकवादियोका सिद्धान्त सन्निकर्षका इस तरहका है कि

यह पदार्थ ज्ञानमे आता है आकारके माध्यमसे, और यो जब ज्ञानका और पदार्थका यहाँ भिडंत होता है तब ज्ञान बनता है, और नैयायिक वैशेषिक क्या कह रहे थे कि ज्ञान पदार्थके पास जाता, इन्द्रिय पदार्थसे चिपटती है वहाँ भिडत होती है तब ज्ञान होता है। देखो भिडंत दोनोने मान लिया, पर एकने अर्थके पास भिडंत माना और बौद्धने ज्ञानके पास भिडत माना इसे बोलते है तदाकार, और तदाकार प्रमाण है, इस सम्बंधमे युक्ति वे क्या देते ? देखो यह निर्णय कैसे हो कि इसने खम्भाको जाना, और चौकी आदिको नही जाना, अन्य पचासो चीजोको नही जाना। क्षणिकवादी कहते है कि यह निर्णय इस आधारपर बनता है कि चूंकि खम्भाने अपना आकार सौपा है ज्ञानको, इसलिए ज्ञानने खम्भाको जाना और जैनी मानते नही खम्भेमे आकारका सौंपना, तो तुम निश्चय क्या करोगे कि इसके ज्ञानने खम्भाको जानो। यह युक्ति देखें। तो तदाकार रूपमे होने वाला सन्निकर्ष प्रमाण है और पदार्थोंकी भिडतका सन्निकर्ष नही ऐसी अब ये बौद्ध अपनी बात रख रहे है। देखो बात विशेष कठिन नही है, दो बातोका निर्णय हो रहा है। एक दार्शनिक तो यह कहता है कि इन्द्रिय पदार्थसे भिडा तो प्रमाण है और बौद्ध यह कहते कि पदार्थ इन्द्रियसे भिडे मायने ज्ञानसे भिडे तो यह तदाकारता प्रमाण है, पदार्थ अपना आकार ज्ञानको सौप दे तो ज्ञान जानता है, और जैनदर्शन क्या कहता है कि यह कवायत दोनोको नही करना है। न पदार्थको ज्ञानमे आनेकी जरूरत है और न ज्ञानको पदार्थमे जानेकी जरूरत है। अर्थ चूकि सत् है इसलिए प्रमेय बन जाता है, और ज्ञान चूकि ज्ञायक है, इसलिए जानने वाला बन जाता है। हाँ विषयभूत है इतना तो है, मगर कोई किसीके पास आ-आकर भिडकर नही जानता। ज्ञान स्वतः प्रमाण है।

तदाकारताके प्रामाण्यमे विसम्वाद होनेसे प्रमाणत्वकी असिद्धि—यहा क्षणिकवादी दार्शनिक कह रहे है कि ज्ञानमे जब पदार्थका आकार पतिबिम्बित होता है तब ही ज्ञान पदार्थको जानता है। यदि आकार आये बिना ज्ञान पदार्थको जाने तो यह भेद करना, फिर कठिन हो जायगा कि यह ज्ञान खम्भेको जानता है व यह ज्ञान अमुकको जानता है। दुनियामे बहुत से पदार्थ हैं अटपट किसी भी पदार्थको जाननेको क्यो नही कह बैठते ? उसका समाधान ही यह है कि जिस पदार्थका आकार ज्ञानमे आया, ज्ञान उसको जानता है। देखो इन सब प्रकरणोमे यह समझते रहना कि यह बात किसकी ओरसे कह रहे है। यद्यपि बीच-बीचमे आपको हम बताते तो हैं, पर थोडा आप लोगोको भी चाहिए कि इस विधिसे सुनें, इस जानकारीमे रहे कि यह बात किसकी ओरसे कही जा रही है ? क्षणिकवादी दार्शनिक कह रहे है– देखो ज्ञानका स्वामी आत्मा है, लेकिन ज्ञान पदार्थका है। जैसे आपके घरमें किसी बच्चेकी तस्वीर टगी हुई है, मान लो कोई बालक गुजर गया और उसकी तस्वीर आपके घर मे टगी है तो तस्वीरका मालिक कौन ? व्यवहारसे बताओ व्यवहारकी बात। तस्वीरके

मालिक आप है, मगर तस्वीर किसकी ? बच्चेकी । तो भले ही तस्वीरका मालिक है यह गृहस्थ, मगर तस्वीर गृहस्थकी नही । तस्वीर बच्चेकी है । तो ऐसे ही ज्ञानका मालिक है आत्मा, मगर आत्माका ज्ञान नही, किन्तु खम्भाका ज्ञान याने जिसका आकार पडा उसका ज्ञान है तो खम्भेका आकार ज्ञानमे आया । जब हमने जाना कि यह खम्भा है-- देखो कैसी युक्ति चल रही है– सुनते समय ऐसा लगता होगा कि बेचारे ठीक ही तो कह रहे हैं । उसमे दोषकी कौनसी बात है ? अच्छा तो अब दोष देखिये-- कह यह रहे हैं कि पदार्थ अपना आकार सौंपते है, तो पदार्थ जाने जाते हैं, तो क्यो जी, एक ही सांचेके १०० कलश मानो रखे हुए हो आपके घरमे तथा अन्यत्र ५०-६० घरमे और हमने यहाँ रखे हुए कलशको जाना तो कैसे जाना कि उस कलशका आकार मेरे ज्ञानमे आया, तो आकार आनेसे जाना ना ? तो यही आकार सब कलशोका है जो १००-कलश अनेक घरोमे रखे है, एक सांचेके सभी कलश हैं, ठीक यही आकार है उनका, दूसरा नही । तो आकार आनेसे कलशका ज्ञान होता तो १०० ही कलशोका ज्ञान क्यो नही हो जाता, क्योकि वही आकार है सभी कलशोका ।

शंकाकार द्वारा प्रस्तुत तदुत्पत्तिमे भी प्रमाणत्वका अभाव– देखिये-- तदाकारताको प्रमाण माननेमे दोष आता है ना ? तो इस दोषका निवारण करनेके लिए शकाकार कहता है कि तदाकारतामे प्रमाणता नही आती तो तदुत्पत्तिको प्रमाण मान लो याने आकार आये इससे प्रमाणता नही आती तो यो मान लो इस कलशसे यह ज्ञान उत्पन्न होता, इसलिए यह ज्ञान इसी कलशको जानेगा और इसी आकार वाले जो ६-६ कलश घरमे रखे है उन्हे न जानेगा । तो ज्ञान करनेमे कारण हुआ तदुत्पत्ति । अच्छा पहले एक तो कथन फेल हो गया । अब जब तदाकारसे न जीत सके याने आकार आनेसे पदार्थका ज्ञान होता है तो एक सांचेकी कई चीजें– मानो १० नया पैसा वाला सिक्का ले लो, तो हिन्दुस्तानभरमे वे जितने है वे सब एकसे ही तो हैं ना, एकसा ही उनका आकार है, अब यह आकार आया यहाँ, सो यदि आकार आनेसे ज्ञान बनता तो आकार तो सबका यही है तो सारे १० पैसोके सिक्कोका ज्ञान हमे क्यो नही होता ? आंखसे क्यो नही दिख रहे ? तो इस विषयमे वे यह कहते है कि तदाकारकी बात तो हमारी फेल हो गई अब हम तदुत्पत्तिकी बात रख रहे हैं । इस सिक्केसे ज्ञान उत्पन्न हुआ है इस कारण इस ही सिक्केको जानेंगे, और देशभरमे पडे हुए जो सिक्के है उनसे तो नही होता उसका ज्ञान पैदा, सो उन्हे नही जाना । क्षणिकवादी कह रहे है, यह तदुत्पत्ति प्रमाण है, तो इसमे अब दोष देखिये जिससे ज्ञान उत्पन्न होता, ज्ञान उसको जानता है, यह ही प्रस्ताव रखा ना । तो देखो—देखना इन आंखोंसे उत्पन्न होता कि नही । देखने का ज्ञान इन आंखोसे उत्पन्न होता कि नही और यह ज्ञान आंखोको देखता जानता नही तो तदुत्पत्ति तुम्हारी कहा सही रही ? जिस पदार्थसे ज्ञान उत्पन्न होता ज्ञान उसको जानता है,

यह प्रस्ताव यहाँ अभी चल रहा है । तो ज्ञान तो इन्द्रियसे भी होता, पुण्यसे भी होता, पापसे भी होता । अरे जहाँ विपत्ति आती हो, कोई पापका उदय आये उस प्रकारकी बुद्धि बनी, तो ज्ञानके होनेमे अनेक कारण बन गए । मगर इसको तो ज्ञान नही जानता ।

इन्द्रियोकी नमकहरामी—देखो इन्द्रियाँ तो ऐसी है ही जो न स्वको जानती न आत्मा को, ये है इन्द्रियाँ नमकहराम सिपाही । दो चीजें होती है ना—नमकहराम और नमकहलाल नमकहलाल नौकर तो वह है जो मालिकका ध्यान रखे और नमकहराम वह है जो मालिक की काट करे । तो ये इन्द्रियाँ ऐसी नमकहराम है कि ये अन्य बिरादरी कहो या शत्रु कहो या विरोधी कहो या बाह्य सग कहो, इनसे नाता जोडता है यह । ये इन्द्रियाँ सिपाही इन बाहरमें पडे हुए पदार्थोंसे नाता जोडती है । और ये आत्मासे नही जोडती है इन्द्रियाँ नाता । आत्मा का ज्ञान करनेको नही चाहती ये इन्द्रियाँ । ये बाह्य विषयोका ज्ञान करनेके लिए ही सुभट बनी हुई है । और आत्माकी भी बात क्या ? ये खुदको भी जाननेमे समर्थ नही । जैसे उदाहरण लो हमारा हाथ ठडा है कि गरम आप अपनी ही बात सोच लो आप जब अपने हाथको परखना चाहते कि है कि ठडा है या गरम तो दूसरे हाथसे छूकर जानते है । अरे जब तुम्हारा ही खुदका हाथ है तो दूसरा हाथ न लगाओ और समझ जावो कि गर्म है या ठडा । जैसे जब बुखार चढा है तब आप एक हाथसे दूसरे हाथकी नाडी पकडकर समझ जाते हैं कि बुखार कितना तेज चढ़ा है । अरे जब खुदमे ही बुखार चढा है तो जैसेके तैसे हाथ पैर फैलाये पडे रहो और बुखारका ज्ञान कर लो । मगर कहाँ ज्ञान कर पाते । ये हाथ खुद अपना स्पर्श नही जान सकते । ये इन्द्रियाँ दूसरेका स्पर्श जाननेके लिए पहलवानी करती है, मगर खुदको नही जानती । यह चटोरी जीभ दुनिया भरके फलोके रसोका ज्ञान करनेके लिए पहलवान बन रही है मगर रसना भी तो खुद पुद्गल है, खुदमे से कुछ रस नही लेती और बाहर बाहरका ही रस ले लेकर यह पहलवान बन रही है । ऐसे ही घ्राणका काम है कि बाहर बाहरका ही गध लेती मगर खुदका ज्ञान नही करती और आँखोका काम तो बिल्कुल स्पष्ट है । बाहर बाहरकी चीजें ही देखनेमे उनकी पहलवानी है, पर आँखे खुदको नही देख पाती । खुदको देखनेके लिए सामने दर्पण रखते है ना तब जान पाते है कि काजल लगा है, यहाँ कुछ फुँसी हो गई है । अच्छा यहाँ भी बतलाओ क्या दर्पणको देखकर आँखने अपनी आँखको देख लिया ? तब भी आँख आँखको नही देख पायी किन्तु इस आँखका निमित्त पाकर जो दर्पणमे प्रतिबिम्ब पडा वह तो परपदार्थ है, सामने है, अब भी उसको ही देख पाये, तो उसको देखकर अनुमानसे जाना जाता कि चूकि हमारी आँखका ही यह प्रतिबिम्ब है और यहाँ यह फुसी दिख रही है सो फुसी इस आँखमे भी है । तो ये इन्द्रियाँ सब नमकहराम है, हम आपको ये अच्छे नौकर नही मिले ।

शकाकार द्वारा प्रस्तुत तदाकारता व तदुत्पत्तिके समूहमे भी प्रमाणत्वकी असिद्धि— यहाँ प्रसंगमे यह बात चल रही है कि इन्द्रियसे ही तो ज्ञान उत्पन्न होता और वह ज्ञान इन्द्रिय को जान नही पाता। तो तुम्हारी यह दलील कि जिससे ज्ञान उत्पन्न होता ज्ञान उसको जानता, दूषित हो गई कि नही। कुछ सकोच तो जरूर आ जायगा। तो अब विवश होकर भी यदि कहो कि सुनो, सुनो-- दोनो ही तो प्रमाण है, तदाकार भी हो और तदुत्पत्ति भी हो। इन्द्रियसे ज्ञान तो उत्पन्न होता, मगर इस ज्ञानमे इन्द्रियका प्रतिबिम्ब तो नही पडा, इसलिए इन्द्रियको नही जान पाया और इन सामनेके पदार्थोंसे ज्ञान उत्पन्न भी होता और इन पदार्थोंका आकार भी आया इससे इस ज्ञानने इन पदार्थोंको जान लिया। अब यह बात रखें क्षणिकवादी तो इसमे भी दोष है सो सुनो। यहाँ शकाकार यह बात रख रहा है कि ज्ञान उस पदार्थको जानता है जिस पदार्थसे ज्ञान उत्पन्न होता और जिस पदार्थका आकार ज्ञानमे बनता, अन्यको नही जानता। तो देखो हमको किसी पदार्थका ज्ञान हुआ तो जिस समय पदार्थका ज्ञान होता है उस समय पदार्थका निश्चय नही होता। ऐसा यहाँ बौद्धदर्शनमे है। इसे तो बोलते है निर्विकल्प प्रत्यक्ष, और उसके बाद फिर जो ज्ञान होता है वह पहले ज्ञानके विषयका निर्णय करता है कि इसने यह जाना। तो अब देखो हमारे ज्ञानमे पहला ज्ञान जब रहा है तो पहले ज्ञानसे दूसरा ज्ञान उत्पन्न हुआ और पहले ज्ञानमे जो कुछ आया था वह सब आकार भी आ गया और फिर भी पूर्व ज्ञानका ज्ञान नही हो रहा। सो देखो तदुत्पत्ति और तदाकार दोनो होकर भी ज्ञान फेल हो गया।

शंकाकार द्वारा प्रस्तुत तदाकारता, तदुत्पत्ति व तदध्यवसायमे प्रमाणत्वकी असिद्धि— यदि कहो कि तदध्यवसाय और चाहिये। तीन हो जायें तो प्रमाण है। तो सुनो जैसे पहले ज्ञानसे जिसे कामला रोग है उसने चीजको पीली देख लिया। चाँदीका गिलास उसे पीला दिख गया और उस ज्ञानके बाद जो दूसरा ज्ञान हुआ। सो प्रथम ज्ञानसे ही तो पैदा हुआ दूसरा ज्ञान। उस ज्ञानमे पहला ज्ञान आ गया न। और पहले ज्ञानमे जो फोटो आयी थी वह भी आ गई। एक दर्पणमे जितनी फोटो आती है दूसरा दर्पणके सामने कर दे तो उसकी फोटो आ जायगी ना दूसरे दर्पणमे। हालाकि दूसरे दर्पणके सामने नही है वह पदार्थ जिसकी फोटो आ रही, मगर उन पदार्थोंकी फोटो है इस दर्पणमे और यह दर्पण आ गया इस दर्पण मे तो वे सब फोटो आ गए। तो जब उत्तर ज्ञानमे पूर्व ज्ञान आ गया तो उसमे जो मिथ्या ज्ञान बसा था वह भी आ गया, फिर उत्तर ज्ञान क्यो नही उनका ज्ञान करता ? मतलब यह है कि सीधी बात मान लो कि ज्ञान खुद प्रमाण है। ज्ञानमे यह तारीफ है, कला है कि वह अपने आपको अपनी योग्यतानुसार, क्षयोपशमके अनुसार, लब्धिके अनुसार उपयोग जोड-जोडकर जानता रहता है। न तो पदार्थका आकार आनेसे जानता, न पदार्थसे उत्पन्न होनेसे

जानता और न पदार्थके अध्यवसायसे जानता, क्योकि बौद्धोका अध्यवसाय तो अनन्तर समय मे होता है तब यह निश्चित हो गया कि ज्ञान ही प्रमाण है। जो ९वें सूत्रमे कहा जा रहा था कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान प्रमाण है उसीका ही यह समर्थन है कि ज्ञान ही प्रमाण है, अज्ञान प्रमाण नही है।

सन्निकर्षकी तरह सारूप्यमे भी अर्थाधिगतिशून्यता—देखो सन्निकर्षवादी कहते है कि जो कहा था कि इन्द्रिय और पदार्थका भिडाव हो तो ज्ञान होता है तो ऐसा भिड़ाव बौद्धों ने भी मान लिया तो बौद्धो तुम भी बोल उठो कि सन्निकर्ष प्रमाण है, बौद्ध कहते है कि हम तो न बोलेंगे। हम तो सारूप्यको प्रमाण कहेगे, सन्निकर्ष प्रमाण नही, क्योकि इन्द्रिय और पदार्थका सन्निकर्ष हो जानेपर भी ज्ञान नही होता। ऐसा व्यभिचार देखा जाता है तो सन्निकर्ष प्रमाण नही है। तो उसका प्रत्युत्तर यह है कि हे बौद्धजनो तुम्हारा भी तदाकार तदुत्पत्ति प्रमाण नही, तदध्यवसाय भी प्रमाण नही, क्योकि ये तीनो होकर भी ज्ञान नही होता देखो जैसे ज्ञानसे जाना स्वलक्षणको। स्वलक्षण यह प्रमाणका विषय है, याने क्षणिकवादमें यह बताया गया है कि यह खम्भा आदि कोई पदार्थ नही है, यह झूठ है, जैसे कि स्वप्नमे किसीको चीज दिखती है इसी तरह अज्ञानमे यह चीज दिख रही है। यह सत्य नही है, खम्भा है, चौकी है, और और कुछ है तो यह सत्य नही है। तो सत्य क्या है ? सत्य तो जिससे मिलकर बनता है खम्भा, वह है। हाँ हाँ तो परमाणु तो सत्य हो गया। तो बौद्ध कहते कि परमाणु भी सत्य नही है, किन्तु जिससे मिलकर परमाणु बना है वह सत्य है— मायने रूप, रस, गध, स्पर्श ये है सत्य। परमाणु तो झूठ है। होता है ना ऐसा कि भावुकता मे आकर छलांग मारी जाती। परमाणुको भी असत्य कह बैठे। और क्या है सत्य ? तो शङ्काकारका मतव्य है कि केवल रूप है सत्य, केवल रस, केवल गध, केवल स्पर्श है सत्य। ज्ञान होता है तो रूपका होता है, रसका होता है। देखो बेचारोका अधिक अपराध मत समझना। आपको भी ऐसा लग रहा होगा। परमाणु है कहाँ ? सब कल्पनाकी बात है। रूप ही रूप है और तो है ही नही। आंखसे यह हो तो दिख रहा है और जब जीभसे चखते तब कहते कि बस रस ही रस है दुनियामे और कुछ नही, और जब गध लेते तो कहते कि बस गध ही गंध है दुनियामे और जब स्पर्श करते तो कहते कि बस स्पर्श ही स्पर्श है दुनियामे अब रूप, रस, गध, स्पर्श इकट्ठे हो जायें तो परमाणु बन गया। तो उनका पदार्थ है केवल रूप अणु, रस अणु, गध अणु, स्पर्श अणु। जैसे ज्ञान होगा तो नीलका ज्ञान, पीतका ज्ञान उसके साथ यह मत जोडें कि नीले खम्भेका ज्ञान। खम्भा तो है ही नही, वहाँ तो नील है, पीत है, रस है आदि। यो बोलते है, वे है स्वलक्षण। सो देखो स्वलक्षण जाना तो उसमे तादात्म्य है क्षणिकत्वका, तो स्वलक्षण ज्ञान कर क्षणिकत्वका अध्यवसाय क्यो नही हो जाता

तो सारूप्य भी व्यभिचारी है ।

महर्षियोंके प्रखर अवबोधका स्मरण-- देखो एक होती है विद्वत्ता और एक होता है ज्ञान, तो विद्वत्ता तो अन्य दार्शनिकोमे बहुत भरी हुई है और जैनदर्शनमे यहाँ तो सीधी-सीधी बात कही । आप सोचेंगे-- इसमे काहेकी विद्वत्ता । विद्वत्ता तो उसे कहते हैं कि झूठ हो और सच साबित कर दे । ये जैनाचार्य बेचारे भोले-भाले जैसी बात है, जैसा स्वरूप है वैसा ही कह देते, इसमे काहेकी विद्वत्ता ? हाँ ज्ञान जरूर कह लो । जैनाचार्योंका ज्ञान जरूर है सही, पर विद्वत्ता तो इन अन्य दार्शनिकोमे है, जिन्हे आप देख रहे हो कि कैसी युक्तियोसे क्या मतव्य सिद्ध किए जा रहे है । तो शायद आप यह सोच बैठे होगे कि फिर जैनाचार्योंमे क्या विद्वत्ता नही है ? अच्छा तो एक बात देखो-- ऐसी विद्वत्ताका बटाभार जो करे उसमे विद्वत्ता मानी जायगी कि नही ? भैया, दार्शनिकोका विषय बडा गम्भीर है । सो यदि सन्निकर्षको प्रमाण नही मानते तो बौद्धोके माने गए तदुत्पत्ति तदाकार तदध्यवसाय ये भी प्रमाण नही हो सकते ।

तदध्यवसायकी अप्रमाणताको कारणभूत व्यभिचारका प्रदर्शन-- देखो जब ज्ञानसे जाना कि यह नील है, अभी देखो इस समय खम्भा वगैराका नाम न लें, क्योकि बौद्ध मानते नही खम्भाको, वे तो नीला, पीला, खट्टा, मीठा आदिक इन्हीको ही पदार्थ मानते हैं, जिसे वे बोलते हैं-- रूप, रस, गध, स्पर्श अणु । तो इन अणुओसे ज्ञान होता है तो पूरा जाननेमे आ गया ना ? अब उसमे क्षणिकत्व भी है । बौद्ध मानते हैं कि सर्वं क्षणिक सत्त्वात्, सब चीजें क्षणिक हैं सत्त्व होनेसे । देखो जो लोग यह कहते हैं ना कि पर्याय स्वतन्त्र है, पर्याय अहेतुक है । उसकी उत्पत्ति पूर्व पर्यायसे नही । पूर्व पर्याय तो नष्ट हो गई, वह उत्तर पर्यायको कैसे पैदा करे ? यह सब दर्शन बौद्धोका है और यह बौद्धोका दर्शन ऋजुसूत्रनयसे निकला है । जो जैनशासनमे बताया है ऋजुसूत्रनय, उसका विषय यह है कि पर्याय अहेतुक है, किसी हेतु से उत्पन्न नही होता । अपने समयमे अपने आप हो जाता है, यह ऋजुसूत्रनयका विषय है सो यो क्षणिकवादमे स्वलक्षणमे क्षणिकत्व भी आ गया, उसका बोध करनेको अनुमान बनाना पडता है, तदध्यवसाय नही हो पाता, अतः सारूप्य अप्रमाण है ।

ऋजुसूत्रनयके विषयका प्रकृत उदाहरण—देखो क्षणिकत्व असत्य नही है, ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे सत्य है । मगर कोई उसको ही पकड कर रह जाय कि बस ऐसा ही है, तो असत्य बन गया । क्योकि यह एकान्तवाद बन गया । बौद्धसिद्धान्तमे पर्यायका कोई हेतु न होगा, क्योकि वही एक पूर्णस्वतन्त्र सत् है बौद्धसिद्धान्तमे वही पूरा द्रव्य है । जब पूरा द्रव्य है और क्षणिक है और उसको सतान मानते नही तो अहेतुक विदित होगा ही । पूरा दर्शन कोई समझे तब छोटी बात समझमे आयगी । जैसे कि बजाज लोग यह तो नही सोचते कि

जो कपडाका कोई एक ही प्रकारका स्टाक रख लिया जाय, आजकल जो कपडे चलते है उनमें से एक रख लो, सो तो गम नही खाते। वहाँ तो कई डिजाइनके कपडे रखेंगे उस स्टाकको देखकर ही तो एक पसद आता है तो जैसे वह एक विशाल बोध हो तो थोडे बोधकी स्पष्टता है। जो बडे-बडे लोग होते हैं और बच्चोको पढानेके लिए मास्टर रखते हैं तो वे यह नही सोचते कि बच्चेको अ आ इ ई ही तो सिखाना है सो किसी अपने पडोसके अ आ इ ई जानने वाले साधारण पढे आदमीको रख दें, किन्तु वे तो विद्वान ही रखेंगे। उस विद्वानकी कला और तरहकी है। तो पर्याय अहेतुक है, स्वतत्र है, उसका पूर्व पर्यायसे सम्बध नही, क्योकि है ही नही उस समयमे। यह बताया ऋजुसूत्रनयने। मगर ऋजुनयसे ही जाना अन्य प्रतिपक्ष नयका करे विरोध तो द्रव्यार्थिकनय बन गया असत्य। जब किसीको समझ नही होती तो उसे कुछ ख्याल नही रहता कि हम क्या कर रहे हैं? पर्याय अहेतुक है, ऐसा एकात करनेको किसने असत्य बना दिया? द्रव्यार्थिकनयके विरोधने। सो वह पुरुष कभी द्रव्यार्थिक नयपर जोर देता, और कही वही पुरुष द्रव्यार्थिकनयको असत्य सिद्ध करके पर्यायार्थिक नय को पसद करे। तो जैसे कोई उन्मत्त पुरुष होता तो वह कभी माँको स्त्री भी कहता कभी माँ को माँ भी कहता तो उसका माँ कहना भी सत्य नही। ऋजुसूत्रनयका विषय हमने एक परिच्छेदमे लिखा है अध्यात्मसहस्रीमे। इसका भी ऐसा अभेद है कि जैसा अभेद शुद्धनय या परमशुद्धनिश्चयनयका है। देखो भेदको बताने बाले दो नय है-- एक तो परमशुद्धनिश्चयनय, शुद्धनय, सग्रहनय और एक है ऋजुसूत्रनय। अखण्डता दो तरहसे होती है-- एक तो बहुत बडा हो तो अखण्ड और एक ऐसा खण्ड करें, ऐसे टुकड़े करे कि जिसका दूसरा टुकडा न हो सके तब वह भी तो अखण्ड कहलाया। अखण्ड दो तरहसे हुआ करता है। एक तो विशाल अखण्ड और एक इतना छोटा अखण्ड खण्ड कि जिसका दूसरा खण्ड न हो सके तो उसे भी अखण्ड कहेगे कि नही? तो ऋजुसूत्रनय तो ऐसे अखण्डको कहते है कि जो इतना सूक्ष्म खंड हो कि जिसका दूसरा टुकडा न हो सके। ऐसा खण्ड क्या है? एक समयकी पर्याय? अब उसमे तुम और क्या भेद डालोगे? आगे जो भेद चलेंगे सो पदार्थकी वजहसे न चलेंगे, शब्द-नयोकी वजहसे चलेंगे तब ही ऋजुसूत्रनयके बाद और जो सूक्ष्म खण्ड करने वाले नय है वे शब्दके आधारपर हैं। शब्दनय, समभिरूढनय और एवंभूतनय। तो ऋजुसूत्रनय या एवभूत-नयकी ही बात कोई सत्य मानकर रह जाय तो देखो किसीके हो रुईकी दूकान और वह इस दर्शनके नामपर सत्यका ढकोसला लेकर बैठ गया कि हम तो सच ही लेकर बैठेंगे और मानो वह है बौद्ध। अब रुईमे लग गई आग तो अब वह बेचारा बैठा है। अगर बुलाये किसी दूसरे को तो क्या कहकर बुलाये कि दौडो बुझावो, रुई जल रही है। वह तो यह सोचकर बैठा है कि हमे तो सच बोलना है। कैसे कहे कि रुई जल रही है? क्योकि जो रुई है वह जल नही

रही और जो जल रही है वह अब रुई नही रही, तो कैसे कह दें ? तो उसकी तो दूकान ही साफ हो जायगी । यह है ऋजुसूत्रनयका एकान्त ।

प्रतिपक्षनयका विरोध होनेपर विवक्षितनयकी भी असत्यता—भाई भोजन कई प्रकारका है । मिठाई खानेका भी स्वाद ले लो, मना नही है, पर थोडा नमकीनका भी तो स्वाद ले लो । वहाँ तो ऐसा करते है और यहाँ वस्तुस्वरूपके प्रतिपादनमे ऐसा नही चाहते हैं । अभी ऋजुसूत्रनयकी मुख्यतासे बोलो तो कह दो कि पर्याय अहेतुक है । पर्याय अपने आप होती है । कोई दोप नही है । जैनशासन कहता है, मिथ्या कोई बात नही है, मगर उसीको हठ न पकडो, थोडा द्रव्यार्थिकनयसे भी कह दो कि पर्यायका उपादान कारण पूर्व पर्यायसे सयुक्त द्रव्य है । और यह न मानेंगे तो वह भी बिल्कुल सिद्ध न होगा । जैनशासन सापेक्ष है, स्याद्वादगर्भित है, अन्यथा याने स्याद्वादको छोड दें और अब कुछ भी वर्णन करे तो वहाँ विदित हो जायगा कि यह बौद्ध दर्शनका हिस्सा है, यह ब्रह्मवादका हिस्सा है, यह विशेष-वादका हिस्सा है व यह सत्कार्यवादका हिस्सा है और जिन्हे अन्य दर्शनका पता नही वे इस मिथ्यादर्शनमे लुभा जाते हैं और यह नही जान पाते कि हम स्याद्वादी नाम धराकर भी क्या बोल रहे है ? तो यह बहुत एक गहन विपय है, नयचक्र बहुत गहरा है ना, और उसमे बडी सावधानीकी जरूरत है, नही तो याने स्याद्वादका आलम्बन छोडनेपर सारा कथन सत्य होकर भी असत्य कहलाता । किसकी बात असत्य है बोलो ? पर्याय अहेतुक है, क्या यह बात झूठ है ? झूठ तो नही है, मगर द्रव्यार्थिकनयका विरोध है सो झूठ है । अच्छा स्वभाव अपरि-णामी है, ध्रुव है, निस्तरग है और शुद्ध है, यह बात सत्य है कि नही ? सत्य है, मगर पर्यायदृष्टिका विरोध करेंगे तो असत्य हो गया । सत्य होकर भी यह असत्य होता है, इस बातको स्याद्वाद समझाता कि सत्य सत्य ही रह सके, असत्य न बन जाय, इसकी कला स्या-द्वादमे मिलती है ।

तदध्यवसायमे भी प्रमाणत्वका अनियम—ज्ञान किस तरह जानता है, इसके विवे-चनमे दार्शनिकोका सघर्ष हो रहा है । जैनदर्शन तो कहता है कि ज्ञान चूंकि अपनेको जानने का स्वभाव रखता ही है सो जो सत् है उसके बारेमे स्वय यह ज्ञान करता रहता है । हाँ जव ज्ञानका आवरण पडा है तो जितने-जितने आवरणका विगमविशेप है उतना जान पाता है । तो इस समय कुछ लोगोंने यह कहा था कि इन्द्रियाँ पदार्थोंके पास जाती है भिडनेके लिए तव ज्ञान होता है तो बौद्ध जन यह कह रहे हैं कि पदार्थ ही स्वय अपना आकार ज्ञान मे सौप देता है तव ज्ञान होता है तो इस विपयमे चर्चा चलनेके बाद वे यहाँ तक आये कि केवल आकार सौप दे, इतनेमे ज्ञान नही, किन्तु जिस पदार्थसे ज्ञान उत्पन्न होता उस पदार्थ को जानता, और इतना भी नही, किन्तु जिसका वह बादमे निश्चय करता है उसका ज्ञान

होता है। तो तदाकारता, तदुत्पत्ति और तदध्यवसाय-- ये तीन बातें हो तो ज्ञान जानना है और प्रमाण होता है। इसमे कुछ आपत्तियाँ बतायी गई थी। अब एक अन्तिम आपत्ति स्पष्ट सुनो—इनका यह कहना है कि जिसका अध्यवसाय हो, विकल्प हो, उसके बारेमे उसका ज्ञान होता है, तो सुनो एक है स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष। चार प्रकारके प्रत्यक्ष है—इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसिकप्रत्यक्ष, योगिप्रत्यक्ष और स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष। स्वसम्वेदन मायने क्या है कि यह ज्ञान अपने आपका प्रत्यक्ष कर रहा है। ज्ञान स्वयका अनुभव करता है। तो यहाँ ज्ञान जब ज्ञान का अनुभव करता है तो जिस ज्ञानने जाना और जिस ज्ञानस्वरूपको जाना उस ज्ञानस्वरूपने अपना आकार तो दिया नही, क्योकि ज्ञान ज्ञानको आकार क्या दे ? ज्ञानमे आकार रखा ही नही है। बाह्य पदार्थ ही नही है। तो आकार दिए बिना जान लिया गया पहला ज्ञान स्वसम्वेदनमे, तो वहाँ तो तदध्यवसायका नियम न रहा, इसीलिए बात सीधी मानो कि ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर अपनी योग्यता माफिक जहाँ उपयोग लगे उस पदार्थका ज्ञान होता है। और भी देखो—ज्ञानने अपने आपको आकार लिए बिना जान लिया तो जब अपने आपको बिना आकार लिए जान लिया, तो इन सारे पदार्थोंको बिना आकार लिए ज्ञान जान जाय, इसमे कोई आपत्ति नही है।

ज्ञान द्वारा स्वनिर्णय बिना अर्थनिर्णयकी असंभवता— ज्ञान जानता है, स्वयं जानता है, अपने आपके द्वारा जानता है, उस जाननेमे विषय सत् पदार्थ होते हैं। जो है सो जाना जाता है और वह प्रमाण माना जाता है। देखो जब जानते हैं तो वहाँ दो का जानना चलता है, स्वका और जिस पदार्थको जाना उसका। दो के जाने बिना ज्ञान कहलाता ही नही है। जैसे कहते ना कि पहले घरमे सगठन हो तो फिर बाहरमे सगठन बनानेकी बात सोचें। अब अपने घरमे तो चल रही हो आपसमे बहुत लडाई और समाजमे करें सगठनका उपदेश तो बताओ उसका कुछ असर भी होता क्या ? घरमे तो फूट हो और समाजमे करे नेतृत्वका दावा तो उसका असर नही हो सकता। हर बातमे आप यही बात समझते जाइये। हम खुद तो कषायवान बने है और दें शान्तिका उपदेश तो क्या वह ठीक बैठेगा ? हम खुद तो अशुद्ध है और समझें पर्यायके ढगसे कि हम तो शुद्ध है तो कोई तुक मिलेगी क्या ? अरे यहाँ शुद्धता का अर्थ यह है कि हमारा स्वभाव शुद्ध है, स्वभाव विकृत नही होता। जैसे पानी गर्म होनेपर भी पानीका स्वभाव गर्म नही है, ऐसे ही आत्मा कषायवान होकर भी आत्माका स्वभाव कषाय वाला नही है, हाँ, स्वभावकी शुद्धता है और इसी शुद्ध स्वभावकी दृष्टिके प्रतापमे कषायें दूर होती है। तो ज्ञानमे भी यह ही प्रक्रिया है कि ज्ञान स्वका निर्णय रखता है। तब ज्ञानमे जो जाना गया उसका भी निर्णय पड़ा हुआ है। तो दो बातें आयी ना-- स्वसम्वेदन और अर्थसम्वेदन। स्वका भी ज्ञान और अर्थका भी ज्ञान।

ज्ञानवृत्तिके विषयमे दार्शनिकोके सप्रतिपक्ष विचार—अब देखो कितने ही दार्शनिक ऐसे है कि कहते है कि पदार्थका तो ज्ञान होता है, मगर स्वका ज्ञान नही होता। तो कितने ही दार्शनिक ऐसे है कि जो यह कहते हैं कि स्वका तो ज्ञान होता है, पदार्थका ज्ञान नही होता, तो देखो इसी बातको जैनशासनमे यो कहा कि व्यवहारनयसे परका ज्ञान और निश्चयनयसे स्वका ज्ञान। व्यवहारनय असत्य नही होता, किन्तु उपचार वाला व्यवहार हो तो असत्य होता है। बाह्य पदार्थके बारेमे हमको जानकारी हुई, यह बात असत्य नही। यह ही तो व्यवहार कहलाता है। मगर यह ज्ञान उस बाह्य पदार्थका है, ऐसा कहना असत्य है, क्योकि उपचार हो गया। ज्ञान बाह्यपदार्थमे जाकर जानता हो जाननरूप परिणमाता हो, यह असत्य हो गया, क्योकि इसमे एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यका कर्ता कह दिया। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता है यह उपचार कथन है और यह मिथ्या है, मगर अर्थको विपयभूत मात्र निमित्त पाकर इसमे यह परिणाम बन गया यह मिथ्या नही। यह व्यवहारनय है। होता ही है ऐसा। तो दो बाते आती है ज्ञानमे— (१) स्वका वेदन और पदार्थका वेदन। तो यहाँ शकाकार यह बतला रहे हैं कि पदार्थका वेदन तो आकार आनेसे प्रमाणभूत है, और स्वका वेदन? तो इसके बारेमे शंकाकार कहता है कि स्वके ज्ञानका स्वरूपमे प्रमाणत्व ही नही है। प्रमाणता तो बाहरी पदार्थकी है और यही दुनियाका निर्णय करती है। फिर दुनियाको चूंकि पदार्थोंमे निर्णय करना है, इसलिए पदार्थोकी ओरसे बात कही। परन्तु यह बात अनुभवबाधित है।

कषायके वेगकी विडम्बना-- देखो किनने ही हठी लोग ऐसे होते है कि दिल तो जान रहा है कि सच्ची बात यह है और चूंकि कह आयी बात, इसलिए मिथ्यापर हठ है। ऐसे आपको अनेक उदाहरण मिलेंगे। घरमे मिलेंगे, समाजमे मिलेंगे और दार्शनिकोमे मिलेंगे। चित्त तो जान रहा है कि सच तो यह है, पर क्या करें? हम इस कुलमे पैदा हुए तो इसकी बात हमे समर्थित करना है अथवा हम इस पक्षमे, इस पार्टीमे दाखिल हुए तो इसकी बात समर्थित करना है। घरमे मान लो स्त्री पुरुषमे लडाई हो गई। अब वहाँ यद्यपि जान रहे हैं कि इसमे हमारा कसूर है, मगर कुछ शान तो रखना है, पोजीशन रखनी है ना घरमे, तो अब कभी ठडे न बोलेंगे, दूसरेका अपराध बतायेंगे। इसने ऐसा किया। तो ये सब कषायोके रग हैं, नही तो यदि सब लोग ऐसी ईमानदारी बर्ते कि जो भीतरमे समझ रखा हो वैसा ही हम बर्ते याने जो भीतरमे समझ रखा हो वैसा ही हम बोलेंगे तो एक भी झगडा नही है और विपत्ति तो यह है कि समझ तो रहे हैं सही, पर बोलनेमे चूकि व्यवहार है ना और यहाँ समझ रखा है ससार। तो वहाँ मिथ्या बोल आया तो मिथ्या बातकी हठ करेंगे।

दुर्लभ मानवजीवनमे आत्मसावधानीका मूल्याङ्कन-- प्राय: दो हजार सागरमे त्रस

पर्याय रहती है, इससे अधिक नही रहती त्रस पर्याय और उस त्रस पर्यायमे बहुत कम भव मनुष्यके मिलते है। आज दुर्लभतासे यह मनुष्यभव मिला और इस मनुष्यभवमे ही कुछ पुराने भवोकी गल्ती दुहराते रहे, जो पूर्वभवमे गल्ती करते आये। क्रोध करना, घमड करना, मायाचार रखना, लोभ रखना, ममता रखना, अज्ञान रखना और यह ही बात इस भवमे कर ली तो यह दुनिया क्या है ? १९७॥ लाख कुल कोटि देह वाले अनन्त जीव, इतने प्रकार के जीव पाये जाते है, इनमे जन्ममरण होगा, अगर इस मनुष्यभवमे अपना सुधार न किया। यहां तो मर रहे थोडेसे पैसोपर, और मान लो यहाँसे मरकर बन गए कीडा-मकौडा या कुत्ता, बिल्ली, सूकर आदि तो फिर कहाँ यह शान रह पायगी ? अरे भगवान जिनेन्द्रदेवकी भक्ति हो तो जिनेन्द्र देवका जो सत्य मार्ग है उसपर दृष्टि दे, अन्यथा यदि जीवनको बरबाद कर दिया तो सहारा कोई किसीका नही है, दुःख ही भोगेगा। जब यह जीव नरकमे जन्म लेता है और उसे कुछ ज्ञान होना है, ज्ञान तो अवधिज्ञान सभी नारकियोके है, जो मिथ्यादृष्टि है उसके कुअवधिज्ञान और जो सम्यग्दृष्टि है उसके अवधिज्ञान। तो वहाँ ज्ञानी नारकी सोचता है कि हाय जिनके लिए हमने इतना अन्याय किया वे यहाँ कुछ भी हमारा साथ नही दे रहे। हमको अकेले ही सब दुःख भोगने पड रहे है। अगर स्याद्वादसे सम्मत रखा तत्त्व ज्ञान और मदकषायका रखा व्यवहार तो जीवन सफल ही समझिये।

ज्ञानकी चर्चाके प्रसगमे शंकाकार द्वारा संवेदनकी स्वरूपमें अप्रमाणत्वका प्रस्ताव—यहाँ चर्चा की जा रही है ज्ञानकी। हम आप सब ज्ञानमय है। तो ज्ञानकी ही यहाँ चर्चा चल रही है। ज्ञान स्वको जानना और अर्थको जानता, और यह ज्ञान स्वके जाननेमे तो प्रमाण ही रहता है, प्रत्यक्ष ही रहता है, स्पष्ट है। चाहे पदार्थकी जानकारी स्पष्ट न हो, मगर ज्ञान को ज्ञानके जाननेकी जानकारी तो स्पष्ट ही रहती, किन्तु यहां शकाकार कहता है कि स्व-सम्वेदन स्वरूपमे प्रमाण नही है, वह तो उपचारसे प्रमाण है, व्यवहारसे प्रमाण है, और देखो— शकाकार ही कह रहा है कि शास्त्र कोई प्रमाणकी चीज थोडे ही है। शास्त्रोका तो इतना प्रयोजन है कि मोह हट जाय। इससे आगे और कुछ मतलब नही। (समझना शंका-कारकी बात है) और यो कभी-कभी कोई उपन्यास पढो तो उसमे भी ऐसी कोई किरण जगती है कि मोह दूर हो जाता है, कुछ देरको तो दूर हो ही जाता है। जब उपन्यासमे चर्चायें आती है कि वह तो उससे इतना प्रेम करता था, पर उसने उसको प्राणघातक धोखा दिया। तो जब पढ रहे यह बात तो उस समय दिल कहता कि कुछ सार नहीं सब धोखेबाज है। तो लो उस उपन्यास केअध्ययनके द्वारा भी मोह हट गया कुछ देरके लिए तो ऐसे ही शास्त्रोको भी उपन्यास जैसा समझ लो, क्योकि उनका काम मोह हटाना है। ऐसे ही इस स्वके जाननेमे कोई प्रमाणता नही है। देखो कैसे-कैसे मतव्य उठा करते है तत्त्वके निर्णयमे।

स्वसंवेदनमें स्वरूपप्रमाणत्व व आगमका प्रमाणत्व—अब वहाँ शास्त्रकी प्रमाणता अगर देखें तो चूंकि ये सब आगम अरहंत देवके मूल दिव्यध्वनिकी परम्परासे चले आये है, इसलिए ये तो पक्के ही प्रमाण है, पर हम आपकी बुद्धि यह सर्वथा प्रमाण नही है। अभी कुछ दिन बाद एक विषय बहुत उत्तम निकलेगा कि जितने भी ज्ञान हम आपको होते हैं, इनमे से कोई भी ज्ञान ऐसा नही जो पूरा प्रमाण हो या पूरा अप्रमाण हो। यह विषय चलेगा बडी स्पष्टतासे तब आँखें खुलेंगी कि हम न कुछ पाये हुए ज्ञानपर गर्व करते है, और उसमे दम क्या ? यहा प्रकरण यह है कि क्षणिकवादी दार्शनिक यह कह रहे है कि स्वसम्वेदनमे अपने आपकी समझके लिए प्रमाणताकी जरूरत नही होती। वह तो उपचारसे प्रमाण है। तो पहली बात तो यह ही देखें कि यदि यह उपचारसे है तो कोई मुख्य नही हो सकता है। और सभीके सभी यदि उपचारसे हो जायं तो मुख्यका अभाव हो गया, फिर तो कोई व्यवस्था न बनी।

प्रमाणके अपलापकी अशक्यता—शकाकार दार्शनिक यह बतला रहे हैं कि देखो प्रमाण कोई एक चीज नही है। कही अक्षरोको प्रमाण मानते, कही गवाहको प्रमाण मान बैठते, तो कही कब्जाको प्रमाण मान बैठते। तो प्रमाणका कोई आधार ही नही है। जिसके मनमे जो आया सो मान लेता है। तो प्रमाण कोई चीज ही नही। किसका सूत्र लगाये फिर रहे—'तत्प्रमाणे' जब कोई प्रमाण, मुख्य तत्त्व ही नही, तो चर्चा किसकी ? चीज रहे तो चर्चा करो, ऐसी एक आपत्ति दार्शनिक दे रहे। मगर उत्तर स्पष्ट है कि अपने-अपने अंदरमे किसको ज्ञान नही है और किसको ज्ञानका बोध नही है ? सब ज्ञानी है, सबको सही बोध होता है, सब समझते हैं, पर कषाय साथमे ऐसी लगी है कि जैसी समझ बनी है वैसी कहनेमे डरते है। देखो सब जगह बात है ऐसी। घरमे देखो जो बहुत लडता है, समझते हैं सब सास-बहू की लडाई, देवरानी-जेठानीकी लडाई, क्या समझते नही है सब बातें ? किसका अपराध है, यह समझते है, पर कषायें ऐसी लगी है कि सही बातको आलेमे रख देते हैं। ये कषायें इस जीवको बरबाद करने वाली है। यदि अपने आपका उद्धार चाहिए तो कषाय विषको दूर कर दो तो यह ज्ञान आपको सन्मार्गकी ओर ले जायगा। अब यह कषायसहित होनेसे कृत्रिम कथन पुष्ट बन गया। जैसे कोई दुष्ट घोडेपर सवार हो तो वह तो खोटी जगहमे ले जायगा, पर यदि उसकी लगाम लगा दी जाय तो उसको लगामके उपायसे सन्मार्गमे लाया जा सकता है इसी प्रकार ज्ञान तो हमारे पास है, पर इन कषायोका विष हटा दें तो इस ज्ञानको सन्मार्गमे लाया जा सकता है।

सवेदनके पूर्वमे स्व और अर्थ दोनोको उड़ाकर सवेदनाद्वैतका मानगेका प्रयास—यहा यह चर्चा चल रही है कि ज्ञान जो जानता है सो वहा दो बातें समझमे आती हैं—एक

तो ज्ञान खुद अपनेको जान रहा, दूसरी बात पदार्थको जान रहा है, ये दो बातें सबके अन्दर होती है ना ? सबको अनुभव है। तो यहाँ दो बातें हुईं– स्वसम्वेदन और अर्थसम्वेदन। सवेदनके मायने ज्ञान। इस प्रकरणमे सम्वेदन शब्द आये तो उसका अर्थ ज्ञान समझना। तो ज्ञानके सम्बन्धमे दो बाते होती है ना ? स्वसम्वेदन और अर्थसम्वेदन अर्थात् ज्ञान खुदको भी जान रहा है और पदार्थको भी जान रहा है। तो अभी तक तो कुछ यह सघर्ष चल रहा था कि कोई दार्शनिक तो यह कहता है कि ज्ञान या इन्द्रियाँ अर्थके पास जाती है, तब कोई यह कह रहा था कि अर्थ या अर्थका आकार ज्ञानमे आता तब अर्थ जाना जाता। अब तीसरी बात कह रहे है कि न तो ज्ञान स्वको जानता है और न ज्ञान परको जानता है, किन्तु ज्ञान ज्ञान ही रहता है, इसे कहते है सम्वेदनाद्वैत। ब्रह्माद्वैत, ज्ञानाद्वैत ये सब इसी तरहके कुछ फर्क ले ले करके दर्शन है। ज्ञान, बस ज्ञान हो रहा, जानन है, किसका जानन है ? तो न ज्ञानका जानना है, न पदार्थका जानना है। ऐसा सम्वेदन अद्वैत मान ले तो सारे झगडे मिट जायेंगे। शकाकार कह रहा—ऐसा मौन लेनेपर न तो आकारका झगडा रहा और न इन्द्रिय पदार्थके पास जाये इसका झगडा रहा और न प्रमाण अप्रमाणका झगडा रहा। न कोई प्रमाण है, न कोई अप्रमाण है, बस एक सम्वेदन मात्र है। ज्ञान ही ज्ञान है, जानन ही जानन है। देखो लग रहा होगा ऐसा कि यह दार्शनिक क्या कह रहा है कि कुछ है ही नही और न किसीका जानना बन रहा। केवल जानन ही जानन तत्त्व है।

संवेदनाद्वैतकी ओर विशेष बढ़ जानेका संभावित प्रथम आधार—अच्छा देखो सब दार्शनिकोंको अपना मित्र समझो। किसीको बैरी विरोधी या घृणास्पद समझकर उसकी चर्चा न करो तो अपनेमे कुछ मिलेगा। अपनेको तो तत्त्व मिलनेसे मतलब है। देखो उसकी बुद्धि किस ओर गई थी या किसीने कुछ कोई तथ्यकी बात सुन रखी थी, जिसपर कि यह सम्वेदनाद्वैतका आग्रह करके रह गया। अच्छा आप अपने स्वानुभवकी स्थिति तो बतलाओ। स्वानुभवमे किसी परपदार्थका ख्याल है क्या ? नही है। तो स्वानुभवमे खुदका भी ख्याल है क्या ? नही है। देखो अगर ज्ञानमे खुद आत्माका ख्याल रहे तो वहाँ अन्तर रहता है, भेद रहता है, निर्विकल्प स्वानुभूति नही कहलाती। इस तथ्यको तो दूसरे ज्ञानी लोग बता रहे है। निर्विकल्प स्वानुभव करने वालेकी स्थितिके विषयमे वह खुद इस विकल्पमे नही है। तो ऐसा जब एक निर्विकल्प स्वानुभव होता है उस स्थितिका वर्णन हो रहा होगा। आचार्य महाराज इस स्वानुभवकी स्थितिको बडी एक निर्विकल्प पद्धतिसे कह रहे होगे। तो किन्ही सुनने वालो के चित्तमे आया कि हा बात तो यह ही है। यह ही सार है। तो इसमे इतना बढ गये कि इसके सिवाय अन्य कुछ नही है। अरे जब स्वानुभवमे है तो वहाँके लिए यह ही बात है, मगर जब विकल्पमे आ गए, घर-गृहस्थीमे है, व्यवहारमे है, यहा-वहाकी बात सुन रहे और

यहा इस सम्वेदनाद्वैतकी रटन लगावें तो यह असत्य हो जायगा।

वस्तुस्वरूपके विषयमे सत्य व असत्यके न्यायकी कुञ्जी– भैया! एक ही कुञ्जी है सबके न्यायकी। चाहे जैन दार्शनिक हो, चाहे जैनमे और कोई कुछ उत्पन्न हो गया हो, सब के न्यायकी एक ही कुञ्जी है। जो तुम कहते हो सो सत्य है उसे हम झूठ नही कहते, पर साथ जो प्रतिपक्षनय है उसका जो विषय है, उसे, यदि तुम नही मानते तो तुम्हारी बात झूठ है और प्रतिपक्षनयका विषय भी मानते हो तो उसे कहते रहो सच है। एक ही कुञ्जी है, सब पर घटा लो। जैनोपर, मत भेद करने वालोपर तो घटता ही है, पर अजैन दार्शनिको पर भी घटा लो। देखो जब मनुष्य है, विद्वान है, ज्ञानवान है, बडा ऊँचा बोध पाये है, अनुभव पाये है, तो किसीकी कुछ भी जानी हुई बात सर्वथा असत्य तो हो नही सकती। वस्तुस्वरूपके सम्बन्धकी बात, मजहबकी बात नही कह रहे। मुसलमानी मजहबमे तो कहते हैं कि खुदाके नामपर बकरा मारो, मेढा मारो आदि तो ये क्रियाये असत्य है, पर वहा भी मूल तथ्य देखो। कैसा, सो सुनो—जब किसी समय उनके पैगम्बरोने कहा कि देखो जिसको तुम सबसे प्यारा मानते हो उसकी बलि कर दो, कुर्बानी कर दो। तो जरा बताओ तो सही– तुम्हे सबमे प्यारा क्या लगता ? किसीने कहा ज्ञान। तो ठीक है, ज्ञान तो ज्ञानियोको प्यारा है, पर अज्ञानियोको कह रहे कि उन्हे सबसे प्यारा क्या लगता ? कोई कहेगा कि हमे तो सबसे प्यारा लडका लगता, कोई कुछ बतायगा, कोई कुछ, पर ये कुछ प्यारे नही होते, क्यो कि अपने प्राणोपर कभी नौबत आ जाय तो फिर उन पुत्रादिक प्रिय चीजोकी भी उपेक्षा करके अपने प्राणोकी रक्षा करेंगे। तो अज्ञानियोको सर्वाधिक प्रिय है कषाय। खूब अनुभव करके भी देख लो, इन कषायोके पीछे तो लोग अपनी आत्महत्या तक कर डालते है। तो सबसे अधिक प्यारी हुई कषाय। तो पैगम्बरने यह कहा कि तुम कषायोकी बलि कर दो और मूर्खोंने क्या समझा कि देखो हमारे पैगम्बर साहब कह रहे है कि जो सबसे प्यारा हो उसकी बलि कर दो। तो हमे तो सबसे प्यारा लडका है उसकी बलि कर दें। तो मजहबमे भी अगर कोई बहुत घुसकर एक जड पकडे तो जिसने चलाया होगा उसने मूलमे कोई न कोई सार बात कही होगी। दर्शनमे और वस्तुस्वरूपमे तो बिल्कुल स्पष्ट है।

सवेदनाद्वैतके तथ्यकी मीमासा—यहा सम्वेदनाद्वैतवादी कहते हैं-- देखो दो बातें मान रहे हो तुम—अर्थसम्वेदन और स्वसम्वेदन। तो देखो भाई, तुम अर्थसम्वेदनमे से तो अर्थ निकाल दो और स्वसम्वेदनमे से स्व निकाल दो तो क्या रह जायगा ? सवेदन। अपना केवल एक सवेदन ही तत्त्व है। न वह स्वको जानता, न पदार्थको जानता, न प्रमाण है, न अप्रमाण। सब झगडा मिट गया, आरामसे बैठो। देखो भैया! मिथ्या उपदेशकी बात बडी जल्दी सुहा जाती है, क्योकि उसमे कुछ कठिनाई नही। भोगोकी भी छुट्टी और कुछ ज्ञान

और दिमाग लगानेकी भी जरूरत नही। तो यह सिर्फ संवेदनाद्वैत भी सुहा गया होगा। ये कहते कि जिन्दगी खूब मौजसे बिताओ। किसी बाहरी पदार्थकी सत्ता भी नही। बस सम्वेदन सम्वेदन, जो न खुदको जानता न परको, लेकिन इसपर विचार करो तो यह तत्त्व सिद्ध ही नही है। इसके सम्बन्धमे थोडा पहले बताया था और अब थोडी ही बात सुनो। अच्छा बताओ सम्वेदनाद्वैतवादी, तुम जो कह रहे हो वह सत्य है कि असत्य ? अगर कहो कि सत्य है तो सिद्ध हो गया कि तुम्हारी बात प्रमाण है। प्रमाण तो मान लिया। अभी तो प्रमाणको भी इन्कार करते थे कि प्रमाण नामकी कोई चीज नही और अगर कहो कि हमारी बात झूठ है तो तुम्हारी बात अप्रमाण है। अप्रमाण बन गया अर्थात् सम्वेदनाद्वैत न रहा।

खरविषाणवत् शून्य संवेदनाद्वैतवादकी अप्रयोजकता और असिद्धि— अब यहाँ शंकाकार कहता है कि हमारा तो यह सिद्धान्त है कि वह न तो सत्य है, न असत्य है, न प्रमाण है, न अप्रमाण, न स्वको जानता, न परको जानता। सर्वविकल्पोंसे अतीत है वह सम्वेदन, देखो ऐसा सम्वेदन ऐसा अनुभव विकल्पसे अतीत तो जैनशासनमे भी कहा, प्रमाणनय निक्षेपसे अतीत है, भेदरहित है, तरग नही है। समाधानमे सोचिये—कहा तो है, मगर इसीपर डटकर नही रह सकते। बताया है कि भाई वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है, स्वभावदृष्टिसे नित्य है, पर्यायदृष्टिसे अनित्य है। जैसे कोई इस खम्भेको देख रहा है कि यह खम्भा सामनेसे आधा भाग तो दिख रहा, मगर आधा नही दिख रहा, आधेसे अधिक तो दिख जाता है ना ? अब कोई यह कहे कि यह तो इतना ही है, यह खम्भा ऐसा है तो यह बात सच है कि झूठ ? है तो सच, मगर पीछेके भागको कहा झूठ तो यहाँका देखना भी झूठ। एक हाथ है यह, तो इसमे एक तरफ तो गदेली है, देखिये और उसके दूसरी तरफ बाल है। अब कोई गदेली वाले भागको देखे और उसे तो कहे कि यह है तो, यह तो सच कहा, मगर रोम वाले भागको कहे कि नही है तो उसकी गदेली वाली भी बात झूठ रही। तो यह एक कुञ्जी है जैनशासनका निर्णय निकालनेकी। यहाँ हथेलीका दृष्टान्त देनेपर एक कथा याद आ गई कि एक सभा भरी हुई थी। उसमे बादशाह अकबर और उसका मंत्री बीरबल-- ये दोनो भी वहाँ बैठे हुए थे। वहाँ अकबर बादशाहने पूछा बताओ बीरबल हमारी गदेलीमे रोम क्यो नही है ? तो बीरबल बोला— महाराज आपने अपने हाथसे इतना अधिक दान दिया कि दान देते-देते सारे रोम घिस गए। अच्छा यह तो ठीक कहा, पर यह बताओ कि तुम्हारी गदेलीमे रोम क्यो नही है ? महाराज आपने दान दिया, हमने दान लिया तो दान लेते-लेते हमारी गदेली के रोम घिस गए। अच्छा और जो ये सभामे सभी लोग बैठे है उनकी गदेलीमे रोम क्यो नही हैं ? महाराज आपने दान दिया, हमने दान लिया और ये सब सभाके लोग यो ही हाथ

मलते रह गए इस कारण हाथ मलते-मलते इनकी गदेलीमे से रोम झड गये है । तो देखिये यहाँ स्याद्वादकी बात कह रहे है । ऐसा स्पष्ट सिद्धान्त है और अपने चित्तको, अपने ज्ञानको इतना उज्ज्वल बना लें कि कही कोई शङ्का ही न रहे, और आपके सब मित्र बन जायेंगे, आपकी निगाहमे कोई विरोध रहेगा ही नही । और देखो जो जैसा कहता है और प्रतिपक्षनय को असत्य कहकर उतनी हठमे रहता है तो हमे तो विरोध नही, पर वे खुद अपने ही पैरमे कुल्हाडी मारते है तो उनका ही तो बिगाड है, हमारा आपका बिगाड तो नही । हम आप तो स्याद्वाद विधिमे सब तत्त्वोका ज्ञान करके सबके साथ मित्रता बनाये हुए है । हमारे तो बौद्ध भी मित्र है, वैशेषिक भी मित्र है । तत्त्वके बारेमे निर्णय करने को चले तो देखो उनका अन्तः आशय उनकी बुद्धि गई तो इस ओर कि मोह मिटाना है, ससारसे छुटकारा पाना है । सबका ध्यान यह ही तो था, लेकिन अब थोडीसी मार्गकी गल्ती हो गई, सच बोलकर भी झूठे हो गए । तो समझो स्याद्वादकी कितनी बडी देन है ? जीवनको शान्त बना दे, निराकुल बना दे और स्पष्ट बना दे । सो विधि तो तत्त्वज्ञानकी यह है ।

मत्तताका बीज मतान्धता—शकाकार यहाँ यह कह रहा कि हम तो ऐसा सम्वेदन मानते कि जो न सत्य है, न असत्य, न प्रमाण है, न अप्रमाण, न स्वको जानता, न परको, तो फिर उत्तर यह है कि इसकी बुद्धि ठीक बनानेके लिये किसी चिकित्सालयमे भेजना चाहिये । वरना जहाँ कोई युक्ति नही, जहाँ अनुभव भी काम नही देता और अपना मनमाना तत्त्व बन रहा हो तो उससे सिद्धि क्या बनेगी ? भला अनवस्थित तत्त्वसे क्या कोई सिद्धि हो सकती ? यो तो हम कह देगे कि गधेके सीग भी होते । तो गधेके सीगसे और तुम्हारे अनवस्थित तत्त्वमे क्या विशेषता रही ? केवल एक मान रहे सम्वेदनमात्र, ज्ञानमात्र, न उसका आधार ब्रह्म रहा, न उसकी तरग रही, न उसका कार्य रहा । देखो—अद्वैतवाद अनेक होते हैं । ब्रह्माद्वैतवादका तो तीसरा, चौथा नम्बर समझिये याने ब्रह्मवाद सवेदनाद्वैतवादसे विशुद्ध अद्वैतवाद नही है जितना विशुद्ध अद्वैतवाद प्रतिभासाद्वैत है, यह हुआ सम्वेदनाद्वैत, प्रतिभासाद्वैत, जिसमे कुछ ज्ञान हो नही है, और नाम धर दिया ज्ञानका । उसके बाद जब कुछ ठिकाने आये तो चलो ज्ञानाद्वैत चेतना तो माना, मगर ज्ञानमात्र है, और कुछ नही है । तो तब यह आशका होती कि वह प्रतिभास, वह ज्ञान, उसका कुछ आधार तो होगा, तो आयगा ब्रह्माद्वैत, उनके भी नाना बन गए सम्वेदनाद्वैतवादी । एक ज्ञानमात्र तत्त्व है, जिसका न कोई काम है, न किसीको जानता है, न परको जानता है, किन्तु ज्ञान नामका ज्ञान है ऐसा अवस्थित तत्त्व तो खरविषाण जैसी बात हो गई याने असत् और इसमे कोई फर्क नही । तो शकाकार कहता है कि कैसे नही फर्क है ? एक यह सवेदनाद्वैत ज्ञानाद्वैत यह प्रकाशमान है, प्रतिभासस्वरूप है । अच्छा प्रतिभासस्वरूप है तो क्या वास्तवमे है ? अगर कहो कि हाँ वास्तव

मे है तो प्रमाण बन गया, तो तुम प्रमाणको मना कैसे करते ? और कहो कि नही है तो खत्म हो गया ।

शुद्ध सम्वेदनकी अलौकिक अनुभूति होनेपर भी अर्थावबोधात्मकता — देखो चारो तरफ के ख्याल छोडकर, अपने देहका भी भान छोडकर, अपने भीतरमे जो ज्ञानस्वरूप जाग रहा है उस ज्ञानस्वरूपमे जो अनेक बातें समझमे आती है उन्हे भी भूलकर एक ऐसे तत्त्वपर जाइये जहाँ केवल प्रतिभास प्रतिभास ही रहे और देखो ऐसी स्थिति बन तो जाती है कि केवल प्रतिभासमात्र हो, मगर वहाँ भी आनन्द आता कि नही आता । विलक्षण आनन्द, अलौकिक आनन्द न हो तो फिर ज्ञान बिल्कुल आ ही नही सकता । वहाँ ज्ञान चमक रहा है, भीतरमे जग रहा है जिस ज्ञानका यह स्वाद लेता है, पर यह सम्वेदनावाद तो सबको ही मना करता है एक तरफसे, कोई नास्तिक नाम न धर दे, इसलिए नाम रख दिया सम्वेदनाद्वैत । यदि यह सवेदन सवेदनका आकार लिये बिना सविदित हो जाता है तब क्या बात सिद्ध हुई कि देखो जैसे तुम्हारा सम्वेदन, यह ज्ञान इसमे कोई आकार तो न आया, खुदका भी आकार न आया, मायने ज्ञानमे ज्ञानका आकार न आया और फिर भी ज्ञानने ज्ञानको जान लिया । तो इन सब पदार्थोंमे भी यह ही बात लगा लें कि ये सारे पदार्थ बिना आकार सौंपे, ये ज्ञानमे आते जावें । तब सिद्धात निकल आया कि ज्ञान है और उसका जानना काम है और वह काम ऐसा ही है कि इसमे अर्थ विकल्प है और यह खुदको समझता है व अन्यको जानता है । रत्न है जैसे, वह तो स्वय चमकदार है, प्रकाशमान है । ज्ञान है स्वय प्रकाशमान, वह तो जानता ही रहेगा, उसका जानना कौन मेटेगा ? इसका नाम आत्मा रखा गया है । आत्माका अर्थ क्या है ? जो निरन्तर जानता रहे उसको कहते है आत्मा । "अतति सतत गच्छति जानाति इति आत्मा ।" आत्मा अत् धातुसे बना है । अनादिसे लेकर अनन्तकाल तक, निगोदसे लेकर सिद्ध भगवान तक जो-जो भी दशा बनती है कही भी बतलावो यह आत्मा जाने बिना रहा क्या ? निगोदमे था तो जानता था, यहाँ है तो जानता है । सिद्ध हो गया तो जानता है । तो यह तो एक चमकदार रत्न है, तुम रुमालमे छिपा लो तो वहाँ भी प्रकाशित है, सामने धर दो तो वहाँ भी प्रकाशित है । बैट्री जला दो, अब उसके ऊपर काठ रख दो तो भी वह अपनेमे प्रकाशित है, आवरण हटा दो तो वह प्रकाशित है । ज्ञान तो सतत जाननहार है । देखो अपना सर्वस्व धन यह ही है, इसके अतिरिक्त अपना और कोई धन नही । जरासी जिन्दगीमे इन बाहरी पदार्थोंको धन मान-मानकर यह जीवन पापमे बिताया जा रहा है, तो क्या सिद्धि मिलेगी ? काम नही चलता गृहस्थीमे । तो समझ लो कि यह गुजारेका स्थान है, पर यह मेरा कुछ है नही । मेरा धन तो मात्र ज्ञानस्वरूप है तो इस प्रकार यहाँ तक यह बात सिद्ध की जा रही है कि सम्वेदन पदार्थका आकार लिए बिना जानता है । जैसे कि संवे-

दन अपने आपके ज्ञानका आकार लिए बिना जानता है ।

ज्ञानाकारताके समर्पणकी मान्यतासे भी सारूप्यमें प्रमाणत्वकी सिद्धिका अनवसर—उक्त समाधान सुनकर शंकाकार कहता है कि हम तो इसको भी निराकार न कहेंगे। ज्ञान जब ज्ञानको जानता है तो ज्ञानमे ज्ञानका आकार आ जाता है और फिर उस ज्ञानाकारका जो ग्रहण है वह उसका फल है, तो कहते है कि इसमे तो अनवस्था है, मायने इस ज्ञानने पूर्व ज्ञानका आकार लेकर पूर्व ज्ञानको जाना तो यह ज्ञान दूसरे ज्ञानको अपना आकार सौप देगा तब जाननेमे आयगा। वह दूसरा ज्ञान किसी तीसरे ज्ञानको अपना आकार सौप दे तब जाननेमे आयगा। तो ऐसा अनवस्था दोप हो जायगा। तो ज्ञानाकारताके समर्पणसे सारूप्यका प्रमाणत्व सिद्ध न हुआ। यह ही बात प्रमाणित है कि ज्ञान जानता है, अपनोको जानता है, पदार्थको जानता है, बिना आकार लिए जानता है। अब रही व्यवस्थाकी बात। जैसे कि तुम यहाँ कहते कि नियम कैसे बने ? हमारे इस ज्ञानने खम्भाको जाना और दूसरेको नही जाना। तो देखो इसका नियामक है लब्धि और उपयोग। जिन-जिन पदार्थोंके ज्ञानावरणका क्षयोपशम है वह है लब्धि और जिस पदार्थके जाननेके लिए हम उपयोग जुटाते हैं वह है उपयोग। तो लब्धि और उपयोग यह नियम बना देते है कि इस ज्ञानने इस ही पदार्थको जाना, अन्यको नही जाना, यहा तक यह बात सिद्ध हुई। अब आगेका प्रकरण प्रमाणता व अप्रमाणताके आधारका आयगा और बहुत स्पष्ट होगा। हम आपका ज्ञान कोई सर्वथा प्रमाणभूत है क्या ? यह बात बतायी जायगी कि केवलज्ञान होनेसे पहले बढियासे भी बढिया ज्ञान हो तो भी उसमे कोई न कोई अश अप्रमाण रहता है। प्रमाणमे तो एक केवलज्ञान है सर्वथा। इस बातका वर्णन दार्शनिक विधिसे युक्तियो द्वारा न्यायशास्त्रके अनुसार चलेगा।

प्रमाणत्व व अप्रमाणत्वकी व्यवस्थाका आधार—तत्त्व निर्णय करनेका उपाय है प्रमाण और नय। तो क्यो जी, तत्त्वनिर्णय करनेके उपायकी अगर हम अधिक समझ बना लें तो यह कामकी बात है या गैर कामकी बात है ? जिन उपायोसे हम तत्त्वकी परीक्षा करेंगे उन उपायोको हमने भली-भाँति न समझा तो परीक्षामे गलती होगी। अगर वस्तुका निर्णय सुपरीक्षित बनाना है तो जाननेके उपायोंके बारेमे भी अधिकाधिक बोध होना चाहिए। तत्त्व-ज्ञानके उपाय है--प्रमाण और नय। प्रमाणका क्या है ? ज्ञान ही प्रमाण है, क्योकि जो हित की प्राप्ति कराये और अहितसे हटा दे— इन दोनो कामोमे जो समर्थ हो वह ही मेरेको प्रमाण है। बोलो हितकी प्राप्ति कौन करायगा ? ज्ञान, और अहितसे कौन हटायगा ? ज्ञान। इस ज्ञान प्रमाणके बारेमे प्रकरण चल रहा है। यह ज्ञान है ५ विशेषोरूप—मतिज्ञान, श्रुत-ज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। यह प्रकरण सम्यक्का है, सम्यग्ज्ञानका है। इसलिए पाँचोके पाँचो ज्ञान ही सम्यक् हैं, यहाँ यह परखना है। मगर ये ५ भेद हुए

ना ! तो जब सब प्रमाण है तो ये ५ भेद क्यो किए ? प्रमाण तो सब एक किस्मके होने चाहियें थे । तो यह भेद ही यह बतलाता है कि ज्ञान अपने-अपने नियत बातमे प्रमाण है, सब बातोमे प्रमाण नही है, सिर्फ केवलज्ञान ही सर्वथा प्रमाण है पूर्णरूपसे और शेष चार ज्ञान है वे अपने विषयमे प्रमाण हैं और अन्य विषयमे प्रमाण नही है। अच्छा तो प्रमाण का फिर लक्षण क्या हुआ ? अब देखो ये ज्ञान प्रमाणरूप भी हो गए और अप्रमाणरूप भी हो गए। जैसे आमके रसको चखा, स्वाद आया, तो स्वादके लिए तो हमारा ज्ञान प्रमाण बन पाया, पर रूपके लिए वह प्रमाण नही बन सकता। अधेरेमे आम खा रहे, स्वाद मीठा आया तो रसका तो ज्ञान बन गया प्रमाण, मगर रूपका ज्ञान ? अदाज तो बन गया कि ऐसा कुछ पीलासा है, मगर उसका प्रमाणभूत ज्ञान नही है। तो केवलज्ञानसे पहलेके ज्ञान नीचेके ज्ञान सर्वथा प्रमाणभूत नही हो पाते, तब फिर प्रमाणकी व्यवस्था क्या है ? जिस जिस विषयमे अविसम्वाद है, विवाद नही है उस उस विषयमे प्रमाण है।

स्वभावदृष्टि व पर्यायदृष्टिके निर्णयका उपयोग—देखो अपनी उन्नतिके लिए कई प्रकारके रग लाने पडते है। स्वभावदृष्टिसे देखे तो मै परिपूर्ण हू, स्वत.सिद्ध हू, यह ध्यानमे आया और जब पर्यायदृष्टिसे दिखाना देखा तो यह मनमे आया, ओह केवलज्ञानसे पहले तो ये कुछ नही हैं, सब अधूरापन है। होता क्या है कि किसी कार्यमे उमग होती है तो कार्यमे प्रगति होती है। तो कुछ तो हो प्रशसा करने वाले और कुछ हो निदा करने वाले तब प्रगति बढिया बनती है। अगर सब प्रशसक ही प्रशसक हो तो प्रगति नही बन पाती और निन्दक ही निन्दक हो तो भी प्रगति नही बन पाती। तो ऐसे अपने आपके आत्माका हम विकास करते हैं। तो देखो स्वभावदृष्टिमे तो हमे प्रशसा मिली, हमने अपनी परमार्थ प्रशसा कर ली, हम दूसरेकी बात नही कर रहे, स्वभावदृष्टि करके हमने अपने उपयोगमे अपनी प्रशसा पायी। बहुत ठीक, यहाँ कष्ट है ही नही, घबडानेकी बात नही, यह तो एक विशुद्ध चैतन्यस्वरूप है। और जब उपयोगको देखा तो निन्दाकी बात आयी। अरे कषाय बसी है, वासना बसी है, चित्त डोल जाता है, यहा वहा लग जाता है। तो उस निन्दासे भी हमको उमग आयी कि इससे तो हटना चाहिए और उस प्रशसासे भी हमको उमग आयी कि इसमे बढ़ना चाहिए। यह स्थिति चल रही है हम आपकी तो अब यहा देखिये—प्रमाणकी क्या व्यवस्था है ? जहा जहा विसम्वाद नही उसको प्रमाण कहते हैं और जहा विसम्वाद हो उसे अप्रमाण कहते हैं।

अनेक दर्पणोमे या अनेक पात्रस्थ जलोमे अनेक चन्द्रबिम्बरूप पर्यायोकी चन्द्रपदार्थसे भिन्नता—यहाँ एक शकाकार कहता है कि यदि सच्चा ज्ञान ही प्रमाण है तो हमे यह बतलावो कि जैसे पूर्णमासीकी रातको, जिसमे बहुत बढिया चन्द्रमा प्रकट हो, कार्तिक अगहन के दिनोमे जहाँ निर्मल आकाश रहता है और रात्रिके समयमे आप ५० थाली रख दें पानी

भरी हुई या ५० दर्पण रख दें तो आपको ५० जगह चद्रमा दिखेगा। इस थालीमे भी मिलता है, उस थालीमे भी, उन सब दर्पणोमे भी। तो ये ५० चन्द्रमा जो दिखे, सो यह तो बात झूठ हो गई ना? चन्द्रमा तो एक है, ये ५० चन्द्रमा कैसे दिख गए? कहाँ गया तुम्हारा सम्यग्ज्ञान? तो आचार्यदेव जवाब देते है कि सुनो—सम्यग्ज्ञान यहाँ भी है। जो उन ५० थालियोंमे चन्द्र दीखे, वे तो हैं अलग, वे ५० चन्द्र है पानीकी छाया पर्यायरूप। और जो आकाशमे चन्द्रमा है वह है एक। वहा अगर ५० चन्द्रमा दिखे तो झूठ और यहा अगर एक चन्द्रमा दिखे तो झूठ। यहा जो ५० थालियोंमे ५० चन्द्रबिम्ब है तो ये उस चन्द्रसे अलग हैं, आकाशमे रहने वाले चन्द्रमासे पृथक् चीज है यह। हा, निमित्तनैमित्तिक भाव है ऐसा कि उसका सान्निध्य पाकर ये ५० थालियोंके पानी चन्द्रबिम्बरूप परिणम गए। तो निमित्त-नैमित्तिक योग तो है, मगर ये ५० तो ५० थाली पानीके ही परिणमन हैं, और वह एक चन्द्रमा है। इसमे कोई विसम्वाद नही है। देखो—इसमे भी अनेक दार्शनिक कुछसे कुछ मानते है। कोई तो मानते है कि चन्द्रका ही उसमे प्रतिबिम्ब पडा और कोई यह मानते कि इस तरह प्रतिबिम्ब पडता कि चन्द्रसे प्रतिबिम्ब निकल पडा और फिर वापिस होकर चन्द्रमे पहुचता है, ऐसी सतत दौड लेते रहते है तब वह प्रतिबिम्ब दिखता है। देखो ये दार्शनिक हैं, ये इजीनियर कहलाते हैं, डाक्ट्रेट है, अपने अपने विषयके इजीनियर हैं, वैज्ञानिक है।

दर्पणबिम्बके उदाहरणमे अनेक तथ्योका प्रकाश—अभी दर्पणमे ही देखो तो प्रतिबिम्बको बोलते हैं रिफ्लेक्शन याने आकार गया और छूकर लौटता है, निवृत्त होता है तब ही तो यह पहिचानमे बात आ जाती है उस दर्पणको देखकर कि यह चीज कितनी दूर रखी है। देखो बडा कठिन काम है यह। दर्पण सामने रखें और पीछे रहने वाली जितनी चीजें है उन सबमे प्रतिबिम्ब आ गया। अब दर्पणमे प्रतिबिम्ब आ गया। दर्पणकी ही पर्याय है वह जो दर्पणमे आ गया। अब यहा देखकर यह निर्णय तो नही बन सकता कि यह चीज इतनी दूर रखी, यह चीज इतनी दूर रखी, मगर बन जाता है। दर्पणमे आप देखकर बता सकते यह लडका अब इतनी दूर खडा हो गया, यह लडका इतना पास आ गया। बडी सूक्ष्म निगाहसे परखेंगे तो विदित हो जायगा, इसीको बोलते है रिफ्लेक्शन। औरका आधार। हमने तो पूरबमे मुख किया और दर्पणमे पश्चिमको मुख मिला, इतना तो वहा साफ नजर आता है। गया और लौटा—इसे कहते हैं दर्पणमे हटानेका स्वभाव पडा है तब उसमे प्रतिबिम्ब आता है और अगर लेनेका स्वभाव पडा हो तो कैमरा बन जायगा। उसमे हटानेका स्वभाव नही पडा है। तो यहा एक अपने लिए यह शिक्षा लें कि फोटो तो दोनोंमे पडती है, कैमराके प्लेटमे भी फोटो पडती हैं और दर्पणमे भी, पर कैमरेमे फोटो तो ऐसी पडती है कि

कैमरामे प्लेटमे या रीलमे जमकर रह जाती है और दर्पणमे ऐसी पडती है कि वह जमकर रह नही सकती। वह हट जायगी, ऊपर ऊपर लोटेगी। तो इसमे ये सारी चीजे ज्ञानमे आ रही है, तो हम दर्पण बने, कैमरा न बनें। यहा आये तो तेरे ऊपर। यहा मेरा कुछ नही। मनको नियत्रित करें। कितनी ही प्रिय स्त्री हो, पुत्र हो, धन हो, लोग हो, मगर अन्दरमे अधकार न बसाओ, मोह न आये। ये मेरे ही है इस तरहकी ज्ञानकी तरग न बने, नही तो इस अधेरेमे प्रभुके दर्शन नही हो सकते। तो मानो ५० दर्पण रखे हो नीचे तो वहा भी ५० चन्द्रफोटो आ जायेंगे, मगर वे फोटो चन्द्रके नही है। चन्द्रमाका सन्निधान पाकर वह फोटो आयी है, वह फोटो उस दर्पणकी है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमे अपनी परिणति नही बना सकता। तो देखो वह प्रतिबिम्ब बना दर्पणमे, पर बना चन्द्रका सन्निधान निमित्त पाकर, यह भी साफ दिख रहा। और यह भी साफ नजर आ रहा कि चन्द्रमाका उसमे न द्रव्य है, न गुण है, न प्रभाव है। तो निमित्त बिना प्रतिबिम्ब होता नहीं, निमित्तने प्रतिबिम्ब किया नही। तो वहाँ जो प्रतिबिम्ब हुआ तो वे सब उन-उनकी पर्याये है। तो उतना जानना सम्यग्ज्ञान है, ऊपर चन्द्रको एक जाना सम्यग्ज्ञान। और देखो इसमे आगमसे कोई बाधा नही आती। इसमे सिद्धातका कोई विरोध नही है। यहाँ इतने प्रतिबिम्ब पडे है वहाँ वह एक चन्द्र है, जैसा है वैसा ही प्रतीतिमे आ रहा है।

सबका अपने आपमे अपनी-अपनी परिणतिसे परिणमन– क्यो जी, कोई किसीके घर फेरे आये, कोई गुजर जाय तो फेरे आते है ना, तो वह रिश्तेदार घरमे आकर बहुत बुरी तरहसे रोता है और घरके लोग भी रोते है तो बतलावो रिश्तेदारने घर वालोको दुःखी किया क्या या रिश्तेदारने घर वालोको सुखी किया ? तो क्या उन दोनोमे एक ही दुःख है ? दोनो दुःखी है, और इसने उसे दुःखी नही किया, उसने इसे दुःखी नही किया, पर उसके दुःखकी कल्पना करके यह अपना नया दुःख पैदा कर रहा है। वह उसके दुःखकी कल्पना करके अपनेमे नया दुःख पैदा कर रहा है। अपने-अपने दुःखसे सब दुःखी हो रहे हैं। कोई कहे कि हम तुम्हारे दुःखमे दुःखी रहते है और तुम्हारे सुखमे सुखी रहते है तो उसे वहा यही जवाव दो कि तुम बिल्कुल झूठ कहते हो, ऐसा न तो कभी हुआ और न हो सकेगा। कभी इतना भी दुःख हो जाता कि मानो एक भाई गुजर गया तो दूसरा भाई भी एक ही मिनट बादमे गुजर जाता है, इतना अधिक दुःख उस भाईको हो गया, मगर वह दुःख क्या उस भाईसे आया ? अरे इसने अपनी कल्पना बनायी, मोह बनाया, ममता बढायी और अपनेसे ऐसी अपनेमे कल्पना गढाई कि सहन न कर सका और गुजर जाता है। देवोने लक्ष्मणके प्रेमकी प्रशसा की थी, जब स्वर्गमे इन्द्रसभामे यह चर्चा उठी कि राम लक्ष्मणके समान भाई-भाईका प्रेम किसी भाईमे नही पाया जा सकता। तो वहा दो देवोने सोचा कि जरा जाकर देखें तो

सही कि वैसा प्रेम है ? सो क्या दृश्य देवोने दिखाया विक्रियाबलसे कि अनेक रानिया रो रही है, 'हाय राम, हाय राम' ये शब्द सुननेमे आ रहे हैं और वे देव उदास होकर लक्ष्मणके सामने पहुच रहे है यह कहते हुए—अरे श्रीराम तो मर गए। इस दुःखद दृश्यको देखकर लक्ष्मणके प्राणपखेरू उड गए। बादमे वे दोनो देव बहुत पछताये– अरे हमने तो खेल किया था, प्रेमकी परीक्षा की थी, यह क्या हो गया ? तो परखो वहा लक्ष्मण जी गुजरे, पर श्रीराम के कारण नही गुजरे। उन्होने अपने मनमे कल्पनायें गढी और सहज न कर सके और मर गए। देखिये सहारनपुरके पास सुल्तानपुर एक कस्बा है, वहांकी एक बात वहीपर अभी जल्दीकी ही सुनी है कि कोई दो भाई थे, वे जैन थे, उन दोनो भाइयोके नामका एक स्कूल उनके मरनेके बाद एककी पत्नीने खोला है, जो अभी भी चल रहा है। उनका नाम तो याद नही रहा, पर सुना है कि उन दोनो भाइयोमे बडा घनिष्ट प्रेम था, वैसे प्रेमका उदाहरण आजके समयमे शायद ही मिले। सुना है कि वे दोनो भाई जीवनभर एक साथ रहे, एक साथ शौचादिक जाना, एक साथ खाना, एक साथ सोना, एक साथ काम करना, एक साथ रहना, और सुना है कि उनका मरण भी करीब-करीब एक ही साथ हुआ। तो भाई इतना सब कुछ हुआ, यह तो ठीक है, पर कोई किसीकी पर्यायसे परिणमता नही है। कोई किसी के सत्त्वसे अपना सत्त्व रखता नही। सर्व पदार्थ स्वतत्र हैं। सबका परिणमन स्वतत्र है। मगर विकारकी ऐसी बात है कि विकार जब उत्पन्न होता है तो किसी परनिमित्तको पाकर ही हो पाता है। इसमे तो और बल मिला अपनेको कि ये विकार मेरी गाँवकी चीज नही। ये नैमित्तिक है। दूसरेके बलपर ही अपना बल रखते है। तो सर्वत्र यह देखो सब जगह यह ही बात है।

सूर्य और प्रकाशके उदाहरणमे निमित्तनैमित्तिक भाव व वस्तुस्वातत्र्यका दर्शन— अच्छा और भी देखो– यह प्रकाश जो सूर्यका तुम्हारे इस भिन्डनगरमे चारो तरफ सडकोपर मकानोकी छतोपर फैल रहा है, तो क्या यह बता सकते हो कि यह प्रकाश किसका है ? तो दुनिया तो यही कहेगी कि यह प्रकाश सूर्यका है। अच्छा तो सुनो– जिसकी जो चीज होती है वह उसके प्रदेशोमे ही होती है। एक न्याय बना लो जिसकी जो परिणति होती है वह उसके प्रदेशोमे ही होती है। हमारे हाथका रूप हमारे हाथको छोडकर बाहर जायगा क्या ? हमारे हाथका रस, गध, हमारे हाथका आकार, हमारे हाथकी क्रिया यही तो रहेगी कि बाहरमे जायगी ? तो ऐसे ही सूर्यमे लगा लो। सूर्यकी जो कुछ भी चीज होगी वह सूर्यमे ही होगी, सूर्यसे बाहर न होगी। सूर्यका रूप, सूर्यका रस, सूर्यका प्रकाश सूर्यमे ही होगा। अब बतलाओ सूर्य कितना बडा है ? क्या यहाँ भिन्डमे भी वह सूर्य घुसा फिर रहा ? अरे सूर्य तो ऊपर ही है, कुछ कम दो हजार कोशका है याने सूर्यका नाप इतना है। तो उसका प्रकाश यहाँ

नही आया निश्चयसे, परमार्थसे । सूर्य खुद प्रकाशमान है और उसका सन्निधान पाकर, उसका निमित्त पाकर यहाँके पदार्थ खुद अपनी अंधकार अवस्थाको छोडकर प्रकाश अवस्थामे आ गए । क्यो जी, सूर्य पुद्गल है ना ? और यहाँकी चीजें भी पुद्गल हैं, सूर्य तो निरन्तर प्रकाशमान है, उसकी यह विशेषता है और ये पदार्थ सूर्यका निमित्त पाकर खुद प्रकाशमान हो जायें तो क्या उन्हे इतनी भी विशेषता, सुविधा नही दे सकते । है तो पुद्गल ही ना । यह प्रकाश सूर्यका नही, किन्तु सूर्यका सन्निधान पाकर जो पदार्थ प्रकाशित है उसीका परिणमन है । अच्छा चलो अब मकानके दरवाजेके पास एक बडा आइना सामने कर दें और जितनी तेज रोशनी सडकपर है उतनी ही रोशनी घरमे भीतरकी अधेरी कोठरीमे घुस जाती है । बच्चे लोग ऐसा खेल करते हैं ना ? अच्छा वहाँ बताओ— जो कोठरीमे प्रकाश आया है वह किसका प्रकाश है ? लोग तो कहेगे कि सूर्यका प्रकाश है, मगर सूर्यका तो नही है । अभी तो बताया है । क्या दर्पणका ? तो दर्पणका भी नही, तो किसका है ? उस अधेरी कोठरीमे जो चीजें है वे खुद प्रकाशित जो हुई है, वह प्रकाश उस ही चीजका है । तो हो कैसे गया ? वह प्रकाशमान दर्पणका सन्निधान पाकर हुआ, सूर्यका सान्निध्य पाकर नही हुआ । उस कोठरीमे जो उजेला है उसमे निमित्त सूर्य नही है, निमित्त तो दर्पण है । और दर्पणके प्रकाशित होनेमे वह सूर्य निमित्त है । तो कोठरीमे जो उजेला आया है उसके निमित्तका निमित्त है सूर्य, न कि उसका सीधा निमित्त है । आप देखते जावो, निमित्तनैमित्तिक भाव सब जगह व्यवस्थित मिलेगा । अगर ये कहने मात्रके होते तो ये अटपट निमित्त क्यो न बनने लगते ? रोज आगका निमित्त पाकर रोटी सिकती, आज चौकीपर सिक जावे, उसमे नियत व्यवस्था क्यो बनी हुई है कि सूर्यका सन्निधान पाकर ऐसा उजेला है तो निमित्तनैमित्तिक भाव भी व्यवस्थित है और वस्तुस्वातन्त्र भी पूर्ण व्यवस्थित है ।

निमित्तनमित्तिक भाव व वस्तुस्वातंत्र्यकी जोड़ी-- अब प्रकरणका पुनः स्मरण करें— यहाँ थालियोमे जो अनेक चन्द्रबिम्ब आये वह इस चन्द्रका कुछ नही है । वह तो थालीमे जो पानी है उसका है । कोई कहे कि अगर थालियोमे चन्द्रमा भी नही है तो हम बीचमे एक तख्तका पाटिया किए देते है तब फिर तुम जानो चद्रबिम्ब ? तो भाई बात सुनो—अब थाली के पानीको चन्द्रबिम्बका सन्निधान नही है तो प्रतिबिम्ब नही बना, पर उससे कही यह तो सिद्ध न होगा कि वह चन्द्रका प्रतिबिम्ब है । देखो–निमित्तनैमित्तिक भाव न होता तो यह दृश्यमान जगत नही बनता और वस्तुस्वातत्र्य न होता तो यह दृश्यमान जगत नही बनता । अगर मान लो ऐसी अधेर बन जाय जैसे कि होलीके दिनोमे अंधेर मच जाती है, लोग विचार नही करते, जिसपर चाहे रग या धूल या कीचड वगैरा डाल देते है । अगर ऐसी अधेर मच जाय कि कोई भी पदार्थ किसी भी पदार्थको परिणमा दे तो एकने दूसरेको परिणमाया । तो

परिणमन तो एक ही रहेगा। अब इसका रहेगा कि उसका? उसका रहा तो यह मिटा, इसका रहा तो वह मिटा और कभी यह भी मिटेगा। जो दूसरेको मिटायेगा वह खुद भी मिटेगा। जो निमित्तनैमित्तिक भावसे बढकर कर्ता कर्मका रूप रख ले तो यह जगत शून्य हो जायगा। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थमे कुछ करता नही है और क्यो जी, वस्तुस्वातन्त्र्य न रहे तो भी जगत न रहेगा क्या? इसका निमित्त पाकर यह परिणम गया, मगर वह अपने स्वरूपमे ही परिणमा, ऐसी ही गाडी अनादिसे चली आ रही है। प्रत्येक पदार्थ निज स्वरूपके प्रदेशमे ही परिणमता है, तब ही सब चीजें बनी हुई है, नही तो यहां कुछ बनता नही। और निमित्तनैमित्तिक भाव न हो तो नही बनता। दोनोका अपना-अपना रूप समझ लो और फिर रही हितकी बात तो शिक्षा सबमे मिलती है। जैनागममे जितने भी शब्द है सबमे आत्माके हितकी शिक्षा भरी है। उनमे यह छांट न करें यह शङ्का न करें कि इसमे हमारा क्या हित होगा? जैनागमका एक भी वाक्य इस जीवका अहित करने वाला नही है। सबमे शिक्षा ले लो।

संवादप्रमुखतासे प्रमाणत्वका सवाद—यहां प्रकरण यह चल रहा कि ज्ञान प्रमाण है, और वे ज्ञानविशेष है ५—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इनमेसे केवलज्ञान तो समग्र वस्तुओमे पूर्ण रूपसे प्रमाण है और अवधिज्ञान, मन.पर्ययज्ञान अपने नियत विषयमे पूर्ण रूपसे प्रमाण हैं और अन्य विषयमे नही। और मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अपने ही विषयमे एकदेशरूपसे प्रमाण है। जैसे अनेक दृष्टान्त लो—ये दृष्टान्त बहुत है, आगे बताये जायेंगे, जिनमे एक परिचय बनेगा कि कोईसा भी ज्ञान इतने अशमे प्रमाण है, इतने अंशमे अप्रमाण है। तो फिर कोई कहे कि फिर निर्णय कैसे होगा कि यह ज्ञान प्रमाण है कि अप्रमाण, जब कि इसमे दोनो बातें है? तो बात यह है कि जिसमे प्रमाणताका अश अधिक है उसे प्रमाण बोलते है और जिसमे अप्रमाणताका अश अधिक है उसे अप्रमाण बोलते है। अन्यथा यह बतलावो कि रसायमशास्त्रमे, विज्ञानशास्त्रमे यो नाम रख दिये जाते है कि यह रसद्रव्य है, यह गधद्रव्य है। जैसे कस्तूरी, इत्र, कपूर आदिक ये सब कहलाते है गधद्रव्य। और जैसे फल होते है ना—रसभरी, गन्ना आदिक ये कहलाते है रसद्रव्य। तो यह बतलावो कि उस रसद्रव्यमे क्या रस ही रस है? रूप, गध और स्पर्श आदि नही है क्या? अरे उसमे रूप, रस, गध, स्पर्श चारो है। तो फिर इसका नाम रसद्रव्य ही क्यो रखा? इसलिए कि उसमे रसकी प्रमुखता है। तो जिस ज्ञानमे सम्वाद अधिक हो वह प्रमाण है और जिसमे विसम्वाद अधिक हो वह अप्रमाण है। यह निर्णयकी बात चल रही है। हमने अगर सीपको चांदी जान लिया तो बताओ सीपको चांदी जाना तो यह ज्ञान प्रमाण है कि प्रमाण? वहाँ सफेद जाननेमे आ रहा ना तो सफेद रगका जो बोध हो रहा वह प्रमाण है कि अप्रमाण?

प्रमाण है। और यहाँ जो यह जान रहे कि वह चाँदी है, सीपको न दी जान रहे, यहाँ यह विपरीत ज्ञान हो रहा सो यह अप्रमाण है। यह ज्ञान अपने जानोमे प्रमाण बन रहा, मगर जैसा यहाँ जान रहा है वैसा वहा पदार्थ नही है, इसलिए अप्रमाण है। तो यह चर्चा आगे आयगी। एक ही चीजमे प्रमाणत्व और अप्रमाणत्व कैसा भरा पडा है और फिर भी व्यवहार सही-सही चलता रहता, सभी ज्ञानी प्रमाणको प्रमाण मानते और अप्रमाणको अप्रमाण मानते।

ज्ञानविशेषोके होनेका आधार—आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान ज्ञानरूपमे जब अपनेको निरखेगा कोई तो आत्माके स्वरूपका परिचय बनेगा। ज्ञानमात्र हू, ज्ञान ही ज्ञान हू। कैसा अलौकिक विलक्षण पदार्थ है कि ज्ञानमय है। और कोई भी भाव, कोई भी गुण निराधार होता नही। सो यह प्रदेशवान है। जो प्रदेशवान है सो आत्मद्रव्य है। मुख्यताकी अपेक्षा जैसे रसमय चीजको रसद्रव्य कहते है, ऐसे ही ज्ञानमय इस आत्माको ज्ञानद्रव्य भी कह दें तो 'आत्मद्रव्य' शब्दसे ही समझमे आ जायगा। मै ज्ञानस्वरूप हू। जब ज्ञानस्वरूप हू तो देखो प्रत्येक पदार्थमे ६ साधारण गुण होते है, पहला तो यह कि वह है। दूसरा यह कि वह अपने स्वरूपसे है, पररूपसे नही है। तीसरा यह कि वह निरतर परिणमता रहता है, परिणमे बिना एक समय भी नही रहता है। चौथा यह कि अपने स्वरूपसे ही परिणमता है, पर स्वरूपसे नही परिणमता। ५वा यह कि उसका कोई न कोई आकार होता है, प्रदेश होता है, और छठवाँ यह कि जो इस तरहसे हो वही ज्ञानमे ज्ञात होता है, असत् ज्ञेय नही होता, सत् ज्ञेय होते है। तो आत्मा भी एक द्रव्य है, मैं भी एक पदार्थ हू, ज्ञानस्वरूप हू, तो मै प्रति समय परिणमता रहता हू। जैसे घडीमे चाभी अच्छी तरह भरी हो, बढिया घडी हो तो आप सोते रहे अथवा उसका कुछ भी ध्यान न रखें तो भी वह चलती रहेगी। एक मोटा दृष्टान्त दे रहे है। उसमे चाभी न हो तो बद हो जाय, मगर जितनी बात कह रहे उतनेके लिए समझें। ये प्रत्येक पदार्थ निरन्तर परिणमते रहते है। कुछ लोग कहते है कि कोई एक ईश्वर है अलगसे, वह जीवोको, चीजोको बनाता रहता है। देखो वस्तुवें है अनन्त और उन अनन्त पदार्थोंकी सभाल वह कैसे करे? कहाँ कहाँ पदार्थ है? एक ही स्कधमे अनन्त परमाणु है, अब व्यवस्था कही हो रही है और अन्यत्र कोई पदार्थ बिना परिणमे रह जायगा क्या? कोई यदि भूल जाय या ध्यान न रहे या कोई कारण जुट जाय तो परिणमन न हो, ऐसा हो जायगा क्या? अरे वस्तु स्वय परिणामनशील है, तब उसमे नाम लगा दो, चाहे ईश्वरका, चाहे और किसीका। अगर वस्तु परिणमनशील न हो तो ईश्वर उसे कैसे परिणमाये? पहली बात तो यह समझो और किसने किया? यह तो आगेकी बात है, अलग विषय है। वस्तु परिणामनशील है, उसे मना कोई नही कर सकता। वह निरन्तर परिणमती रहती

है। मैं आत्मा हूं, पदार्थ हूं, सदा परिणमता रहता हूं, ज्ञानस्वरूप हूं। तो ज्ञानका ही परिणमन होता है। इस आधारपर ज्ञानके भेद कहे जा रहे है। तो ज्ञानके कितने परिणमन होते हैं? अनगिनते परिणमन। ज्ञानके कितने भेद है? अनगिनते भेद हैं। तो कोई कहे वाह आगममे तो बताया ५ भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान, सो ठीक तो है ये पांच उन अनगिनते भेदोकी जाति बना दी। उन पर्यायोकी कितनी जाति है, प्रकार है? वे अनगिनते ज्ञान ५ प्रकारोमे आ जाते है। वे ५ प्रकार है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। ये सब प्रमाणभूत हैं।

चार ज्ञानविशेषोमे प्रमाणत्वका अनुरंजन—अब इन पांच ज्ञानविशेषोकी प्रमाणता का हाल देखो। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान तो अपने विषयमे एक देश रूपसे प्रमाण है। जब निर्णय करने वैठते है तो यो वैठिये कि उसमे किसीका लिहाज नहीं हो। जो युक्तिपर उतरे वह कहना। शत्रुके गुण भी हो तो उसे भी कहना और गुरुके दोष हो तो उसे भी कहना। ज्ञान प्रमाण है तो जब यहाँ निर्णयपर चलते है तो सब ज्ञानोरूप यह बात देख लीजिए कि इसमे प्रमाणता कितनी है और प्रमाणता न रहना—यह बात कितनी है? केवलज्ञानसे पहले जितने ज्ञान होते है वे सब सर्वरूपसे प्रमाण नही होते, अपने-अपने विषयमे प्रमाण हैं। ये अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान तो अपने विषयमे पूरे रूपमे प्रमाण है और मतिज्ञान श्रुतज्ञान अपने विषयमे पूरे रूपसे प्रमाण नही, किन्तु एक देश रूपसे प्रमाण है। इसके दृष्टान्त अनेक है, जो आगे बतायेंगे। अभी इस प्रकरणमे यह बात समझना कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो अपने विषयमे एक देश प्रमाण हैं, सर्वथा प्रमाण नही और अवधिज्ञान, मन.पर्ययज्ञान अपने विषयमे पूरे प्रमाण है, किन्तु सर्वविषयोमे प्रमाण नही। केवल केवलज्ञान ही ऐसा है जो सर्वविषयोमे प्रमाणभूत है। इसकी क्या कसौटी है? जहां-जहां सम्वाद रहे सो प्रमाण और जहां-जहां विसम्वाद आये सो अप्रमाण। सम्वादके मायने क्या? सम्वादमे तीन बातें परखी जाती है– एक तो यह कि उस विषयमे अन्य प्रमाण भी गवाही दे तो सम्वाद। दूसरा यह कि उसके अनुसार अर्थ क्रिया व्यवहार होने लगे तो वह विसम्वाद और तीसरा है उस वस्तुकी प्राप्ति हो जाय तो वह सवाद। इनके अतिरिक्त चौथी बात यह कि उसमे कोई बाधक प्रमाण न आये। तो तीन बातें तो विधिरूप हैं। जहाँ ये सवाद होते है वह प्रमाण माना जाता है। जैसे प्यास लगी तो पानी की जगह गए। पानी देखा तो अब आँखसे देखा, अब मनने निर्णय किया, फिर उसके निकट जानेका उद्यम किया, फिर अब हाथने भी छुवा, यो नाना प्रमाणान्तरोसे भी उसका वह निर्णय बनता रहे तो समझो कि जो ज्ञान बना, सो प्रमाण। और पानी पीने लगे, अर्थक्रिया होने लगी तो मालूम प्रयोगात्मक भी हो गया प्रमाण और उसमे कोई बाधक कारण न मिले सो निषेधमुखेन भी सम्वाद आया। और जहाँ

विसम्वाद हो सो अप्रमाण ।

संवादक मतिश्रुतज्ञानका एक लौकिक उदाहरण—अब प्रमाणत्व व अप्रमाणत्वके बारेमे एक दो दृष्टान्त लेगे तो समझमे आयगा । रास्तेमे चले जा रहे, एक दो मील दूरसे एक वृक्ष दीखा, वृक्ष है, यह बात सही है ना ? प्रमाण है, मगर दूरसे कितना बडा दीखा वह वृक्ष ? कोई दो ढाई हाथका दीखा होगा और होगा कोई ४० हाथका लम्बा । आप कहेगे कि वाह हम तो समझ रहे कि बहुत बडा है तो आप मनसे ही समझ रहे है, आँखसे तो नही ज्ञात कर रहे । जिस आँखसे पेड दिख रहा है उस आँखसे जो ज्ञान बना है उस ज्ञानमे वृक्ष है, इतनी बात तो रही सही और जो वह दो-ढाई हाथका बडा वृक्ष दीखा वह वहाँ ही है, ज्ञान एक हो रहा है । अब उसमे यह समझना कि हमको क्यो दिखता है, किसलिए देखा है, क्या काम करना है, उस प्रयोजनके अनुसार संवाद चाकरी करता है । तो यहाँ जो इतना सम्वाद बन रहा है वह अश अधिक है, इसलिए प्रमाण है । देखो हम उस समय इसमे तो तर्कणा नही कर रहे कि कितना लम्बा-चौडा ? वहाँ तो देख रहे है, देखनेमे जो आया वह प्रमाण और जब बिल्कुल उस पेडके पास पहुच जायें कोई १० गजकी दूरीपर, तो वह वृक्ष कितना बडा दीखता ? और बीचमे और प्रकारमे दिखता । तो यह वतलावो कि चाक्षुषज्ञान से तुम वृक्षकी लम्बाई चौडाई ठीक-ठीक कहाँसे बता पावोगे ? तो चाक्षुषज्ञानमे अन्य बातो की ओरसे प्रमाणता नही । एक सिद्धान्त हुआ है विदेशोमे, जर्मनमे उसका हिन्दी अर्थ है सापेक्षवाद, उसने भी स्वीकार किया । सापेक्षवादके अनुसार चन्द्रमा कितना बडा है ? तो इसके उत्तर अनेक है । जहाँसे देखो वहासे उतना उत्तर मिलेगा ? जो सापेक्षवाद सिद्धान्त निकला है उसमे और स्याद्वादमे थोडा अन्तर तो है, मगर एक स्याद्वादकी ही किरण है । तो बात यह वतला रहे हैं कि मति, श्रुतज्ञानपर चूंकि आवरण विशेष है, इसलिए प्रमाणता एक-देश हो पाती है । जैसे-जैसे ज्ञानके आवरण जितना कम होते जायें उसमे इतनी प्रमाणता बढती जाती है । अब वृक्षको देखने वाले हजारो आदमी है तो लम्बाई-चौडाईके बारेमे कोई कुछ देख रहा, कोई कुछ । कौनसा प्रमाण है ? तो बात यहाँ यह समझनी कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान जितने विषयको जानता है उतने विषयमे भी एक देशरूपमे प्रमाण होता । तब देखा जाता है अपने परखनेमे सम्वाद है सो प्रमाणता और जहा विसम्वाद है सो अप्रमाणता ।

ज्ञानस्वभाव और केवलज्ञानमे पूर्ण सम्पन्नता व अन्य विशेषोमे सम्पन्नताकी तरतमता—भैया ! स्याद्वाद एक ऐसी अद्भुत देन है । जैसे कोई गुरु गुजर जाय तो शिष्य कहता है कि हमको तो वे महाराज अद्भुत देन दे गए । ऐसे ही हमारे जैनशासनके नायक चले तो गए सब, मगर एक ऐसी देन दे गए कि जिस देवके प्रसादसे हम स्पष्ट रहते है, प्रकाशमे रहते है, नि शक रहते है, मोक्षमार्गपर चलते है । तो स्याद्वादमे निर्णय चल रहा है कि मतिज्ञान

और श्रुतज्ञान अपने जितने विषयको जानता है उस विषयमे एकदेशरूपसे प्रमाण है। क्या निर्णय बनायें ? सफेद कपडा है। तेज धूपमे सफेद कपडा पडा हो तो वह कितना सफेद लगता है ? और कमरेके अन्दर सफेद कपडा हो तो वह कितना सफेद लगता है और उसपर सर्च लाइट डलवा दी जाय तो कितना सफेद लगता ? पर तुम बताओ कितना सफेद है ? चाक्षुषज्ञानसे तुम उस सफेदका निर्णय तो बताओ। बता तो दोगे, मगर सर्व बातोमे प्रमाणता न आ पायी। जहा-जहा विसम्वाद नही वहा-वहा प्रमाणता है। जिसमे सब लोग कहे कि हा यह है, सम्वाद हो गया लौकिक बातोमे। अलौकिक बातोमे ज्ञानी पुरुष बतावेंगे। लौकिक बातोमे सब लोग बतावेंगे। तो प्रमाण तो मिथ्याज्ञान भी प्रमाण है, सम्यग्ज्ञान भी प्रमाण है। पर मिथ्याज्ञान लोकरूढिमे प्रमाण है और सम्यग्ज्ञान वस्तुस्वरूपमे प्रमाण है। तो अपने स्वभावको देखो और स्वभावके जो परिणमन होते है उन परिणमनोपर लट्टू मत हो जावो, ये कुछ नही है। ये ज्ञान कुछ नही है। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, ये कुछ नही हैं। मेरी वहा सम्पन्नता नही है। सम्पन्नता निरखना है तो प्रकटमे केवलज्ञानको देखे और अत सपन्न चैतन्यस्वभावको देखें। और बीचमे तो अमीर-गरीबका हिसाब जैसे यहा लौकिक हिसाबमे कोई फिट नही बैठता, ऐसे ही बीचके ज्ञानोके पूर्णरूपसे प्रमाणत्व और अप्रमाणत्व की अमीरी-गरीबीका हिसाब ठीक नही बैठता। वह तो सम्वादके आधारपर प्रमाणपना कहलाता है। ऐसे कितने ही ज्ञान मिलेंगे। उन सब ज्ञानोमे जो प्रकट साक्षात् नजरमे है वह प्रमाण है और उसके अतिरिक्त जो अन्य अश है, अप्रमाण हैं, पर प्रयोजन तो, लगाव तो साक्षात् वालेमे है ना। वही सम्वाद बनता है। वहा विसम्वाद है वह प्रमाण नही है।

सर्व अनुयोगोमे सत्यताके दर्शनका कर्तव्य—प्रकरण चल रहा है आत्माकी ज्ञानपर्याय का। दार्शनिक विषय करणानुयोग और अध्यात्म विषय ये परस्पर विरोधी नही हैं। इनमे किसीको कहना सत्य और किसीको कहना असत्य, यह तो ज्ञानके दिवालेपनका ऐलान है। करणानुयोग व्यवहार है। जो भी व्यवहार कहता है सो भूठ है, ऐसी बात नही। ऐ जैनशासन प्रेमियो ! ऐसी अभक्ति मत करो। तुम्हारे आगममे एक-एक वाक्य प्रमाणभूत है और जिस रूपमे कहा उस रूपमे प्रमाणभूत है केवल उपचारभाषामे। अज्ञानका बडा दुःख उठाना पडेगा। तुम्हारे हितकी बात स्वभावदर्शनकी उमग तो सब जगहसे मिल जायगी। प्रमाणसे सब निर्णय करके एक स्वभावदृष्टिको मुख्य बनाकर उसीमे उतर जावो, कल्याणका मार्ग है, मगर अज्ञानी बनकर स्वभावदृष्टिमे उतरो तो धोखा है। यदि ज्ञानी बनकर समस्त अन्य भावोकी उपेक्षा करके स्वभावदृष्टिमे उतरो तो वहा धोखा नही है। जिन प्रमाण और नयोसे वस्तुस्वरूपका अधिगम होता है तो क्या वे प्रमाण आदिक भूठ है ? क्या नय भूठा है ? क्या भूठ उपायसे सच्चा ज्ञान बन सकता है ? यद्यपि अभूतार्थनयसे भूतार्थका सकेत होता है

सो अभूतार्थ भी झूठ नही है । सत्य उपाय करना है तो सत्य उपाय चाहिए । वह उपाय ये दोनो है—प्रमाण और नय । प्रमाणमे हैं ५ ज्ञानविशेष और नयमे है ७ नय—नैगमनय, सग्रहनय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढनय, एवभूतनय । कोई प्रमाण असत्य है क्या ? नही । कोई नय असत्य है क्या ? नही । असत्य है तो केवल उपचार । और इस उपचारको कभी व्यवहार देकर कहते है तो वह भी असत्य । वह व्यवहार भी उपचार ही है, पर प्रमाण और नयके अशरूप जो द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक आदिक है इनमे कुछ भी असत्य नही है । निर्णय ठीक बनावें और जहाँ हित मिलता है उसकी ओर निःशक होकर लग जावें । कोई पुरुष जैसे कोई लडके वाला किसी लडकीके घर गया । उसके ५ लडके थे । सगाई करनी थी उसको बडे लडकेकी । चूँकि प्रयोजन बडे लडकेसे है सो रुचिपूर्वक देख रहा है और उससे विशेष प्रेमसे भी बोलता है, उसका आदर करता, उसका प्रसग रखता और चार लडकोका ख्याल नही रखता, तो ठीक है, मत रखो, काम तो इससे है ना, मगर वह यह कह बैठे कि ये चार लडके झूठ हैं, ये मिट्टीके पुतले है, लडका तो यही एक है, सच तो यही है तो क्या वे ४ लडके झूठ हो जायगें ? अरे लडके तो हैं अभी और चार, पर उसे तो इस बडेसे मतलब है । अच्छा है, सुशील है, उस बडे लडकेकी रुचि लगायगा । ऐसे ही द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनयके जो भी तत्त्व आगममे बताये हैं उनमे से मुक्ति चाहने वाले पुरुषोको स्वभाव रुच रहा है । स्वभावसे सगाई करें, स्वभावसे नाता लगावें । स्वभाव ही एक बडे प्रशसाके रूपमे नजर आ रहा है । स्वभावमे ही उतरो, स्वभावमे नि शक जावो, मगर यह तो न कहना कि पर्याय मिथ्या है, है ही नही पर्याय । ऐसा कहने वाले तो सम्वेदनाद्वैतवादी है । दर्शनोको पढनेसे यह ध्यानमे आयगा कि हम स्याद्वादसे यहाँ बाहर जा रहे और इस दर्शनमे पहुच रहे ।

अपूर्ण ज्ञानपरिणमनोके परिचयसे निरहङ्कारताकी शिक्षा—प्रसगमे यह कहा जा रहा है कि प्रमाण और नयोसे अधिगम होता है । इसमे प्रमाण ये ४ ज्ञान है । ऐसे इन ५ ज्ञानोमे प्रमाणता कितनी है ? जो ज्ञान जितने विषयको जानना है उतने विषयमे प्रमाण है । अनधिकार चेष्टा कोई करे तो उसकी तो दुर्दशा होगी । भले पुरुष सज्जन पुरुष अनधिकार चेष्टा नही करते । सम्हलकर रहते है । जिस ज्ञानका जिस विषयमे अधिकार है उसको उस विषयमे प्रमाणता है अन्य विषयमे प्रमाणता नही है । काँच आते है ऐसे, जिनमे अपना प्रतिबिम्ब उतरता है, कितनी तरहके काँच होते ? किसीमे लम्बा प्रतिबिम्ब हो जाता है जिसको देखकर हँसी आयगी, किसीमे ठिगना, किसीमे चौडा । अजायब घरमे देखा होगा । निर्णय करो कि असलमे जिसका प्रतिबिम्ब है वह कैसा क्या है ? एक देखो सामान्य आकार-प्रकार, अङ्गोपाङ्ग, वह तो प्रमाण, पर लम्बाई-चौडाईकी बात कोई बनाये तो नही बनती । देखिये कितना हम आप लोगोके ज्ञानकी पोलें खोली जा रही है कि हम आपके कितनी पोल बसी

है ? जिसपर घमड इतना करते कि सारी दुनिया कुछ है । जो हू सो मै हू, उस ज्ञानकी बात चल रही कि वह ज्ञान कितना अधूरा है ? केवलज्ञानसे पहले सब ज्ञान अधूरे रहते है और तभी तो इन जीवोके अज्ञान भाव बताया हे । केवलज्ञान हो तो अज्ञानभाव नष्ट होता है । केवलज्ञान जब तक नही तब तक अज्ञानभाव है । अज्ञानभाव दो प्रकारके होते है—एक तो मिथ्यात्व वाला और एक उदय वाला । तो जो औदयिक अज्ञान है वह १२वें गुणस्थान तक है । निर्णय अपनेको क्या बनाना ? जो मेरेमे परिणमन होते उन परिणमनोके निर्णयमे हमे अधिक नही जाना है, पर थोडा समझ लेना है । परिणमन समझे बिना स्वभाव समझ मे न आयगा । प्रयोजन तो न रहा वह, किन्तु उसके परिचयका भी प्रयोजन स्वभावपरिचय है और फिर अपादान दृष्टिसे देखें कि ये सब ज्ञान किस ध्रुवमे निकल रहे है ? वह मेरा है यह चैतन्यस्वरूप । भूतार्थ पद्धतिसे समझनेका तरीका यह है कि उसके अपादानका परिचय कर लें कि यह आस्रव निकला है तो किससे निकला, यह बध निकला तो किससे निकला, यह शुद्ध परिणाम निकला तो किससे निकला, जिससे निकला उसका परिचय बनायें, यह पद्धति भूतार्थकी ओर ले जायगी ।

अन्तिम एक लक्ष्य बनाकर उसकी धुनमे प्रवर्तन करते हुए भी लक्ष्यका सतत आमन्त्रण— ये सब चैतन्यके परिणमन है, ज्ञानके परिणमन है, पर ये सब अधूरे है । अपना लक्ष्य बनावें एक । जैसे बम्बई जानेका किसीका लक्ष्य हुआ है, मानो ग्वालियरसे बैठे तो सीधे बवई पहुच गए । रास्तेमे अनेक स्टेशन बडे सुहावने लगते है । कही चित्र खिचे है, कहीं झडियाँ लगी हैं, कही वृक्षबेल खडी है, कही अच्छे अच्छे फूल खिले है, तो किसी स्टेशनको सुहावना देखकर कोई मुसाफिर उतर जाता है क्या ? उतरता तो नही । इतने समझदार तो सभी लोग है । कदाचित् किसी प्रयोजनसे नीचे उतरना भी पडे, मानो चाय पीना है या पानी पीना है या मिठाई खरीदना है या यो ही टहलना है तो बस थोडासा रुकते और ज्यो ही गाडी चलनेको होती कि झट अपनी सीटपर आ जाते हैं । तो इसी तरह अपना ध्येय बनायें कि हमको तो केवल शुद्ध होना है, मुक्त होना है तो उन मुक्त होनेके पौरुषमे बीचमे अनेक बातें आयेंगी । कुछ तप, व्रत सयम आदि अनेक आचरणकी बातें करनी होगी । यश, प्रतिष्ठा आदिक कुछ लुभावनी चीजें भी सामने आयेंगी, पर क्या उन बीचके स्टेशनोंमे उतरना है ? क्या उनमे रमना है ? अरे प्रयोजनवश उतर जायें, पर झट अपनी ज्ञानधारा रूपी ट्रेनपर आ जावें । जब अपनी मजिलमे पहुचनेका काम पडा है तो बीचके स्टेशनोमे उतरो, मगर रमो मत । तो उस मजिल तक पहुचनेके बीच ये मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान और इनके नाना भेद प्रभेद ये सब बातें आती है और समझो कि ये हमारी प्राप्तव्य मजिल नही । अनेक ऋद्धियाँ पैदा होती हैं, जिनके ज्ञानऋद्धि भी है,

अन्य ऋद्धियां भी है, पर उनमे भटकना नही। साधु-सतोको तो प्रकट भी नही रहता कि हमे क्या ऋद्धि मिली ? कुछ प्रयोजन ही नही है। जो प्रयोजनका विकल्प रखता है सो गिर जाता है। जब १०वाँ विद्यानुवाद पूर्ण सिद्ध होता है तो वहाँ सैकडो विद्या महाविद्या देवियो के रूपमे आकर प्रार्थना करती हैं मुनि महाराजसे और वहाँ वे चिग जायें तो बस गिर जाते हैं और नही चिगते तो आगे बढ जाते हैं। तो ध्येय बनावें एक लक्ष्यमे चलें और इस व्यवहारमे विरोध खिचाव फर्क ये बातें नही लेना है। ये बेकारकी बातें है। तुम इतना करते तो बहुत अच्छा, तुम इतना कर पाते बहुत अच्छा। यहांकी बातोमे अटक जायें तो, दूसरेकी क्रियामे अटक जायें तो खुदका पतन किया। सब प्रमाण है। किसीको विशेष ज्ञान नही है तो उसका भी व्रत तप सराहनीय है, किसीको ज्ञान विशेष है तो उसका भी तप व्रत सराहनीय है। कोई विरोध करके अपने ज्ञानको क्यो अपात्र बनावे ? अपने भीतर लक्ष्य बने, अपनी धुनमे चलें, बाहरमे सब अच्छा, कोई बुरा नही। धर्मके नामपर जो जितना करता है वह अपनी पदवीमे भला करता है। जो कम ज्ञान रखता है उसे सम्हालो, आगेकी बात सिखाओ, उसे दुतकारो नही। क्या कहलाता है वात्सल्य अग और क्या कहलाता है स्थितिकरण अग ? अभी सम्यग्दर्शनकी व्यवहारस्थितियोका भी पालन नही हुआ तो फिर हम क्या बने धर्मपालक ?

इन्द्रियज ज्ञानोका अपने विषयमे देशतः प्रामाण्य—"तत् प्रमाणे" इस सूत्रमे यह बताया जा रहा है कि वह ज्ञान दो प्रमाणरूप है। इसमे दोनो तरफसे निश्चय बनाना है। ज्ञान ही प्रमाणरूप है, अज्ञान नही। और वह ज्ञान मूलमे दो प्रमाणरूप ही है। मूलमे नाना भेद नही है। तो ज्ञानकी प्रमाणताके बारेमे वर्णन चल रहा है कि हम आपको जो ज्ञान बनता है वह ज्ञान पराधीन है और अधूरा है। इस ज्ञानमे अहकार न करें, इसमे सतोष मत बनावें। यह तो परिस्थितिवश इनमेसे गुजरनेकी बात है। देखो स्पर्शन इन्द्रियसे कोई चीज जानते है तो वहाँ बहुत गडबडी मिल जाती है। कोई बीमार आदमी है, बुखार चढा है और वैद्य उसकी नाडी देख रहा है, वैद्यको तो लग रहा है उसका हाथ गरम और उस रोगी को लग रहा है वैद्यका हाथ अधिक ठडा। अच्छा यह बताओ कि जितना ठडा हाथ वैद्यका लग रहा है उस रोगीको क्या उतना ठंडा वह हाथ है ? नही। यह स्पर्शनइन्द्रिय भी सामान्यतया तो प्रमाण है, पर उसके अशोको निरखा जाय तो प्रमाणता नही ला सकते। अधिक गरम पानीमे आपका हाथ डूबा हो, दिख रहा हो और उसके बाद फिर कम गरम पानीमे हाथ डालें तो आपको गरम मालूम होता है या ठडा मालूम होता है ? ठडा मालूम होता है। तो अब सामान्यतया तो निर्णय बनाते है और उनके अग-अंशका निर्णय देखने चले तो वहाँ ज्ञानप्रमाण न रहेगा। कभी-कभी लोग त्यागियोके सामने थोडी मिर्च डाल देते हैं, जो कि

गृहस्थ जनोको तो थोडी है, मगर त्यागियोको तो लगता है चरपरा बहुत अधिक और गृहस्थ जन उस मिर्चकी शाकको खाते है तो उन्हे चरपरा नही लगता, सो कहते जाते कि इसमे और मिर्च डालो, अजी इसमे बिल्कुल थोडी मिर्च पडी है। खाने वालेको तो थोडी है, चरपरा भी नही है और उसे तो उसके चरपराहटमे यह आकुलता है कि कुछ डाला ही नही है। तो चरपरेका ज्ञान करके दोनो बताओ सही चरपरा क्या है, कितना है? सामान्य ज्ञानमे तो प्रमाणता आ गई, अगर उसके अश-अशकी जानकारीमे दखल दें तो यह अधिकार नही बन पाता। घ्राणेन्द्रियका विषय निरखिये—किसीको कोई चीज मानो हीग खाने वालेको हीग मे सुगध मालूम होती और न खाने वालेको दुर्गन्ध लगती। सामान्यनया गधके ज्ञानमे तो प्रमाणता आयी, पर कितनी गध है, कितनी सुगध है, ऐसी अशके परिचयमे बात नही बनी। चक्षुरिन्द्रियकी बात तो पहले बता ही दी गई थी पहिले उदाहरणमे। श्रोत्र इन्द्रियका ज्ञान भी ऐसा ही बोध रखता है। बाहरके शब्द सुना, पासके शब्द सुना तो उसमे अन्तर है। तो शब्द मात्र सुने इतनेमे प्रमाण है। तो बात यह कह रहे हैं कि जिन ज्ञानोपर हम आप घमड किए रहते है, गाल फुलाये रहते है, आँख मुँह चढाये रहते हैं, हम तो खूब बुद्धिमान हैं, हम ने सब कुछ सीख लिया, हम उस अहकारके आगे ज्ञानीका, साधु-सतका अपमान करते है, तो ध्यानमे लावो कौनसा ऐसा ज्ञान पाया जो घमडके लायक है? भैया! देखो, पर्यायको देखकर तो अपनेको गरीब मानो और स्वभावको निरखकर अपनेको सम्पन्न मानो, पर स्वभावके तो गरीब बन रहे है, पर्यायके अमीर बनना चाहते हैं तो कैसे कल्याण हो? तो इन्द्रियज ज्ञानमे ऐसी बात है।

श्रुतज्ञानमे प्रायोजनिक ज्ञानके साथ अनायास अनेक अप्रायोजनिक बोध—श्रुतज्ञान मे भी देखो, शास्त्रमे जान लिया कि भरत और बाहुवलिका युद्ध हुआ था, इतना ही जाना कि और कुछ? पर इस ज्ञानके साथ पूरा नक्शा ज्ञानमे आ जाता है। यह खडे भरत, यह खडे बाहुबलि, इस तरफ इनका मुख है, इस तरफ इनका मुख है, चित्रमे कल्पनामे वे सब बातें आ गईं ना, तो क्या ऐसा था मुख? कल्पनामे आया कि पूरबकी तरफको मुख भरत का और पश्चिमकी तरफको मुख बाहुबलिका, मगर इसका क्या पता? मगर यह ज्ञान करने वाला तो ऐसा एक ज्ञान बना रहा कि यह नियत्रणमे ही नही रहता। कल्पना कर गए। अखबारमे पढा, मानो बम्बईमे दो पहलवानोका दगल हुआ उसमे यह जीता, ऐसा समाचार अखबारमे देखा तो इतना देखनेपर बम्बई उसके सामने है और पहलवान भी उसके सामने है। हैं नही, पर कल्पना कर ली। कुछसे कुछ अपनी कल्पना बनाता, एक साँवला है, एक गोरा है, ठिगना है, समाचार तो उतना ही अखबारमे पढा था कि दो पहलवानोका दगल

हुआ और इतना विशेष ज्ञान कर लिया। अब जितना यह रूप बनाया उतनेको बोल सकते क्या, ऐसा ही सही है, पर प्रयोजनकी बात, प्रयोजनको छोडकर आप यदि बालकी खाल देखेंगे तो काम न बनेगा।

जैन आगमोंके कथानकोकी प्रमाणता—जैन ऋषि सत बडे परमप्रतापी व दयालु थे। उनकी कलम कभी खोटी बातके लिए नही चली। और अब ऐसे मूढ उत्पन्न हो रहे स्वच्छन्द बनकर अपनी जीभको हिलानेमे सकोच भी नही करते। अरे वह तो कथानक है, यो ही है। अरे जिनसेनाचार्य आदिक आचार्य, जिन्होने आध्यात्मिक ग्रथ भी बनाये है, करणानुयोगमे जिनकी गति रही उन्होने अगर कथा कही है तो उसमे भी एक बालकी खाल निकालना, यहाँ ऐसा लिखा वहाँ वैसा लिखा। इसमे ऐसा वर्णन किया, शृ गारका, वीरका, अमुकका। ऐसे श्रद्धाहीनकी क्या दशा होगी ? अरे उद्देश्य होता है प्रयोजनको लेकर। प्रयोजन देख लो—अगर राम लक्ष्मणका, सीताका चरित्र है तो उसमे अधिक वर्णन है। जो होना चाहिये। अब उस वर्णनमे किसी बातको सामने रखकर सारे ग्रन्थोको झूठ कहनेकी व जीभ हिलानेकी कोशिश करना यह गुण्डागिरी नही है क्या ? प्रयोजनमे फर्क आये तो वहाँ जीभ हिलावो। प्रयोजन यह है कि शीलव्रत वैसा रखना चाहिए जैसा कि उस सीताका रहा, व्यवहारमे मर्यादा ऐसी रखनी चाहिए जैसी कि श्रीरामने रखी। थोडेसे प्रयोजनके लिए आडम्बर अधिक बोलना पडता है। नही तो बताओ लडका-लडकीका विवाह कितनी देरमे होता है ? मुश्किलसे एक डेढ मिनट लगते होगे, जब फेरे फिर रहे उसीका नाम तो विवाह है। अब कोई कह कि ज्यादा नटखट क्यों करते ? वही एक-डेढ मिनटका प्रोग्राम बना दो। कही भी लडका लडकी मिल गए, बस वही चक्कर घुमा दिया, हो गया विवाह। आजकल तो कही-कही मात्र जयमाला डालकर ही विवाह होने लगे है। बताओ उस तरहके विवाहमे कितनी देर लगती ? पर एक मिनटके ही मात्र प्रोग्रामसे विवाह करनेमे बडा अनर्थ होगा। इसमे फिर विवाह करनेका कुछ महत्त्व न रहेगा और फिर वह शील व्रत, आज्ञाकारिता या व्यवहारकी जिम्मेदारी या जो-जो व्यवहार है वह सब खत्म हो जायगा अगर आपने विवाहकी प्रथा एक-आध मिनटकी रख दी तो। और जब विवाह करनेमे कुछ दिन या घटा लगते—अब बारात आयी, अब यह हो रहा, अब यह हो रहा, मन्दिरके अन्दरमे विधान है, अमुक है, अमुक है, और उसकी ६ महीना पहलेसे तैयारी होती, तो ऐसा होने वाले विवाहका कितना महत्त्व बढता है ? विवाहका प्रभाव रहनेमे शीलव्रतकी परम्परा निभेगी। वहाँ व्यवहार, नीति रीति, डर, भय, सकोच, सदाचार, शील आदिक सबको रक्षा है। अब कोई कहे कि जब रामके चरित्रमे इतनी ही बात दिखाना था किसी सीताका जैसा शील और रामकी जैसी मर्यादा तो उसे एक ही श्लोकमे लिख देते तो बताओ उसका कुछ प्रभाव भी पडता क्या ?

लोगोका कुछ अध्ययन भी बनता क्या ? तो जैन आगमका कोई भी शब्द निरर्थक नही है। मान लो रुचिके अनुसार कोई शब्द अधिक मालूम होता तो तुम एक भक्ति रखकर अपनी रुचिके अनुसार अपने मननीय तत्त्वमे लग जावो, पर अभक्तिका, अश्रद्धाका पाप न करो, अपने प्रयोजनमे रहो, उद्दण्ड मत बनो। उद्दण्डता बुरी चीज है और प्रमाणसे यथार्थता जान कर अपने प्रयोजनमे लगे रहना इसमे हानि नही हैं।

श्रुतज्ञानके देशतः प्रामाण्यका दिग्दर्शन—श्रुतज्ञानमे भी देखो बहुत-बहुत प्रकारके परिचय हैं। पर प्रायोजनिक अशकी अपेक्षा प्रमाणता है और बडे-बडे अप्रायोजनिक अशोकी भी कल्पना हो रही, उस ओरसे इसका क्या मतलब ? वह प्रमाण नही है, न सही। एक पुरुष जिसने अपना बब्बा नही देखा, पैदा होनेसे दो ही साल पहले मर गया और जब कोई बच्चेसे चर्चा करते है ना ८-१० वर्षके बालकसे भी कि तुम्हारा बब्बा ऐसा था, बहुत श्रम करता था और सबकी याद रखता था तो बच्चा भी कल्पनामे तो ला ही देगा कि ऐसी मूछें ऐसा सिर, कुछ कल्पनामे तो आयगा। अब कल्पनामे जैसा सिर आया, जैसा हाथ आया, जैसा पेट आया है वैसा है कि नही, क्या पता, वह हो न हो, प्रायोजनिक ज्ञानमे प्रामाण्य है ही। हाँ, प्रमाण ज्ञानके साथ अप्रमाण ज्ञान भी बहुत चलता रहता है, पर प्रयोजनकी दृष्टिसे प्रमाणकी व्यवस्था है। अच्छा आप लोगोमे से किसीने मेरूपर्वत तो नही देखा, और जब जानते हैं ना, भगवानका जन्म हुआ, ऐसे देव आये, ऐसे गाजे-बाजेसे ले गए। मेरूपर्वतपर ले गए और वहाँसे क्षीरसमुद्र तक फैले, वहाँसे पानी लाये, हवन कराया और फिर घर ले आये। सुन तो रखा ना। तो सुनकर ही लोग रह जाते क्या ? अरे वे तो अपने चित्तमे मेरूपर्वत खडा कर देते है। और ऐसे जा रहे, ऐसे रगकी ऐसी सवारी, ऐसे फिर रहे, कितने ज्ञान होते रहते हैं, पर उसमे प्रयोजन जितना है उतनेमे तो प्रमाणता है, मगर ऐसा हो फिरना, ऐसे ही भगे क्षीरसागर जैसे कि हमारे मनमे चित्र खिच रहे हैं इनमे क्या प्रमाणता ? तो बात यह कह रहे है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अपने विषयमे भी एकदेशरूपसे प्रमाण हैं। जो गर्व करे अपनी वर्तमान बुद्धिमानी चतुराईमे सो मूर्ख है। गर्वके लायक यहाँ कुछ नही है। किसी बडे पुरुषको देखकर छोटा पुरुष गर्वमे तो नही आता। यहाँ तो बडे धनिक को देखनेकी आदत बन रही है और यहा ज्ञानमे क्यो नही आ पाता बडा ज्ञानी केवली प्रभु उसे देखकर चलें, उसमे सम्पन्नताको होड क्यो नही मचाते ? सम्पन्न है तो स्वभाव या केवलज्ञान, बीचकी बातें ये सम्पन्न नही।

ममता अज्ञानताकी बिडम्बनाका एक दृष्टान्त—दो मूर्ख कही जा रहे थे तो रास्तेमे एक बुढिया मिल गई। उन दोनो मूर्खोंने कहा—राम-राम, तो बुढियाने कहा बेटा सुखी रहो। अब वे दोनो आगे निकल गए। वहाँ उन दोनोमे लडाई होने लगी—एक कहे कि बुढियाने

हमे आशीर्वाद दिया, दूसरा कहे कि हमे आशीर्वाद दिया। दोनोमे झगड़ा हो गया तो दोनो मे यह सलाह हुई कि चलो लौटकर चलें उस बुढियाके पास और उसीसे पूछ लें कि तुमने आशीर्वाद किसे दिया ? पहुचे बुढियाके पास और पूछा—बुढिया माँ बताओ तुमने आशीर्वाद हम दोनोमे से किसको दिया था ? तो बुढिया बोली—तुम दोनोमे से जो ज्यादा बेवकूफ होगा उसीको हमने आशीर्वाद दिया। तो अब वे दोनो इस बातमे झगडने लगे कि हम अधिक बेवकूफ है। एक कहे कि हम अधिक बेवकूफ दूसरा कहे कि हम अधिक बेवकूफ। बुढियाने पूछा—कैसे ? तो एक बोला—देखो हमारे दो स्त्री है। तो एक बार हम सीढीसे अटारीपर चढे, तो एक स्त्री तो थी ऊपर और एक थी नीचे। तो एक स्त्रीने ऊपरसे हमारा हाथ पकडकर ऊपरको खीचा, उसका कहना था कि ऊपर आओ और नीचेसे एक स्त्रीने हमारा पैर खीचा, उसका कहना था कि नीचे आवो। तो इसी खीचातानीमे देखो हमारी टाँग टूट गई। हमे था दोनो स्त्रियोमे प्रेम, सो हमने किसीको डाट-डपट तो दिखाया न था, तो देखो हम कितने बेवकूफ निकले ? तो बुढिया बोली ठीक है, तुम बेवकूफ हो। अब दूसरेसे कहा कि तुम अपनी बेवकूफीकी बात कहो, अच्छा सुनो—देखो मेरे भी दो स्त्रियाँ हैं। सो एक बार मै पलगपर लेटा हुआ था। हमारे सिरहाने एक आलेमे सरसोके तेलका एक दीपक रखा हुआ था। हमारे दोनों तरफ दोनो स्त्रिया पडी थी। हमारे एक हाथपर एक स्त्री अपना सिर रखे सो रही थी और दूसरे हाथपर दूसरी स्त्री सिर रखे सो रही थी। वहा हुआ क्या कि एक चूहेने जलती हुई दीपककी बत्ती खीची और दौड लगाई तो उसके मुखसे छूटकर वह जलती हुई बत्ती हमारी आखपर आ पडी। अब मैने सोचा कि यदि मैं आखपरसे इस बत्तीको दाहिने हाथसे उठाता हू तो इस स्त्रीके आराममे फर्क आ जायगा और यदि बायें हाथसे उठाता हूं तो हमारी इस स्त्रीकी निद्रा भग हो जायगी, सो उनको कष्ट होगा। ऐसे अनुरागके कारण मैने वह बत्ती न उठायी सो देखो मेरी यह आँख फूट गई। सो देखो मैं कितना बेवकूफ हूं ? तो बुढिया माँ ने कहा—बेटा हमने तुम दोनोको आशीर्वाद दिया। तो जगतमे जो मोह करता, गर्व करता, मूढतामे होड लगाता वह तो दीन गरीब प्राणी है।

शुद्ध भावना रख कर आत्मोद्धारमे पौरुष करनेका अनुरोध—हम यदि स्वभावदृष्टि का रूप रख रहे है। देखो अपनी बात खुद गवाह दे देती है कि तुम्हारा ध्यान किस ओर बना रहता है ? अगर हमारा ध्यान एक चैतन्यस्वभाव अपने सहजस्वरूपकी ओर रहा करता है, उसकी ही धुन रहती है, उसका ही सारभूत होनेका चित्तमे ख्याल रहता है तब तो हमारा सुधार है। जिससे कि हमारा सत्समागम सार्थक है और ऊपरकी बातमे जो रहता है, चाहे वह ज्ञानचर्चाकी ही बात क्यो न हो, इसमे हम यह कहते कि ये तो हमारे विरोधी हो गए। यो कषाय शल्य रखने वाले लोगोकी दुर्दशा ही परिणाम है। अरे-अरे अपने

इस उपयोगको इस ज्ञानसमुद्रसे हटाकर रेतीली जमीनमे क्यो उचका रहे ? कोई मछली समुद्रसे उछलकर रेतीली जमीनमे गिरे तो उसकी खैर है क्या ? नही है खैर, ऐसे ही अपने इस ज्ञानस्वभावसे हटकर बाहरी-बाहरी पदार्थोंमे तफरी करनेके उद्देश्य वाली तत्त्वचर्चावोमे, विषयोमे हमने उपयोगको लटकाया, फिकाया तो इसमे कुशलता नही है। जरा सब जीवोंके ज्ञानस्वभावको निरखकर एक बार तो सबमे एकरस हो जावो। न यह देखो कि यह एकेन्द्रिय है, न यह देखो कि यह कीडा मकौडा है और न यह देखो कि यह अमुक है। एक बार तो उन सब जीवोमे चैतन्यस्वभावका आश्रय कर अन्तः एकरस तो हो जावो। ऐसी मित्रता बनाओ। आदमियोकी बात तो दूर रहे सर्व जीवोसे मित्रता हो। और फिर देखो चार भावनायें कही गई है—सब जीवोमे मैत्रीभाव रखना, गुणियोमे प्रमोद रखना, दीन-दुखियोके प्रति दया रखना, उजड्ड, गुण्डा, वदमाशोके प्रति मध्यस्थता रखना। आप इन चार बातोका पालन करें तो इसमे आपकी सुरक्षा है। सर्व जीवोके प्रति मित्रताका भाव हो, सब मेरे बिरादरीके है, सब जीव चैतन्यस्वरूप ही तो हैं, और ज्ञानियोको देखकर हर्ष हो। क्यो जी, सब जीवोको देखकर मित्रताका भाव किसके नही होता ? जो पर्याय बुद्धि वाला है, जिसको देहमे अहकार है, यह ही मै हू, मैं अच्छा हू, ऐसा जीव सब जीवोमे मित्रताका भाव नही रखता और ज्ञानियोको देखकर प्रमोद किसे नही होता ? जो ज्ञानवान हो, चारित्रवान हो उनको देखकर हर्ष किसके नही होता ? जो मूढ है, मूर्ख है, जिनको अपने इस वर्तमान पर्यायपर गर्व है और जिसने अपनेको समझ रखा कि मै उच्च हू, उसकी निगाहमे गुण कुछ चीज नही। फिर गुणी जनोको देखकर उसे हर्ष कैसे होगा ? जो खुद आत्मसेवाप्रेमी है, जिसको गुणोका लक्ष्य बना है, जिसको गुणोका अदाज है वह गुणोको देखकर हर्ष बिना रह नही सकता। गुणार्थी बने जिससे कि गुणियोमे प्रमोद बने। दोषार्थी रहेगे तो घृणा बनेगी और उस दोषार्थीके उपयोगपर घृणा लदेगी, वह स्वानुभवसे कोसो दूर रहेगा। तीसरी भावना क्या है ? दीन-दुःखियोको देखकर दयाका भाव आना। जितनी सामर्थ्य है उतना तो दुःखियोका दुःख दूर करें। कोई किसीपर दुःख आये, हम उसका पूरा सहकार नही कर सकते तो कुछ तो करें। कोई दुःख सामने है तो थोडा सहकार उसका कर दें। अपनी दयाकी प्रकृति बना लें और जो उजड्ड हैं, जिनकी वृत्ति है अज्ञानकी, दरिद्र हैं, साधु-सतसे घृणा रखते है, बुद्धिका दिवाला जिनके है ऐसे लोगोमे रागद्वेष तजकर मध्यस्थ भाव रखें। देखो जी जो उजड्ड है, गुण्डा है उनमे राग करो तो आफत और बैर करोगे तो आफत, इसलिए मध्यस्थता बताया है। ऐसा अपना जीवन बनावें। अपना उत्थान जिसमे हो वह तरकीब बना लें।

मति श्रुतज्ञानके एकदेशतः प्रामाण्यकी समझका प्रतीतिसे अविरोध—हम आपके यहाँ जो परिणमन चलते हैं, पर्यायें हो रही है, उनमे सार कुछ नही है। वे सब अधूरी बातें

है। प्रमाणमे क्या कहा गया कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान—ये दो तो अपने विषयमे भी एक देशप्रमाण है। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान– ये दो अपने विषयमे पूर्ण प्रमाण है और केवलज्ञान सर्वविषयोमे सर्वप्रकार प्रमाणभूत है। देखो अपनी-अपनी प्रतीतिसे भी समझ लो। कोई विरोध नही। जिनकी दृष्टिमे कोई विकार नही, आँखें साफ है उनको जैसे चन्द्र सूर्य दीखा तो आँखो देखा ना, प्रमाण है ना ? प्रमाण है। अब कितना छोटा है, कितना बडा है, कितनी दूर है, यह उससे यथार्थज्ञान नही बना। तो उस चन्द्रकी जो एक मोटी रचना है और उसकी चमक है उतने ज्ञानमे तो यह दुष्ट प्रमाण है हमारा ज्ञान, मगर कितना लम्बा, कितना चौडा, कैसा माप, उसमे जो चाक्षुषज्ञानमे जच रहा वह पुष्ट प्रमाण नही। तो मति-ज्ञान और श्रुतज्ञान अपने विषयमे एकदेश प्रमाण है, ऐसी प्रतीति सभी मनुष्योको बराबर बन रही है।

प्रमाणकी प्रमाणताके परिचयके चिह्न—प्रमाण समझनेके हमारे चार तरीके है। तीन तो विधिरूप और एक निषेधरूप। हमारा यह ज्ञान प्रमाण है, इसका निश्चय करने वाले तीन तो है विधिके उपाय और एक है निषेधका उपाय। जानकारी हो रही और अन्य प्रमाणोसे भी वैसा ही जाना गया, और लोगोने भी ऐसा जाना। इससे जान लिया कि मैंने जो जाना वह सही जाना। इसे कहते है प्रतिपत्ति। ज्ञान सम्वादक है, प्रमाणभूत है। इसका पहला चिन्ह है प्रतिपत्ति। हम जान रहे है, फिर और ज्ञानियोने उसे जाना, तब जाना कि हाँ बराबर प्रमाणभूत है और दूसरा चिन्ह है प्रवृत्ति। जो जाना उसके अनुकूल अपनी प्रवृत्ति होती है। जाना कि पानी है तो चलते है पानीके पास। जाना कि आग है तो हटते हैं अथवा रोटी बनानेको उसके पास पहुचते हैं। तो यह जो हमारी प्रवृत्ति बनती है यह प्रमाणताका चिन्ह है कि जो ज्ञान हमने जाना वह प्रमाणभूत है। तीसरा चिन्ह क्या है ? प्राप्ति। जैसा जाना वैसा मिल गया। बताओ उसकी प्रमाणतामे क्या सदेह रहा ? तो ये तीन तो है विधिरूप चिन्ह और चौथा है अभावरूप उपाय, वह क्या बाधकका अभाव ? जो जाने उसका ख्याल बताने वाला कोई ज्ञान न मिले तो समझो कि प्रकृत ज्ञान ठीक ही है। तो इस तरह हमारे ज्ञानोमे जो सापेक्ष प्रयोजनकी बात सामने आती है उतनेको तो हम ठीक ही जानते है। पर उस वस्तुके विषयमे यह प्रमाण नही बना। इस प्रकार यह ज्ञान हमारे प्रयो-जनके प्रसगमे सम्वादको लेकर प्रमाणभूत होता है। इस तरह प्रमाण ज्ञान ही होता है, अज्ञान प्रमाण नही कहलाता। इस तरह इस प्रसगमे यहाँ तक यह व्यवस्था बतायी कि सर्व ज्ञानोमे केवलज्ञान सर्वथा प्रमाण, अवधि, मनःपर्ययज्ञान अपने विषयमे पूर्णप्रमाण और मति-ज्ञान, श्रुतज्ञान अपने विषयमे एकदेश प्रमाण है। हम आप लोग मतिज्ञान, श्रुतज्ञानके अधि-कारी हैं और वे सब अपूर्ण है। हम उस ओर कुछ सम्पन्नताकी दृष्टि न दें और बालकोकी

तरह गर्वरहित हो। बालकोमे कहाँ ज्ञानका घमड होता ? उनको तो जाननेकी जिज्ञासा रहती है। जाननेके लिए वे लालायित रहते है, जो समझमे आ गया उस ओर बढते है। तो इस प्रकार अपने अपूर्ण ज्ञानपर्यायकी बात समझकर वहाँसे दृष्टि हटाकर एक सम्पन्न जो मेरा ज्ञानस्वभाव है उसको अपनाओ। उसमे यह मै हू—ऐसी प्रतीति बनाओ, अनुभव बनाओ।

मतिज्ञान व श्रुतज्ञानकी देशतः प्रमाणताका स्मरण– चर्चा यह चल रही है कि हम आपके मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अपने विषयमे एकदेशरूपसे प्रमाण है। देखो यहाँ यह भी न बोलना कि जो देशनात्मक श्रुत है, द्रव्यश्रुत है, आगम है, भगवानकी दिव्यध्वनिकी मूल परम्परासे चला आया हुआ है, गणधरदेवने जिसका व्याख्यान किया है तथा द्वादशागकी रचना की है और आचार्योंने जिसको विशेष विस्तारमें लिखा है वह सब पूर्णरूपसे प्रमाण है। वहाँ एक देश वाली बात नही है, किन्तु हम जो समझ पाते है उस समझकी बात कह रहे है कि हमारा जो श्रुतज्ञान है वह अपने विषयमे एकदेश प्रमाण है। इस सम्बधमे बहुत कुछ वर्णन किया गया व दृष्टान्त भी अनेक दिए गए। अब इन सब विवरणोको सुनकर जिसमे यह बताया गया था कि जिसकी दृष्टियाँ निर्मल है, आँखमे कोई दोष नही है वह जैसे चन्द्र सूर्यको देखता है तो देखो चन्द्र सूर्य ऐसे है, बहुत ऊपर है, आकाशमे है, यह सब ज्ञान तो प्रमाणभूत है, पर वह कितना बडा है, कितना चौडा है, इस बातमे हमारे ज्ञानकी प्रमाणता नही बन पायी और इस-इस तरहसे अनेक दृष्टान्तो द्वारा सिद्ध किया गया कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान एक देशरूप प्रमाण हैं।

मिथ्या ज्ञानोकी स्वरूपमे व अल्पाशमे प्रमाणताविषयक चर्चा—उक्त बातको सुनकर अब शकाकार क्या कहता है (यह एक कुछ नया विषय है, ध्यानसे सुनो) कि जब यह बताया कि इन ज्ञानोमे कुछ-कुछ अशोमे प्रमाणता आती है, तो सभी ज्ञान ऐसे ही होने चाहिएँ। स्वप्नमे जो दीखा, पीलिया रोग वालेने जो समझा या कभी चकाचौंध लगती है उस समय जो कुछ निरखा गया उन ज्ञानोको तो लोग झूठ ज्ञान कहते हैं ना ? जो स्वप्नमे देखा गया वह ज्ञान झूठा है। पीलिया रोग वालेको सब चीजें पीली ही पीली दिखी। कितना ही सफेद बगला है, मगर पीलिया रोग वालेको तो पीला ही नजर आता है तो ऐसा ज्ञान झूठा है ना, तो ऐसे भी झूठे-झूठे ज्ञान है उनमे भी एकदेशसे प्रमाणता क्यो न मान ली जाय ? अज्ञानमे भी एकदेश प्रमाणता मानो। सर्वदेश प्रमाणकी बात तो रही नही। तो सारे ज्ञान चाहे कितने ही झूठे हो उनसे कुछ ज्ञान तो होता ही है, फिर वे भी कुछ प्रमाण मान लिए जाने चाहिएँ। तो इसके समाधानमे कहते है कि तुम्हारी बात शकाकी नही है, किन्तु यह तो सही बात बोल रहे। हम इसे शका नही समझते। सभी ज्ञान किसी न किसी अश रूपमे प्रमाण है। जैसे कि सभी मनुष्य किसी न किसी अशमे गुणवान हैं। आपको एक भी मनुष्य

ऐसा न मिलेगा कि जिसमे किसी भी रूपसे गुण न हो। गुण भी पाये जाते, दोष भी पाये जाते। तो ऐसे ही मिथ्या ज्ञानमे भी यही बात है कि वह कुछ न कुछ अशमे सही बात बतलाता है। जैसे पीलिया रोग वालेने जाना तो शखको पीला, मगर शख पदार्थ इतना तो उसने सही जाना ना। अब पीला रूप है, यह बात यदि झूठ हो गई तो क्या सारी बात झूठ हो गई ? किसीने दूरसे सीपमे चाँदीका ज्ञान किया कि थी तो सोप और जान गए चाँदी, उल्टा ज्ञान हुआ तो वहाँ मिथ्या ज्ञान है। वह चाँदी है, ऐसा ज्ञान करना अप्रमाण है, मगर जो सफेद-सफेद नजर आया, क्या वह भी झूठ है ? जो वहा कुछ सफेद समझमे आया, कुछ आकारसा समझमे आया यह तो झूठ नही है। वह चाँदी है, इस प्रकार अन्य पदार्थमे अन्य प्रकारका, अन्य प्रकारकी सत्ताका बोध किया, यह अप्रमाण है। जैसे कोई पुरुष बडे सबेरे कुछ अधेरेमे घूमने जाता है। अब उसे रास्तेमे बहुत दूरसे एक ठूठ खडा दिख गया, कोई ६–७ फिटका ऊँचा तो उस छुटपुटेमे ठूठ दिखनेसे ऐसा उसने भ्रम कर लिया कि यह कोई आदमी खडा है। खडा तो था ठूठ और ज्ञान बन गया कि यह आदमी खडा है तो बोलो वह ज्ञान तो मिथ्या है ना ? आदमी तो नही है, विपरीत ज्ञान है, पर इस ज्ञानके समयमे भी कुछ इतना ऊँचासा खडा, इतना मोटासा पदार्थ है यह ज्ञान भी झूठा है क्या ? यह ज्ञान तो सही है। तो सभी ज्ञानोमे हम आपके चाहे मिथ्या ज्ञान हो, चाहे सम्यग्ज्ञान हो, सभी ज्ञानोमे यह बात पायी जाती है कि कुछ तो उसमे अच्छापन है ?

प्रामाण्य व अप्रामाण्यके व्यवहारके आधारका विवरण—उक्त चर्चा सुनकर अब शङ्काकार कहता है कि तुमने तो सब कुछ मचा डाला। कुछ व्यवस्था ही न रही। शङ्काकार कहता है आचार्यसे कि आपने तो सबको एक लाठीसे हाक डाला। मिथ्याज्ञान हो तो, सम्यग्ज्ञान हो तो सबको एकसा ज्ञान बना दिया कि जितने ज्ञान होते है वे सब ज्ञान कोई न कोई अंशमे तो सच्चे ही होते है, चाहे मिथ्याज्ञान हो, चाहे सम्यग्ज्ञान हो तो ऐसा बोलने मे समझनेमे तो सारे व्यवहार खतम हो जायेंगे। यह ज्ञान झूठा है, यह ज्ञान सच्चा है, यह व्यवहार ही फिर न रहेगा और जब प्रामाण्य व्यवहार न मिला तो प्रवृत्ति भी न रहेगी, अर्थक्रिया भी न रहेगी, काम-काज भी न बनेगा, और कुछ मिलेगा भी नही। इसलिए ऐसा कहना तो ठीक नही जचता। तो आचार्य उत्तर देते हैं कि सुनो जो बात जहाँ जो सही है उसे तो डटकर बोलना ही चाहिए। प्रत्येक ज्ञान कुछ न कुछ अशमे प्रमाणरूप होता है। अगर न हो तो वह ज्ञान ही नही बन सकता। अब रही हमारे व्यवहारकी बात, सो सुनो—व्यवहार जो होता है कि यह प्रमाण है और यह अप्रमाण है, ऐसा जो प्रमाणपनेका व्यवहार है वह प्रयोजन और सम्वादके आधीन होता है अर्थात् जिस ज्ञानमे विसम्वाद अधिक है वह है अप्रमाण। प्रमाण—जैसे सीपको चाँदी जान लिया तो यह जो सफेद दीखा वह प्रमाण,

है, मगर यह चाँदी है, यह अप्रमाण है। तो जरा यह बतलाओ कि तुम सफेदपर दीवाने बन रहे हो कि चाँदीपर ? तुम्हारे दिलमे क्या मुराद है ? तुम चाहते क्या हो ? तुम्हारा प्रयोजन क्या है ? तुम सफेद सफेद देखकर खुश होना मजूर करते हो या चाँदी तुम्हारे हाथमे आये यह मजूर करते हो ? तो वे कहेगे हमे तो चाँदी हाथमे लेना मजूर है। सफेद सफेद देखनेसे क्या मतलब ? तो तुम्हारा जो प्रयोजन है उसमे तो वह ज्ञान झूठा है, इसलिए अप्रमाण है। दूसरी बात उसमे विसम्वादकी मात्रा अधिक है। सफेदकी मात्राका प्रयोजन ही नही। इसलिए अप्रमाण है। जहाँ विसम्वाद विशेष हो वह अप्रमाण और जहाँ सम्वाद विशेष हो वह प्रमाण। प्रमाणता अप्रमाणताका व्यवहार इस प्रकार है।

प्रमाण व अप्रमाण नाम रखे जानेका कारण—भैया ! इस बातपर मत घबडाओ कि यहाँ जो यह बताया जा रहा कि चाहे कितनासा भी झूठा ज्ञान हो, कोई न कोई अशमे उसमे भी सच्चाई है। यदि कोई शत्रु है तो उसमे कोई न कोई गुण है तो उस गुणसे भी मुकर जाये, यह तो कोई विवेक नही, न सज्जनता है। मिथ्या ज्ञान है, अप्रमाण है। और फिर अर्थक्रिया नही बनती और न उसके विषयकी प्राप्ति होती है, इसलिए अप्रमाण है। मगर उस कालके लिए तो जितने अशके लिए कुछ बोध हो उसमे भी कुछ अश तो प्रमाण है तथा स्वरूपमे तो प्रमाण है ही, मगर वह प्रमाण न कहा जायगा, क्योकि उसमे प्रयोजन सिद्ध नही है। उसके खिलाफ ज्ञान है और विसम्वाद अधिक है। और फिर दूसरी बात थोडी देरमे पास जाकर देखा तो सीप नजर आयी तो निर्णय हो गया कि उसका ज्ञान बिल्कुल झूठा था। तो प्रमाणपनेका व्यवहार अनेक सम्वादके आधीन है। हमने भी जाना और वहाँ पास बैठे हुए जो लोग हैं वे भी ऐसा जान लें तो समझो कि प्रमाण है अथवा उसके बारेमे ज्ञाताकी अर्थक्रिया बन जाय कि उठा लें, हम जेबमे रख लें तो समझो कि प्रमाण है, पर यह व्यवहार कुछ नही बनता, इसलिए मिथ्या ज्ञान अप्रमाण है। जहाँ सम्वाद विशेष हो वह तो प्रमाण और जहाँ विसम्वाद अधिक हो वह अप्रमाण। इसी आधारपर प्रमाण और अप्रमाणका नाम रखा गया है। जैसे कि जिन फलोमे रस अधिक है उनका नाम रसद्रव्य है, रसभरी मौसमी, नीबू आदिक ये रसद्रव्य कहलाते है। जिनमे गध अधिक हो वे गधद्रव्य कहलाते। जैसे हीग, कस्तूरी आदिक। हैं तो उनमे बहुत बातें—रूप, रस, गध, स्पर्श आदिक सब, मगर एक ही नाम क्यो लिया गया ? वह विशेष है, उसकी प्रमुखता है। ऐसे ही जहाँ सम्वाद विशेष है वह प्रमाण और जहाँ विसम्वाद विशेष हो वह है अप्रमाण।

दार्शनिकोमे निष्पक्ष निर्णायकता—देखो यहाँ दार्शनिक आचार्योंकी कितनी निष्पक्षता है ? जैसे किसी माताको सपूत और कुपूत दोनोमे स्नेह है और दोनोमे गुण दिखता है, ऐसे ही प्रमाण और अप्रमाण ज्ञान—इन दोनोमे वह गुणकी बात बतायी जा रही है। एक अप्र-

माण है, एक प्रमाण है। फिर भी यह जानें कि कितना ही अप्रमाण ज्ञान हो वह अपने आपमे तो प्रमाणभूत है और बाह्य विषयोके बारेमें अप्रमाणभूत है। तो एक न्यायविधिसे अनुमान प्रमाणकी मुद्रामे इस बातको रख रहे कि सम्यग्ज्ञानमे ही प्रमाणका व्यवहार होता है, क्योकि वहाँ ही अनेक सम्वाद पाये जाते हैं। सम्वादका अर्थ समझे, क्या ? हम भी जानें, और भी जानें वैसा ही। और उस ही चीजको फिर और-और ज्ञानोके द्वारा भी वैसा ही जानें इसे कहते है सम्वाद। जिस चीजको जाना, उसके लिए हमारा पौरुष बने, अर्थक्रिया बने, आकर्षण बने या हटना बने, कुछ काम बने उसे कहते है सम्वाद। जिस वस्तुको हम जानें उस वस्तुको ग्रहण कर सकें उसे कहते है सम्वाद। तो जहाँ सम्वाद अधिक है वहाँ प्रमाणताका व्यवहार होता है। और इस तरहका प्रमाण सत्य ज्ञान ही हो सकता है, मिथ्या ज्ञान नही हो सकता है। अब इस अप्रमाणकी मुद्रा तको। जो झूठा ज्ञान है उसमे अप्रमाणताका व्यवहार होता है, क्योकि वहाँ विसम्वाद बहुत पाये जाते है। न वहाँ अर्थक्रिया बनती है और न वहाँ चीज मिलती है और न वहाँ बाधकप्रमाणका अभाव है, इसलिए अप्रमाण है।

मति श्रुतज्ञानोमे सर्वथा प्रामाण्य व सर्वथा अप्रामाण्यकी असिद्धि—अब उक्त व्यवस्था बतानेके बाद उन दार्शनिकोके लिए आपत्ति देते हैं। जो दार्शनिक यह मानते है कि कोईसा भी ज्ञान हो जो प्रमाण है सो प्रमाण ही है। जो अप्रमाण है सो अप्रमाण ही है। एक देश वाली बात कुछ नही है। तो देखो– जो ऐसा माने कि सम्यग्ज्ञान तो पूरे अशमे एकान्तरूपसे प्रमाण ही है और मिथ्याज्ञान सर्व अशोमे पूरा अप्रमाण ही है। ऐसा जो कहे वे जरा यह बतायें कि मिथ्याज्ञानके बारेमे अगर यह निर्णय बनाया है कि यह मिथ्या ज्ञान है तो बताओ कुछ प्रमाणपना आया ना ? अरे झूठ बोलने वाला खूब झूठ बोले और अपने मुखसे कहे कि मै झूठ बोलता हू तो इतनो तो उसकी सच्चाई मानोगे कि नही मानोगे ? भले ही कोई बिल्कुल झूठ बोल रहा हो, साराका सारा झूठ बोल रहा हो, मगर वह यह कह दे कि मै झूठ बोलता हू तो उसका इतना अश भी क्या सच्चा नही हो सकता ? मिथ्याज्ञानसे हमने बाहरमें जाना कि यह चाँदी है, पडी थी सीप, तो जब यह जान रहा है ज्ञान तो उसकी निगाहमे ज्ञान है, जान रहा है, समझता है, ऐसा जान रहा हो तो उस ज्ञानके स्वरूपमे तो वह प्रमाण है ना ? बाह्य वस्तुके बारेमे अप्रमाण है, क्योकि वहाँ सीप ही है, चाँदी नही है और जाना चादी। देखो— दार्शनिक लोग कितने निष्पक्ष होते है, ऐसे निष्पक्ष जैसे कि कोई राजाओकी कहानी आती है कि पुत्र भी अगर अन्याय करे तो उसे भी शूलीपर चढा देते है और शत्रु भी अगर कोई गुणका काम करे तो उसे अपना सर्वस्व बना लेते है। इसी तरहकी निष्पक्षता दार्शनिक विद्वानोमे होती है। जैसे आजकलके भी दार्शनिक लोग किसी तत्त्वकी खोज करते हो तो खोज करते-करते यदि उसके कुलके मजहबके भी दोषकी बात आये तो

उसे सामने रखनेमे वे चूकते नही है। दार्शनिक लोग कितने निष्पक्ष हुआ करते है ? यदि इतनी निष्पक्षता न हो तो उनमे दार्शनिकताका विकास हो ही नही सकता। इतना स्पष्ट कहा गया है। फिर भी हम आपके ज्ञान अपने प्रायोजनिक अशोमे प्रमाण है। सर्व अशोमे प्रमाणताका दावा नही किया जा सकता। इसी प्रकार मिथ्याज्ञान प्रायोजनिक अशमे अप्रमाण हैं। फिर भी उसमें सर्वप्रकारसे अप्रमाणता नही लादी जा सकती, स्वरूपमें तो प्रामाण्य है ही। अब रही प्रमाणपनेकी बात और अप्रमाणपनेका व्यवहार तो वह व्यवहार सम्वाद और विसम्वादके आधारपर है। जहाँ अनेक सम्वाद हो वह तो है प्रमाण और जहा अनेक विसम्वाद हो वह है अप्रमाण।

आन्तरिक आत्मचर्चामे असुगमताका अटपटापन— यह चर्चा किसी दूसरेकी नही चलायी जा रही है। यह सबकी अपने आपके भीनरके स्वरूपकी चर्चा है। हम सब ज्ञानस्वरूप है और पर्याय बिना कोई द्रव्य एक क्षण भी ठहर नही सकता। निरन्तर प्रति समय पर्याय होती ही रहती है। तो ज्ञानस्वरूप निजपदार्थमें कैसी परिणतियाँ चला करती हैं उन परिणतियोकी बात कही जा रही है कि हम आपके जो ज्ञानकी वृत्ति चलती है वह इस तरह से प्रमाणभूत है और अप्रमाणभूत है। जहाँ सम्व.द विशेष है वह प्रमाण और जहाँ विसम्वाद विशेष है वह अप्रमाण कहलाता है। जरा उपयोग लगाकर सुनो तो विषय कुछ कठिन नही लगता। यह भीतरके ज्ञानकी चर्चा की जा रही है। अपनी चर्चा की जाय तो कैसा जल्दी कान खडे हो जाते है और जहाँ अपने भीतरकी चर्चा चल रही हो वह बात क्यो न समझमे आयगी ? तत्प्रमाणे—इस सूत्रमे जो सामान्यतया कहा कि वह ज्ञान प्रमाणरूप है उसका ही यह विश्लेषण चल रहा है।

स्वसवेदन और अर्थसंवेदनके प्रकरणका स्मरण— अपने आत्माके ज्ञानका विकास देखते जावो। दार्शनिकशास्त्र और करणानुयोग ये बहुत सूक्ष्म तत्त्वका वर्णन कराते है। अभी तक सिद्धान्तमे सुनते आये ना कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो परोक्ष है, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये प्रत्यक्ष हैं। तो अब देखो प्रत्यक्षज्ञानमे तो कुछ कहना नहीं है, वह तो भली प्रकार प्रत्यक्ष है, स्वसवेदनमे भी, और अर्थसवेनमे भी पर मतिज्ञान ,श्रुतज्ञानके अन्दर यह निरखें कि ये क्या परोक्ष परोक्ष ही हैं या प्रत्यक्ष भी है ? दूसरी बात— जो पहले चले आये मतिज्ञान, श्रुतज्ञान प्रमाण हैं और जरा उनमे यह भी देखें कि क्या सर्वथा प्रमाण है, या कुछ अप्रमाण भी हैं ? देखो दार्शनिक शास्त्रसे जो निर्णय बनेगा और उसके सूक्ष्म तत्त्वका परिचय पायेंगे तो एक बार अब तककी मानी हुई बातमें क्रान्तिसी मच जायगी, पर क्रान्ति नही होना, आचार्य संतोकी वाणी निर्दोष है। कहते आये ना कि मतिज्ञान श्रुतज्ञान प्रमाण हैं, पर देखो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अपने नियत विषयमें एक देशप्रमाण है, पर

अन्य विषयमें अप्रमाण है। तो व्यवहार कैसे बना? प्रमाण है कि अप्रमाण? जहां प्रयोजन मे बाधा न हो, सम्वाद अधिक हो वह है प्रमाण। जो प्रयोजनसे दूर हो या जिसमे विसम्वाद हो वह है अप्रमाण। तो अब आज एक नई चर्चा सुनो– वात कहेगे आपकी, हम आप लोग जो जानकारी किया करते है उस जानकारीमें दो बातें होती है– (१) स्वसम्वेदन और (२) अर्थसम्वेदन। जैसे जाना कि यह चौकी है तो चौकीका ज्ञान हुआ और जिस ज्ञानसे जान रहे उस ज्ञानका भी ज्ञान चल रहा। तो जिस ज्ञानसे जान रहे उस ज्ञानके ज्ञानका नाम तो है स्वसम्वेदन और उसमे जो बाहरी पदार्थ जाने जा रहे है उसका नाम है अर्थसम्वेदन। हम आपके ज्ञानकी दो पद्धतियाँ है। एक तो पदार्थको जानना और जिस ज्ञानके द्वारा जानते इस ज्ञानका भी ज्ञान बना रहना। अपने आपके भीतरमे कुछ दृष्टि देकर अनुभवसे निर्णय कर लें। होते हैं ना ये दो काम? तो जिस ज्ञानके द्वारा हम जानते है उस ज्ञानके ज्ञान होने का नाम है स्वसम्वेदन और उसमे जो बाहरी पदार्थ जाने जाते हैं उसका नाम है अर्थ-सम्वेदन।

स्वसंवेदन व अर्थसवेदनके विषयमे प्रत्यक्षता परोक्षता प्रमाणता अप्रमाणताके विषय में समस्याओंका समाधान—स्वसवेदन और अर्थसवेदनके विषयमे दार्शनिकोकी दो राय है—एक दार्शनिक यह कहता है कि जिस पदार्थको जाना याने अर्थसम्वेदन हुआ वह तो साफ स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है और जिस ज्ञानके द्वारा जाना याने स्वसम्वेदन यह परोक्ष होता है, यह जानकारीमे नही रहता। तो दूसरा दार्शनिक कहता है कि नही नही, जिस ज्ञानके द्वारा जाना जाता है वह तो प्रत्यक्ष स्पष्ट होता है और जो जाना जाता है उस पदार्थका ज्ञान स्पष्ट नही होता, वह परोक्ष है। तो है ये दो रायें, मगर सिद्धान्त क्या है कि सभी ज्ञान अपने स्वरूपसम्वेदनमे प्रमाणभूत हैं, प्रत्यक्ष है, स्पष्ट है और बाह्य पदार्थोंके ज्ञानके सम्बन्धमें कोई ज्ञान प्रत्यक्ष है, कोई ज्ञान परोक्ष है। जैसे– मतिज्ञान, श्रुतज्ञान परोक्ष हैं। सिद्धान्तमें दो बातें सुनते तो आये सब लोग कि दो ज्ञान परोक्ष हैं, तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं, पर यह बात न समझ सके दर्शनशास्त्रके अध्ययन बिना कि सभी ज्ञान अपने स्वरूपकी समझमें प्रमाण हैं, प्रत्यक्ष हैं, स्पष्ट है। दो प्रमाणरूपका वर्णन अर्थसवेदनकी अपेक्षासे है। अब उनके बारे में एक-एक विकल्पका समाधान देखिये। यदि सर्वज्ञानोको स्वरूपमें अप्रमाण मान लिया जाय, जैसे कि बौद्ध शङ्का करते है, तो कहते हैं कि इसमें तो उनके दर्शनमें ही विरोध आ गया, क्योंकि उनका सिद्धान्त है कि समस्त आत्मावोका ज्ञान आत्मसम्वेदनमें प्रत्यक्ष होता है, "सर्वचित्तचैत्तानामात्मसवेदन प्रत्यक्षम्" आप एक बात और सुनो– बतलावो जो स्वानुभव होता है ना ज्ञानमें ज्ञानका समा जाना और उस ज्ञानका अपने ज्ञानमें स्पष्ट होना, जिसे आत्मानुभव कहते, स्वानुभव कहते, बतलावो वह प्रत्यक्ष है कि परोक्ष? अब समस्या है

तुम्हारे सामने प्रत्यक्ष तो यों नही कह सकते कि अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान— ये तीन माने गए है प्रत्यक्ष, किन्तु मति, श्रुत तो नही माने गए प्रत्यक्ष, उन्हे कहा है परोक्ष, सो यो नही कह सकते कि वह स्वानुभव प्रत्यक्ष ज्ञान है तथा स्वानुभवको परोक्ष भी नही कह सकते, क्योकि स्वानुभव इन्द्रियमनसे उत्पन्न होता नही। इन्द्रिय और मनसे जो उत्पन्न हो सो परोक्ष है। क्या उत्तर देंगे ? भाई निकटताकी अपेक्षा तो परोक्ष है, क्योकि मति, श्रुतकी धारामें ही चलकर वह हमारा स्वानुभव बना, लेकिन साक्षात् वर्तमान क्षणकी अपेक्षा प्रत्यक्ष है और उसही जैसी झाँकी इस प्रकरणमें आ गयी कि सभी ज्ञानस्वरूपके सवेदनमें तो प्रत्यक्ष है, प्रमाण है और बाह्यपदार्थोंके ज्ञानमें कोई परोक्ष है, कोई प्रत्यक्ष है, कोई प्रमाण है, कोई अप्रमाण है। यदि सभी ज्ञानोको स्वरूपमें भी अप्रमाण या परोक्ष मान लिया जाय तो उनके ही मतका सिद्धान्त है।

स्याद्वादके आश्रयबिना सच होकर झूठ— स्याद्वादशासन एक ऐसा हितकारी शासन है कि जो इस जीवको सुरक्षित धाममे पहुचा देता है। ज्ञानके विषय अनेक है, पर कोई विषय ऋजुसूत्रनयका है, कोई विषय व्यवहारनयका है, कोई विषय द्रव्यार्थिकनयका व कोई शुद्धनयका है। मुख्य तीन चार बाते यहाँ बतला रहे। किसी भी नयका एकान्त कर लिया गया तो उस नयकी बात सच होकर भी झूठ हो जाती है। जैसे ऋजुसूत्रनयका विषय यह है कि प्रत्येक पर्याय स्वतत्र है, अहेतुक है, वह पूर्वपर्यायमे उत्पन्न नही होता है। यह विषय ऋजुसूत्रनयका है और ऋजुसूत्रनय जैनसिद्धान्तका ही एक अङ्ग है— यह बात ऋजुसूत्रनयसे सत्य है। लेकिन जब इसका प्रतिपक्षीनय जो है व्यवहारनय, द्रव्यार्थिकनय उसका विरोध अगर करें, सर्वथा ही ऐसा मानें और कहे कि सतान नही है, ऐसा ही है, पूर्वपर्यायसे कुछ मतलब नही, स्वतत्र है तो यह बन गया मिथ्यात्व और यह सिद्धान्त बन गया खुद बौद्धो का। बौद्धोका यह सिद्धात है ऐसा कि प्रतिसमयका जो पदार्थ है, वह अहेतुक है, उसका पूर्व पदार्थसे मतलब नही। देखो सर्वथा ही ऐसा हो याने अगर पर्याय स्वतत्र हो तो उसमें ६ साधारण गुण होने चाहिएँ। यह तो कायदेकी बात है। इसमें यह तो अ आ इ ई से सिखायी जाने वाली बात है सो यह तो कोई कठिन बात नही। जो स्वतत्र द्रव्य है, इसमें ६ साधारण गुण होते हैं— यह तो समझमें आना कोई कठिन नही। तो पर्याय अगर स्वतत्र पदार्थ है तो उसमें अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्व और प्रमेयत्व, ये गुण पाये जाते है क्या ? जैनसिद्धान्तका यह क्रम है कि भक्तिपूर्वक यदि बच्चा भी सीखे तो उसे कही धोखा नही हो सकता। बोलो है क्या पर्याय प्रदेशवान ? बोलो है उसमे वस्तुत्व, द्रव्यत्व ? जो गुण,पर्यायवान हो सो द्रव्य है। अब बतलावो वह पर्याय गुणपर्यायवान है क्या ? पर्यायमे पर्याय है, गुण है क्या ? हाँ यह ऋजुसूत्रनयसे तो ठीक है। जैनसिद्धान्तने इसका समर्थन

किया है। पर इसकी हठमे वस्तुस्वरूप नही बनता। देखो यही तो है जैनाभासोका बौद्ध-दर्शन, जो सच्च होकर भी झूठ बन गया। वैशेषिक दर्शनमे देखिये वैशेपिक यह कहते है कि द्रव्य स्वतंत्र है, गुण स्वतन्त्र है, पर्याय स्वतन्त्र है, सामान्य स्वतंत्र है, विशेष स्वतन्त्र है। तो एक नयसे अगर देखें तो स्वरूप एकका दूसरेमे नही है। जो द्रव्यका स्वरूप है वह गुणपर्याय सामान्य विशेपका नही, जो गुणका स्वरूप है वह द्रव्यपर्याय सामान्य विशेष इनका नही। जो सामान्यका स्वरूप है सो विशेष आदिका नही। अरे विशेपका स्वरूप है सो शेषका नही। यो भेद तो आ गया। ये ५ चीजें है, मगर कोई सर्वथा भेद करे तो वही आपत्ति आयगी कि जैसे द्रव्यमे ६ साधारण गुण है तथा गुणपर्यायवत्ता है, ऐसे ही गुणमे भी बताओ, पर्यायमें भी बताओ, सामान्य और विशेषमे भी बताओ। हैं तो नही इन प्रत्येकमे गुण व पर्याय। तो देखो ये ५ बातें है जो भेददृष्टिसे सच हैं, पर प्रतिपक्षनयका विरोध करनेसे सच भी झूठ बन गया। यह ही है व्यवहारका विषय जो बताया। व्यवहार भेद करता है और द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष—ये भेद करना व्यवहारका विषय है। इसीका एकान्त कर लिया और अभेदनयका आश्रय न लिया तो काम न बनेगा। वस्तुस्वरूप परिचयमे इतनी सकरी गली है जैनसिद्धान्तकी कि परम्परया गुरुचरणोके प्रसाद बिना इनका मर्म नही समझमे आता।

स्वरूपसंवेदनमें ज्ञानके प्रमाणत्वका नियम तथा विकल्पज्ञानमे प्रमाणत्वकी भाज्यता— प्रकृत बात यह कह रहे है कि हम आप सबका ज्ञानस्वरूपके सम्वेदनमे तो प्रमाण है और बाह्यपदार्थके परिचयमे कोई प्रमाण है, कोई अप्रमाण है। यदि स्वरूपसवेदनमे अप्रमाण मान लिया जाय तो अनुभवसे विरोध है। फिर अर्थक्रिया न बन सकेगी और शङ्काकारोके मतसे भी दूर है यह कथन। अब दूसरी बात लीजिए—अगर बाह्यविकल्प ज्ञानमे, बाह्यपदार्थके ज्ञान मे उसे पूरा प्रमाण मान लिया जाय तो कितने ही प्रमाण मानने पड़ेंगे। बौद्ध जन कही अन्य जगहसे नही उत्पन्न हुए, ये स्याद्वाद (जैनशासन) से ही उत्पन्न हुए। कोई जमाना था ऐसा कि केवल एक ही दर्शन था स्याद्वाद और उसका ही सहारा लेकर सर्व साधु-सन्यासी जन अपने ब्रह्मस्वरूपका अनुभव करते थे, पर उसके प्रतिपादनमे जिसने जहाँ अपनी अटक कर ली, वही हठ कर ली और फिर अनेक दार्शनिकोकी उत्पत्ति हुई। यहाँ क्षणिकवादी शङ्काकार कहता है कि बाह्य पदार्थमे जो ज्ञान होता उसका नाम है विकल्पज्ञान और विकल्पज्ञानको मान लिया तुमने प्रमाण। तो जितने मिथ्याज्ञान है वे सब प्रमाण बन जायेंगे। जैसे मिथ्याज्ञान स्वरूपमे प्रमाण है उसी प्रकार पदार्थमे भी प्रमाण हो जाये। क्या शङ्काकारका मतलब? जैसे पड़ी तो थी सीप और जान गए चाँदी तो यहाँ जो बोध बन रहा है कि चाँदी है, यहाँके ज्ञानका ज्ञान हो रहा है ना। तो जैसे ज्ञानका ज्ञान करनेमे हम प्रमाणता लाते है इसी प्रकार यहाँ चाँदीका ज्ञान भी प्रमाण मान लो, यह शङ्काकार कहता है। यह क्षणि

वादी कह रहे हैं। समाधान सोचो कि यदि बाह्य अर्थविषयक मिथ्याज्ञानरूप विकल्पज्ञानको प्रमाण मान लिया जाय तो बताओ बौद्धोने दो प्रमाण माने ना, प्रत्यक्ष और अनुमान। अगर प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हो तो उनके मतमे कहा है किजो कल्पनासे रहित हो, भ्रान्तिरहित हो वह प्रत्यक्ष है, तो प्रत्यक्षका लक्षण यह है। किन्तु विकल्पज्ञानमे यह लक्षण घटित नही होता। अगर अनुमान बताओगे तो इन्द्रियसे जितने ज्ञान होते वे अनुमान बन जायेंगे। फिर साधन-साध्यकी कल्पना करना व्यर्थ है। सीधी बात है। हम जानते है कि यहा जो जानने का परिणमन होता है वह तो हमारे ख्यालमे स्पष्ट है और बाह्य पदार्थोमे हम जैसा जानते हैं वैसा हो या न हो। देखो एक ही ज्ञान प्रमाणरूप भी है और अप्रमाणरूप भी है। स्याद्वाद से मिला लो, लेकिन समानतासे नही समझना इन दोनोको कि प्रत्येक ज्ञान जितना प्रमाण रूप है उतना ही अप्रमाण रूप है। दृष्टिया है, किसीमे प्रमाणता अधिक है, अप्रमाणता कम है और किसीमे अप्रमाणता अधिक है, प्रमाणता कम है। जहा अप्रमाणता अधिक है उसे कहते है अप्रमाण और जहा प्रमाणता अधिक है उसे कहते है प्रमाण।

भूयःसंवादके आधारपर प्रामाण्यके व्यवहारकी व्यवस्था—यह मतिज्ञान, श्रुतज्ञान की बात चल रही है। जितने आदमी यहा बैठे है कोई बता सकता है क्या कि इनमे कोई आदमी बिल्कुल स्वस्थ है? एक भी रोगी न हो ऐसा यहाँ कोई है क्या? कमसे कम यहा बैठे हुए लोगोमे से इतना तो तय है ना कि इनमे कोई ऐसा नही बैठा कि जो पूर्ण स्वस्थ हो, एक भी रोग न हो। फिर भी इनमे कुछ इतनी छटनी करते कि नही कि यह रोगी है, यह निरोग है? कहने लगते ना इसी आधार पर कि जिसमे रोगकी मात्रा अधिक है वह रोगी है और जिसके रोगकी मात्रा कम है वह निरोगी है, ऐसा भेद बनाना, व्यवहार बनाना, किन्तु यह परख लो, सबमे कोई न कोई रोग जरूर है। शरीरमे जितने रोम हैं उतने रोग है। अभी सिरके बाल ही गिनकर देख लो—सारे रोम, उनसे भी अधिक रोम हैं, इतने रोग है शरीरमे, पर जिसमे रोग कम है, स्वस्थताकी मात्रा अधिक है वह कहलाता है स्वस्थ और जिसके रोगकी मात्रा अधिक है वह कहलाता है रोगी। तो ऐसे ही यह हमारा कमजोर ज्ञान भी प्रमाण बन गया। हम दावेके साथ किसी ज्ञानको नही कह सकते कि हमारा ज्ञान सर्व अशोमे प्रमाणभूत है। सम्वाद अधिक है तो प्रमाण, नही है तो अप्रमाण। अब देखो कितनी मूढता है कि अपने ही मनमे सोचकर—हम जैसा कौन बुद्धिमान है और टन्नाये से बैठे हैं। कितने ही लोग, यहा तक कि बडे-बडे विद्वान तक ऐसे हैं कि जो अपने आगे सारे जगतको तुच्छ समझते हैं। तो दार्शनिक शास्त्रका अध्ययन करें उससे यह ज्ञान हो जाता कि हममे अभी कितनी गल्तिया है, कितना हमको आगे बढना है?

अपने ज्ञानको पूर्ण माननेके भ्रमके आधारपर गर्वका नाटक—देखो हर जगह एक

धर्मके मार्गकी ही बात नही कहते। लोकमे भी थोडी विद्या किसीने जान लिया और वे समझते हैं कि हम सबसे अधिक होशियार है, वे अपने आगे किसीको कुछ नही समझते। एक सगीत की ही कला ले लो, कोई सगीत जरासा सीख जाय, उससे गानेको कहा जाय तो वह एक दो बारके कहनेसे नही गाता। उसे तो बहुतसे लोग बारबार मनायें, जिसे कहते है तेल लगाना, तब कही वह गाता है। एक सगीतकी ही बात नहीं; सारे लौकिक कार्योंकी यही बात है। धर्मकी चर्चा वालोकी भी यही बात है। कोई व्रत उपवास करे तो वहां भी वह अपनेको सबसे अधिक होशियार समझता है। तो क्या कोई एक रोग लगा है? अनेक रोग लगे है। जो अपने मनमे समझ बैठा है कि मैं पूर्ण समझदार हू, मेरे समान समझदार कोई नही, तो वे कितना अपने प्रभुपर अन्याय कर रहे है? उन्होने अपनेको तो समझा विवेकी और दूसरे प्रभुवोपर घृणा करते है तो यह जो दूसरे प्रभुवोका अनादर करना है और अपने प्रभुका अनादर करना है। अरे यहापर जितने भी अन्य जीव है, जितने अन्य मनुष्य है उनमे ज्ञान नही है क्या? अरे दूसरोका आदर करनेकी अपनी आदत बनावें, सबके ज्ञानकी आस्था बनावें। कोई कोई बात तो जो पढे लिखे नहीं है वे भी इतनी ऊँची कह देते है कि जो हमारे लिए बडी शिक्षाप्रद होती है। और समझो जो जानता भी अधिक नही, कुछ बोल भी नही सकता, मगर अच्छे आचरणमे रहता है तो वह हम जानने वालोसे भी अच्छा है। हम कैसे कहे कि ये कुछ नही, वे तुच्छ है? कहा आप निर्णय बनाते हो? हमेशा यह आदत बनाओ कि अपने तो दोष तको और दूसरोके गुण तको, अगर उन्नति मार्गमे चलना है तो। यह व्यवहारकी बात कह रहे हैं। सभीकी बात यही है कि अपनेमे जो सहज ज्ञानस्वभाव है उसकी श्रद्धा बनावें और उससे अपनी सम्पन्नताका अनुभव करें। किन्तु जब कोई प्रवृत्ति करे, व्यवहार करे तो व्यवहार प्रवृत्ति हमारी सर्वप्राणियोमे आस्थामयी होनी चाहिए। 'अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसा।' यह मेरा है, यह दूसरेका है, ऐसी बुद्धि होना बहुत तुच्छ चित्त वालेकी बात है। नीति कहती है—'उदारचरिताना तु वसुधैव कुटुम्बक।' जो उदार चरित्र वाले पुरुष हैं उनकी सारी वसुधा कुटुम्ब होती है। मनुष्यभव पाया है तो भीतरी कषाय हटाकर सब जीवोके स्वरूपको निरखकर, उनमे समरस बनकर सारे कष्टोको दूर करें। दूसरा उपाय नही है कष्ट दूर करनेका। केवल एक समता ही उपाय है। तो भैया! व्यवहार बनावें तो जरा स्पष्ट, सबके आदररूप बनावें और श्रद्धा बनावें तो अपने आपमे गुप्त हो जानेके अनुरूप बनावें। ऐसा संकुचित होकर तो काम करें। तो यहाँ आत्मस्वभावपर श्रद्धा बनाकर मग्न होनेकी बात है। वहाँ तो बनाना है यह श्रद्धा कि ये मेरे है, ये गैर है, ये विरोधी है, ये फलाने है और व्यवहार बनाना चाहिए सब पर समान, सबको आदर देकर। व्यवहार बनाते है अपने एक-दो आदमियोको अपना सर्वस्व मानकर, उनमे ही प्रीतिके वचन बोलकर,

व्यवहार बनाते है, तो यह उल्टा काम है ना ? व्यवहार बनावें तो सबपर आस्था रखकर बनावें और सकुचित हो तो अपनी कषायोसे भिन्न, विकल्पसे निराला, अपने सहज अस्तित्व के कारण जो सहज स्वरूप है उसमे यह मैं हू, अन्य कुछ नही हू, इतनी दृढ पकड बाध लें। देह मैं नही, कषाय मै नही, विकल्प मैं नही, कोई तरग मैं नही। मैं तो एक सहज ज्ञान स्वभावमात्र हू। जब इसके अनुरूप पर्याय होगी तो यह स्पष्ट सामने आयगा। यहाँ तो हम अभी बुद्धि युक्ति अनुभूति अतर्दृष्टिसे इस परमात्माका परिचय पा लें।

स्वरूपसवेदनमे ज्ञानकी प्रमाणताका उपसंहार—देखो ज्ञान मिथ्या भी है तो भी स्वरूपसम्वेदनमे प्रमाण है। और बाह्यपदार्थके परिचयमे वह उल्टा है, जैसा जाना उससे उल्टा है। यो समझो, जैसे एक सरस शब्द है, इसका उल्टा करो तो वह सरस ही बन गया तो सम्वेदनमे ज्ञान सरस है, उल्टा भी ज्ञान है, वह भी स्वरूपसम्वेदनमे सम्यक् है और अर्थसम्वेदनमे जैसे एक शब्द है साक्षरा मायने जो अक्षर सहित है, उसका उल्टा करो तो हो गया राक्षस। यह कितनी उल्टी बात हो गई ? जो साक्षरासे उल्टा चले ऐसा राक्षस। तो बाह्य ज्ञानमे अगर उल्टा है तो वह उल्टा ही है, अप्रमाण ही है। एक ज्ञानमे प्रमाणपन और अप्रमाणपन– इनका विरोध नही। इसी तरह एक ज्ञानमे प्रत्यक्षपना और परोक्षपना— इनका भी विरोध नही। हमारा मति श्रुतज्ञान स्वरूप सम्वेदनमे प्रत्यक्ष है और अर्थसम्वेदनमे परोक्ष है। चूंकि एक मोक्षशास्त्रका विषय है और तत्त्वका ही परिचय कराता है तो अर्थ-सम्वेदन की ही तो मुख्यता है, इसलिए परोक्ष, प्रत्यक्ष ये दो भेद किए गए हैं। स्वरूपसम्वेदनकी अपेक्षा समस्त ज्ञान प्रत्यक्ष स्पष्ट प्रमाण है, यह बात एक विशेष कही गई है।

एक ही ज्ञानमे प्रमाणता, अप्रमाणता, प्रत्यक्षता व परोक्षतामे अविरोधका दर्शन—प्रकरण यह चल रहा है कि हम आपके होने वाले ज्ञान किसी अशमे प्रमाणरूप हैं, अन्य अशमे अप्रमाण हैं, किसी अशमे प्रत्यक्षरूप हैं और किसी अशमे परोक्षरूप है, जिसका विवरण पहले बहुत हो चुका है। सम्यग्ज्ञान, मतिज्ञान अपने नियत विषयमे एक देश प्रमाण है, पर जिनको उनका विषय नही अथवा नियतके अन्य अंशोमे प्रमाण नही; किन्तु जिसके अभिमुख है उसके विषयमे प्रमाण है। इसी प्रकार हमारा सम्यग्ज्ञान हो चाहे मिथ्याज्ञान हो, सभी ज्ञान अपने स्वरूपके सम्वेदनमे प्रत्यक्ष हैं। ज्ञान अपने स्वरूपके सम्वेदनमे प्रत्यक्ष है, किन्तु पदार्थके सम्वेदनमे कोई ज्ञान प्रत्यक्ष है, कोई ज्ञान परोक्ष है। तो यहाँ बताया गया कि एक ही ज्ञानमे प्रत्यक्षपना और परोक्षना रहनेमे कोई विरोध नही, क्योकि ज्ञान जो जानता है बाहरी पदार्थ को वह ज्ञान अपने आपके स्वरूपका सम्वेदन करनेमे प्रत्यक्ष है। जिस ज्ञानके द्वारा हम चटाई चौकी खम्भा आदिक जान रहे हैं तो जान रहे कुछ इन्द्रियो द्वारा, अब उस ज्ञानको समझनेमें कौनसी इन्द्रियाँ काम दे रही हैं ? जिस ज्ञानके द्वारा हम बाहरी पदार्थको जान रहे हैं उस

ज्ञानका ज्ञान क्या किसी इन्द्रियसे होता है ? स्वरूपतः प्रत्यक्ष होता है, प्रमाण होता है। अब बाहरी पदार्थोंका जैसे हमने ज्ञान किया वैसा मिले तो प्रमाण और वैसा न मिले बाहरमे पदार्थ तो पदार्थका ज्ञान अप्रमाण है। इस प्रकार एक ही ज्ञानमे प्रत्यक्षपना और परोक्षपना दोनो बातें घटित होती है। इसी प्रकार प्रमाणपना और अप्रमाणपना दोनो बातें एक साथ ग्रहण होती है। देखो दार्शनिक विद्वान बड़े निष्पक्ष होते है। उनका कोई निजी पक्ष नहीं होता। युक्तिसे विचारते विचारते जो बात युक्तिसिद्ध हुई उसको ही वे कहते है। अगर पक्षपात हो तो वह दार्शनिक हो ही नही सकता। और हमे भी इन गुरुचरणोंके प्रसादसे सतोष है कि मेरेको भी निष्पक्षताका ही अधिक आदर है। हम किसी पक्षमे नहीं रहते, किन्तु जो स्याद्वादका पक्ष है, जैनशासनकी बात है वही हमको प्रमाण है और इसी कारण मेरेको सभी साधर्मी जन एक समान दृष्टिमे रहते है। सर्वत्र हमको सतोष होता है कि सभी प्रकारके विचार वाले साधर्मी बन्धु हमारे सम्पर्कमे रहते है। तो हमने समझा कि मुक्तिके मार्गमे चलना है और अपने आपको ससारके सकटोसे छुटकारा पाना है तो पक्ष कषाय, यह मेरा, यह पराया, इस बातको चित्तसे बिल्कुल ही अलग कर देनी चाहिए तभी हमको वह गली मिलेगी कि जिस गलीसे हम सहज ज्ञानका अनुभव करे।

धर्ममार्गमे कषायोकी अनन्तसे अनुबन्धिता—ज्ञानानुभवमे बाधक होती हैं कषायें। और देखो अन्य कामोमे कषायें बडी नहीं कहलाती, किन्तु धर्मके सम्बधमे होने वाली कषाय को अनन्तानुबधी कषाय कहते है। कषाय कौन नही करता ? घरमे रहते है तो स्त्री पुत्रादिक से कषाय, भाई-भाईसे कषाय, बधुवोसे कषाय, रिश्तेदारोसे कषाय, यो अनेक कषायें चलती रहती है, पर ऐसी कषायें सम्यग्दृष्टि गृहस्थके भी चलती है, क्योंकि वह घरमे रह रहा है। तो यहाँ अकषाय होकर तो नही रहता। अगर अकषाय होता तो वह १२वाँ गुणस्थान पाकर प्रभु हो जाता। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भी विषय कषायोमे रहता है, पर उसके अनन्तानुबधी कषायें नही है, लेकिन धर्मके प्रसगमे कषाय जगे तो वह अनन्तानुबधी होती है। अनंत मायने मिथ्यात्व उसका जो सम्बध बना दे सो अनन्तानुबधी है। उस शल्यके रहते हुए हम आप स्वानुभव पा नही सकते। इसीलिए हम बारबार यह स्मरण कराते हैं कि भाई अपनी भलाई का ध्यान रखो, आत्महितका ध्यान रखो। बाहरमे क्या हो रहा, क्या करना है ? किसे करना है ? इस बातको बिल्कुल गौण कर दो। बडी मुश्किलसे यह मनुष्यभव मिला है, इस को अगर हमने धार्मिक प्रसगकी कषायमे खो दिया तो पता नही फिर हमारा क्या हाल होगा ? न जाने कहाँ जन्म होगा, कहाँ भटकेंगे ? तो इस १०-५ वर्षके टिपटाप (चमकदमक) को सर्वस्व न समझो। यह सब धोखा है। इस राग लगावकी श्रद्धासे त्यागकर अपने आपका ऐसा दर्शन करो कि मैं आत्मा विकाररहित स्वरूपतः अविकार एक ज्ञानस्वभावमात्र हू।

और मुझको इस ही ज्ञानस्वभावकी अधिकाधिक दृष्टि बनाकर इस ज्ञानस्वभावमे मग्न होना है। मेरा तो बस एक ही प्रोग्राम है। अन्य प्रोग्रामकी मेरे दिलमे जगह नही, ऐसा अन्त दृढ निर्णय हो और देखो थोडा पार कर लो। समय एक अपूर्व मिला। ऐसा अवसर, ऐसा मनुष्य पर्याय, ऐसा सत्कुल, ऐसा पवित्र जैनशासन बार-बार नही मिलता।

स्वसंवेदन और वेद्याकारका जैनसिद्धान्तके शब्दोमें स्पष्टीकरण—यहां एक अपने आपके ज्ञानस्वभावकी बात की जा रही है कि मेरे ज्ञानस्वभावको उपादान करके जो मेरी ज्ञानपरिणतियां बनती है, जो ज्ञान बनता है वह ज्ञान स्वांशमे प्रत्यक्ष है और अर्थसम्वेदनमे परोक्ष है। देखो फिर प्रकरणका स्मरण करो। बात यह कही जा रही है कि जो भी ज्ञान जगता है वह ज्ञान स्वसम्वेदन भी करता है और अर्थसम्वेदन भी करता है याने ज्ञान अपने आपके स्वरूपका भी भान करता है और बाह्य पदार्थका भी ज्ञान करता है। जैनसिद्धान्तके शब्दोमे ज्ञानाकार और ज्ञेयाकार, इन दो शब्दोमे रख लीजिए। ज्ञानाकार मायने शुद्ध ज्ञान का स्वरूप और ज्ञेयाकार मायने उस ज्ञानमे जो कुछ जानकारियां चल रही है वह है ज्ञेयाकार स्वरूप। एक दृष्टिमे समझ लो— जैसे दर्पण है तो दर्पणमे दर्पणका निजी आकार भी है और जो पदार्थ सामने आते उनके प्रतिबिम्बरूप आकार भी हैं। यदि दर्पणका निजी स्वच्छताका आकार न हो तो प्रतिबिम्ब आकार कभी उसमे आ ही नही सकता। और जिसमे परपदार्थों का प्रतिबिम्ब आ ही नही सकता उसमे निजी स्वच्छता भी नही होती। जैसे भीतमे प्रतिबिम्बाकार नही आता तो वहां निजी स्वच्छता भी नही है। दोनो कैसे अनिवार्य हैं? आप दर्पणको कहां छिपाकर रखेंगे कि वहां प्रतिबिम्ब न पडे? कपडेमे बांधकर छिपाकर रखोगे तो वहां कपडेका प्रतिबिम्ब पडेगा। सन्दूकमे छिपाकर रखोगे तो वहां सदूकके पलडेका प्रतिबिम्ब पडेगा। उसे बडे गहन अन्धकारमे छिपाकर रखेंगे तो अधकारका प्रतिबिम्ब पडेगा। प्रतिबिम्ब पडे बिना दर्पण रह नही सकता और दर्पणकी स्वच्छता हुए बिना प्रतिबिम्ब आ नही सकता। ऐसे ही इस जगमग ज्ञानका स्वरूप ज्ञानके स्वय अपने ज्ञानाकार रूपमे है, इसका जो निज चकचकायमान स्वरूप है, वही निजी स्वच्छता है। जिस स्वच्छतासे वह अपने ज्ञानाकारको अनुभव तो करता है, मगर बता नही सकता, क्योकि बतानेमे ज्ञेयाकार ही आयगा, ज्ञानाकार बतानेमे न आयगा, और साथ ही इस ज्ञानमे ज्ञेयाकार सबके रहता है। प्रभु हुए है, सिद्ध भगवान है, अरहत भगवान है, ससारी जीव हैं, जो भी चेतन हैं, जो भी ज्ञायक हैं उनमे ज्ञेयाकार निरन्तर रहता है। बात दोनो है—ज्ञेयाकार और ज्ञानाकार।

शंकाकार द्वारा सुगम शब्दोमे शका रखनेका विफल प्रयास—अब जैनसिद्धान्तके शब्दोमे शकाकारकी शका दुहराओ— एक दार्शनिक यह कहता है कि ज्ञानाकार तो परोक्ष

रहता है, उसका ज्ञान नही। उसका भान न होगा और ज्ञेयाकार प्रत्यक्ष रहता है, और ये दार्शनिक इतना अधिक बढ गए कि इस ज्ञानमे उठने वाले ज्ञेयाकारकी ही बात नही कह रहे, किन्तु बाहरमे रखे हुए पदार्थोंकी बात कह रहे है कि ये पदार्थ तो प्रत्यक्ष हो जाते है, किन्तु यह ज्ञानाकार परोक्ष ही रहता है। तो एक दार्शनिक कह रहा था कि ज्ञेयाकार तो परोक्ष ही रहता है; किन्तु ज्ञानाकार प्रत्यक्ष रहता है, ऐसे दो दार्शनिकोकी यहाँ समस्या है। अब यह शका है क्षणिकवादीके सिद्धान्तकी। अब इसपर विचार करो। उनका सिद्धान्त है कि केवल ज्ञानमात्र सम्वेदनमात्रसे तो बुद्धि प्रत्यक्ष होती है और ज्ञेयाकारसे रहितपना यह परोक्ष रहता है। वे सम्वेदनाद्वैतवादी कह रहे है जो ज्ञेयाकारको मानते ही नही, केवल एक ज्ञान ही ज्ञान तत्त्व है, अन्य कुछ तत्त्व नही। जैसे कि स्वभावएकान्तवादी कहता है कि केवल स्वभाव ही स्वभाव तत्त्व है, पर्याय झूठ है। ऐसे ही बढ़ करके बौद्ध दार्शनिक कह रहे है कि ज्ञान ही मात्र ज्ञान ही वस्तु है, और ज्ञेयाकार याने जो जानना हो रहा है यह तत्त्व नही है। ज्ञान तो है, पर जानना नही होता। थोड़े शब्दोमे यह इसका संक्षेप है। आप किसीके आगे यह बात रखें कि ज्ञानको तो हम सदा मानते, मगर वह जानता कुछ नही याने जो जानना है वह असत् है। तो इसे कौन मानेगा ? अच्छा तो अब विचार करो। बौद्धसिद्धान्तकी दृष्टिसे तो बुद्धि अपने सम्वेदन मात्रके लिए प्रत्यक्ष है और वह वेद्याकारसे रहितपना मात्र वह ज्ञान जिसमे ज्ञेयाकार नही, ऐसी ज्ञेयाकार रहितता भी प्रत्यक्ष है, क्योकि ज्ञानका तो स्वरूप बनाया ना यह कि ज्ञेयाकारसे रहित होता है। मात्र ज्ञान ही प्रतिभासमात्र तत्त्व है। तो यह बतलाओ कि जैसे ज्ञानका सम्वेदन प्रत्यक्ष हो गया, इसी प्रकार ज्ञेयाकार नही है, ऐसा अभाव भी प्रत्यक्ष हो गया ना ? अगर प्रत्यक्ष हो गया तो सभी बुद्ध बन जायेंगे। सब सर्वज्ञ हो जायेंगे, क्योकि ज्ञानका स्वरूप है मात्र सम्वेदन और वह है ज्ञेयाकारसे रहित। और दोनोका हो गया प्रत्यक्ष, तो अब बुद्धकी अपेक्षा और जीवोमे कौनसो कमी रह गई ? सभी सर्वज्ञ हो गए। और यदि कहो कि नही, वेद्याकाररहितपना तो परोक्ष ही है तो जैसे वेद्याकारता न होना परोक्ष है इसी प्रकार स्वसम्वेदन भी परोक्ष हो गया। यो फिर तो बुद्ध भी जड़ बन जायगा। जैसे ससारको जड बताया, ऐसे ही यह बुद्ध भी जड हो जायगा। तो हम चाहते कि प्रत्येक ज्ञान स्वरूपसम्वेदनमे प्रत्यक्ष है और पराधीन ज्ञान अर्थसम्वेदनमे परोक्ष है।

ज्ञानसंवेदन और वेद्याकाररहितता दोनोको एक माननेपर दोनोके प्रत्यक्षत्वकी भांति दोनोके परोक्षत्वका प्रसंग—ध्यानसे सुनो—बात यह कही जा रही कि ज्ञानका स्वरूप शङ्काकारका कैसा है कि मात्र ज्ञान ही ज्ञान है। उसमे ज्ञेयाकार नही होते। जैसे कि कोई कहे कि हम तो दर्पणका ऐसा स्वरूप मानते है कि उसमे केवल दर्पण दर्पणमात्र ही झिलमिलाहट है, प्रतिबिम्ब नही पड़ता, इसी तरहकी यह शङ्का है। तो इसमे आपत्ति दी ना ? तो इस

आपत्तिको दूर करनेके लिए फिर यह दार्शनिक कहता है कि भाई ये दो चीजें अलग-अलग नही है--ज्ञानका होना और ज्ञेयाकारका रहितपना होना, ये दोनो एक ही बात है। तब जैसे ज्ञानसम्वेदन प्रत्यक्ष है ऐसे ही ज्ञेयाकाररहितपना भी प्रत्यक्ष हो जायगा तो यह निर्णय बन जायगा कि ज्ञान ज्ञान ही मात्र है, अन्य जाननवानन कुछ नही है। तो देखो क्या कह दिया कि ज्ञानस्वरूप और ज्ञेयाकाररहितपना—ये दोनो एक ही बात है। तो जब दोनो एक ही बात हैं तो वहाँ यह पक्ष क्यो डाला जा रहा कि ज्ञानसम्वेदन प्रत्यक्ष है, सो ज्ञेयाकार रहितपना भी प्रत्यक्ष हो गया। बजाय इसके कोई यदि यह कह बैठे कि ज्ञेयाकार रहितपना जैसे परोक्ष है वैसे ही ज्ञान भी परोक्ष हो जायगा। जब दो मित्र होते हैं एक समानके तो उनमे आधीनता तो नही कही जा सकती कि इस मित्रके आधीन यह मित्र है, नही तो समान मित्र न कहलाते। असमान मित्र हो तो वहाँ ही यह आधीनता चलती है। ऐसे ही जब ये दोनो एक हो गए, तादात्म्य हो गया ज्ञानका स्वरूप और ज्ञेयाकाररहितपना इनमे। तो ये दोनो जब एक स्वरूप है तो उनमे यह भेद क्यो पडा कि सम्वेदन तो प्रत्यक्ष है और ज्ञेयाकाररहितपना परोक्ष है। दोनो एक हो गए तो ज्ञानको ही परोक्ष कह दो।

ज्ञानसंवेदन और वेद्याकाररहितताका तादात्म्य होनेपर भी व्याप्यव्यापक होनेसे प्रसज्य एकत्वकी असिद्धिका शङ्काकार द्वारा प्रतिपादन—देखो कुछ नई-सी बात और पुरानी से जोडी बात, अब ध्यानसे सुनो तो आगे अच्छी समझ चलेगी। शङ्काकार यह कहता है कि जमीनपर घडेका न होना, जैसे इस जमीनपर घडा नही रखा है, जैसे कमरेमे घडा नही है वहाँ दो व्यवहार होते ना। पहिला व्यवहार किया केवल जमीन ही जमीन है और दूसरा व्यवहार किया वहाँ घडेका अभाव। दोनो ही तो मुखसे बोल सकते। तो घडेका अभाव कोई अलग चीज नही, किन्तु खाली जमीनके रहनेका ही नाम घडेका अभाव है। इसमे शङ्काकार कह रहा कि बात यद्यपि ऐसी है कि खाली जमीनके होनेका नाम ही घडेका अभाव है और इस प्रकार केवल जमीनकी उपलब्धि और घडेकी अनुपलब्धि इन दोनोका तादात्म्य है। ऐसा तादात्म्य होनेपर भी ये दोनो बातें एक नही हैं। जमीनकी उपलब्धि होना यह अनुपलब्धिका स्वरूप नही है। अनुपलब्धि बात और है, उपलब्धि बात और है। इसी प्रकार ज्ञेयाकाररहितपना याने अनुपलब्धि बात और है और ज्ञानका सम्वेदन होना अर्थात् उपलब्धि यह बात और है। याने ज्ञानसम्वेदन तो व्याप्य है और ज्ञेयाकार न होना व्यापक है। अब व्याप्य क्या और व्यापक क्या ? जैसे नीम और पेड—ये दो बातें सामने रखो। नीम तो व्याप्य है और पेड व्यापक है। जो थोडी चीज हो सो व्याप्य और जो बहुत चीज हो सो व्यापक। जितने वृक्ष हैं वे सब नीम तो नही हैं, नीम व्याप्य है और जितने पेड हैं वे और और भी है। तो जैसे व्याप्यव्यापकमे यह बात नही लायी जा सकती कि जो व्याप्यकी चीज हो सो

व्यापककी भी है, ऐसे ही ज्ञानका सम्वेदन तो व्याप्य है और ज्ञेयाकार न होना व्यापक है। सो यद्यपि नीमका और पेडका तादात्म्य सम्बध है, फिर भी यह नियम नही बनाया जायगा कि जो जो पेड हो सो सो नीम हो, और है तादात्म्य। नीमसे वृक्ष कोई अलग है क्या? ऐसे ही तो है ज्ञानसम्वेदनसे ज्ञेयाकार रहितपनेका तादात्म्य, फिर भी ज्ञानसम्वेदन व्याप्य है और ज्ञेयाकार रहितपना व्यापक है। अतः वहाँ यह बात न लगावे कि वेद्याकाररहितपना परोक्ष है तो ज्ञान भी परोक्ष हो जाय। शङ्काकारकी एक शङ्का है।

शंकाकारके सिद्धान्तसे ज्ञानसम्वेदन व वेद्याकाररहिततामे विषम व्याप्ति न होनेसे शंकाकारकी आरेका—अब शकाकारकी शकाका समाधान सुनिये—जो सरल स्पष्ट होगा। शकाकारका ज्ञानसम्वेदन व वेद्याकाररहिततामे विपम व्याप्ति बताना ठीक नही। विषम व्याप्ति नीम और पेडमे तो ऐसी ही है जैसी शकाकार कह रहा, लेकिन ज्ञान और ज्ञेयाकार रहितता इसमे समव्याप्ति है। शकाकारके सिद्धान्तमे जो-जो ज्ञान है वह-वह ज्ञेयाकारसे रहित है। ऐसा कोई ज्ञान नही शकाकारके सिद्धान्तमे कि जो ज्ञेयाकारसे रहित न हो। अतः वहाँ जो एकमे लगेगा सो ही दूसरेमे लगेगा। ज्ञेयाकाररहितपना परोक्ष है तो ज्ञानसम्वेदन भी परोक्ष बन जायगा। इससे सीधी-सादी बात मान लो कि हम आप जो ज्ञान करते है वह ज्ञान अपने आपके ज्ञानके सम्वेदनमे प्रत्यक्ष है और बाह्य पदार्थोंकी जानकारीमे परोक्ष है। इस तरह "तत्प्रमाणे" इस सूत्रकी व्याख्यामे प्रमाण शब्दपर सघर्ष चल रहा कि कौन प्रमाण है, कितना प्रमाण है, कैसे प्रमाण है? यह बात कोई अलग बात नही है। आप मोक्षशास्त्र का पाठ पूरा कर डालते है, पर आपको यह पता नही पडता कि इसमे क्या-क्या विपय पडा है? उसकी गहराईका कुछ अदाज तो होगा, कुछ समझमे भी आता है, कुछ नही भी आता है, पर एक श्रद्धा तो बनती है कि जैनशासनके तत्त्व कितने गम्भीर होते हैं और कितना सूक्ष्म निर्णय होता है?

ज्ञानके स्वरूपका निर्देश—मोक्षशास्त्रके "तत्प्रमाणे" इस सूत्रपर तत्की व्याख्या चल रही है। वह दो प्रमाणरूप है। वह कौन? ज्ञान। ज्ञानका स्वरूप कैसा है? देखो हम आप सब जीव ज्ञायकस्वरूपमय है, ज्ञानसे अतिरिक्त याने ज्ञानको छोड़कर हम अपनेमे कुछ समझ न पायेंगे। अब जब स्वानुभव करना चाहे तो यह अनुभवनेका पौरुष बनायें अपने आपको कि मैं ज्ञानमात्र हू, ज्ञान ज्ञान हू, ज्ञान सिवाय मैं कुछ नही हू। ज्ञानको ही करता हूं, ज्ञानको ही भोगता हू, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है, ज्ञान ही इहलोक है, ज्ञान ही परलोक है, ऐसा एक बार ज्ञान ही ज्ञानमे रहे तो बाह्य पदार्थोंके विकल्प टूटकर इसे ज्ञानस्वरूपका अनुभव जगेगा। उस ज्ञानका ज्ञान करना कितना आवश्यक है? तो ज्ञान क्या है? एक प्रतिभास स्वरूप। कहते हैं ना ज्योतिरूप, प्रकाशरूप, ऐसे ही ज्ञान क्या चीज है? एक प्रतिभास। वह

एकस्वरूप है । भला जैसे हम बाहरमे पुद्गलको देखते है तो पुद्गलका कोई अस्तित्व है और उसका कोई स्वरूप है । इस प्रकार हम अपने आपमे निरखते है । तो हमारा स्वरूप आकाश की तरह अमूर्त है । और मै प्रतिभासस्वरूप हू, वास्तविक पदार्थ हू । केवल सोचनेभरका ही नही, कल्पना किया हुआ नही या अन्य चीजके मेलसे बनता हो ऐसा नही, किन्तु यह मैं आत्मा स्वयं सद्भूत वस्तु हू । जैसे कहा—ज्ञानमय । ज्ञानमे क्या-क्या स्वरूप पाये जाते हैं, उस ही का यह वर्णन है ।

ज्ञानमे वेदकता व अवेदकता—ज्ञान जानने वाला होता, पर सर्वथा जानने वाला होता इतना भी एकान्त नही कर सकते । देखो स्याद्वादकी कला, ज्ञान जानने वाला है, मगर सर्वको जानने वाला है सो नही । जो विषय है, ज्ञान उसको जानता है । जैसे मतिज्ञानका विषय है अपने अभिमुख नियत पदार्थको जानना तो जो विषयसे परे है उन पदार्थोंका अवेदक है ज्ञान । इस प्रकरणमे यह बतला रहे है कि प्रत्येक ज्ञान अपने स्वरूपमे नियत विषयमे तो वेदक है और अन्य विषयमे अवेदक है । अच्छा श्रुतज्ञान भी देख लो, श्रुतज्ञानका जो विषय है अपने विषयमे वेदक है, अन्य ज्ञानके विषयमे वेदक नही, यही बात अवधिज्ञानकी है । यह ही बात मन.पर्ययज्ञानकी और केवलज्ञानमे भी यही बात है । केवलज्ञान सर्व सत्को जानता है । जो भी सत् है, जो भी था, जो भी होगा, सब सत्को ही जानता है, असत्को नही जानता । और इसी कारण असत् ज्ञेय नही कहा गया । और इसी प्रकार जिस तरह हम आप धर्मकी कल्पना करते हैं । काल्पनिक धर्म, वह काल्पनिक धर्म भी केवलज्ञानका विषय नही । वह जो सत् है वह विषय है । एक उदाहरण लो, जैसे आपने कल्पना की कि यह मेरा मकान है तो क्या केवलज्ञानी भी यो जानेगा कि यह इसका मकान है ? अगर केवलज्ञानी इस तरहसे जान जाय कि यह इसका मकान है तो समझो कि उसकी पक्की रजिस्ट्री हो गई । वह घर फिर उससे कभी छूट नही सकता । तो केवलज्ञान सत्को जानता है । आपका विपरीत अभिप्राय बना रहता है उस रूप जो आप परिणम रहे हैं यह आपका परिणमन है, यह ज्ञानमे आ गया । मकानका जो परिणमन है, जो पुद्गल स्कध है वह ज्ञानमे आ गया । जितना जो कुछ सत् है वह ज्ञानमे आ जाता है, पर असत् और काल्पनिक धर्म—ये केवलज्ञानीके विषय नही, क्योकि ये असत् है और इसी कारण प्रमेयत्वगुण बताया गया है । जो प्रमेय हो सो ज्ञानका विषय है । सूत्रकार और उसके टीकाकार विद्यानन्दी स्वामी महाराज यह बात कह रहे है कि प्रत्येक ज्ञान अपने वेद्यस्वरूपमे वेदक है, अन्य स्वरूपमे वेदक नही, इसलिए ज्ञानमे वेदक और अवेदक दोनो विरोधी धर्मोंका समावेश है । देखो यह दार्शनिक विषय है । यह ध्यानमे आगे आयगा कि आखिर आचार्य महाराजने इसको किस लिए बताया है ? इसमे विसम्वाद है । कोई दार्शनिक मानते है कि ज्ञान वेदक ही वेदक है और कोई कहते अवेदक

ही है और कोई समझते कि खुदका वेदक है और परका अवेदक । वेदक मायने जाननहार ।

एकत्र विरुद्धधर्मद्वयके अवस्थानके उदाहरण—युक्तिशास्त्रमे प्रत्येक वस्तुको अनन्त-धर्मात्मक बताया गया है । देखो अकलकदेवने जब भगवान सिद्धका स्मरण किया तो उन्होने कहा—सिद्ध भगवान मुक्त है व अमुक्त है । मुक्तामुक्तैकरूपो यः कर्मभि· सविदादिना । अरे अब भला बतलाओ—जो सिद्धप्रभु कर्मसे मुक्त हो गए, शरीरसे भी अलग हो गए, जन्ममरण जिनके नही रहा उनको मुक्त आत्मा क्यो कहा ? तो उसका उत्तर दिया कि ज्ञानसे अमुक्त है और कर्मसे मुक्त । यदि ज्ञानस्वरूपसे मुक्त हो जायें तो जड बन जायें । तो वे प्रभु कर्म-अपेक्षासे मुक्त है और ज्ञानानन्दस्वरूपकी अपेक्षासे अमुक्त है । ऐसा जो एक दिग्गज आचार्य, जिन्होने स्याद्वादके द्वारा अनेक कला विलास रूप विषय रखा है वे यहाँ यह कह रहे है कि प्रत्येक ज्ञान वेदक व अवेदक रूप है । क्या कोई ज्ञान बध्यापुत्रको जान लेगा ? बध्याका पुत्र वह भी क्या ज्ञानका विषय पडेगा ? न पड़ेगा, क्योकि वह असत् है । फिर आप कहेगे कि बध्यापुत्र यहाँ बोल तो रहे हो । बोल तो रहे हैं, मगर वहाँ दो शब्द है– बंध्या और पुत्र । इसका विरोध नही है, ये तो हैं, बंध्या भी होती है और पुत्र भी होता है । मगर बध्याका पुत्र यह असत् है । जैसे अभी बताया कि यह मकान मेरा है तो यह आप सत् है, मकान सत् है और मकान मेरा है, यह बात असत् है । तो प्रभुके ज्ञानमे आपका परिणमन ज्ञानमे आया, मकान भी आया, जो सत् है सो आया, मगर यह हमारा है—इस तरहका जो काल्पनिक धर्म है वह हम आप छद्मस्थ जीवोमे चलता है, पर प्रभुमे नही चलता । वह तो शुद्ध अतस्तत्व का ज्ञाता होता है । तो यहाँ बतला रहे है कि जैनदर्शन ही क्या, सभी दर्शनोने यह माना है कि ज्ञानका जो विषय है उसे जानेगा । ज्ञानका जो विषय नही है उसे न जानेगा ।

दोनों नयोके वर्णनमें स्वभावके दर्शनकी शिक्षा—अब देखिये प्रत्येक पदार्थ अपनी अर्थक्रियामे रहता है, दूसरेकी अर्थक्रियामे नही रहता । सत् अपनी पर्यायोमे बदलता ही है । अगुरुलघुत्व गुण किसे कहते है ? जिस गुणके प्रतापसे वस्तु अपनेमे परिणमे, परमे न परि-णमे, यह कभी हो नही सकता । कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थरूप परिणम जाय, भले ही यह प्रकाश हो रहा है, पर यह सूर्य इस प्रकाशरूप नही परिणम रहा है, मगर यह भी स्पष्ट है कि यह भीत प्रकाशरूप सूर्यके सन्निधानमे परिणम रही है । तो सूर्य तो निमित्त हुआ और यह प्रकाशरूप परिणमन हुआ, मगर सूर्य भूमिके प्रकाशरूप परिणम गया हो ऐसी बात नही है । एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमे नही बनता और निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध बिना पदार्थोमे ये विकार भी नही बन सकते । दोनोका सही सही बोध रखने वाला ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव अपने मोक्षमार्गके अनुकूल स्वभावदृष्टिको पाता । कैसे ? देखो वस्तुस्वातत्र्य, मैं हू, स्वतत्र हू, ज्ञान स्वरूप हू, ज्ञानको ही करता हू, ज्ञानके सिवाय मैं कुछ नही कर सकता, ऐसा एक ही वस्तुमे

एक ज्ञानको ही निरखा जाय तो वह स्वभावदृष्टिमे उमग देता है, स्वभावदृष्टिकी ओर लग जाता है। एक बात अब निमित्तनैमित्तिक योगमे क्या देखेंगे कि विकार जितने होते हैं वे परसंगका निमित्त पाकर होते है और वहाँ यह ज्ञानी जीव क्या देखता है कि ये विकार मैं नही हू। ये तो एक नैमित्तक है, परभाव है, परतत्त्व हैं, ये मैं नही। मैं तो एक शुद्ध ज्ञान-स्वरूप हू। जैसे जो कुशल खिलाडी बालक होता है वह चलते-फिरते, उठते-बैठते, टेढे-सीधे जैसी चाहे स्थितिमे उस खेलको कुशलतासे खेल लेता है। ऐसे ही जो कुशल ज्ञानी पुरुष है वह हर प्रकरणसे स्वभावदर्शनका ही निचोड निकाल लेता है, क्योकि स्वभावदर्शन बिना जीव का उद्धार नही हो सकता।

ज्ञानानुभवके आनन्दका अभ्युदय होनेपर सर्वसिद्धि—इस जीवने अब तक परपदार्थों मे ही उपयोग लगाया और परमे ही इसकी आत्मीयता हुई। यह मैं हू, जहाँ गया वहाँ ही इसने माना कि यह मै हू, जिस पदमे पहुचा, जिस स्थितिमे पहुचा उसीको माना कि यह मैं हू। फल इसका यह हुआ कि यह मै आत्मा अपने सहज ज्ञानस्वरूपमे मग्न न हो सका। तो कैसे मग्न होऊँ ? भाई उस सहजस्वरूपके दर्शन करें, अनुभव करें, ज्ञानानुभवकी ऐसी अलौकिक स्थिति होती है कि वहाँ जैसे कोई कार्यकर्ता कहता है कि धीरे करो, सम्हलकर करो, शान्तिसे करो, ऐसे ही जब यह ज्ञान अपने सहज ज्ञानस्वरूपके अनुभवके लिए चलता है तो ऐसे धीमे ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप, जिसमे कोई तरग नही है, कोई नटखट नही है, विकल्प नही है, कोई क्रान्ति नहीं है, किन्तु ऐसे एक सहज भावसे ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप आया वहाँ बहुत शान्ति और एक अलौकिक आनन्दमय स्थिति होती है। ऐसी स्थिति पा लेनेके बाद उसके लिए दुनिया बदल जाती है। सारी दुनिया मुझसे अत्यन्त भिन्न है। मुझे क्या करना इस दुनियामे, मुझे यहाँ किससे क्या लेना, ये सब भिन्न है। तो जिसमे एक अपने आपके अलौकिक आनन्दका अनुभव जगा उस पुरुषको यह सारा जगत असार दिखता है और उसका ज्ञान वैराग्यमय होता है और उस वैराग्यके बलसे उसकी धुन होती है रागसे हटनेकी ओर ज्ञानस्वरूपमे समा जानेकी। इस प्रयत्नके लिए जब यह ज्ञानी चलता है तो जो स्थितियाँ इसकी आती हैं वे शुभोपयोगकी है। मुनिव्रतकी ओर आगे बढते हुए सारी स्थितियोमे गुजर कर यह ज्ञानी जीव एक अलौकिक परमसुखको प्राप्त कर लेता है, उस ज्ञानकी यह चर्चा चल रही है।

ज्ञानकी एक पर्यायमे नाना ज्ञानपरिणमन मानने वालोकी मान्यता वाली आरेकाका विश्लेषण व समाधान—दर्शनशास्त्रमे इस प्रकरणमे यह बताया जा रहा है कि देखो ज्ञान अनेक पदार्थोंको जानता ना। तो ज्ञानमे वे अनेक आकार होते है। बहुत ध्यानसे समझनेसे यह स्पष्ट होता जायगा, मगर आखें खोलकर कोई मनुष्यको देखें तो हमारे ज्ञानमे उतने

मनुष्योका बोध हुआ, मायने इतना आकार मेरेको मिला, ज्ञानमे प्रतिबिम्बित हुआ तो ऐसा ज्ञान नाना आकारमय होता है। अब यह समझ कीजियेगा—जैसे गेहूका बहुत बडा ढेर देख लिया तो ज्ञानमे क्या कोई एक गेहू प्रतिबिम्बित है ? अरे जितने भी गेहूं पडे है सबका बोध है। तो क्या स्थिति हुई ? ज्ञान तो है एक समयका एक, मगर वे हो रहे है ज्ञेयाकार, यह ज्ञानकी एक ऐसी स्थिति है। तो इस विषयमें एक दार्शनिक यह बात कहता है कि हमेशा ज्ञानमे एकाकार आता है, ज्ञानमे नानाकार नही आता, और जैनसिद्धान्त क्या कहता है कि ज्ञानमे नानाकार होते है, जैसे 'बहु-बहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणां' इस सूत्रमे बोला ना– ज्ञान बहुतको जानता, बहुत प्रकारको जानता और एक समयमे जानता। तो जब एक समयमे बहुत जानेंगे तो बहुतका ही तो बोध होगा कि वह बोध एकका रहेगा। एक ज्ञान नानाकाररूप होता है, किन्तु नैयायिक सिद्धान्त वाले ऐसा कहते है कि एक ज्ञानमे आकार एक ही होता और जो उदाहरण देते हो कि देखो जब चन्द्रमाको देखते है तो चन्द्रमाको भी जाना, एक सख्या भी जानी, एक रूप है ऐसा भी जाना, ये जो नाना आकार बताते तो शङ्काकार कहता कि एक ज्ञानके नाना आकार नही, किन्तु नाना ज्ञान बन रहे एक ही समय मे। एक दार्शनिक यह बात रखता है। देखो यह बतला रहे है कि एक बार जो ज्ञान होता है जीव को उस ज्ञानमे नानाकार रहता है। एक ही समयमे जितने पदार्थोंको जानेगा उतने आकारमे रहेगा और रहेगा ज्ञान वह एक ही। किन्तु एक दार्शनिक कहता है कि नही। वह ज्ञान ही अनेक है। जितना आकार आया। जितना बोध हुआ उतना ही पृथक् पृथक् ज्ञान है और उन ज्ञानोका समूह बन रहा है। जैसे चन्द्रको देखते ही कितने ज्ञान हो रहे ? चन्द्र है, एक है, इतनी दूर है, साफ है। वे कहते है कि ये नाना ज्ञान हो रहे और सिद्धान्त क्या कहता है कि एक ज्ञानमे ही उतने बोध हो रहे। उसका समाधान सुनो। यहां कह रहे हैं बौद्धादिकोंसे कि देखो यदि ऐसा मानेंगे कि एक ज्ञानमे एक ही आकार होता है तो तुम तो खुद चित्राद्वैतमे हुए, मेचक ज्ञान मानते हो याने नाना चित्रग होते है, एक ज्ञानमें तब तुम्हारे ही सिद्धान्तसे इसका विरोध है। और देखिये यदि एक ज्ञानमे नानाकार न समझा जाय तो सर्वज्ञ सिद्ध नही हो सकता, क्योकि जब इस बातपर अडेंगे कि जितने पदार्थ है उनका अलग-अलग ज्ञान कर-करके छोड-छोडकर सर्वज्ञ बने तो यह बिल्कुल असम्भव बात है कि एक-एक का ज्ञान करके और उन ज्ञानोको जोड-जोडकर सर्वज्ञ कैसे होगा ? हमने जाना, अब इसे जाना, वह छूट गया। अनन्त पदार्थ हैं, ऐसा एक-एकको जान जानकर जोड-जोडकर कोई सर्वज्ञ सिद्ध करे तो असम्भव बात है। सर्वज्ञता तब ही सिद्ध है जब एक समयके ज्ञानमे सर्व सत् एक साथ प्रतिबिम्बित होगे।

प्रमाणके स्वरूपके विषयमे शङ्काओका समाधान—इस प्रकरणमे बात कही गई है

ज्ञानके सम्वेदनकी। अब ज्ञानको प्रमाणका लक्षण कहते हैं ना। जैसे कि उसका ज्ञान पूरा प्रमाण है। प्रमाण है इसका स्वरूप क्या ? इसका स्वरूप बताया है जैनसिद्धान्तमे कि जो स्व और अर्थका वेदन करे वह प्रमाण है, पर यहाँ बौद्ध यह बात कहते है कि जो अविसम्वादी ज्ञान है सो प्रमाण है। जिस ज्ञानमे ज्ञान करते समय विवाद नही रहता वह ज्ञान प्रमाण है। अब आप देखना, जितना भी अन्य दर्शन वाले कहते है और जब वे अपनी बात कहते तब आपको ऐसा लगेगा कि बेचारे ठीक ही तो कह रहे, उनके पीछे क्यो पडा जा रहा, ऐसा सोचना चाहिए। बौद्ध कहते है कि जो ज्ञान विवादरहित है उसको प्रमाण कहते है, ठीक लग रहा ना ? अरे जहाँ विवाद है वह अप्रमाण है। जहाँ विवाद नही वह प्रमाण है। बौद्ध ठीक ही तो कह रहे, लग रहा है ना ऐसा, किन्तु देखो जिस समय कोई जीव स्वप्न देख रहा हो– नदी, पर्वत, मगरमच्छ आदिक जो कुछ देख रहा हो। कही स्वप्नमे मदिर दिखता, प्रतिमा दिखती, दर्शन करते, स्वप्नमे होते ना अनेक प्रकारके ज्ञान ? तो स्वप्नके समय मे उस स्वप्न देखने वालेको क्या विवाद रहता है कि मैं यह झूठा जान रहा हू ? अविसम्वादी ज्ञान है। देखो लक्षणका लक्षण सही तब बनता है जब अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोष—इन तीनो दोषोसे रहित हो तो स्वरूप है। सुननेमे तो लग रहा कि बौद्ध बेचारे ठीक कह रहे। विवादरहित ज्ञानको प्रमाण कहते हैं, पर स्वप्नमे जो दिख रहा है वहाँ क्या विवाद है स्वप्नमे ? हाँ स्वप्न मिट जाय, जग जाय तब सोचेंगे कि अरे मैंने जो कुछ स्वप्नमे देखा वह सब झूठ था। यह दार्शनिक शास्त्र है, युक्तिका शास्त्र है। यहाँ कोई कहे कि हमारे आगममे लिखा है तो इसको कोई प्रमाण नही माना जाता है ? इसका समाधान तो किया जा सकता है। उन्ही शङ्काकारके दर्शनसे व युक्तिसे। तुम लोग कहोगे कि हमारे शास्त्रोमे लिखा तो वे यह कहेगे कि जावो शास्त्र अपने आलेमे धर दो। तो उनको क्या उत्तर दोगे ? वहाँ तो दार्शनिकोको युक्तियोके बलसे मनाना पडेगा। अविसम्वादी ज्ञान प्रमाण है, ऐसा कहना क्यो अयुक्त है ? यो कि स्वप्नका भी ज्ञान प्रमाण हो जावेगा। अब बौद्ध कहते है कि इतनी ही बात नहो, किन्तु जिस ज्ञानके करनेसे सन्तोष हो जाय वह ज्ञान प्रमाण है। देखो कैसी अदल-बदल चल रही कि ज्ञानस्वरूपके बारेमे ज्ञानकी बात कह रहे है कि कौनसा ज्ञान प्रमाण है ? तो दूसरी बात रखी जा रही है जिस ज्ञानके करनेसे सन्तोष हो जाय सो प्रमाण है। इसके समाधानमे भी कह दीजिये कि यह भी बात स्वप्नमे है। स्वप्नमे यदि भोजन दिख जाय तो भोजन भी करने लगते विकल्पमे और सन्तोष भी करते। तो सन्तोष हो जाय जिस ज्ञानसे वह प्रमाण है, यह सब अतिव्याप्ति दोषसे दूषित है। तब एक और अन्य बात रखी है बौद्धोने कि नही भाई बात ऐसी मान लो कि अर्थक्रिया जिस ज्ञानमे ठहरे वह ज्ञान प्रमाण है। जैसे हम जानते है कि यह स्पीकर है और हम इसमे बोलते रहते हैं, अर्थ-

क्रिया चल रही है तो ऐसी अर्थक्रिया जहाँ ठहरे वह ज्ञान प्रमाण है। तो इसका समाधान देखो शब्द सुनो, उसमे अर्थक्रिया ठहरती है क्या ? बिजली चमकती, दिख गई तो अर्थक्रिया ठहरती है क्या ? तो अर्थक्रियाका ठहरना प्रमाण है, यह बात भी न बनी तो बौद्ध कहते है कि लो हमारी एक और अन्य बात सुनो– इच्छा न रहे सो प्रमाण है। जिस ज्ञानके होने पर इच्छा दूर हो जाय, जैसे कि प्यास लगी थी, पानी चाहिये था, पानी दिख गया, अब इच्छानिवृत्ति हो गई। स्वप्नमे पानी कहाँ है, सो इच्छानिवृत्ति भी जहाँ हो सो प्रमाण है। कहते है कि ऐसी आकाक्षाकी विकृति तो स्वप्नमे भी हुई। प्यास लगी, पानी दिख गया सतोष मान रहे। इस विषयमे बहुत शका समाधान है, इस विषयको छोडें, आखिर बात यह आती है कि जो ज्ञान स्व और पदार्थको जानता है और जिस-जिस विषयमे विसम्वाद नही रहता है वह ज्ञान उस-उस विषयमे प्रमाण होता है।

स्वयकी चर्चामे स्वयके प्रकाशके उपायका कथन– किसकी बात की जा रही है ? अपने आत्माके स्वरूपकी बात किसको कठिन लगती है कि जिन्होने अपने स्वरूपके बारेमे कुछ भान करनेका प्रोग्राम ही नही बनाया। देखो जितनी बात कही जा रही है वह सब बात एक ज्ञानी पुरुष अपने अनुभवमे लेता है। सबको सब वर्णन करनेमे देर लगेगी, पर समझनेमे देर नही लगती और उसकी अपेक्षा अनुभव करनेमे तो बिल्कुल ही देर नही लगती। अनुभवसे अधिक समय लगता है समझनेमे। समझनेसे ज्यादा समय लगता है बतानेमे, पर एक अनुभवसे जिस समय इस ज्ञानस्वरूपका दर्शन हुआ, सबका सब इसके अनुभवमे आ जाता है। ऐसा यह ज्ञान प्रमाणरूप है। मोक्षशास्त्र उमास्वामीका बनाया है, और किन्ही-किन्ही दार्शनिकोने तो यह कहा है कि उमास्वामी और कुन्दकुन्दाचार्य एक थे और इसके प्रमाणमे बतलाते है कि उमास्वामीको गृद्धपिच्छ आचार्य कहा और कुन्दकुन्दाचार्यको भी गृद्धपिच्छ कहा। जब ये विहार कर रहे थे और पिछी गिर गई तो आकाशमे गृद्धोके पख मिले, वही उनकी पिछी हो गई। तो ये आचार्य महाराज एक सक्षेपमे बता देते है। तत्प्रमाणे—इसमे कितना मर्म, कितना रहस्य और कितना तथ्य भरा है ? यह बहुत विस्तारकी बात है। देखो अष्टमी चतुर्दशीको तथा अष्टान्हिका आदिक पर्वोमे सूत्रजी का पाठ सभी लोग करते है और बडे विनयपूर्वक करते है, मगर उसमे क्या रत्न पडे है ? यह तो उस शास्त्रमे अवगाहना करनेसे ही विदित होता है। पाठ तो जल्दी-जल्दी पढते है। वस्तुके स्वरूपको समझनेका क्या उपाय है, बस यही चर्चा केवल पहले अध्यायमे है। अभी जीवतत्त्वका वर्णन नही आया। हाँ उसका वर्णन यो आ जाता कि तत्त्वके जाननेका जो उपाय है वह जीवकी ही स्थिति है। इस ढगसे तो आता है, मगर जैसे आचार्य ऐसा सकल्प करके चले कि मै ७ तत्त्वोका वर्णन करूँगा तो इस प्रोग्रामके अनुसार जीवतत्त्वका वर्णन दूसरे अध्यायसे है और पहले अध्यायमे

समस्त तत्त्वोके जाननेका क्या उपाय है, बस उस उपायका वर्णन है। साराश यह जानें कि जगतमे सबसे अधिक अलौकिक विभूति है तो मेरा ज्ञान है। कभी किसी बातपर अधीर मत हो। अगर कुछ टोटा पड गया या कुछ नुक्सान हो गया या वियोग हो गया तो कभी अधीर न हो। इनसे मेरा क्या ? यह तो प्रकट भिन्न चीज है। मेरा ज्ञान ही मेरे लिए वैभव है। यह भगवान आत्मतत्त्व हमारा एक अलौकिक तत्त्व है, ऐसी जिसकी दृष्टि आ गई तो उसने समझो सब कुछ पा लिया। इसे कहते है सर्व अर्थकी सिद्धि होना। सारे अभीष्ट काम सिद्ध हो जाये ऐसी कौनसी स्थिति है ? किसी भी पदार्थकी चाह न रहे, इसीके मायने हैं कि सारे पदार्थं एक मिल गए, मगर एक-एक पदार्थ मिला मिलाकर सारे पदार्थोंके मिलनेकी कोई बात करे तो यह असम्भव है। सारे पदार्थ कब मिल गए आपको ? समस्त प्रयोजनोकी सिद्धि कब हो गई आपको जब कि आप ज्ञानस्वरूपको जानकर यह निर्णय करलें कि मुझे कुछ न चाहिए। मेरे चाहने योग्य यहाँ कुछ भी चीज नही है। मै सर्वसे निराला एक अकिञ्चन हू—ऐसा अनुभव कर ले।

जीवके सर्वस्व ज्ञानभावकी प्रमाणरूपताका दिग्दर्शन—जीवका सर्वस्व वैभव ज्ञान है। ज्ञान ही इसका स्वरूप है। ज्ञान ही इसका सर्वस्व है। ज्ञानसिवाय आत्मा और क्या ? यदि यह जीव अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव कर ले कि मैं ज्ञान हो ज्ञान हू, ज्ञान सिवाय अन्य कुछ नही हू। जगतमे दिखने वाले ये पदार्थ मित्रादिक कुटुम्बीजन या अन्य कुछ वैभव मेरे से प्रकट निराले है, उनका मैं नही, मेरे वे नही। मैं केवल अपनेमे अपनी ही वृत्ति करता रहता हू, ऐसा अपनेको केवल ज्ञानस्वरूप देखें तो इस जीवपर कोई सकट नही, पर अपने स्वरूपकी दृष्टि तो करता नही और कर्मोदयका निमित्त पाकर, कषायावेशमे आकर, बाह्य पदार्थोंपर दृष्टि लगाकर अपनेको क्षुब्ध करता है और ऐसा ही यह अनादि कालसे करता चला आया है और यही बात इस भवमे भी यह करता चला जायगा तो यह भी भव व्यर्थ गया। तो सभाल करना अपने आपके स्वरूपकी, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ जो बातें है उनसे उपेक्षा करना और जैसे इस ज्ञानतीर्थकी प्रवृत्ति चले उस प्रकार व्यवहार करना, उस ज्ञान के बारेमे यहाँ जिक्र चल रहा है। तत्प्रमाणे—इस सूत्रकी व्याख्या चल रही है। इसका सामान्य अर्थ यह है कि वह दो प्रमाणरूप है अर्थात् ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो प्रकारका है। देखो हम आपका स्वरूप है ज्ञान। कोई भी पदार्थ परिणमन किए बिना अस्तित्व नहो रख सकता। जो भी है उसका प्रति समय परिणमन चलता ही रहेगा। तो मैं हू ज्ञानस्वरूप, मुझ ज्ञानस्वरूपका परिणमन चलता हो रहेगा। मुझ ज्ञानस्वरूपका परिणमन क्या हुआ ? जानना, समझना। पदार्थके बारेमे अपनी समझ बनना—यह है ज्ञानका काम तो वह जानन, वह समझमे, वह परिचय हम लोगोको दो ढगोसे होता है, एक तो होता है

इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर और एक होता है इन्द्रिय और मनकी सहायता बिना केवल अपनी ज्ञानशक्तिसे, ज्ञानस्वरूपसे केवल आत्मा ही आत्माके द्वारा ज्ञान होता है। ज्ञान तो सर्वत्र आत्माके ही द्वारा होता है, लेकिन कही इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर होता है, कही इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा रखकर होता है। देखो होता है ना हम आप सब लोगो के जो ज्ञान चल रहा है वह इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा रखकर चल रहा है ना? आखें मीच लो तो रूप दिखेगा क्या? कोई चीज जिह्वापर मत रखो तो स्वाद आ जायगा क्या? सभी ज्ञान ये इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा रखते है। जैसे प्रतिष्ठा इज्जत, यश, कीर्ति आदिक सम्बन्धी जो ज्ञान होता है वह रखता है मनकी अपेक्षा। तो इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा रखकर हमारे ज्ञान चल रहे है तो ये सब ज्ञान कहलाये परोक्ष और जो अवधिज्ञान, मनः-पर्ययज्ञान, केवलज्ञान है वह आत्मशक्तिसे चढ़ता है, इन्द्रियमनकी अपेक्षा वहाँ नही रहती तो वह कहलाया प्रत्यक्ष। यह सब वर्णन आगे किया जायगा।

अन्य चीजोको प्रमाणरूप कहनेके व्यवहारमे भी ज्ञानकी प्रमाणरूपताका लक्ष्य—प्रकरणमे यह समझे कि यह कहा जा रहा है कि ज्ञान प्रमाणरूप है, प्रमाण है। जैसे लोग कहते है कि अच्छा बतलावो इस बातका प्रमाण क्या? तो झट दस्तावेज सामने रख देते है कि यह है प्रमाण। तो क्या वह कागज स्याही वह प्रमाण है? नही। उसको पढकर जो भाव समझा, जो ज्ञान आया वह ज्ञान प्रमाण है। हर जगह ज्ञान ही प्रमाण होता है, चीज प्रमाण नही होती। कोई गवाह पेश कर दे साहब यह है प्रमाण तो क्या वह गवाहकी शक्ल-सूरत प्रमाण है? क्या गवाहके वचन प्रमाण है? अरे गवाहकी बात सुनकर सुनने वालेके जो ज्ञान बना कि बात ऐसी ही है वह ज्ञान प्रमाण है। ज्ञानको छोडकर अन्य कुछ प्रमाण नही होता। तो इस प्रमाणके बारेमे यह चर्चा चल रही है।

क्षणिकवादसम्मत चार प्रमाणलक्षणोका संक्षिप्त समीक्षण—प्रमाण किसे कहते हैं? जैनसिद्धान्त तो कहता है कि ज्ञान प्रमाण है और वह ज्ञान कैसे हुआ? जो स्व और पदार्थको जानता हो, पर इसके विपरीत बौद्ध यह बात रख रहे है कि जो ज्ञान अविसम्वादी हो वह प्रमाण है, ज्ञानमात्र नही, किन्तु जो विसम्वाद रहित हो सो प्रमाण। आया ज्ञान ही, पर उनका विवादरहित व्यवहारसे मतलब है। हाँ तो पूछा गया कि विसम्वाद न होना, इसका क्या अर्थ है? तो पहले तो यह बतलाया कि जहाँ विवाद न उठे सो प्रमाण। विवाद मायने विरोध। तो कहते है कि ऐसे तो जब स्वप्नमे कोई चीज दिखती है कि हम यात्राको जा रहे है, हम पानीसे नहा रहे हैं, हम जगलमे जा रहे है या धन मिल गया है या राजपाट मिल गया है तो ऐसा स्वप्न देखने वालेको क्या उसमे कुछ विवाद रहता है? बिल्कुल विवाद नही रहता, बिल्कुल सच समझता, रच भी शङ्का नही रहती। तो फिर वह भी

प्रमाण बन जायगा । जब बौद्धजनोने दूसरी बात रखी कि इतना ही नही किन्तु जहाँ आकाक्षा निवृत्त हो जाय सो प्रमाण है तो उसमे भी यही उत्तर है कि स्वप्नमें भी इच्छानिवृत्ति हो जाती है । जैसे मान लो स्वप्न आया कि हम किसी पगतमे जा रहे हैं, स्वप्नमे खूब अच्छा दिखता है, लड्डू भी परोसा, खाना भी परोसा और खाते भी है, इच्छा भी दूर होती, जैसे जगते समय भोजन करनेसे इच्छा दूर होती, पेटसा भर जाता, ऐसे ही स्वप्नमे भी लगता तो वह भी प्रमाण हो जायगा । तव तीसरी बात रखी कि जिसमे सतोप हो सो प्रमाण तो इसका भी वही उत्तर स्वप्नमे भी सन्तोप हो जाता, स्वप्नमे भी स्वाद लेते है, मिलता कुछ नही, मगर देखो बात सब झलकती है ना । सन्तोप होता है ना, तो वह प्रमाण हो जायगा । तब फिर वे कहते कि जिसमे अर्थक्रिया ठहरे सो पमाण है । काम ठहरे । स्वप्नमे देखी हुई बातमे काम कहाँ ठहरता ? मिट जाता है । तो इसका उत्तर यह है कि जैसे किसी ने कोई शब्द सुना और सुननेमे आ गए, खत्म हो गया, अब उसकी अर्थक्रिया नही चलती तो वह सुनना भी अप्रमाण हो जायगा ।

क्षणिकवादसम्मत प्रमाणके पञ्चम लक्षण अभिप्रायनिवेदनमे भी लक्षणत्वकी असिद्धि—बौद्धसम्मत प्रमाणके चार लक्षणोकी समीक्षाके बाद वह कहता है कि अब हमारी ५वी बात सुनो । यद्यपि शब्द सुननेके बाद शब्द न रहे, कानमे शब्दका सुनना न रहा, पर उन शब्दोको सुनकर अच्छा बुरा लगना, विचार करना, ये जो फल देखे जा रहे है तो इस फलका जो अनुभव होता है इससे यह ही समझ लें कि साध्य छूटा नही, अर्थक्रिया छूटी नही । इसे कहते है अभिप्रेत निवेदन याने सुनकर जो अभिप्राय बना उसका जो फल मिला उससे सिद्ध हुआ कि बराबर काम चल रहा । तो अभिप्रायका निवेदन प्रमाण है । अब इसका उत्तर चलेगा । देखो फलका अनुभव, अभिप्रायका परिचय यह अगर प्रमाण हो तो इसका अर्थ है कि उससे जो इच्छा दूर हुई, सतोप हुआ । बुरा लगा या अच्छा लगा, यह ही प्रमाण कहलाया । फिर अर्थक्रिया प्रमाण नही कहला सकती । और फिर यह बात तो स्वप्नमे भी देखी जाती, इसलिए अभिप्रायनिवेदन भी प्रमाण लक्षण न रहा । देखो कौनसा ज्ञान प्रमाण है ? इस विपयपर बडी समस्या चल रही है यहाँ । एक सीधी बात न माननेपर टेढी बातकी हठ होनेपर अनेक टेढें फसानी पडती है और उसमे फिर इस आत्माको मिलता कुछ नही है । केवल एक श्रम । सीधी बात यह है कि ज्ञान खुदको जानता है, सही है और जिस पदार्थ को जानता उसे भी समझना कि यह सही है । यह सब युक्तियोसे, स्वानुभवसे सब प्रकारसे सिद्ध हो जाता है और देखो यह प्रमाण और अप्रमाण तो एक ज्ञानमे भी बन जाता है । बदलता नही, किन्तु किसी अशमे प्रमाण है, किसी अशमे अप्रमाण है । यहाँ फिर शङ्काकार अगर कहे कि देखो स्वप्नमे देखी चीज और स्वप्नमे उसका फल भी भोगे, तिसपर भी जब

जग जाता है तब फिर वह अभिप्राय तो नही रहता, इसलिए स्वप्नका जाना हुआ प्रमाण नही है। तो कहते है कि अभिप्राय चल-विचल हो जाता, इसका अर्थ क्या ? तो कहते हैं कि अर्थ यह है कि जब यह जग जाता है तो इसे यह ही बोध होता है कि ओह ! मैने स्वप्न मे व्यर्थ ऐसी तर्कणा करी, वह झूठ है। तो देखिये उत्तर, अपना-अपना अनुभव बतायगा। स्वप्नमे भी ऐसा बोध होता है। जैसे आपका कोई इष्ट गुजर गया, ५-७ वर्ष हो गए, आपको दृढ निर्णय है ना कि वह तो गुजर ही गया, अब काहेको मिलता है ? और किसी दिन स्वप्न आ जाय और वही आदमी दिख जाय और उससे आप बात भी कर रहे है तो थोडा आप उस स्वप्नमे भी सोचते है कि ओह ! मै व्यर्थ सोचता था कि गुजर गया, वह तो यह खडा है। बोलो अनुभवसे ऐसी बात आती कि नही। स्वप्नमे भी थोडा ख्याल तो लग रहा कि मैंने बहुत-बहुत सोचा कि अरे वह तो मर गए, मगर यह तो सामने खडे है, बैठे है, बात कर रहे है, यह स्वप्नकी बात कह रहे है। स्वप्नमे ऐसा लगता है। तो लो स्वप्नमे भी अभिप्राय तो बराबर चल रहा है। तो वह ज्ञान भी प्रमाण बन जायगा। देखिये क्या बात चल रही है ? कठिन नही है। ध्यानसे सुनो—बात यह चल रही है कि जिस ज्ञानके होनेपर काम किया जा रहा हो वह ज्ञान प्रमाण है तो उसीकी चर्चा चल रही है कि काम तो स्वप्नमे भी कर दिया जाता है, स्वप्नमे भी अभिप्राय रहता है। यदि यह कहो कि स्वप्नकी बात तो बाद मे बाधित हो जाती है कि वह झूठ था। तो जब बाधक ज्ञान दूसरा बने कि वह झूठ था तो सिद्ध हो गया कि स्वप्नका ज्ञान सच नही। तो उत्तर देते है कि ऐसे ही तो जगतेके भी कई ज्ञान बाधित हो जाते है, उन्हे अप्रमाण मानते है। जगतेके कोई ज्ञान बाधारहित देखे जाते है तो स्वप्नके भी कई ज्ञान बाधारहित हो जाते है। तो फिर स्वप्नके समयका वह ज्ञान भी प्रमाण बन जाय। उससे यह निर्णय नही हो सकता कि इन-इन अर्थो वाले अविसम्वादी ज्ञान प्रमाण है। इस प्रकार प्रमाणके बारेमे अब क्या निर्णय करना ? यह निर्णय रखना कि वह ज्ञान जिसमे यह निर्णय पडा है कि यह ज्ञान भी सही है और यह पदार्थ भी सही है, ऐसी जहाँ चेतना जग रही हो वह ज्ञान प्रमाण है।

हमको एक बार स्वप्नमे ज्ञानानुभव हुआ। आप सुनेंगे तो कुछ अचरजसा मानेंगे कि आत्मानुभव स्वप्नमे कैसे ? करीब ८ वर्ष हो गए होगे। हमारे सहवासी गोहदनिवासी ब्र० छोटेलाल जी के अनुरोधसे हम गोहद गये थे, वहासे फिर मौ जा रहे थे। गोहदसे मौ करीब १६-१७ मील पडता होगा। तो चलते-चलते शाम तक हम बिलकुल थक गए, और रातको एक जगह विश्राम किया। हमारे साथमे ब्र० छोटेलालजी गोहद वाले थे। उनका निवास गाव था ददरौवा, जहाँसे मौ करीब ५ मील दूर था। तो वहा हम ठहर गए। अब शामका समय था, खूब थक गए। अब वह छोटेलाल जी भी वही बैठे और वही हम सो रहे और वही

छोटेलाल जी की बहुवें आयी, नाती-पोतोकी तरह वे भी छोटेलाल जी से बातें कर रही, हम नीद ले रहे और सोते हुएमे उन लोगोकी कुछ-कुछ अनसुनी जैसी बातें सुन रहे। फिर खूब तेज नीद आयी और सुबहके ब्राह्ममुहूर्तका समय होगा वहा हम एक ऐसा स्वप्न देख रहे कि हमारे सामने दो महिलायें, देवियो जैसी मुद्रा शृङ्गारमे बैठी है और हम अपनी सामायिकमे बैठे हुए है, सामने वे दो महिलाये धर्मभावका गीत गा रही है, खुश हो रही हैं। उस ही बीच मे हम सब ओरका ख्याल भूलकर और एक अपनेमे ज्ञानमात्र ऐसी दृष्टि बनाये है, है सब स्वप्नकी बात, पर स्वप्नमे भी ज्ञान तो होता है, जानना तो चलता ही रहता है। उस समय उनके सगीतके गायनके गीत बडे मधुर गीत, कोई साधारण गीत नही, एक बडा अलौकिक गायन था, मानो देवियोका गायन हो। उस बीचमे उनके गायनोका विकल्प छूटकर एक जो अपने आपके स्वरूपमे मेरे ज्ञानकी वृत्ति लगी तो मुझे आत्मानुभवका अलौकिक आनन्द मिला। है स्वप्नकी बात। उसके बाद जब नीद खुली तो ऐसा लगा कि क्यो नीद खुल गई? वही बात जरा और देर तक अनुभवमे आती। तो स्वप्नमे क्या ज्ञान नही चलता? पर वहाँ भी उसकी अर्थक्रिया चल सकती है। तब फिर प्रमाण क्या है, इसका निर्णय तो समस्यामे न बनेगा। प्रमाणका केवल यही लक्षण है कि हितकी प्राप्ति कराये और अहितका परिहार कराये, ऐसा जो समर्थ ज्ञान है वह प्रमाण है।

व्यवहारसे ही प्रामाण्य तथा मोहनिवर्तनके अर्थ ही शास्त्रकी मान्यताका समाधान— अब इस प्रसगमे पुन क्षणिकवादी कहते हैं कि सुनो—प्रमाण अप्रमाणका झगडा यह तो व्यवहारकी चीज है। व्यवहारसे ही प्रमाण है और व्यवहारसे ही अप्रमाण है। उसका परमार्थसे क्या मतलब? अच्छा, और फिर शास्त्रकी बात? कहते कि शास्त्र प्रमाण नही होते। शास्त्रका तो इतना ही प्रयोजन है कि मोह दूर करा दे। यह बौद्ध कहते है और प्रमाणका मतलब इतना ही है कि कोई ज्ञान होता है और वह प्रमाण होता है। और शास्त्र भी कोई वास्तविक चीज हो, यह कुछ नही है, किन्तु शास्त्र तो हैं मोह दूर करनेके लिए और प्रमाण है व्यवहार चलानेके लिए—ऐसी शङ्काकार अपनी शङ्का रखता है, क्योकि उनका जानना तो इतना ही है कि निर्विकल्प दर्शन। क्षणिक है पदार्थ, क्षण-क्षणमे नये-नये पैदा होते है इसीलिए उनके पदार्थ अहेतुक माने गए हैं। नया-नया पदार्थ है। एक पदार्थका दूसरे से क्या मतलब? तो यह प्रमाण है या अप्रमाण, यह प्रश्न न लगना चाहिए, क्यो यह तो व्यवहारकी बात है। योगियोकी, सन्यासियोकी साधनाकी बात नही है। तो उत्तर उसका साधारण यही है कि अगर शास्त्रमे भी प्रमाणता नही और अपने बोधमे भी प्रमाणता नही तब तो शास्त्रसे मोह कैसे दूर होगा? और जब शास्त्रसे मोह दूर न होगा, फिर शास्त्र रचे ही क्यो गये? जो पक्का नही, प्रमाण नहीं वह मोहको कैसे दूर करे? और जब मोह दूर न

कर सके तो शास्त्र बनाये क्यो गए ? यदि शङ्काकार यो कहे कि जैसे व्यवहारसे मोह हो जाता है ऐसे ही शास्त्रसे मोह हट जायगा, सो बात नही। मोह जीवोको हो रहा है। विषय वासना अनादिसे लगी है सो प्रकृति उदयमे। पर मोह दूर होगा तो अटपट बातसे न होगा। प्रमाणीक युक्तिसगत अनुभवमे उतरें, ऐसे ज्ञानके द्वारा ही मोह दूर हो सकता है। केवल बातो से मोह दूर नही हो सकता। अगर यो शास्त्रके कथनमात्रसे मोह दूर हो जाय तो जिस किसी का भी शास्त्रसे मोह दूर हो जाना चाहिए। तो शास्त्रसे मोह दूर नही होता किन्तु सम्यग्ज्ञान से मोह दूर होता। शास्त्रको पढकर जब ज्ञान सही बनता है कि वास्तविकता तो यह है तब वहाँ मोह दूर होता है।

निज पारमैश्वर्यकी सभालमे अपनी सच्ची संभाल—अब फिरसे अपने आप पर जरा आइये। हमारा सर्वस्व हमारा ज्ञान है, उस ज्ञानघनकी तो फिक्र नही करते और बाहरी ऊपरी बातोकी इतनी चिन्ता बनाते। सो इस आग्रहमे यह दुर्लभ पाया हुआ मनुष्य ज म व्यर्थ चला जायगा। कषायोके प्रति तो ऐसी बुद्धि रखें कि कपायोकी शुरूवात मुझमे मत हो। ये कपाये अनर्थ करने वाली है। मै इनसे अलग रहकर एक ज्ञानमात्र अतस्तत्वका अनुभव करू। ज्ञान ही मेरा धन है। देखो कितना ऐश्वर्य है कि हम आप स्वय स्वभावसे परमेश्वर हैं। ज्ञान और आनन्द हमारा ऐश्वर्य है, और वह ज्ञान और आनन्द मेरा स्वरूप है, वह ज्ञानानन्द कही बाहरसे लाना नही है, मेरा स्वरूप है, मुझमे है, मुझमे ही प्रकट होता है। बस एक सही ज्ञान बने कि मेरा ज्ञान और आनन्द मुझमे अपने आपसे प्रकट होता है। देखो बात यहाँ दो हे—ज्ञानानन्द और दु ख आकुलता, कष्ट क्षोभ याने सर्वविकार—ये दो बातें सामने रखो। तो जैसे ज्ञानानन्दको बात है ना कि ज्ञानानन्द निरपेक्ष होकर मेरेमे मेरेसे ही प्रकट होता हे ऐसे ही यदि विकारके लिए मान ले कोई कि ये रागादिक विकार भी मेरेमे मेरेसे अपने आप निरपेक्ष प्रकट हुए, तब फिर दोनोका यह खिचडो बन गया, फिर कुछ न चलेगा। आपको अकाट्य श्रद्धा रखनी होगी कि विकार मेरेमे मेरेसे निरपेक्ष नही बने। वे कर्मादय विपाकका निमित्त पाकर और बाहरी उपचरित निमित्तोका आश्रय लेकर ये विकार बने है जो अनुभवमे आ रहे। तब समझो इनका निषेध कैसे कर सकेंगे ? यो कि विकार मेरे स्वरूप नही, ये नैमित्तिक है, परभाव है।

उपयोगसे विकारको दूर कर ज्ञानानन्दामृतका पान करनेमे आत्मकल्याण—भैया ! आपको ज्ञानानन्दका भोजन करना है तो उस राहसे चलें और जैसे अपना ज्ञानानन्दस्वरूप अपनी दृष्टिमे आये उस प्रकारसे अनुभव बनायें। ज्ञानानन्दके अतिरिक्त जितने भी भाव है वे मेरे स्वरूप नही, वे मेरेमे मेरे निमित्तसे नही हुए, किन्तु परसग पाकर हुए। परसग पाकर जो विकार हुए वे परभाव है, परको माया छाया है, ये मेरे स्वरूप नही है, इसलिए सही

बोध बनाकर पहले इन विकारोको उपयोगसे बाहर निकालें तब अपने इस ज्ञानानन्दस्वरूपकी दृष्टि हम कर सकते है। जैसे ज्ञानानन्द हमारे गाँठकी चीज है, ऐसे ही विकार भी हमारे गाठ की चीज है, ऐसी श्रद्धा रहेगी तो वहाँ ज्ञानान्दका अनुभव नही हो सकता। वेदान्तकी जागदीशी टीकामे एक उदाहरण आया है कि शक्करकी दूकानमे रहने वाली चीटी एक बार नमक की दूकानमे रहने वाली चीटीके पास गई और उसने कहा—बहिन यहाँ तुम क्या खारा-खारा खा रही हो। मेरे साथ चलो ना, मीठा ही मीठा खावो। उसने बहुत-बहुत समझाया तब वह चली तो सही, पर यह सोचकर कि वहाँ कुछ खानेको न मिले और लघन करना पडे तो बुरा रहेगा सो अपने मुखमे नमककी डली लेकर चली। जब वहाँ शक्करकी दुकानमे पहुच गई तब शक्करकी चीटीने पूछा— कहो बहिन अब मीठा मीठा लग रहा ना? तो नमककी चीटी बोली कि हमको तो कुछ भी मीठा नही लग रहा। तो फिर शक्करकी चीटी बोली तुम मुखमे कुछ रखे तो नही हो? हा एक नमककी डली मुखमे दाबकर साथ ले आयी हू। अरे इस नमककी डलीको तू बाहर फेंक दे तब मुझे मीठेका स्वाद आयगा। तो ऐसे ही भाई इस उपयोगको परभाव जानकर, नैमित्तिक जानकर, परप्रतिफलन जानकर इनको उपयोग द्वारा फेंक दें। ये मेरी चीज नही है, मेरे स्वरूप नही है, ऐसा उससे पहले हटाव बने और फिर अपने स्वरूपमे नित्य अन्त.प्रकाशमान उस सहज ज्ञानानन्दस्वभावकी दृष्टि करें तो ज्ञानानन्दस्वरूपका अनुभव मिलेगा। उस ही ज्ञानके बारेमे दार्शनिक विधिसे यह चर्चा चल रही है कि वह ज्ञान क्या चीज है? प्रमाण क्या वस्तु है? तो प्रमाण कोई व्यवहार मात्र की बात नही है कि लोकमे व्यवहारमे जहा जहा किसीको किसी भी बातसे प्रमाणता आ गई तो प्रमाण है। साक्षी भुक्ति, लेखन, दस्तावेज, जिस किसी भी तरह प्रमाण मानने लगे सो बात नही। प्रमाण ज्ञान ही होता। अज्ञान प्रमाण नही होता। अज्ञानमे दोनो ही बातें आ गईं। न तो ये अजीव पदार्थ प्रमाण कहलाते और न खोटा ज्ञान प्रमाण कहलाता, किन्तु जहा स्व और अर्थका निश्चय पडा हुआ है वह ज्ञान प्रमाण कहलाता है।

क्षणिकवादसम्मत प्रमाण लक्षणोकी असिद्धि—प्रमाणके वर्णनके प्रसगमे क्षणिकवादी यह बात कह रहे है कि प्रमाणपना तो व्यवहारकी चीज है। वास्तवमे प्रमाणपना और अप्रमाणपनेसे क्या मतलब? एक बात। दूसरी बात यह है कि शास्त्र जो बनाये गए है वे कोई तत्त्वकी सिद्धिके लिए नही, न प्रमाण बतानेके लिए। किन्तु उन्हे पढे कोई और उनका मोह दूर हो जाय, इसके लिए शास्त्र बनाये गए। जैसे कि बहुतसे लोग कम पढे लिखे भी हो, मन्दिर आते हैं, श्रद्धासे शास्त्र उठाते है, १०–५ लाइन बाँचते हैं तो उनके उपयोगमे यह रहता कि मोहसे हटे रहना। तो शास्त्र उठाना, पढना, इनमे दिल लगाना, उससे मोह दूर होता है। शास्त्रका इतना ही प्रयोजन है। शास्त्रसे कोई तत्त्व या प्रमाणकी बात आती

हो, सो नही। ऐसा कहने वाले ये क्षणिकवादी यह भी कहते है कि जो युक्तिसे बात घटित नही होती है उस बातको देखकर भी हम तो श्रद्धा न करेंगे, ऐसा उनका सकल्प है। जैसे कि मानो एकदम हाथी दिख गया तो दिखते ही हम हाथीकी श्रद्धा न करेंगे। हाथ पैर सूंड देखकर फिर विचार बनायेंगे कि ऐसे अग जिसमे होते वह हाथी है। तो जब युक्तिसे उस बातको समझ लेंगे तब हम इसकी श्रद्धा करेंगे, ऐसा कहते है क्षणिकवादी। तो अब बतलावो यहाँ प्रमाणपनेको भी युक्तिसे ही श्रद्धा करने लायक बताया है, तो युक्तिकी प्रधानता हो गयी ना अब। तो कैसा यह बाधित वचन है, वचनसे कभी कुछ कह दिया, कभी कुछ। अभी तो कह रहे थे कि युक्ति कुछ चीज नही, प्रमाणपना व्यवहारमे है, शास्त्र मोह दूर करनेके लिए हैं। अब यहाँ बोल रहे है कि जो बात युक्तिसे घटित न हो, चीज दिख जाय तो भी मैं उसकी श्रद्धा नही करता। तो ये तो परस्पर बाधित वचन हुए। इस प्रकार प्रमाणके लक्षण जितने क्षणिकवादियोने कहे अब तक उनमे दोष हैं, इस कारण वे सही लक्षण नही है।

क्षणिक व विष्वग्भूत अणुओमे अर्थक्रियास्थितिकी असंभवता-- अभी आखिरमे इसका लक्षण यह बताया है कि जहाँ अर्थक्रिया ठहरे बस वह प्रमाण है। जैसे पानी समझा तो देखो अब पानी पीने लगे, उस समय जो पानीका व्यवहार हुआ उससे समझा कि जो पानी जाना वह सच बात है। किसी भी बातको जानना सच तब है, जब कि वह काममे आये, ऐसा इसका एक अन्तिम कथन था, लेकिन कितनी अचम्भेकी बात है कि ये क्षणिकवादी बौद्धजन पदार्थोंको क्षणिक मानते हैं। पदार्थ एक क्षणको रहता है, दूसरे क्षण नही रहता। तो जब एक क्षणमे ही पदार्थ रहता है, तब दूसरे क्षण रहता ही नही है तो उसका जो ज्ञान होगा एक तो निश्चय वाला नही हो सकता, क्योकि जब निश्चय करेंगे तो पदार्थ मिट गया, जिसका निश्चय करना है और जिस समय पदार्थ है उस समय एक झाँकी भर हो पायेगी, निश्चय हो ही नही सकता। तो जहाँ कुछ निश्चय भी नही हो सकता वहाँ अर्थक्रिया होगी ही क्या? तब अर्थक्रिया ठहरना यह प्रमाणका लक्षण है, सो ठीक नही बैठता। दूसरी बात देखो— ये क्षणिकवादी इन दिखने वाले पदार्थोंको झूठ कहते हैं, जो दिख रहा है वह असत्य है। सत्य तो इसमे एक एक परमाणु है और परमाणु बिखरे ही रहते हैं, उनका मिलकर कोई पिंड नही बनता। तो जहाँ परमाणु मिल भी नही पाते, न परमाणु का मिलकर कोई पिण्ड बनता तो अर्थक्रिया उनमे सिद्ध ही क्या होगी? तब घडा ही नही है उनकी दृष्टिमें, अलग-अलग भिन्न-भिन्न बिखरे-बिखरे परमाणु है, तो ऐसे बिखरे भिन्न परमाणुवोमे क्या पानी भरा जाता है तो जहाँ पिण्ड भी नही माना गया और सब परमाणु विभिन्न होते है, उनको अर्थक्रियाका ठहरना बिलकुल एक हँसीकी बात है। तो क्षणिक-

वादियोकी अर्थक्रियाका ठहरना नही बनता। इस कारणसे प्रमाणका लक्षण जो बताया वह उचित नही है।

क्षणिकवादसम्मत छठे प्रमाणलक्षण अज्ञातार्थप्रकाशकी समस्या व समाधान—अब छठी बात रख रहे है क्षणिकवादी कि प्रमाणका लक्षण वास्तवमे तो यह है कि 'अज्ञात अर्थ का प्रकाश हो जाना। जो चीज जानी नही गई अब तक उसका परिचय होना, प्रकाश होना यह प्रमाण है, ऐसा क्षणिकवादियोका कहना भी युक्त नही है, क्योकि जहाँ यह सकल्प बनाया कि अज्ञात पदार्थका प्रकाश होना प्रमाणका लक्षण है तो बौद्धोने प्रमाण दो माने हैं केवल—प्रत्यक्ष और अनुमान। प्रत्यक्षमे तो इन्द्रिय मनसे जो साक्षात् ज्ञान हुआ वह प्रत्यक्ष है, उसके बाद उसका जो विचार बना वह अनुमान है। जैसे धुवाँको देखकर अग्निका अनुमान होता कि इस जगहमे अग्नि है, क्योकि धुवाँ उठ रहा है या अन्य-अन्य अनुमान जब मानते है तो अनुमान तो वहाँ ही बनता जहाँ कुछ चीज पहले जानी हो और उसे जाना जा रहा हो। धुआँ पहले जाना, अग्नि पहले जाना, अब उस जाने हुएमे धुवाँ दिख गया तो अग्नि को फिर जाना तो यह तो अज्ञात अर्थका हो जानना हुआ। किसी न किसी प्रकारसे जिसे पहले जाना हुआ है उसीका ही ज्ञान बना, और यह सकल्प कर रहे है -शङ्काकार कि जो न जाना हो कभी, जो न ग्रहण किया हो कभी, उस पदार्थका प्रकाश होना प्रमाण है, तो यह लक्षण अब तो नही बना। अगर ऐसा ही लक्षण बनानेकी हठ रखेंगे तो अनुमान प्रमाण नही रह सकता, क्योकि अनुमान उस गृहीतको ही ग्रहण करता है। यदि शङ्काकार यह कहे कि भले ही प्रत्यक्षके द्वारा ग्रहण हुआ है और फिर उसका अनुमान किया है, लेकिन प्रत्यक्षसे ग्रहण हो जानेपर भी उन क्षणिकपना आदिक साध्योमे सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय बीचमे आ गए थे तो उनको दूर करनेके लिए यह अनुमान प्रमाण बना, इसलिए अनुमानमे प्रमाणता आती है। जैसे क्षणिकवादियोने किसी पदार्थको देखा और क्षणिक समझ गए, मगर वह तो क्षणभरकी झाकी है। अब उसके बाद उसमे सशय हो, विपर्यय हो, निश्चय नही है तो फिर उसका जो निर्णय किया गया वह अनुमानसे हुआ तो सशय आदिक बीचमे आनेसे उनके दूर करनेके लिए अनुमान बना, इस कारण अनुमानमे प्रमाणता है। तो समाधान इस का स्पष्ट है कि गृहीतग्राही होनेपर जब अनुमान प्रमाण मान लिया संशय आदिक दूर करनेसे तो ऐसे ही स्मरण प्रत्यभिज्ञान तर्क इन्हे भी प्रमाण मान लेना चाहिए। क्षणिकवादी दो प्रमाण मानते है, तो जो बात अनुमानमे है—गृहीतको ग्रहण करना, जाने हुए को जानना सो बात स्मरणमे है, प्रत्यभिज्ञानमे है, फिर इन्हे क्यो नही प्रमाण मानते ? और प्रमाण अगर मान लिया स्मरण आदिकसे, जैसे कि स्मरण हुआ वह है वहाँ तो पहले देखा था तब तो स्मरण है तो गृहीतग्राही होना अनुमान प्रमाण है, ऐसे ही गृहीतग्राही स्मरण भी प्रमाण

है । तब प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे ही दो प्रमाण है- यह बात तो न रही । यदि शङ्काकार कहे कि हम दो प्रमाण मानते है- प्रत्यक्ष और अनुमान, मगर प्रत्यक्षको तो मानते है मुख्य प्रमाण और अनुमानको मानते है हम व्यवहारसे प्रमाण याने गौणरूपसे प्रमाण । तो समाधान यह है कि इसी तरह तो चार्वाक माना करते है, फिर उनको दोष क्यो दिया ? चार्वाकका, एक सिद्धान्त है कि जो दिखता है वह प्रमाण है और जो नही दिखता वह कुछ चीज नही स्वर्ग, नरक, लोक, परमाणु आदिक जो दिखते ही नही है वे कुछ नही है । तो वह लोक भी जब प्रत्यक्षको प्रमाण सिद्ध करता है तो अनुमान लगाकर करता है, तो उनसे कहा जाय कि अनुमान तो तुम मानते ही नही और अनुमानसे ही तुम सिद्ध करते हो, तो उनका भी यह ही कहना होता है कि अनुमान गौणरूपसे प्रमाण है । यही बात क्षणिकवादी मानेंगे तो फिर अन्तर ही क्या रहा ? इस तरह क्षणिकवादियो द्वारा बताये गए प्रमाणमे छहो लक्षण दूषित हैं । लक्षण केवल यह सही है कि जो स्व और अपूर्व अर्थका जानना करे वह ज्ञान प्रमाण है ।

मीमांसकसम्मत सर्वथा अपूर्वार्थग्राही प्रमाणकी मीमासा—अब इस समय मीमासक सिद्धान्तका अनुयायी एक प्रस्ताव रख रहा है कि भाई क्षणिकवादियोका प्रमाणका लक्षण तो सही न रहा, पर हम बतलाते है कि यह है प्रमाण । क्या है भाई ? जो अपूर्व अर्थका विज्ञान हो, निश्चित हो, बाधारहित हो और निर्दोष कारणसे बनता हुआ हो और लोक-सम्मत हो, सब लोग उसको मान जायें वह प्रमाण है । कितनी बात रखी, जो अपूर्व अर्थका विज्ञान हो और निश्चित हो, बाधारहित हो, निर्दोष कारणसे रचा हुआ हो और सब लोगो की सम्मति मिल जाय, ऐसी ५ बातें जहाँ हो वह प्रमाण है ऐसा मीमासक सिद्धान्त वाले प्रमाणका लक्षण रख रहे है । हर एक बातपर क्रमसे अब विचार करो । पहले कहा गया कि जो अपूर्व अर्थका विज्ञान हो, सो यदि ऐसा एकान्त करने लगे कि जो सर्वथा अपूर्व अर्थ का विज्ञान हो वह प्रमाण है तो इसके मायने यह हुए कि गृहीतग्राही ज्ञान प्रमाण नही होता, याने जो बात कुछ भी पहलेसे जान रखी हो उस चीजको जान जाय वह प्रमाण न होगा । तो जब गृहीतग्राही प्रमाण न रहा तो अनुमान आदिक जो प्रमाण मानते हैं मीमांसक उनका कैसे प्रमाण सिद्ध हो सकेगा ? मीमासक स्वय ऐसा कहते है कि शब्द नित्य है क्योकि ये प्रत्यभिज्ञानसे जाने जाते है । प्रत्यभिज्ञानसे जाने जाते है- इसका भाव यह है कि शब्दके बारेमे यह ज्ञान बना रहता है कि यह शब्द वही है जो सुबह सुना था, जो कल सुना था और कह ही देते है लोग । जितनी गाली कोई रोज देता हो और आज दे रहा हो तो लोग कह देते कि अरे कोई नई बात नही है, वे शब्द तो इसके पुराने है । तो ऐसा प्रत्यभिज्ञान बनता है शब्दमे, इस कारण शब्द नित्य कहलाते हैं । ऐसा कथन मीमासकवादियोका है । तो यहाँ यह ही बात तो आ गई ना कि गृहीतग्रहण बन गया । यह शब्द जो आज सुन

रहे है वही शब्द कल सुना था। तो कलके शब्दका ज्ञान है उसीका आज कर रहे तो जाने हुएका ही ज्ञान किया जा रहा तो अब यह प्रमाण न रहना चाहिए। उत्तरमे मीमासक जनोने यह सकल्प किया है कि जो अपूर्व अर्थका विज्ञान हो वह प्रमाण है। यदि ये मीमासक जन यह कहे कि भले ही बहुत जान लिया, फिर भी उसे भूल गए थे, फिरसे ख्याल कर रहे है, इस कारण अपूर्व अर्थ बन जायगा, याने चीज बन जायगी। तो समाधान स्पष्ट है कि जब जानी हुई चीजका निश्चय है, फिर जानना इसमे विषय नया बन गया तो फिर अनुमान तर्क आदिक ये सब भी प्रमाण बन जाने चाहिएँ। इससे ऐसी हठ मत पकड़ें कि जो सर्वथा अपूर्व अर्थका ज्ञान किया जा रहा हो, वह प्रमाण है। अरे किसी अशमे अगृहीत है वह विषय और किसीमे गृहीत रहा आवे, कथचित् अगृहीतका ग्राही होना चाहिए, सर्वथा अगृहीतका ग्राही हो ऐसा आग्रह न करो। यदि यह कहो कि यह प्रत्यभिज्ञान तो प्रत्यक्ष ज्ञान है तो लो अब और इसमे दोष आया। प्रत्यक्ष भी गृहीतग्राही बनने लगा तो यो प्रत्यभिज्ञान गृहीतग्राही मानना ही होगा। और गृहीतग्राही होनेसे वह अप्रमाण नही, किन्तु कथचित् गृहीतग्राही है और कथचित् अगृहीतग्राही है। तो यह आग्रह न करो कि जो सर्वथा अपूर्व अर्थका विज्ञान है सो प्रमाण है।

प्रमाणके लक्षणके प्रसगमे प्रकरणका पुन· स्मरण—मोक्षशास्त्रके प्रथम अध्यायमे पदार्थोंके जाननेका उपाय बताया है। तो सर्वप्रथम कहा गया कि प्रमाण और नयोसे वस्तुका अधिगम होता है। तो प्रमाण क्या चीज है ? उसका वर्णन करनेके प्रसगमे प्रमाणके भेदोको बताया था और अब बतला रहे है कि पाँच प्रकारके ज्ञान तो प्रमाणरूप है। यह सब समझने से पहले यह जानना जरूरी है कि प्रमाणका लक्षण क्या है ? प्रमाण कहते किसको हैं ? इस सम्बधमे बहुत चर्चा चली। आखिर मीमासक यह कहने लगे कि प्रमाणका लक्षण तो यह सही है कि जो अपूर्व अर्थको जानता हो याने नये पदार्थोंका, जिसका ज्ञान न किया गया हो अब तक, उसको जानता हो वह ज्ञान प्रमाण है और जिसमे बाधा न हो वह ज्ञान प्रमाण है और जो निश्चित किया गया हो तथा जो निर्दोष कारणोसे उत्पन्न हुआ हो और जो सर्वलोको द्वारा सम्मत हो उस ज्ञानको प्रमाण कहते है। मीमासकोके ये लक्षण ५ प्रकारके कहे गये है, वे ५ बाते व्यर्थसी है लक्षणके लिये। क्योकि प्रमाणका निर्दोष लक्षण है कि जो खुदको और अपूर्व अर्थको जाने वह ज्ञान प्रमाण है। तो इन दो विशेषणो वाले प्रमाणके लक्षणोमे पहली बात तो कही दी गई कि जो अपूर्व अर्थको जाने। जैनसिद्धान्त भी कहता है कि जो अपूर्व अर्थको जाने वह ज्ञान प्रमाण है, और मीमासक भी कह रहे, पर फर्क एकान्तवादका है।

प्रमाणके लक्षणमे एकान्तत. अपूर्वार्थविशेषणकी अयुक्तता—अपूर्व अर्थ ही जाना जाय, यह तो केवल प्रत्यक्षज्ञानमे ही सभव हो सकता है। अन्यमे तो किसी न किसी तरह पहले जान लिए गए है पदार्थ उसीके बारेमे जाना जाता है, जैसे स्मरणज्ञान। किसी चीजका

स्मरण हुआ तो जिसको स्मरणसे जाना वह चीज पहले जान ली गई थी। प्रत्यक्षसे कभी देखा था, उसको आज ख्याल कर रहे है। बम्बईका ऐसा समुद्र है, तो समुद्र पहले जान तो लिया था आँखो देखकर, आज उसका स्मरण कर रहे तो इस स्मरणने जिस समुद्रको जाना वह सर्वथा अपूर्व न रहा, और उसको पहले जान लिया था, उसीको जाना जा रहा। तो यदि यह एकान्त करते है कि जो अपूर्व अर्थको जाने सो ही प्रमाण है। जाने हुएको जाने, सो प्रमाण नही, ऐसा एकान्त करनेपर तो स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क आदिक सभी अप्रमाण हो जायेगे। इस कारण अपूर्व अर्थको जाने सो प्रमाण है, ऐसा कथन युक्त नही है, किन्तु जो खुदको और अर्थको जाने वह प्रमाण है। यद्यपि अपूर्व अर्थको जानना भी बताया है प्रमाणके लक्षणमे, किन्तु सर्वथा अपूर्व अर्थ नही। किसी अशमे नई बात जाने सो प्रमाण है, क्योकि जितने अशोमे पहले जाना था उतने अशोमे बराबर जानते रहे, तो ऐसा कोई कहता रहे तो उसे लोग पागल जैसी बात समझेंगे। जैसे पागल पुरुष एक ही बातको दिनभर कहता रहता है, ऐसे ही एक ही बातको उतने ही अशोमे बराबर जानें तो वह धारावाही ज्ञान कहलाता है। धारावाही ज्ञान प्रमाण न बन जाय, इसके लिए तो आवश्यक है कि प्रमाणके लक्षणमे अपूर्व अर्थ विशेषणमे दिया जाय, किन्तु इस विशेषणका अर्थ सर्वदेश नही है। किस देशमे अपूर्व अर्थ हो, उसे जाने सो प्रमाण कहलाता है। तो मीमासकोने जो प्रमाणके लक्षणमे पहली बात कही थी कि बिल्कुल नये पदार्थको जाने, जो कभी जाना ही नही गया, ऐसी बातको जाने सो ज्ञान प्रमाण है। ऐसा कहनेमे प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण बन जायगा। प्रत्यभिज्ञानका अर्थ है कि जो बात पहले समझी गई और जो उसीके बारेमे आज समझा जा रहा तो आज की समझका और पहलेके समझे पदार्थोंको जोडकर वह प्रत्यभिज्ञान है। जैसे यह वही बालक है जिसको गत वर्ष देखा था अथवा यह गाय रोजकी तरह है। तो किसी तरह पूर्वके जाने गए ज्ञानमे और आजके जाने हुए ज्ञानमे जोड हो वह प्रत्यभिज्ञान है। तो प्रत्यभिज्ञानने कुछ नया तो नही जाना। जो पहले जाना था उसको ही आज समझ रहे है। तो ऐसा अगर कहा जाय कि अपूर्व अर्थको जाने सो प्रमाण। तो प्रत्यभिज्ञानने अपूर्व अर्थ तो नही जाना पहले जाने हुएको ही जाना। तो इस हठमे प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण हो जायगा। इस प्रकार शकाकार कहता है कि प्रत्यभिज्ञान तो प्रत्यक्ष ज्ञान है। तो लो और भी आपत्ति आयी कि ऐसा प्रत्यक्ष भी अप्रमाण हो गया। उस प्रत्यक्षने भी पहले जाने हुएको ही जाना था। यदि यह कहो कि पहले जाने हुएको नही जाना, क्योकि पहले जिस बालकको जाना था और आज जिस बालकको जान रहे है, इन दोनोमे जो बीचकी एकता है तबसे लेकर अब तक यह रहा आया, उस एकताको जाना तो वह एकता एक नई चीज है। तो समाधानमे सोचो कि वह एकपना क्या पहले और अबके पदार्थोंसे न्यारी है? एक है। अगर न्यारी है तो प्रत्यभिज्ञान

नही बनता, अगर एक है तो अपूर्व अर्थ नही बनता। इस कारण यह मान लेना चाहिए कि किसी अशमे पूर्वका अर्थ हो उसका ज्ञान प्रमाण है, यह तो बनता है, मगर सर्व देशमे अपूर्व हो, बिल्कुल नया हो, उसे जाने, ऐसी बात ज्ञानमे सम्भव नही है। तो मीमासकोंने जो पहले विशेषण दिया वह विशेषण युक्त नही जचता। तो प्रमाणका यह लक्षण कि जो स्व और परपदार्थको जाने सो प्रमाण है—ऐसा कहनेमे प्रमाणकी सारी वात आ जाती है। अब अपूर्व अर्थ यह एकान्तमे विशेषण दिया जा रहा है। थोडी उसकी विशेपता बतानेसे अपूर्व अर्थका ज्ञान प्रमाण है- कैसे कहा जा सकता है? मगर उसमे यह ही बात समझनी होगी कि कुछ बात नई है, बाकी बात पुरानो हुई है, उसे भी जाने सो भी प्रमाण है।

प्रमाणके लक्षणमे बाधवर्जित विशेषण देनेकी अयुक्तता—इसी प्रकार अब दूसरा विशेषण देखिये—जिस ज्ञानपर बाधक प्रमाण न आये वह ज्ञान प्रमाण है। जैसे रस्सीको सांप जाना था, अब थोडी देरमे बाधक ज्ञान बन गया, यह तो रस्सी है, सांप नही है तो वह ज्ञान प्रमाण तो न रहा। किसी भी ज्ञानमे प्रमाणता तब आती है जब कि उसमे बाधक ज्ञान न आ सके। इस कारणको, बाधक ज्ञानके अभावको प्रमाण कहते है, ऐसा मीमासकोका कथन है, लेकिन इसमे भी आपत्तियाँ है। पहली बात तो यह ही समझें कि जिस पदार्थको जाना जा रहा है उस पदार्थका भली प्रकार निश्चय बन गया। बस इसीके मायने है कि वहाँ बाधक ज्ञानका अभाव है। अब किसी चीजको जानकर फिर यह विकल्प करें कि इसमे बाधक ज्ञान तो नही है और जब यह समझमे आया कि बाधक ज्ञान नही है इसलिए यह प्रमाण है तो ऐसा न कोई सोचता है और न इस तरहसे प्रवृत्ति बनती है। किसी पदार्थको जाने और भली प्रकार निश्चय हो गया कि यह वही पदार्थ है तो उसीके मायने प्रमाणका लक्षण है। तो यहाँ मीमासक यह कह रहा था कि जिस ज्ञानमे कोई बाधा न आये वह प्रमाण है और सिद्धान्तमे यह कहा जा रहा कि जिस पदार्थका पूरा निश्चय हो गया कि यह यही है वह प्रमाण है। यद्यपि बातें दोनो शामिल हो जाती है। जिस ज्ञानमे इसका निश्चय है उसका अर्थ यह है कि इसमे बाधा डालने वाला कोई दूसरा प्रमाण नही आता। यह तो एक विशेपता है कि अगर ज्ञानका, प्रमाणका लक्षण बनाया जाय तो यहांके बाधक ज्ञान न आयें सो प्रमाण है। तो इसमे तो लो किसी पदार्थको जान लिया कि यह घडा है तो इस ज्ञानमे बाधा डालने वाला कोई दूसरा ज्ञान तो न आ पायगा। हाँ, न आ पायगा, ऐसा निश्चय होनेपर हम कहे कि यह हमारा सही ज्ञान है तो यह एक व्यर्थका व्यायाम है। ऐसा जो हमको बहुत बार निश्चय हुआ है इसीका अर्थ यह है कि हमारे ज्ञानमे बाधा डालने वाला कोई दूसरा ज्ञान नही आ सकता। तो यद्यपि यह बात सही तो है कि जो सही ज्ञान होता है उसमे बाधा डालने वाला कोई दूसरा ज्ञान नही आता। मगर यह तो पदार्थके

निश्चयसे ही सिद्ध हो गया। अब भोले प्राणियोंको एक चकमा देने के लिए ही अनेक विशेषतायें बनाना व्यर्थ है। अब यह शंकाकार कहता है कि जो बाधारहित ज्ञान है सो प्रमाण है। ऐसा कहनेकी आवश्यकता यो हुई कि प्रत्येक ज्ञान बाधक होनेसे पहले पदार्थका निश्चय किया करता है और जब उसमे बाधक ज्ञान आ जाता है तो वह निश्चय नियत हो जाता है। तो आखिर बाधक ज्ञान न आये—इसके समझनेपर ही तो प्रमाण बना। तो समाधानमे कहते है कि इस तरह तो अप्रमाण ज्ञानसे भी प्रवृत्ति बन जायगी, क्योकि बाधक ज्ञान होनेसे पहले उस ज्ञानमे भी व्यर्थ निश्चय पडा हुआ है। इसलिए ठीक लक्षण सीधा मानो कि जो ज्ञान खुदको जान ले और पदार्थको जान ले उस ज्ञानको प्रमाण कहते है। खुदको जाननेका अर्थ आत्माको नही याने जो ज्ञान आत्माको जाने और पदार्थको जाने सो प्रमाण है, यह नही कह रहे, किन्तु जो ज्ञान खुदको जान ले कि हाँ यह ज्ञान सच्चा है और पदार्थको जान ले उस ज्ञानको प्रमाण कहते है। यदि मीमासक ऐसा ही आग्रह करे कि जब बाधक ज्ञानके अभावका ज्ञान हो जायगा तब ही प्रमाणपनेका निश्चय होगा और वह प्रवृत्तिका कारण माना जायगा। जब यहाँ दो आपत्तिया है तो फिर ज्ञानको प्रमाण मत कहो। बाधक ज्ञानके अभावको प्रमाण कहो, क्योकि बाधक ज्ञानके अभावका ज्ञान होने पर ही काम शुरू हो सका है। दूसरी बात यह है कि किसी एक पदार्थको हम जान रहे है तो प्रमाण तो तब कहे कि जब उसमे बाधक ज्ञान न हो। तो बाधक ज्ञान नही है—उस ज्ञानको प्रमाण कब कहेगे ? जब उसमे भी बाधक ज्ञान नही है—यह बात बने तो उसका भी ज्ञान बने। तो यो अनवस्था दोष आयगा। यदि कहो कि एक दो बाधक ज्ञानोका अभाव जानें, उसके बाद उसके ही निश्चयसे बाधक ज्ञानका अभाव निश्चित कर लिया जाय तो यह बात पहले ही पहले किसी पदार्थको जानते समय क्यों न मान लें ? याने जब हमने घडा देखा और यह निर्णय हुआ कि यह घडा है बस ठीक है, योग्य प्रमाण है। अब यह ही हमारा निश्चय यह बतला रहा कि प्रकृत ज्ञानमे बाधक ज्ञानका अभाव है। तो बाधक ज्ञानका अभाव है—ऐसी समझ बनानेकी बात कोई प्रमाण होती है, ऐसी परिभाषा न बनावे, किन्तु पदार्थका निश्चय हो जाय सो प्रमाण है।

सर्वत्र सर्वदा बाधवर्जितताका निर्णय अशक्य होनेसे बाधवर्जित विशेषणकी अनुपयुक्तता—मीमासकोने प्रमाणके लक्षणमे ५ बातें कही—अपूर्व अर्थका विज्ञान हो और निश्चित हो, बाधारहित हो, दोषरहित कारणसे उत्पन्न हुआ हो तथा सर्व लोकसे सम्मत हो, इन ५ विशेषणोंमे से बाधवर्जित विशेषणपर चर्चा चल रही है। मीमासकोका सिद्धान्त है कि कोई भी ज्ञान तब प्रमाण कहलाता है जब यह बात बन जाय, ज्ञानमे आ जाय कि इसका बाधक कोई ज्ञान नही है। समाधानमे यह कहा गया है कि बाधक ज्ञान है या नहीं, ऐसा चिन्तन

करना व्यर्थ है, किन्तु जिस पदार्थको जाना जा रहा है उस पदार्थका निश्चय है या नही, बस इसपर ही प्रमाणपनेकी बात बनती है। यदि पदार्थका निश्चय है कि यह चौकी है तो अपने आप सिद्ध हो गया कि यह ज्ञान निर्बाध है। इसमे कोई बाधा नही। यदि बाधा नही है यह तकते फिरें तब तो प्रकृत बातको जाननेमे बहुत विलम्ब लगेगा। इससे यह ही समझना कि किसी पदार्थको जान लेना बस इसीका ही अर्थ है कि कोई बाधा नही है, और भी इस सम्बधमे विचार करे। जब मीमांसक कह रहे कि किसी ज्ञानमे बाधा नही आती। बाधक प्रमाणका अभाव होना यह निर्णय होनेपर प्रमाणता आती है। तो बाधक ज्ञानका अभाव होना, क्या इसका यह अर्थ है कि सभी देशमे, सभी समयोमे बाधक ज्ञानका अभाव हो तब प्रमाण माना जाय ? या कुछ ही देशमे, कुछ ही समयको बाधक ज्ञानका अभाव होना प्रमाण माना जाय ? यदि कहो कि सब देशमे, सब समयोमे बाधक ज्ञान है ही नही, ऐसा निर्णय होनेपर प्रमाणता होती है तो भला ऐसा निर्णय कौन कर सकता है ? अगर कोई समझता है कि सब देशमे, सब कालमे, इस ज्ञानमे बाधा देने वाला कोई ज्ञान नही है तो वही सर्वज्ञ बनेगा। सर्वज्ञ तो यहाँ कोई है नही। तो किसीके ज्ञान प्रमाण ही न हो सकेंगे। यदि कहो कि कुछ देशमे बाधक ज्ञान नही है, कुछ समयको बाधक ज्ञान नही है, इसमे प्रमाणता मान ली जायगी तो इसमे तो सशय हो गया। यह बाधक ज्ञान नही और कही हो तो फिर प्रमाण अप्रमाण कैसे बने ? इस कारण यह विकल्प छोड दो कि बाधक ज्ञान है या नही ? वह तो पदार्थके निश्चयके साथ ही समझ लिया जाता है। यही लक्षण ठीक है कि जो अपनेको और पदार्थको जाने सो प्रमाण।

प्रमाणकी उत्पत्तिके प्रसंगमे अदुष्टकारणारब्धताके निर्णयका अनवसर—अब चौथे विशेषणकी बात सुनो—मीमासकका कहना यह है कि ज्ञान यदि दोषरहित कारणोंसे उत्पन्न है तब तो प्रमाण है और दोष देने वाले कारणोसे उत्पन्न हो तो अप्रमाण है। सीधा तात्पर्य यह बताते है कि सही आँख आदिसे जाने तो प्रमाण है अर्थात् निर्दोष आँखसे जाने तो प्रमाण है और आंखमे कोई दोष हो, अध हो, कामला हो, उन दोष वाली आंखोंसे जाने तो अप्रमाण है, यह कहना भी व्यर्थका प्रलाप है, क्योकि जो ज्ञान दोष वाले कारणोंसे उत्पन्न हो उस ज्ञानके द्वारा स्व और पदार्थका निर्णय ही नही हो सकता। निर्णय हो रहा है तो बस वही प्रमाण है। प्रमाणका लक्षण स्वयके और पदार्थके निर्णय करनेको ही कहते हैं। इससे अधिक विशेपण न देना चाहिए और फिर दूसरी बात यह है कि अनेक लोग विपरीत ज्ञानको भी प्रमाण मान बैठते हैं, तो वहाँ यह कैसे समझा जाय कि यह सदोष कारणसे उत्पन्न हुआ है, इस कारण प्रमाण नही है। सामने पडी है सीप और जान गए चाँदी। तब यह कैसे निर्णय हो कि दोष वाली आँख है ? जिसकी निर्दोष भी आँख है वह भी सीप

को कभी चाँदी समझ लेता । तो इस तरह निर्दोष कारणोसे उत्पन्न हुआ, इसके निर्णयमे न जावो । वस्तुको जो जाना जा रहा है तो उसकी जानकारीपर दृष्टि दें कि वस्तुका सही ज्ञान है अथवा नही ? यदि यो देखने बैठेंगे कि दोषरहित कारणोसे उत्पन्न हुआ हो तो पहले इन्द्रियका ही ज्ञान करने बैठ जावो कि इसकी इन्द्रियाँ दोष सहित है या दोष रहित है । कोई किसी चीजको दिखाये तो पहले देखने वाले की आँखोकी जाँच करने बैठें तब देखे, पर इस तरह तो व्यवहार नही बनता । और यो न अनुमानसे निर्दोष सिद्ध कर सकते, न तर्क आदिक प्रमाणोसे सिद्ध कर सकते । यदि यह कहो कि जब यह ज्ञान हो गया कि यह सही ज्ञान है उससे यह समझ लिया जायगा कि निर्दोष इन्द्रियसे यह ज्ञान उत्पन्न हुआ तो इसमे तो इतरेतराश्रय दोष है । जब पहले जान ले कोई कि निर्दोष इन्द्रिय है, इसको जो ज्ञान रहा है तब तो ज्ञान प्रमाण माना जायगा और यहाँ यह कह रहे है कि ज्ञान प्रमाण है, ज्ञान सही है, इससे यह समझा जायगा कि इसकी इन्द्रियाँ निर्दोष है । तो इन्द्रियाँ निर्दोष सिद्ध हों तब तो ज्ञानकी प्रमाणता सिद्ध हो और जब ज्ञानकी प्रमाणता सिद्ध हो तो निर्दोष इन्द्रियाँ सिद्ध हो, तब तो कुछ भी सिद्धि न हो सकेगी । इससे पदार्थकी जानकारीमे निर्णय बनावें कि यह सही ज्ञान है अथवा नही ? यदि यह कहो कि किसी भी पदार्थको जानें तो यह ज्ञान सही है या नही, इसकी सिद्धिके लिए इन्द्रियकी निर्दोषता जानना चाहिए और इन्द्रियाँ निर्दोष है या नही, इसके समझनेके लिए नया ज्ञान बन जायगा । तो फिर वह नया ज्ञान भी सही है, इसके समझनेके लिए फिर निर्दोष साधन देखने पडेगे, इस तरहसे अनवस्था दोष आ जाता है, और यो फिर प्रकृत ज्ञानका भी निर्णय न हो सकेगा । ऐसी अवस्थामे २-४-६ ज्ञानो तक जाकर यदि यह कहा जाय कि कोई ज्ञान ऐसा होता है जो स्वत प्रमाण है, उसके लिए निर्दोष साधनको देखनेकी आवश्यकता नही रहती । तो भला प्रथम ही प्रथम होने वाले ज्ञान को ही जानकारीके बलपर कोई नही प्रमाण मान लिया जाता । तो इस तरह निर्दोष साधन से उत्पन्न होनेकी बात भी युक्त नही जचती । ज्ञान है, जान रहा है । पदार्थमे वह बात है या नही, इस आधारसे प्रमाण और अप्रमाणपना हुआ करता है ।

प्रमाणके लक्षणमे सर्वलोकसम्मत विशेषणकी असगतता—इसी प्रकार जो ५वाँ विशेषण दिया है कि जो ज्ञान अनेक लोगोके द्वारा समर्थित हो वह प्रमाण है, यह भी कोई निर्णय नही है । अज्ञानी जीव भ्रान्त ज्ञानको ही सच्चा ज्ञान समझता है, तो क्या बहुतसे लोगोके जान लेनेके कारण वह प्रमाण हो जायगा ? जो वस्तुके सही धर्मको जाने वह ज्ञान तो प्रमाण है और जो वस्तुस्वरूपके विपरीत निर्णय करे वह ज्ञान अप्रमाण है ।

प्रमाणकी प्रमाणताकी विधिपर विचार—यहाँ फिर मीमासक कहता है कि देखो जितने भी प्रमाण होते हैं उनमे प्रमाणताका निर्णय खुद ही हुआ करता है और अप्रमाणता

का निर्णय दूसरे ज्ञानसे हुआ करता है। यदि ज्ञानमे खुद प्रमाणपनेकी ताकत न हो तो किसी दूसरे ज्ञानके द्वारा भी उसकी प्रमाणता निश्चित नही हो सकती। इस सम्बधमे सिद्धान्त यह है कि हम किसी चीजका ज्ञान करते है तो यदि रोजकी समझीबूझी चीजोका ज्ञान करते हैं तो ज्ञानकी प्रमाणता तो खुदकी बन जाती है किन्तु अपरिचित जगह गए और किसी अपरिचित चीजका ज्ञान करते है तो उस ज्ञानकी प्रमाणता दूसरे ज्ञानसे बनती है। जैसे जिस तालाबमे रोज नहाते हैं उसके देखते ही ज्ञान हो जाता कि यह इतना गहरा है और कोई नये तालाबपर पहुचे तो वह लाठी डालकर देखेगा कि कितना गहरा है, तब वहाँ उतरता है। जिस नदीको रोज पार करते है तो जब-जब भी पार करेंगे उसका सही ज्ञान तुरन्त रहता है कि इस नदीमे इतनी गहराई है और इस रास्तेसे चलनेसे पार हो जाते हैं। अब कही दूसरे अपरिचित जगहमे नदी मिले तो उसमे धीरेसे पैर रखते है या आगे लाठीसे निश्चय करते हैं कि कितना गहरा है तो उसका प्रमाणपना दूसरे ज्ञानसे बनता है, जिसका सही भाव यह है कि इतने अभ्यास वाली बातमे तो ज्ञान खुद प्रमाण बनता है और अनभ्यासकी जगहमे ज्ञानकी प्रमाणता दूसरे ज्ञानसे बनती है। सिद्धान्त तो यह है, पर मीमासक यहाँ यह कह रहे है कि चाहे अभ्यास वाली बात हो, चाहे अनभ्यास वाली बात हो, जब भी ज्ञान होगा तो उसकी प्रमाणता खुद ही बन जाती है। ऐसा कहने वाले मीमासक यह क्यो नही मान बैठते कि जैसे प्रमाण सब जगह खुद बन जाता है याने यह ज्ञान ठीक है, यह निर्णय उस ज्ञानमे ही बन जाता है। उस ज्ञानके ठीकपनेका निर्णय करनेके लिए अन्य ज्ञानकी जरूरत नही रहती। तो ऐसे ही अप्रमाण ज्ञानको भी स्वत क्यो नही मान लेते? जैसे यह ज्ञान ठीक है यह निर्णय खुद मानते हो, ऐसे यह ज्ञान ठीक नही है यह निर्णय भी खुद क्यो नही होता, अप्रमाणता भी स्वय आनी चाहिए, क्योकि ज्ञानमे तो कोई विशेषता नही है। प्रमाण हो रहा वहाँ भी ज्ञान है, अप्रमाण हो रहा वहाँ भी ज्ञान है। तो वहाँ निर्णय यह करना चाहिए कि जहाँ ज्ञानकी ठिकाई समझनेके लिए कुछ सोचना नही पडता, दूसरे ज्ञानसे समझना नही पडता ऐसा ज्ञान तो खुद प्रमाण है और जिस ज्ञानका ठीकपना समझनेके लिए कुछ सोचना पडता कि यह ठीक बात है या नही, हमने जो जाना वह सही है या नही, ऐसा सोचने के लिए कुछ नया ज्ञान करना पडता है तो वह कहलाती है अनभ्यास दशा। वहाँ ज्ञानकी प्रमाणता दूसरे ज्ञानसे होती है। किसी भी ज्ञानमे ऐसा नही है कि पहले तो वह साधारण ज्ञान बने और पीछे फिर प्रमाणपना या अप्रमाणपनाकी रचना की जाती हो। कोई भी ज्ञान होता तो वह स्वय ही या तो प्रमाणरूप है या अप्रमाणरूप, मगर ज्ञान होता तो स्वय है, पर उसकी प्रमाणताका निर्णय और अप्रमाणताका निर्णय परसे ही होता है। इससे सभी ज्ञानोको स्वय प्रमाण मानना अथवा परसे ही प्रमाण मानना,

ऐसा कोई एकान्त नही है । अभ्यास दशामे तो प्रमाणका प्रामाण्य स्वत है और अनभ्यास दशामे प्रामाण्य परत होता है ।

स्वतः प्रामाण्य व परतः अप्रामाण्य माननेकी तर्कणा व समाधान——यहाँ मीमांसक स्वतः प्रमाण और परतः अप्रमाण माननेकी बात यो कह रहे है कि दोषरहित इन्द्रियसे जो ज्ञान होता है वह तो प्रमाणभूत है, स्वतः प्रमाण है और दोष वाली इन्द्रियसे जो ज्ञान बनता है वह अप्रमाण है । तो इन्द्रियमे दोषकी रचना अलगसे होती है और इन्द्रियाँ निर्दोप रहे, यथार्थ रहे, यह मेरा स्वरूप ही है । जैसे किसी मनुष्यकी आँखे शुरूसे अच्छी हैं और पीछे मोतियाबिन्दु हो या अधेरा छाये, कोई दोष आये तो दोष बादमे लगनेकी चीज है और इन्द्रियाँ स्वय गुणवान होती है, इस आधारपर प्रमाणपने और अप्रमाणकी बात कह रहे है, मगर उनका आधार सही नही है । यदि बहुतसे मनुष्य सही आँखें लेकर पैदा होते है । तो कोई मनुष्य जन्मसे बिगडी हुई आँखें लेकर भी पैदा होता है । इन्द्रियाँ तो रचना हैं, दोप वाली इन्द्रियाँ बनें यह भी जन्मसे हो सकता है, दोषरहित इन्द्रियाँ बनें यह भी जन्मसे हो सकता । तो इन्द्रियका गुण और इन्द्रियका दोप—ये दोनो ही परतत्त्व है । उसमे यह न समझना कि निर्दोष इन्द्रियाँ बनें, यह तो इन्द्रियोका स्वरूप है और दोष आये तो वह बाहरी उपाधि लगने की बात है । इन्द्रियाँ तो पौद्गलिक रचना है । प्रारम्भसे कैसी ही बन जायें ? तो जैसे इन्द्रियका गुण और दोपका स्वभाव नही है । हो जाय जो कुछ सो सही है, ऐसे ही ज्ञानमे प्रमाणता और अप्रमाणता इनमे कोई स्वाभाविक स्वत हो, सो बात नही है । प्रमाणपने और अप्रमाणपनेका निर्णय अभ्यास दशामे स्वत होता है और अनभ्यास दशामें परसे होता है ।

अभ्यास व अनभ्यास दशामे प्रामाण्यकी उत्पत्तिकी विधिका भेद—— इस सूत्रमे पहले प्रमाणके स्वरूपका निर्णय किया । अब यह चर्चा यह चल रही है कि प्रमाणमे प्रामाण्यकी उत्पत्ति खुदबखुद होती है या किसी अन्य कारणसे होती है ? इसके बाद फिर यह बताया जायगा कि प्रमाणपनेकी प्राप्ति खुदबखुद होती है अथवा अन्य कारणसे होती है । तो उत्पत्ति के सम्बन्धमे मीमासकोका यह सिद्धान्त है कि प्रामाण्यकी उत्पत्ति तो स्वतः होती है और अप्रामाण्यकी उत्पत्ति परत होती है । इस सिद्धात वालोका यह आशय है कि सही ज्ञान होना यह तो एक उत्सर्ग है । सो स्वत होता ही है । किन्तु कोई दोप वगैरा आ जाय तो प्रमाणता आती है । सो अप्रामाण्यकी उत्पत्ति परत होती है । जैसा पदार्थ है वैसा पदार्थका बोध होना, इसीके मायने तो प्रमाणता है । सो यह प्रमाणता तो जीवोकी ईमानदारीकी बात है । अब पदार्थमे विपरीतपना करनेका कोई कारण हुआ, उससे अप्रामाण्य बना तो यह अप्रामाण्य है, इसका ज्ञान दोपके ज्ञानसे बनता है । जैसे किसीने सफेद शखको पीला शख समझ लिया तो वह पीला समझ रहा है और उसमे श्रम भी नही कर रहा है, किन्तु जब यह ज्ञान हो जाय

कि इसको कामला रोग है और ये सभी चीजे पीली दिख रही है तो दोषका ज्ञान होनेसे अप्रामाण्यका ज्ञान बन जाता है। इस तरह प्रामाण्य तो स्वतः है और अप्रामाण्य परतः होता है। उक्त बात बिना विचार किए बहुत सहीसी जचती है, लेकिन यह देखना है कि प्रमाण है या अप्रमाण, इसका निर्णय किसको चाहिए ? यह निर्णय चाहिए छद्मस्थ जीवोको और उनका मिथ्या ज्ञान अप्रामाण्यताका प्राय प्रकृतिसे चली आ रही है। और विशिष्ट ज्ञानावरण का क्षयोपशम हो, अन्य गुण हो तो उससे प्रामाण्यका बोध होता है। तो उस निगाहमे यह भी तो कहा जा सकता है कि अप्रामाण्यकी उत्पत्ति तो प्रकृत्या हो रही जीवोके और प्रामाण्य की उत्पत्ति जब गुण हो, कोई विशिष्टता हो तब होती है। तो यो अप्रामाण्य तो उत्सर्ग बन गया याने स्वतः हो जाय, ऐसा बन गया। और प्रामाण्य अप्रामाण्य बन गया। तब न प्रामाण्य के लिए कहो कि न स्वत है, न परत, न अप्रामाण्यके लिए कहो। बात यह है कि प्रामाण्य अभ्यास दशामे तो स्वत है और अनभ्यास दशामे परत है। जिस चीजको हम रोज-रोज देखते है तो जब-जब देखते है तब-तब वह प्रमाण रहता है। इसमे कुछ दिमाग नही लगाना पडता। तो यहाँ प्रामाण्य स्वत हो गया। कोई अनजान जगहमे जहाँ और दूरसे कोई चीज दिखे अथवा कोई चिह्न नजर आये तो वहा कुछ दिमाग लगाया जाता कि बात ऐसी है या नही ? किसीको प्यास लगी। चला जा रहा है रास्तेमे। खूब खोज रहा कि कही पानी मिले। जल चाहिए। कही मेढकोकी आवाज सुननेमे आयी, उससे कुछ ख्याल किया कि यहा पानी होना चाहिए। कुछ और पास गया तो फूटे घडे मिले, उससे और निर्णय किया कि पानी होना चाहिए। तो कुछ और पास गया, कुछ सफेदी नजर आयी, तब अनुमान बनता है कि होना चाहिए पानी और जाकर फिर समझ लिया। तो अनभ्यासकी स्थितिमे ज्ञानकी प्रमाणता परत होती है।

दोष गुणका भेद डालकर प्रामाण्य व अप्रामाण्यमे स्वत परतका भेद डालनेकी असम्भवता—यहाँ मीमासक सिद्धान्तानुयायी यह बतलाते है कि ज्ञानके कारणभूत जो गुण होते है वे कोई अलग चीज नही है, किन्तु दोषका अभाव हो, वही गुण कहलाता है। जैसे किसीकी आँखें निर्दोष हैं तो कोई खास बात नहीं है। आँखका स्वरूप ही ऐसा है, पर वहाँ धुधली कामला फुली हो जाय तो वह अलगसी चीज है और वह दोष कहलाती है। तो गुण कोई अलग चीज नही, किन्तु दोषका जो अभाव है सो गुण है। और इस तरह गुणसे होता है प्रामाण्य और गुण कोई स्वतत्र स्वरूप नही है। तो यो प्रामाण्य स्वत हो गया और दोष, आँखकी फुली आदिक ये अलगसे कोई चीज बनती है और उनके कारण ज्ञानमे अप्रमाणता आती है। तो यो अप्रामाण्य परत हो गया, ऐसा कहना उनका यो युक्त नहीं है कि जो इन्द्रिय हेतु है यह खुद उत्पन्न होता है। सो उत्पन्न होने हुएमे पुद्गल पिण्ड है, कैसा ही बन

गया। सही बन गया कुछ और बिगाड बन गया। सही बने तो परचीज है, बिगाड बने तो परचीज है। तो इन्द्रिय आदिक तो पर है ही। उनमे गुणोको स्वाभाविक क्यो कहा जा रहा ? और किसी-किसी जन्मान्ध पुरुषके जो पैदा होते ही अन्धा है लो उसके प्रकृतिसे ही यह दोप पाया गया। तो गुण भी पुद्गलपिण्ड है, दोष भी पुद्गलपिण्ड है, याने इन्द्रियमे जो निर्दोष रचना है वह भी पौद्गलिक है और जो दोष रचना है वह भी पौद्गलिक है। वहाँ यह छाट नही की जा सकती कि गुण तो प्रकृत्या है और दोष औपाधिक है, सभी औपाधिक हैं, इन्द्रिय मात्र ही औपाधिक है। प्रामाण्य स्वतः होता है। इसके समर्थनमे मीमासक सिद्धान्तके अनुयायी एक यह युक्ति रखते हैं कि जैसे धूम देखकर अग्निका ज्ञान हुआ तो चूकि अग्निसे धूमका अविनाभाव है तो अग्निके अविनाभाव सहितपना धूमका होना, यह यह तो धूमका स्वरूप है। कोई धूम साधन अलगसे गुण नही, किन्तु वह तो हेतुका अन्वय ही है। और कोई भापमे धुवेंका ज्ञान किया तो वह भाप जिसको धूमकी तरह आभास किया गया उसमे अविनाभाव नही है, तो अग्निमे अविनाभाव नही है, यह औपाधिक दोष हो गया। इस तरहकी दलील देकर यहाँ यह सिद्ध करना चाहते है कि ऐसा ही इन्द्रियमे दोष आना तो औपाधिक है और दोषका अभाव रहना, गुणका होना, यह कोई स्वतन्त्र वस्तु नही, किन्तु स्वाभाविक ही है। यह दलील यो सिद्ध नही होती कि जैसे धूम देखा और धूमाभास देखा तो धूम भी किसी उपाधिसे हुआ और धूमाभास भी उपाधिसे हुआ तो धूमकी तरह जो इसका धूमाभास देखा जाय कि हेत्वाभास है तो वह भी तो अग्न्याभासके बिना नही होता, इसलिए जो बात धूमहेतुकी कहते हो वही बात धूमाभास, हेत्वाभासमे भी घटित होती है। इससे सीधा मानना चाहिए कि इन्द्रियाँ सब औपाधिक है, गुण भी औपाधिक है। किसी चीजमे जो ज्ञान बना तो ज्ञानकी उत्पत्ति तो परत ही हुई छद्मस्थ जीवोके। यह एक निश्चयनयकी बात है कि ज्ञान तो अपने ही ज्ञानस्वभावका उपादान कारण होता है, ठीक है यह बात, किन्तु सदा क्यो नही ज्ञान होता रहता है छद्मस्थ जीवोके ? उसका उत्तर क्या होगा ? उसका उत्तर यह ही है कि यह ज्ञान इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर होता है। तो इन्द्रिय और मन ही उपाधि है। और उसमे गुण हुए तो उपाधि, दोष हुए तो उपाधि। गुण और दोपकी ओरसे स्वत. और परत प्रमाणताकी उत्पत्ति न कहो, किन्तु दूसरी जानकारी है, अभ्यासकी स्थिति है, वहा तो ज्ञानमे प्रमाणता स्वतः आती है और जहा अनभ्यास की स्थिति है वहा प्रमाणता परतः आती है।

शब्द व शब्दाभासके भेदका उदाहरण देकर प्रामाण्य व अप्रामाण्यका विश्लेषण करने की असंगतता—अब इस प्रसगमे मीमासक सिद्धान्तके अनुयायी एक नवीन बात और रखते है कि जैसे शब्द और शब्दाभास, शब्द तो अपने आप ही अपना अर्थ बता देता है, किन्तु

जहा झूठे टेढे शब्द आयें उनका अर्थ लगानेमे दोनोको लगाया जाता है और वे मिथ्या अर्थके प्रतिपादन करने वाले होते है। तो जैसे शब्द स्वय ही अपने वाच्य अर्थको समझनेमे तत्पर है और शब्दाभास मिथ्या अर्थके प्रतिपादक होते है तो शब्दाभाससे तो अप्रमाणता होती है और शब्दसे प्रमाणता होती है। यह कहना भी उनका युक्त नही है, क्योकि शब्दसे जो वाच्यार्थ जाना जाता वह भी गुण युक्ति अनुभवके बिना जाना जाता। और शब्दाभाससे मिथ्या अर्थ जाना जाता, वह भी परत जाना जाता। कोई अन्तर नही है। और इस तरह जैसे आगम स्वत प्रमाण माना जाता मीमासक सिद्धान्तमे ऐसे ही उनकी दृष्टिसे जो कुशास्त्र हैं वे भी अप्रमाण स्वतः ही बन जाते। जैसे निर्दोष वक्ताके होनेपर प्रमाणता भली प्रकार प्रतीत होती है ऐसे ही दोषयुक्त वक्ताके होनेपर शब्दके दोष भी भली भाति जाने जाते है। तो गुण और दोष दोनो ही वक्ताके आधीन हैं। जब तर्क किया जाय, विचार चले तो गुण और दोष दोनो की परीक्षा भिन्न-भिन्न कारणो द्वारा प्रतीत हो जाता है। इससे वक्तामे गुण हैं तो उसके वचन प्रमाण है। वक्तामे दोष है तो उसके वचन अप्रमाण हैं। प्रमाणका कारण जैसे गुण है, अप्रमाणका कारण वैसे ही दोष है। अथवा जैसे शङ्काकार यह कहता है कि जहा कोई वक्ता ही नही है वहा वक्ताके आश्रयमे दोष नही होते, याने आगमको प्रमाण मानानेमे मीमासकोका यह हेतु है कि आगम अपौरुषेय है, किसी ने बनाया नही है, इसलिए प्रमाण है। अगर कोई बनाये वक्ता उन शब्दोकी रचना करके लिखे तो उसमे दोष आयेंगे। तो आगमका कोई रचयिता नही, वक्ता नही, इसलिए आगम निर्दोष है। तो वक्ताका अभाव होने से अगर निर्दोषता मानी जाती है तो देखो जब मेघ गरजते है तो वहा कोई वक्ता तो नही है और शब्द तो उत्पन्न हो ही रहे हैं तो वे गुण क्यो नही कहलाने लगते? आगमकी तरह वे भी प्रमाण क्यो नही माने जाते? इससे अन्य-अन्य बातें सोचना बेकार है। सीधा ही मानना चाहिए कि वीतराग सर्वज्ञदेवकी वाणी प्रमाण है और सराग छद्मस्थ वाणी अप्रमाण है। यदि सराग छद्मस्थ योगीकी वाणी प्रमाण है तो उसमे कारण वीतराग सर्वज्ञदेवकी वाणी की परम्परा है। यो वेदवाक्योको किसीने नही बनाया इस कारण प्रमाण है यह हेतु युक्त नही है, किन्तु वीतराग सर्वज्ञके द्वारा प्रतिपादित हो तो प्रमाण है और सदोष वक्ताके द्वारा प्रतिपादित हो तो वह अप्रमाण कहलाता है।

इस तरह प्रमाणमे प्रमाणताका आना गुणके आश्रयसे है, और अप्रमाणताका आना दोषके आश्रयसे है, पर हम आप जीवोको जो प्रमाणताका बोध होता है तो अभ्यासके प्रसगमे खुद होता है, और अनभ्यासके प्रसगमे पर-कारणोसे होता है। कोई ऐसा कहे कि भाई जैसे प्रमाणता खुद होती है यो अप्रमाणता भी खुद होती है। दोनो ही मान लो। क्या आपत्ति आती है, क्योकि जब ज्ञान बन गया तो अपनी रचनामे किसी दूसरेकी अपेक्षा नही की जाती।

ऐसा एकान्ततः कहने वाले अनुभवसे विचार करें कि खुदको भी कभी प्रमाणता स्वतः होती है तो कभी परतः भी होती है, ऐसे ही अप्रमाणता भी कभी स्वतः होती है तो कभी परतः भी होती है। अतः एकान्त नही है। प्रमाणताकी उत्पत्ति अभ्यास दशामे स्वतः है, अनभ्यास दशामे परतः होती है। हाँ, अप्रमाणताकी उत्पत्ति परतः होती है। इस प्रकार प्रमाणकी उत्पत्तिके विषयमे कुछ वर्णन करके अब प्रामाण्यकी ज्ञप्तिके सम्बधमे वर्णन करेंगे।

प्रामाण्यकी व अप्रामाण्यकी ज्ञप्तिके विषयमे स्वतः व परतः होनेकी मीमांसा—प्रमाणमे प्रामाण्यकी उत्पत्ति और प्रामाण्यकी ज्ञप्ति-- ये दो विषय अलग-अलग है। इनका अर्थ है कि प्रमाणमे प्रमाणता आना सो तो है प्रामाण्यकी उत्पत्ति और उस प्रामाण्यका पता लगाना, जानकारी करना इसका नाम है ज्ञप्ति। तो अभी प्रामाण्यकी उत्पत्तिके सम्बधमे वर्णन चला था और उस सम्बधमे यह निर्णय हुआ था कि किसी प्रामाण्यकी उत्पत्ति स्वतः होती है और किसी अवसरपर परतः होती है। अब ज्ञप्तिके सम्बधमे कुछ दार्शनिकोकी धारणा है कि अप्रामाण्यकी ज्ञप्ति भी स्वतः होती है और जैसे प्रामाण्यकी ज्ञप्ति स्वतः होती है उसी प्रकार अप्रामाण्यकी ज्ञप्ति भी स्वतः हो जाय, उसमे हम कोई विवाद नही करते। इस प्रकार कुछ दार्शनिकोका सिद्धान्त है। जैसे कि नैयायिक जन तो प्रामाण्यकी ज्ञप्ति परतः ही मानते है, किन्तु मीमासक लोग सभी ज्ञानोमे प्रामाण्यकी ज्ञप्ति स्वतः मानते है अर्थात् यह ज्ञान समीचीन है, प्रमाण है, इस प्रकारकी जानकारी स्वयमेव हुआ करती है। उनके प्रति यहाँ आचार्य महाराज इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि ज्ञप्ति अभ्यास दशामे तो स्वतः होती है अर्थात् जिस विषयमे जानकारीका हमे अभ्यास चल रहा है और यथावसर उस चीजका कभी ज्ञान होता है, तो उसमे प्रामाण्यकी ज्ञप्ति स्वतः हो जाती है। जैसे जिस कुवेंसे रोज पानी भरते है, जिस तालाबमे रोज लोग नहाया करते है, जिस किसी भी कार्यको किया करते है, रोज जानकारी रहा करती है। उसकी जब-जब भी जानकारी बनती है तो वह सत्य है, प्रमाण है, ऐसी जानकारी करनेके लिए नया ज्ञान करनेकी आवश्यकता नही होती कि मेरा ज्ञान सही है अथवा नही, लेकिन अनभ्यास दशामे प्रामाण्यकी ज्ञप्ति परतः होती है। अनजान जगहमे जा रहे है, प्यास लगी है पानीकी तलाश है, कुछ तालाबके चिह्न दिखे— जैसे मेढककी आवाज आयी, थोडा और गए उस दिशामे तो कलश फूटे मिले, उसे ज्ञान होता जा रहा है कि यहाँ पानी होना चाहिए। तो वहाँ जो सरोवरका ज्ञान किया जा रहा है वह ज्ञान सही है या नही, इसकी पहिचान अन्य ज्ञानोसे बन रही है। तो अनभ्यास दशामे ज्ञानकी समीचीनता परतः होती है। यदि सर्वथा एकान्त कर लिया जाय कि ज्ञानमे प्रामाण्यपनेकी ज्ञप्ति स्वतः होती है तो अनभ्यास दशामें भी प्रामाण्यकी ज्ञप्ति स्वतः हो जानी चाहिए, किन्तु ऐसा किसी का अनुभव नही बता रहा। अनभ्यासदशामे तो परसे ही तत्त्वनिर्णय बन पाता है। तो न

परत ज्ञप्ति होती है, यह एकात करना चाहिए और न स्वय ज्ञप्ति होती है, यह एकान्त करना चाहिए।

अभ्यासदशामें परतः ज्ञप्ति माननेकी प्रतीतिविरुद्धता—जो लोग अभ्यासदशामे भी परसे ज्ञप्ति मानते है प्रामाण्यकी, उनके यहाँ यह दोष है कि फिर तो जिस ज्ञानसे प्रमाणपने का निर्णय किया उस ज्ञानके प्रमाणपनेका निर्णय अन्य ज्ञानसे होगा, फिर उसके भी प्रमाणपनेका निर्णय अन्य ज्ञानमे होगा। इस तरह ज्ञायक प्रमाणकी अनवस्था बन जायगी। फिर निर्णय ही कुछ न हो सकेगा। यदि बहुत दूर चलकर यह कहा जाय कि किसी बातको समझनेके लिए ज्ञान बना और उस ज्ञानकी सत्यता समझनेके लिए दूसरा ज्ञान बना, दो-तीन ज्ञान बननेके बाद कोई ज्ञान ऐसा होता है कि जिसको ज्ञप्ति स्वत होती है। तो जैसे कुछ ज्ञानकी परम्परा चलाकर स्वत ज्ञप्ति मानी, ऐसे ही किसी ज्ञानमे पहले-पहले ही क्यो न स्वत ज्ञप्ति हो जायगी? तो प्रमाणमे प्रामाण्यकी ज्ञप्ति परत: होती है, यह भी एकान्त नही, अथवा स्वत: होती है, यह भी एकान्त नही। प्रामाण्यकी उत्पत्ति और ज्ञप्तिके लिए यह ही तो निर्णय बनाते है लोग कि इन्द्रियमे ज्ञानके कारणोमे कोई दोष नही है, इसलिए प्रामाण्य है और दोष है तो अप्रामाण्य है। तो जहाँ कही अनभ्यासकी स्थिति है, अनजान क्षेत्रकी घटना है वहाँ ज्ञान होते समय इसका कुछ विचार नही चलता कि मेरे ज्ञानके कारण उस दोषका अभाव है या गुणका अभाव है, क्योकि यह विचार स्वत नही किया जा सकता। तब यह मानना चाहिए कि अनभ्यास दशामे प्रामाण्यकी ज्ञप्ति भी परत होती है, इसी तरह अनभ्यास दशामें वक्ताके दोष गुणका निर्णय भी नही बनता। और जब निर्णय नही बनता तो एक बात तुरन्त कैसे घट जायगी अनभ्यास दशामे कि वक्ताके गुण होना और दोष होना यह वक्ताके आधीन है। इसमे जो बात जनसाधारणके अनुभवमे आती है, वह अनुभव यथार्थ है कि जहाँ कही परिचित बातका निर्णय है वहाँ प्रामाण्य स्वत हो जाता है। और स्वत जान भी लिया जाता है और जहाँ अनजान क्षेत्रकी घटना है वहाका ज्ञान परत समझा जाता है कि यह ज्ञान सही है।

अब यहाँ नैयायिक कहते है कि प्रामाण्यकी ज्ञप्ति और अप्रामाण्यकी ज्ञप्ति चाहे अभ्यास दशा हो, चाहे अनभ्यास दशा हो, दूसरे कारणोसे होती है, लेकिन यह बात उनके यो घटित नही होती कि जिस ज्ञानके द्वारा प्रमाणका सच्चापन जाना गया उस ज्ञानका भी तो पहले सच्चापन समझमे आना चाहिए। जब नये-नये ज्ञान बनेंगे तो यह अनवस्था दोष होगा। मानना पडेगा हर एकको कि कोई ज्ञान ऐसा होता है कि जिसकी सच्चाईका ज्ञान उसी ज्ञानसे हो जाता है, उसके लिए नया ज्ञान उत्पन्न नही करना पडता। यदि यह शकाकार कहे कि यह ज्ञान प्रमाण है, इसका निर्णय तो प्रवृत्तिसे बनता है। जैसे प्यासे पुरुषने

सरोवरमे जलका ज्ञान किया, तो उसका ज्ञान सही है यह बात पीनेसे या नहानेसे समझी जायगी तो ज्ञान परतः ही तो हुआ। इस विषयमे अधिक विवाद न कर अपने आपके अनुभवसे समाधान लें तो यही निर्णय पावेंगे कि अभ्यासदशामे प्रमाणके प्रामाण्यकी ज्ञप्ति स्वत होती है और अनभ्यासदशामे प्रमाणके प्रामाण्यकी ज्ञप्ति परतः होती है।

सिर्फ प्रत्यक्षप्रमाणको मानकर अन्य प्रमाणोके निराकरण करनेके विकल्पकी असगतता—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान, ये ५ ज्ञान हैं और ये दो प्रमाणरूप है, ऐसा असलमे जा 'प्रमाणे' शब्द कहकर द्विवचनका रूप दिया है उस सम्बन्धमे चार्वाक शका करते है कि प्रमाण दो हो नही सकते। प्रमाण केवल एक होता है—प्रत्यक्ष याने प्रत्यक्षसे जो जाना, समझा, प्रमाण वह ही है, बाकी ज्ञान तो गौण है और वे प्रत्यक्षकी ही सेवा करते हैं। इसलिए प्रत्यक्ष ही मुख्य है, अन्य ज्ञानोसे पदार्थका निर्णय नही होता। प्रत्यक्षकी प्रमाणतामे यह युक्ति है कि प्रत्यक्ष ही मुख्य प्रमाण है, क्योकि वह अपने और पदार्थके निर्णय करनेमे अन्यकी अपेक्षा नही करता। दूसरी बात यह है कि प्रत्यक्ष ही तो अन्य ज्ञानके जन्मका निमित्त है। तो मुख्य तो प्रत्यक्ष ही है। भले ही अन्य ज्ञानको गौण रूपसे मान लिया जाय, पर गौण तो गौण ही कहलाता है। मुख्य प्रमाणको ही वास्तविक माना जायगा। गौण पदार्थ प्रमाणभूत नही माना जाता, क्योकि यदि गौण बातको प्रमाण मान लिया जाय तो नेत्र, चश्मा, कलम आदिक जड पदार्थ भी प्रमाण बन बैठेंगे, क्योकि गौण रूपसे उन साधनोंकी भी आवश्यकता होती है। इस कारणसे एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण मानना चाहिए, क्योकि यही प्रत्यक्ष प्रमाण समस्त विषयोकी व्यवस्था करनेके कारण प्रमाणभूत है। ऐसा चार्वाक जन अपना विचार रखते है। अब उनके समाधानकी बात सुनो—जो चार्वाकोका यह कहना है कि प्रत्यक्ष ही प्रमाण है तो प्रत्यक्ष तो कोई वर्तमान ही तो नही है। भूत प्रत्यक्ष भी होता, भावी प्रत्यक्ष भी होता और अनेक प्राणियोंके प्रत्यक्ष ज्ञान चलता तो ये सारे प्रत्यक्ष एक स्वतः ही हो रहे हैं या अन्य प्रत्यक्षसे वे सिद्ध होते है? उन प्रत्यक्षोमे प्रमाणता क्या स्वतः बनती या अन्य प्रत्यक्षोसे उन प्रत्यक्षोमे प्रमाणता बनती है? यदि कहो कि सभी प्रत्यक्षोकी अपने आपसे ही सिद्धि हो जाती है तो फिर दूसरेके प्रत्यक्षोकी सिद्धि हमे तो नही हुई। जब हम गुरु परोपकारी पुरुषोंके किसी भी ज्ञानका हमे प्रत्यक्ष नही बनता तो हम उनका गुणगान करनेके अधिकारी नही हो सकते, क्योकि गुरु जनोके जो ज्ञान होता है उसके प्रत्यक्षसे प्रमाणपनेकी सिद्धि हमे कैसे हो सकती है? बहुत पहले गुरुवोंको प्रत्यक्ष हुआ था, उसको हम समझे नही तो फिर गुणगान भी नही कर सकते। जैसे पूर्वमे जो आचार्य हुए उनको प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ था, यह हम कैसे समझ सकते है? और जब हम अपने प्रत्यक्षसे उसे न जान सके तो उनका गुणगान करना भी व्यर्थ ही है।

यदि कहो कि अन्य प्रत्यक्षसे होगा तो उसकी प्रत्यक्षता अन्यसे होगी, यो अनवस्था दोष आयगा। यदि कहो कि किसी किसी प्रत्यक्षमे प्रामाण्य स्वतःसिद्ध हो जाता है तब इसमे एक स्याद्वाद सिद्धान्त ही तो आया और फिर इसमें भी एक प्रश्न उठता है कि सम्पूर्ण जीवोके सभी प्रत्यक्षोका स्वयं अपने आप ही प्रमाणपना सिद्ध हो रहा तो यह कैसे जाना कि मनको अपने ही ज्ञानसे प्रत्यक्ष प्रमाणपना सिद्ध कैसे हुआ ? क्योकि चार्वाक जन किसी सर्वज्ञ को नही मानते, किसी विशेष पारमार्थिक प्रत्यक्ष वालेको नही मानते, क्योकि इन्द्रियसे ही जो कुछ प्रत्यक्ष होता है उस ज्ञान तकको ही ये समझ पाते हैं। तो जब हम दूसरेके प्रत्यक्ष को नही समझ सकते तो हम उनका गुणगान भी कैसे कर सकते ? गुण ही नही ज्ञात है तो उनकी स्तुति कैसे की जा सकती ? यदि कहो कि अन्य प्रमाणोसे सभी प्रमाणोके प्रत्यक्ष का ज्ञान होना तब फिर किसीकी व्यवस्था नहीं बन सकती; क्योकि इसमे अनवस्था दोष आता है। इससे एक ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, अन्य कोई प्रमाण नही है, ऐसा कहना एक प्रलाप मात्र है। और फिर प्रत्यक्षमे प्रमाणता है—इसकी सिद्धि युक्तिसे कर रहे हो तो अनुमान तो प्रमाणने ही किया। प्रत्यक्षमें प्रमाणता अनुमानमे सिद्ध करते हुए हेतु देकर और फिर कहते जाते कि प्रत्यक्षमे ही प्रमाण है तो कैसी स्ववचन विरुद्ध बात कह रहे हैं ? जैसे कि पहले बताया चार्वाकोने कि प्रत्यक्ष ही नया प्रमाण है, क्योकि अपने और पदार्थके निर्णय करनेमे प्रत्यक्षमे अन्यकी अपेक्षा नहीं होती, फिर प्रतिज्ञा और हेतु कहकर पूरा अनुमान बनाया और उससे प्रमाणता पसिद्ध की और फिर अनुमानका व अन्य प्रमाणका खण्डन किया जा रहा है। कैसे एक मात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाणकी मुख्यता चार्वाकके सिद्ध हो सकती है ?

एक ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, ऐसा चार्वाकका कथन तो यो भी युक्त नही है कि प्रत्यक्ष की प्रमाणताको सिद्ध करनेके लिये कमसे कम अनुमान तो मानना ही पडेगा, इस विषयमे चार्वाकने जो यह कहा था कि प्रत्यक्ष ही मुख्य प्रमाण है, क्योकि वह स्व और पदार्थके निर्णय करनेमे अन्यकी अपेक्षा नहीं रखता। सो ऐसा चार्वाकका कहना तो अनुमानमे भी घटित हो जाता है। अनुमान भी मुख्य प्रमाण है, क्योकि अपने और पदार्थके निर्णयमे अनुमान भी प्रमाणान्तरकी अपेक्षा नही रखता। यदि चार्वाक कहे कि अनुमान प्रमाणकी उत्पत्ति मे तो अन्यकी अपेक्षा रहती है, जैसे साधनसे साध्यका ज्ञान किया तो उत्तर उसका यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण भी तो अपनी उत्पत्तिमे इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा रखता है। यदि चार्वाक यह कहे कि हमारा प्रयोजन है कि प्रत्यक्ष प्रमाण किसी अन्य प्रमाणकी अपेक्षा नही रखना तो उसका उत्तर भी यही है कि अनुमान प्रमाण भी अपनी उत्पत्तिमे अन्य प्रमाणोंकी अपेक्षा नही रखता, और जो कुछ यह दिख रहा है कि पक्षवृत्ति होना, सपक्षमें रहना, विपक्षसे हटना आदिकसे अनुमानकी उत्पत्ति होती है, सो वे सब हेतुके विशेषण हैं और हेतु

मे अनुमानकी उत्पत्ति होती है। तो यो प्रत्यक्ष प्रमाणकी भाँति अनुमान प्रमाण भी है। इस तरह दो प्रमाण मानने चाहिए। चार्वाकका यह कहना था कि प्रत्यक्ष मुख्य प्रमाण है, क्योकि यह ही अन्य प्रमाणके जन्मका निमित्त कारण है, सो उनका यह कहना व्यभिचार दोषमे युक्त है, क्योकि हेतु सादृश्य ज्ञान, सकेतज्ञान, व्याप्तिज्ञान आदि प्रमाणोका तो प्रत्यक्ष निमित्त नही बन रहा। यहा तो यह साधन आदिक ही अनुमान आदिक प्रमाणोकी उत्पत्तिका कारण है, लेकिन प्रमाणान्तरकी उत्पत्तिके कारण होनेसे प्रत्यक्ष बन जाय, यह बात यहाँ तो न घटी। ये सब हेतु वगैरा अनुमान प्रमाणके जनक बन गए। तो प्रत्यक्ष मुख्य है, प्रमाणान्तरकी उत्पत्तिका कारण होनेसे यह बात भी गलत हो जाती है।

यदि चार्वाक यह कहे कि पदार्थके न होने पर प्रत्यक्ष नही होता, इसलिए मुख्य प्रमाण है तो यही बात तो अनुमानमे भी है। यदि पदार्थका सद्भाव नही है, जिसको कि सिद्ध किया जाता है तो उनका अनुमान भी प्रमाण नही बनता। इस कारण चार्वाकका यह कहना कि एक सामने जो दिखता है, ऐसे ही एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अन्य कोई प्रमाण नही है, यह बात सगत नही है। यदि चार्वाक यह कहे कि प्रत्यक्ष प्रमाण सम्वादी है अर्थात् उस प्रमाणको जानकर पदार्थ की उत्पत्ति हो जाती है, इस कारण प्रत्यक्ष मुख्य प्रमाण है, तो यह कहना उनका ठीक तो है, परन्तु सम्वादकपना तो अनुमानमे भी बनता। अनुमानसे भी जानकर पदार्थकी प्राप्ति कर ली जाती है, तो अनुमान क्यो नही प्रमाण माना जा रहा ? यदि चार्वाक यह कहे कि प्रत्यक्ष जो है वह वस्तुको विषय करता है इस कारण मुख्य प्रमाण है तो भाई अनुमान भी तो वस्तुको ही विषय करता है। वस्तुतः उत्तर किसको पाना है ? ज्ञानसे जानकर जिसका कोई लाभ उठाना है वही ज्ञानमे आये, यही तो वस्तु-विषयक ज्ञान कहलाता, सो यह तो अनुमानमे भी है, इस कारण अनुमान भी है।

प्रत्यक्ष व अनुमान दो ही प्रमाण हैं ऐसे विकल्पकी असगतता— क्षणिकवादी कह रहे है कि उक्त प्रकारसे मुख्य प्रमाण दो मान लेने चाहिएँ। प्रत्यक्ष और अनुमान। 'तत्-प्रमाणे' सूत्रमे भी द्विवचनका रूप है प्रमाणे। सो भी सही हो जायगा कि प्रमाण दो प्रकारका होता है। सो प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो प्रकार मानने वाले भी यथार्थवादी नहीं है, क्योकि अनुमान प्रमाण माने तो यह तो निर्णय करना ही पडता है तब अनुमान बनता है कि जितना कोई धूम है वह अब अग्निसे उत्पन्न हुआ या अनग्निसे उत्पन्न नही होता, ऐसा तो समझना ही पडेगा। बस इसीका ही नाम व्याप्ति है, तो व्याप्तिका ज्ञान किए बिना अनुमान प्रमाण तो नही बन सकता। तो जो अनुमान प्रमाण मानते हैं इनको तर्क नामका प्रमाण मानना ही पडेगा, क्योकि तर्क ज्ञान बिना साध्य साधनकी व्याप्ति नही समझी जा सकती। और साध्य-साधनकी व्याप्ति जाने बिना अनुमान प्रमाण बन नही सकता। यदि क्षणिक-

वादी यह कहे कि सबको जानने वाले जो योगीश्वर है उनकी प्रत्यक्षसे व्याप्ति सिद्ध हो जायगी। तो इसके समाधानमे सोचिये कि कितनी असगत बात कही जा रही है कि योगियोको तो समस्त भूत भविष्य वर्तमान त्रिलोकवर्ती पदार्थका ज्ञान चल रहा है तो उनको सभी विषयोमे प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है। उनको अनुमान ज्ञान नही हुआ करता। व्याप्ति का ज्ञान तो खुदको करना है जिसको कि अनुमान बनाना है। तो खुदको तो व्याप्तिका ज्ञान है नही। भले ही सर्वज्ञको ज्ञान होता रहे, उससे इसको क्या लाभ हुआ ? जब ये अल्पज्ञानी जीव जो कि अनुमान करना चाह रहे है वे व्याप्तिको जान नही रहे है तो न उनको स्वार्थानुमान हो सकता और न परार्थानुमान हो सकता। भगवान योगीश्वर सर्वज्ञ समग्र वस्तुको जानते हैं, पर उनका ज्ञान-व्यापार ऐसे तर्कणा, विचार विकल्प रूपमे नही हुआ करता, इस कारण व्याप्तिका ज्ञान जब न हुआ इस अनुमान करने वाले को तो अनुमान प्रमाण कैसे बन सकता है ? और जैसे सर्वज्ञ ज्ञानसे व्याप्ति मानकर अनुमान नही बनता ऐसे ही एक देश प्रत्यक्ष ज्ञानी, अवधिज्ञानी, मन पर्ययज्ञानी इनके प्रत्यक्षसे भी व्याप्ति बनकर अनुमान नही बन सकता। जिसको अनुमान बनाना है, उसको ही व्याप्तिका ज्ञान चाहिए। तो तर्क प्रमाण मानना पडा ना ? यदि तर्क प्रमाण न हो तो व्याप्तिका निश्चय हो नही सकता इसलिए अनुमान प्रमाण है। प्रत्यक्ष अनुमान ऐसा दो ही कहने वालेको तर्क प्रमाण मानना प्रथम ही आवश्यक हो गया।

इस प्रकार जब तर्क प्रमाणकी सिद्धि हो गई तो स्मृति और प्रत्यभिज्ञान भी सिद्ध हो जाता है। कमसे कम और नही तो साध्य-साधनकी व्याप्ति बनाते समय बहुतसी जगह का साध्य-साधन तो स्मरणमे आना ही पडता है और फिर उससे प्रत्यभिज्ञान भी बनता, सदृशका ज्ञान भी होता। तो स्मृति और प्रत्यभिज्ञान भी उनको प्रमाण मानते ही होगे। इस तरह साव्यवहारिक प्रत्यक्ष स्मृतिज्ञान प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान ये प्रमाण जो मतिज्ञान के अनर्थान्तर हैं ये मानने आवश्यक हो गए और ये सभीके सभी मतिज्ञानके ही पर्यायवाची है। अनुमान प्रमाणमे जो दो भेद कहे गए हैं—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान, उसमे से परार्थानुमान तो श्रुतज्ञानसे सम्बन्ध रखता, पर स्वार्थानुमान तो मतिज्ञानका ही अनर्थान्तर है। फिर इसके और प्रभेद करेंगे तो जो-जो कुछ इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर ज्ञान हुआ करता है वे सब प्रकार उस ही मे शामिल हो जायेंगे। जैसे उपमान यह एक सादृश्य प्रत्यभिज्ञानका रूप है अथवा अभाव, यह पदार्थोके ज्ञानका सद्भावरूप है। किसीका अभाव किसी दूसरे पदार्थके सद्भावके ज्ञानरूप हुआ करता है तो इस प्रकार 'तत्प्रमाणे' इस सूत्रसे दो प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्ष मानना चाहिए।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्षकी अप्रत्यक्षरूपता—अभी तक जिस प्रत्यक्षकी चर्चा चल रही है वह तो परोक्षज्ञानका ही भेद है। जो साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है वह वास्तवमे तो मतिज्ञान ही है, परोक्षज्ञान ही है, किन्तु अन्य ज्ञानोकी अपेक्षा इस साव्यवहारिक प्रत्यक्षमे एक देश विशद स्पष्ट ज्ञान लगता है, इस कारण इसे व्यवहारसे प्रत्यक्ष माना है। वस्तुतः तो ये सभी परोक्ष ज्ञानके ही भेद है। वास्तविक प्रत्यक्षज्ञान इनसे अलग है। वास्तवमे उसका वर्णन आगेके सूत्रोमे आयगा। उसका चिह्न यह है कि जो इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा किए बिना केवल आत्मासे ही प्रकट होता है उसे प्रत्यक्षज्ञान कहते है। इस प्रत्यक्षज्ञानमे पदार्थज्ञानकी बडी स्पष्टता होती है और वहाँ किसी प्रकार सदेह आदिक नही हुआ करते। तो आत्मासे ही उत्पन्न होनेके कारण प्रत्यक्षज्ञान कहा जाता है और वह प्रत्यक्षज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञानरूप है। यह तो जो प्रत्यक्ष चार्वाक द्वारा माना गया है अथवा मति शब्द कहकर या साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहकर जिसका सकेत किया जाता है वह वास्तवमे परोक्षज्ञान है। इस तरह 'तत्प्रमाणे' इस सूत्रका अर्थ होता है। तत् मायने ज्ञान। प्रमाणे दो प्रमाणरूप है। तत् मायने वह। यह शब्द पूर्व सूत्रका स्मरण कराता है याने जिस ज्ञानको मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानरूपमे बताया गया है, वह ज्ञान दो प्रमाणरूप है। तो जब ज्ञान ही वह दो प्रमाणरूप है तो उस ही ज्ञानमे से तो छटनी करनी है कि इन ५ ज्ञानोमे से कुछ ज्ञान प्रत्यक्ष है और कुछ ज्ञान परोक्ष है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान—ये दो ज्ञान तो परोक्षज्ञान है, क्योंकि इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर उत्पन्न होते है, और ये पूर्ण स्पष्ट ज्ञान नही है, और कुछ तो स्पष्ट ज्ञान है ही नही। और अवधिज्ञान, मन.पर्ययज्ञान, केवलज्ञान ये प्रत्यक्षज्ञान कहलाते है। इनमे अवधिज्ञान, मन.पर्ययज्ञान तो एकदेश प्रत्यक्ष है, क्योंकि इनका विषय समग्र सत् नही है, और केवलज्ञान सर्वदेश प्रत्यक्ष है, क्योंकि केवलज्ञान का विषय समग्र सत् है। इस तरह 'तत्प्रमाणे' सूत्रमे प्रमाणे शब्दसे परोक्ष और प्रत्यक्षका ग्रहण किया है और परोक्षमे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान कहा गया है। तो अब तक जितना इस प्रसगमे सम्वाद चला वह सब मतिज्ञानके बारेमे ही सम्वाद था। तो मति, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान तर्क और स्वार्थानुमान—ये सब मतिज्ञानके ही अनर्थान्तिर है।

श्रुतज्ञानकी प्रमाणरूपता—ज्ञान दो प्रमाणरूप है, एक परोक्ष दूसरा प्रत्यक्ष। परोक्षज्ञानके मति, स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क और स्वार्थानुमान ये प्रकार है। यद्यपि अनुमानमे स्वार्थानुमान तो मतिज्ञानमे ही अन्तर्भूत होता है, पर वचनात्मक परार्थानुमान मतिज्ञानसे भिन्न है तथा आप्त पुरुषोके द्वारा कहे हुए वचनोमे जो प्रमाणता होती है वह श्रुतज्ञान मतिज्ञानसे जुदा है और प्रमाणभूत है। इस प्रसगपर क्षणिकवादी कह रहे हैं कि ज्ञान तो दो ही होते है—प्रत्यक्ष और अनुमान। जो कभी भी उपदेश देता है या तो प्रत्यक्षसे जानकर देता है या

अनुमानसे जानकर देता है । प्रत्यक्षमे चार प्रकारके प्रत्यक्ष होते है—इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानस-प्रत्यक्ष, योगिप्रत्यक्ष और स्वसम्वेदनप्रत्यक्ष । किसी भी प्रत्यक्षतासे जानकर ही तो कोई उपदेश देगा या अनुमानसे जानकर उपदेश देगा । तो जिस ज्ञानसे जानकर उपदेश दिया तो वह उपदेश उस ही ज्ञानमे शामिल होता है, तो प्रत्यक्ष और अनुमानसे जुदा कोई श्रुतज्ञान न मानना चाहिए । यह आशङ्का युक्त नही है, कारण कि सामग्रीका जब भेद है तो ज्ञानका भी भेद बन जाता है । प्रत्यक्ष सामग्री जुदा और अनुमानकी सामग्री जुदा । प्रत्यक्षकी सामग्री है इन्द्रिय, अनुमानकी सामग्री है अविनाभाव हेतु, इन दोनो सामग्रियोसे भिन्न सामग्री है वचन । तो वचनस्वरूप सामग्रीसे जो उत्पन्न हुआ, ऐसा श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमानसे भिन्न ही होगा । प्रत्यक्षज्ञान यहाँ इन्द्रियज और मानसिक ज्ञान ही को कहा जा रहा है । यदि योगिप्रत्यक्ष भी माने तो योगिप्रत्यक्ष ज्ञानका विषय, पद्धति जुदी है और वचनोमे प्रमाणता आती है तो जो पुरुष उन वचनोको जानकर उसमे उन वचनोके कारण प्रमाणता अगीकार करते हैं तो उस ज्ञानकी प्रमाणताकी पद्धति जुदी है । श्रुतज्ञान दो प्रकारके हुए—एक परार्थानुमान रूप श्रुतज्ञान और दूसरा आप्तोपदेशके कारण जो अर्थज्ञान हुआ वह श्रुतज्ञान आप्तोपदेशसे हुए श्रुतज्ञानको आगम कहते है और परार्थानुमान वाले श्रुतज्ञानको श्रुत कहते हैं । आगम भी श्रुत है और परार्थानुमान भी श्रुत है । इस प्रकार तीन प्रमाण तो मानने ही पडते होंगे—प्रत्यक्ष, अनुमान और श्रुतज्ञान ।

उपपत्तिपूर्वक दर्शनप्रसिद्ध ६ परोक्ष प्रमाणोका प्रतिपादन—जैसे स्मरण प्रत्यभिज्ञान और तर्कका मतिज्ञानमे अन्तर्भाव है । तो यो अन्तर्भाव करके फिर दो ही ज्ञान रहे—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । सो परोक्षज्ञानोमे दो ज्ञान आये—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान और प्रत्यक्षज्ञान स्वाधीन है, इन्द्रिय और मनसे निरपेक्ष है । वह केवल पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाता है । जिसके भेद तीन है—अवधिज्ञान, मन.पर्ययज्ञान और केवलज्ञान । तो इस तरह इन सभी ज्ञानोका पराधीनता और स्वाधीनताके नातेसे प्रकार बनानेसे दो प्रकार होते हैं—एक परोक्षज्ञान और दूसरा प्रत्यक्षज्ञान । अब यदि कोई ऐसी आशका रखे कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क— ये सब अनुमानके ही रूपक हैं, और ऐसी आशका रखनेका कारण यह हो सकता है कि जैसे प्रत्यक्षके समान अनुमानमे प्रमाणता नही है, उसी प्रकार स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और तर्क ज्ञानमे भी स्पष्टता नही है । सो यहाँ एक देश स्पष्टता और अस्पष्टताके नातेसे तो दो भेद किए जा सकते है—विशदपरोक्ष और अविशदपरोक्ष । लेकिन अविशदपरोक्षमे साधन-सामग्रीके भेदसे और विषयके भेदसे भेद होते हैं । जैसे अनुमानका सामग्री है अविनाभाव हेतु और स्मरणका सामग्री है मनके द्वारा पूर्वमे अनुभव किए गए विषयकी याद । तो साक्षात् विषयमे भी भेद है और सामग्रीमे भी भेद है । इसी प्रकार

प्रत्यभिज्ञानका विषय न तो पूर्वकालीन विषय है और न वर्तमानकालीन विषय है, किन्तु पूर्व और वर्तमानके बीच रहने वाला एकत्व विषय है, जिसको न प्रत्यक्षज्ञान जानता, न स्मरण ज्ञान जानता, न अनुमान जानता और जो सादृश्य प्रत्यभिज्ञान आदिक है जैसे रोझ को देखकर गायका स्मरण हुआ और यह जाना कि यह तो गायके समान है, तो यह कह कर जाने वह तो प्रत्यक्ष है और गायका ख्याल आया वह स्मरण है, किन्तु यह गायके समान है, ऐसा जो उन दोनोके बीच सदृशताका ज्ञान है वह सदृशता न प्रत्यक्षका विषय है, न अनुमानका है और न स्मरणका है, इसलिए प्रत्यभिज्ञानका विषय जुदा है। इसी प्रकार तर्क ज्ञानका भी विषय इन सबसे जुदा है। तर्क ज्ञानमे जाना जाता है कि जहाँ जहाँ साधन है वहाँ वहाँ साध्य होता है। जहाँ साध्य नही होता वहाँ साधन नही होता। तो इस तर्क ज्ञान के तो साधारणतया सामान्यरूपसे सभी साधनोका बोध किया और साध्यकी अन्वयव्यतिरेक व्याप्ति बनाया। यह विषय न तो प्रत्यक्षका है, न अनुमानका है, न स्मरणका है और न प्रत्यभिज्ञानका है। तो यो विषयके भेदसे इन सब ज्ञानोमे भेद है। इस कारण इसके अनुमान मे अन्तर्भूत नही किया जा सकता। हाँ, अविशदज्ञानसे अन्तर्भूत कर ले तो उसका अविशद ज्ञान बोला जायगा तो वहा अनुमान भी न बोलना चाहिए। जैसे स्मरण प्रत्यभिज्ञान और तर्क अविशदज्ञानसे सम्बोधित किया गया ऐसे ही अविशदज्ञानसे सम्बोधित हो गया। इस प्रकार परोक्षज्ञानमे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष स्मरण प्रत्यभिज्ञान तर्क और स्वार्थानुमान—ये ५ प्रकार आते है। परार्थानुमान श्रुतज्ञान है और वीतराग सर्वज्ञ महर्षि संतो द्वारा उपदेश किए गए वचनोसे जो अर्थज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान कहलाता है। इस प्रकार सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष स्मरण प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमान तथा श्रुतज्ञान इस तरहसे हो ये ६ ज्ञान परोक्ष ज्ञान मानना चाहिए।

उपमान अभाव आदि बुद्धियोंका उक्त प्रमाणोमें अन्तर्भाव बताते हुए प्रकरणका उपसहार—इनके अतिरिक्त अन्य दार्शनिक कोई उपमान ज्ञान मानते है तो वह उपमान ज्ञान तो सादृश्य प्रत्यभिज्ञानमे ही सम्मिलित होता है अथवा उस उपमान ज्ञानकी ऐसी पद्धति अनुमानके ढंगमे है तो अन्य ज्ञानोमे सम्मिलित होता है। जो ज्ञान विषय किया उनके भिन्न विषय वाला उपमान ज्ञान नही है। कोई दार्शनिक कहते है कि एक अभाव नामका भी प्रमाण होता है। जैसे जहाँ जो चीज नही है उसका अभाव जान ले तो अभाव ज्ञान भी तो प्रमाण है। इसको भी अलगसे कहना चाहिए। सो इस विषयका समाधान यह है कि यद्यपि अभाव ज्ञान कई प्रकारसे होता है, जैसे पूर्वपर्यायमें उत्तरपर्यायका अभाव, उत्तर पर्यायमे पूर्वपर्यायका अभाव। वर्तमानकी दो पर्यायमे परस्परका एकका दूसरेमे अभाव और एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमे आत्यंतिक अभाव। सो अभावके प्रकार यद्यपि चार है तो भी ये

सभी अभाव किसी दूसरेके सद्भावरूप ही होते है। असत् प्रमेय नही हो सकता, ज्ञानका विषय सत् ही है। असत् विषय नही है। तो जितने भी अभाव है वे सब किसीके सद्भाव रूप होते हैं। जैसे प्रागभावमे यह जाने कि घटका प्रागभाव पूर्वपर्याय याने मिट्टीका लौंदा तो घटका प्रागभाव मिट्टीका लौंदा देखकर ही तो विषय किया। उसे समझकर ही तो जाना गया अथवा घटका प्रध्वसाभाव खपरिया है। तो खपरियोका सद्भावरूप ही तो घटमे अभाव पडा, एक दूसरेका परस्परमे जो अभाव है पर्यायका वह जिसके बीचकी बात कहे वह दूसरेके सद्भावरूप पडता है और द्रव्योमे जिस द्रव्यका जिसमे अभाव बताया जाय उसका सद्भाव रूप पडता है। तो जो सत् पदार्थविषयक ज्ञान है वह प्रत्यक्ष स्मरण आदिक जो ज्ञान बताये गए उन ही के विषयभूत बनते है। इस प्रकार मूलमे तो इसका ज्ञान है परोक्ष और प्रत्यक्ष और उनके प्रकार किए जायें तो परोक्षके दो प्रकार है—एक देश विशद और अविशद। अविशद चार प्रकारके है—स्मरण, प्रत्यभिज्ञान तर्क और स्वार्थानुमान, इन सबसे अतिरिक्त है श्रुतज्ञान, यह तो परोक्षज्ञान है और प्रत्यक्षज्ञान पारमार्थिक है, जिसका भी अलग सूत्रमे वर्णन आयगा।

ज्ञानके भेद प्रभेद स्वरूपके वर्णनका आधारभूत प्रकरण—इस मोक्षशास्त्रमे ससारी प्राणियोके ससारसे छुटकारा दिलानेका उपाय कहा है। वह उपाय है जिसका छुटकारा करना है उसके सहजस्वरूपका ज्ञान और विश्वास तथा उस ही मे रम जाना। कोई भी पदार्थ किसी अन्य पदार्थसे छुटकारा पाता है तो इसी तरह तो पाता है कि वह प्रकट रूपमे वही मात्र अकेला रह जाय। तो यह आत्मा जो शरीर व कर्मोंसे बधा हुआ है वह अकेला रह जाय, इसका उपाय है इस अकेले सहजस्वरूपका विश्वास, ज्ञान और इस ही स्वरूपमे रमण। इस ही को कहते है रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। सम्यग्दर्शन तो निश्चयत सहज आत्मतत्त्वका श्रद्धान है और उसका साधन ७ तत्त्वोका श्रद्धान है। यह सम्यग्दर्शन किसीके तत्काल उपदेशका निमित्त पाकर होता है तो किसीको उपदेशके बिना भी हो जाता है। सभी सम्यग्दर्शनोमे इस जीवको भावरूपसे ७ तत्त्वोका श्रद्धान पडा हुआ है। जो जीव ७ तत्त्वोका नाम भी नही ले पाते उनको भी ७ तत्त्वोमे गत एकत्वका श्रद्धान अवश्य है। भावरूपसे उनको यह परिचय है। परपदार्थोंमे लक्ष्य लेनेसे आस्रव बध होते है। स्वमे लक्ष्य होनेसे सम्वर निर्जरा होती है। जैसा पदार्थका स्वरूप है वैसा ही ज्ञान करना सम्यग्ज्ञान है। और रागद्वेष जो ससारमे रुलाने वाले है उनकी निवृत्ति हो जाना सम्यक्चारित्र है। इस तरहसे सब तत्त्वोका परिचय प्रमाण और नयोसे होता है। इसका व्यवहार चार निक्षेपोंसे होता है। व्यवहार जहाँ ठीक चल रहा है वहाँ प्रमाण और नयकी गति भी चलती है। प्रमाण और नयोके द्वारा सम्यग्ज्ञानतया जानकारी बनती है और उस ही के विशेष हैं अन्य-

उपाय। जैसे वस्तुका निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान बताना। वस्तुस्वरूपको और विशेषरूपसे जानना है तो सत् सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्प बहुत्व—इन उपायोसे भी परिचय करना होता है। वस्तुके परिचयका उपाय बताकर जो उपाय है वह सब ज्ञानरूप है। अतएव ज्ञानके सम्बधमे कुछ स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। उसीको कहते है कि यह ज्ञान ५ ज्ञानरूप है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन -पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। ज्ञान इन ५ पर्यायोमे रहता है। ज्ञान ही प्रमाण है। अज्ञान कभी प्रमाण नही बन सकता। इस ज्ञानके सम्बन्धमे अनेक दार्शनिक अनेक प्रकारकी धारणा बनाते है। कोई ज्ञानको किसी अन्य ज्ञानसे जानना मानते है। कोई ज्ञानको अनेक प्रकारकी जड-सामग्रीसे उत्पन्न होना मानते है, लेकिन ज्ञान स्वय जब प्रकाशस्वरूप है तो उस ही ज्ञान को उस ही रूपमे जानने और अनुभवनेके लिए स्वय समर्थ है, अन्य ज्ञानकी आवश्यकता नही होती है। ज्ञान तो एक ही प्रकारसे बर्तता है, किन्तु अनादिकालसे रागद्वेष मलीमस होनेके कारण जो अज्ञानमे बर्त रहा है और विषय सस्कारमे चल रहा है उपयोग इसका, सो परके अभिमुख हो जानेके कारण ज्ञानसे विमुख होनेके कारण कुछ ज्ञानविकासके लिए यह परतन्त्र स्थितिमे इन्द्रिय और मन साधन होते है। भले ही इन्द्रिय और मन साधन हो, फिर भी ज्ञान ज्ञानसे ही प्रकट होता है, किसी अन्यसे प्रकट नही होता। यह ज्ञान जिस-जिस ज्ञानावरण का अलगाव होता जाता है वैसे ही विशेष-विशेष विकास होता जाता है और जहाँ सम्पूर्णतया ज्ञानावरणका विकास हो जाता है वहाँ केवल ज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसे ये सभी ज्ञान प्रमाण रूप है।

प्रमाणोके सम्बन्धमे स्फुट तथ्यका प्रकाशन—ये सभी ज्ञान अपने विषयमे प्रमाणभूत है और अविषयमे अप्रमाण रहते है। जैसे मतिज्ञानसे जाना जो भी विषय उस विषयके आधारभूत द्रव्यमे अनेक अवस्थायें पडी है, पर शेष अनेक धर्मोंकी अपेक्षा वह ज्ञान प्रमाण नही है। और जिस ज्ञानका विषय जिस अशमे बृत्त रहा है, उस विपयमे उस अशसे वह प्रमाणभूत होता है। प्रमाणमे प्रमाणता कब होती है इस विषयमे भी अनेक दार्शनिकोके अनेक प्रकारके ख्याल है। किन्ही दार्शनिकोका ख्याल है कि प्रमाणमे प्रमाणताकी उत्पत्ति किसी अन्य ज्ञानादिकसे होती है और किन्ही दार्शनिकोका सिद्धान्त है कि प्रमाणमे प्रमाणपनेकी उत्पत्ति स्वयमेव होती है। इस प्रकार प्रमाणमे प्रमाणता है, इस प्रकारकी जानकारी किसीके सिद्धान्तमे परसे होती है। किन्हीके सिद्धान्तमे स्वय ही होती है। इस प्रामाण्यकी उत्पत्ति और ज्ञप्तिके सम्बन्धमे जैनसिद्धान्तने यह स्पष्ट किया है कि अभ्यास दशामे तो प्रामाण्य स्वत होता है और अनभ्यास दशामे प्रामाण्य परसे हुआ करता है। ऐसा प्रमाणके सम्बधमे जब सभी दृष्टियोसे परिचय हो जाता हे तब प्रमाणके विशेपोकी सिद्धि सुगमतया बन जाती है। जो अपना और पदार्थका निश्चय कराने वाला ज्ञान है उस ज्ञानको प्रमाण कहते है। अब

यह लक्षण जिन-जिन विशेषोमे पहुचे वे वे सब विषय प्रमाण कहलाते हैं। उन प्रमाणोके प्रकारोमे प्रामाण्यरूप तो सबमे एक समान है अर्थात् प्रमाणता है और विशेष रूपसे चूंकि विषयभूत है, सामग्रीभेद है, इस कारण वे सभी ज्ञान नाना प्रकारके बन जाते है। और इस आधारसे यह ज्ञान दो प्रमाणरूप मूलमे बना। एक तो वह ज्ञान जो इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा कर उत्पन्न होता है और एक वह ज्ञान जो इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा नही करता, किन्तु मात्र आत्मासे उत्पन्न होता है, उस ज्ञानका नाम है प्रत्यक्ष।

ऐसा प्रमाण दो ज्ञानरूप है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। परोक्ष ज्ञानोमे एक इन्द्रियजन्य मतिज्ञान एकदेश स्पष्ट रखनेके कारण साव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना गया है। वस्तुतः वह भी परोक्ष है। ऐसा परोक्षज्ञान मति, स्मरण, सज्ञा, तर्क और अनुमान– इन भेदोसे ५ प्रकारका होता है। ये ५ प्रकारके ज्ञान परोक्ष ज्ञान है। प्रत्यक्षज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान, केवलज्ञान, इस प्रकार तीन प्रकारका है। ऐसा 'तत्प्रमाणे' इस सूत्रमे द्विवचनरूप रखे गए प्रमाण शब्दसे यह अर्थ ध्वनित हुआ कि वह ज्ञान दो प्रमाणरूप है। हम आप लोगोको जब कभी भी बडे निश्चयपूर्वक ज्ञान होता है तो वह ज्ञान परोक्ष ज्ञानमे से है और यदि अवधिज्ञान उत्पन्न होता है तो उस रूपसें भी प्रकट होता है। हमे यहाँ यह बोध रखना चाहिए कि चाहे कितने ही पकारके साधनोसे ज्ञानकी उत्पत्ति हुई है, मगर ऐसे निमित्तनैमित्तिक योग के सम्बन्धमे भी यह बात स्पष्टतया जाहिर रहती है कि ज्ञान अपने ही ज्ञानस्वरूपको लेकर अपने ही ज्ञानस्वभावके स्रोतसे उत्पन्न हुआ है। इस तरह प्रमाणका मौलिक प्रकार बताया गया है। अब प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्षका वर्णन करनेके लिए आगे सूत्र कहेगे।

॥ मोक्षशास्त्र प्रवचन षष्ठ भाग समाप्त ॥

मोक्षशास्त्र प्रवचन सप्तम भाग

मति-श्रुतज्ञानकी परोक्षज्ञानरूपताका वर्णन—आदिके दो ज्ञान परोक्षज्ञान है। आदि के दो ज्ञान है मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। ये दोनो ज्ञान परोक्षज्ञान कहलाते है। परोक्षका अर्थ है—जो अक्षसे परावृत्त हो सो परोक्ष। अक्ष मायने आत्मा, उससे जो परावृत्त है, अभिमुख नही है अर्थात् इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर होता है वह परोक्षज्ञान कहलाता है। परा और अक्ष— इन दो शब्दोसे यह व्युत्पत्ति हुई। अब धातुके रूपसे व्युत्पत्ति इस प्रकार है, पर और अक्ष, "परै: इन्द्रियादिभि अक्ष्यते, सिच्यते, अभिवर्ध्यते इति परोपेक्षम्।" जो परके द्वारा अर्थात् इन्द्रियके द्वारा आक्षित हो, सीचा जाय, जो पुष्टि कर कर बढाया जाय उसे कहते है परोक्षज्ञान। मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमे ये सब बातें पायी जाती है। इन्द्रियादिकके द्वारा यह उत्पन्न होता है और सीचा जाता है, पुष्ट किया जाता है। इससे इन दोनो ज्ञानोको परोक्षज्ञान कहते हैं। आद्य द्विवचन है अर्थात् पहले जो "मतिश्रुतावधिमन:पर्ययकेवलानि ज्ञानम्" यह सूत्र कहा है। उस सूत्रमे प्रथमके दो ज्ञान, ये मतिज्ञान और श्रुतज्ञान है। यद्यपि इनमे मुख्यतया आदि तो मतिज्ञान है, पर जब आद्येमे द्विवचन शब्द दिया तो उस आदिके निकटका जो ज्ञान है वह भी ग्रहणमे आता है। इस तरह "आद्ये परोक्ष" इस सूत्रमे मति, श्रुतज्ञानको परोक्ष बताया गया है। कोई ऐसा सोच सकता है कि केवलज्ञानकी अपेक्षा तो चारो ही ज्ञान आद्य कहलाते है। तो 'आद्य' शब्दसे यद्यपि चार ज्ञान आते है, फिर भी उन आद्योमे से आद्य ज्ञान दो है। चूंकि इन चार ज्ञानोमे एक साथ रह सकने वाले दो ज्ञान मतिज्ञान, श्रुतज्ञान है, इस कारण 'आद्ये' शब्दमे इस मतिश्रुतका ग्रहण होता है, परतु ऐसा तर्क करना ठीक नही है, क्योकि इस तरहसे तो यह भी सोचा जा सकता कि मतिकी अपेक्षा तो श्रुत आदिरहित है, वह तो आदिमे नही है। इस तरह तो श्रुतज्ञानका ग्रहण न हो सकेगा, इसलिए एक साथ होता है। इस कारण 'आद्ये' शब्दसे इन दो का ग्रहण किया गया, यह युक्ति न दी जाय, किन्तु समस्त ज्ञानोमे आदिमे ये दो ज्ञान लिखे गए हैं। सो आद्ये शब्द कहकर इन दोनो ज्ञानोका ग्रहण किया जाता है।

व्याकरणरीतिके अनुसार सूत्ररचनाकी निर्दोषताका विवरण—अब यहाँ कोई शङ्का कर सकता है कि जब आद्येमे द्विवचन शब्द दिया है तो परोक्षके लिए भी द्विवचन शब्द देना चाहिए, "आद्ये परोक्षे" ऐसा सूत्र बनाना चाहिए, क्योकि उद्देश्यके समान उसकी विधेयमे संख्या होनी चाहिए। यहाँ लिंग भी दोनो शब्दोका एक है और संख्या भी दोनोमे एकसी ध्वनित की गई है। तो वचन भी अगर एकसा लग जाय तो अच्छी प्रकारसे सामानाधिकरण्य

बन जाय अर्थात् दोनोका एकसा बर्ताव बन जायगा। इस शकाके उत्तरमे कहते है कि यहाँ विधेय जो परोक्ष शब्द है उसका सम्बन्ध ज्ञानम्के साथ है, जो पहले मत्यादि सूत्र कहा गया है उसमे जो ज्ञानम् शब्द है उसकी ही अनुभूति आती है तब अर्थ बनता है– आद्ये परोक्ष ज्ञान आदिके दो ज्ञान परोक्ष ज्ञान है। वचनभेद भी हो तब भी सामानाधिकरण्य माना जा सकता है, अर्थात् समान अधिकरणमे दोनो लाये जाते है। जैसे कोई उच्चारण करे—तपःश्रुते साधो कार्यम्। तप और श्रुत ये दोनो साधुके कार्य है तो यहाँ उद्देश्य तो एकवचन है और विधेय द्विवचन है, फिर भी दोनोका आधार साधु है। इसी प्रकार आद्ये द्विवचन है, परोक्ष एकवचन है, फिर भी दोनोका आधार एक ज्ञान है। अथवा जहा सिद्ध किया जा रहा वह है। यदि कोई हठ करे कि हमको तो 'परोक्षे' इस प्रकार द्विवचन शब्द कहना ठीक लगता है तो यदि सूत्र 'आद्ये परोक्षे' ऐसा बना दिया जाय तो भी उसके साथ प्रमाण अथवा ज्ञानम् शब्द कहना आवश्यक रहेगा ही तो इससे सूत्र और बढ गया। सूत्रका लाघव होना बुद्धिमानोमे प्रशसनीय कहा गया है। तो आद्ये परोक्ष कहनेसे ज्ञानम् अथवा प्रमाण की अनवृत्ति भी आयगी। सूत्र लाघव हो गया। अत जो सूत्रकारने 'आद्ये परोक्ष' सूत्र कहा है वह बहुत युक्तिसगत है।

आद्ये परोक्षं सूत्रमे प्रमाण और ज्ञानकी अनुवृत्तिका लाभ—अब यहा कोई ऐसी शका कर सकता है कि यहा प्रमाण अथवा ज्ञानम् की अनुवृत्ति करनेसे लाभ क्या है? क्या बात सिद्ध की जा रही है? तो उसका समाधान सुनो—सूत्रसे तो इतना ही अर्थ होता है ना, कि आदिके दो परोक्ष है, अथवा यो कह लीजिए कि आदिके दो ज्ञान परोक्ष है, मगर वे आदिके दो ज्ञान परोक्ष ज्ञान ही है, प्रमाण ही है, ऐसा निश्चय करनेपर प्रमाणका लक्षण जो लोग अन्य-अन्य प्रकारसे मान रहे थे उनका निराकरण हो जाता है। कोई तो अज्ञानको प्रमाण कहते थे, कोई इन्द्रियको, कोई सन्निकर्षको, लेकिन इन जड पदार्थोंको परोक्ष प्रमाण कह ही नही सकते है। और प्रमाण शब्दकी अनुवृत्ति करनेसे यह सिद्ध होता है कि परोक्ष ज्ञान प्रमाण है, अप्रमाण नही है। इस तरह सूत्रका अर्थ होता है—आद्ये ज्ञाने परोक्ष प्रमाणम्, आदिके दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण है। आदिके दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं यहा। श्रुतज्ञानमे तो श्रुतज्ञान ही आता है, परार्थानुमान अथवा आगम, किन्तु मतिज्ञानमे स्मृति, प्रत्यभिज्ञान तर्क, स्वार्थानुमान तथा उनके और प्रभेद अवग्रह आदिक ये सब परोक्ष ज्ञान कहलाते है।

प्रत्यक्षज्ञानकी तरह परोक्षज्ञानमे भी निरालम्बताका अभाव—यहा क्षणिकवादी बौद्ध कह रहे हैं कि प्रमाण तो वास्तवमे प्रत्यक्षज्ञान ही है, क्योकि वह वास्तविक अर्थको विषय करता है और तभी उसे स्पष्ट ज्ञान कहते है, किन्तु जो परोक्ष ज्ञान है, पदार्थका स्पष्ट बोध नही करता है अथवा जब वस्तुका सम्बन्ध नही रहता उस समय परोक्षज्ञान बनता है।

तो ऐसा यह अस्पष्ट परोक्षज्ञान वास्तविक अर्थको विषय करने वाला नहीं है । जो वास्तविक अर्थको विषय न करे वह विशद नही होता, निर्मल ज्ञान नही होता । जैसे कि खेल खेलता हुआ बालक अपने मनके अनुसार स्वाग रचता है, स्वागमे कभी राजा, सेनापति, मत्री आदिक बनता है तो तद्‌विषयक जो कुछ भी ज्ञान हो रहा, प्रत्यक्ष तो वह है नही, स्पष्ट भी है नही तो वहा जो कुछ भी अस्पष्ट ज्ञान हो रहा है वह वास्तविक राजा आदिकको विषय तो नही कर रहा । ऐसे ही जितने भी अस्पष्ट ज्ञान होते है उन पदार्थोंको विषय नहीं करते । इसी कारण अस्पष्ट ज्ञानोको निरालम्ब ज्ञान कहा है । तो परोक्ष कोई ज्ञान नही है, प्रमाण नही है । केवल एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है और उसके निकटवर्ती होनेसे गौणरूपसे अनुमानको भी प्रमाण कहा जा सकता है, किन्तु यह वास्तविक ज्ञान नही है । उक्त आशकाके समाधानमे कहते है कि वास्तविक पदार्थको विषय न करनेसे निरालब अगर मान लिया जाय और यो परोक्षज्ञान को अप्रमाण कह दिया जाय तो इस तरह कभी-कभी प्रत्यक्ष भी तो निरालम्ब हो जाता है, वह भी अप्रमाण बन जायगा । जैसे आखमे कुछ अगुली गडा लेनेसे चन्द्र दो या अनेक दिखने लगते है तो चन्द्र तो वास्तवमे एक ही है, किन्तु दिखने लगे दो तो दो चन्द्रोका जो ज्ञान हुआ है उस ज्ञानको निरालम्ब ही तो कहेगे । याने दो चद्र नही हैं । यदि वहा बौद्ध यह उत्तर देने का प्रयास करें कि भले ही एक बार एक चन्द्रमे दो दिख गए तो एक जगह प्रत्यक्षमे गडबडी होनेसे सारे प्रत्यक्ष ज्ञान गडबड तो नही कहे जा सकते । तो यहाँ भी यह ही उत्तर समझ लें । अविशदज्ञानोमे एक मनके राज्यकी बात अगर निरालम्ब हुई तो एक परोक्षज्ञान निरालम्ब हो गया तो सारे परोक्ष ज्ञानोको निरालम्ब नही कहा जा सकता । भ्रान्त ज्ञान प्रत्यक्षमे भी हो जाता, परोक्षमे भी हो जाता । कोई ज्ञान भ्रान्त रहे तो इससे सभी ज्ञानोको भ्रान्त मान लिया जाय, यह युक्त नही । अब यहा क्षणिकवादी अनुमान रखकर बोलते है कि सम्पूर्ण परोक्ष ज्ञान अनालम्ब है अर्थात् जानने योग्य विषयोसे रहित है, क्योकि वे अविशद रूपसे जानते हैं । परोक्षज्ञान वास्तविक अपनी कल्पनामे आये हुए राज्यादिक विभावोको स्पर्श भी नहीं करते, इस कारण कोई भी परोक्षज्ञान प्रमाण नही है, ऐसी आशका होनेपर समाधान दिया जाता है कि यो तो प्रत्यक्षज्ञानमे भी कह सकते । प्रत्यक्षज्ञान अपने ग्राह्य अर्थ को विषय नही करता, क्योकि स्पष्ट ज्ञान होनेसे । स्पष्ट ज्ञानोमे कई ज्ञान ऐसे है कि जो ग्राह्य विषयका स्पर्श नही करते । जैसे सीपमे चादीका ज्ञान हो गया, ज्ञान तो स्पष्ट हो गया, आखोसे देखा, पर वहा चाँदी कहा है ? ग्राह्य विषय तो नहीं है, इससे प्रत्यक्षज्ञान भी सब अप्रमाण बन जायगा । यदि यह उत्तर हो कि एक प्रत्यक्ष अगर अप्रमाण हो गया तो सारे प्रत्यक्ष तो अप्रमाण न हो जायेंगे । तो यही उत्तर इस प्रसगमे है कि यदि कोई परोक्षज्ञान

अप्रमाण हो गया तो सारे परोक्षज्ञान अप्रमाण हो जायेंगे।

सर्वज्ञानोमें सामान्यविशेषात्मक वस्तुकी विषयभूतता——बौद्ध यहाँ ऐसा भी कह सकते कि भाई अनुमान प्रमाण द्वारा जो कि परोक्षज्ञान है उससे अवस्तुभूत सामान्य ही जाना जाता। सामान्य जानकर फिर चूंकि सामान्यका विशेष अर्थके साथ सम्बध हो जाता है, इसलिए अनुमानसे अर्थमे प्रवृत्ति बन जाती है। और जब-जब अर्थमे प्रवृत्ति बने तब-तब उस ज्ञानको प्रमाण कहा जाता है। तो अनुमान अस्पष्ट होते हुए भी ग्राह्य अर्थसे सहित परम्परासे बना। इस विषयमे उत्तर यह है कि न केवल सामान्य कोई वस्तु है, न केवल विशेष वस्तु है। जब पदार्थ जाना जाता है तो सामान्यविशेषात्मक ही पदार्थ जाना जाता है। अनुमान प्रमाणसे जब गुणपर्याय है तो सीधा ही उस वस्तुको प्राप्त करता है और अर्थक्रिया भी बन जाती है। तो अनुमान प्रमाण ग्राह्य अर्थसे रहित नही है। हाँ उसमे अगर परम्परासे सम्बध बनाकर उसका विषय अवस्तु साबित करें, जैसे कि अनुमानसे जाना सामान्य, सामान्य का सम्बन्ध है विशेषसे, यो अनुमान अर्थग्राही बना, ऐसा यदि कहा जाय तो जब कभी मणिप्रभामे मणिका ज्ञान होता तो वह भी प्रमाण ज्ञान होना चाहिए। किसी सदूकमे मणि रखी हो, प्रभा फैल रही है, उसमे एक छोटासा छिद्र है, उस छिद्रमे दूरसे प्रभा झलक रही है तो उतनी प्रभाका प्रत्यक्ष तो कर लो, पर ग्राह्य अर्थ कहाँ है? वह तो प्रभा है, मणि नही है। तो ऐसी अनेक अनिष्ट बातें प्रत्यक्षज्ञानमे भी हो जायेंगी। मणिप्रभामे होने वाला मणिज्ञान यदि अनुमान प्रमाण माना जायगा, उसे प्रत्यक्ष न मानेंगे। तब तो अर्थकी प्राप्तिसे अनुमानमे प्रमाणपना आता है, ऐसी व्यवस्था न बन सकेगी और उस व्यवस्थाके बनानेमे कोई दृष्टान्त भी न मिल सकेगा। अर्थकी प्राप्तिसे अनुमान प्रमाण बनता है। इसमे मणिज्ञान दृष्टान्त नही बन सकता। क्योकि वह दृष्टान्त साध्यसे रहित है, क्योकि वहा अर्थप्राप्ति नही है। मणिकी प्रभामे जो मणिका ज्ञान बना वह प्रत्यक्ष प्रमाण नही है, क्योकि मणि तो हाथ न लगी, फिर स्थूल दोष है यह कि क्षणिकवादी पदार्थोको क्षणवर्ती मानते हैं। वहा पहले क्षणमे तो जाना, दूसरे क्षणमे अभिलाषा हुई, तीसरे क्षणमे प्रवृत्ति की, चौथे क्षणमे चीज पायी गई, तो ऐसी क्रिया क्षणिक ज्ञानसे होना असम्भव है।

देखो पहले भी ज्ञान हुए, मगर वहा अर्थप्राप्ति तो नही है। अर्थप्राप्ति तो तब मानते है क्षणिकवादी जब कि अर्थका विनाश हो जाता है। तो जैसे अर्थके अभावमे प्रत्यक्ष प्रमाण नही होता और उसे इस कारण प्रमाण माना जाता, इसी तरह अर्थके अभावमे अनुमान प्रमाण भी नही होता। इस विधिसे अनुमान भी प्रमाण माना जाता। यदि क्षणिकवादी यह कहे कि अनुमान प्रमाण भले ही अवस्तुभूत सामान्यको ग्रहण करता, परन्तु वह अर्थकी प्राप्ति करा देगा तो यह तो बडे पक्षपातकी बात हो गई। अरे अवस्तुको तो विषय

प्रमाण एकवचन शब्दकी अनुवृत्ति होती है। इस कारण यह अर्थ हुआ कि परोक्षसे अन्य बचा हुआ अवधि, मन:पर्यय, केवल— इन तीन अवयवोका जो समुदाय है, ज्ञान है वह प्रत्यक्ष है। इस कारण उमास्वामी महाराजने जो सूत्र कहा है वह व्याकरणसे पूर्णतया संगत है। जातिकी अपेक्षा एकवचन बोलनेकी सर्वत्र प्रसिद्धि भी है। जैसे गेहू सस्ता है, चावल तेज है तो यद्यपि कोई एक गेहूके दानेकी बात तो नही होती। है बहुतसे गेहुंवोकी बात, मगर जाति अपेक्षा एकवचन हो जाता है। इसी प्रकार 'ज्ञान' जातिकी अपेक्षा एकवचन होनेमे कोई विरोध नही है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष इसके साथ प्रमाणकी अनुवृत्ति है तो यह भी एकवचन मे ठीक है। कोई यहाँ ऐसा सोच सकता है कि इससे पहले सूत्रमे फिर 'आद्ये' शब्द कहकर द्विवचन क्यो बनाया ? वहाँ भी एक ही वचन कहते। तो वहा एक यह आपत्ति आती थी कि यदि एकवचन कहते तो आदिका केवल एक मतिज्ञान ही ग्रहणमे आता और मति, श्रुत दोनो लेने है अन्यथा दो दोष हैं। श्रुतज्ञान परोक्ष नही रहता और इस सूत्रके आनेसे प्रत्यक्ष बन जाता, इस कारण जुदे कोई प्रामाणादिक की अपेक्षा एकवचन दिया वह ठीक है।

सूत्रोक्त पद और पदानुवर्तनसे दर्शन व मिथ्याज्ञानोमे प्रमाणत्वका निरसन करते

प्रमाण एकवचन शब्दकी अनुवृत्ति होती है। इस कारण यह अर्थ हुआ कि परोक्षसे अन्य बचा हुआ अवधि, मन पर्यय, केवल– इन तीन अवयवोका जो समुदाय है, ज्ञान है वह प्रत्यक्ष है। इस कारण उमास्वामी महाराजने जो सूत्र कहा है वह व्याकरणसे पूर्णतया संगत है। जातिकी अपेक्षा एकवचन बोलनेकी सर्वत्र प्रसिद्धि भी है। जैसे गेहू सस्ता है, चावल तेज है तो यद्यपि कोई एक गेहूके दानेकी बात तो नही होती। है बहुतसे गेहुवोकी बात, मगर जाति अपेक्षा एकवचन हो जाता है। इसी प्रकार 'ज्ञान' जातिकी अपेक्षा एकवचन होनेमे कोई विरोध नही है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष इसके साथ प्रमाणकी अनुवृत्ति है तो यह भी एकवचन मे ठीक है। कोई यहाँ ऐसा सोच सकता है कि इससे पहले सूत्रमे फिर 'आद्ये' शब्द कहकर द्विवचन क्यो बनाया ? वहाँ भी एक ही वचन कहते। तो वहा एक यह आपत्ति आती थी कि यदि एकवचन कहते तो आदिका केवल एक मतिज्ञान ही ग्रहणमे आता और मति, श्रुत दोनो लेने है अन्यथा दो दोष है। श्रुतज्ञान परोक्ष नही रहता और इस सूत्रके आनेसे प्रत्यक्ष बन जाता, इस कारण जुदे कोई प्रामाणादिक की अपेक्षा एकवचन दिया वह ठीक है।

सूत्रोक्त पद और पदानुवर्तनसे दर्शन व मिथ्याज्ञानोमे प्रमाणत्वका निरसन करते हुए प्रत्यक्षके स्वरूपका प्रकाशन—इस सूत्रमे अन्यत् ज्ञान अर्थात् अन्य ज्ञान ऐसा कहनेके कारण अवधिदर्शन व केवलदर्शन ग्रहण न किया जायगा, क्योकि वह दर्शन है। यह ज्ञानका पकरण है और प्रत्यक्षके साथ प्रमाण कहा है तो प्रमाणके सम्बन्धमे यह सिद्ध होता है कि अवधि आदिक अप्रमाण नही है, किन्तु प्रमाण है। साथ ही यह सम्यक्का प्रकरण है और सम्यक्पदका अधिकार चला आने से कुअवधिज्ञानका भी निवारण हो जाता है और प्रत्यक्ष शब्द कहनेसे यह परोक्ष नही है, ऐसा दृढ निर्णय हो जाता है। इस प्रकार इन शब्दोकी रचनामे यह बात स्पष्ट ध्वनित हो गयी कि शेषके तीन ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाते हैं। प्रत्यक्ष उसे कहते है जो आत्माका आश्रय लेकर उत्पन्न हो। यद्यपि आत्माका आश्रय सभी ज्ञानोमे होता है, लेकिन जहाँ आत्मासे भिन्न इन्द्रिय और मनकी भी अपेक्षा होती है उसे केवल आत्मासे उत्पन्न हुआ नही कहा जाता। वह परोक्ष ज्ञान है जो इन्द्रियके द्वारा सिंचित होता है। प्रत्यक्षकी व्युत्पत्ति है अक्ष आत्मान प्रतीत्य उत्पद्यते इति प्रत्यक्षं। प्रत्यक्षका लक्षण अकलकदेवने यह स्पष्ट किया है कि जो स्पष्ट है, साकार है, सम्यक् है और द्रव्य-पर्याय सामान्य विशेषात्मक अर्थ और स्वय अपनेको जानने वाला है वह प्रत्यक्ष कहलाता है। इस प्रत्यक्षके लक्षणमे मुख्यता है द्रव्यस्वरूप अर्थ और स्वयं अपना वेदन करनेकी अर्थात् जो द्रव्यस्वरूप अर्थ और अपने आत्माका जो वेदन करता है, सो प्रत्यक्ष है। शेष तो इसके साथ विशेषणरूपसे है, जिन विशेषणोका होना भी अनिवार्य है। अब यहाँ यदि प्रधानरूपसे कहा जाय कि द्रव्य स्वय अर्थ वह स्वय अपना वेदन करे सो प्रत्यक्ष है, तब तो मतिज्ञान और

प्रमाण एकवचन शब्दकी अनुवृत्ति होती है। इस कारण यह अर्थ हुआ कि परोक्षसे अन्य बचा हुआ अवधि, मन पर्यय, केवल– इन तीन अवयवोका जो समुदाय है, ज्ञान है वह प्रत्यक्ष है। इस कारण उमास्वामी महाराजने जो सूत्र कहा है वह व्याकरणसे पूर्णतया सगत है। जातिकी अपेक्षा एकवचन बोलनेकी सर्वत्र प्रसिद्धि भी है। जैसे गेहू सस्ता है, चावल तेज है तो यद्यपि कोई एक गेहूके दानेकी बात तो नही होती। है बहुतसे गेहुवोकी बात, मगर जाति अपेक्षा एकवचन हो जाता है। इसी प्रकार 'ज्ञान' जातिकी अपेक्षा एकवचन होनेमे कोई विरोध नही है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष इसके साथ प्रमाणकी अनुवृत्ति है तो यह भी एकवचन मे ठीक है। कोई यहाँ ऐसा सोच सकता है कि इससे पहले सूत्रमे फिर 'आद्ये' शब्द कहकर द्विवचन क्यो बनाया ? वहाँ भी एक ही वचन कहते। तो वहा एक यह आपत्ति आती थी कि यदि एकवचन कहते तो आदिका केवल एक मतिज्ञान ही ग्रहणमे आता और मति, श्रुत दोनो लेने हैं अन्यथा दो दोष है। श्रुतज्ञान परोक्ष नही रहता और इस सूत्रके आनेसे प्रत्यक्ष बन जाता, इस कारण जुदे कोई प्रामाणादिक की अपेक्षा एकवचन दिया वह ठीक है।

सूत्रोक्त पद और पदानुवर्तनसे दर्शन व मिथ्याज्ञानोमे प्रमाणत्वका निरसन करते हुए प्रत्यक्षके स्वरूपका प्रकाशन—इस सूत्रमे अन्यत् ज्ञान अर्थात् अन्य ज्ञान ऐसा कहनेके कारण अवधिदर्शन व केवलदर्शन ग्रहण न किया जायगा, क्योकि वह दर्शन है। यह ज्ञानका पकरण है और प्रत्यक्षके साथ प्रमाण कहा है तो प्रमाणके सम्बन्धमे यह सिद्ध होता है कि अवधि आदिक अप्रमाण नही है, किन्तु प्रमाण हैं। साथ ही यह सम्यक्का प्रकरण है और सम्यक्पदका अधिकार चला आने से कुअवधिज्ञानका भी निवारण हो जाता है और प्रत्यक्ष शब्द कहनेसे यह परोक्ष नही है, ऐसा दृढ निर्णय हो जाता है। इस प्रकार इन शब्दोकी रचनामे यह बात स्पष्ट ध्वनित हो गयी कि शेपके तीन ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाते है। प्रत्यक्ष उसे कहते है जो आत्माका आश्रय लेकर उत्पन्न हो। यद्यपि आत्माका आश्रय सभी ज्ञानोमे होता है, लेकिन जहाँ आत्मासे भिन्न इन्द्रिय और मनकी भी अपेक्षा होती है उसे केवल आत्मासे उत्पन्न हुआ नही कहा जाता। वह परोक्ष ज्ञान है जो इन्द्रियके द्वारा निचित होता है। प्रत्यक्षकी व्युत्पत्ति है अक्ष आत्मान प्रतीत्य उत्पद्यते इति प्रत्यक्ष। प्रत्यक्षका लक्षण-अकलकदेवने यह स्पष्ट किया है कि जो स्पष्ट है, साकार है, सम्यक् है और द्रव्य-पर्याय सामान्य विशेषात्मक अर्थ और स्वय अपनेको जानने वाला है वह प्रत्यक्ष कहलाता है। इस प्रत्यक्षके लक्षणमे मुख्यता है द्रव्यस्वरूप अर्थ और स्वय अपना वेदन करनेकी अर्थात् जो द्रव्यस्वरूप अर्थ और अपने आत्माका जो वेदन करता है, सो प्रत्यक्ष है। शेष तो इसके साथ विशेषणरूपसे है, जिन विशेषणोका होना भी, अनिवार्य है। अब यहाँ यदि प्रधानरूपसे कहा जाय कि द्रव्य स्वय अर्थ वह स्वय अपना वेदन करे सो प्रत्यक्ष है, तब तो मतिज्ञान और

प्रमाण एकवचन शब्दकी अनुवृत्ति होती है। इस कारण यह अर्थ हुआ कि परोक्षसे अन्य बचा हुआ अवधि, मन.पर्यय, केवल– इन तीन अवयवोका जो समुदाय है, ज्ञान है वह प्रत्यक्ष है। इस कारण उमास्वामी महाराजने जो सूत्र कहा है वह व्याकरणसे पूर्णतया संगत है। जातिकी अपेक्षा एकवचन बोलनेकी सर्वत्र प्रसिद्धि भी है। जैसे गेहू सस्ता है, चावल तेज है तो यद्यपि कोई एक गेहूके दानेकी बात तो नही होती। है बहुतसे गेहुवोकी बात, मगर जाति अपेक्षा एकवचन हो जाता है। इसी प्रकार 'ज्ञान' जातिकी अपेक्षा एकवचन होनेमे कोई विरोध नही है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष इसके साथ प्रमाणकी अनुवृत्ति है तो यह भी एकवचन मे ठीक है। कोई यहाँ ऐसा सोच सकता है कि इससे पहले सूत्रमे फिर 'आद्ये' शब्द कहकर द्विवचन क्यों बनाया? वहाँ भी एक ही वचन कहते। तो वहा एक यह आपत्ति आती थी कि यदि एकवचन कहते तो आदिका केवल एक मतिज्ञान ही ग्रहणमे आता और मति, श्रुत दोनो लेने हैं अन्यथा दो दोष है। श्रुतज्ञान परोक्ष नही रहता और इस सूत्रके आनेसे प्रत्यक्ष बन जाता, इस कारण जुदे कोई प्रामाणादिक की अपेक्षा एकवचन दिया वह ठीक है।

सूत्रोक्त पद और पदानुवर्तनसे दर्शन व मिथ्याज्ञानोमे प्रमाणत्वका निरसन करते हुए प्रत्यक्षके स्वरूपका प्रकाशन—इस सूत्रमे अन्यत् ज्ञान अर्थात् अन्य ज्ञान ऐसा कहनेके कारण अवधिदर्शन व केवलदर्शन ग्रहण न किया जायगा, क्योकि वह दर्शन है। यह ज्ञानका पकरण है और प्रत्यक्षके साथ प्रमाण कहा है तो प्रमाणके सम्बन्धमे यह सिद्ध होता है कि अवधि आदिक अप्रमाण नही है, किन्तु प्रमाण है। साथ ही यह सम्यक्का प्रकरण है और सम्यक्पदका अधिकार चला आने से कुअवधिज्ञानका भी निवारण हो जाता है और प्रत्यक्ष शब्द कहनेसे यह परोक्ष नही है, ऐसा दृढ निर्णय हो जाता है। इस प्रकार इन शब्दोकी रचनामे यह बात स्पष्ट ध्वनित हो गयी कि शेषके तीन ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाते हैं। प्रत्यक्ष उसे कहते है जो आत्माका आश्रय लेकर उत्पन्न हो। यद्यपि आत्माका आश्रय सभी ज्ञानोमे होता है, लेकिन जहाँ आत्मासे भिन्न इन्द्रिय और मनकी भी अपेक्षा होती है उसे केवल आत्मासे उत्पन्न हुआ नही कहा जाता। वह परोक्ष ज्ञान है जो इन्द्रियके द्वारा सिंचित होता है। प्रत्यक्षकी व्युत्पत्ति है अक्ष आत्मान प्रतीत्य उत्पद्यते इति प्रत्यक्ष। प्रत्यक्षका लक्षण अकलकदेवने यह स्पष्ट किया है कि जो स्पष्ट है, साकार है, सम्यक् है और द्रव्य-पर्याय सामान्य विशेषात्मक अर्थ और स्वय अपनेको जानने वाला है वह प्रत्यक्ष कहलाता है। इस प्रत्यक्षके लक्षणमे मुख्यता है द्रव्यस्वरूप अर्थ और स्वयं अपना वेदन करनेकी अर्थात् जो द्रव्यस्वरूप अर्थ और अपने आत्माका जो वेदन करता है सो प्रत्यक्ष है। शेष तो इसके साथ विशेषणरूपसे है, जिन विशेषणोका होना भी अनिवार्य है। अब यहाँ यदि प्रधानरूपसे कहा जाय कि द्रव्य स्वय अर्थ वह स्वय अपना वेदन करे सो प्रत्यक्ष है, तब तो मतिज्ञान और

श्रुतज्ञान ये गर्भित हो ही नही सकते, क्योंकि इस प्रकारका स्पष्ट वेदन मतिज्ञान श्रुतज्ञानमे नही है। हाँ यदि गौणरूपसे द्रव्यस्वरूप अर्थात् वेदन कहा जाय तो वहाँ व्यवहारनयसे मति-ज्ञान, श्रुतज्ञान आ सकता है और इसी कारण उन्हे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है मतिज्ञान को। तो भले ही मतिज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष रहे, किन्तु यहाँ तो प्रधानरूपसे प्रत्यक्षके लक्षणका वर्णन है, इस कारण सांव्यवहारिक प्रत्यक्षको प्रत्यक्ष नही कहते, क्योंकि परोक्ष है। स्मृति आदिक भी मतिज्ञान हैं और श्रुतज्ञान तो सम्पूर्ण रूपसे अस्पष्ट है, इस कारण मतिज्ञान प्रत्यक्ष है ही नही। अब प्रत्यक्षके लक्षणमे जो साकार विशेषण दिया है याने जो साकार वेदन है वह है प्रत्यक्ष याने द्रव्यार्थ आत्मवेदन जहा स्पष्ट और साकार है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। तो साकार शब्दके देनेसे दर्शनका निवारण हो गया, अर्थात् अवधिदर्शन और केवलदर्शन, ये प्रत्यक्षज्ञान नही है, क्योंकि वे निराकार है। अजसा, यह विशेषण देनेसे सम्यक्‌पदका अधिकार बनता है, इस कारण विभगज्ञान (कुअवधिज्ञान) का निवारण हो जाता है। इस प्रकार जो द्रव्यादि विषयक है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

केवलज्ञानमे सकलप्रत्यक्षत्वका दिग्दर्शन—यहाँ इस प्रत्यक्षके लक्षणमे केवलज्ञान भले प्रकार सिद्ध होता है, क्योंकि केवलज्ञान तो पूर्णतया स्पष्ट है। ज्ञेयाकार अनिवारित होने से साकार है, सम्यक् है और एक साथ ही समस्त द्रव्योका जाननहार है। सपूर्णरूपसे पदार्थों को जाननेके कारण अधिक पूज्य पुरुषोने यह केवलज्ञान प्रत्यक्ष तो एक आदर्श और अवर्ण-नीय है। यह केवलज्ञान क्रमसे अर्थको नही जानता, किन्तु एक साथ ही समस्त सत् इसमे प्रतिभासित होते हैं। इन्द्रिय मन आदिक करणोसे भी अतिक्रान्त है। इन्द्रिय मन उनके है ही नही, अथवा उनकी अपेक्षा होती ही नही। यह केवलज्ञान निर्दोष है और समस्त कर्म कलकोसे रहित है। ऐसा प्रत्यक्षज्ञान अथवा सर्वज्ञानकी सिद्धि इस तरह होती है कि ऐसा यह योगियोका प्रत्यक्ष सुव्यवस्थित है, क्योंकि इसमे बाधक कारणोका अभाव है। जैसे कि जब स्वयको प्रत्यक्ष जाननेमे जो स्वसम्वेदन होता है उसमे बाधक कारण नही है, अतएव प्रत्यक्ष है, इसी प्रकार केवलज्ञानकी सिद्धिका कोई बाधक कारण नही है। प्रत्यक्ष प्रमाण सामान्यरूपसे सिद्ध किया हो गया है—ऐसा उसमे किसीको विवाद नही। उस प्रत्यक्ष प्रमाणके सम्बन्धमे यह बताया जा रहा है कि यह योगियोका प्रत्यक्ष तो परमयोगी जिनको केवलज्ञान एक साथ समस्त पदार्थोको विषय करता है, क्रमरहित है और इन्द्रियके आधीन नही है। इसका कारण यह है कि जब समस्त कर्मकलक दूर हो गए, निर्दोषता प्रकट हो गई तो अब यह पराधीन नही रह सकता, अतएव एक साथ समस्त सत्को विषय करेगा। कोई इसमे कलक होता ही नही है, क्योंकि कलक तो पर-उपाधि है। जहाँ पर-उपाधि लगी हुई है वहाँ कभी पर-उपाधि न रहे, क्या यह भी होता है? तो जब सम्पूर्ण ज्ञानावरणका सदा

के लिए क्षय हो गया, तो केवलज्ञान तो सूर्यके समान एकदम पूर्ण स्पष्ट होता हुआ समस्त पदार्थोंको विषय करने वाला होता है। चूकि कर्मकलक न रहे, इस कारण वह ज्ञान एक साथ ही समस्त पदार्थोंको जानने वाला होता है। चूकि कर्मकलक नही रहे, इस कारण उस ज्ञानको अब इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा नही करनी पडती। इस प्रकार सर्वज्ञका प्रत्यक्षज्ञान क्रमरहित है, एक साथ सबको जानता है। इन्द्रियकी आधीनता नही है।

प्रत्यक्ष ज्ञानोमे प्रत्यक्षत्वकी सिद्धिकी निर्बाधता—यदि कोई यह कहे कि प्रत्यक्ष ज्ञान से तो कोई सर्वज्ञ दिखता ही नही है, तब तो बाधक प्रमाण अपने आप आ गया। ऐसी शङ्का करने वाले जरा यह सोचें कि इस देश और इस कालमे क्या सर्वज्ञ परमात्मा नही दिखता ? इस कारण सर्वज्ञका अभाव है या सब देश, सब कालमे सर्वज्ञ नही है, इस कारण सर्वज्ञका अभाव है। यदि कहो कि इस देशमे, इस कालमे नही है तो ठीक है। यहाँ नही है। यहाँ न होनेसे सब जगहका अभाव तो नही सिद्ध हो सकता। अरे यदि कहो कि सभी देश और सभी कालोमे नही है तो क्या तुमने यह परख लिया कि सब देशोमे सर्वज्ञ नही है ? अगर तुमने सब देश जान लिया और सब काल जान लिया तो तुम ही सर्वज्ञ हो गए। और सर्वज्ञका प्रमाण अपना अनुभव बता सकता है, क्योकि ज्ञानकी ऐसी कला है कि वह निरन्तर सत् पदार्थको जानता हो रहे ? अब उसमे क्रम उत्पन्न करने वाले कलक और इन्द्रियाँ जब जीवित है तब ज्ञानकी एक दुर्दशा होती है। और जहा उपाधि नही है, आवरण नही है, वहाँ फिर क्या वजह है कि ज्ञान पदार्थोंको क्रमसे जाने या थोडा जाने। सकल प्रत्यक्षज्ञान परमयोगी जनोके होता है और वह समस्त सत्को एक साथ जानने वाला है। वह केवलज्ञान तो सम्पूर्ण प्रत्यक्ष है और अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष है, क्योकि अवधिज्ञान जीवकी अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम है, क्षय नही है। क्षयोपशममे यह होता है कि सर्वघाती स्पर्धकोका उदयाभावी क्षय व उन्ही उपशम और देशघाती स्पर्धकोका उदय तो चूकि क्षयोपशममे उदय भी चलता है, इस कारणसे सम्पूर्ण ज्ञान नही बन सकता। तो अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान—ये दो तो एकदेश प्रत्यक्ष है, किन्तु केवलज्ञान सर्वदेश प्रत्यक्ष है।

मात्र आत्माके आश्रयसे उत्पन्न होने वाले ज्ञानको प्रत्यक्षज्ञानका लक्षण स्वीकार न करने वाले शंकाकार द्वारा अभिमत कल्पनापोढ लक्षणकी मीमासा—यहा क्षणिकवादी आशका करते हैं कि प्रत्यक्षका लक्षण जो यह कहा है कि जो आत्माका आलम्बन लेकर ज्ञान हो सो प्रत्यक्ष है। यह लक्षण दुरूह है। प्रत्यक्षका लक्षण तो यह है कि जो कल्पनासे रहित है, और जो भ्रान्तिसे रहित है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। ऐसी आशका करने वाले यह बतायें कि कल्पनाका अर्थ क्या मानते हो ? क्या कल्पनाका अर्थ यह है कि जो अस्पष्ट रूप प्रतीति है

सो काल्पनिक है अथवा कल्पनाका अर्थ यह है कि जो स्व और अर्थका निश्चय करे सो काल्पनिक है अथवा क्या कल्पनाका यह अर्थ है कि जो शब्दयोजनासे सहित होकर ज्ञान बने सो कल्पना है अथवा क्या कल्पनाका यह अर्थ है कि शब्दका ससर्ग हो सके इस योग्य जो प्रतिभास हो सो कल्पना है । इन चार प्रकारके विकल्पोमे से जो प्रथम दो विकल्प है कि अस्पष्ट प्रतीति होना सो कल्पना है अथवा स्व और पदार्थका निश्चय होना सो कल्पना है । इस लक्षणमे यह विसम्वाद न बनेगा, पर इन लक्षणोको न कहकर और-और प्रकारके लक्षण कहे जायें, जैसे जो शब्दयोजनासे सहित ज्ञान है सो कल्पना है अथवा शब्द ससर्ग योग्य जो प्रतिभास है सो कल्पना है या वस्तु स्पर्शन न करने वाली जो जानकारी है सो कल्पना है आदिक अन्य-अन्य विरुद्ध लक्षणोको बताये तो वह विवेक नही है । क्षणिकवादियोने स्वय यह माना है कि जो कल्पनासे घिरे हुए अर्थका स्पष्ट प्रतिभास नही हो पाता, इससे ही स्पष्ट है कि कल्पना कोई भी स्पष्ट नही हुआ करती । तो यही बात बन गई कि जो अस्पष्ट प्रतीति है सो कल्पना है ।

प्रत्यक्षको अस्पष्टप्रतीतिलक्षणात्मक कल्पनासे अपोढ माननेमे सिद्धसाधनता—यदि इस प्रमाणमे कोई पक्षपाती यह कहे कि अस्पष्ट ज्ञानका नाम कल्पना नही है, क्योकि स्वप्नमे भी होती तो है कल्पना, मगर स्पष्ट प्रतीति होती हुई होती है । तब यह बात न रही कि जो भी कल्पना होती है वह अस्पष्ट प्रतिभास वाली होती है । देखो स्वप्नमे कल्पना तो बन गई, पर स्पष्ट प्रतिभास चल रहा । इसके समाधानमे यह समझना चाहिए कि स्वप्नमे जो जानकारी हो रही उमे तो शकाकारने इन्द्रियजन्य ज्ञान माना है, और जब इन्द्रियजन्य ज्ञान माना है तो प्रत्यक्ष हो गया । फिर अस्पष्ट प्रतिभासका नाम कल्पना है—इस लक्षणमे अव्याप्ति दोष क्यो दिया जा रहा ? वह तो कल्पना ही नही है । जो स्वप्नमे हुई उसे तो बौद्ध इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष मानते है और उनको इस तरह प्रत्यक्ष मानते है कि सोनेसे पहले जागृत अवस्थामे जो इन्द्रिय का व्यापार चल रहा था उसके ही अनुकरणमे यह कल्पना बनाता है । तो यो बौद्धमतानुसार स्वप्नमे होने वाली जानकारी जो स्पष्ट चल रही है वह निर्विकल्प प्रत्यक्ष बना, तब यह सिद्ध हुआ कि कल्पनाका यही लक्षण ठीक है कि जो स्पष्ट प्रतीति हो सो कल्पना है । यहाँ शंकाकार कहते है कि अस्पष्ट प्रतीति कल्पना है—इस लक्षणमे अव्याप्ति दोप है । देखो कही बालू का रेत हो या फूला हुआ काँस हो उसको देखकर लोगोको यह भ्रम हो जाता है कि यह जल है । तो उस मरीचिकामे जलकी कल्पना हुई है और स्पष्ट ज्ञान चल रहा है । तो कल्पनामे भी स्पष्टता तो आ ही गई । इसके समाधानमे यह समझना कि वहाँ जलका ज्ञान स्वय स्पष्ट नही है । बात यह हुई है कि चक्षुइन्द्रियसे जो जाना गया पदार्थ है उसमे जो जलज्ञान हो रहा सो जो स्पष्टता चल रही, उसका जलज्ञानमे आरोप कर दिया गया, और यो वह स्पष्ट प्रति-

भास माना जाने लगा। वस्तुत. तो वह अस्पष्ट ज्ञान है, इस कारण स्पष्ट प्रतीति कल्पना है। इस लक्षणमे कोई दोप नही आता। और न इस लक्षणमे अतिव्याप्ति दोप होता है, क्योकि कोई भी कल्पना ऐसी नही जिसमे अस्पष्टता न हो। अब यहाँ बौद्ध शका करते है कि देखो जब दूरसे वृक्ष, घर, मनुष्य आदिक कुछ देखे जाते है तो है तो कल्पनारहित ज्ञान, समीचीन ज्ञान है, मगर वहाँ भी अस्पष्टता तो देखी जा रही है। तो कल्पनारहित समीचीन ज्ञानमे जब अस्पष्ट देखा जा रहा है तो कल्पनाका लक्षण अस्पष्ट प्रतिभास करना सही तो न बना। समाधानमे कहते है कि बात वहा यह है कि दूरसे देखकर जो प्रत्यक्ष ज्ञान हो उस प्रत्यक्ष ज्ञानमे जो भूठा विकल्पज्ञान है उसकी अस्पष्टताके साथ इस ज्ञानको एकत्वका आरोप किया गया है याने इन्द्रियसे जितना जाना उतना तो वह स्पष्ट है। अब उसके आगे जो जाना जा रहा कि इतना बडा, इतना लम्बा, इतना छोटा वह विकल्पज्ञानकी अस्पष्टता है। तो विकल्पज्ञानकी अस्पष्टताका प्रत्यक्षके साथ एकत्वका आरोप हुआ है, इसलिए वह प्रत्यक्ष अस्पष्ट प्रतीत हो रहा है। और इस कारण कल्पनाके लक्षणमे अतिव्याप्ति दोप नही आया। यदि कल्पनारहित ज्ञानमे अस्पष्टताका अभाव हो तब ही तो दोप आयगा। इससे कल्पनाका अन्य-अन्य लक्षण न कहकर यह लक्षण कर लेना चाहिए कि जो अस्पष्ट प्रतीति है सो कल्पना है।

स्वपरनिश्चायकलक्षणात्मक कल्पनासे रहितको प्रत्यक्ष माननेमे असत्प्रलापकी स्पष्टता—कल्पनाके दूसरे लक्षणपर विचार करे। जो द्वितीय विकल्पमे कहा गया था कि अपना और पदार्थका निश्चय करनेका नाम कल्पना है, और ऐसा कल्पनासे रहित जो ज्ञान होगा वह प्रत्यक्ष है। ऐसा प्रत्यक्षका लक्षण करना बिल्कुल सदोष हो गया। जो यह लक्षण किया जा रहा कि कल्पनासे रहित ज्ञान प्रत्यक्ष होता, और ऐसा कल्पनासे रहित बना रहे हो कि जहाँ स्व और पदार्थका निश्चय हो, उससे रहित ज्ञान है तो स्वार्थ निश्चयसे रहित ज्ञान प्रमाण ही नही हो सकता, सो प्रत्यक्षके लक्षणमे जो ४ विकल्प पूछे गए थे उनमेसे अगर पहले प्रकारके लक्षण वाले कल्पनासे रहितको प्रत्यक्ष मानते हो तो यह सिद्ध ही है, उसमे कोई दोष नही है, अर्थात् अस्पष्ट प्रतीतिसे रहित ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है, सो युक्त ही है। प्रत्यक्ष ज्ञान स्पष्ट प्रतिभासी होता है, और उसमे अस्पष्टप्रतीतिरहितताका अभाव है।

देखिये प्रतीति दोनो प्रकारसे होती है, किसी पदार्थका ज्ञान स्पष्ट प्रतीति सहित है और किसी पदार्थका ज्ञान अस्पष्ट प्रतिभास सहित है। अगर अस्पष्ट प्रतिभास वाली प्रतीति न मानी जाय तब बौद्ध ही स्वय यह बताये कि प्रत्यक्षमे और अनुमान आदिकमे भेदग्रहण किस विधिसे किया जा सकता है? प्रत्यक्ष अनुमानसे भिन्न प्रमाण है, यह इसी बलपर ही जाना जाता है कि प्रत्यक्ष तो होता स्पष्टप्रतिभासरूप और अनुमान होता है अस्पष्टप्रतिभासरूप। इससे अस्पष्ट प्रतीतिका नाम कल्पना है, यह बात युक्त है और ऐसा कल्पनासे रहित ज्ञान

प्रत्यक्ष होता है वह भी युक्त है। अब द्वितीय विकल्प वाले कल्पनाके लक्षणपर विचार करे। इस द्वितीय विकल्पमे यह कहा है कि जो स्व और अर्थका निर्णय करे उसको कल्पना कहते हैं। सो यह बात तो सही है, किन्तु ऐसा कल्पनासे रहित ज्ञानको अगर प्रत्यक्षज्ञान मानते तो असम्भव है, क्योंकि स्व और अर्थके निश्चयसे रहित कोई भी ज्ञान नही होता, न प्रमाण होता है, अर्थात् जो भी ज्ञान होगा, प्रमाण होगा वह निर्णायक ही होता है। जैसे अस्पष्ट प्रतीति कल्पना है और ऐसी कल्पनासे रहित प्रत्यक्ष है, यह लक्षण सही है, ऐसे ही स्व और अर्थका निश्चय करने वाला ज्ञान कल्पना है, यह भी सही तो है, किन्तु ऐसी कल्पना प्रत्येक ज्ञानका प्राण है।

अस्पष्ट और स्पष्टप्रतीतिकी अप्रत्यक्षता व प्रत्यक्षताका पुनः ईक्षण—जो यह बात कही थी कि अत्यन्त दूर रहने वाले वृक्ष आदिकमे अस्पष्ट ज्ञान होता है तो वह तो प्रत्यक्ष ही है, वहाँ जो चक्षुसे जाना वह स्पष्ट है। तो इस बारेमे जो कल्पना की, वह स्पष्ट है। यहाँ ऐसा भी उत्तर नही बन सकता कि दूरवर्ती वृक्षका ज्ञान श्रुतज्ञान होगा, प्रत्यक्ष न होगा, यह बात यो नही की जा सकती कि वह तो सीधा इन्द्रियजन्य ज्ञान है। मतिज्ञानसे जाने गए पदार्थके साथ ससर्ग रखने वाले अन्य पदार्थोंकी जो तर्कणा है वह श्रुतज्ञान है। तो श्रुतज्ञान तो अस्पष्ट हुआ, सविकल्प हुआ, पर जितने प्रत्यक्ष ज्ञान है वे अस्पष्ट नही होते, स्पष्ट ही होते, और निर्विकल्प नही होते। दूसरी बात यह है कि अस्पष्ट रूपसे जो विचार करने वाले ज्ञान हैं उन सबको श्रुतज्ञान कहना युक्त नही है। जो-जो अस्पष्ट रूपसे ज्ञान करे वह सब श्रुतज्ञान है, यह कहना ठीक नही। स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, व्याप्तिज्ञान—ये अस्पष्ट है तो भी श्रुतज्ञान नही हैं।

स्व और अर्थके निश्चयरूप कल्पनासे रहितपनेकी प्रत्यक्षज्ञानमे व सभी ज्ञानोमें असंभवता—यहाँ शङ्काकार आशका करते हैं कि हम स्पष्ट प्रतीतिको कल्पना नही कहते और ऐसे कल्पनासे रहितको प्रत्यक्ष नहीं कहते। ऐसा माने तो सिद्ध साधन है। यहाँ तो यह कहते हैं कि जितनी भी कल्पनायें होती है वे स्व और पदार्थका निर्णय करने वाली होती है, निर्विकल्प प्रत्यक्षके समय निर्णय नही है, क्योकि जब निर्विकल्प प्रत्यक्ष है तब पदार्थका सद्भाव है और जब उस पदार्थके बारेमे निर्णय बनता है उस समय पदार्थ रहता नही, क्योकि पदार्थ एक क्षणको रहकर ही नष्ट हो जाता है। तो जो पदार्थको न छुवे और और ज्ञान बने वह सब सविकल्प ज्ञान है, कल्पना है?

इसके समाधानमे कहते है कि स्व और अर्थका निश्चय करने वाले ज्ञानको कल्पना कहेगे, पर ऐसे कल्पनासे रहित ज्ञानको प्रत्यक्ष कहेगे तो यह बिल्कुल असम्भव है, क्योकि स्वार्थ निश्चयरूप कल्पनासे रहित कोई ज्ञान नही कहलाता। यदि कोई ज्ञान ऐसा भी हो कि

सम्पूर्ण विकल्पसे पृथक् है उस अवस्थामे भी सभी प्रकारके व्यवसायोसे रहित हो तो भी स्वसम्वेद्य तो हो ही रहा है, इसलिए स्व और अर्थके निश्चयसे रहित कोई भी ज्ञान नही बनता। ऐसा सोचना कि जिसमे विकल्प न उठे वह ज्ञान प्रत्यक्ष है सो आपेक्षिक ढगसे तो कह सकते हो, किन्तु ऐसा कोई ज्ञान नही जहाँ विकल्प नही है याने स्व अर्थका निर्णय नही है। सब ओरसे चित्तको हटा भी लिया गया और वह बहुत शान्त स्थितिमे है, अन्तरङ्ग आत्मासे स्थित बन रहा है, फिर भी चक्षुके द्वारा अपने ज्ञानको भीतरमे स्पष्ट निर्णीत कर रहा और रूपमात्रको भी स्पष्ट निर्णीत कर रहा है। तो सकल्प-विकल्पसे रहित अवस्थामे और भी अधिक स्पष्ट निर्णय होता है, इसलिए स्वार्थ निर्णयसे रहित है प्रत्यक्षज्ञान—यह कहना अत्यन्त असगत है और फिर यह भी सोचिये कि प्रत्यक्षज्ञान कल्पनासे रहित है, यह प्रत्यक्षसे तो सिद्ध होता नही और अनुमानसे भी सिद्ध नही होता, क्योकि पहले जब बार-बार विकल्प किया हो जीवने तो उन विकल्पोको करता हुआ ही तो अनुमान कर पाता है, इन्द्रियजन्य ज्ञानकी प्रत्यक्षताके निर्णयमे कि पहले जब इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष हुआ था तब भी कुछ स्व अर्थ निर्णय हो चुका था। तब ही तो उसके स्मरणमे विकल्प बन रहा है।

किसी भी पदार्थका स्मरण तब हो तो होता है जब पहले जाना हुआ हो। निर्विकल्प ज्ञानसे जो जाना था उसके विषयमे दूसरे क्षण जो स्वार्थ निर्णयरूप विकल्प होता है वह तब ही तो हुआ जब कुछ निर्णयका पहले भी भान हो। तो कोरा निर्विकल्प ज्ञान प्रत्यक्ष है, इस बातकी सिद्धि अनुमानसे भी नहीं बन सकती। अनुमानसे तब ही बनेगा जब उस प्रत्यक्षके समय भी स्व और अर्थका निर्णय मान लिया जाय। अगर प्रत्यक्षके समय स्व और पदार्थका निर्णय नही माना जाता तो स्मृतिज्ञान भी नही हो सकता। यदि कहो कि, अभ्यास आदिक विशेषोके कारण वह सब स्मरण ज्ञान हो जायगा। तो भाई वह अभ्यास, क्या है ? स्व और अर्थका निश्चय ही तो है। तब अपने आप यह सिद्ध हो गया कि स्व और अर्थका निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है। यह बात प्रत्यक्षमे भी पायी जाती है और परोक्षमे भी याने प्रत्यक्षज्ञान भी स्व और अर्थका निर्णय करने वाला है और परोक्षज्ञान भी स्व और अर्थका निर्णय करने वाला है। अन्तर यह है कि परोक्षज्ञानमे तो अस्पष्ट प्रतीति है, किन्तु प्रत्यक्षज्ञानमे स्पष्ट प्रतीति है।

निर्विकल्प अर्थसे उत्पन्न होने वाले ज्ञानकी निर्विकल्पकताके मंतव्यकी मीमांसा—यहा क्षणिकवादी कहते है कि प्रत्यक्ष ज्ञान तो निर्विकल्प ही है। इसका कारण यह है कि जब प्रत्यक्ष ज्ञानका विषयभूत पदार्थ स्वय निर्विकल्प है, पदार्थका स्वरूप कल्पनासे रहित है तो उस ही अर्थके सम्बधमे प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ। तो जिस प्रकार अर्थ निर्विकल्प है उसी प्रकार उस पदार्थसे उत्पन्न होने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान भी निर्विकल्प है, जिस पदार्थकी उत्तर समयमे

होने वाली पर्याय पदार्थजन्य है । सो जैसा पदार्थ है उसके अनुरूप पर्याय है तो ऐसे ही पदार्थसे ही प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न हुआ है तो वह भी निर्विकल्प है । कार्य तो कारणके सदृश हुआ करता है । उसके समाधानमे कहते है कि यह कथन तो विरुद्ध साधक है, याने यह कहा जा रहा है कि निर्विकल्प अर्थके निमित्तसे उत्पन्न हुआ है प्रत्यक्षज्ञान, सो यह हेतु सिद्धिके विरुद्ध है । देखो आत्मामे जड पदार्थके निमित्तसे सुख दुःख इच्छा चेतनरूप उत्पन्न हो जाते है । तो जड से जड ही तो होना चाहिए, पर लो जडसे चेतन बन गया तो कहाँ रही कार्यकी कारणसदृशता ?

दूसरी बात यह है कि घट-पट आदिक पदार्थोको सर्वथा निर्विकल्प नही कहा जा सकता, क्योकि जातिविशेष सम्बध छोटे बडे आदिक वास्तविक भेदरूप कल्पनाओसे वे पदार्थ तदात्मक हो रहे है । तो सविकल्प अर्थ रहा ना ? तो लोग जैसे कहते थे कि निर्विकल्प अर्थ के सामर्थ्यसे उत्पन्न ज्ञान निर्विकल्प है तो यहाँ यह भी कह सकते कि सविकल्प अर्थके सामर्थ्य से उत्पन्न होनेके कारण प्रत्यक्षज्ञान सविकल्प है, और वह निर्दोष होकर स्पष्ट है । तो प्रत्यक्ष को निर्विकल्प सिद्ध करनेके लिए जो शकाकारने हेतु दिया है कि निर्विकल्प अर्थकी सामर्थ्यसे उत्पन्न होता है यह हेतु विरुद्ध है । अर्थकी सामर्थ्यसे उत्पन्न होता है तो अर्थ सविकल्प है । तो सविकल्प प्रत्यक्ष बन जायगा । वस्तुत. देखा जाय तो प्रत्यक्षज्ञान निर्मल स्पष्ट है, पर है सविकल्प, क्योकि उस स्पष्ट ज्ञानमे स्पष्टपनेका आरोप तो है, याने कल्पना तो चल ही रही है कि प्रत्यक्षज्ञान स्पष्ट है, कल्पनारहित कहाँ हुआ ? जो स्पष्ट होगा वह विशेषसे सहित है । ऐसा प्रतिभासमे आ रहा तो वह निर्विकल्प होगा या सविकल्प । स्पष्ट ज्ञान तो सविकल्प है, स्व और अर्थके निश्चयरूप है ।

निर्विकल्प प्रत्यक्षज्ञानसे सविकल्प निश्चायक ज्ञानकी उत्पत्ति मानने वालोको निर्विकल्प अर्थसे सविकल्प ज्ञानकी उत्पत्ति माननेमे हिचक न लानेका शिक्षण—यहाँ निरशक्षणिकवादी शका करते है कि जो यह कहा था कि जाति द्रव्यादिक स्वरूप अर्थसे प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है सो यह कैसे सम्भव है, क्योकि पदार्थ तो जाति शब्दयोजना आदिक सभी कल्पनाओ से रहित है । तो अर्थ तो निर्विकल्प ही है, सविकल्प नही है । और निर्विकल्प अर्थसे उत्पन्न होने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान निर्विकल्प ही कहा जायगा ।

इस आशकाका समाधान यह है कि देखो बौद्ध जन ही तो यह मान रहे कि पदार्थ का ज्ञान निर्विकल्प प्रत्यक्ष तो हुआ, पर निर्विकल्प प्रत्यक्षसे उत्पन्न होता है सविकल्प ज्ञान, तो देखो सही ज्ञान सविकल्प ज्ञान, सविकल्प ज्ञान, अनुमान ज्ञान निर्विकल्प प्रत्यक्षसे उत्पन्न हुआ ना ? तो जैसे निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञानसे सविकल्प ज्ञान बन सकता है, ऐसे ही निर्विकल्प अर्थसे सविकल्प ज्ञान बन जायगा । क्षणिकवादियोका सिद्धान्त यह है कि पदार्थके क्षणमे

निर्विकल्प ज्ञान होता है, वहाँ पदार्थका निर्णय नही है। उसके बाद पदार्थका जो निर्णय होता है वह सविकल्प ज्ञान है। तो निर्विकल्प ज्ञानसे ही तो सविकल्प ज्ञान बना, ऐसे ही निर्विकल्प अर्थसे सविकल्प ज्ञान बन जाय, उसमे क्या आपत्ति ? निर्विकल्प प्रत्यक्षसे तो सविकल्प ज्ञान बन जाय और निर्विकल्प अर्थसे सविकल्प प्रत्यक्ष न बने, यह तो कोरे पक्षपात की ही बात है। इस सविकल्प ज्ञानमे जो प्रत्यक्ष है वहाँ शब्दयोजना वाली प्रतीतिकी कल्पना नही बता रहे, किन्तु जाति गुण आदिकसे सहित प्रतीति हो ही रही है। तो ऐसी सत्य कल्पनाका वहाँ विरोध नही हो सकता, अतएव प्रत्यक्षज्ञान निर्विकल्प है, ऐसा एकान्त करना युक्त नही है।

कल्पनाके लक्षणके भेदसे प्रत्यक्षज्ञानमे कथचित् निर्विकल्पता व कथचित् सविकल्पता की प्रसिद्धि—प्रत्यक्षज्ञानकी जो कल्पना होती है वह निर्णयरूप कल्पना है। श्रुतज्ञानमे जो कल्पना होती है वह तो सकेत और स्मरणके उपायसे होती है। और श्रुतज्ञानमे इस शुद्ध पदार्थविषयक इष्ट अनिष्ट सकल्प रहता है, लेकिन ऐसी कल्पना हम प्रत्यक्षज्ञानमे नही कह रहे, वह तो स्वार्थ निर्णयरूप कल्पना है जो प्रत्यक्षमे चलती है और ऐसा विकल्प चले बिना ज्ञान बनता ही नही है। जब ज्ञान हो रहा है तो कुछ निर्णय करता हुआ ही तो होता है। जो निर्णय है सो विकल्प है। जितने भी प्रत्यक्षज्ञान होते है वे स्वय ही निश्चयात्मक होते है। बौद्ध जन जो ऐसा कहते है कि प्रत्यक्ष ज्ञान निश्चयात्मक नही होता, किन्तु शब्दादिककी अपेक्षा रखकर कल्पना बनती है तब निश्चयात्मक सविकल्प ज्ञान होता है। तो भला शब्दादिककी अपेक्षा रखनेसे निर्णय बनता है तो इसमे तो इतरेतराश्रय दोष हो गया, क्योकि जब कुछ निर्णय बने तब तो शब्दादिककी योजना चले और मानता है यह कि शब्दयोजना चले तब निर्णय हो तो यह इतरेतराश्रय दोष हो गया। इससे निर्णयशून्य ज्ञानको प्रमाण न कहना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि यदि निर्णय अपने शब्दविशेषकी अपेक्षा करता है तो जिस शब्दविशेषकी अपेक्षा की उस शब्दविशेषका भी तो निर्णय होना चाहिए। उसका निर्णय करनेके लिए अन्य शब्दविशेषोकी अपेक्षा होगी। उसका भी निर्णय चाहिए तो इस तरहसे अनवस्था दोष आयगा। यदि कुछ दूर चलकर याने कुछ तो शब्दान्तर निर्णयान्तर मानते गए और कुछके बाद यदि यह माना जाय कि चौथा, छठा वगैरा निर्णय अपने आप ही होता है वह अन्य शब्दकी अपेक्षा नही रखता, तो भला फिर पहले था ही क्यो ? यह मान लीजिए कि पदार्थका निर्णय स्वत हो जाता है, वह शब्दविशेषकी अपेक्षा नही रखता। प्रत्यक्ष ज्ञान मे ऐसा देखा ही जा रहा है कि पदार्थके देखते जानते ही तुरन्त निर्णय हो जाता है। तो जब

सभी निर्णय स्वत: होता है। तब यही निश्चय करना चाहिए कि चाहे मुख्य प्रत्यक्ष हो, चाहे एकदेश प्रत्यक्ष हो, जितने भी प्रत्यक्षज्ञान है वे कथञ्चित् निर्विकल्प है और कथञ्चित् सविकल्प है। निर्विकल्प तो यो है कि उनमे शब्दयोजना जाल नही चलता। और स्वविकल्प यो है कि उनमे स्व और अर्थका निश्चय पडा हुआ है। यदि प्रत्यक्षज्ञानको सर्वथा निर्विकल्प मान लिया जाय तो स्व और अर्थका निश्चय कैसे होगा ? और यदि प्रत्यक्षज्ञानको सर्वथा सविकल्प मान लिया जाय तो उसमे फिर शब्दकल्पनायें उत्पन्न होनी चाहिएँ। तो इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान कथञ्चित् सविकल्प है कथञ्चित् निर्विकल्प है।

प्रत्यक्षज्ञानमे कथञ्चित् सविकल्पताकी वादी व प्रतिवादी दोनोके द्वारा अभीष्टता—प्रत्यक्ष ज्ञानमे कथञ्चित् सविकल्पपना है, इस बातका क्षणिकवादी भी स्वीकार कर लेते हैं। उनका सिद्धान्त है कि नाम, जाति आदिक भेद व्यवहार रूप कल्पनासे रहित है प्रत्यक्ष, किन्तु स्वकीय विकल्पसे रहित हो, सो नही है। जैसे कि बताया है कि रूप वेदना विज्ञान सज्ञा सस्कार ये ५ विज्ञान धातुयें है और इसी कारण ये सब वितर्क और विचार सहित है। तो तो निर्विकल्प प्रत्यक्ष वितर्क और विचार सहित है, इसलिए तो सविकल्प है, किन्तु निरूपण आदिक विकल्प नही होते प्रत्यक्षमे अतएव निर्विकल्प है। सारांश यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञानमे वितर्क और विचार रूप कल्पना मौजूद है। वितर्कका अर्थ है ज्ञानके द्वारा विषयका आलम्बन करना। कारणको जानना वितर्क है और विचारका अर्थ है कि वितर्कमे जो विषय किया गया उसको दृढ जानकारी करना सो प्रत्यक्षमे ये दोनो बातें मौजूद है, अतएव प्रत्यक्षको सर्वथा निर्विकल्प नही कहा जा सकता। हाँ प्रत्यक्षज्ञानमे नाम आदिककी कल्पना या निरूपण नही है या उसमे स्मरण नही है, अतएव प्रत्यक्षज्ञान सविकल्प नही है। तो यो प्रत्यक्षज्ञान भी कथञ्चित् निर्विकल्प हुआ, कथञ्चित् सविकल्प हुआ। यदि बौद्ध जन ऐसा कहे कि योगियोका प्रत्यक्ष है, जो सर्वकल्पनाजालसे रहित है सो ऐसा कहनेपर तो प्रत्यक्षका लक्षण अव्याप्ति दोषसे सहित हो गया। सर्वथा कल्पनाजाल जहाँ नही है उसे प्रत्यक्ष कहते है। तो ऐसे योगिप्रत्यक्षमे तो घट गया, किन्तु इन्द्रियप्रत्यक्षमे यह लक्षण घटित नही होता।

यदि ऐसी बात कहे कि लौकिकी कल्पनासे रहित होना सो प्रत्यक्ष है तो चलो ठीक है। लौकिकी कल्पनासे लक्षण तो हो गया प्रत्यक्ष, पर शास्त्रीय कल्पना तो बराबर साथमे चल रही है। शास्त्रसम्बन्धी कल्पना क्या ? स्व और अर्थका निर्णय होना या अर्थाकार होना, अर्थविकल्प होना। तो शास्त्रीय कल्पना तो है, इस कारणसे प्रत्यक्षको, एकान्तको निर्विकल्प नही कहा जा सकता। यदि शास्त्रीय कल्पना भी न रहे प्रत्यक्षमे तब फिर बुद्धके धर्मका उपदेश ही नही बन सकता।

जैसे कि सर्वथा निर्विकल्प है जड पदार्थ झोपडी वगैरा, क्या उससे धर्मका उपदेश

चलता है ? आखिर ज्ञानवान आत्मा है और उसमे पदार्थका निर्णय है तब ही तो उपदेश चल सकता है । तो प्रत्यक्ष ज्ञानको सर्वथा निर्विकल्प न कहना चाहिए । और फिर देखिये कल्पनाशून्य है प्रत्यक्ष, यह तो कल्पना करनी ही पडी । और भ्रान्तिरहित है प्रत्यक्ष, यह भी कल्पना करनी पडी । तो जब इन दो का निर्णय समाया हुआ है प्रत्यक्ष ज्ञानमे तो यही से समझ लो कि प्रत्यक्षज्ञान कथञ्चित् सविकल्प हो गया, सो प्रत्यक्षज्ञानका कल्पनारहित अर्थ न करना, किन्तु व्यवधानके बिना स्पष्ट प्रतीति होनेको प्रत्यक्षज्ञान कहते है । यह लक्षण देखिये— प्रत्यक्ष अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञानमे गया और एकदेश प्रत्यक्ष, साव्यवहारिक प्रत्यक्षमे भी इस लक्षणकी झलक हो जाती है ।

मुख्यप्रत्यक्षकी अतीन्द्रियताका निर्णय—अब यहाँ वैशेषिक मतानुयायी कहते है कि कोई भी प्रत्यक्ष ऐसा नही है कि जो इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा न रखता हो । सभी प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न हुए, इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा बिना कोई प्रत्यक्ष नही होता ऐसा कहने वाले वैशेषिक मतानुयायी जरा यह तो सोचें कि फिर ईश्वरके प्रत्यक्षमे यह लक्षण कैसे घटित होगा, क्योकि ईश्वरका ज्ञान इन्द्रियजन्य नही है, ईश्वरका ज्ञान समस्त पदार्थोंको विषय करता है । उस ज्ञानमे इन्द्रियका सम्बन्ध नही है । इन्द्रियके द्वारा समस्त अर्थोंका सम्बन्ध एक साथ किसी जीवमे नही हो सकता है ? यदि कहो कि उनका ज्ञान योगज है, धर्मविशेषसे उनका ज्ञान बना है, इसलिए सम्पूर्ण अर्थको जान लेता है, सो यह बात तो ठीक है, पर वह प्रत्यक्ष सन्निकर्षजन्य तो न रहा । तो प्रत्यक्षका लक्षण वह न रहा और फिर योगज धर्मविशेषसे समस्त पदार्थोंका ज्ञान होता है, यह कहना ही सीधा मान लो, फिर बीचमे इन्द्रियका पदार्थोंके साथ सन्निकर्षकी बात क्यो कही जाती ? सीधी स्पष्ट बात यह है कि ज्ञानमे ज्ञानके लीन होनेको समाधि कहते है और ऐसी समाधिसे एक विशिष्ट अतिशय वाला ज्ञान उत्पन्न होता है, जिसका नाम एक ज्ञान है, उस ज्ञानके द्वारा एक साथ ही सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रत्यक्ष हो जाता है । आत्मा स्वय ज्ञानमय है और उस ज्ञानमे स्वय ही जाननेकी सामर्थ्य है । निर्दोष निरावरण ज्ञान हो जानेसे अब यह सर्वज्ञका ज्ञान इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा नही रखता ।

अब इस प्रसगमे साख्यसिद्धान्तानुयायी कहते हैं कि पौद्गलिक इन्द्रियोकी वृत्ति होने का ही नाम प्रत्यक्ष है । वह कैसे कि पहले तो इन्द्रिय अर्थका सामान्य रूपसे परिचय करती है । जैसे आँखोसे देखा तो रूप है, रसनासे जाना तो रस है, ऐसा एक सामान्यावलोकन होता है, फिर सामान्य अवलोकन किए गए पदार्थका मन सकल्प करता है । हाँ वह पदार्थ ऐसा है, इसके पश्चात् सकल्प किए गए पदार्थमे अहकार और अभिमान करता है । मैं हू, मैं जानता हू, इस प्रकारका अभिमान हो और इस अभिमानसे जो क्रिया जानी गई, मैं जानता

हू, मैं पदार्थको जानता हू । तो जिस पदार्थको जाननेका अभिमान हुआ उसका निर्णय बुद्धि करती है । तो यहाँ तक तो सब प्रकृतिका ही कार्य है । फिर प्रकृतिकी इस क्रियामे जो अन्तिम क्रिया है याने बुद्धिसे निर्णय किया गया । अब यहाँ चेतन क्या काम करता है कि बुद्धिसे निर्णीत किए गए पदार्थको यह आत्मा चेत लेता है और इस तरहसे इन्द्रिय मन आदिककी वृत्ति ही प्रत्यक्ष सिद्ध बन गई ।

ऐसा साख्यसिद्धान्तानुयायियोका कथन सगत नही बनता, कारण कि इस तरहकी वृत्ति एक ही बारमे सम्पूर्ण पदार्थोका विपय नही कर सकती । इन्द्रियव्यापारसे प्रत्यक्ष बने तो योगिप्रत्यक्ष सिद्ध नही हो सकता, क्योकि इन्द्रियवृत्तिरूप प्रत्यक्ष तो आशिक ज्ञान है और सर्वज्ञ प्रत्यक्ष तो सर्वपदार्थविषयक ज्ञान है । तो इस प्रकार इन्द्रियवृत्तिरूप प्रत्यक्ष सिद्ध नही होता, किन्तु जो ज्ञान सब व्यवधानोके बिना समस्त पदार्थोका साक्षात्कार करने वाला हो, स्पष्ट निर्णय रखता हो वह तो है मुख्य सम्पूर्ण प्रत्यक्ष और बिना इन्द्रियके मनकी सहायता बिना अपने विपयका स्पष्ट ज्ञान हो वह है अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान प्रत्यक्ष । और जो एकदेश स्पष्ट ज्ञान करता हो, वह है साव्यवहारिक प्रत्यक्ष । इस सूत्रमे साव्यवहारिक प्रत्यक्षको सगत नही किया गया है, क्योकि वह तो वास्तवमे परोक्षज्ञान ही है । यहाँ परोक्षज्ञानमे अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान—ये तीन ज्ञान लिए गए है, ये अपने और पदार्थका निश्चय करने वाले हैं और स्पष्ट अनुभव करते है । तो जो स्पष्ट ज्ञान हो वह प्रत्यक्ष है और इसमे अन्य अर्थात् जो ज्ञान स्पष्ट नही, अस्पष्ट है वह परोक्ष है । इस तरह प्रत्यक्ष और परोक्ष– इन दो भेदोमे समस्त ज्ञान आता है । अब प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनोका सक्षिप्त विवेचन करके अब प्रथम परोक्ष ज्ञानके प्रकारोको कहते है ।

मतिः स्मृतिः सज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥

प्रकृत सूत्ररचनाका प्रयोजन मतिज्ञानान्तर्गत बोधोका सग्रह—मति, स्मृति सज्ञा अर्थात् प्रत्यभिज्ञान, चिन्ता अर्थात् तर्क तथा अनुमान– ये सब मतिज्ञानके अनर्थान्तर है अर्थात् मतिज्ञानके ही भेद प्रभेद है । यह सूत्र इसलिए कहना पडा कि मतिज्ञानके जितने भेद है उन भेदोका मतिज्ञानमे ही अन्तर्भाव करना, नही तो ऐसे अनेक प्रमाण मानने पडेगे । कोई कहे कि स्मरण भी तो प्रमाण है और वह इन ज्ञानोमे आया नही, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान—इन ५ मे आया नही । तो क्या वह एक छठा प्रमाण है ? समाधान यह है कि स्मरण तो क्या, स्मरण जैसे अनेक ज्ञान है जो मतिज्ञानमे ही अन्तर्भूत होते है । मत्यादिक जो ५ ज्ञान बताये गए उनमे स्मरण प्रत्यभिज्ञान तर्क आदिक प्रमाणोंका सग्रह नही हो सकता, ऐसी कोई आशका करे तो मानो उनको समझानेके लिए इस सूत्रकी रचना की गई है । स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदिक इस सूत्रमे बताये गए ज्ञान मतिज्ञान ही तो है, मतिज्ञानसे भिन्न

नही है, क्योकि मतिज्ञानका लक्षरा है कि वीर्यान्तिराय कर्मोके क्षयोपशममे तथा मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह मतिज्ञान है। सो जैसे वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा स्वरूप मति नामक बोध उत्पन्न होता है इसी प्रकार वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदिक भी उत्पन्न होते है। इस कारण स्मृति आदिक ज्ञानोको मतिज्ञानात्मक ही समझना चाहिए। इस सूत्रमे जो प्रथम मति शब्द दिया है उसका अर्थ ५ ज्ञानोमे बताया गया मतिज्ञान नही है, किन्तु अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा भेद वाले साव्यवहारिक प्रत्यक्ष रूप मतिका ग्रहण है। मतिज्ञानमे जो मति नामका बोध है उसका तो भाव है कि इन्द्रिय और मनके निमित्तसे जो सीधा ज्ञान बनता है, वह है मति। स्मृति क्या है ? इस मतिपूर्वक अर्थात् पहले कालमे इस मतिसे कुछ परिचय किया था, उसका मनसे स्मरण हो, उसे स्मृतिज्ञान कहते है, और मतिज्ञानसे जाने हुएका स्मरण हो रहा हो और वर्तमानमे उस ही पदार्थ के बारेमे मति चल रहा हो या उसके सदृश या प्रतियोगी पदार्थका मति चल रहा हो उन दोनो ज्ञानोके जोडरूप, सदृशता प्रतियोगिता आदि रूप जो अर्थबोध है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते है। अनुमान प्रमाणमे काम आने वाले साध्य-साधनकी व्याप्तिका ज्ञान करना तर्क है। साधन से साध्यका ज्ञान करना अनुमान है।

सूत्रोक्त 'इति' शब्दसे बुद्धि मेधा प्रज्ञा आदि अनेक बोधोके मतिज्ञानमे अन्तर्गत हो जानेका निर्देशन—सूत्रमे 'इति' शब्द देनेसे सूत्रोक्त पाँच बोधोके अतिरिक्त अन्य भी अनेक बोधोका सग्रह हो जाता है। जितने भी बोध वीर्यान्तिराय और मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न होते है वे सब मतिज्ञानके ही अन्तर्गत होतें है। जैसे बुद्धि, मेधा, प्रतिभा, प्रज्ञा, अभाव, सम्भव और उपमान आदि। बुद्धि नाम उसका है जो मति सूक्ष्म तत्त्वोका तत्काल विचार करने वाली होती है और वह इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होती है। जो मति बहुत दिनो तक धारणा रखने वाली होती है उसे मेधा कहते हैं। आगामी पदार्थोका विचार करने वाली बुद्धिका नाम प्रज्ञा है। जिस बुद्धिमे नवीन-नवीन उन्मेष उठते रहे उस बुद्धिको प्रतिभा कहते है। जो परिचय किसी पदार्थका अभाव बताये उस ज्ञानको अभाव प्रमाण कहते हैं। सम्भावनावश अर्थान्तर जानने वाला ज्ञान सम्भव कहलाता है। जैसे कहते है कि सम्भव है कि ऐसा हो और सादृश्य और सदृशता सहितको जानना उपमान बोध कहलाता है। ये सब मतिज्ञानसे जुदे नही हैं, इस कारण इन सबका मतिज्ञानमे अन्तर्भाव है और इस सूत्रमे 'इति' शब्द देनेसे उन सबका ग्रहण होता है।

मति स्मृति आदि अशोका मतिज्ञानमे अन्तर्भाव—अब यहाँ कोई शङ्का करता है कि जब मति स्मृति आदिके नाम न्यारे-न्यारे हैं और उनके लक्षण भी न्यारे-न्यारे है, विषय

भी न्यारा-न्यारा है और इसके द्वारा जो कुछ भी प्रतिभास होता वह भी पृथक् है। जैसे स्मृतिसे स्मरण हुआ, प्रत्यभिज्ञानसे एकता सदृशता आदिक जाना तो यो जब ये सब भिन्न-भिन्न है तो इनको मतिज्ञानसे भिन्न क्यो कहते ? इस शंकाके समाधानमे मूल बात यह ही सोचनी होगी कि यद्यपि मति आदिकका व्यवहार भिन्न-भिन्न है, लक्षण आदिक भी भिन्न-भिन्न है, तो भी इनका अभेद है, क्योकि मति स्मृति आदिक परिचयोमे एक भेदरूपसे मनन हो रहा है, ऐसी स्थितिमे छोटे-छोटे अंश उपाश रूप परिचय ये मतिज्ञानसे भिन्न रूपमे नही रह सकते है। अनेक भेदोका सग्रह एक मूल तत्त्वमे होता है, ऐसा तो अनेक दार्शनिकोने स्वीकार किया है। जैसे रसनाइन्द्रियसे उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष, चक्षुइन्द्रियसे उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष, योगियोका प्रत्यक्ष, इनका लक्षण भी जुदा है, नाम भी जुदा है, फिर भी उसको प्रत्यक्षमे ही शामिल किया है, ऐसा नैयायिक आदिक दार्शनिकोके मतमे अतिप्रसिद्ध है। अनुमान भी तो अनेक तरहके होते है। कोई अनुमान अन्वयी हेतुसे बनता है, कोई व्यतिरेकी हेतुसे, कोई पूर्ववत् हेतुसे। यो अनेक हेतुवोसे उत्पन्न होता है, इसलिए उन अनुमानोके स्वरूपमे परस्पर भिन्नता है, फिर भी ये जुदे-जुदे अनुमान प्रमाण नही कहे गए। एक अनुमान प्रमाणमे ही ये सब अन्तर्गत हो जाते हैं। यदि थोडे-थोडेसे भेदोको लेकर प्रमाण अलग-अलग माने जायें तब उनकी सख्या कोई नियत ही नही रह सकती। अनेक प्रमाण मानने होगे।

जैसे कोई ऐसा समाधान करे कि नैयायिक आदिकने जो अनेक प्रत्यक्ष माने है उन समस्त प्रत्यक्षोका प्रत्यक्षपना एक समान है, इसी पकार अनेक प्रकारके हेतुओसे उत्पन्न होने वाले अनुमानोका अनुमानपना एक तरह है। व्याकरण कोश आप्त वाक्य आदिक द्वारा जो शाब्द-बोध बनता है उन सबमे आगमपना एक समान है, इसलिए इनमे विरोध नही आता। तो बस यही उत्तर यहाँ है कि मति, स्मृति, सज्ञा आदिक ज्ञानोमे आया विषय जातिको न छोडकर भिन्न-भिन्न हो रहा है तो भी मतिज्ञानपना सबमे है। इस तरह इस सूत्रमे जो मति ज्ञानके अश उपाशोका सग्रह किया गया है वह युक्तिसगत है।

बुद्धि मेधा आदि उपांशोका मतिज्ञानमे अन्तर्भाव—अब मतिज्ञानके अश उपाशरूप जो मेधा आदिक ज्ञान बताये गए है उनका किस प्रकार मतिज्ञानमे अन्तर्भाव होता है, उस विषयका थोडा परिचय करें। बुद्धि नाम है भले प्रकारसे अर्थको ग्रहण करनेकी शक्ति रखने वाली मतिका। वह मतिज्ञानका ही तो भेद है याने मतिज्ञानके भेदरूप जो मति स्मृति आदिक कहे गए है उनमेसे मतिका प्रकार है बुद्धि। मेधा स्मरणका प्रकार है। किन्ही-किन्ही मनस्वी जीवोके शब्दोकी स्मरण शक्ति विलक्षण होती है। वह ही मेधा कहलाती है। प्रज्ञा जिसमे कि तर्क वितर्क उठा करते है वह तर्क ज्ञानका ही प्रकार है, इसी प्रकार प्रतिभा ज्ञान भी तर्क ज्ञानका ही प्रकार है। सादृश्य और उपमान यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञानका ही प्रकार है, क्योकि

सादृश्य प्रत्यभिज्ञानसे किसी वस्तुका स्मरण करना, किसी वस्तुका प्रत्यक्ष करना, उनमे सदृशता बतायी जाती है। यही उपमानका विषय है और सम्भव अर्थापत्ति अभाव आदिक ये सब अनुमान ज्ञानके भेद प्रभेद है, क्योकि जब किसी बातकी सम्भावना की जाती है तो चित्त मे कोई कारण होते है, अर्थापत्ति तो अनुमानका रूप ही है। इसके होनेपर इसका होना। और अभावमे जब उस वस्तुसे शून्य भूमि आदिकका सद्भाव देखा जाता तो वह अनुमान रूपसे अभेद ज्ञान बनता है। इस प्रकार ये सब ज्ञान मतिज्ञानके ही अनर्थान्तर है, बुद्धि मति से भिन्न नही है। जैसे अवग्रह ईहा आदिक मति मतिज्ञानका ही भेद है, ऐसे बुद्धि मेधा आदिक भी मतिज्ञानका ही भेद है। जैसे बुद्धिसे जाना कि यह मुड गौ है, कपिल गौ है, दुधार गौ है आदिक, तो जैसे ये गौ के प्रकार हैं, ऐसे ही बुद्धि मेधा आदि ये सब मतिज्ञानके प्रकार है। मेधाको स्मरण ज्ञानमे सम्मिलित किया गया।

जैसे कोई ज्ञान करे कि बढिया चावलका प्रकार जो वासुमती है, तो यह मेधा स्मरण ज्ञानका ही तो रूप है। प्रज्ञा व्याप्ति ज्ञानका रूप है, यह बात बहुत स्पष्ट है। प्रज्ञामे भूत भविष्य, अन्य देशकी सूक्ष्म चीजे, इन सबका तर्क वितर्क सकल्प किया जाता है। सो वह व्याप्ति ज्ञानरूप तर्कका ही भेद है। इसी प्रकारसे चिन्ताका प्रकार प्रतिभा भी है। प्रतिभामे नवीन-नवीन अर्थोंके ज्ञानको उघाडनेकी बुद्धि होती है।

कोई शब्द कहा गया, वाक्य कहा गया, उससे नवीन-नवीन अर्थका उद्घाटन करना उसका नाम प्रतिभा है। वह भी तर्क ज्ञानका प्रकार है। उपमानमे लोग उपमान और उपमेय देखकर उनकी सदृशता बताते है। यह ही बात तो सादृश्य प्रत्यभिज्ञानमे है। गायके सदृश रोझ होता है, ऐसा सुनते आये हैं, और वही पुरुष वनमे जाय और वहाँ रोझ देखे तो वहाँ ज्ञान होता है कि इसके सदृश गाय है। इसकी सदृशता गायमे पायी जाती है। तो उपमान ज्ञानमे यही तो कहा करते है कि रोझमे निरूपित व गायमे रहने वाली सदृशता उपमानने जानी तो ये उपमायें, ये सब प्रत्यभिज्ञानके ही भेद है। इसी तरह सम्भव, अर्थापत्ति अभाव तथा किसी-किसी प्रकारके अन्य उपमान ये सब लिगजन्य होते है, अतएव अनुमानके ही प्रभेद हैं। कोई चिह्न देखकर ही तो यह परिचय बना करता है और अनुमानमे भी यही होता कि कोई चिह्न देखकर ज्ञान करना।

इस तरह मतिज्ञानमे ये सभी भेद प्रभेद सम्मिलित हो जाते है। तो मति, स्मृति, सज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध इनका नाम बताकर जो इति शब्द दिया है उस इस शब्दसे कम बुद्धि वालेको समझानेके लिए यह अर्थ करना कि मेधा प्रतिमा आदिक ये सब मतिज्ञानके अनर्थान्तर हैं और बुद्धिमान पुरुष जो कि स्वय ही ऐसा समझ रहे है कि मेधा आदिक सब

इन ज्ञानोरूप है, उनके लिए 'इति' शब्दका अर्थ समाप्ति अर्थमें भी लाया जा सकता, अर्थात् ये सब मतिज्ञानके अनर्थान्तर है याने ये भिन्न अर्थ नही है। मतिज्ञान ही एक कहलाता है।

स्मरणज्ञानकी अप्रमाणताकी आशंकाका निरसन—अब यहाँ कोई शङ्काकार कहता है कि स्मरण ज्ञान तो अप्रमाण कहलायगा, क्योकि स्मरण ज्ञानने सांव्यवहारिक प्रत्यक्षसे ग्रहण किये गए पदार्थका ही तो ख्याल किया है तो यह ग्रहीतग्राही हो गया। ग्रहीतग्राही ज्ञानको प्रमाण नही कहा जा सकता। जो बात एक प्रमाणके द्वारा ग्रहण की गई बस जान लिया, अब उसे फिर दूसरे प्रमाणसे जाना, उसकी आवश्यकता क्या? तो मतिज्ञानसे याने साव्यवहारिक प्रत्यक्षसे जाने हुए पदार्थका ही स्मरणने ग्रहण किया। जैसे कि जब कुछ ख्याल आता है—अमुक गांव, तो उस गावको पहले देखा था, उसका ख्याल किया जा रहा है तो ग्रहणको ही तो ग्रहण किया स्मरणने, इस कारणसे अप्रमाण कहलायगा। लेकिन उनकी शङ्का यह यो ठीक नही है कि इस तरह अगर स्मरण ज्ञान अप्रमाण मान लिया जायगा तो सभी प्रमाण और सभी प्रमेय फिर कुछ ठहर ही नही सकते। इनसे रहित जगत हो जायगा। कैसे? सो सुनो। स्मृति ज्ञानके अगर प्रमाणपना नही कायम करते, प्रमाणता उसकी मिटाना है तो प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नही रह सकता, क्योकि प्रत्यभिज्ञानमे पहले देखेका स्मरण करे तथा इस समय देखेका जोड करे, यही तो प्रत्यभिज्ञान है। यह वही पुरुष है जिसको अमुक जगह देखा था, यह उसके समान है, यह उससे दूर है आदिक ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहलाते है। तो प्रत्यभिज्ञान तो तब ही बने जब स्मरण हुआ ना। स्मरण बिना प्रत्यभिज्ञान नही बनता और स्मरणको कह दिया अप्रमाण तो प्रत्यभिज्ञान भी अप्रमाण हो गया और जब प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण हो गया तो तर्क ज्ञान प्रमाण नही ठहर सकता, क्योकि तर्क ज्ञान तो स्मरण प्रत्यभिज्ञानके आधारपर है, तर्क ज्ञानका रूपक है।

जैसे जहा-जहा धुवाँ है वहा-वहां अग्नि होती है। जहा अग्नि नही होती वहा धुवां भो नही होता, इस प्रकारकी व्याप्तिया मिलाना, तो यह व्याप्ति तो तब ही बनती है जब स्मरण बने, प्रत्यभिज्ञान बने कि हमने इस इस जगह धुवा देखा और वहा अग्नि पायी गयी। तो स्मरण प्रत्यभिज्ञानको अप्रमाण कह देनेपर तर्क ज्ञान भी अप्रमाण बन जाता है और जब तर्क ज्ञान अप्रमाण हो गया तो अनुमान प्रमाण बन ही नही सकता। अनुमान प्रमाण बनता है साधनको देखकर साध्यका ज्ञान करनेमे। अब व्याप्तिज्ञान तो रहा नही, तो यह निर्णय कैसे बना कि यहा धुवा है, इसलिए अग्नि होनी चाहिए। तो यो व्याप्ति ज्ञान भी तर्क ज्ञान भी न बना, अनुमान भी न बना और जब अनुमान प्रमाण न बने तो प्रत्यक्षमे प्रमाणता कैसे आयगी?

जैसे कोई प्रत्यक्षको प्रमाण मानता है और उससे कहा कि भाई तुम सिद्ध करो कि

कैसे प्रमाण है ? तो वह कोई हेतु तो देगा । हेतु दिया कि अनुमान बना । साधनसे साध्यका ज्ञान करना अनुमान कहलाता है । प्रत्यक्षकी प्रमाणता तो साध्य है और उसे सिद्ध करनेके लिए कोई हेतु दिया जाता है तो साधनसे साध्यका ज्ञान ही तो किया गया । यही अनुमान कहलाया और अनुमानको माना है अप्रमाण तो यो प्रत्यक्ष भी प्रमाण न बन सकेगा । तो लो देखो एक स्मरण ज्ञानको प्रमाण न मानने पर सारे ज्ञान अप्रमाण बन गए और जब कोई प्रमाण ही न रहा तो फिर प्रमेय किसे कहेंगे ? तो लो यो प्रमेयशून्यता भी हो गई । तो यो सर्वजगतका लोप हो गया एक स्मरण ज्ञानको प्रमाण न मानने पर ।

अच्छा कोई अगर यो कहे कि सब शून्य हो जाने दो, न प्रमाण रहे, न प्रमेय रहे, बस यह शून्य ही तत्त्व है तो शून्य ही तत्त्व है इसको सिद्ध करके तो बताओ जरा । सिद्ध करनेके लिए कुछ भी वचन कहेंगे वही तो अनुमान आदिक बन गए । तो कुछ भी तत्त्व है यह भी सिद्ध नही किया जा सकता प्रमाणके बिना और स्मरण ज्ञानके बिना प्रमाणकी व्यवस्था नही बनती, इस कारण शकाकारने जो शका की थी कि स्मरणज्ञान गृहीतग्राही है इस कारण वह प्रमाण नही कहला सकता, यह शका उसकी युक्त नही है । गृहीतग्राहीका अर्थ है कि जितना हो ग्रहण किया उतना ही जाने, लेकिन स्मरण ज्ञानने मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थमे कुछ विशेष विधिसे जाना, मतिसे अर्थका ग्रहण किया । अब उसके बारेमे और प्रकारसे जानकारी की तो यह सर्वथा गृहीतग्राही नही हुआ, इस कारण भी स्मृतिज्ञानको अप्रमाण नही कहा जा सकता ।

अर्थप्रवर्तक होनेसे स्मरण प्रत्यभिज्ञान तर्क व अनुमानमे भी प्रामाण्यकी पुष्टि— प्रसग यह चल रहा था कि स्मरण ज्ञानको प्रमाण न माननेपर कोई भी ज्ञान प्रमाण नही हो सकता और जब कुछ प्रमाण ही न रहेगा तो प्रमेय भी कुछ न रहा । इस तरह प्रमाण और प्रमेयसे शून्य जगत हो जायगा । इस आपत्तिको सुनकर शकाकार यदि यह कहे कि भाई जो अर्थमे प्रवृत्ति कराये उसको प्रमाण कहते है । तो प्रत्यक्ष तो अर्थमे प्रवृत्ति कराता है इसलिए प्रमाण है, पर स्मृति आदिक प्रमाण नही है, यदि ऐसा शकाकार कहे तो यही कारण स्मरण आदिकमे भी लगाना चाहिए । जैसे अर्थमे प्रवृत्ति करानेके कारण प्रत्यक्षको प्रमाण माना या किसी भी ज्ञानको प्रमाण माना जायगा तो स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदिकको भी प्रमाण मानना चाहिए । जैसे इन्द्रियजन्य ज्ञानसे भोजनको जाना तो भोजन करने लगते हैं लोग तो अर्थमे प्रवृत्ति हुई प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा, इसी तरह यह भी तो देखें कि स्मरणसे भी अर्थमे प्रवृत्ति होती है या नही ।

कोई पुरुष सीढीसे चढ गया दूसरी मजिलपर, अब वह उतर रहा है उल्टा, तो नीचे जो पैर रख रहा है सीढ़ीके और नीचे डडेपर तो स्मरण करके ही तो रख रहा है । उस

उतरने वालेको यह ख्याल आता है कि इसके नीचे एक डडा है, वहाँ पैर रखना है, अब और है वहाँ पैर रखना है। जहाँ डंडे समाप्त हो जाते है वहाँ निःशक होकर पृथ्वीकी तरह पैर रखता है। तो वहाँ अर्थमे प्रवृत्ति करनेका कारण स्मरण ही तो हुआ। तो स्मरण ज्ञान-को भी अर्थमे प्रवर्तक होनेसे प्रमाण मानना चाहिए। और भी देखिये—प्रत्यभिज्ञान द्वारा भी अर्थमे प्रवृत्ति होती है। जैसे रोगी पुरुष पहले किसी औषधिका सेवन करके निरोग हो गया तो अब उसका वही रोगी अथवा दूसरा रोगी प्रत्यभिज्ञान करता है कि इसने वही दवा खायी थी जिससे वह चगा हो गया। तो उस औषधिका प्रत्यभिज्ञान कर अब उस औषधिमे से थोडी औषधि लेकर प्रवृत्ति करता है, औषधि खाता है, निरोग हो जाता है, तो औषधि खाने मे जो प्रवृत्ति की उसमे प्रत्यभिज्ञान ही तो कारण बना, इसी तरह तर्क ज्ञानसे भी अर्थमे प्रवृत्ति देखी जाती है। तर्क ज्ञानसे व्याप्ति ही तो जाना जाता है। धूम और अग्निका साह-चर्य जब ग्रहण किया याने जहाँ धूम है वहाँ अग्नि मिले तो उस विषयमे अब यह तर्क उठा-यगा कि जहाँ-जहाँ धूम होता वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, और फिर इसी तर्कके बलपर अर्थमे प्रवृत्ति भी करेगा याने अर्थकी अभिमुखता करके उसके भेदका ग्रहण कर अग्नि साध्यका अनुमान बनायेगा और अनुमानसे फिर प्रवृत्ति करेगा। तो तर्क ज्ञान द्वारा भी प्रवृत्ति हुई, अनुमान ज्ञान द्वारा भी प्रवृत्ति हुई और शब्दकोष अथवा आगमके ज्ञानसे भी प्रवृत्ति देखी जाती है।

जैसे आप्तके वाक्यसे किसी अर्थका निर्णय किया, फिर उस निर्णयके अनुसार ज्ञान बनाता है, प्रवृत्ति करता है, आचरण करता है, तो यहाँ आगम ज्ञान द्वारा अर्थप्रवृत्ति हुई अथवा जैसे पुस्तकोमे कोई रसायन बनानेकी विधि लिखी है, उसे कोई पढता है तो पढकर उसके अनुसार रसायन बनानेमे प्रवृत्ति करता है। तो इस तरह कही साक्षात् कही परम्परया ये सब स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदिक द्वारा अर्थमे प्रवृत्ति होती है, इस कारण ये सभी ज्ञान प्रमाण है, इसमे किसी भी प्रकारका विरोध नही है। इस कारण प्रत्यक्षज्ञान ही प्रवर्तक है और वही प्रमाण है, स्मरण आदिक प्रमाण नही हैं। यह सिद्धान्त गढना उचित नही है।

अनेक युक्तियोसे स्मरणज्ञानके प्रामाण्यकी पुष्टि—सभी ही जीव इन्द्रियजन्य ज्ञानोसे पदार्थका स्पष्ट निश्चय करते है और उसके अनुसार प्रवृत्ति करते है। ऐसा तो प्रायः सभी निरखते है, ऐसा कहने वाले ये क्षणिकवादी अपने आत्मा, शरीर आदिकमे स्मृतिसे भी प्रवृत्ति कर रहे है, इस तथ्यकी क्यो उपेक्षा कर रहे है बल्कि क्षणिकवादियोके यहाँ प्रत्यक्ष तो प्रव-र्तक नही हो सकता, क्योकि उन्होने ऐसा माना है कि वह निर्विकल्प है और अर्थके क्षणमे हुआ है, उस ज्ञानके समय विकल्प ही नही, निर्णय ही नही, कोई प्रवृत्ति कैसे करेगा ? तो स्मरण द्वारा प्रवृत्ति होती है, यह बात बौद्ध भी मान रहे है। तो स्मरण अर्थमे प्रवर्तक होने

मे प्रमाण है । अगर स्मरण अर्थप्रवर्तक न हो प्रमाण न हो तो कोई अपनी शक्लका निर्णय ही नही कर सकता । किसीने अपनी शक्ल अपनी आंखो नही देखी, लेकिन लोग दर्पणमे अपनी शक्ल देखते है । उसका स्मरण कर किसी कलाकार द्वारा निर्मित अपने चित्रमे जो प्रतिबिम्ब देखा उससे अपना स्मरण कर लेता है ।

बचपनकी अवस्थाओका या शरीरके अनेक भागोका स्मरण कर लोग प्रवृत्ति किया ही करते है । लेन-देन व्यवहार सम्बध ये सभी स्मरणपूर्वक हो ही रहे है । तो स्मरण पदार्थों मे प्रवृत्ति कराता है, इसमे किसी प्रकारका सदेह नही है । अगर स्मृतिको प्रमाण नही मानते ये क्षणिकवादी लोग तो फिर भला उनको अपने चित्त आदिकमे स्मृतिसे प्रवृत्ति किस तरह हो सकेगी ? तो स्मरण गृहीत अर्थको विषय करता है ऐसा हेतु देकर अप्रमाण कहना ठीक नही है, क्योकि यदि स्मरणको गृहीतग्राही होनेसे प्रमाण न मानोगे तब फिर ये क्षणिकवादी यह बतायें कि धारावाही इन्द्रियज्ञानका प्रमाणपना कैसे हो सकेगा ? याने इन्द्रियजन्य ज्ञानसे लगातार पदार्थोंका निश्चय करते रहते है । वह प्रमाण कैसे हो जायगा ?

तो इसका समाधान क्षणिकवादी यह देते हैं कि विशिष्ट उपयोग न होनेपर धारावाही ज्ञानको भी प्रमाणपना नही माना गया । यदि ऐसा वे कहे तो यही उत्तर यहाँ है । याने गृहीत पदार्थोंके विषयमे कुछ विशेष बात जाने तब ही वह प्रमाण होता है । जितना गृहीत हुआ उतना ही ग्रहण होवे उसे अप्रमाण कह लीजिए, पर स्मृतिमे जो जाना गया पहले, आज उससे कुछ विशिष्ट बात समझी जा रही है, विधि भी अलग है, समय भी अलग है, विचार भी अलग है, इस कारण स्मृतिज्ञान प्रमाण है । इस प्रकार किसी भी प्रकारका विरोध नही है ।

स्मृतिमूलक अभिलाषा आदिके अप्रामाण्यकी तरह प्रत्यक्षमूलक स्मृतिमे भी अप्रामाण्यकी आशङ्काका शकाकार द्वारा उद्घाटन—अब यहाँ स्मरणज्ञानको प्रमाण स्वीकार न करने वाले दार्शनिक ऐसी शका कर सकते है कि प्रवृत्ति स्मृतिसे नही होती, किन्तु अभिलाषा, पुरुषार्थ, क्रिया, इनसे जो व्यवहार उत्पन्न होता है वह व्यवहार प्रवृत्ति कराता है । यद्यपि अभिलाषा आदिकका कारण स्मरण है, ख्याल आया स्मरण है तब अभिलाषा आदिक बनती है । जैसे खाये हुए मिष्ट व्यञ्जनका स्मरण होता है तो उसकी इच्छा जगती है, फिर उसमे लोग प्रवृत्ति करते है । तो यद्यपि अभिलाषा आदिक स्मरणके आधारपर हुए हैं, स्मृतिमूलक है और स्मृतिमूलक अभिलाषा आदिकसे व्यवहार उत्पन्न होता है और वह व्यवहार प्रवृत्ति कराता है । ऐसा होनेपर भी स्मरण प्रमाण नही है और अभिलाषा, पुरुषार्थ क्रिया ये तो इस कारण प्रमाण नही है कि ये ज्ञानस्वरूप नही है । जो ज्ञानस्वरूप हो, जड न हो वही तो प्रमाण कहा जाता है, ऐसा तो जैन भी मानते है कि जड प्रमाण नही होता । तो अभि-

लाषा क्रिया आदिकसे व्यवहार बना, उस व्यवहारसे प्रवृत्ति बनी और प्रवृत्तिका मूल हुआ अभिलाषा, अभिलाषाका मूल हुआ स्मृति, तब भी स्मृति प्रमाण नही है। तो जैसे अभिलाषा आदिक प्रमाण नही है, क्योकि वह स्मृतिमूलक है, इसी प्रकार स्मरण भी प्रमाण नही है, क्योकि वह प्रत्यक्षमूलक है। भले ही स्मरणमे प्रवृत्ति हो या अभिलाषा आदिकमे प्रवृत्ति हो, किन्तु ये सभी प्रमाण नही हो सकते, क्योकि ये सब गृहीतग्राही ज्ञान है या ज्ञानजन्य व्यवहार है। तो न गृहीतग्राही ज्ञान प्रमाण होता और न ज्ञानजन्य व्यवहार प्रमाण होता।

प्रत्यक्षमूलकताके कारण स्मरणको अप्रमाण माननेपर प्रत्यक्षमूलकताके ही कारण अनुमानका भी अप्रमाण माननेका प्रसग बताते हुए उक्त आशंकाका समाधान—उक्त शकाके समाधानमे इतना ही कहना पर्याप्त है कि जो शकाकार बडी हठ आरोपके साथ यह बात कह रहा है कि स्मृतिमूलक अभिलाषा है तो अभिलाषा प्रमाण नही, ऐसे ही प्रत्यक्षमूलक स्मरण है तो स्मरण भी प्रमाण नही। तो ऐसा कहने वाले ये क्षणिकवादी अनुमानको भी पृथक् प्रमाण कैसे सिद्ध कर सकते है, क्योकि अनुमानका भी मूल कारण प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष हुए बिना अनुमान तो बनता नही। पहले प्रत्यक्ष किया था, उस विषयका ही अनुमान बन पाता है तो पत्यक्षमूलक स्मृति होनेसे स्मरण प्रमाण नही है तो प्रत्यक्षमूलक अनुमान होने से अनुमान भी प्रमाण न रहेगा, क्योकि अनुमान बनता है हेतुको देखकर पक्षमे साध्यकी सिद्धि करनेमे, तो हेतुका प्रत्यक्ष होता है, तत्पूर्वक अनुमान बनता है तो फिर अनुमान भी प्रमाण न रहा तब चार्वाककी तरह केवल एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण रह जायगा, तो यह युक्ति देना कि प्रत्यक्षमूलक स्मरण है, इस कारण स्मरणज्ञान अप्रमाण है, यह युक्ति युक्त नही है। फिर तो प्रत्यक्षमूलक अनुमान है तो वह भी अप्रमाण हो जायगा। कोई भी अनुमान ससार मे ऐसा नही है जो किसी भी अशमे, किसी भी प्रकारका प्रत्यक्षज्ञान न हुआ हो और अनुमान बन जाय।

अनुमानपूर्वक होने वाले अनुमानोंमें भी प्रत्यक्षमूलकताकी सिद्धि होने से प्रत्यक्षमूलक अनुमानके प्रामाण्यकी तरह प्रत्यक्षमूलक स्मरणमे भी प्रामाण्यकी सिद्धि—यदि शङ्काकार यो कहे कि प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान तो हुआ, लेकिन उस अनुमानके बाद जो अनुमान बनता है वह तो अनुमानपूर्वक अनुमान हुआ, प्रत्यक्षपूर्वक तो नही हुआ। इस कारण अनुमान प्रमाण बन जायगा। वहाँ किसी प्रमाणसे गृहीत पदार्थका ज्ञान नही करा रहे। भले ही प्रथम हुए अनुमानमे यह दोष आयगा कि वह तो प्रत्यक्षमूलक हुआ, लेकिन अनुमान के बाद जो और अनुमान होता है, जो अनुमानपूर्वक हुए है वह ज्ञान तो प्रमाण हो जायगा और होता भी सर्व अनुमानोमे इसी तरह, जैसे धुवाँका प्रत्यक्ष किया उससे अग्निका अनुमान बना, फिर उस अनुमानसे उस स्थानमे गर्मीका अनुमान बना तो अनुमानपूर्वक भी तो

अनुमान होता है। सूर्यमे गमनशक्ति है, यह किस प्रमाणसे लोग सिद्ध करेंगे ? सूर्यकी गति से। तो सूर्यकी गतिसे सूर्यमे गमनशक्तिका अनुमान किया गया और सूर्यमे गति है, सूर्य गमन करता है—यह किस ज्ञानसे कोई जानेगा ? प्रत्यक्षमे तो गमन नही दिखता। वह तो इस अनुमानसे ही जाना जायगा कि एक देशसे, अन्य देशमे सूर्य पहुच गया तो देशसे देशान्तर गमन करनेसे तो सूर्यकी गतिका अनुमान किया और सूर्यकी गतिका अनुमानके द्वारा सूर्यमे अतीन्द्रिय गमन शक्तिका अनुमान किया तो देखो यहा अनुमानपूर्वक ही अनुमान हुआ।

लोकमे भी चार पांच अनुमान करके आगे आगे अनुमानमे अनुमान वनाकर वस्तुका निर्णय किया करते है, तो सभी अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक नही हुए, इस कारण यह दोप देना कि प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान होता है, इसलिए अप्रमाण है। जैसे कि प्रत्यक्षपूर्वक स्मरण अप्रमाण माना गया है यह दोष नही आता, ऐसे क्षणिकवादी अपने दोपका परिहार कर रहे हैं। अब इस सम्बन्धमे वास्तविकता देखो किस कोई भी अनुमान हुए हो और वे किसी अनुमान-पूर्वक हुए हो, पर मूल आधार उन सबमे प्रत्यक्ष ही पडता है। चाहे परम्परया पडा हो, मगर पत्यक्ष हुए बिना अनुमान बन न पायगा। अनेक अनुमान बनाकर दूर जाकर भी उस अनुमानको यदि प्रत्यक्षपूर्वक न माना जायगा तो अनवस्था दोष आयगा। तो आखिर अनेक अनुमान माननेपर भी प्रत्यक्षका कारणपना मानना ही पडा। तो जब अनुमान प्रत्यक्ष-पूर्वक हुए तो वह भी अप्रमाण बन बैठेगा।

जैसे कि ये ही दार्शनिक कह रहे है कि स्मरण प्रत्यक्षज्ञानपूर्वक होता है इस कारण अप्रमाण है तो ज्ञानपूर्वक ज्ञान होता, इस कारणमे अप्रमाणता नही आती। सर्वथा गृहीत-ग्राही भी कोई ज्ञान तब ही होता है जब ज्ञान पहले जितना ग्रहण किए गए अश तकको ही जानता हो। जो उसमे कुछ विशेपता किसी भी प्रकारसे रखकर जाने तो वह ज्ञान अप्र-माण नही कहला सकता।

प्रत्यक्ष व अनुमान ज्ञानकी तरह स्वार्थप्रकाशक होनेसे स्मरण आदि ज्ञानोमे भी प्रामाण्यकी सिद्धि—अब यहाँ शङ्काकार यदि यह कहे कि अनुमान प्रमाण तो इस कारणसे हैं कि वह अपने अर्थका प्रकाशक है, अनुमान प्रमाणका जो विषय है उस विषयका परिचय कराता है तो अर्थ प्रकाशक होनेसे अनुमान प्रमाण है। तो इस प्रकार स्व और अर्थका प्रकाश-कपना होने से अनुमानको प्रमाण कहेगे तो ऐसा स्वपरप्रकाशक होनेसे स्मृति भी प्रमाण मान लिया जाना चाहिए। हा उस स्मरण ज्ञानसे भिन्न जो अभिलाषा, पुरुषार्थ रागद्वेष विरोध आदिक जो कुछ भी बाह्य तत्त्व बनते हैं वे प्रमाण नही है, क्योकि वे चेतन नही और स्व अर्थके प्रकाशक भी नही है। जो स्व अर्थका प्रकाशक नही होता वह ज्ञान प्रमाण नही माना गया। प्रवर्तकपनेकी बात यह है कि अपने और अर्थके प्रकाश करनेका ही नाम प्रवर्तकपना

है। कही उस पदार्थके प्रति गमन करनेका नाम प्रवर्तकपना नही, किन्तु पदार्थ जाननेमे आ गया बस यही प्रवर्तकपना कहलाया। प्रत्यक्षसे, निमित्तसे, ज्योतिष आदिकसे भूतके भविष्यके अन्य देशोंके पदार्थोंका ज्ञान होता है, उस ज्ञानके समय कही भी उन पदार्थोंको पकडनेके लिए तो नही जाता। तो गमन करनेका नाम या क्रिया करनेका नाम प्रवृत्ति नही, किन्तु जानने का नाम प्रवृत्ति है। सो वास्तविकता तो यह है कि किसी भी तत्त्वका ज्ञान हो जाना ही महान कार्य है।

जैसे कि लोकव्यवहारमे धन चाहने वालोको धन दिख जाय, यही तो एक बडा काम है, अब उसे ग्रहण करना तो सुलभ बात है। तो गुरुतर कार्य यही है कि पदार्थका यथार्थ बोध हो जाय तो स्व-परपदार्थका यथार्थ बोध हो जानेका ही नाम प्रवर्तकपना है। सो यह बात जैसे अनुमानमे है वैसे ही स्मरण आदिक ज्ञानोमे भी है। तो अनुमानकी तरह स्मरण आदिक भी प्रमाण हो जाते है। जब किसी चीजका स्मरण करते है तो वहाँ भी तो पदार्थका ज्ञान होता है। हाँ अभिलाषा, राग, कषाय ये प्रवृत्तियाँ पदार्थका ज्ञान नही कराती। यह तो मोहनीय कर्मोंके उदय होनेपर आत्माका विभावरूप परिणमन है। यह ज्ञानस्वरूप नही, चैतन्यस्वरूप नही, किन्तु पदार्थका ज्ञान हो जाना यह प्रमाण है। सो यह बात जैसे प्रत्यक्षमे होती, अनुमानमे होती, ऐसे ही स्मरण आदिक ज्ञानोमे भी है। अतएव ये सभी ज्ञान प्रमाणभूत है, अप्रमाण नही।

समारोपव्यवच्छेदक होनेसे स्मरणज्ञानकी स्वतत्र प्रमाणरूपता—यहाँ क्षणिकवादी कहते है कि अनुमान तो अप्रमाण इस कारण नही है कि वहाँ समारोपका व्यवच्छेद है अर्थात् सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय—इन तीनो दोषोका वहाँ निराकरण है। जहाँ सशय, विपर्यय अनध्यवसायका विनाश हो वह ज्ञान प्रमाण कहलाता है। अनुमान ज्ञानमे ये तीनो ही दोष नही हैं, इस कारण प्रमाण है, अत. स्मृतिकी तुलना करके अनुमानको अप्रमाण कह देना ठीक नही है। इसके उत्तरमे समाधान यह है कि यही बात तो स्मरण ज्ञानमे है। स्मरण ज्ञानमे भी सशय, विपर्यय और अनध्यवसायका निराकरण है। अत जैसे अनुमान ज्ञान प्रमाण है इसी भाति स्मरण भी प्रमाण है। अब यहाँ शकाकार कहता है कि स्मृतिको हम प्रमाण तो मानते है, मगर अनुमान रूपसे प्रमाण मानते है याने स्मृति भी अनुमानमे अन्तर्गत है। वह अनुमानसे जुदा कोई तीसरा प्रमाण नही है।

इसके समाधानमे आचार्य बतलाते हैं कि स्मृतिज्ञानको अनुमान प्रमाण नही बता सकते, क्योकि अनुमानमे तो व्याप्ति वाले हेतुका काम है याने साधनसे साध्यका ज्ञान करना अनुमान है, और साधन वही कहलाता है जिसमे व्याप्ति हो। तो व्याप्ति सहित हेतुका ज्ञान तो नही है स्मरणमे और फिर भी स्मरणज्ञान देखा जाता है। और उस स्मरणसे अर्थमे

प्रवृत्ति होती है, इस कारण स्मरण ज्ञान अनुमान प्रमाण नही है, किन्तु उससे निराला ही है। यदि ऐसा न मानोगे याने व्याप्तिके स्मरण मात्रको यदि अनुमानका रूप दे दोगे तो उस अनुमानमे भी अन्य व्याप्तिके स्मरणकी आवश्यकता होगी। और व्याप्ति स्मरण, वह फिर तीसरा अनुमान बनेगा और चूकि वह अनुमान तीसरा बन गया तो उसमे भी व्याप्ति स्मरण की आवश्यकता है। इस तरह तो अनुमान प्रमाण मानते जानेकी और व्याप्ति स्मरण करते जानेकी अनवस्था होती चली जायगी। तब तो किसी भी अनुमानकी सिद्धि न हो सकेगी। इससे यह मानना चाहिए कि स्मरण ज्ञान जुदा है और अनुमान प्रमाण जुदा है। अविनाभाव सम्बधकी स्मृति होती है सो वह स्मरण है। उसे अनुमान नही कह सकते। अगर इस ही को अनुमान कह देंगे तो अनुमानमे तो व्याप्ति अवश्य होती है। व्याप्तिसहित हेतुके बिना अनुमान तो बनता ही नही, तब फिर उसके लिए दूसरा अनुमान चाहिए। तो यो अनुमानसे अनुमानकी उत्पत्ति मानते चले जानेमे कही दिमाग स्थिर नही रह सकता।

स्मरणज्ञानमे चेतकता होनेसे प्रमाणत्वकी सिद्धि—अब यहाँ शकाकार कहता है कि साधन और साध्यके सम्बधका ही नाम तो अविनाभाव है। जैसे अग्नि न हो तो धुवा नही हो सकता, इस कारण अग्निका धूमका अग्निके साथ एक अविनाभाव सम्बध है। तो ऐसा धूमका जो अविनाभाव है, उस सम्बधकी जो स्मृति है वह तो अप्रमाण ही है और अप्रमाण ज्ञानसे अनुमान प्रमाणकी उत्पत्ति हो सकती है। ज्ञानसे ज्ञानकी उत्पत्ति हम नही कहते, क्योकि ज्ञानकी उत्पत्ति हो तो वहाँ गृहीतग्राहीपना आदिक अनेक दोष आयेंगे, पर अप्रमाण ज्ञानसे, स्मरणज्ञानसे अनुमान प्रमाणकी उत्पत्ति सम्भव है। जैसे कि जड इन्द्रियसे चेतन प्रत्यक्षकी उत्पत्ति होती है। पहले सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति तो मिथ्याज्ञानसे हुई है, ऐसा मानना ही पडता है ना। तो ऐसे ही अप्रमाण स्मरणसे प्रमाण अनुमानकी उत्पत्ति हो जायगी। तो व्याप्तिके ज्ञानको अप्रमाण माना गया है, और यो व्याप्तिके स्मरणको भी हम अप्रमाण मानते है और अप्रमाणसे अनुमानकी उत्पत्ति हुई तो उसमे कोई दोष न आयगा—ऐसा शकाकारके द्वारा कहा जानेपर अब समाधान देते है।

शकाकार यह कह रहा है कि साध्य और साधनका जो अविनाभाव सम्बध है उसका स्मरण तो अचेतन है, अप्रमाण है, सो प्रथम तो यह बात युक्त नही होती, क्योकि स्मरणसे पदार्थका निर्णय देखा जाता है और अप्रमाण ज्ञानसे पदार्थका निर्णय सम्भव नही। तो जब स्मरणज्ञानसे पदार्थका निर्णय होता है तो स्मरणज्ञान अचेतन कैसे हो सकता है? कोई ऐसी ही हठ करे कि अप्रमाणज्ञानसे भी पदार्थका निर्णय होने लगे तो ऐसी हठ वाले फिर इस बाडको न रोक सकेंगे, सारे निर्णय अप्रमाणज्ञानसे होने लगेंगे, फिर प्रमाणज्ञान माननेकी आवश्यकता ही क्या? सब प्रमाण व्यर्थ हो जायेंगे। अप्रमाणसे प्रमेयकी सिद्धि मान ली

जाय तो फिर प्रमाणज्ञानका तो नाम ही न रहना चाहिए, रहेगा ही नही। ऐसा होना न्याय तो नही है ना, कि कुछ कुछ पदार्थोंकी सिद्धि अप्रमाणज्ञानसे हो और कुछ पदार्थोंकी सिद्धि अप्रमाणज्ञानसे न हो। यह तो ऐसा हुआ जैसें कोई अधबूढी औरत अपनेको युवती समझे इस तरहकी रीति हुई एक। इससे सही बात मान लेना चाहिए कि जैसे अनुमान ज्ञान प्रमाण है उसी प्रकार स्मरण ज्ञान भी प्रमाण होता है।

प्रत्यक्ष व अनुमानकी भांति अर्थवान होनेसे स्मरणज्ञानमें प्रामाण्यकी अप्रतिषिद्धता— अब यहाँ क्षणिकवादी कहते है कि स्मरणसे अतीत अर्थका ज्ञान होता है। 'वह था' इस प्रकारसे ज्ञान होता है, तो स्मरणज्ञानने जिस पदार्थके बारेमे जाना वह पदार्थ तो है ही नही, वह तो अतीत हो गया। स्मरण तो अतीतका हुआ करता है। तो जब पदार्थ ही नही है तो इसके मायने यह हुआ कि स्मरणज्ञान अर्थवान नही है, उसका विषयभूत कोई पदार्थ नही है और जो अर्थवान नही है वह अप्रमाण ज्ञान है। इसके समाधानमे आचार्य बताते है कि ऐसा माननेपर कि जो अतीत अर्थका विषय करे वह ज्ञान अर्थवान नही, तो प्रत्यक्ष भी अर्थवान न ठहरेगा। क्षणिकवादी जन ऐसा सिद्धान्त बनाते है कि प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षणमे नया-नया होता है और वह एक समयके लिए ही ठहरता है, दूसरे समय नही रहता और साथ ही यह भी मानते है कि ज्ञानकी याने प्रमाणकी उत्पत्ति पदार्थसे होती है, तो इसके मायने यह हुआ कि पदार्थ तो है कारण और ज्ञान है कार्य। तो अब क्षणिकवाद सिद्धान्तमे, पदार्थ और ज्ञानमे कार्यकारणभाव हो गया, और साथ ही यह भी नीति है कि कारणभूत पदार्थ पहले समयमे होना ही चाहिए। उत्तर समयमे कार्य होता है। तो यहाँ जो प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ वह पदार्थकी सत्ताके समय तो न हो सका, क्योंकि कारण साकारभूत स्वपदार्थके स्वरूपलाभके बाद होते है। जब प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न हुआ तो उसका कारण जो अर्थ है पदार्थ वस्तु स्वलक्षण वह नष्ट हो गया। तो अर्थके गुजर जानेपर क्षणिकवादियोके यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण हुआ, सो जो दोष स्मरणज्ञानमे दिया जा रहा है कि देखो पदार्थ तो है नही और उसके बारेमे स्मरण चल रहा है, अतएव स्मरणज्ञान अर्थवान नही है और अर्थवान न होनेसे प्रमाण नही है। तो यही दोष प्रत्यक्षज्ञानमे आयगा।

देखो क्षणिकवादियोका प्रत्यक्ष जब हुआ तब अर्थ न रहा तो अर्थके गुजर जानेपर प्रत्यक्षज्ञान हुआ, अत प्रत्यक्ष अर्थवान न ठहरेगा और जो अर्थवान नही वह अप्रमाण है। तो स्मरणके बारेमे कुछ भी दोष ढूंढा जायगा तो वही दोष प्रत्यक्षज्ञानमे लगेगा और वही दोष अनुमान प्रमाणमे भी लगेगा। जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण पदार्थके नष्ट होने पर ही होता है ऐसे ही अनुमान ज्ञान भी पदार्थके अतीत होने पर होता है, तो अनुमान भी अर्थवान न रहेगा। अतः अर्थवान नही है स्मरण, इस कारण अप्रमाण है, यह घोषित करना सगत

नही है। अर्थवान जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण है अनुमान प्रमाण है वैसे ही स्मरण ज्ञान भी है। कोई भी ज्ञान निर्विषय नही होता। ज्ञान है तो उसका विषय होना चाहिए। जो निर्विषय हो सो प्रमाण नही, तब मति स्मृति आदिक सूत्रमे जो मतिज्ञानके अर्थान्तरमे स्मृति शब्द दिया है वह युक्तिसगत है।

स्मरणज्ञान भी प्रमाण है, यह बच्चेसे लेकर वृद्ध तक सभी अपने अनुभवसे स्वीकार कर सकते है। तो ज्ञानका विषयभूत सत् पदार्थ होना चाहिए, वह चाहे अतीतमे हुआ हो, चाहे भविष्यमे हो, चाहे वर्तमानमे हो, किसी भी कालमे सत् हो वह ज्ञानका विषय होता है। स्मरणज्ञानका विषय है भूतकी पर्याय। तो वह अर्थ इस समयमे नही है तो भी उसको विषय करके ज्ञान बन जाता है, ऐसा ही तो क्षणिकवादियोके प्रत्यक्षमे है, अनुमानमे है। पदार्थ नही है और उसका ज्ञान हो रहा है।

साकारता होनेसे स्मरण ज्ञानमे भी प्रामाण्यकी प्रसिद्धि—अब शकाकार यदि यह कहे कि प्रत्यक्षमे तो अर्थका प्रतिबिम्ब पड जाता है, अतएव वह प्रमाण है और वह अर्थका बोध कराने वाला है, अर्थवान भी है। जैसे आंखसे जो देखा उसका आकार ज्ञानमे आ गया तो आकार जब ज्ञानमे आ गया तो अर्थवान हो गया। इसलिए कोई यह दोष न दे सकेगा कि प्रत्यक्ष प्रमाण अर्थवान नही है। इसके उत्तरमे कहते है कि बात तो सही है। प्रत्यक्ष अर्थवान है, उसका विषय पदार्थ है, उस पदार्थका आकार भी है ज्ञानमे, लेकिन यही बात स्मरणज्ञानमे भी है, स्मरणज्ञानमे भी पदार्थका आकार है। जिसका भी स्मरण किया उसका फोटो तो है स्मरणमे, उसका विकल्प तो है स्मरणमे। तो जैसे प्रत्यक्ष साकार है, ऐसे ही स्मरण भी साकार है। ज्ञानभाव ऐसा सरल भाव है कि वह अपनी आदतसे न हट सकेगा। सभी ज्ञान सविकल्प (साकार) होते हैं। प्रत्यक्ष साकार (सविकल्प) है तो स्मरण भी साकार (सविकल्प) है, अत प्रत्यक्षकी भांति स्मरण भी सविकल्प है, अतएव प्रत्यक्षकी भांति स्मरण भी अर्थवान है और प्रमाणभूत है।

अविशद ज्ञानोमे भी प्रामाण्यकी प्रसिद्धि—यहा शकाकार कहता है कि स्मरणज्ञान मे अस्पष्टता रहती है याने जिसका ख्याल किया जाता है उसका स्पष्ट प्रतिभास नही होता। जैसे कि आखो देखी हुई चीजका स्पष्ट प्रतिभास है, वैसा स्मरणमे नही होता, इस कारणसे स्मरणज्ञान अप्रमाण है। शकाकारकी शकाका यही समाधान है कि स्पष्टता होनेके कारण यदि स्मरणज्ञानको अप्रमाण कहा जायगा तो अनुमान भी अप्रमाण हो जायगा। साधनको देखकर साध्यका जो ज्ञान किया जाता है वह स्पष्ट ज्ञान तो नही है। जैसे पर्वतपर धूम देखा और धुवेंको देखकर अग्निका अनुमान किया तो क्या उस अनुमानमे अग्निका स्पष्ट ज्ञान है? स्पष्ट ज्ञान तो नही है। जैसे चक्षुसे देखकर अग्निका स्पष्ट ज्ञान होता है, ऐसा तो अनुमानमे

है ही नही। तो अस्पष्ट ज्ञान होनेके कारण यदि स्मरणज्ञानको अप्रमाण कह दिया जाय तो अनुमान भी अप्रमाण हो जायगा।

प्राप्यार्थवत्ता होनेसे भी स्मरणमें प्रामाण्यकी सिद्धि—यदि शकाकार यह कहे कि अनुमानमे तो प्राप्य अर्थ है याने धूमको देखकर अग्निका अनुमान किया तो वहाँ प्राप्त करने योग्य वस्तु मौजूद है। इस कारणसे अनुमानको अर्थवान कहा जायगा और अर्थवान होनेसे अनुमान प्रमाण कहा जायगा। भले ही अनुमान ज्ञानमे अस्पष्टता है, क्योंकि अनुमान सामान्य को विषय करता है। तो अस्पष्ट होनेपर भी चूँकि अनुमानमे प्राप्य अर्थ है, इस कारण अनुमान प्रमाण है, तो इसका भी उत्तर यही है कि स्मरणका भी तो प्राप्य अर्थ है, इस कारण स्मृति भी प्रमाणरूप है। जो कोई मुखमे कौर देता है, भोजन करता है तो स्मरण तो रहता ही है कि इस तरह कल खाया था, यह वही चीज है, यह हितरूप है, उसको फिर खाने लगता है, तो स्मरण ज्ञानमे भी तो प्राप्य अर्थ बनता है।

जैसे रात्रिके समय अधेरेमे कोई पुरुष बाहर जाना चाहता है तो टटोलता हुआ दरवाजेपर पहुचता है, किस बलपर पहुचा ? स्मरणज्ञानके बलपर ही तो पहुचा। तो स्मरणका विषय जो द्वार था, सो द्वार उसको प्राप्य हो गया। तो प्राप्य अर्थ वाला होनेसे स्मरणज्ञान प्रमाण बन जाता है। तो इस प्रकार क्षणिकवादी अनुमानकी प्रमाणता कायम रखना चाहते, सो जो अनुमानकी प्रमाणता कायम रखना चाह रहा है वह स्मरणका निराकरण नही कर सकता है।

अर्थके अभावमे संस्कारकी अशक्यता होनेके कारण संस्कारसहकारी मनसे जायमान स्मरणज्ञानमें भी अनर्थवत्ताका अभाव होनेसे प्रामाण्यकी सिद्धि—अब यहा क्षणिकवादी शङ्काकार कहता है कि स्मरण तो सस्कारके सहकारी मनके द्वारा उत्पन्न होता है। वहा अर्थकी कोई अपेक्षा नही। वह तो सस्कारकी चीज है। ख्याल आया और स्मरण बना। तो अर्थकी अपेक्षा न रखकर सस्कारके सहयोगसे मनके द्वारा ही स्मरणकी उत्पत्ति होती है, इस कारणसे स्मरण ज्ञान अर्थवान नहा है और जब स्मरणज्ञान अर्थवान नही है तो उसे जिसने ख्याल किया वह पदार्थ है ही नही, तो स्मरणज्ञान कैसे प्रमाण हो सकता है ? ऐसी शङ्का करने वाले शङ्काकारकी एक मोह और मद प्रलाप भरी चेष्टा तो देखो। कह रहा है यह शङ्काकार कि संस्कारके सहकारी मनके द्वारा उत्पन्न होता है स्मरण तो देखो इसका अर्थ यही तो हुआ कि सस्कारके होनेपर ही सस्कारमूलक प्रवृत्ति बनी। तो भला कोई भी बताये कि पदार्थ न हो तो क्या सस्कार बन सकता है ? यह तो सब मनमाना प्रलाप है और देखो स्वय भी क्षणिकवादी लाभ तो उठा रहे है स्मरणज्ञानका, जिसका विषय अर्थको नही बताता, ऐसा स्मरणसे भी प्रवृत्ति करते हुए ये क्षणिकवादी अपना सब काम

चला रहे है। तो जो भी काम चला रहे है वे सब अर्थप्राप्य हैं सो ही तो चल रहा है, तब सस्कार बिना अर्थके तो न हुआ। सस्कारके होनेपर ही स्मरण तो माना और सस्कार अर्थके बिना बनता नही, तो यही अर्थ हुआ कि स्मरणका विषयभूत पदार्थ होता है। स्मरण ज्ञान अर्थवान है और वह प्रमाणभूत है।

प्रमाणसामग्रीमे सम्मिलित ज्ञानमे भी स्वतत्र प्रामाण्य—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि जिस स्मरणज्ञानमे मानसिक प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न होता है वह स्मरणज्ञान प्रमाणकी सामग्रीमे शामिल है और तब वह प्रवृत्ति करने वाली है। इस कारणसे स्मरणको गौण प्रमाण मान लें, पर मुख्य प्रमाण नही है, क्योकि स्मरण प्रत्यक्षप्रमाणकी सामग्री है। जैसे कि जब अनुमान ज्ञान बनता है तो उसमे साधन और साध्यके सम्बन्धका स्मरण चलता है। याने जैसे जहाँ-जहाँ धुवाँ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। जहाँ अग्नि नही है वहा धुवा नही है ऐसा सम्बन्धका स्मरण होता है और उस स्मरणसे अनुमान बनता है तो जैसे वह स्मरण अनुमान प्रमाणकी सामग्री भर है। मुख्य प्रमाण नही है। यद्यपि साध्य साधनके सम्बन्धका स्मरण अनुमान प्रमाण बननेमे काम दे रहा है तिस पर भी वह अविनाभावका स्मरण अनुमान प्रमाणकी सामग्री भर है। इस कारण वह गौण प्रमाण है। मुख्य प्रमाण तो अनुमान है, ऐसे ही जिस स्मरणज्ञानसे मानसिक प्रत्यक्ष हुआ तो वह स्मरणज्ञान जो कुछ प्रवृत्ति कराता है सो प्रत्यक्ष प्रमाणकी सामग्री बनकर प्रवृत्ति कराता है, अतः स्मरणज्ञान मुख्य प्रमाण नही है। ऐसा प्रमाण सामग्रीके सिद्धान्त वाले कह रहे है, लेकिन उनका कहना असगत है। कारण यह है कि स्मरणको प्रत्यक्षकी सामग्री मानकर स्मरणको उडा देनेका जो प्रयास है वह प्रत्यक्ष प्रमाणको उडा देगा। केवल अनुमान ज्ञान ही रह जायगा। सो कैसे ?

प्रमाणसामग्रीवादीने यह सिद्धान्त बनाया कि स्मरणज्ञान प्रत्यक्षज्ञानकी सामग्रीभर है, मुख्य तो प्रत्यक्ष प्रमाण है। तो ऐसे ही यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्षज्ञान तो अनुमानकी सामग्रीभर है, मुख्य प्रमाण नही है। मुख्य प्रमाण अनुमान है और प्रत्यक्ष प्रमाण अनुमानकी सामग्री है, क्योकि जब-जब भी अनुमान प्रमाण बनता है तो साधनका प्रत्यक्ष होता है पहले। जैसे धुवा देखकर अग्निका ज्ञान किया गया तो धुएँका जो दिखना है याने वह प्रत्यक्षज्ञान अनुमानकी सामग्रीभर है, ऐसा कहा जा सकता है, क्योकि अनुमान प्रमाण बननेमे प्रत्यक्ष प्रमाण काम आ रहा है। और इस ढगसे फिर प्रत्यक्ष प्रमाण मुख्य रह नही सकता। जैसे कि स्मरणज्ञानको मुख्य नही माना जा रहा, क्योकि वह प्रत्यक्षकी सामग्री है, तो ऐसे ही प्रत्यक्ष प्रमाण भी मुख्य न रहेगा, क्योकि यह प्रत्यक्षज्ञान अनुमान प्रमाणकी सामग्री भर है, और जब प्रत्यक्ष ही न रहा तब फिर अन्य कुछ रहा ही क्या ? इससे सर्व

विनाशसे बचनेकी इच्छा रखने वाले प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणकी भाँति स्मरण ही स्वीकार करें।

अर्थनिश्चायक व फलवान होनेसे स्मरणज्ञानमें प्रामाण्यकी सिद्धि—निष्कर्ष यह हुआ कि जब स्मरणज्ञान प्रत्यक्षकी भाँति अपने अर्थके निश्चय करनेमे समर्थ है याने व्यवधान-रहित फल जब स्मृतिको भी मिल रहा है तो प्रत्यक्षको जैसे प्रमाण कहा जाता है अपने विषयभूत अर्थका परिचय करनेके कारण ऐसे ही अपने विषयभूत अर्थका निश्चय करानेके कारण स्मरणको भी प्रमाण स्वीकार करना होगा, और यह भी देख लीजिए कि प्रमाणके फल बताये गए है चार—छोडने योग्य चीजोंको छोड देना, ग्रहण करने योग्य चीजोको ग्रहण कर लेना, उपेक्षा करने योग्य चीजोकी उपेक्षा करना और अज्ञान दूर हो जाना, सो स्मरण-ज्ञानमे भी ये चार बातें फलरूप पायी जाती है। स्मरण करके जो छोडने योग्य है उसे छोड दिया जाता और जो ग्रहण करने योग्य है उसे ग्रहण कर लिया जाता, उपेक्ष्य चीजकी उपेक्षा कर दी जाती। और अज्ञान तो दूर हो ही रहा है। तो जब प्रत्यक्षकी भाँति स्मरणके भी फल है और प्रवृत्ति होती है, पदार्थका निश्चय होता है तो स्मरणज्ञान भी भली-भाँति प्रमाण ज्ञान है। तो इस तरह क्षणिकवादी भी क्या, याने नैयायिक आदिक भी स्मृतिको अप्र-माण है, ऐसा पुष्ट करनेमे समर्थ नही है। इस विषयमे विशेष और कहना व्यर्थ है। जो सीधी सही युक्तियाँ हैं उनसे ही यह सिद्ध हो जाता है कि स्मरणज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमानकी भाँति प्रमाणभूत हैं।

प्रत्यभिज्ञान प्रमाणका निर्देशन—अब प्रत्यभिज्ञान प्रमाणके विषयमे प्रमाणताकी बात निरखनी है। प्रत्यभिज्ञान कहते है उसे जिस ज्ञानमे अतीतका स्मरण करके और प्रत्यक्ष पदार्थका प्रत्यक्ष करके उन दोनोके सम्बन्धमे जो एकता या सदृशता आदिक जोडा जाता है वह कहलाता है प्रत्यभिज्ञान। देखा ही जा रहा है कि लोग स्व और अर्थका प्रत्यभिज्ञान करके प्रवृत्ति किया करते है और अर्थोंको प्राप्त कर लेते है, जो आकाक्षा है उसके अनुसार अपना व्यवहार करते है, इस कारण दर्शन और स्मरणके कारणसे उत्पन्न हुआ जो प्रत्यभि-ज्ञान है वह प्रमाणभूत है। हा, इसके विरुद्ध कुछ ज्ञप्ति बने वह प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नही है याने हो तो सदृशता और जान ले एकता तो वह प्रत्यभिज्ञानाभास है। हो तो एकता और जान लें सदृशता तो वह भी प्रत्यभिज्ञानाभास है। जो यथार्थ प्रत्यभिज्ञान है, जिसके द्वारा जानकर उस प्रकारकी प्रवृत्ति भी कर लेते हैं वह प्रत्यभिज्ञान है। वह प्रत्यभिज्ञान दो प्रकार का है—एकत्वप्रत्यभिज्ञान, सादृश्यप्रत्यभिज्ञान, अथवा कहना चाहिए एकत्वप्रत्यभिज्ञान और प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान। अतीतका वर्तमानके साथ सदृशता कहना, भिन्नता कहना, छोटा बडा कहना, दूर पास बताना—यह सब प्रतियोगी विधिसे परिचय है। तो वह प्रत्यभिज्ञान

दो प्रकारका है—एकत्व प्रत्यभिज्ञान और सादृश्य प्रत्यभिज्ञान, जिसका विषय अतीत और वर्तमानके बीच रहने वाला एकत्व विषय है, वह एकत्व प्रत्यभिज्ञान है और अतीत एव वर्तमान भिन्न पदार्थके साथ जो सदृशताका विषय करता है वह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है। जैसे किसी पुरुषको एक वर्ष पहले देखा था उसे आज देखते है तो यो जानना कि यह वही पुरुष है जिसको एक वर्ष पहले देखा था, या अमुक जगह देखा था, यह एकत्व प्रत्यभिज्ञान है, वह पदार्थ एक ही है, अतीतकी पर्यायमे भी, यही, वर्तमान पर्यायमे भी यही है। उस ही एकमे एकताका परिचय हो रहा है, यह है एकत्व प्रत्यभिज्ञानका विषय। सादृश्य प्रत्यभिज्ञानका विषय भिन्न पदार्थोमे होता है। जैसे पहले गायको तो देखा ही है, वनमे यदि रोझ देखा जाय तो यो परिचय हुआ ना कि यह तो गायके सदृश है। तो भिन्न दो पदार्थोमे सदृशताका प्रत्यभिज्ञान किया, तो ऐसे प्रत्यभिज्ञान दो प्रकारके होते हैं और वे सब निर्दोष हैं।

प्रत्यभिज्ञानोमे सकर व्यतिकर दोषका अनुपद्रव—प्रत्यभिज्ञानोमे सकर और व्यतिकर दोष नही होते। सकर दोषके मायने यह है कि अनेक धर्मोका एक साथ लग जाना याने वही विषय एकत्वका भी हो जाय और सादृश्यका भी हो जाय, ऐसा हो सकता हो तो सकर दोष है, पर ऐसा है ही नही। एकत्व प्रत्यभिज्ञानमे एकत्वका ही परिचय है। सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमे सादृश्यका ही परिचय है। व्यतिकर दोष उसे कहते है कि एक की दूसरेके विषयोमे गति हो जाय, याने सादृश्य प्रत्यभिज्ञानमे एकत्व प्रत्यभिज्ञान आ जाय या एकत्व प्रत्यभिज्ञान मे सादृश्य प्रत्यभिज्ञान हो जाय, ऐसा विषयोमे गमन बने अर्थात् कोई ज्ञान एक दूसरे ज्ञानके विषयमे चला जाये तो व्यतिकर दोष है। ऐसा भी नही है, इस कारणसे यह प्रत्यभिज्ञान निर्दोष है। जैसे लोग कह तो देते है कि ये वही केश हैं जो एक माह पहले काटे गए थे। किसी पुरुषने एक माह पहले केश कटाया था, अब एक माहमे बढ गए। अब फिर कटवा रहा है तो वह या और कोई सोचता है कि ये बाल तो वे ही है जो एक माह पहले काटे गए थे। ऐसा कोई प्रत्यभिज्ञान करे तो वह दोष सहित है। जो पहले काटे गए थे वे तो न जाने कहा पडे है ? कही घूरेमे हो, कही गड्ढेमे पडे हो, पता नही कहाँ पडे हो। आज जो केश कट रहे है वे नवीन हैं। यह तो कह सकते है कि जो केश कट रहे है ये एक माह पहले कटे केशोके सदृश है, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान तो बनता है, मगर इसमे कोई एकत्व प्रत्यभिज्ञान का रूप बनाये तो वह दूषित है। इसी तरह मानो कोई दो बालक एक साथ पैदा हुए, समान ही शक्लके है, समान ही आवाजके है। अब उनमे जैसे दो नाम पडे हैं मानो मोहन और सोहन। अब मोहन ही तो बालक खडा है और कहा जाय कि यह तो मोहनके सदृश है। तो थी तो एकता, मगर कह बैठे सदृशता इस कारणसे इनमे दोष आया। तो यह दोष आया, लेकिन यह सत्य प्रत्यभिज्ञान नही है। भ्रम करके लोग ऐसा कहते हैं और वह प्रत्य-

भिज्ञानाभास है। तो सादृश्य प्रत्यभिज्ञानमे और एकत्व प्रत्यभिज्ञानमे संकर व्यतिरेक दोष नही होते। परीक्षा करनेसे, पहिचान करनेसे ये सब बातें स्पष्ट विदित हो जाती है।

प्रत्यभिज्ञानके कारणभूत प्रत्यक्षज्ञान व स्मरणज्ञानसे विविक्त प्रत्यभिज्ञानका विषय पर्यायोमे व्यापी एक द्रव्य—अब यहाँ एक शङ्काकार कहता है कि भाई प्रत्यभिज्ञानमे दो बातें समझी गई थी—एक तो जो अतीत हो गया उसका स्मरण हुआ, दूसरे जो वर्तमानमे दिख रहा उसका प्रत्यक्ष हो रहा। तो अब यहाँ वर्तमानका जो प्रत्यक्षज्ञान है वह तो अतीत विषयको नही जान पाता और जो अतीत विषयका स्मरण है वह वर्तमान प्रत्यक्षके विषय का नही जानता। तो जब इन दोनोका एकपना नही बन रहा तो यह प्रमाण कैसे हो सकता ? प्रत्यक्ष ज्ञान तो कुछ विचार ही नही करता। वह तो मात्र साक्षी द्रष्टा जैसा है। तो उस प्रत्यक्ष ज्ञानका जब अतीत विषय नही है तो प्रत्यभिज्ञान बन कैसे जायगा ? ऐसी शङ्कापर समाधान यह है कि यह शङ्का नही, किन्तु खुद समाधान है। वास्तविकता यह ही है कि वर्तमान प्रत्यक्ष अतीत स्मरणके विषयको नही जानता और अतीत स्मरण वर्तमान प्रत्यक्षको नही जानता, क्योंकि ये दो ज्ञान भिन्न-भिन्न है, लेकिन ये दो ज्ञान या इनमेसे कोई ज्ञान प्रत्यभिज्ञान ज्ञान नही कहलाता। इन दो ज्ञानोसे जाने गए पदार्थमे जो जोडरूप ज्ञान है उसका नाम पत्यभिज्ञान है। जैसे एकत्व प्रत्यभिज्ञानमे अतीतकी पर्याय जाना और वर्तमान पर्याय जाना, इन दोनोके बीच व्यापक रहने वाला जो एक वस्तु है, अर्थ है, द्रव्य है वह विषय है प्रत्यभिज्ञानका। तो ये दोनो ही अर्थपर्यायें जो अतीतकी जानी गई और वर्तमानमे जानी जा रही हैं, इसमे तो भेद है, पर उन दोनोमे द्रव्यसे द्रव्यबलसे देखा जाय तो जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह एकताका साधक है। तो प्रत्यभिज्ञानका विषय न तो दृष्ट रहा, न अतीत रहा, किन्तु दृष्ट और अतीत पर्यायोमे व्यापने वाला एक द्रव्य रहा।

प्रत्यभिज्ञानका विषय निरवधि न होनेमें प्रत्यभिज्ञानावरणक्षयोपशमरूप योग्यताकी नियामकता—अब यहा शङ्काकार कहता है कि यदि अतीत और वर्तमान पर्यायमे व्यापक द्रव्य विषय है प्रत्यभिज्ञानका, तब तो सारी पर्यायोमे व्यापक एकता प्रत्यभिज्ञानसे सब जाना जाय, क्योंकि उसका फिर नियामक क्या रहा ? प्रत्यभिज्ञानका विषय है अतीत और वर्तमान पर्यायमे व्यापक द्रव्यको जानना। तो सारा ही क्यो नही जान लिया जाता ? इस शङ्काके उत्तरमे कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञान द्वारा समस्त पर्यायोमे व्यापी एकत्व यो नही जाना जा सकता कि उसका नियामक है, प्रत्यभिज्ञानावरणका क्षयोपशम जितना होता है उतना ही पर्यायोमे व्यापी एकत्व जाना जा सकता है। ऐसा क्षयोपशम होता क्यो है ? यह तो प्रत्येक जीवोके अपने-अपने भावोके कारणकी बात है। जैसी कषायोकी मदता जिसके पायी जायी जाती है उसके अनुसार क्षयोपशम होता जाता है और जिसका जैसा क्षयोपशम है उसके

अनुसार उसके ज्ञानका विषय बनता है। हा, श्रुतज्ञान द्वारा तो समस्त पर्यायोमे व्यापी एक द्रव्य जान लिया जाता है, पर प्रत्यभिज्ञान द्वारा नही जाना जाता। प्रत्यभिज्ञान द्वारा तो क्षयोपशमके अनुसार जैसी पूर्व पर्यायोकी विशेष धारणा हुई हो उसके अनुरूप यथायोग्य ही अतीत पर्यायोका स्मरण बनता है। और उन पर्यायोमे जो व्यापक एक द्रव्य है उसका प्रत्यभिज्ञान होता ही है। उसका कौन निवारण कर सकता ? क्षयोपशमके अनुसार प्रत्यभिज्ञान जीवोके बन रहा है यह बात प्रतीति सिद्ध है। ऐसी प्रतीतिया तो प्राय. हर एक कोई कर लेता है कि जो ही मैं बालक था, जो ही मैं कुमार अवस्थामे था, युवावस्थामे था वही अब मैं बूढा हो गया हू, अतीत और वर्तमान पर्यायोमे एकतावी जोड रूपसे सभीको प्रतीतियां चल रही है। इस प्रत्यभिज्ञानका कौन निवारण कर सकता है ?

सक्लेश, वेदना, भिन्नसाधनता आदि कारणोसे परोक्ष ज्ञानोका प्रतिघात—एक बात यहा सोची जा सकती है कि जब हम १०–५ वर्ष पहले की बातोका स्मरण कर लेते है, प्रत्यभिज्ञान कर लेते है तो मरण हो जानेके बाद दूसरे मिनट ही हम कुछ भी प्रत्यभिज्ञान या स्मरण नही कर पाते। इसका कारण क्या है ? कारण यह है कि मरणके समय जो वेदना होती है और अन्य भव धारण करनेके समय जो तीव्र वेदना होती है उस वेदनासे ऐसा उपयोग बदल जाता कि पूर्वस्मृति सब भग हो जाती है। जब यहा ही हम देखते हैं कि कोई थोडासा दु:ख हो गया या कोई विकल्प कर लिया तो उस कष्टमे हम पहली सब बातोको भूल जाते है। फिर तो यह एक जन्ममरणका कठिन दु:ख है। उस दु:खमे सब पूर्व स्मृतिया समाप्त हो जाती है। और फिर ये स्मृतिया नैमित्तिक हैं। नया मन मिला, नया देह मिला, अब उसके अनुकूल स्मृतिया और प्रत्यभिज्ञान चलेंगे, पर यह कला है जीवमे कि वह अतीत को भी जाने, वर्तमानको भी जाने और उनमे व्यापक एक द्रव्यको ही जाने।

योग्यतापेक्ष होनेसे प्रत्यभिज्ञानकी नियमितता—यहा कोई यह शङ्का न कर सकेगा कि जब अनुभूत पदार्थोमे स्मरण होता है और तन्मूलक प्रत्यभिज्ञा बनती है तो सारे अनुभूत पदार्थोमे क्यो नही स्मृति हो जाती और क्यो नही उससे प्रत्यभिज्ञान बन जाता ? यह शङ्का यो नही हो सकती जैसा कि समाधान पहले दिया गया उसके अनुसार समझें तो यही उत्तर आता है कि उस प्रकारकी योग्यताकी हानि है याने सारे अनुभूत पदार्थोमे प्रत्यभिज्ञान बना लें, स्मरण बना लें, ऐसी योग्यता नही है। हाँ जिन जीवोमे ऐसी जितनी विशिष्ट योग्यता है उन जीवोके वह प्रत्यभिज्ञान पाया ही जाता है। वर्तमानमे भी देखा जाता है कि विशेष समझदार लोग अधिक अतीतका स्मरण कर लेते है। तो जितना प्रत्यभिज्ञानावरणका क्षयोपशम है उसके अनुसार अनुभूत पदार्थोमे स्मरणके कारणसे प्रत्यभिज्ञान बनता है और यह प्रत्यभिज्ञान सब जीवोमे प्रतीति सिद्ध है। प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है। न कोई प्रत्य-

भिज्ञानका निवारण कर सकता और न कोई प्रमाणताका खण्डन कर सकता है।

अनुभवमात्र, दृष्टजातीय दर्शन व चतुराई आदिके स्मरणकारणत्वकी व्यभिचारिता—वास्तविकता यह है कि स्मरणका कारण अनुभवन मात्र नही है अर्थात् पदार्थका कोई पहले प्रत्यक्ष द्वारा या अनुमान आगम आदिक प्रमाणो द्वारा अनुभव कर लिया हो तो इतना अनुभव करना मात्र ही स्मरणका कारण नही होता। इसका कारण यह है कि यदि अनुभव मात्र स्मरणका कारण बन जाय तो सब जीवोको सब जगह अपने अनुभव किए हुए अर्थका स्मरण हो जाना चाहिए। हो ही जाना चाहिए, पर ऐसा तो नही है। अनुभवन तो बहुत हुए, परिचय बहुत है, मगर स्मरण किसीका ही हुआ करता है। तो इस कारण अनुभव कर लेना मात्र याने पहले किसी पदार्थको जान लेना मात्र स्मरणका कारण नही है। तो कोई यह कहे कि जैसा अनुभव किया था, जिस पदार्थको देखा था उस पदार्थकी तरहका कोई अन्य पदार्थ आज दिख जाय तो वह स्मरणका कारण है। जैसे किसीकी छतरी गुम गई और दूसरे को छतरी लिए हुए देखा तो स्मरण हो जाता है तो यो जाने हुए पदार्थके सदृश जो अन्य पदार्थ है उसका दिख जाना स्मरणका कारण बन जायगा। सो यह भी विचारयुक्त नही है, क्योकि देखे गए, जाने गए पदार्थके सदृश अन्य पदार्थोका दर्शन हो जाना यदि स्मरणका हो तो फिर सभीका क्यो नही स्मरण हो जाता ? किसीको स्मरण क्यो नही होता ? दृष्ट पदार्थसे सजातीय पदार्थ अनेक दिखते हैं, पर स्मरण नही होता, इस कारण देखे गए, परिचय किए गए पदार्थोके सजातीय पदार्थका दर्शन भी स्मरणका कारण नही है। तब कोई कहता है कि वासनाका जग जाना स्मरणका कारण होगा। तो ऐसा कहने वाले लोग यह तो बताये कि स्मरणका जागरण होता कैसे है ? यदि वे यह कहे कि सजातीय पदार्थके दिख जानेसे वासना जग जाती है तो यह कहना भी सगत नही है। कारण यह है कि सजातीय पदार्थ दिखता भी है तो भी वासना नही जगती। तो इस तरह भी तो स्मरणका कारण अनुभव मात्र नही रहा। याने जो नियमसे स्मरण पैदा कर दे इस तरहके कारणकी चर्चा चल रही है और न दृष्ट सजातीय पदार्थका दिखना रहा, न वासनाका जागरण रहा और इसी तरह कोई यदि ऐसा ख्याल करे कि किसी देखी हुई वस्तुकी इच्छा करना स्मरणका कारण होगा या कोई प्रकरण, प्रसंग अवसर पा लेना स्मरणका कारण होगा या चतुराई रज वियोग सयोग आदिक स्मरणके कारण होगे, सो ये सब भी स्मरणके अव्यभिचारी हेतु नही है। भले ही ये सब बाते निमित्त पडती है, पर ये सब उपचरित निमित्त है। वास्तविक निमित्त तो स्मरणज्ञानावरणका क्षयोपशम है।

स्वावरणक्षयोपशमरूप योग्यतासे स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदिका प्रमाणोका नियमन—अब यहाँ कोई शकाकार कहता है कि अविद्याकी वासनाका प्रलय हो जाना स्मरणका

कारण है अर्थात् जो अज्ञानकी वासना जमी हुई है वह वासना हटी कि स्मरण बन जाता है, ऐसे स्मरणका कारण रहा अविद्या वासनाका विनाश। इस शकाके उत्तरमे कहते है कि हेर-फेरके शब्दसे क्यो कहा जा रहा है अथवा कहो, कोई हानि नही, लेकिन अविद्या वासनाका विनाश होना, इसका यही अर्थ है कि स्मरणावरण प्रकृतिका क्षयोपशम होना अथवा योग्यता होना, क्योकि उस योग्यताके होनेपर, स्मरणावरणके क्षयोपशम होनेपर जो एक भली-भाँति उपयोग वाली वासना होती है बस उसीका ही नाम वासनाका जागरण है। अविद्याकी वासना का विनाश है, तब एक नाम मात्रका भेद है। चाहे कोई अविद्या वासनाका विनाश कारण कहे स्मरणका और कोई स्मरणावरणका क्षयोपशमरूप योग्यता कारण कहे स्मरणका, केवल नाम मात्रका भेद है। तब स्पष्ट बात यह बनी कि स्मरणावरणका क्षयोपशम रूप अतरग निमित्त होवे और वहिरग भी कोई निमित्त होवे। जैसे दृष्ट पदार्थके सजातीय पदार्थका दर्शन हो, अभिलाषा हो, प्रकरण आये, शोक हो, वियोग हो, सयोग हो, ऐसा कोई बहिरङ्ग कारण मिले तो वहाँ स्मरणकी उत्पत्ति होती है और उस स्मरणज्ञानसे जानकर तदनुरूप प्रवृत्ति होती है। यदि स्मरणावरणका क्षयोपशम न हो तो कभी स्मरण नही हो सकता। अगर स्मरणावरण कर्मके क्षयोपशमके न होनेपर स्मरण हो जाय तब तो कुछ कैद ही न रहेगी, समस्त दिखे, अनुभवे पदार्थोंका स्मरण हो बैठेगा अथवा जो न देखे गए पदार्थ है उनका भी स्मरण हो जायगा। इस कारण ऐसा सिद्धान्त स्वीकार करना चाहिए कि स्वय जिन-जिनका अनुभव किया जा चुका, ऐसा किन्ही अतीत पर्यायोमे से सभीका स्मरण नही होता, किन्तु जहाँ प्रयोजन प्रकरण आदिक बहिरग कारण मिले और स्मरणावरणका क्षयोपशमरूप अतरग कारण रहे वहाँ स्मरण बनता है, और ऐसे स्मरणका कारण पाकर प्रत्यभिज्ञान होता है। अत जैसे स्मरण सभी अतीतका नही होता, ऐसे ही प्रत्यभिज्ञान भी सभी अतीत पर्यायोमे व्यापक एकत्वका ज्ञान नही होता। फिर शकाकारने जो यह आपत्ति दी थी कि प्रत्यभिज्ञान अगर अतीत पर्यायोमे व्यापक द्रव्यको जानता है तो वह सभी अनन्त पर्यायोमे व्यापक द्रव्य को जान ले, ऐसा प्रसग हो जायगा। सो यह दोष न रहा। एक तो प्रत्यभिज्ञानावरणका क्षयोपशम चाहिए और प्रत्यभिज्ञान बननेका कारणभूत जो स्मरण है उसके लिए भी स्मरणावरणका क्षयोपशम चाहिए और यह होता है कुछ-कुछ रूपमे, इस कारण प्रत्यभिज्ञान नियमित ही होता है।

स्वावरणक्षयोपशमरूप योग्यताके कारण—अब यहाँ किसीको यह जिज्ञासा होती है कि वह प्रत्यभिज्ञानकी योग्यता बनती किस तरह है? तो ऐसी जिज्ञासा रखने वालोका समाधान करते है। प्रथम तो यह समझना चाहिए कि प्रत्यभिज्ञान जीवोंके कम अधिक आदिक रूपसे नाना प्रकारका होता है। सो मलसे ढकी हुई मणिके मैलका जिस तरहके

अशोमे अलगाव होता है याने मणिके मैलको कई तारतम्योसे जैसे दूर किया जाता है उस उस प्रकारसे उस मणिमे स्वच्छता देखी जाती है। मणि तो स्वय स्वच्छ है, पर मणिपर मैल आया हो तो जिस-जिस दर्जेका मैल हटे उस-उस दर्जेमे स्वच्छता मणिपर प्रकट होती है। इसी प्रकार पूर्वबद्ध कर्मोसे आत्माका ज्ञान ढका हुआ है। अब क्षयोपशमरूप योग्यता जिस-जिस प्रकारकी होती है उस-उस प्रकारमे आत्माका ज्ञान होता है। तो जैसे स्वर्णको अनेक बार शुद्ध करते है तब उसमे विशुद्धता प्रकट होती है, धीरे धीरे उसमे स्वच्छता योग्यता आती है, इसी तरह आत्मा भी जब एक अपने ज्ञानस्वरूपकी आराधनाका अभ्यास करता है तो अभ्यासके अनुरूप धीरे-धीरे स्वच्छ अवस्था प्रकट होती है। तो जो धीरे-धीरे स्वच्छताकी योग्यता बनी वह आवरण कर्मके हटनेसे बनी ना। तो जैसे-जैसे जीवोका ज्ञान पौरुष, विशुद्ध पौरुष होता है वैसे ही वैसे क्षयोपशम योग्यता बढती है, बनती है और उसके अनुरूप परिज्ञान होता है। प्रत्यभिज्ञानावरणका दूर होना जैसे नाना प्रकारका है तो उसकी विविधनासे ज्ञानके स्वरूपकी अभिव्यक्ति भी नाना प्रकारकी बनती है। जैसे मणिके मैलका दूरीकरण नाना प्रकारका है तो मणिकी स्वच्छता की अभिव्यक्ति भी नाना प्रकारकी है। और वह मैल हटा उसका भी कारण है। याने ज्ञानावरणका उपशम क्षयोपशम आदिक जो स्थितियाँ बनती है उनका कारण उसके योग्य वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव स्वरूप पदार्थ है, जिसके साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध हो वह सब उसका कारण है। तो इस सम्बन्धमे और विशेष क्या कहना ? प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है और यह बात सबकी प्रतीतिसे सिद्ध है और वह प्रत्यभिज्ञान, एकत्वप्रत्यभिज्ञान और सादृश्य प्रत्यभिज्ञान—इस तरह दो प्रकारका कहा गया है।

संवादका अभाव बताकर प्रत्यभिज्ञानको अप्रमाण बतानेकी एक आशंका—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि द्रव्यके भूत और वर्तमान पर्यायमे जैसा एकत्वका परिचय बनाया वह या एक समान दो पदार्थोमे पर्यायोमे सादृश्यका परिचय वह—ये दोनो ही प्रतीतियाँ अर्थात् एकत्वप्रत्यभिज्ञान और सादृश्यप्रत्यभिज्ञान वास्तविक अर्थको विषय नही करते, क्योकि उन प्रतीतियोमे सम्वाद नही है। जिस-जिस प्रतीतिमे सम्वाद नही होता वे सब प्रतीतिया अवास्तविक होती है। जैसे कोई ऐसी प्रतीति करे कि आकाशके केशोकी बहुत अच्छी चोटी गुँथी है या आकाशके फूलोकी बहुत सुन्दर माला है तो उसकी इस प्रतीतिमे सम्वाद तो नही है, अर्थात् किसी प्रमाण द्वारा यह सिद्ध नही होता, तो ऐसे ही एकत्वप्रत्यभिज्ञान और सादृश्यप्रत्यभिज्ञानका जो विषय माना है उस विषयका परिचय बताना और उससे एकत्वप्रत्यभिज्ञान या सादृश्यप्रत्यभिज्ञानकी सिद्धि बनाना यह तो जबरदस्तीकी कल्पना है। उन ज्ञानोका विषयभूत पदार्थ वास्तविक है ही नही। अतएव हम सादृश्यप्रत्य-

भिज्ञान और एकत्वप्रत्यभिज्ञानका निराकरण तो नही करते, क्योकि ऐसी प्रतीतिया लोगो को बन रही है, पर तथ्य यही कहते है कि ये प्रतीतिया अनर्थविषयक हैं, याने इन प्रतीतियो का विषय अर्थ नही है, क्योकि उनमे सम्वादका अभाव है। आकाशके फूलोकी मालाका परिचय बताना, इसमे सम्वाद तो नही है, प्रमाणसिद्ध नही है इसलिए अवस्तु है, इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञानका विषय भी अवस्तु है।

संवादका अर्थ प्रमाणान्तरसंगम माननेपर शंकाकाराभिमत प्रमाणके उच्छेदका प्रसंग बताते हुए उक्त शङ्काका समाधान—अब उक्त शङ्काके समाधानमे कहते है कि ये शकाकार यह बतायें कि सम्वाद नाम किसका है, जिस सम्वादके न होनेमे प्रत्यभिज्ञानको अप्रमाण बताया जा रहा। शकाकार यदि यह कहे कि सम्वाद नाम है अन्य प्रमाणका सगम होना। जो जाना गया है उसकी सिद्धि अन्य प्रमाणमे हो ले वह तो है अर्थ विषय सही और जिस प्रतीतिकी सिद्धि अन्य प्रमाणसे नही होती वह है अवस्तु। तो इस तरह प्रमाणान्तरके सगम होनेका नाम यदि सम्वाद कहा जाता है तो शकाकारका प्रत्यक्ष प्रमाण नही सिद्ध हो सकता। फिर प्रत्यक्ष भी प्रमाण न रहेगा, क्योंकि इन क्षणिकवादियोने प्रत्यक्षका विषय कहा है स्वलक्षण। सो स्वलक्षणके समयमे अनुमानकी प्रवृत्ति तो होती ही नही, अनुमान तो बहुत समय बाद बनता है, पर उस ही समयमे प्रत्यक्ष प्रमाण भी नही बन पाता, क्योकि जब पदार्थ निष्पन्न हो तब तो प्रत्यक्ष न जाने तो निष्पन्न हुए बाद पदार्थ रहता नही। तो लो प्रत्यक्षने अवस्तु जाना और साथ ही उस प्रत्यक्षके जाने हुए विषयमे अन्य प्रमाणका संगम न हो सका। इस कारण प्रमाणान्तरके सगमको सम्वाद कहनेपर प्रत्यक्षमे भी सम्वाद सिद्ध नही हो पाता, क्योकि क्षणिकवादियोके सिद्धान्तके अनुसार अनुमान अवस्तुभूत सामान्यमे लगता है, और अनुमान स्वलक्षणको छू भी नही सकता, तब प्रत्यक्ष प्रमाण सवादी नही रह सकता।

प्रत्यभिज्ञानके विषयभूत अर्थमे प्रमाणान्तरसगमरूप सवादके अभावकी शका करने वालोके प्रत्यक्षमे प्रत्यक्षके विषयभूत अर्थमे अनुमानकी भाति प्रत्यक्षान्तरके संगमका अभाव होनेसे अप्रमाणताका प्रसग—शकाकारका यह पक्ष था कि प्रत्यभिज्ञान पदार्थको विषय नही करता, क्योकि उसमे सम्वाद नही है, इस कारण प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नही है। तो इसपर सम्वादका अर्थ पूछा गया, उस विषयमे शकाकारका यह मतव्य आया कि प्रत्यभिज्ञानके विषयमे अन्य प्रमाणोका सगम नही है अर्थात् उस विषयको अन्य प्रमाणने नही जाना। जैसे कि एक बातको कोई पुरुष देखकर आया, अब वह सच है यह बात तब ही समझी जायगी जब कि उसी वस्तुको दूसरा भी देख ले। तो इसी तरह इस शकाकारका सिद्धान्त है कि प्रत्यभिज्ञानने जो विषय किया उसको अगर दूसरा प्रमाण भी समझ सके तब तो सम्वाद कहा जायगा। सो ऐसा कोई अन्य प्रमाणका सगम हो नही रहा, इस कारण प्रत्यभिज्ञान सम्वाद-

रहित होनेसे अप्रमाण है। उसके उत्तरमे संक्षेपसे कुछ बात बता दी गई कि यदि अन्य प्रमाण के संगम होनेको सम्वाद कहते हो और उस सम्वादसे प्रमाणता मानते हो तो प्रत्यक्षके विषय मे अनुमान प्रमाण भी नही लगता। तो प्रत्यक्ष भी सम्वादरहित हो गया और अप्रमाण हो गया।

इस प्रसगके निवारण करनेके लिए अब शकाकार यदि यह कहे कि प्रमाणके विषय-भूत स्वलक्षणमे अन्य प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति हो जायगी और इस तरह सम्वाद बन जायगा, सो यह कहना भी युक्त नही है, क्योकि वस्तुका ही नाम स्वलक्षण है और वस्तु एक क्षणके लिए होती है, दूसरे क्षणमे पदार्थ रहता नही, ऐसा इन शंकाकार क्षणिकवादियोका सिद्धान्त है। तो अब यही बहुत गनीमत है कि स्वलक्षणने एक प्रत्यक्ष प्रमाणको उत्पन्न कर लिया, हालाकि उसमे भी समयभेद है। चलो इसपर भी दृष्टि न दे। और मान लो कि वस्तु जिस क्षण उत्पन्न हुई है उस वस्तुने एक प्रत्यक्षको उत्पन्न कर दिया। अब वह वस्तु एक प्रत्यक्ष प्रमाणको उत्पन्न करके नष्ट हो गई। अब जब वस्तु रही ही नही तो वह दूसरे प्रत्यक्षको कैसे उत्पन्न करेगी ? तो दूसरा प्रत्यक्ष बन नही सकता उस वस्तुके बारेमे, तो प्रमाणान्तरका जब सगम न रहा तो प्रत्यक्ष प्रमाण भी सम्वादरहित बन गया। और दूसरी बात यह है कि किसी प्रकार जबरदस्ती पहले प्रत्यक्षमे सम्वाद भी मानो तो उस प्रत्यक्षका सम्वादपना तो दूसरे प्रत्यक्षकी प्रवृत्तिसे माना जायगा। जैसे कि अभी कह ही रहे है कि प्रत्यक्षके विषय को दूसरा प्रत्यक्ष जानता है, इसलिए सम्वादी है तो इतना तो यहाँ सिद्ध हुआ कि पहले प्रत्यक्षका सम्वादपना दूसरे प्रत्यक्षकी प्रवृत्तिसे ही माना गया है। तो अब यह बतलाओ कि दूसरे प्रत्यक्षका सम्वादपना किससे माना गया ? तीसरे प्रत्यक्षसे और उस तीसरे प्रत्यक्षका सम्वादपना चौथेसे। तो इस तरह सम्वादकी अनवस्था हो जायगी। तो यह कहना कि प्रत्य-भिज्ञानमे प्रमाणान्तरका सगम नही है, इसलिए सम्वादरहित है और अप्रमाण है। तो यो तो प्रत्यक्षके विषयमे भी प्रमाणान्तरका सगम नही है, इस कारण प्रत्यक्ष भी सम्वादरहित हो जायगा, अप्रमाण हो जायगा। इस तरह अनेक उलझनोमे फसनेके फद सोचनेके बजाय सीधा ही यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है और उससे लोगोको अपने प्रयो-जनकी सिद्धि बनती है। अब शकाकार स्वय ही ऐसा समझ ले कि जैसे वह प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे प्राप्य स्वलक्षणमे प्रवृत्ति मानता है अर्थात् प्रत्यक्षसे जाना, यह अमुक चीज है, उसको प्राप्त कर लेता है। अनुमानसे समझा कि यहा यह चीज है, उसको प्राप्त कर लेता है। तो जैसे प्रत्यक्ष और अनुमानसे प्राप्य अर्थकी प्रवृत्ति बन जाती है ऐसे ही प्रत्यभिज्ञान द्वारा भी जानकर उसकी प्रवृत्ति बन जाती है। फिर कौनसी कमी है कि प्रत्य-भिज्ञान प्रमाण न कहलायगा ?

प्राप्य व आलंबन भिन्न-भिन्न होनेसे प्रत्यभिज्ञानके अप्रामाण्यकी शङ्काकार द्वारा आशंका—यहा शङ्काकार कहता है कि देखिये प्राप्य और आलम्बन ये दो चीजें होती है। जिस पदार्थसे ज्ञान बना है वह पदार्थ नो आलम्बन कहलाता है, और ज्ञान बने बाद जिस पदार्थकी प्राप्ति कर ली जाती है वह प्राप्य कहलाता है। तो हमारे प्रत्यक्षमे तो प्राप्य और आलम्बन दोनो ही बातें एक है, अर्थात् जिस पदार्थसे ज्ञान उत्पन्न हुआ है, ज्ञानने उस ही पदार्थको पाया है, परन्तु प्रत्यभिज्ञानमे आलम्बन किया गया पदार्थ तो अन्य है और प्राप्त किया गया पदार्थ भन्न है। किस तरह? प्रत्यभिज्ञानसे तो प्राप्त होता है पदार्थ स्वलक्षरण वस्तु और प्रत्यभिज्ञान बनता है सामान्यके आलम्बनसे। स्वय ही जैनोने कहा था कि प्रत्यभिज्ञानका विषय पूर्व और वर्तमान पर्यायोमे व्यापक द्रव्य है तो वह द्रव्य तो सामान्य रहा ना। जो विषयभूत पदार्थ है वह आलम्बन कहलाता है। तो सामान्यके आलम्वनसे प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है। प्रत्यभिज्ञान बन तो गया, पर इस प्रत्यभिज्ञानने पाया किसे? प्रवृत्ति कहा हुई? सामान्यमे नही हुई, किन्तु वस्तुमे हुई, स्वलक्षरणमे हुई। तो प्रत्यभिज्ञानका आलबन तो है अन्य और प्राप्य है अन्य, इस कारणसे प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नही है। जिसका आलम्बन और प्राप्य एक ही पदार्थ हो वह माना जाता है प्रमाण। जैसे कि विपरीत ज्ञानमे क्या होता है? आलम्बन है अन्य, प्राप्य है अन्य। जैसे सीपको चादी जान लिया तो आलम्बन तो है चादी, ज्ञानका जो विषय है सो आलम्बन है, मगर पास जाकर पायगा क्या? सीप। इसीलिए तो वह मिथ्याज्ञान कहलाता है कि आलम्बन तो कुछ है और पाया जाता है कुछ। तो जहा आलम्बन और प्राप्य ये दोनो भिन्न-भिन्न पदार्थ हो वह ज्ञान प्रमाण नही कहला सकता। यही बात प्रत्यभिज्ञानमे पायी जा रही है कि प्रत्यभिज्ञानका आलम्बन तो है पदार्थ सामान्य और प्रत्यभिज्ञानसे जानकर पाया गया है कोई वस्तु स्वलक्षरण। इस कारण प्रत्यक्षका दृष्टान्त देकर प्रत्यभिज्ञानको प्रमाण कहवा देना, यह युक्त नही है।

आलबन व प्राप्य भिन्न-भिन्न होनेसे संवादका अभाव माननेपर शकाकारके प्रमाणोमे भी अप्रामाण्यका प्रसग बताते हुए उक्त शङ्काका समाधान—अब उक्त शङ्काके समाधानमे कहते है कि शङ्काकारका यह कहना कि जिसका आलम्बन अन्य हो, प्राप्य अन्य हो वह प्रमाण नही कहलाता। तो वही बात तो प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणमे भी है। वह किस तरह, सो सुनो। क्षणिकवादियोका प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है वस्तुसे, तो वस्तु जिस क्षणमे है उस क्षणमे भी मान लो, वस्तुने प्रत्यक्षको पैदा किया और प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न हुआ कि उसे उत्पन्न करता हुआ ही नष्ट हो गया। अब यह प्रवृत्ति अगर करेगा, समझेगा, प्रतिभासेगा तो किसी अन्यको, क्योकि आलम्बन तो मिट गया। तो यहाँ भी आलम्बन और प्राप्य भिन्न हो गया। कोई भी पदार्थ जाना जायगा तो जानकर उस पदार्थको कोई शीघ्रतासे भी पकडने चले तो

वह पदार्थ हाथ नही आ सकता, जो कि ज्ञानका आलम्बन बना था। तो देखो प्रत्यक्ष प्रमाण मे भी आलम्बन अन्य रहा, प्राप्य अन्य रहा, और अनुमानमे तो स्पष्ट ही बात है। क्षणिकवादियोने अनुमानका विषय सामान्य माना तो सामान्यसे तो अनुमान बना, और अनुमान बनाकर पायगा क्या वह ? कोई विशेष चीज। तो लो यहा भी आलम्बन अन्य रहा, प्राप्य अन्य रहा तो यह कोई युक्ति नही है कि जिसका आलम्बन अन्य हो और प्राप्य अन्य हो वह प्रमाण नही, ऐसी हठ करनेपर तो प्रत्यक्ष और अनुमान भी अप्रमाण हो जायगा। इस तरह सीधे-सादे यह ही बात मान लेनी चाहिए कि प्रत्यभिज्ञान द्वारा यदि वही आलम्बनीय पदार्थ न भी माना जाय तो भी प्रत्यक्षके समान प्रत्यभिज्ञानमे भी सम्वाद सुव्यवस्थित है।

अब यहाँ शकाकार कहता है कि प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणके लिये तो आलम्बन और प्राप्यमे एकत्वका आरोप हो जाता है याने जो चीज ग्रहण की गई याने जानी गई और उसके बाद जो चीज हाथमे आयी उन दोनोमे एकपनेका अध्यारोप हो जाता है। इस तरह यह समझना चाहिए कि वहाँ पाया भी वही गया, जिसका कि आलम्बन किया गया था। तो इसके समाधानमे भी यही बात है, प्रत्यभिज्ञानमे भी यही कहना चाहिए कि प्रत्यभिज्ञान द्वारा जो गृहीत हो याने प्रत्यभिज्ञानका जो आलम्बन है उसमे और प्रत्यभिज्ञान द्वारा जो प्राप्य है उसमे एकत्वका अध्यारोप हो जाता है। अत वहाँ भी यही समझना चाहिए कि प्रत्यभिज्ञानका जो आलम्बन था वही प्राप्त किया गया। इससे प्रत्यक्ष प्रमाणकी तरह प्रत्यभिज्ञानको भी प्रमाण मान लेना चाहिए।

प्रत्यभिज्ञानकी अनुमानप्रमाणसे भिन्न स्वतंत्र प्रमाणरूपता—अब शकाकार कहता है कि भाई प्रत्यभिज्ञानका काम तो चलता है, हम उसका निषेध नही करते, पर प्रत्यभिज्ञान कोई अलग प्रमाण नही है, वह अनुमानस्वरूप ही है। अनुमानको छोडकर प्रत्यभिज्ञान कोई स्वतत्र प्रमाण नही है। इस शकाके उत्तरमे कहते हैं कि यदि ऐसी हठ की जाय कि प्रत्यभिज्ञान स्वतत्र प्रमाण नही है, वह अनुमानरूप ही है तो इस हठके होनेपर अनुमान प्रमाणकी उत्पत्ति हो नही हो सकती, क्योकि अनुमान प्रमाणकी उत्पत्ति होती है तब जब प्रत्यभिज्ञान द्वारा यह निश्चय हो जाता कि यह वही हेतु है जिसका हमे निर्णय है या जिसकी व्याप्ति हमने परखी है या यह उसके समान हेतु है। जब प्रत्यभिज्ञान द्वारा ऐसा समझ लेते है तब अनुमानकी प्रवृत्ति बनती है, व्यवहार बनता है, अनुमान प्रमाण बनता है। अब प्रत्यभिज्ञानको तो स्वतत्र प्रमाण माना नही, उसे मान लिया अनुमानरूप ही, तो भला जैसे अनुमानरूप प्रत्यभिज्ञानसे हेतुका निश्चय होनेपर अनुमान बनता था, अब उस प्रत्यभिज्ञानरूप अनुमानका भी हेतु बनाओ। उसमे भी प्रत्यभिज्ञान मिलेगा और उसे भी अनुमान मानेंगे, फिर उसका हेतु बनाओ। इस तरह एक हेतुके निर्णयके लिए ही अनेकानेक अनुमान बनाने पडेगे। तो यो

उन्हीकी अनवस्था हो जायगी। फिर प्रथम अनुमानकी सिद्धि हो कैसे हो सकती है ? तो हेतुका प्रत्यभिज्ञान हुए बिना हेतुजन्य अनुमान ज्ञान बन नही पाता, इससे प्रत्यभिज्ञान मानना ही पड़ेगा और हठ करे तो अनुमानोकी अनवस्था हो जायगी। यदि इन सब दोषोके दूर करनेके लिए हेतुका विचार करने वाला प्रत्यभिज्ञान स्वतन्त्र प्रमाण मान लिया जायगा तो बस ठीक है, मानना ही चाहिए, और तब सब काम बनने लगेंगे। तो इस तरह प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण मानना युक्तिसगत ही है। तब दृश्य और प्राप्यमे एकत्वका अध्यारोप करके प्रमाणान्तरका संगम बनाना, उसे सम्वादी स्वीकार करना, जैसे प्रत्यक्ष और अनुमानमे बताया जाता है, इसी तरह प्रत्यभिज्ञानमे भी हो जाता है अन्यथा आपका सम्वाद प्रत्यक्ष और अनुमानमे भी घटित न हो सकेगा।

अर्थक्रियास्थिति व परितोषकी सुसंभवता होनेसे प्रत्यभिज्ञानमे अप्रामाण्यकी शङ्का करनेकी निर्मूलता—अब शङ्काकार कहता है कि हम तो सम्वाद इसको मानेंगे कि जो अर्थक्रियामे स्थित करा दे। जहाँ अर्थक्रिया नही बन सकती, वह प्रमाण नही कहलाता। प्रत्यभिज्ञानमे अर्थक्रिया सम्भव नही है इसलिए प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नही है। इस शङ्काके उत्तरमे सक्षेपसे तो इतना ही समझ लेना चाहिए कि इस तरहकी अर्थक्रिया करनेमे स्थित कराना तो शङ्काकाराभिमत प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणोसे भी सम्भव नही। जहाँ वस्तुका समय एक क्षणका ही माना गया तो प्रथम तो उससे कोई प्रमाण ज्ञान बने यह ही असम्भव है और बन जाय तो अब उसमे अर्थक्रिया कराये, यह तो बिल्कुल असम्भव है। तब अर्थक्रियामे स्थित करा देनेको माननेकी बात स्वय क्षणिकवादियोके माने गए प्रमाणोमे भी नही बनता है और फिर विशेषरूपसे जब विचार करेंगे तो यह सिद्ध होगा कि जैसे सर्वथा नित्य मानने वालोमे अर्थक्रिया नही बन पाती, इसी तरह सर्वथा क्षणिक मानने वालोके यहाँ भी अर्थक्रिया नही बन सकती। यदि शङ्काकार यह कहे कि पदार्थको जो जानने वाले पुरुष है उनको सतोष हो जाय, बस सम्वाद हो गया। तो जानने वाले पुरुषको सन्तोष हो जानेसे अर्थक्रियामे स्थित हो जानेकी पहिचान है और उसे सम्वाद माना गया है और ऐसा सम्वाद प्रमाणपनेकी व्यवस्था करता है, याने जानने वालेको सतोष हो जाना ही सम्वाद है। तो इसका उत्तर बिल्कुल ही स्पष्ट है कि प्रत्यभिज्ञानसे पुरुष जो कुछ जानता है उसके भी सम्वाद बन जाता है। प्रत्यभिज्ञानसे प्रवृत्ति करने वाले पुरुषको अर्थक्रियामे स्थित होनेसे सतोष ही मिलता है। सतोषका अभाव नही है, बल्कि प्रत्यक्षसे जानकर लोग जिस तरह सतोष करते हैं इस तरहसे भी अधिक सतोष प्रत्यभिज्ञानसे पदार्थको जानने वाले कर लेते है। इस कारण सम्वाद बराबर प्रत्यभिज्ञानमे है और इस कारण उसे प्रमाण मानना ही चाहिए।

बाधका भाववैधुर्यकी असिद्धि होनेसे प्रत्यभिज्ञानमें अप्रमाणताका अप्रसंग—अब शङ्काकार कहता है कि प्रत्यभिज्ञान प्रमाण इस कारण नही है कि उसमे सम्वादका अभाव है और वहाँ सम्वाद कौनसा नही है ? बाधकका अभावरूप सम्वाद नही है । जिस-जिस ज्ञान मे उस ज्ञानका बाधक कोई प्रमाण नही होता वही ज्ञान सम्वादी कहलाता है, पर प्रत्यभिज्ञानमे बाधकका अभावरूप सम्वाद नही है, अतएव प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नही है । यह शङ्का इस कारण व्यर्थ है कि यह बाधका भाववैधुर्य हेतु सिद्ध नही है । प्रत्यभिज्ञानमे बाधकका अभावरूप सम्वाद नही, सो बराबर सब लोगोकी दृष्टिमे यह प्रसिद्ध है कि प्रत्यभिज्ञानमे कोई बाधा नही आती । जैसे कि प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणोमे बाधक प्रमाणका अभाव है और इसी लिए वह सम्वादी कहलाता है इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान प्रमाणसे भी कोई बाधक प्रमाण नही है । विशेष रूपमे जानना चाहते हो तो अलग-अलग भी घटा लीजिए । प्रत्यक्ष प्रमाण तो प्रत्यभिज्ञानका कभी बाधक हो ही नही सकता, क्योकि प्रत्यभिज्ञानने जिस विषयको जाना उस विषयमे प्रत्यक्ष प्रमाणकी प्रवृत्ति नही है । प्रत्यभिज्ञान जानता है अतीत और वर्तमानमे व्यापक एक द्रव्यको । तो वह विषय प्रत्यक्षका है ही नही, प्रत्यक्ष तो वर्तमान पदार्थको ही जानता है । जो साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है और अन्य दार्शनिकोका प्रत्यक्ष है वह पूर्वोत्तर पर्यायव्यापी द्रव्यको नही जानता । तो जो जिसका विषय ही नही, वह उसमे न साधक हो सकता न बाधक हो सकता ।

जैसे कि परलोक है, इसकी सिद्धि अनुमानसे होनी है । अब कोई कहे कि परलोकके बारेमे अन्य प्रमाण भी आना चाहिए तब तो अनुमान सम्वादक बनेगा, सही बनेगा । सो परलोकके बारेमे प्रत्यक्षकी गति ही नही है । तो ऐसा कहना कि प्रत्यभिज्ञानका कोई प्रमाण बाधक है, यह अनुचित है, क्योकि सब प्रमाणोके अपने-अपने भिन्न-भिन्न विषय हैं । तो जैसे परलोककी सिद्धि अनुमानसे होती है तो उस अनुमानका बाधक या परलोककी जानकारीका बाधक प्रत्यक्ष प्रमाण क्यो नही है कि वह उसका विषय नही । तो जो जिस विषयमे स्वय प्रवृत्ति कर सकता है वही तो उस विषयमे साधक अथवा बाधक बन सकेगा, अन्यके विषयमे नही । जैसे कोई ज्योतिषशास्त्रका जानकार है, कोई व्याकरणका जानकार है । अब ज्योतिष के विषयकी सिद्धिमे वैयाकरण न साधक हो सकता, न बाधक । व्याकरणकी सिद्धिमे ज्योतिषी न साधक होता, न बाधक, तो ऐसे ही प्रत्यभिज्ञानके विषयमे प्रत्यक्ष न साधक हो सकता, न बाधक हो सकता । तो बाधकका अभाव प्रत्यभिज्ञानमे भी है, इस कारण प्रत्यभिज्ञान सम्वादी है और प्रमाण है ।

प्रत्यभिज्ञानके विषयमें अनुपलब्धिरूप बाधककी सिद्धि न होनेसे अप्रमाणताके पक्षकी क्षति—अब यहाँ शकाकार कहता है कि देखिये—प्रत्यभिज्ञानके विषयमे बाधा देने वाली

अनुपलब्धि तो है। अनुपलब्धि कहते हैं न पाये जानेको। तो ऐसी अनुपलब्धिको बाधक-प्रमाण खडा करने वाले शकाकार यह बतायें कि अनुपलब्धि दो प्रकारकी होती है—(१) अदृश्यानुपलब्धि और (२) दृश्यानुपलब्धि। तो अदृश्यानुपलब्धि तो प्रत्यभिज्ञानमे बाधक हो ही नही सकती, क्योकि अदृश्य पदार्थोंमे अनुपलब्धि है तो इससे कही उसका अस्तित्व नही खत्म हो जाता। हाँ प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण उस अदृश्यको पा नही सकते। परमाणु पिशाच आदिक अदृश्य हैं, और साव्यवहारिक प्रत्यक्ष अनुमान द्वारा उनकी अनुपलब्धि हो रही है ? यहाँ कोई उन्हे देख तो नही पा रहा, तो क्या इस अदृश्यानुपलब्धि मात्रसे परमाणुके अस्तित्वका अभाव हो जायगा ? नही होता। तो अदृश्यानुपलब्धि प्रत्यभिज्ञानमे बाधक नही है। अब दृश्यानुपलब्धिकी बात देखें। इसका अर्थ है कि देखने योग्य है और उसकी अनुपलब्धि है, सो यह हेतु तो सिद्ध नही है, क्योकि प्रत्यभिज्ञानके विषयमे सभी लोगोके अनुभव भी होते और वह विषय दृष्ट भी होता है। सभी जगह, सभी समय प्रत्यभिज्ञान द्वारा जानने योग्य वस्तुका, उसकी योग्यता रखने वाले लोग बराबर ज्ञान कर रहे हैं। तो इस तरह अनुपलब्धि बाधक नही है।

प्रत्यभिज्ञानका विषय क्षणिक व विलक्षण न होनेसे असत् विषय बताते हुए अर्थक्रियाका अभाव बताकर प्रत्यभिज्ञानको अप्रमाण बतानेकी शंकाकारकी शङ्का—अब शङ्काकार कहता है कि देखिये—प्रत्यभिज्ञानके सत्त्वका प्रतिघात है वह किस तरह ? पहले तो वस्तुके स्वरूपका निर्णय बनायें। जो सत् हैं वे सब क्षणिक होते है सत् होनेसे, और साथ ही साथ वे सब परस्परमे विसदृश ही होते है। तो जो क्षणिक है, विलक्षण है वही तो सत् हो सकता है। जो नित्य है अथवा सदृश है वह कुछ भी सत् नही है। तो क्षणिक और विलक्षण के अतिरिक्त किसीका भी सत्त्व नही होता। प्रत्यभिज्ञानका विषय क्षणिक नही, विलक्षण नही। तब वहाँ सत्त्वका ही अभाव है, प्रतिघात है और साथ ही यह भी समझें कि जब प्रत्यभिज्ञानका विषय सद्भूत नही है तो वहाँ अर्थक्रिया भी नही होती, क्योकि अर्थक्रियासे व्याप्त सत् हुआ करता है।

जो सत् है उसमे अर्थक्रिया है, जिसमे अर्थक्रिया है वह सत् है। तो जो नित्य पदार्थ है या सदृश पदार्थ है, उनमे अर्थक्रिया नही होती। इस कारण भी परमार्थतया प्रत्यभिज्ञान और उसके विषयका सत्त्व नष्ट हो जाता है मायने सत् नही है। किस प्रकार ? नित्य पदार्थ मे या सदृश पदार्थमे अर्थक्रिया नही होती। इस तरह यदि नित्यमे अर्थक्रिया होती तो बताओ क्रमसे होती या युगपद होती ? नित्यमे क्रमसे अर्थक्रिया कैसी ? अगर क्रमसे अर्थक्रिया है तो नित्य न रहा और एक साथ कौनसी अर्थक्रिया है ? यदि एक साथ अर्थक्रिया हो तो अनन्तो कार्य एकमे एक साथ हो जावें। तो जब नित्य पदार्थमे और सदृश पदार्थमे

अर्थक्रिया नही होती तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसका सत्त्व भी नही है । जो अशसे रहित है, क्षणिक है, विलक्षण है, ऐसे पदार्थको (जिसका कि स्व लक्षण है, वास्तविक है तो जो परमार्थ पदार्थ है उसको) किन्ही भी कारणोकी अपेक्षा नही होती। तो इस तरह देख लीजिए—व्यापककी अनुपलब्धि हो रही है । प्रत्यभिज्ञानका विषय तो व्यापक ही बताया जा रहा । पहली पर्याय और अगली पर्याय, इन दोनोका आधारभूत दोनोमे व्यापक एक द्रव्य प्रत्यभिज्ञानका विषय कहा जा रहा, मगर ऐसी व्यापककी उपलब्धि है ही नही । तो इस अनुपलब्धिके द्वारा प्रत्यभिज्ञानकी प्रमाणता सिद्ध नही होती ।

प्रत्यभिज्ञान प्रमाणको मिटानेके लिये बनाये जाने वाले अनुमानकी प्रत्यभिज्ञान बिना अनुत्पत्ति बताते हुए उक्त शंकाका समाधान—उक्त आशकाके समाधानमे आचार्य कहते है कि शङ्काकारका आखिर आशय यही तो है कि वस्तुभूत पदार्थका सत्त्व अर्थक्रिया-युक्त होता है । सो यह शङ्का की जा रही है कि अर्थक्रिया नित्य पदार्थमे नही हो पाती । तो जब अर्थक्रिया नित्य पदार्थमे नही है तो उसका व्याप्त सत्त्व वह भी सिद्ध नही होता । इस तरह व्यापकानुपलब्धिसे अर्थात् अर्थक्रियाकी अनुपलब्धिसे व्याप्य सत्त्वकी असिद्धि बता रहे है । वे यह सोचें कि उन शङ्काकारोका पदार्थ है क्षणिक तो सारे पदार्थ क्षणिक माने जा रहे है, वे अगले समयमे तो रहते ही नही । क्षण क्षणमे ही नये-नये उत्पन्न होते हैं । कोई किसीके सदृश नही । जब स्थिर हो तो सदृशताकी बात सोचे । ऐसा जो सिद्धान्त माना है वह सब अपने मनकी कल्पनामात्र है । वस्तुतः देखा जाय तो क्षणिकपना और सत्त्व मे व्याप्ति ही सिद्ध नही होती, क्योकि व्याप्ति तो तब बना करती है जब सारे देश और सारे कालमे साध्यसाधनका उपसहार कर दृष्टि बनायी जाय । और यदि सारे देशमे दृष्टि बनायी जाती तो सदृशता आती । सारे कालोमे व्याप्ति बनाते है तो अनित्यता आती है । तो ये क्षणिकवादी अनुमान द्वारा न क्षणिकपनेको सिद्ध कर सकते और न विलक्षणताको सिद्ध कर सकते । तब प्रत्यभिज्ञानमे यह अनुमान बाधक हो ही कैसे सकता ? अनुमान भी तब बनता जब प्रत्यभिज्ञान मानें । सो अनुमानको बाधक बतायें तो उन्हे प्रत्यभिज्ञान पहले ही मानना पडेगा ।

सत्त्व हेतुसे प्रत्यभिज्ञानके विषयभूत नित्य एवं एकत्वकी प्रसिद्धि—यहा क्षणिकवादी यह कह रहे है कि जो भी सत् है वह सब क्षणिक होता है, सत् होनेसे । तो इस अनुमान की वे व्याप्ति इस तरहसे ही तो लगाते हैं कि नित्य पदार्थोके अभाव होनेपर सत्त्वका निश्चय हो रहा है । तो इस व्याप्तिमे उनको व्यतिरेक व्याप्तिका बल मिला । सो प्रथम तो यह बात है कि शकाकार क्षणिकवादी व्यतिरेकी हेतुसे अनुमानकी सिद्धि नही मानते, लेकिन इसे भी ओझल करे और मानो व्यतिरेकी हेतुसे अनुमान मान लिया तो ऐसी दशामे यही तो कहा जा

सकता है कि यह जीवित शरीर जो कि रोगी है, शय्यापर पडा हुआ है, यह जीवित शरीर आत्मारहित नही है, क्योकि श्वास नाडीका चलना, उष्णता बोलचालसे सहित है। यहाँ भी व्यतिरेकी हेतुसे काम बनता है। व्यतिरेक व्याप्ति बनती है कि जो आत्मा सहित नही है वह प्राण आदिकसे युक्त नही है, जैसे कि डला पत्थर आदिक। तो यहाँ एक आत्माकी सिद्धि हो गई ना, और व्यतिरेकी हेतुवोसे अनुमान हुआ। क्षणिकवादियोने आत्मसत्त्व माना नही तो ऐसे अनुमान प्रयोगसे स्वय क्षणिकवादियोके सिद्धान्तका विघात हो जाता है। अतः प्रत्यभिज्ञानकी प्रमाणताका खण्डन करनेके लिए अनर्गल प्रयास, प्रयोग करना स्वय शकाकारके सिद्धान्तके विघातके लिए है।

अब इस प्रसगमे दूसरी बात समझिये—जो यह कहा गया था कि नित्य पदार्थमे अर्थक्रिया नही होती और प्रत्यभिज्ञानका विषय बनाया है नित्य पदार्थ और वह है अर्थक्रियाशून्य। तो प्रत्यभिज्ञानका विषय अर्थ न रहा, अनर्थ हो गया, इसलिए अप्रमाण है। तो ऐसा कहनेके बजाय यह ही कहना चाहिए था कि क्षणिक पदार्थमे अर्थक्रिया नही बनती, क्योकि जो क्षणिक है, एक क्षण हुआ, अगले क्षण रहना ही नही है तो उसमे क्रमसे अर्थक्रिया भी नही बनती और एक साथ भी अर्थक्रिया नही बनती है। जो निरश है, निरात्मक है उसमे अर्थक्रियाका क्या सम्भवपना है ? तो जो शकाकारने अनुमान बनाया था कि सब क्षणिक है सत्त्व होनेसे तो इस सत्त्वकी व्याप्ति तो नित्यके साथ लगती है, सब नित्य है सत् होनेसे, तो इस प्रकार अर्थक्रिया क्षणिकमे न हो सकी तो प्रत्यभिज्ञानका विषय सिद्ध हो ही जाता है, और प्रत्यभिज्ञानका विषयभूत जब अर्थ मिला तो प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है, इसमे कोई प्रकारका सदेह न होना चाहिए।

नित्यानित्यात्मक अर्थका प्रत्यभिज्ञानसे परिचय—प्रत्यभिज्ञान सर्वथा एकान्तका निषेध करता है। पदार्थ नित्यानित्यात्मक है जो कि एक वास्तविकता है। उस नित्यानित्यात्मक पदार्थका परिचय इस प्रत्यभिज्ञानसे बन जाता है। पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्य स्वरूप है, इसकी पुष्टि एकत्वप्रत्यभिज्ञान प्रमाणसे होती है। जैसे एकत्वप्रत्यभिज्ञानमे कहा जाता है—यह वही पदार्थ है जो एक वर्ष पहले था, कही दिखा था। तो पूर्व पर्यायसे वर्तमान पर्याय भिन्न है यह भी सिद्ध हो गया, और बीचमे सर्वत्र सर्वदा व्यापक रहा, यह भी सिद्ध हो गया। तो द्रव्य और पर्यायमय वस्तु हुआ करती है। कोई भी वस्तु पर्यायमात्र नही और पर्यायरहित द्रव्यमात्र भी वस्तु नही। तो द्रव्य और पर्यायोमे ही नित्य और अनित्यपनेका तादात्म्य चल रहा है। तो नित्यानित्यात्मक पदार्थमे द्रव्यदृष्टिसे एकत्वका और सदृश परिणाम होनेसे प्रत्यभिज्ञान प्रमाणका बनना उचित ही है। निष्कर्ष यह हुआ कि प्रत्यभिज्ञानका विषय है अनित्य पर्यायोमे व्यापने वाली एक नित्य वस्तु। न केवल अनित्य प्रत्यभिज्ञानका विषय है, न कोरा

नित्य प्रत्यभिज्ञानका विषय है। अर्थक्रिया जैसे अनित्य एकान्तमे नही बनती वैसे ही नित्य एकान्तमे भी नही बनती। नित्यानित्यात्मक पदार्थोंमे ही प्रत्यभिज्ञान पाया जाता है और वह है एक तृतीय जातिका याने न कोरा नित्य है, न कोरा अनित्य है, किन्तु द्रव्य और पर्यायसे तदात्मक हो रही वस्तु ही प्रमाणका विषय है, प्रत्यभिज्ञानका विषय है।

इस प्रकार प्रत्यभिज्ञानका बाधक प्रमाण कोई नही है। तो बाधक प्रमाणका अभाव होनेसे प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है और प्रत्यभिज्ञान द्वारा अनेक कार्य सिद्ध होते हुए देखे ही जा रहे हैं। प्रत्यभिज्ञानसे ज्ञाताको संतोष भी होता। प्रत्यभिज्ञानसे ज्ञाता अर्थमे प्रवृत्ति करता, प्रत्यभिज्ञानसे व्यवहार होता। प्रत्यभिज्ञानको प्रमाण न माना जाय तो अन्य प्रमाण भी नही रहते और प्रमाण जब नही रहता तो प्रमेय भी नही, तब सारा जगत शून्य हो जायगा इस कारण जैसे स्मृति प्रमाण है उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान भी प्रमाण है।

प्रतीतिसिद्ध प्रमाणमें अप्रमाणता थोपनेके कुतर्कोंकी गुञ्जाइशका अभाव—यहाँ क्षणिकवादी शङ्का करते है कि जो समाधानमे यह बात कही है कि प्रत्यभिज्ञानकी प्रमाणता के माननेमे बाधकके अभावकी विधुरता नही है, क्योकि एकत्वका बोध हो रहा है, तो ऐसा कहनेमे तो इतरेतराश्रय दोष आता है, क्योकि एकत्वका प्रत्यभिज्ञान होता है यह माना है। तो जब उस एकत्वकी सिद्धि हो तो बाधका भाव बननेसे प्रत्यभिज्ञानमे प्रमाणता सिद्ध होगी और जब प्रत्यभिज्ञानमे प्रमाणता सिद्ध हो ले तब प्रत्यभिज्ञानके विषयभूत एकत्वकी सिद्धि होगी। यदि दूसरे प्रत्यभिज्ञानसे पहले प्रत्यभिज्ञानके विषयको याने एकत्वको सिद्ध करेंगे तो अनवस्था दोष होगा। इस शकापर समाधान करते है कि इस तरहकी अनर्गल कल्पना करने पर तो प्रत्यक्षसे भी प्रत्यक्षके विषयभूत नील आदिक विषयोको जाननेमे प्रमाणपना सिद्ध करने पर अन्योन्याश्रय दोष बराबर आता है। कैसे ? कि देखो जब वासनामे नील पदार्थ सिद्ध हो जाय तो नीलके प्रत्यक्षमे प्रमाणपना आयगा और जब नीलके प्रत्यक्षमे प्रमाणपना सिद्ध हो ले तब नील पदार्थकी सिद्धि होगी। यो अन्योन्याश्रय दोष हो जायगा। अगर दूसरे प्रत्यक्षसे पहले प्रत्यक्षके विषयकी सिद्धि मानेंगे तो अनवस्था दोष हो जायगा। इस कारण जो प्रतीति सिद्ध बात है, सबके अनुभवकी बात है उसका अपलाप करना उचित नही है। सभी लोग समझते है कि पदार्थ कथञ्चित् नित्य है और उस कथञ्चित् नित्यस्वरूपका प्रतिभास जो प्रत्यभिज्ञान द्वारा हो रहा है उससे व्यवहार भी बन रहा है और मोक्षमार्गमे या धर्मसाधनमे भी उससे बडी सहायता मिल रही है। तो ऐसी प्रतीति सिद्ध बातका अपलाप करना चतुराई नही है। प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है, क्योकि उसके विषयमे कोई बाधक प्रमाण नही है।

एकत्वप्रत्यभिज्ञान प्रमाणकी सिद्धिमें अन्तिम प्रसंगका उपसंहार—प्रसंग यहाँ यह

चल रहा है कि सिद्धान्त यह स्थापित हुआ था कि पूर्वोत्तर पर्यायोमे व्यापी एक द्रव्य प्रत्यभिज्ञानका विषय है। एकत्वप्रत्यभिज्ञान इस एकत्वको जानता है और इसमे कोई बाधक प्रमाण नही है। इसपर क्षणिकवादियोने यह शङ्का की थी कि यहाँ तो दो बातें सिद्ध की जा रही है कि पूर्वोत्तर पर्यायोमे व्यापी एकत्व है और उसका विषय करने वाला एकत्व प्रत्यभिज्ञान है और इसमे किसी प्रकारका कोई बाधक प्रमाण है नही। तो यहाँ यह आपत्ति आती है कि जब पहले पूर्वोत्तर पर्यायव्यापी एकत्व सिद्ध हो ले तब तो बाधा विधुररूप सम्वादसे प्रत्यभिज्ञानमे प्रमाणना सिद्ध हो सकती, क्योकि बाधकके अभावका अर्थ यह है कि प्रत्यभिज्ञानके विषयभूत एकत्वमे कोई बाधक प्रमाण नही बनता। तो पहले एकत्व सिद्ध हो तो तब तो बाधकाभाव बताये और जब बाधकभाव सिद्ध हो ले जिसमे कि प्रत्यभिज्ञानको प्रमाणता आती तब प्रत्यभिज्ञानसे एकत्व सिद्ध होगा। यो अन्योन्याश्रय दोष होता होता है। उत्तर यह दिया गया था कि इस तरह अन्योन्याश्रय तो अन्य प्रमाणमे भी लगाया जा सकता। जैसे प्रत्यक्षसे नील पीत आदिक स्वलक्षणमय पदार्थोंको जाना, अब नील आदिकसे वह प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न हुआ तो यहाँ यह दोष आयगा कि जब नील पदार्थ है यह सिद्ध हो ले तब तो प्रत्यक्ष प्रमाण बनेगा और जब प्रत्यक्ष प्रमाण बनेगा तो नील पदार्थ सिद्ध होगा।

इस आपत्तिके निवारणके लिए क्षणिकवादी यह कहते है कि हमारे किसी ज्ञानमे प्रमाणपनेकी सिद्धि यथायोग्य अभ्यास बलसे स्वय हो जाती है, इस कारण अन्योन्याश्रय दोष नही लगता, याने नील आदिक पदार्थोंको जानने वाले प्रत्यक्ष ज्ञानमे प्रमाणता अपने आप सिद्ध होती है, क्योकि ऐसा ही जानने वालोका अभ्यास है, और कदाचित् अभ्यास न हो तो दूसरे तीसरे प्रमाणो द्वारा सिद्ध हो जाता है और वह दूसरा तीसरा प्रमाण अभ्यासके बलपर स्वत सिद्ध बन जाता है, इसलिए प्रत्यक्ष अपने अर्थका सम्वेदन करता है और वह प्रमाण है, यह अभ्यासवश स्वत सिद्ध हो जाता है। तब हमारे प्रत्यक्ष प्रमाणमे अन्योन्याश्रय दोष नही लगता। तब इसका उत्तर यही है कि इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान प्रमाणमे भी अन्योन्याश्रय दोष नही लगता, क्योकि प्रत्यभिज्ञानसे भी अभ्यासके बलसे स्वत प्रमाणपना सिद्ध हो जाता है। कदाचित् एक-आधे प्रमाणकी और जरूरत पडी तो उस अधिक प्रमाणकी भी अभ्यासदशासे भी स्वत सिद्धि बन जाती है। इस कारण प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है और उसमे कोई दोष सम्भव नही है। इस प्रकार एकत्वप्रत्यभिज्ञान निर्दोष रीतिसे सिद्ध हो जाता है।

सादृश्यप्रत्यभिज्ञानका निर्देशन—अब एकत्वप्रत्यभिज्ञानकी सिद्धिकी तरह सादृश्यप्रत्यभिज्ञानकी सिद्धि भी समझ लीजिए। सादृश्यप्रत्यभिज्ञानका विषय है कि अतीत कालमे किसी पदार्थको देखा था और अब वर्तमानमे किसी अन्य पदार्थको देख रहे है और वे दोनो हैं सदृश तो उनमे सदृशताका जोड बन जाय। ऐसे ज्ञानको सादृश्यप्रत्यभिज्ञान कहते हैं। तो

वह सादृश्यप्रत्यभिज्ञान अपने और पदार्थका निश्चय करने वाला है, इस कारण वह प्रमाण है। हाँ उससे भिन्न रूपसे जाने तो प्रमाणाभास है याने सादृश्यप्रत्यभिज्ञानाभास है। जैसे हो तो दोनो विलक्षण और कह बैठें कि दोनो समान है या वे दोनो तो है नही, है एक ही और कहे कि यह उसके समान है तो यह सादृश्यप्रत्यभिज्ञानाभास हो जाता है। मगर जो समीचीन सादृश्यप्रत्यभिज्ञान है वह तो बराबर व्यवस्थित है।

शंकाकार द्वारा सादृश्यके अभावका प्रस्ताव—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि दो पदार्थोंमे सादृश्यके ज्ञानकी बात कही गई सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमे तो यह बतलाओ कि वह सादृश्य उन दो पदार्थोंसे भिन्न है या अभिन्न है ? क्योकि कोई दार्शनिक तो सादृश्यको पदार्थ से न्यारा पदार्थ नही मानते, कोई दार्शनिक सादृश्यको स्वतन्त्र पदार्थ मानते। तो यहाँ यह विकल्प शंकाकार द्वारा उठाया जा रहा है कि वह सादृश्य जिनमे सदृशता बतायी जा रही है उन पदार्थोंसे भिन्न है या अभिन्न ? यदि कहो कि भिन्न है तो जब सादृश्य भिन्न है तो यह सम्बन्ध कैसे बताया जा सकता कि यह सादृश्य उनका है ? अगर कहो कि सादृश्यका और उन दोनो पदार्थोंमे सम्बन्ध है तो सादृश्य और सादृश्यवान वे पदार्थ ये जब भिन्न-भिन्न है और भिन्न होनेसे कार्यकारण सम्बध भी नही हो सकता है तो उनमे सम्बध क्या बन गया ? अगर कहो कि समवाय है तो वह समवाय नाम किसका ? क्या वह भिन्न है या उनमे मिला-जुला है ? तो भिन्न है तो सम्बन्ध बनता नही, अभिन्न है तो वही समस्या खडी रही। अगर कहो कि हाँ सादृश्यमे और सादृश्यवान पदार्थोंमे अविष्वग्भाव सम्बध है याने एकमेक हो रहे, पृथक्-पृथक् नही है, यही एक सम्बन्ध है, तब यह बताये कोई कि उस सादृश्यकी सादृश्यवान पदार्थके साथ सर्वदेशरूपमे एकता है या एकदेशरूपसे एकता है ? अगर कहो कि सर्वरूपसे एकता है तो सादृश्य बहुत बन गए।

जैसे किसीने कहा कि यह रोझ गायके सदृश है, तो सदृशता पूरे रूपसे रोझमे भी एकमेक है, और सदृशता गायमे भी एकमेक हे, तो दो सदृशतायें हो गई। जब दो सदृशतायें हो गयी तो अब उसकी बातमे सदृशता न लगाइये, क्योकि सदृशता तो दो है। यदि कहो कि वह सादृश्य सादृश्यवान पदार्थोंमे एकदेश रूपसे एकमेक है तो जब एकदेश रूपसे एकमेक है सदृशता तो सदृशताके अवयव बन गए याने सदृशताका कुछ अश इन दोनोमे एकमेक है। तब, जब सदृशताके अवयव बन गए तो उसमे भी प्रश्न होगा, उन अवयवोके साथ इस अवयवी सदृशताका क्या सम्बध है ? तो प्रयोजन यह है कि सादृश्यको पदार्थोंसे भिन्न मानने पर सम्बन्ध नही बनता।

क्षणिकवादी ही कहे जा रहे है अपनी शङ्काकी पुष्टिमे कि सादृश्यप्रत्यभिज्ञान बनता नही, क्योकि सादृश्य कुछ चीज नहीं। सादृश्य पदार्थसे भिन्न तो है नही। यदि कहो कि

अभिन्न है याने जो पदार्थमे सदृशता बतायी जा रही उन पदार्थोंसे सदृशता अभिन्न है तब फिर उस सदृशतासे अभिन्न जो पदार्थ है वह भी एक बन जायगा, क्योंकि सदृशता एक है और वह दोनोमे अभिन्न है तो वे पदार्थ दो कहाँ रहे ? एक ही रह गया। अगर कहो कि पदार्थ जब दो है तो सदृशता भी दो है। तो फिर एकपनेका विरोध बन जायगा। इस कारण सदृशता उन पदार्थोंसे अभिन्न भी सिद्ध नही होती। यदि यह कहा जाय कि सदृशता उन पदार्थोंसे भिन्न भी है, अभिन्न भी है तो इसमे फिर अनेक दोष उत्पन्न होते है, दो धर्म आ गए। दो धर्मोंमे दो आधार हो गए, एकमेक हो गए। यदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं तो विचार करनेपर सादृश्य कोई धर्म ही नही रहता, केवल कल्पनाकी ही चीज रहती है तो उसको विषय करने वाला प्रत्यभिज्ञान भी कोई चीज न रहा। वह प्रमाण न माना जाना चाहिए। अगर कल्पनामे आयी हुई बातको सच्चाईका रूप दे दें तो किसीके चित्तमे राज्य करनेकी कल्पना आयी तो क्या वह सच बन गया ? इस तरह सादृश्य कोई वस्तु नही। तो सादृश्यप्रत्यभिज्ञान भी कोई प्रमाण नही है, ऐसी क्षणिकवादियोने एक आशका रखी।

सादृश्यके खण्डनमे दी गई युक्तियो द्वारा वैसादृश्यके खण्डनकी सुगमताका प्रदर्शन करते हुए उक्त शंकाका समाधान—अब उसके समाधानमे आचार्य कहते है कि जैसा विकल्प सादृश्यके खण्डनमे किया गया है वैसा ही विकल्प वैसादृश्यके खडनमे भी किया जा सकता है। किस तरह, देखिये—बतायें क्षणिकवादी कि जो वैसादृश्य है, विलक्षणता है, वह पदार्थोसे भिन्न है या अभिन्न ? अगर कहो कि भिन्न है तो जब विलक्षणतारूप धर्म उन पदार्थोंसे भिन्न है, जिसकी विलक्षणता कही जायगी तो उस विसदृशताका उन पदार्थोंसे सम्बन्ध ही न बन सकेगा। फिर यह कैसे कहा जायगा कि यह पदार्थ उससे विसदृश है, विलक्षण है ? यदि कोई उसका सम्बन्ध माना जाय याने विसदृशता जिन पदार्थोंमे बतायी जा रही है उन पदार्थोंसे इस विसदृशताका सम्बन्ध है तो वह सम्बन्ध क्या ? कोई अन्य सम्बध तो है ही नही। यदि कहो कि वह सदृशताका उन पदार्थोंके साथ एकमेकपना है तो यह बतायें कि सर्व रूपसे एकमेकपना है या कुछ-कुछ रूपसे ? अगर सर्वरूपसे है तो विसदृशतायें अनेक हो गईं, क्योंकि वे अनेक हैं जिनमे विलक्षणता बतायी जा रही है। अगर एक रूपसे है विसदृशता उन पदार्थोंमे एकमेक तो विसदृशता अवयववान हो गया। विसदृशता ऐसी लम्बी-चौडी चीज है कि जिसका एकदेश पदार्थमे एकमेक हो रहा। तो विसदृशताको स्वलक्षणसे भिन्न माननेसे सिद्ध न हुआ और अभिन्न माने तो भी दोष है। भिन्न अभिन्न माने तो दोष है। जो भी दोष क्षणिकवादियोने सदृशताके खण्डनके लिए कहे थे वे समस्त दोष विसदृशतामे भी आते है। तो यो पदार्थोंमे वैलक्षण्य भी सिद्ध नही होता। जब वैलक्षण्य सिद्ध न हुआ तो अपने आप सदृशता सिद्ध हो गई। प्रत्यभिज्ञानका फिर कैसे खण्डन किया जा रहा है ?

वस्तुके सामान्यविशेषात्मकत्वके निराकरणकी अशक्यता—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि बहुत कहनेसे क्या लाभ ? हम न तो सदृशताको परमार्थ वस्तु मानते है और न विसदृशताको परमार्थ वस्तु मानते है; क्योकि अर्थक्रिया जैसे सदृशतामे नही वैसे ही विसदृशतामे भी नही, किन्तु सदृश और विसदृश दोनोसे रहित जो पदार्थ है, स्वलक्षण है, निरंश वस्तु है, वही अनेक क्रियावोको करनेमे समर्थ है। तो इसके उत्तरमे आचार्य कहते है कि सदृशता और विसदृशतासे पृथक् कुछ भी स्वलक्षण प्रमाणसिद्ध नही होता।

जैसे कि आकाशका फूल सामान्य और विशेष दोनोसे रहित है, क्योकि कुछ है ही नही तो वह प्रमाणसिद्ध नही है, ऐसे ही सदृशता और विसदृशतारहित याने सामान्य और विशेषसे रहित कोई पदार्थ नही होता। जितने भी पदार्थ है वे सब सामान्यविशेषात्मक ही होते है, क्योकि जो है वह कभी नष्ट नही हो सकता और जब है तो प्रति समय उसमे अवस्थायें भी हुआ करती है, तो जो अवस्थाये है वह तो है विशेष और जो मूल वस्तु है वह है सामान्य। सामान्यविशेषात्मक ही सत् होता है। सामान्यका मतलब सादृश्यसे बनता है विशेषका मतलब वैसादृश्य बनता है। इस तरह पदार्थ सादृश्य और वैसादृश्यसे रहित कुछ नही हुआ करता है।

ज्ञान द्वारा वैसादृश्यकी भांति सादृश्यका भी स्पष्ट प्रतिभास—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि प्रत्यक्ष ज्ञानमे प्रतिभासमान जो पदार्थ है वह तो स्पष्ट पदार्थ है, स्वलक्षण है, फिर वैसादृश्यका, क्षणिक पदार्थका कहाँ निराकरण किया जा सकता है ? इसके उत्तरमे समाधान यह है कि प्रत्यक्षके ज्ञानमे तो जैसे विशेष प्रतिभासित होता है ऐसे ही सामान्य प्रतिभासित होता है। बल्कि हम सब लोगोको प्रत्यक्षमे सामान्य स्पष्ट प्रतिभासित हो रहा और सामान्य न हो याने अनेक क्षणोमे वे पदार्थ न रहते हो तो उसका प्रतिभास भी नही हो सकता। तो वर्तमानकालमे जो पदार्थ विद्यमान है, उनमे पूर्वोत्तर समयमे समान आकार है अथवा एक दूसरेमे समान आकार है, ऐसा स्पष्ट प्रत्यक्षमे आ रहा है। तो जिस प्रत्यक्षसे पदार्थोंका भिन्न-भिन्न स्वभाव दृष्टिमे आता है कि यह इससे न्यारा है, यह इससे भिन्न है, ऐसा एक व्यावृत्ति बुद्धिसे याने यह इससे अलग हटा हुआ है ऐसी बुद्धिसे जैसे पदार्थोंमे विशेष प्रतिभासित होता है उसी प्रकार यह उसके समान है, यह द्रव्य है, ऐसा सादृश्य भी, सामान्य भी अन्वय बुद्धिके द्वारा स्पष्ट दिख रहा है। इस तरह सदृश और विसदृश धर्मस्वरूप पदार्थ है, स्वलक्षण है, यह सिद्ध हो गया। ऐसा न माना जाय तो वस्तु सिद्ध नही होता है और जब यह सामान्य सिद्ध हो गया, सादृश्य सिद्ध हो गया तो उसे आलम्बन कर जो प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसा सादृश्यप्रत्यभिज्ञान भी वास्तविक ज्ञान है और प्रमाणभूत है। इसमे किसी भी प्रकारकी बाधा नही आती।

प्रत्यभिज्ञानमें बाधकाभाव बतानेके प्रसंगमें प्रत्यक्षज्ञान द्वारा सादृश्यकी अबाधकता तथा साधकता—सादृश्यप्रत्यभिज्ञानका विषय पदार्थोंका सामान्यस्वरूप है उसके विरोधमे शकाकार कहता है कि पदार्थोंका सामान्यस्वरूप जो प्रतिभासमे आ रहा है वह तो भ्रान्त है अर्थात् सामान्यस्वरूप नही है। पदार्थोंका तो विशेष ही स्वलक्षण स्वरूप है अर्थात् प्रत्येक पदार्थका स्व-स्व जो-जो भी लक्षण है वह ही उसका स्वरूप है। तो अवस्तुभूत सामान्यका प्रतिभास होना भ्रान्त है, ऐसी आशकापर यह उत्तर दिया जा रहा है कि यो तो अर्थात् सादृश्यको यदि भ्रान्ति वाला प्रतिभास मानो तो वैसादृश्यको भी ऐसा कह सकते याने एक दूसरे पदार्थसे सर्वथा भिन्न स्वरूप है उसका प्रतिभास हुआ करता है, यह भी भ्रान्त क्यो न हो जायगा? पदार्थोंमे सादृश्य यदि भ्रान्त है तो वैसादृश्य भी भ्रान्त है। यदि इसका यो समाधान करे शङ्काकार कि वैसादृश्य जाननेमे बाधक प्रमाण नही आना इसलिए वह सही है. तो ऐसा ही उत्तर यहाँ है कि सामान्यका स्पष्ट प्रतिभास होनेमे बाधक प्रमाण कोई नही है। अगर विशेषरूपसे निर्णय करें तो देखिये, करिये—वस्तुमे जो सामान्यस्वरूपका प्रतिभास होता है उसका बाधक क्या प्रत्यक्ष ज्ञान है? प्रत्यक्ष ज्ञान तो सादृश्यका बाधक नही है बल्कि साधक है। कोई पुरुष प्रत्यक्षमे पदार्थको देखकर बहुत प्रयत्न करके ऐसा मन बनाये कि मैं स्वलक्षणोको देख रहा हू तो ऐसा मन बना रहने वाले पुरुषके भी स्थूल स्थिर सामान्य आकार वाले पदार्थका स्पष्ट प्रतिभास हो रहा है और अर्थक्रिया भी उस ही सामान्यके स्पष्ट प्रतिभासके बलपर चलती है। प्रत्यक्ष द्वारा कोई कहे कि सर्वथा सूक्ष्म क्षणिक विसदृश पदार्थ दिख रहा है तो इस बातकी पुष्टि करने वाला यहाँ कोई न मिलेगा, किन्तु स्थूल, दूसरे समय तक ठहरने वाले सदृश पदार्थका लोगोको स्पष्ट प्रतिभास हो रहा है। तो जिस प्रत्यक्ष द्वारा विशेष प्रतिभासमे आता है उससे भी अधिक स्पष्ट प्रतिभास होता है एकका, बहुत काल रहने वाले पदार्थका, उस सादृश्यका। जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा उसमे कोई बाधक प्रमाण नही आता। अन्यथा सदृश पदार्थकी स्मृति कैसे बनेगी? जिसको स्मरण होता है उसको पहले जाने हुएका ही स्मरण होता है। तो सदृश पदार्थ जाना गया तब ही तो सदृश पदार्थ का स्मरण होता है। तो जिसको भी सादृश्यकी स्मृति हो रही है समझ लो उसे अभी पहिले सादृश्यका प्रत्यक्ष हुआ था तो इस तरह सादृश्य धर्म है और उसका प्रत्यभिज्ञान करने वाला सादृश्यप्रत्यभिज्ञान प्रमाण है। उसमे प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधा नही आती।

अनुमान प्रमाणसे भी सादृश्यकी अबाध्यता—अब यदि कोई ऐसी जिज्ञासा रखे कि प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधा नही आती तो अनुमान प्रमाणसे सादृश्यमे बाधा आ जायगी, सो भी सही नही है, क्योकि सामान्यको स्पष्ट रूपसे समझनेमे अनुमान बाधक प्रमाण नही बनता, क्योकि ऐसा अनुमान भी जो कि सामान्यका बाधक बने, उसको उत्पन्न करने वाला कोई हेतु

नही है । शङ्काकार यदि यह कहे कि प्रत्येक पदार्थ जब अपने-अपने स्वभावमे स्थित हो रहे हैं तो यही हेतु पर्याप्त है कि जिससे यह सिद्ध हो जायगा कि सम्पूर्ण पदार्थ परस्पर अत्यन्त भिन्न है, कोई किसीके सदृश नही है । तो प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वभावमे व्यवस्थित है । इससे सिद्ध हो जाता है कि सर्व पदार्थ विसदृश ही है । यह अनुमान सादृश्य ज्ञानका बाधक बन जायगा । इसका समाधान तो बहुत ही सुगम हो रहा है कि जो अनुमान बनाया है शङ्काकारने वह साध्यको सिद्ध नही करता, किन्तु शङ्काकारके इष्टसे विपरीत हो जाता है । शङ्काकारने हेतु यह दिया कि प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वभावमे व्यवस्थित है । इस हेतुसे तो यह सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण पदार्थ सदृश और विसदृश परिणामस्वरूप हैं । यदि पदार्थ सामान्यविशेषात्मक न हो तो वह अपने स्वभावमे व्यवस्थित नही रह सकता । तो सम्पूर्ण पदार्थ जो अपने-अपने स्वभावमे व्यवस्थित है ऐसा बोध हो रहा है, यह ही इस बातको सिद्ध करता है कि पदार्थ सामान्यविशेषपरिणामस्वरूप है, क्योकि पदार्थका स्वभाव ही सिद्ध न बनेगा यदि विशेष न मानेंगे । सो तो शकाकार भी मानता है, मगर सामान्य न मानेंगे तो भी स्वभाव न बनेगा । और देखो आश्चर्यकी बात, जिसका परिचय ही नही बन रहा उसकी तो शङ्काकार कल्पना कर रहा और जिस स्वभावकी प्रतीति चल रही उसका निराकरण कर रहा । तो ऐसे शङ्काकार यह बतायें कि जो यह हेतु प्रयुक्त किया है शङ्काकारने कि चूकि पदार्थ अपने-अपने स्वभावमे व्यवस्थित है, सो जो विसदृश अर्थको सिद्ध करनेके लिए किया ना तो यह बतलाये वे कि जिस प्रकार ठीक-ठीक दिख रहा है सबको, शङ्काकार को भी, अन्य वादियोको भी, क्या उस ही प्रकारसे हेतु स्वीकार है या अन्य प्रकारसे शङ्काकारको हेतु स्वीकार है ? यदि कहो कि जैसा ठीक-ठीक दिख रहा है वैसा ही स्वीकार है तब तो उनका हेतु विरुद्ध हो जायगा । क्योकि जो कुछ दिख रहा है वह सदृश विसदृश-परिणामात्मक ही दिख रहा है । बराबर यह भी ज्ञान होता कि यह पदार्थ इससे भिन्न है और यह भी ज्ञान होता कि यह पदार्थ इसके सदृश है और निरपेक्षतया भी प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है । जो मूल सत्त्व है वह सामान्य है और जो अवस्था है वह उसकी पर्याय है । तो जिस प्रकार ठीक दिख रहा उसी प्रकारके स्वभावमे व्यवस्थित है, यह मानने पर तो कोई विवाद ही नही है और यदि ऐसा स्वीकार करे कि शकाकारने जैसा अपने मनमे माना ऐसे स्वभावमे व्यवस्थित है और ऐसेको ही सत् कहते है तो यह बात स्वरूपसिद्ध है । प्रतीतिके विरुद्ध अपने आपके घरमे, मनमे अटपट कुछ भी मान लिया जाय तो उससे पदार्थ की व्यवस्था तो नही बनती । जो हेतु स्वय असिद्ध है वह साध्यको सिद्ध कैसे कर सकता है ? इससे जैसा लोगोको, सबको प्रतीति हो रही हैवैसा ही पदार्थका स्वरूप मानना चाहिए ।

प्रतीतिसिद्ध सादृश्यके निराकरणके प्रयासका व्यर्थता—अब शकाकार कहता है कि

जिस तरह हमको दोष दिया जा रहा है उस प्रकारका दोष तो समस्त हेतुवोमे लग जायगा। अच्छा कोई यह बतलाये कि जो सारा जगत ही धूमको अग्नि सिद्ध करता है तो वह धूम हेतु क्या बना अग्निजन्य है ? याने अग्निसे जन्य है यह धूम ऐसा सिद्ध करनेके लिए जो हेतु दिया जा रहा है वह धूम क्या अग्निजन्य मानते हो या अनग्निजन्य मानते हो ? अगर अनग्नि-जन्य मानते हो तब तो हेतु विरुद्ध हो गया। वह धूम यदि अग्निजन्य है, ऐसा मानकर हेतु देते हो तो यह बात अभी तक पक्षमे सिद्ध थोडे ही हुई, क्योकि अग्निको ही तो सिद्ध करने के लिए हेतु दिया गया है और कहो कि अनग्निजन्य है तो वह बिल्कुल विरुद्ध पड जाता है कि धूमसे तो फिर अग्निका अभाव ही सिद्ध होगा। और यदि कोई कहे कि अग्निजन्य है या अनग्निजन्य है, इस विवादको तो गौण करो। यह विवादमे पडा है, ऐसा ही मान लो और जो एकदम उसका प्रभाव पड रहा है कि कठ रुँध गया, नेत्रोमे आँसू आ रहे, चारो ओर फैल रही, कुछ काला-काला रग बन रहा, इन बातोसे जो प्रसिद्ध है वह धूम यहा हेतु है, इतना ही मानना चाहिए। यदि ऐसा कोई कहे तो शङ्काकार कह रहे है कि हम भी यह कह देंगे कि हमारा जो सत्त्वादिक हेतु है वह विरुद्ध नही है। पदार्थोंकी विलक्षणता सिद्ध करनेके लिए असिद्ध नही है, ऐसी शकाकार अपनी भावना रख रहा है। उसके समा-धानमे सुनो। सत्त्वादिक हेतुवोके विवादमे यह सदृशता और विसदृशता विशेषण पडा है और कोई शकाकाराभिमत प्रसिद्ध स्वभाव चल रहा है, ऐसा तो कुछ दिख नही रहा। जहाँ पदार्थको सामान्यविशेषात्मक न माना जाय वहाँ कोई स्वभाव सिद्ध नही हो सकता। शका-कार यदि कहे कि उसमे अर्थक्रियाका स्वभाव तो पडा है, सो यह भी नही कह सकते, क्योकि ऐसा सत्त्व जिसमे सदृशता नही और अर्थक्रिया करे वह तो प्रतीतिसिद्ध है। जो परमार्थ है वह कल्पित नही है और जो कल्पित है वह परमार्थ नही हो सकता और कल्पित पदार्थ हेतु नही बन सकता। तो जो परमार्थ है वस्तु सदा रहती है और उसकी अवस्थाये बदलती रहती है, ऐसा यथार्थ माननेमे कौनसी पीडा है ? प्रतीतिका अपलाप करके अन्य-अन्य कुछ कल्पनायें करना यह तो बुद्धिमत्ता नही कहलाती। क्षणिकवादियोने वस्तुका जो स्वरूप स्व-लक्षण माना तो प्रत्येक पदार्थका अपना ही निजका जो स्वरूप है, स्वलक्षण है और यह सबका परस्परमे भिन्न ही है, ऐसा जो कहते है सो भवान्तर सत्ताकी दृष्टिसे तो प्रत्येक पदार्थ भिन्न ही है, परस्पर एक दूसरेसे। लेकिन जातिकी दृष्टिसे समानता आती है और उस सदृशता का आबालवृद्ध परिचय चल रहा है। उस सदृशताका परिचय अनेक ढगसे होता है। कोई चीज कभी देखी भी न थी और केवल पुस्तकोमे उसका वर्णन सुनते आये और कदाचित् आंखो दिख जाय तो झट प्रत्यभिज्ञान हो जाता कि जो वर्णन पुस्तकोमे है वही चीज देखो सामने आ गई। तो सादृश्य तो सबको अत्यन्त प्रसिद्ध हो रहा है। उसमे कोई बाधक प्रमाण

नहीं है।

पदार्थोंके एकत्व और सादृश्यकी एवं प्रत्यभिज्ञानके प्रमाणत्वकी ससिद्धि—अब यहाँ शकाकार कहता है कि जो कुछ ऐसा प्रतिभास हो रहा है कि पदार्थ वहीका वही है, एक है और यह उसके समान है, ऐसा एकत्व और सादृश्यका प्रतिभास करने वाली जो प्रतीति है वह तो अज्ञानवश हो रही है। ऐसा कहने वाला शङ्काकार एकदम अपने अज्ञानको प्रकट कर रहा है, यह अज्ञान दूसरोका नही है। सारा लोक एक और सदृशका बोध कर रहा है। पर शङ्काकारको ही अविद्याका उदय है इस कारणसे जो यथार्थ है, प्रतीतिसिद्ध है उसका अपलाप किया जा रहा है। पदार्थमे एकत्व और सादृश्य है, इसका ज्ञान भी होता है वह बाधारहित है, क्योकि पदार्थ सहभावी विशेषोमें भी है और क्रमभावी विशेषोमे भी व्यापी है, याने पदार्थके जो गुण है, जो शक्तिया है, जो एक साथ रहती हैं उनमे भी व्यापक है। भेददृष्टिमे गुण जो जाने गए उनमें व्यापक है और क्रमसे होने वाली जो अवस्थायें है उन अवस्थावोमे व्यापक है। ऐसा एक द्रव्य एक रूपसे भले प्रकार प्रतीत हो रहा है और इसी प्रकार सादृश्य भी पर्यायसामान्यमे प्रतिभासित हो रहा है। जो-जो पर्यायें, अवस्थायें एक समान दृष्टिमे आती हैं उनमे समानताका भी ज्ञान हो रहा है और समानताका इतना स्पष्ट प्रतिभास होता है कि जिससे एकत्वका विचार भी बनने लगता है। तो एकत्व विषय है, सादृश्य विषय है और उनको जानने वाला जो ज्ञान है, प्रत्यभिज्ञान है वह प्रमाण है। इस पकार "मति स्मृतिः सज्ञाचिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्" इस सूत्रमे जो मतिज्ञानके जातीय-ज्ञान बताये गए है उनमे मति याने साव्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मृति अर्थात् स्मरणज्ञान और सज्ञा अर्थात् प्रत्यभिज्ञान—इन तीन मतिज्ञानके प्रकारोका वर्णन किया गया है।

तर्कज्ञानकी प्रमाणताकी प्रसिद्धि—अब तर्क ज्ञानकी प्रमाणताके सम्बन्धमे वर्णन करते है। जिस ज्ञानके द्वारा पदार्थके सम्बन्धका समस्त देश, कालका उपसहार करने वाली व्याप्तिके स्वरूपसे खूब निश्चय करके अनुमान करने वाला जीव प्रवृत्ति करता है उसे तर्क ज्ञान कहते है, अर्थात् तर्क ज्ञानमे साध्य-साधनके सम्बन्धकी व्याप्ति ज्ञानमे रहती है। अमुक चीज न हो तो अमुक चीज नही होती, अमुकके होनेपर अमुक होता है, इस प्रकारका सर्व देश कालोमें दृष्टि दौडाकर जो सम्बन्ध निश्चित किया जाता है उसका नाम तर्क ज्ञान है, सो यह तर्कज्ञान प्रमाण है, क्योकि उसमे सम्वाद है और उससे अनुमानकी प्रवृत्ति बनती है। कोई पूछे कि यह सम्बन्ध क्या वास्तविक है ? तो उसका उत्तर है कि हाँ वास्तविक है। क्यो वास्तविक है कि उसमे सम्वाद पाया जाता है। सम्वादसे ही तो ज्ञानोकी प्रमाणता ज्ञात की जाती है। तो सम्बन्धके जाननेमे सवाद बराबर है, इसलिए तर्क ज्ञान प्रमाण है। वह सम्बन्ध कल्पित नही है किन्तु वह वास्तविक है, क्योकि वह सवन्ध अर्थकारी है। उस

संबन्धमे यथार्थताका प्रकाश करने वाली बुद्धि उपयोग कर रही है। अनेक पदार्थ भिन्न-भिन्न जुडे है। उन भिन्न-भिन्न पदार्थोंको निरखनेमे वैसा ही प्रतिभास चल रहा है और जब उनका सबध सोचते है, युक्तियां आती हैं, अमुक-अमुकका सबन्ध होनेपर अमुक प्रभाव होता है, इसका इसका अविनाभाव सम्बन्ध है आदिक अनेक रहस्य विदित होते है तो सम्बन्ध एक सम्वादी ज्ञान है, उससे एक यथार्थताका निश्चय होता है। तो व्याप्तिज्ञान अर्थात् तर्कज्ञान अपने इष्ट का ज्ञान करता है। पदार्थका प्रतिभास करनेसे यह प्रमाण है।

सम्बन्धका अर्थक्रियाकृत्व—अब कोई यहाँ जानना चाहे कि सम्बधकी अर्थक्रिया क्या कहलाती है तो विचार करें—अर्थक्रिया तो वास्तविक मूलमें यही होती कि उसका प्रकाश चलता है, ज्ञान चलता है, जानकारी होती है। सम्बन्धके आधीन होकर रहने वाली जो पदार्थकी सम्बधिता है अर्थात् अमुक-अमुक पदार्थ सम्बन्धित है, इस प्रकारका जो सम्बंध है, बस ऐसा सम्बन्धन हो जाना, बध जाना, उसका निमित्त प्रभाव होना यह ही तो सम्बधकी अर्थक्रिया है और सम्बधका ज्ञान कर दिया यह सम्बन्धकी अर्थक्रिया है। सम्बन्ध होनेके प्रभाव विचित्र होते ही है। जैसे कुछ औषधियोको मिला दिया जाय तो वहाँ विशिष्ट रोग दूर हो जाता है, वह बात केवल एक भिन्न-भिन्न औषधियोसे नही बनती। तो सम्बध यदि न हो या सम्बधको मात्र कल्पित माना जाय तो यह प्रभाव जो विचित्र होता है, जिससे लोग लाभ-हानि उठाते है, वह कैसे बने? तो सम्बधके अन्वयव्यतिरेकका विधान करने वाला जो सम्बधीपन है उसका बराबर ज्ञान होता रहता है, बस यह मौलिक अर्थक्रिया है जो यह विषय बन रहा है। सम्बधका रहस्य जाननेमे आना, यह सम्बधकी अर्थक्रिया है। जैसे नीले रगसे वस्त्र रग दिया अब उस वस्त्रमे नीलके साथ एक सम्बध बन गया तो अब उस सारे वस्त्रमे तो नीलपना फैला है या नीलका जो भी वस्त्रके साथ फैलाव बन रहा है वही तो नील रगकी अर्थक्रिया है, क्योकि कपडा नीला है, इसकी सिद्धि उस नील रगसे ही तो बनती है, और कपडा नीला है, ऐसा ज्ञान हो गया इसमे ही तो नीलके सम्बधकी अर्थक्रिया प्रतिभात होती है। तो जिस सम्बधसे बडे-बडे हल निकाले जाते, जिस सम्बधके ज्ञानसे बडा उपयोगी अनुमान बनता है उसे क्या अर्थक्रिया न कहेगे?

सम्बन्धकी सिद्धि—यहाँ शकाकार कहता है कि सम्बन्धपना कुछ भी वास्तविक नही है, किन्तु विशिष्ट अर्थ है याने निकट पहुँचे हुए, चिपटे हुए, ऐसी विशेष परिस्थितिमे बने हुए जो पदार्थ हैं बस वे तो वास्तविक हैं, उनको छोडकर सम्बध नामका कुछ और सत्त्व नही है। इस आशकका समाधान तो स्वय ही शकामे बना हुआ है। वह पदार्थोंकी जो विशिष्टता है याने निकट पहुचे हुए, चिपटे हुए आदिक जो पदार्थकी परिस्थिति है वह ही तो सम्बध है। सम्बन्धके अभावमे पदार्थोंकी ऐसी परिस्थिति विशिष्टता कैसे बन जायगी? अगर कहो कि

अपने कारणसे ही वह विशिष्टता बन जाती है पदार्थोमे तो बस उसके नाम ही का भेद रहा। चाहे विशिष्टता कह लो, चाहे सम्बधिता कह लों, निकट पहुचे हुए पदार्थोंकी विशिष्टता ही तो सम्बधिता है। वह निकट है, यही तो सम्बध कहलाता है। तो मिले हुए पदार्थोंमे सम्बंधीपना है, इसकी सिद्धि प्रमाणसे है, इसमे किसी प्रकारका संदेह नही। अग्निपर कोई चीज पड़ जाय तो वह जल जाती है। क्या हो गया? वह सम्बन्धका ही तो प्रभाव है। भोजन आदिक बनाये जाते है तो यह सब सम्बन्धका ही तो प्रभाव है। अगर ऐसे सम्बन्धको केवल कल्पनामात्र ही माना जाय कि लोगोंके चित्तमे ऐसी वासना बस गई, अज्ञान है कि वे सबन्ध समझ लेते है। तो जो वास्तविक ज्ञान हो रहा उसको अगर वासनाहेतुक कह दिया जाय तो सारे ज्ञानोको यो कहा जा सकता कि सभी वासना और भ्रमसे ज्ञान हो रहे हैं। फिर तो वास्तवमे कोई भी पदार्थ अर्थक्रियाकारी न रहेगा और न वस्तुकी व्यवस्था बन सकेगी। फिर तो यदि कोई ऐसा कहने वाला भूखा हो, प्यासा हो या रोगी हो जाय, सिरमे पीडा हो जाय तो उसको यही कहना चाहिए कि यह तो वासनासे ज्ञान हो रहा, है कुछ नही। तुझे पीडा नही है, भूख नही है, यो तो सारे व्यवहारका लोप हो जायगा। तो सम्बन्ध वास्तविक चीज है और उसकी अर्थक्रिया होती है। उस सम्बन्धके ज्ञानमे बराबर सम्वाद है इसलिए सम्बन्ध ज्ञान प्रमाण है और उससे ही तो जब एक सामान्य रूपसे व्याप्ति बनाकर जाना जाता है तो उसीका नाम तर्कज्ञान है। शङ्काकार ऐसा मानना चाहता है कि वास्तविक पदार्थ वह है जो आत्माके सतोषका कारण बने। तो शङ्काकार यह बताये कि स्वप्नमे जो पदार्थ देखा जाता है उससे भी तो कुछ काल तक सतोष रहता है, तो क्या वह भी वास्तविक हो गया? कभी स्वप्नमे धन-वैभव देखते है तो बडा सतोष होता है। यदि इसका उत्तर यह दिया जाय कि स्वप्नमे सभीको तो संतोष नही होता, तो लो, ऐसा उत्तर देने वालोने स्वीकार कर लिया कि जागृत दशामे जो ज्ञान हो रहा है उसमे सच्चाईका निर्णय होता है तो फिर यह सम्बंधका ज्ञान, यह जागृत दशामे ही तो किया जा रहा है, कोई स्वप्नमे तो नही किया जा रहा है। वह तो प्रमाणभूत है, उसमे बाधक प्रमाण नही है।

तर्कज्ञानकी अबाध्यता—जो सबधको नही मानते, ऐसे शकाकार यदि यह कहे अपने ही घरमे रहकर कि सबन्धकी अर्थक्रियामे बाधक ज्ञान बन रहा है तो ऐसा तो अन्य दार्शनिक भी कह सकते हैं कि शून्य ही तत्त्व है, और उसके अतिरिक्त कोई कुछ माने तो उसमे बाधक ज्ञान है, या अद्वैत ब्रह्म ही तत्त्व है। उसमे इन शून्यवादी व ब्रह्मवादीके विरुद्ध कोई कुछ कहे तो उसमे बाधक ज्ञान है, यो कह दिया जावेगा तो कहने मात्रसे तो बाधकता नही हो जाती। जिस किसीको भी कह दे कि "अज्ञानमे कह दिया" तो ऐसा कहनेसे कही अज्ञान तो सिद्ध नही हो जाता? यो तो ऐसा कहने वालोके ही अज्ञान है। तो तर्कज्ञानका विषय है

सबन्ध। उसका ज्ञान निर्बाध हो रहा। लोग तर्कज्ञानसे सम्बन्धका निर्णय कर अनुमानकी प्रवृत्ति करते है, इस कारण तर्कज्ञान प्रमाण है, इसमे सदेहकी गुन्जाइश नही है।

तर्कज्ञानके बलसे उत्पन्न हुए अनुमानज्ञानकी प्रमाणता होनेसे तर्कज्ञानमें प्रमाणत्व की सिद्धि—तर्कज्ञान प्रमाण है क्योकि तर्कज्ञानके कारणसे उत्पन्न हुआ अनुमानज्ञान प्रमाण है। अनुमान ज्ञान प्रमाण है इससे सिद्ध है कि उसका कारणभूत ज्ञान तर्क भी प्रमाण है। कारणभूत ज्ञानके प्रमाण होनेपर ही कार्यभूत ज्ञान प्रमाण होता है। तो तर्कपूर्वक होने वाला अनुमान सवादी है, इससे सिद्ध है कि तर्कज्ञान भी सवादी है। यदि तर्कज्ञानमे विसवाद होता अर्थात् तर्कज्ञान अप्रमाण होता तो अनुमानज्ञान कभी भी प्रमाण न हो सकता था। यह एक इतना प्रवल प्रमाण है कि जिसके कारण तर्ककी प्रमाणतामे सन्देह नही रहता। कोई कहे कि तर्कज्ञानमें सवाद नही है, क्योकि तर्कज्ञान अत्यन्त भूतके, अत्यन्त दूरके पदार्थो को विषय करता है। तो यह शका करना ठीक नही है। तर्कज्ञानका विपय ही बहुत महान है। जिन-जिनका सबन्ध व्याप्ति बनती है उन उनके बारेमें किसी भी जगह, किसी भी काल में व्यभिचार न आ सके, ऐसी तर्कणा करके ही इस तर्ककी उत्पत्ति होती है। तर्कके संवादमें सन्देह करनेपर अनुमान प्रमाणको नि.शक कभी न कहा जा सकेगा और अनुमान प्रमाण जब न रहा तो अनुमान भी अप्रमाण हो जायगा। याने तर्कको अप्रमाण माननेपर अनुमान अप्रमाण होता है और अनुमानके अप्रमाण होने पर प्रत्यक्ष अप्रमाण होता है, क्योकि प्रत्यक्षकी प्रमाणताकी सिद्धि अनुमान प्रमाणसे बनती है। अब अनुमान प्रमाण तो सारे झूठे कहे जा रहे है तो प्रत्यक्षकी भी सिद्धि न होगी, इस कारण प्रमाण चाहने वाले पुरुषोको अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान ये प्रमाण बने रहे, ऐसी भावना रखने वाले पुरुषोको तर्कज्ञानको भी प्रमाण मानना चाहिए। सभी वादियोको अपने इष्टकी सिद्धि करना तो कर्तव्य ही है। जो लोग प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण मानते है उनको इन दो प्रमाणोकी रक्षाके लिए तर्क प्रमाण मानना ही पडेगा। प्रत्यक्ष प्रमाण मानने वालोको जैसे अनुमान प्रमाण मानना ही पडता है इसी प्रकार अनुमान प्रमाण मानने वालोको तर्क प्रमाण मानना ही पडेगा, क्योकि व्याप्तिका ज्ञान हुए बिना अनुमान प्रमाणकी उत्पत्ति नही होती।

तर्कज्ञानकी अपूर्वार्थविषयता—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि तर्कज्ञान तो अप्रमाण है क्योकि वह गृहीत पदार्थोको ही ग्रहण करता है। जैसे तर्क प्रमाणसे जाना कि जहाँ-जहाँ धुवाँ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, जहा अग्नि नही होती वहा धुवाँ नही होता तो इसने अग्नि और धूमके सत्त्व और असत्त्वको ही तो जाना और यह पहले प्रत्यक्ष प्रमाणसे जान लिया गया था। तो जो पहले प्रमाणसे ग्रहण कर लिया गया उस ही को ग्रहण किया तर्क ने, इस कारण तर्क अप्रमाण है, ऐसी शङ्का होने पर यह समाधान समझना

चाहिए कि तर्कज्ञान प्रमाण ही है, क्योंकि वह अपूर्व अर्थका जाननहार है। जो अपूर्व अर्थ का जाननहार है सो प्रमाण है, ऐसा सभी स्वीकार कर रहे है। तो तर्कज्ञान भी अपूर्व अर्थ को जानना है। कैसे हुआ वह अपूर्व अर्थ ? जो पहले प्रत्यक्षके द्वारा सद्भाव और असद्भावके रूपमे जाना गया था वही तर्कज्ञानमे अपूर्व अर्थ बन जाता है। कैसे ? जो पहले प्रत्यक्षज्ञानने सद्भाव और असद्भावको जाना था वह नही जाना गया था जैसा तर्कज्ञानमे जाना गया, किन्तु तर्कज्ञानमे उपयोग विशेष बनना और उन दोनोका सम्बध और तर्कणा विषय रहा, इस कारण तर्कज्ञान अपूर्व अर्थका जाननहार है और प्रमाणभूत है। प्रत्यक्ष प्रमाणने तो एकदेश बात जाना था। अग्नि थी तो अग्नि जान ली थी, धुवा था तो धूम जान लिया था और अनुपलम्भका भी याने अग्नि न मिली, न धुवाँ मिला, इतना ही जाना था, पर तर्कज्ञान ने इन दोनोके सम्बन्धके बारेमे समझा जो कि उन दोनोके ज्ञानसे अधिक है, अपूर्व अर्थ है। प्रत्यक्षज्ञानसे या अनुपलम्भ ज्ञानसे साध्य-साधनके सम्बन्धका ज्ञान नही हो रहा था, किन्तु अब उसके सम्बधका जानना हो रहा है तो इस प्रकारका विशेष उपयोग तर्कमे चल रहा है। पहले तो एकदेश ही सम्बध समझा था, थे भी दोनो एक साथ, तो बस उस ही जगहका, उस ही समयका सम्बध भी जाना गया था, लेकिन अब सम्पूर्ण रूपसे सब कालोमे, सब देशोमे व्याप्तिके रूपसे जाना जा रहा है तो ऐसे सम्बन्धको जाननेमे तर्कका विशेष उपयोग है। तो अन्य प्रमाणसे यह सम्बध ग्रहण नही किया गया। जैसे कि तर्कज्ञान जान रहा है तो कथञ्चित् गृहीत अर्थका ग्रहण करने वाला है तर्कज्ञान, फिर भी उस ग्रहण किए हुए अर्थके विषयोमे किसी अपूर्व बातका ही ज्ञान किया जा रहा है, इसलिए तर्कज्ञान प्रमाणरूप है। गृहीतका ग्रहण हुआ, इससे अप्रमाण नही होता, किन्तु गृहीतका उतने ही अशोमे उस ही रूप से ग्रहण हो तो इसलिए धारावाही ज्ञान कहलाता है और अप्रमाणभूत। यो तो रोज ही रोज-रोजके जाने गए पदार्थ ही जाने जाते है और जानकर उनमे प्रवृत्ति की जाती है तो क्या रोज-रोज जो जाने जा रहे हैं परिचित हुए पदार्थ तो क्या वह ज्ञान अप्रमाण हो जाता है ? जहाँ उपयोग विशेप बनता है वह ज्ञान गृहीत अर्थको जानकर भी प्रमाणभूत होता है।

तर्कज्ञानकी अपूर्वार्थग्राहिता व प्रमाणताका पुनः सयुक्तिक वर्णन—इस प्रसगमे तर्कज्ञानकी प्रमाणता और विधिके विषयमे यह भी समझना चाहिए कि जैसे हेतुके ज्ञानके बिना साध्यका ज्ञान नही होता,—तो साध्यका ज्ञान हेतुके ज्ञानके आधीन बन गया है, किन्तु साध्यज्ञान द्वारा हेतुका ज्ञान न जाना जायगा। जैसे धूमका ज्ञान होनेपर अग्निका ज्ञान बन गया तो अग्निके ज्ञान होनेमे धूमज्ञान कारण है, पर इसके मायने यह न हो जायेंगे कि अग्निज्ञानका विषय धूमज्ञान बन जाय। हेतु दो प्रकारके होते है, ज्ञायकहेतु और कारकहेतु।

ज्ञायकहेतु तो कहलाता है तत्त्वको जना देने वाला हेतु और कारकहेतु कहलाता है उत्पत्ति का निमित्तभूत। साध्यका ज्ञान करानेमे अनुमान ज्ञान स्वतत्र है और उस अनुमानकी उत्पत्ति हेतुज्ञानके आधीन है। नो इससे कही यह न हो जायगा कि अनुमानका विषय हेतुज्ञान बन जाय। जैसे यहा यह बात है वैसे ही यहाँ समझिये कि तर्कज्ञान प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ द्वारा उत्पन्न हुआ। किसी सम्बन्धका बारबार देखना अभ्यास आदिक कारणोसे हुआ तो अब तर्कज्ञानमे यह हेतु बन रहे, पर इसके मायने यह न होंगे कि ये तर्कज्ञानके विषय बन जायें, या इनका विषय तर्कज्ञान बन जाय। प्रत्यक्ष तो तर्कज्ञानका उत्पादक कारण है, स्मृति भी तर्कज्ञानका उत्पादक कारण है, पर प्रत्यक्ष और स्मृति तर्कज्ञानके विषय नही बन सकते। तर्कज्ञान तो प्रत्यक्ष और स्मृतिसे विलक्षण सम्बन्ध व्याप्तिका ज्ञान किया करता है, अतः तर्कज्ञान अपूर्व अर्थका ग्रहण करने वाला है और प्रमाणरूप है। यह नियम नही है कि जो जो जिसका, आत्मस्वरूपका कारण बने याने उत्पत्तिका कारण बने वह वह उसका विषयभूत बन जाय। जैसे हेतुज्ञानसे साध्यका ज्ञान होता है तो कही साध्यज्ञानका विषय हेतुज्ञान नही बन जाता। अथवा चक्षुइन्द्रियसे रूपज्ञान होता है तो इसके मायने यह नही हैं कि उस प्रत्यक्षज्ञानका विषय नेत्र बन जाय। आँखसे देखा गया, पर देखनेमे आँख नही आती इससे तर्कज्ञान अन्य समस्त ज्ञानोकी भाँति अपूर्व अर्थको ही ग्रहण करता है। यहा यह भी शका न रखनी चाहिए कि विषय तो वह कारण कहलाता है जो अपने आकारका समर्पण करनेमे समर्थ होता। जैसे चाक्षुष प्रत्यक्षज्ञान आखसे भी हुआ, पदार्थसे भी हुआ, लेकिन पदार्थ तो अपना आकार सौंप देता है ज्ञानको, चक्षु नही सौपती, इस कारण जो अपना आकार सौप सके वह कारण विषय होता है। इस कारण यहा यह दोष नही दे सकते कि चक्षुइन्द्रियसे प्रत्यक्षज्ञान होता है तो वह चक्षुको जान ले। समाधानमे कहते है कि ऐसा ही यहा भी समझ लेना चाहिए कि प्रत्यक्षसे, स्मृतिसे तर्कज्ञान उत्पन्न हुआ, प्रत्यक्षने और स्मृति ने अपना आकार तर्कको नही सौपा, इस कारण प्रत्यक्ष और स्मृति तर्कके विषयभूत नही हो सकते। अत गृहीतको जाना तो तर्कज्ञानने पर गृहीतमे इस अपूर्व अर्थको ही जाना, इस कारण तर्कज्ञान प्रमाणरूप ही है प्रत्यक्ष और अनुमानकी तरह।

समारोपव्यवच्छेदक होनेसे तर्कज्ञानकी प्रमाणताकी पुष्टि—साव्यवहारिक प्रत्यक्ष याने मति, स्मृति और प्रत्यभिज्ञान–इन तीन मतिज्ञानोके अन्तर्भावी प्रमाणके वर्णनके पश्चात् यह तर्क प्रमाणका वर्णन चल रहा है। तर्कज्ञान प्रमाणभूत है। क्योकि वह समारोपका निराकरण करता है। समारोपका अर्थ है सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय ये तीन ज्ञानोके दोष। जहा अनेक कोटिको छूता हुआ विचार चलता है वह सशय है। जैसे यह सीप है या चादी, विपर्यय हो तो कुछ जान रहे विपरीत वह विपर्यय ज्ञान है। जैसे पडी तो थी सीप और

जान गए चादी। अनध्यवसाय पदार्थका जरा प्रतिभास हुआ, उसके बाद फिर उसका कुछ निर्णय ही न हुआ और आकाक्षा ही नही रहती और कुछ सा कुछ इतने मात्र ही प्रतिभास होकर रह गया वह है अनध्यवसाय। तो इन तीन दोषोका निराकरण करनेसे तर्कज्ञानमे प्रमाणता आती है। वह अपने विषयमें परिपक्व ज्ञान है जैसे कि अनुमान ज्ञान। अनुमान ज्ञान समारोपका निराकरण करता है अतएव प्रमाण है। तर्कज्ञानकी प्रमाणताके सम्बन्धमे एक यह भी तथ्य है कि जब कभी साध्य और साधनके विषयमें समारोप प्रकट हो जाय, संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय जग जाय तब उस सम्बन्धमे तर्क प्रमाणके द्वारा निर्णय करनेसे प्रमाता पुरुषका समारोप दूर हो जाता है। तो यह तर्कज्ञान साध्य-साधनके सम्बन्ध का यथार्थ निर्णय बनाता है। साध्य-साधनके सम्बन्धमे कदाचित् समारोप लगे, सशय आदिक हो तो तर्कज्ञानसे ही उनका निराकरण हुआ करता है। इस कारण तर्कज्ञान पुष्ट प्रमाण है। तर्कज्ञानके प्रमाणमें अनेक युक्तियां कही गई है। निष्कर्ष यह समझना कि तर्क-ज्ञान सम्पादक है, अपूर्व अर्थका ग्रहण करने वाला है, सशय, विपर्यय, अनध्यवसायका निरा-करण करने वाला है और वह प्रत्यक्ष और स्मृतिका कारण पाकर उत्पन्न हुआ है। तो मतिज्ञानके प्रकारोमे इस प्रकारका जो तर्कज्ञान है वह निश्चित प्रमाण सिद्ध है।

तर्कज्ञानकी प्रमाणताके चार हेतुवोका निर्देशन—तर्कज्ञान प्रमाण है, सम्पादक होने से, प्रसिद्ध अर्थका साधन करने वाला होनेसे, समारोपका व्यवच्छेदक होनेसे, और प्रमाणभूत मतिज्ञानको कारण करके उत्पन्न होनेसे। यहाँ चार अनुमान बताये गए है। उनके चार हेतुवोमे प्रथम हेतुका अर्थ यह है कि तर्कज्ञान सम्पादक है, क्योकि तर्कज्ञानके विषयमे कोई बाधक प्रमाण नही है, और उससे प्रवृत्ति, अर्थक्रिया, प्रयोजन सब सिद्ध होते देखे जाते है। दूसरा हेतु अप्रसिद्ध अर्थका साधक है, इससे यह स्पष्ट हुआ कि तर्कज्ञान अपूर्व अर्थका ग्राहक है, गृहीतग्राही नही है। यद्यपि अन्य प्रमाणोके द्वारा गृहीत विषयको कारण बनाकर तर्कज्ञान होता है, मगर तर्कज्ञान उपयोग विशेष है और वह अपूर्व अर्थको ग्रहण करने वाला है, जिसको अन्य ज्ञान नही विषय करते। तृतीय हेतु है तर्कज्ञान सशय विपर्यय और अनध्यवसायका निराकरण करता है, क्योकि तर्क है एक सर्वोत्कृष्ट युक्तियोका समुदाय। वहाँ सशय आदिक दोष नही रह पाते। अब चौथे हेतुपर विचार करते है। तर्कज्ञान प्रमाणभूत है, मतिज्ञानका कारण पाकर हुआ है। यहाँ मतिज्ञान स्वय तर्कज्ञान है अर्थात् तर्क प्रमाण मतिज्ञानका भेद कहा गया। मति, श्रुत आदिक ५ ज्ञानोमे से मतिज्ञानके जो भेद इस सूत्रमे कहे जा रहे है, इनमे जो मति है वह साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। तो तर्कज्ञानकी उत्पत्ति होने मे कारण है साव्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मृति, सज्ञा आदिक ये सब प्रमाण हैं, और इन प्रमाण-

भूत मतिज्ञानोके कारणसे तर्क नामक मतिज्ञान हुआ है। तो जो प्रामाणिक कारणसे हुआ है वह ज्ञान (कार्य) प्रमाण ही हो सकता है।

यहाँ यह शका न करनी चाहिए कि तर्कज्ञान तो स्वय मतिज्ञान है। उसे मतिज्ञानके कारणसे उत्पन्न हुआ कहनेका क्या अर्थ ? तो मतिज्ञानके अनेक भेद होते है, उनमेसे किन्ही भेदोके कारणसे कोई ज्ञान बन जाता है। जैसे मतिज्ञानका प्रकार स्मरणज्ञान है जैसा कि सूत्रमे बताया हो गया है, वह स्मरणज्ञान मतिज्ञानकी धारणा नामक स्मरणज्ञान उत्पन्न होता है। तो इसी तरहसे तर्क नामका मतिज्ञान भी मति स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, उपलम्भ और अनुपलम्भ आदिक जो मतिज्ञानके प्रकार है उनके द्वारा उत्पन्न होता है। तो जो प्रमाणपूर्वक प्रमाण बनता है वह प्रमाण कहलाता है। तो यह तर्कज्ञान मति स्मृति प्रत्यभिज्ञानपूर्वक हुआ है, इस कारण प्रमाणभूत है। अब यहाँ शकाकार कोई कहता है कि जो मतिज्ञानपूर्वक हो सो प्रमाण ही हो, ऐसा कोई नियम तो नही है। जैसे आगम श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक बताया गया है, लेकिन श्रुत आगम कोई प्रमाण नही है। इसके समाधानमे इतना ही समझना पर्याप्त है कि कौन कहता कि आगम प्रमाण नही है ? श्रुतज्ञान प्रमाण है। तो जो मतिज्ञानपूर्वक हुआ वह प्रमाण है, तर्कज्ञान मति स्मरण प्रत्यभिज्ञानपूर्वक हुआ है, अतएव वह प्रमाण है।

तर्कज्ञानकी प्रमाणताके विषयमे शंका समाधान—अब यहा क्षणिकवादी शका करते हैं कि जैसे हेतुज्ञानसे साध्यका ज्ञान होता है, अनुमान प्रमाण बनता है तो अनुमान प्रमाण की सिद्धि जो हेतुज्ञानसे हुई उन दोनोके सम्बधकी सिद्धि जैसे तर्क द्वारा की जा रही है तथा तर्कज्ञानका जो विषय है उसके साथ तर्कज्ञानके सम्बधको उपलम्भ अनुपलम्भ बता देते हैं तब तर्कज्ञानको जाननेकी जरूरत क्या है ? अथवा यह बतायें कि तर्कज्ञानने जो भी जाना उस विषयका ज्ञान क्या किसी अन्य प्रमाणसे हो सकता है ? तर्कज्ञान अविनाभाव सम्बन्ध को जानता है तो उसकी ज्ञप्ति प्रत्यक्षसे तो होती नही, क्योकि प्रत्यक्षज्ञान पूर्वकी बातको नही जानता। प्रत्यक्ष तो निर्विकल्प है, वह विचार नही करता और तर्कज्ञानसे जाने गए पदार्थ का जो तर्कज्ञानसे सम्बन्ध है उसे अनुमान भी नही जानता। अगर किसी दूसरे तर्कसे जान लें तो अनवस्था हो जायगी। फिर दूसरे तर्कका सम्बध भी तीसरे तर्कसे जानना होगा। और सम्बध जाने बिना तर्कज्ञानकी कीमत क्या है ? ऐसे अनेक दोष आते हैं। फिर तर्कज्ञानको प्रमाण क्यो माना जा रहा है ? उत्तर अति सक्षिप्त है। तर्कज्ञानके विषयका जो सम्बन्ध है उसे तर्कज्ञान स्वय जान लेता है। ऐसी योग्यता प्रत्येक प्रमाणमे है कि हर एक ज्ञान अपने विषयको स्वय जानता है। तर्कज्ञानके विषयको तर्क स्वय जानता है और अन्य कोई जानता नही। प्रत्यक्षका विपय वर्तमान है, वह तर्कके विषयको नही जानता है और न प्रत्यभिज्ञान

एकत्व और सादृश्यको जानता, पर जहां साधन है वहाँ साध्य होता है, इस सम्बन्धको तर्क-ज्ञान ही जाना करता है। इस कारण तर्कज्ञान प्रमाण है। कोई भी ज्ञान अपने सम्बधको जाननेके लिए परमुखापेक्ष नही होता, हाँ उत्पत्ति अवश्य किसी प्रमाणकी परसे हुआ करती है।

प्रत्यक्षज्ञानकी तरह तर्कज्ञानकी स्वतन्त्र प्रमाणता—तर्कज्ञान स्वतंत्र प्रमाण है प्रत्यक्षकी तरह। और जैसे प्रत्यक्ष अपनी योग्यताके बलसे अपना और अपूर्व अर्थका प्रकाश करने वाला है इसी प्रकार तर्कज्ञान भी योग्यताके बलसे अपना और अपूर्व अर्थका प्रकाश करने वाला है। प्रत्यक्ष जिस विषयको जानता है उस विषयको निरपेक्ष होकर जानता है याने अपने विषयका सम्बंध है प्रत्यक्षके साथ, इसके प्रमाणके लिए अन्य ज्ञानके ढूढनेकी आवश्यकता नही होती। यदि प्रत्यक्षके विषयका प्रत्यक्षके साथ सम्बध बनानेसे लिए अन्य ज्ञानकी अपेक्षा बने तो अनवस्था दोष हो जायगा। यही बात तर्कज्ञानमे है। तर्कज्ञानका जो विपय है उसके साथ तर्कका सम्बध बनानेके लिए अन्य ज्ञानकी अपेक्षा नही होती, अन्यथा यहाँपर भी अनवस्था दोष हो जायगा। तर्कज्ञानको प्रत्यक्षकी तरह अपने विषय सम्बधके ग्रहणमे निरपेक्ष कहा है। अब जरा प्रत्यक्षकी यह विशेषता देखिये। इतना तो निश्चित है कि प्रत्यक्षका अपने विषयके साथ सम्बन्ध है, उसे ग्राह्य-ग्राहक भाव कह लीजिए याने प्रत्यक्ष तो ग्रहण करने वाला है और यह विषय ग्राह्य है या विषयविषयी भाव सम्बन्ध कह लीजिए अर्थात् प्रत्यक्ष तो विषयी है याने उस विषयका जाननहार है और वह पदार्थ विषय है या तदुत्पत्ति तदाकार जैसा सम्बंध कह लीजिए। कुछ भी सम्बन्ध हो, सम्बन्ध तो मानना ही पडता है।

अब यह बताये कि उस सम्बंधका ग्रहण किसके द्वारा होता है ? प्रत्यक्षज्ञानने जिसे जाना उसका सम्बध है प्रत्यक्षके साथ, इस सम्बधका ग्रहण करने वाला कौन है ? विचार करो। अगर कहो कि प्रत्यक्ष और विषयके सम्बधको जानने वाला दूसरा प्रत्यक्ष है तो उसका भी सम्बध कौन जाने ? तीसरा। यो अनवस्था दोष लगेगा। तो यहाँ विचार यह चल रहा है कि प्रत्यक्षके विषयका सम्बन्ध ग्रहण करनेकी आवश्यकता नही है, वह स्वय स्वसम्वेदन सिद्ध है। सम्बध तो है, विषयविषयी भाव तो है। अगर विषयविषयी भाव न हो तो प्रत्यक्ष अपने इस ही विषयको ग्रहण कर रहा है, यह निश्चय न बन सकेगा, क्योकि प्रत्यक्षका विषय के साथ यदि सम्बंध नही याने असम्बधसे जान लिया तो कोईसा भी एक प्रत्यक्ष सर्वदेश सर्व कालके पदार्थोंको क्यो नही जान सकता ? उन्हे भी जानने लगे। फिर कौन रोकेगा ? इस-लिए सम्बध जानना तो आवश्यक है, पर उस सम्बधको किसी ज्ञानसे ग्रहण किया जाय तब ही प्रत्यक्ष उसे जान सकेगा, यह बात नही है। वह तो स्वसवेदन सिद्ध है।

प्रत्यक्षज्ञानके विषयकी प्रत्यक्ष सवेदनसिद्धताकी तरह तर्कज्ञानके विषयकी तर्क-सवेदनसिद्धता होनेसे तर्कज्ञानकी निर्वाध प्रमाणता—स्वसम्वेदनको न मानकर और ऐसी हठ करने पर कि प्रत्यक्ष प्रमाणसे जिस विषयको जाना है उस विषयके साथ प्रत्यक्षके सम्बन्धको कौन जानता है ? तो इसका उत्तर देनेपर अनेक दोष है । यदि अन्य प्रत्यक्ष जानता है तो अनवस्था दोष हो जायगा । यदि अनुमानसे उस सम्बन्धको ग्रहण किया जाय तो भी अनवस्था दोष आता है । यदि यह कहा जाय कि प्रत्यक्षके विषयका सम्बन्ध है उसका ज्ञान स्वय अपने प्रत्यक्षके स्वरूपमे प्रतिष्ठित हो रहा है और उसी प्रकार सम्बन्धकी कल्पना करती हुई प्रतीति होती है तो यह भी नही बनता । याने कोई भी प्रत्यक्ष स्वय अपने आप तो सम्बन्धको नही जान रहा याने उस सम्बन्धको अलगसे जाननेकी आवश्यकता ही नही है । वह तो स्वसम्वेदन सिद्ध है । यह घट है, यह पुस्तक है आदिक प्रत्याकारक ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा स्वय हो रहा है । इसमे सम्बन्ध तो नही प्रतिभासित किया जाता । सो स्वसम्वेदन सिद्ध होनेसे उस सम्बन्धका ग्रहण करानेके लिये उस ही प्रत्यक्षकी बात कहना युक्त नही । दूसरे प्रत्यक्षको ग्रहण करे तो अनवस्था है और कोई कहे कि अनुमानसे प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षके विषयके सम्बन्धको ग्रहण करना बन जायगा, सो यह भी ठीक नही, क्योकि उस अनुमानकी भी तो स्थिति प्रत्यक्षके आधीन है । फिर उस प्रत्यक्षका सम्बध बनावे वह अनुमानमे बनेगा, वह प्रत्यक्षके आधीन है । फिर अन्य प्रत्यक्षके विषयका सम्बध बतावे तो यो अनवस्था दोष होगा ।

वास्तविकता यह है कि प्रत्यक्ष अपने विषयभूत अर्थको अपने ही स्वसम्वेदनमे सिद्ध होता हुआ जानता है अर्थात् अपने ही द्वारा योग्य अर्थका ज्ञान करा देना, बस यह ही सम्बध ग्रहण है प्रत्यक्षमे और इससे फिर कोई अतीन्द्रिय सम्बन्ध ही तो सिद्ध हुआ । जिसको इन्द्रिय द्वारा नही बताया जा सकता । प्रत्यक्षके ही स्वयके स्वरूपसे सिद्ध है । तो इस अतीन्द्रिय सम्बधका ही नाम क्षयोपशम है । अपने अर्थको विषयको जाननेका जो स्वसवेदन चल रहा है उसका कारण क्या है ? लब्धिरूप अतीन्द्रिय सम्बध है, उसीका नाम योग्यता है । तो जैसे इन क्षयोपशमरूप योग्यताके द्वारा प्रत्यक्षज्ञान स्वय सम्बध ग्रहण करता है याने जानता है, इस प्रकार क्षयोपशमरूप योग्यताके द्वारा तर्कज्ञान भी अपने विषयका सवेदन करता है । तो प्रत्यक्षज्ञान जैसे विषयभूत पदार्थको जाननेमे स्वतत्र है, हाँ उत्पत्ति होनेमे इन्द्रिय आदिककी अपेक्षा होती है । इसी प्रकार तर्कज्ञान भी अपनी व्याप्ति सम्बधको ग्रहण करनेमे स्वतंत्र है । हाँ उसकी उत्पत्ति प्रत्यक्ष, स्मरण प्रत्यभिज्ञानसे हुआ करती है । प्रत्यक्ष प्रमाण अपने विषय मे सम्बधके ग्रहणकी अपेक्षा नही रखता और निरपेक्ष होकर प्रवृत्ति करता है अर्थात् अपने विषयको चाहे जब स्वय जान लेते है, इसमे कारण योग्यता है । इस योग्यताके मिलनेपर यह

इन्द्रियजन्य ज्ञान सीधे पदार्थोंको स्पष्ट जानता है।

अनुमान ज्ञानको भी अनुमेयज्ञप्तिमें परानपेक्षता, मात्र अनुमान प्रमाणकी उत्पत्तिमें परापेक्षता—अब यहाँ शकाकार कहता है कि देखो जैसे तर्कको अपने विषयके सम्बधके ग्रहण की अपेक्षा करनेकी आवश्यकता तो नही बतायी तो ऐसे ही अनुमान प्रमाण भी अपने ही आवरणके क्षयोपशमके कारण अपने विषयको जान ले, फिर अनुमानके विषयका सम्बध ग्रहण करनेके लिए याने साध्य-साधनके सम्बधको ग्रहण करनेके लिए तर्कज्ञान माननेकी जरूरत क्यों रही ? इसके उत्तरमे कहते है कि शकाकारका कहना तभी तक सुन्दर है जब तक उस पर विचार नही किया जा रहा। वास्तविकता यह है कि अनुमान प्रमाण भी अपने अनुमेय अर्थको जाननेके लिए अपनी योग्यतासे निरपेक्ष होकर जानता है, पर अनुमानका विषय साध्य-साधनके सम्बधको ग्रहण करना तो नही, केवल साधन देखकर साध्यका ज्ञान करना भर है, पर साधन देखकर साध्यका ज्ञान करनेकी बात तब ही बन पाती है जब साध्य-साधन की व्याप्तिका निश्चय हो। पर साध्य-साधन व्याप्तिका निश्चय करना अनुमानका विषय नही, तर्कज्ञानका विषय है। हाँ साध्यका ज्ञान करना अनुमानका विषय है और वह अनुमानावरण के क्षयोपशमरूप योग्यतासे हो जाता है, लेकिन उस अनुमानकी उत्पत्ति तो साध्य-साधनके सम्बधको ग्रहण करनेकी अपेक्षा बिना नही होती। कोई भी पुरुष जिसने साध्य-साधनका सम्बन्ध ग्रहण नही किया उसको कभी भी अनुमानकी उत्पत्ति नही बनती। सो अनुमानकी उत्पत्ति होनेपर अनुमान द्वारा अनुमेय अर्थका स्वतत्रतासे ज्ञान हो जाता है, लेकिन अनुमान की उत्पत्ति स्वतंत्र नही है। कौन प्रमाण किस प्रमाणपूर्वक उत्पन्न होता है, इसका ज्ञान स्वय इस ही सूत्रमे बताये गए मतिज्ञानके विशेषोके क्रमको देखकर परखा जाता है।

इस सूत्रमे क्रम यह रखा गया है मति अर्थात् सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान उत्तर उत्तरके ज्ञान पूर्व पूर्व ज्ञान पूर्वक होते है, यह क्रम सूत्रमे कहे गए क्रममे पडा हुआ है। जैसे स्मरणज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है, पहले प्रत्यक्षसे जाना हो उस ही का तो स्मरण बना करता है। प्रत्यभिज्ञान प्रमाण प्रत्यक्ष और स्मरणपूर्वक होता है। किसीका प्रत्यक्ष किया था उसका स्मरण हुआ और वर्तमानमे कुछ प्रत्यक्ष किया जा रहा तो वर्तमानके प्रत्यक्षके विषयका स्मरणके विषयके साथ सम्बध जोडनेको प्रत्यभिज्ञान कहते है। तर्कज्ञान मति स्मृति और प्रत्यभिज्ञानपूर्वक होता है और अनुमान ज्ञान मति स्मृति प्रत्यभिज्ञान और तर्कज्ञानपूर्वक होता है। तो अनुमानमे जो व्याप्तिका सम्बध है उसके ग्र ण की तो जरूरत है, पर तर्कके विषयके सम्बधको ग्रहण करनेकी जरूरत नही। वह उस ही ज्ञानके द्वारा स्वसम्वेदनसे सिद्ध हो जाता है।

तर्ककी प्रमाणताके विषयमे कुछ शङ्काओका समाधान—यहाँ शङ्काकार कहता है

कि तर्क तो प्रमाणके विषयका शोधक है। वह स्वय प्रमाण नही है। प्रमाणके विषयका शोधकका अर्थ यह है कि जो अनुमान प्रमाणका विषय बनता है उस विषयका मार्ग साफ कराने वाला है। कही तर्क स्वय प्रमाण न बन जायगा—इस शङ्काके समाधानमे कहते है कि यह भी बडे गजबकी बात कही जा रही है, प्रमाणके विषयमे बुद्धि होना वह बात अप्रमाणसे कैसे बनेगी ? यदि प्रमाणके विषयकी बुद्धि अप्रमाण कर दे तो फिर मिथ्याज्ञानसे भी प्रमाणके विषयकी शुद्धि बन जाना चाहिए। इसपर शङ्काकार कहता है कि यह कोई प्रसग नही है। बात यह है कि जैसे सशयित पदार्थोंमे प्रमाणोकी प्रवृत्ति निर्णयके लिए होती है उसी प्रकार तर्कित पदार्थोमे भी प्रमाणोकी प्रवृत्ति निर्णयके लिए होती है। जब कभी किसी विषयमे सदेह हो जाता है कि यह सीप है या चाँदी या अन्य कुछ तो सशयज्ञान बन जाने पर अब उसपे दिमाग चलेगा, बुद्धि लगेगी, ज्ञान प्रमाणकी प्रवृत्ति बनेगी। तो सशयित अर्थ मे जो प्रमाणकी प्रवृत्ति बनती है वह एक निर्णयके लिए ही तो बनती है, ताकि एक वास्तविक निर्णय बन जाय कि है क्या वस्तु ? ऐसे ही जो तर्कके विषय हैं और जिन विषयोंमे अनेक प्रकारके सकल्प विकल्प उठ रहे है, उसमे प्रमाणोकी प्रवृत्ति होती है और निर्णयके लिए होती है। इससे तर्क कोई स्वतत्र प्रमाण नही है, वह तो केवल प्रमाणके विषयका शोधक है।

इस शङ्काके उत्तरमे कहते है कि सशयित पदार्थोका दृष्टान्त देकर यह सिद्ध करना कि तर्कित पदार्थोमे भी प्रमाणोकी प्रवृत्ति निर्णयके लिए होती है। तो इसके मायने यह हुए कि सशयज्ञान प्रमाणके विषयका साधक है, क्योकि सशय हुआ। उसीमे दिमाग लगाकर एक निर्णय बनाया तो उस प्रमाण और निर्णय होनेका मूल आधार तो सशय रहा। तो यो सशय प्रमाणके अर्थका शोधक बना, यह बात सिद्ध हो गई। सशयज्ञान अप्रमाणताके लिए नही रहा, किन्तु वह तो प्रमाणके अर्थका साधक बन गया शङ्काकारके इस मतव्यमे। तो जब इस तरह सशयित ज्ञानोमे प्रमाणकी प्रवृत्ति होती है और यो सशयज्ञान प्रमाणका साधक बन गया, ऐसे ही तर्कको भी प्रमाण मान लेना चाहिए, क्योकि वह तो प्रमाणका शोधक है। जैसे अप्रमाणपनेसे सशयज्ञानकी व्यवस्था होना मानते, इसी प्रकार प्रमाणका साधक तर्कज्ञान है तो उसे भी प्रमाण मान लें, क्योकि अब तो तर्कको सशयकी जाति वाला ज्ञान रख दिया, क्योकि उसके लिए दृष्टान्त सशयज्ञानका बताया। और फिर सशयसे तर्क जुदा हो गया, क्योकि स्वय वैशेषिकोने यह माना कि मिथ्या ज्ञानके तीन भेद है—सशय, विपर्यय और तर्क। तो अब और कितने पदार्थ माने जायें ? पदार्थोंकी कोई सख्याकी व्यवस्था ही न रहेगी। अन्य-अन्य प्रकारसे पदार्थोंकी सख्या बन गई, क्योकि पदार्थोंमे तर्कको गिनते नही और तर्क है सशयकी जातिका और किसी प्रकरणमे शङ्काकारने तर्कको सशयसे जुदा लिखा तो एक

तर्क भी पदार्थ बन गया ना, और-और भी बने। तो इससे सारी व्यवस्था रद्द हो जाती है। तो ऐसी उलझन दोष मिथ्या जालोसे बचनेके लिए सीधा-सादा सिद्धान्त मान लेना चाहिए कि तर्कज्ञान प्रमाण है, क्योंकि वह प्रमाण करने योग्य कार्यका करने वाला है। प्रमाणका फल है प्रमाणसे निर्णय किया और उस निर्णयके अनुसार त्याग ग्रहण उपेक्षा आदिककी प्रवृत्ति की तो इस विषयमे यह एक अनुमान प्रयोग है कि तर्कज्ञान प्रमाण है, क्योंकि प्रमाणसे जो कर्तव्य है उसे करने वाला है। जैसे प्रत्यक्ष अनुमान आदिक पदार्थ। प्रमाण तो कर्तव्यके प्रत्यक्षका साधन है और उसका करने वाला तर्कज्ञान है, यह प्रसिद्ध हो है। तो इसलिए हेतु असिद्ध न रहा और इस हेतुमे अनैकातिक दोष भी नही, क्योंकि जो प्रमाण नही है उनमे कर्तव्यकारिता भी नही है। अन्य प्रमेय घट पट आदिक जो अचेतन है और सशय आदिक जिन्हे प्रमाणके विषयका शोधक कह रहे हो, ये प्रमाणके विषयके साधक नही है, क्योंकि विरोध है। घट पट आदिक तो प्रमाणसे रहित ही है और सशय आदिक प्रमाणोसे विपरीत है। तो इसमे प्रमाणका कर्तव्य भी क्रिया नही बनती। इस कारण तर्कको अगर ऐसा साधक मानना चाहते हो कि वह प्रमाणके विषयका साधक है तो उसको इसका प्रमाणपना निश्चित मान लेना चाहिए।

प्रमाणानुग्राहक होनेसे तर्कमें प्रमाणताकी सिद्धि—अब और भी तर्कके विषयमे प्रमाणताकी वात सुनो। तर्कज्ञान भले प्रकार प्रमाण है, क्योंकि वह उसी प्रकार ही अनुग्राहक होना है। जो प्रमाणोका अनुग्राहक है वह प्रमाण है। तर्कज्ञान बिना अनुमान प्रमाण बनता नही। यो तर्कज्ञान अनुमान प्रमाणका अनुग्राहक है, इस कारणसे तर्क प्रमाण है। तर्कज्ञान मे अनुग्राहकता है और अनुग्राहकताकी व्याप्ति प्रमाणपनसे है, इस कारण तर्कज्ञान प्रमाण है। तो जिस प्रकारका अनुग्राहकपना तर्कमे देखा जा रहा, प्रमाणमे देखा जा रहा वह अनुग्राहकता प्रमाणाभासोमे नही होती। तो यह अनुमान और प्रत्यक्ष जैसे अनुग्राहक है, प्रमाण है, ऐसे ही अनुमानपर कृपा करने वाला तर्कज्ञान भी अनुग्राहक है और प्रमाण है। जिस अर्थ मे जो प्रमाण पहलेसे ही प्रवृत्ति कर रहा है उसी विषयमे अन्य प्रमाणकी प्रवृत्ति हो जाय वही तो अनुग्राहकता कहलाती है। तो ऐसी अनुग्राहकता पहलेसे निर्णय किए हुए पदार्थकी अधिक दृढता करा देनेसे कहा जाता है। जैसे तर्कज्ञान पहले प्रवृत्त हो रहा, अब उस सम्बध मे अनुमान प्रमाणकी प्रवृत्ति चलने लगी तो तर्कज्ञानने अनुमान प्रमाणमे जान दे दी अर्थात् अनुमान प्रमाण सही ही है, मिथ्या नही है, इसका जताने वाला बन गया तर्कज्ञान। उत्तर ज्ञान प्रमाणभूत है, ऐसा निरखनेमे अपने आप सिद्ध होता है कि जिस प्रमाणके कारण यह उत्तर ज्ञान हुआ वह भी प्रमाणभूत है, क्योंकि पहले प्रमाणने उत्तरप्रमाणमे दृढता ला दी। तो जो अनुमान प्रमाणको बहुत ठीक सिद्ध करना चाहता है तो उसपर अनुग्रह करने वाला तर्क प्रमाण है, उसे भी प्रमाण मानना चाहिए।

अव्यवहित स्वार्थका निश्चायक होनेसे तर्ककी प्रमाणता—अब यहाँ कोई ऐसी आशका कर सकता है कि तर्कज्ञान अलगसे प्रमाण तो हम नही मानते, किन्तु प्रमाणकी सामग्रीके भीतर आया हुआ मानते है और इस प्रकारसे प्रमाण द्वारा निर्णय चले आ रहे हैं, इसलिए सब प्रमाणोकी सामग्रीमे तर्कज्ञान प्रतिष्ठित है और यह गौण प्रमाण है। जैसे वकील के पिताको लोग वकील कह देते है, अब पिता वकालात पढा है या नही, यह बात अलग है। नही भी पढा है वकालात, फिर भी वकीलके पिताको वकील कहते हैं, एक ऐसा रिवाज है। तो ऐसे ही अनुमानका पिता है तर्कज्ञान, मायने साध्य-साधनके विषयका सबध जब जान लेते तब प्रमाणकी उत्पत्ति होती है तो प्रमाणका जनक है, अनुमानका जनक है तर्कज्ञान। सो अनुमान प्रमाणके पिता तर्कको भी प्रमाण कह दिया जाता है। कही वह तर्क स्वतत्र न्यारा पदार्थ नही है। इस शकाके उत्तरमे कहते है कि यह बात तो बिना विचारे ही ठीक लग रही है। उसपर वस्तुत विचार करे तो तर्क स्वय प्रमाण है, यह सिद्ध हो जायगा। उसका अनुमान प्रयोग यो है कि तर्कज्ञान प्रमाण है, क्योकि अव्यवहित रूपसे स्वार्थका निश्चय करता है, और परम्परासे वह प्रकृष्ट उपकारक है। जैसे कि प्रत्यक्षज्ञान प्रमाण है. वह क्यो है कि एक तो साक्षात् स्वार्थका निश्चय कराता है, अव्यवहित याने सीधा प्रत्यक्षका परिचय बनता है।

साक्षात् व परम्परया फलवान होनेसे तर्ककी प्रमाणता—दूसरी बात यह है कि जैसे प्रत्यक्षज्ञानका फल साक्षात् अज्ञाननिवृत्ति व परम्परासे होने वाला त्याग, ग्रहण, उपेक्षा है, अत प्रमाण है। इसी प्रकार तो जिस तरह प्रत्यक्ष प्रमाण बन गया उन्ही कारणोसे यह तर्क ज्ञान भी प्रमाण कहलाता है, क्योकि तर्कज्ञान साक्षात् तो अपने विषयका ज्ञान करा रहा, साध्य और साधनके अविनाभाव सम्बन्धका बोध करा रहा, अज्ञाननिवृत्ति हो गई, यह तो हुआ साक्षात् फल। अपने विषयका निश्चयरूप, और परम्परया फल है कि उससे स्वार्थानुमान बना, हेयमे हेयबुद्धि बनी, उपादेयमें ग्रहणबुद्धि बनी। उपेक्षनीय तत्त्वमे उपेक्ष्यबुद्धि बनी। इस तरह तर्कज्ञान प्रसिद्ध हो रहा है, सबके काम आ रहा है। इस कारण तर्कज्ञान प्रमाण है, क्योकि वह साधकतम है। पदार्थका निश्चय करानेमे एकमात्र साधन बन रहा है। जैसे कि अनुमान ज्ञान और अन्य ज्ञान प्रत्येक ज्ञानका साक्षात् फल है। अपने विषयभूत पदार्थके विषयमे अज्ञानको हटा देना और परम्परया फल है पुरुषार्थकी प्रवृत्ति बनना और उसके अनुसार छोडने योग्य हो तो छोडना, ग्रहण करने योग्य हो तो ग्रहण करना। जैसे जिस मार्गसे जा रहे उसीमे तेज धुवाँ दीखा तो अग्निका अनुमान किया, उससे हट गए, कभी जरूरत थी आगकी, जाडेके दिन थे, धुवाँ दीखा तो उस ओर चले गए, अग्नि है, तापना चाहिए। तो तर्कसे जानकर पुरुषार्थकी प्रवृत्ति होती है। त्यागने योग्यको त्यागता है, ग्रहण करने योग्यको

ग्रहण करता है। तो अनेक कारणोसे दृष्टान्तपूर्वक यह प्रसिद्ध किया गया कि तर्कज्ञान प्रमाण है।

अनुमानप्रमाणकी प्रमाणताका प्रतिपादन—अब अनुमान प्रमाणकी प्रमाणताके विषय मे कहते है। साधनसे साध्यका ज्ञान होना, इसे अनुमान कहते है। अनुमानज्ञान प्रधानरूपसे साध्यकी विधि करनेमे चरितार्थ है और गौणरूपसे साध्यसे विरुद्ध सब बातोंके निषेध करनेमे चरितार्थ है तथा इसके साथ यह भी समझना कि कोई अनुमान तो उपलब्धिहेतु द्वारा विधि सिद्ध करता है, कोई अनुमान उपलब्धिहेतु द्वारा निषेध सिद्ध करता है, कोई अनुमान अनुपलब्धिहेतु द्वारा साध्यकी विधि सिद्ध करता है और कोई अनुमान अनुपलब्धि द्वारा निषेध सिद्ध करता है। इस तरह मूलमे चार प्रकारके अनुमान होते है। इन सब अनुमानोमे साध्य और साधन ये सही लक्षण वाले होने ही चाहिएँ। साधनका लक्षण है अन्यथानुपपत्ति अर्थात् साध्य के बिना साधनका होना। ऐसी यदि व्याप्ति पायी जाती है तो वह साधन सही साधन है, और साध्य होना चाहिए शक्य, अभिप्रेय और अप्रसिद्ध। अनुमान प्रमाणसे जिस बातको सिद्ध करना है उसको साध्य कहते है। तो साध्य शक्य है, जो सम्भव है, सिद्ध करने योग्य है वह तो शक्य कहलाता है। सो साध्य शक्य होना ही चाहिए। कोई अशक्य बातको साध्य करने लगे तो उससे लाभ क्या होता है ? सिद्ध ही नही हो सकता।

दूसरी बात साध्यको इष्ट होना चाहिए। क्या कोई अपनी अनिष्टसिद्धिके लिए भी अनुमान करता है याने जो अपने सिद्धान्तसे विरुद्ध है, इष्ट नही है उसके लिए साध्य करे, ऐसा कोई नही होता। अन्यथा उसके लिए तो विरोध हो गया और दूसरे वादीके लिए वह भूषण बन गया। तो साध्य अभिप्रेत होना चाहिए। साथ ही साध्य अप्रसिद्ध होना चाहिए। जो प्रसिद्ध ही है, प्रत्यक्षसिद्ध ही है, ऐसी बातको सिद्ध करनेके लिए अनुमानकी क्या आवश्यकता है ? अग्नि सामने है, गर्म है। अब अग्निको गर्म सिद्ध करनेके लिए कोई प्रलाप करे, युक्तियाँ दे तो उसका क्या अर्थ है ? तो साध्य शक्य, इष्ट और अप्रसिद्ध होना चाहिए।

अनुमान ज्ञानका दूसरा नाम आभिनिबोध है। इस आभिनिबोधका क्या अर्थ है ? अभि उपसर्ग है, नि यह भी उपसर्ग है और बोध यह एक धातु निर्मित शब्द है, जिसका अर्थ हुआ कि साध्यके अभिमुख होकर साधनके द्वारा जो नियत बोध होता है उसे आभिनिबोध कहते है। अभि मायने अभिमुख, नि मायने नियत और बोध मायने ज्ञान। साधनका ज्ञान अनुमानको बनाने वाला होता है। केवल साधनभूत पदार्थके सद्भावमात्रसे साध्यका ज्ञान नही होता, किन्तु साधनका कोई ज्ञान करे और साधन और साध्यका अविनाभाव सम्बन्ध समझे उसको ही साधनसे साध्यका ज्ञान हुआ करता है। निष्कर्ष यह है कि साधन का तो लक्षण है साध्यका अभाव होने पर जो न हो ऐसे लक्षण वाला हेतु साधन कहलाता

है और ऐसे साधनसे शक्य इष्ट अप्रसिद्ध साध्यका ज्ञान होता है, यह अनुमान है। तो अनुमान प्रमाणमे साध्यके ज्ञानकी अभिमुखता है और उसमे नियत सम्बधित ज्ञान बन गया है और वह सब हेतुके द्वारा बना है, इस प्रकार ऐसे ज्ञानको आभिनिबोध ज्ञान कहते हैं।

आभिनिबोधिक सामान्य व आभिनिबोधिक विशेषका कथन—अब यहाँ शकाकार कहता है कि आभिनिबोध ज्ञान तो सामान्य मतिज्ञानका नाम दिया गया है सिद्धान्त ग्रन्थोमे। जैसे ज्ञान ५ प्रकारके होते हैं—आभिनिबोधित ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। अनेक सिद्धान्त ग्रन्थोमे मतिज्ञानके एवजमे आभिनिबोधित ज्ञान शब्द दिया है। षट्खडागम सूत्रमे भी आभिनिबोधित शब्द दिया है और यहाँ कहा जा रहा है अनुमान को। अनुमान तो याने स्वार्थानुमान जो यहा आभिनिबोधित शब्दसे कहा जा रहा है वह तो मतिज्ञान सामान्यका याने आभिनिबोधित ज्ञानका एक विशेष है, फिर यहाँ आभिनिबोधित शब्द क्यो दिया ? इस शकाके उत्तरमे कहते है कि प्रकरणके विशेषसे और अन्य शब्द चूकि और दिए गए है, इससे सामान्य शब्दका विशेष अर्थमे भी प्रवृत्ति हो जाती है। इस सूत्रमे मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, इतने शब्द दिए है और उस ही धारामे आभिनिबोध शब्द दिया है, जिसका यह अर्थ होता है कि ये ५ ज्ञान मतिज्ञानके विशेष है याने आभिनिबोध ज्ञानके विशेष है। इससे यह समझना कि जिसके ३३६ भेद बताये गए हैं वह आभिनिबोधिक ज्ञान तो सामान्य मतिज्ञान जानना चाहिए। और जब अवग्रह आदिक मतिज्ञानके विशेषोको कहा जाय, स्मृति आदिक कहा जाय तब पृथक्से जो आभिनिबोधिक शब्द दिया जाय तो उससे स्वार्थानुमान अर्थ लेना चाहिए। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रिय और मनके द्वारा नियमित कुछ साध्य अर्थके प्रति अभिमुख ज्ञानका आभिनिबोधिक नाम है। यह तो हुआ एक सामान्य अर्थ और साधनकी अपेक्षा रखकर मनके द्वारा जो साध्य अर्थके अभिमुख होकर नियमित परिचयमे आभिनिबोधिक है यह हुआ स्वार्थानुमानका अर्थ।

शंकाकार द्वारा हेतुका लक्षण अन्यथानुपपन्नत्व न मानकर त्रैरूप्य माननेका प्रस्ताव—अब यहाँ क्षणिकवादी शका करते है कि अभी जो हेतुका लक्षण कहा गया है कि अन्यथानुपपत्ति जिसमे हो वह साधन हैं और ऐसे साधनसे साध्यका ज्ञान होना अनुमान है और इस ही को आभिनिबोध शब्दसे कहा गया है, यह अर्थ सही नही है। कारण कि लिंगका याने साधनका लक्षण अन्यथानुपपत्ति नही है, किन्तु उसके तीन रूप हुआ करते है—पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति। याने जो हेतु पक्षमे रहे उसे कहते हैं पक्षसत्त्व लक्षण वाला हेतु, जो हेतु सपक्षमे रहे उसे कहते हैं सपक्षसत्त्व लक्षण वाला हेतु, जो हेतु विपक्षमे न रहे उसे कहते है विपक्षव्यावृत्ति लक्षण वाला हेतु, याने जैसे एक अनुमान प्रयोग किया कि यहाँ पर्वतमे अग्नि है धूम होनेसे। जहाँ-जहाँ धूम होता वहा अग्नि है, जैसे रसोईघर। और जहा

अग्नि नही होती वहा धूम नही होता, जैसे तालाब। तो इस प्रयोगमे पक्ष तो है पर्वत, सपक्ष है रसोईघर और विपक्ष है तालाब। तो धूम पर्वतमे है, धूम रसोईघरमे है और धूम तालाबमे नही है, तालाब विपक्ष है, उसमे नही है। तो ऐसे तीन रूप मिल जायें, उस हेतुसे साध्यका ज्ञान होना अनुमान कहलाता है।

अन्यथानुपपन्नत्व न होनेपर त्रैरूप्यके सद्भावमे भी हेतुपना न होनेसे त्रिरूपताके हेतुलक्षणत्वका निराकरण—अब उक्त शङ्काका समाधान देते है कि साधनका त्रिरूप लक्षण बनाना युक्त नही है, क्योंकि लक्षण वह बनाया जाता है जिसमे कोई प्रकारका दोष न आये। मगर यह लक्षण तो हेत्वाभासमे भी सम्भव है और सच्चा हेतु हो, कहो और उसमे घटित भी न हो, इस कारणसे त्रिरूपता साधनका लक्षण नही है। इसका स्पष्टीकरण यह है कि देखो एक यह अनुमान बनाया जाय कि बुद्ध असर्वज्ञ है, क्योंकि वक्ता है, पुरुष है। तो ऐसा कोई अनुमान बनाये तो देखो वक्तापन, पुरुषपन बुद्धमे है ना, तो पक्षसत्त्व मिल गया और अनेक लोकमे है ना वक्तापन और पुरुषपन। रास्तागीर हो, कोई हो तो लो सपक्षसत्त्व मिल गया और जो असर्वज्ञ नही है याने सर्वज्ञ है उसमे वक्तापन नही है जैसे मुक्त जीव, तो ऐसा हेतु सही तो नही मान सकता शङ्काकार, क्योंकि उसके ही इष्टका घात हो जायगा और यदि यह कहो कि पक्ष तो मिल गया, सपक्ष सत्त्व भी मिल गया, मगर विपक्ष व्यावृत्तिका सदेह है तो उसका अर्थ यह ही तो हुआ कि साध्य जहाँ न हो वहाँ हेतु व्यावृत्ति हो जाय तब हेतु है, इसका ही भाव है कि अन्यथानुपपत्ति हो तो हेतु है। यदि त्रैरूपमात्र हेतुका लक्षण कहते हो तब तो सदोष है और कहो कि विशिष्ट त्रैरूप्य हो तो विशिष्टका अर्थ किया है अन्यथानुपपत्ति, अन्यथानुपपत्ति सहित हो तो तीनरूप माननेकी आवश्यकता क्या? और अन्यथानुपपत्ति नही है तो तीन रूप भी तुम सिद्ध न कर सकोगे। सर्वज्ञ भी वक्ता हो सकता है। सशरीर परमात्माकी दिव्यध्वनि खिरती है तो इतना तो हो गया कि पक्ष धर्मत्व हो, सपक्षसत्त्व हो तो वह हेतु सही नही कहलाता। विशिष्ट विपक्षव्यावृत्ति हो तब हेतु सही है, उसीका अर्थ है कि अन्यथानुपपत्ति हो तब सही है। अब यह विषय अलग है कि अमुक सर्वज्ञ हो सकता या नही, उसका प्रमाण फिर उसके वचन याने शासनकी मीमासापर निर्भर है। जहाँ पूर्वापर विरोध नही, युक्तियोपर विरोध नही, ऐसे वचन जिसके हो उसे कह सकते है कि यह सर्वज्ञ है, यह विषय अलग है, पर प्रसंगवश यह बात कही जा रही है कि अन्यथानुपपत्ति हो तब तो वह हेतु सही है और अन्यथानुपलब्धि नही तो वह हेतु सही नही हो सकता।

त्रिरूपताका सद्भाव होनेपर, अन्यथानुपपन्नत्व न होनेपर हेतुत्वका अभाव तथा त्रिरूपताका अभाव होनेपर भी अन्यथानुपपन्नत्व होनेसे हेतुत्वका सद्भाव होनेके कुछ उदा-

हरण—और भी दृष्टान्त देखिये जिससे त्रिरूपता भंग हो जाती है। जैसे कोई कहे कि यह बालक ब्राह्मण है, क्योंकि माता पिता ब्राह्मण है, लोकदृष्टिसे बात तो सही है, अनुमान ठीक है, मगर यहाँ पक्ष सत्त्व तो है ही नही याने पक्ष बनाया गया इस लडकेको और हेतु दिया गया माता पिता ब्राह्मण है, तो माता पिताका ब्राह्मणत्व लडकेमे तो नही आया। माता पिताका ब्राह्मणत्व माता पितामे ही है। अच्छा और भी उदाहरण सुनो—एक अनुमान बनाये कि यह जीवित शरीर आत्मासहित है, क्योंकि श्वासोच्छ्वास आदिक होनेसे। तो अब यहाँ कोई ऐसी व्याप्ति करके दृष्टान्त ढूढे कि जिस जिसमे श्वासोच्छ्वास होता है वह आत्मासहित होता है तो उदाहरण तुम क्या दोगे? जिसको उदाहरणमे दोगे वह तो पक्षमे ही बना हुआ है, सभी जीवित शरीर आत्मासहित है। अब सपक्ष क्या मिलेगा? तो देखो सपक्षसत्त्व नही है फिर भी हेतु ठीक है। अच्छा एक ऐसा कोई दृष्टान्त दे, कहे कि कालूराम का गर्भस्थपुत्र काला है क्योंकि कालूरामका लडका होनेसे। अब कालूरामके दो चार लडके थे वे सब काले थे तो पक्षमे भी गया, सपक्ष भी मिला, मगर हेतु क्या सही है? क्या यह निर्णय है कि अबकी वारका लडका काला ही होगा और वैसे पेटसे तो सभी लडके काले होते ही नही, चाम तो बादमे काला होता है। तो मतलब यह है कि त्रिरूपता हो तो क्या, न हो तो क्या? अगर साधन अन्यथानुपपत्ति लक्षण वाला है तब तो अनुमान सही है और साधनमे अन्यथानुपत्ति नही है तो साधन सही नही है।

अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोषोके होनेसे त्रैरूप्यमे हेतुलक्षणत्वकी असिद्धि—किसी पदार्थके विषयमे पहले तो साव्यवहारिक प्रत्यक्ष होता है। इन्द्रिय और मनसे कोई पदार्थ परिचय बनता है। वह प्रत्यक्ष यदि धारणा तक चला गया तो धारणा हुए बाद फिर भविष्यमे उसकी स्मृति बनी। भूतकालमे जो परिचय किया था उसका अब स्मरण हो रहा है और मति और स्मरण दोनोके बलपर प्रत्यभिज्ञान जगता है। अब यहा दो मतियोके बीचमे स्मरण है— पहले जो अनुभव किया था वह भूतकालमे मतिज्ञान हुआ था और अब वर्तमानमे उसीका या उसके प्रतियोगीका प्रत्यक्ष हो रहा है वह। और उस बीच स्मरण चल रहा है तो ऐसा वर्तमान मति और भूतका स्मरण—इन दो ज्ञानो पूर्वक प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है। प्रत्यभिज्ञान जग गया, इसके मायने यह है कि धारणा और स्मृति उसकी दृढ है और तत्पूर्वक प्रत्यभिज्ञान बनाता है, ऐसा दृढ ज्ञान जिसके है वह पुरुष प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न करता है। प्रत्यभिज्ञान हुए बाद तर्कज्ञान होता है, क्योंकि तर्कज्ञान समस्त देश, समस्त काल विषयक साध्य-साधनका सम्बध जानता है और तर्क हुए बाद फिर तर्कपूर्वक अनुमान बनता है अर्थात् साधनसे साध्यका ज्ञान होता है, तो यहा साधनके स्वरूपकी बात चल रही है। साधन कहलाता है वह जो साध्यके अविनाभाव रूपसे निश्चित हो। इसके विरोधमे क्षणिकवादी यह

कह रहे हैं कि साधनका लक्षण तो त्रिरूपता है—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति। उसके समाधानमे यह सब कथन चल रहा है कि यह त्रिरूपता हेतुका लक्षण नही हो सकती, क्योकि इसमे अव्याप्ति, अतिव्याप्ति ऐसा आता है। इसके अनेक उदाहरण दिए गए।

पक्षधर्मत्व न होनेपर भी अन्यथानुपपन्न हेतुकी समीचीनता—एक उदाहरण और भी देखिये—किसीने अनुमान किया कि कलके दिन मगलवार होगा, क्योकि आज सोमवार होनेसे। तो हेतु तो है सोमवार होनेसे और पक्ष है कल, तो कलमे सोमवार हेतु तो नही चलता है। पक्ष धर्मत्व तो रहा ही नही। तो पक्षधर्मत्व नही होता, लेकिन साध्यके अविनाभाव रूपसे निश्चित हेतु हो वह वास्तविक साधन है। अब यहाँ शंकाकार पक्षधर्मत्वकी रक्षाके लिए अनुमानका एक रूप बनाता है। तो देखो जहाँ पक्षधर्मत्व नही दिखता, जैसे अनुमान बनाया कि कल मगलवार होगा तो उसे यो बनाइये कि कल दुनियामे मगलवार होगा अर्थात् दुनिया कलके दिन मगलवारसे सहित बनेगी, क्योकि आजका दिन सोमवारसे सहित है। तो लो दुनिया पक्ष हो गया और उसमे सोमवार सहितपना हेतु हो गया।

समाधान यह है कि इस तरहके शब्दका सोच विचारकर जबरदस्तीपना लादा जाय तब तो कुछ भी गलत-सलत अनुमान बन जायगा। जैसे कोई यह बता दे कि धूम अग्नि वाला है धूमपना होनेसे, तो पक्ष क्या है ? धूम और उसमे धूमत्व हेतु चला गया तो इसका अर्थ ही क्या रहा ? यह तो व्यभिचारी हेतु है। धूम हेतुमे सयोग सम्बन्ध करके अग्नि तो नही है। दूसरी बात यह है कि ऐसा अनुमान प्रयोग करनेसे यह सब स्वभाव हेतु बन जायगा। जो कार्य हेतु और अनुपलम्भ हेतु और बचा हुआ है वह भी इसी ढगसे पक्षका स्वभाव या साध्यका स्वभाव बन जायगा, तब तो हेतु भी कुछ न रहे। एक स्वभावहेतु रह गया। इससे जो संक्षिप्त सुगम निर्दोष लक्षण हो उससे मुख न मोडना चाहिए।

अब यहाँ शकाकार कहता है कि नियत हो रहा जो अन्यथानुपपत्ति सहितपना वह सम्बध रूप व्यापकसे व्याप्त हो रहा है, उस सम्बधके न होनेपर भी अन्यथानुपपत्ति माना जाय तब तो बडे दोष आवेंगे, क्योकि सम्बध जहाँ नही है, ऐसे आकाश और पुष्पका या आत्मा और रूपका अन्यथानुपपत्ति बन बैठेगा, क्योकि अन्यथानुपपत्तिको तो सम्बन्ध बिना मान डाला, और अगर सम्बध मानते हो तो सम्बध तो दो प्रकारके है—एक तादात्म्य और दूसरा तदुत्पत्ति। जहाँ तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बध नही वहाँ कोई बात नही। तो यो व्यापकके बिना व्याप्यकी स्थिति नही है तो जब तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बध नही, सोमवार, मगलवारके बीच कोई सम्बध नही और सम्बंध नही तो अन्यथानुपपत्ति नही। तो कोई भी हेतु न बना अलग। भावार्थ यह है कि सोमवारका होना यह गमक तब होता जब कि वह ज्ञायकहेतु होता और ज्ञायकहेतु तब होता जब उसमे अन्यथानुपपत्ति होती। और अन्यथा-

नुपपत्ति तब ठहरती जब सम्बन्ध ठहरता, और सोमवार होनेरूप हेतुमे सम्बध तब ठहरता जब कि तादात्म्य या तदुत्पत्ति ऐसा कोई सम्बध होता। तो जब ये बातें नही ठहर रही। व्यापक नही रह रहा तो व्याप्य कैसे रहेगा ? इस प्रकार सोमवारका होना, साध्यका मगल का ज्ञायक नही हो सकता।

समाधान इसका यह है कि सम्बध तो कोई सयोगको ही नही कहता है। यहाँ तो अन्यथानुपपत्तिका सम्बन्ध है। सोमवारके हुए विना मंगलवार नही आता, बस यही सम्बन्ध है। अनुमान तो सही है, पर पक्षधर्मत्व नही है, इसलिए हेतुका सीधा लक्षण मानना कि जो साध्यके विना न हो और पाया जावे तो समझो कि साध्य जरूर है। जैसे अग्निके विना धुवा नही होता और धुवां मिल जाय तो समझो अग्नि जरूर है। इस तरह अनुमानका लक्षण सही है, और विशेष जानना हो तो परीक्षामुखसूत्र आदिक ग्रन्थोसे समझना चाहिए। अनुमान एक प्रमाण है और उससे परलोक, स्वर्ग, आत्मा, धर्म मोक्षमार्ग आदिक सभी प्रायोजनिक तत्त्वोकी सिद्धि होती है। तो साधनका लक्षण त्रैरूप्यपना नही सिद्ध होता। इसी प्रकार जो दार्शनिक हेतुका लक्षण पाँचरूप मानते है उनका भी कथन युक्त नही है, पाचरूपमे जो दो रूप बढाये गए है वह एक नासमझ जनोको समझानेके लिए है। उसकी कोई खास विशेषता नही है। वह तो समझानेका एक प्रकरण बढाना है।

तथोपपत्ति व अन्यथानुपपत्ति लक्षण वाले हेतुसे सम्बन्ध होनेके कारण अर्थापत्ति सभव आदिके माननेकी अनावश्यकता—अब यहाँ मीमासक दर्शन वाला शका करता है कि अर्थापत्ति भी तो एक न्यारा प्रमाण है और वह अस्पष्ट है। सो प्रत्यक्ष प्रमाणरूप नही, परोक्ष प्रमाण है। और जो इस सूत्रमे परोक्ष प्रमाण बताया गया है प्रत्यक्ष, स्मृति, सज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध और इनके अतिरिक्त बताया जायगा आगम तो इसमे अर्थापत्तिका अन्तर्भाव नही है। इससे अर्थापत्ति अवश्य माननी चाहिए। अर्थापत्ति प्रमाणसे व्यवहार भी चल रहा है अर्थात् किसी बातको देखकर अन्य बातकी समझ बनना, यह अर्थापत्ति कहलाती है। प्रत्यक्ष आदिक किसी भी प्रमाणसे भली प्रकार कोई पदार्थ जान ले। अब वह विपरीत नही हो रहा है। उससे दूसरे अदृष्ट अर्थकी कल्पना जग जाती है। उसीका नाम अर्थापत्ति प्रमाण है। प्रत्यक्षसे जो जान लिया और उससे अविनाभाव रूपसे जो पदार्थ रहता है उसके द्वारा अदृष्ट अर्थका ज्ञान बने यह तो है प्रत्यक्षपूर्वक अर्थापत्ति। जैसे किसी विधवा स्त्रीका उदर बडा दीखा गर्भयोग्य तो उससे व्यभिचार दोष दृष्ट तो नही होता, मगर एक अर्थापत्ति द्वारा अदृष्ट अर्थका ज्ञान कर लिया, इसी तरह अनेक बातें देखकर अनेक अदृष्टकी पहिचान बनती है, वही तो अर्थापत्ति है। अनुमानपूर्वक भी अर्थापत्ति है। अनुमानपूर्वक भी अर्थापत्ति होती। सूर्य चन्द्रमा गति सहित है, क्योकि वे एकदेशसे अन्य देशको पहुच जाया करते है। सूर्य चद्रमा

गति शक्तिसे सहित है, क्योंकि उनका गमन होता है। इस अनुमानसे गमनशक्तिका, अतीन्द्रिय शक्तिका जो ज्ञान हुआ वह अर्थापत्तिसे हुवा, ऐसे ही उपमानपूर्वक भी अर्थापत्ति होती। जैसे उपमानसे तो जान लिया कि यह रोझ है गायकी तरह देखकर, अब उस रोझमे अतीन्द्रिय शक्तिका ज्ञान करना, यह अर्थापत्ति हो गई। शब्द अमुक अर्थका प्रतिपादन करनेकी शक्ति रखता है, क्योंकि अर्थके साथ सम्बन्धपना तब ही बनता है। तो यहाँ भी एक शब्दमे प्रतिपादनकी शक्तिका परिचय किया जा रहा है। तो यो अर्थापत्ति आगम प्रमाण हुआ करती है। ऐसा कहना चाहिए। अर्थापत्ति तो इतना प्रबल पुष्ट प्रमाण है कि वह अभावके परिचय द्वारा भी अर्थापत्ति बनती है। जैसे देवदत्त कही बाहर ठहरा हुआ है, क्योंकि जीवित रहते सते इस घरमे नही है। तो लो इस अनुमानमे भी देवदत्तका बाहर रहनेमे अर्थापत्ति बनी।

समाधान—अर्थापत्तिको सिद्ध कर इतना परिश्रम करना व्यर्थ है, वह तो हेतुका ही रूपक है। तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति ये कोई तो साधनके रूप है और यह ही अर्थापत्ति मे समझा गया है। इसी प्रकार कोई सम्भव आदिक ज्ञानोको भी बताने लगे तो ये सबके सब एक अविनाभावी हेतुमे ही सम्भव हो जाते है, इस कारण परोक्ष प्रमाण दो प्रकारके कहे गए है—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। और मतिज्ञानके ये ५ भेद है—साव्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान। इन्हीमे प्रतिभा, स्वानुभूति, स्मृति, प्रज्ञा आदिक सबका सग्रह बन जाता है। ये भेद तो उपलक्षण रूपसे हैं। इन्हीकी जातिके जो और और भी ज्ञान होते हो वे सब इन्हीमे ही सम्मिलित है। इस तरह "आद्येपरोक्षम्" इस सूत्रमे जिन दो ज्ञानोको परोक्ष कहा था, इनमेसे प्रथम मतिज्ञानके मूल भेदका वर्णन किया गया है।

॥ मोक्षशास्त्र प्रवचन सप्तम भाग समाप्त ॥

मोक्षशास्त्र प्रवचन अष्टम भाग

चौदहवें सूत्रका प्रकरण प्राप्त सम्बन्ध—मोक्षशास्त्रमे मोक्षमार्गका प्रधान प्रयोजन है। मोक्षमार्ग है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकता। सम्यग्दर्शन नाम है प्रयोजनभूत जीवादिक ७ तत्त्वोका यथार्थ श्रद्धान करना। जो अभ्यास द्वार, समझाये जाने द्वारा साध्य है उसकी बात कही जा रही है। सम्यग्दर्शन होता है निसर्गसे और अधिगमसे तो अधिगमके उपायोका इस अध्यायमे वर्णन है। पदार्थका जानना किन-किन उपायोंसे होता है ? यह बात इस अध्यायमे बतायी जा रही है। अधिगम होता है प्रमाण और नयोंके द्वारा। यद्यपि व्यवहार और अधिगमके अनेक और भी कारण बताये गए, जैसे निक्षेप, निर्देश आदिक फिर भी मुख्य यह ही है प्रमाण और नय, उनमे से प्रमाणका वर्णन चल रहा है। प्रमाण ज्ञानका नाम है और वे ज्ञान ५ है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। ये सब ज्ञान दो प्रमाणरूप हैं—परोक्षप्रमाण और प्रत्यक्षप्रमाण। तो इन ५ ज्ञानोमे आदिके दो ज्ञान परोक्षज्ञान हैं, शेष ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान है। परोक्षज्ञानोमे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान कहे गए, उनमे से मतिज्ञानका यह सब प्रसग चल रहा है। मतिज्ञान ५ जातिके होते है—साव्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और स्वार्थानुमान। इनका वर्णन पिछले सूत्रमे किया गया है। अब इस सूत्रमे यह बताया जा रहा है कि वह मतिज्ञान किन किन कारणोसे उत्पन्न होता है ?

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥१४॥

मतिज्ञानके बाह्यनिमित्तोके विषयमे विवाद मिटानेके लिये इस सूत्रका अवतार—वह मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रियके निमित्तसे उत्पन्न होता है, तो स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र—इन ५ इन्द्रियोका कारण पाकर और मनका कारण पाकर मतिज्ञान उत्पन्न होता है। यहा शङ्काकार कहता है कि मतिज्ञान तो एक आन्तरिक ज्ञान है और उसका निमित्त है मतिज्ञानावरणकर्मका और वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम, सो बात प्रसिद्ध ही है। मतिज्ञानावरणका क्षयोपशम सभी ज्ञानोमे पाया जाता है। अथवा अनुमान तर्क आदिक ज्ञान ऐसे है मतिज्ञानकी जातिमे कि जो इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न नही होते। जैसे अनुमान होता है साधनसे, साध्यका ज्ञानरूप अनुमान है वह हेतुसे उत्पन्न हुआ, हेतुके ज्ञानसे हुआ और अनुमान तर्कपूर्वक होता है। तर्क प्रत्यभिज्ञानपूर्वक होता, प्रत्यभिज्ञान स्मरणपूर्वक होता,

स्मरण मतिपूर्वक होता, मति दर्शनपूर्वक होता तो आखिर रह क्या गया और साक्षात्की बात तो यह है कि इन्द्रिय और मनसे दर्शनसे होगा तो इन सब बातोके ऐसा विदित होता है कि यह सूत्र व्यर्थ कहा गया। तो पहली बात देखो कि मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होता सो सभी मतिज्ञानोमे यह बात है, सो सूत्रका कहना व्यर्थ है और मतिज्ञानके सब भेदोका निमित्त इन्द्रिय मन नही है, इस कारण भी व्यर्थ है, फिर इस सूत्रके कहनेका प्रयोजन क्या है ? समाधानमे कहते है कि यह सूत्र मतिज्ञानके बाह्य निमित्तोका प्रदर्शन करनेके लिए कहा गया है अर्थात् मतिज्ञानके बाह्य निमित्त क्या होते है यह बताया है, क्योकि अनेक दार्शनिक ज्ञानके बाह्य निमित्तोपर विवाद रख रहे है। कोई कहते है कि योगिका प्रत्यक्ष भी, भगवानका प्रत्यक्ष भी मनसे होता है। कोई कहता है कि ज्ञान इन्द्रियकी वृत्तिसे उत्पन्न होते है, ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्षसे होता है तो ज्ञानकी उत्पत्तिके साधनोमे भिन्न-भिन्न प्रकारके मतव्य है लोगोके, इसलिए उसमे विवाद होता हैं। उस विवादका समाधान इस सूत्रमे किया गया है। क्या किया गया कि मतिज्ञान इन्द्रिय और मनके निमित्तसे ही होता है, पदार्थसे, प्रकाशसे या अन्य प्रकारसे नही होता। साथ ही यह भी ध्वनित हो जाता है कि इन्द्रिय और मनके निमित्त से मतिज्ञान ही होता है। इसमे अनेक दार्शनिक जो भिन्न-भिन्न प्रकारके कारण मानते थे उनका निराकरण है। कोई प्रकाशको कारण मानता, कोई पदार्थको कारण मानता, कोई इन्द्रिय और पदार्थके सम्बंधको कारण मानता, ऐसे अनेक विवादोका समाधान इस सूत्रमें किया गया है।

सूत्रमे मतिज्ञानकी इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तताका वर्णन—इस सूत्रमे दो पद है—तत् इन्द्रियानिन्द्रिय निमित्त, वह इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर होता है। तो यहाँ तत् शब्द से क्या माना गया है ? तत् शब्दसे किसका ग्रहण किया गया है ? इन्द्रिय और मनके निमित्त से क्या होता है ? तो उत्तर यह है कि इस सूत्रसे पहले जो शब्द आया हो वह तत् शब्दसे ग्रहणमे आयगा। इससे पहले सूत्र है—मतिः स्मृतिः सज्ञाचिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तर, अर्थात् यहाँ अनर्थान्तर शब्द है अगले सूत्रसे पहले। तो तत् शब्दसे अनर्थान्तर शब्दका ग्रहण हुआ अर्थात् मतिज्ञान जो इस अनर्थान्तररूप है, जो मति स्मृति आदिक रूप है, वह मतिज्ञान इन्द्रिय और मनके निमित्तसे उत्पन्न होता है। अब यहाँ कोई शकाकार कहता है कि इससे पहले सूत्रमे तो इन मति आदिक पाँचो ज्ञानोका समुच्चय करने वाला मतिज्ञान शब्द तो दिया ही नही गया। इसमे तो ५ मतिज्ञान विशेष कहे गए है तो उनका ही ग्रहण होगा। उस सामान्य मतिज्ञानका ग्रहण कैसे किया जा सकता ? और फिर उन पाचोमे भी एक मति ही प्रधान है और लोगोके अनुभवमे भी ऐसा ही आता है कि जो साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है वह इन्द्रिय और मनके निमित्तसे उत्पन्न होता है तो यहा तत् शब्दसे उस मति विशेषका ग्रहण होगा।

इसके समाधानमे कहते हैं कि ऐसा नही, किन्तु इस सूत्रसे पहले जो शब्द दिया हो वह शब्द ही तत् शब्दसे ग्रहणमे आयगा। वह शब्द है अनर्थान्तर। और यो तो परम्परया लगाते जावो तो मतिज्ञानके ५ भेदोमे जो अन्तमे कहा गया आभिनिवोध अनुमान सो उसका ग्रहण होगा। यदि अनर्थान्तरके ग्रहणको गौण कर दिया जाय और उन विशेषोको लिया जाय तो सबसे अच्छा ग्रहण तो अनुमानका होगा और अनुमानके निकट है तर्क, सो तर्कका ज्ञान होगा आदिक भिन्न बातें आयेंगी। तो उसका भी समाधान यो करना चाहिए कि आता है तो आने दो या ऐसा ही क्यो सोचे ? अनर्थान्तर शब्दसे तो सभीका ग्रहण हो जाता है। सो चाहे मतिज्ञान सामान्य कहो, चाहे समस्त मतिविशेष कहो, वह सब तत् शब्दसे ग्रहणमे आता है। इस प्रकार इस मतिज्ञानके बहिरङ्ग निमित्त कारणोको दिखानेके लिए यह सूत्र कहा गया है। क्या है मतिज्ञानका वह बहिरग कारण, सो सुनो— इन्द्रिय और मन उसका निमित्त कारण है। अब इन्द्रिय क्या और मन क्या ? इन्द्रियाँ होती है दो प्रकारकी—द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय। जो पौद्गलिक इन्द्रियां है वे द्रव्येन्द्रिय और क्षयोपशमलब्धिरूप है वह है भावेन्द्रिय। इसी तरह मन, इन सबका वर्णन आगे दूसरे अध्यायमे आयेगा। वे सब मतिज्ञानके निमित्त कारण है।

मतिज्ञानोत्पत्तिमें इन्द्रिय व मनकी कारकरूप कारणता—अब यहाँ शका होती है कि इन्द्रिय और मन क्या मतिज्ञानके कारक कारण हैं या ज्ञायक कारण हैं ? कारक कारण तो उसे कहते है जो उत्पन्न करनेमे साधन बना हो, और ज्ञायक कारण उन्हे कहते है जो पदार्थोंका ज्ञान कराते हो। तो इन दोनो कारणोमे से ये इन्द्रिय मन क्या मतिज्ञानके कारक कारण हैं या ज्ञायक ? उत्तर इस प्रकार है कि यह कारक कारण है। जहाँ निमित्त शब्द दिया जा रहा हो, जहा निमित्त कारण कहा जा रहा हो उसका अर्थ कारक कारण है, ज्ञायक कारण नही है, अर्थात् यह मतिज्ञान इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर होता है। अब ये पांचो ही मतिज्ञानविशेष इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होते है। इसका योगविभाग करके अर्थ लगे तो सभी इष्ट विशेषोमे इन्द्रिय और मन निमित्त बनते है। अब परम्परया आश्रय करके देखो तो योगविभाग न भी करें तो स्पर्शज्ञान रूपज्ञान, स्मृति, तर्क आदिक सभीमे इन्द्रिय और मनका निमित्तपना घटता है। यहाँ कारण ज्ञायकरूप नही माना गया, क्योकि ज्ञायक-हेतु बतानेका यहा प्रकरण नही है। जो ज्ञायक ज्ञान है वह स्वय कारकोसे बनाया जा रहा है। इसलिए वह कारकहेतु है। इस सूत्रका तब शुद्ध अर्थ यह हुआ कि इन्द्रिय और मन है निमित्त जिसका ऐसा वह मतिज्ञान है। चाहे कोई साक्षात् कारण हो, चाहे कुछ परम्परया कारण हो तथा मनका उपयोग तो सभीमे है, इस कारण ये सब इन्द्रिय और मनके निमित्त-पूर्वक कहे जाते है। देखा मतिके चार भेद है—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। सो

अवग्रहसे लेकर धारणा पर्यन्त सभी मतिज्ञानके निमित्त कारण इन्द्रिय और मन हो रहे है। इसी प्रकार स्मृति आदिक भी अपने ही निमित्त कारण इन्द्रिय और मनसे बन रहे है। कही इन्द्रिय परम्परासे निमित्त कारण है, कही साक्षात् है और सामान्यरूपसे निमित्त कारणोका विचार किया जाय तो ये सभी मतिज्ञानके कारणरूप होते है।

सूत्रके दोनों पदोमे अवधारणका तथ्य—अब यहाँ एक शङ्का और की जा रही है कि यहाँ पद हैं दो—तत्इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्त तो इसमे अवधारण कहाँ करे याने एवकार कहाँ लगाना चाहिए ? तत् एव इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्त, ऐसा कहना चाहिए या तत् इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्त एव, ऐसा कहना चाहिए ? याने 'एव' शब्द कहाँ लगाना चाहिए ? कहाँ हुआ ? समाधान यह है कि एवकारसे अवधारण दोनो जगह किया जाता है। जिससे अर्थ यह बनता है कि मतिज्ञान ही इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर होता है। दूसरा अर्थ मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रियका निमित्त पाकर ही होता है। इन दोनो अवधारणोसे अनेक रहस्य प्रकट होते है। इन्द्रिय मन, दोनोका उभयका, युक्तका निमित्त पाकर मतिज्ञान ही होता है, अन्य ज्ञान नही। एक अवधारण तो यह हुआ। दूसरा अवधारण है मतिज्ञान, इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर ही होता है। उसका अन्य कारण नही है। इन दोनो प्रकारके अवधारणोमे यदि किसी एकको न माना जाय तो क्या दोष आता है ? यदि तत्मे एव न लगायें तो उसका अर्थ बन जाता है कि इन्द्रिय और मनके निमित्तसे मतिज्ञान तो होता ही है और भी ज्ञान हो जाते है। योगियोका प्रत्यक्ष या सभी प्रकारके ज्ञान, ऐसा अनिष्ट प्रसग होता है तथा दूसरी जगह अवधारण न लगाया जाय तो उसका अर्थ यह बनेगा कि मतिज्ञान इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होता है सो ठीक है, अन्य निमित्तोसे भी होता होगा। सो अवधारण करनेसे सभी अनिष्ट प्रसग दूर हो जाते है। इसका स्पष्ट विवरण यह है कि ऐसा कहनेसे कि मतिज्ञान ही इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है। इससे तो यह बात बनी कि इन्द्रिय और मनके निमित्तसे मतिज्ञान ही होता है। अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान, केवलज्ञान या कुज्ञान—ये नही होते और जब यहाँ अवधारण लगाया कि मतिज्ञान इन्द्रिय और मनके निमित्तसे ही होते हैं तो जो लोग अर्थसे प्रकाशसे उत्पन्न होना मानते है, ज्ञानको उसका निराकरण हो जाता है।

पदार्थके ज्ञानकारणत्वकी मीमांसा—अब यहाँ शङ्काकार क्षणिकवादी कहते है कि ज्ञान तो अनुमानसे ऐसा ही सिद्ध होता है कि वह पदार्थसे उत्पन्न होता है, पदार्थसे न उत्पन्न हुआ ज्ञान नही होता। तो जब प्रत्येक ज्ञान पदार्थसे ही उत्पन्न होते है तब फिर इन्द्रिय और मनसे ही होते है पदार्थ, अर्थ आदिसे नही होते है, ऐसा निर्णय बनानेके लिए जो सूत्र कहा यह तो युक्तिसगत न रहा। अनुमानसे सिद्ध है कि पदार्थ आनेसे उत्पन्न हुए ज्ञानके द्वारा सम्वेद्य

है क्योकि प्रमेय होनेसे। इसका तात्पर्य यह है कि अर्थसे ज्ञान हुआ और इस ही ज्ञानसे अर्थ जाना गया तो ज्ञानसे जो अर्थ जाना गया वह ज्ञान उसी अर्थसे उत्पन्न हुआ है, जैसे कि मन। मन और इन्द्रियजनित अनुमानके द्वारा मन और इन्द्रिय जाने जाते है अथवा जैसे जैनसिद्धान्तमे बताया है कि क्षयोपशमजन्य ज्ञानके द्वारा क्षयोपशम जाना जाता है। इस तरह ज्ञान अर्थसे उत्पन्न होता है इसलिए यह निश्चय न बनाना चाहिए कि मतिज्ञान इन्द्रिय और मनके निमित्तसे ही होता है। समाधानमे कहते है कि इस तरहकी व्याप्ति बनानेसे तो अनेक प्रसग आते है।

जैसे सर्वज्ञदेव जितना जान रहे है क्या वह सब अर्थोंसे निकालकर जान रहे है? भूत, भविष्यत् पर्यायें जो है ही नही, उनका कैसे ज्ञान होगा? और जान रहे हैं सबको, भूतको, भविष्यको भी। अथवा जो स्वसम्वेदन ज्ञान बन रहा है अपने ही ज्ञानके द्वारा अपना ही सम्वेदन किया जा रहा है तो उसके तो क्षण समान है, उसी क्षणमे सम्वेदन है, उसी क्षणमे स्व है जिसका कि सम्वेदन किया जा रहा है। तो कार्यकारण भाव समान क्षणमे तो नही होते। जैसे किसी बछडेके दोनो सीग समान समयमे है तो उनमे किसीको कार्य और किसीको कारण तो नही कहा जा सकता और भी देखो सशयज्ञान उत्पन्न होता है या विपरीत ज्ञान होता है या कभी आँखसे दो चन्द्रमा दिखने लगते हैं तो न दो चन्द्र है और न विपर्ययज्ञानका विषयभूत पदार्थ है और ज्ञान तो उत्पन्न हो गया। तो यह तो नही कहा जा सकता कि प्रत्येक ज्ञान पदार्थसे ही उत्पन्न होता है। अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि विपर्ययज्ञानमे तो ज्ञानकी बात यो नही कह सकते कि वह सम्यग्ज्ञान नही है। हमारा तो यह अनुमान बनेगा कि प्रत्यक्षज्ञान अपने विषयभूत पदार्थसे जन्य है, सम्यग्ज्ञान होनेसे तो विपर्ययज्ञान तो सम्यग्ज्ञान नही है, इसलिए अनुमानमे दोष नही आता। इसका समाधान यह है कि जो दूसरा अनुमान दिया, जिससे कि विपर्ययज्ञानमे दोष न आये उसमे भी दोष है। सर्वज्ञका ज्ञान भूतकाल और भविष्यकालके सब अर्थोंको जानता है, मगर वह पदार्थ वर्तमान है ही नही तो उनसे ज्ञान कैसे उत्पन्न हो सकेगा?

अर्थ और प्रकाशमे आलम्बनरूपकारणताका अभाव—शकाकार कहता है कि इस तरह तो चाक्षुषज्ञानमे आलोक भी कारण न बन सकेगा। चाक्षुषज्ञान प्रकाशसे जन्य है, प्रकाश न हो तो चक्षुसे ज्ञान तो नही होता। तो यहा दोष मिटानेके लिए यदि यह कहे कोई कि एक प्रकाशको कारण रहने दो, क्योकि प्रकाश बिना ज्ञान नही होता। तो यही बात तो पदार्थोंमे लग जायगी। पदार्थोंसे भी उत्पन्न हुआ ज्ञान मान लो, क्योकि हम लोगोका ज्ञान पदार्थोंसे उत्पन्न होता है। यहाँ इसी विषयपर यह भी विचार कर लेना चाहिए शकाकारको कि जैसे वह कह रहा है कि हम हेतुमे सुधार कर रहे है, ज्ञानकी जगह सम्यग्ज्ञान

कह देंगे और उसमे दोप आता है तो अस्मदादि शब्द और जोड देंगे याने हम लोगोका सम्यग्ज्ञान होता है। तो ऐसे दो विशेषण और लगानेसे न तो विपर्ययज्ञानके साथ व्यभिचार होगा और न सर्वज्ञज्ञानके साथ व्यभिचार होगा।

अब उन सब शंकाओंका समाधान करते है कि मतिज्ञानका निमित्त आलोक भी माना जाय तो आलोक आलम्बनरूपसे कारण नही है। हां, चक्षुइन्द्रियको बल प्राप्त करा देता है आलोक, उसका इतना ही सहारा है, और इस सहारेकी दृष्टिसे जैसे आलोकको कारण मानते हो, ऐसे ही काल और आकाश आदिक भी निमित्त माना जा सकता है, और इसी प्रकार ज्ञानको भी अर्थनिमित्तक माना जा सकता है, पर वह आलम्बनरूप नही है। जैसे कोई वृद्ध पुरुष लाठी लेकर चलता है तो जैसे लाठीमे वृद्धका आलम्बनरूप है, इसी प्रकार ज्ञानकी उत्पत्तिमे ज्ञेय पदार्थ आलम्बनरूप नही है। वे ज्ञानकी प्राप्तिमे कुछ मदद नही कर रहे, किन्तु ज्ञानका नेत्रके साथ विषयविषयी भाव सम्बध है। न तो कार्यकारण सम्बंध है और न आधार-आधेय भाव सम्बध है।

अब अनुमान जो शंकाकारने किया था उसपर विचार करें। हम आदि लौकिक जनो को सत्य ज्ञान होता है, यह हेतु दिया था। तो उसमे चाक्षुप प्रत्यक्षका आलोक निमित्त है, काल निमित्त है, आकाश आदिक निमित्त है, मगर यह केवल एक बाह्य निमित्तमात्र है। क्या तुम ऐसा समझकर कहते हो या आलोकको चक्षुइन्द्रियजन्य ज्ञानका आलम्बनरूप कारण समझते हो ? अगर मात्र निमित्त समझते है बाह्य तो इसमे कोई विरोधकी बात नही है। अनेक बाह्य निमित्त रहा करते है। ज्ञानमे काल भी उदासीन निमित्त है, आकाश आदिक भी उदासीन निमित्त है। हां दूसरी बात अगर मानी याने आलोक चाक्षुपज्ञानका आलम्बन रूप कारण है तो यह विरुद्ध बात है। अगर चाक्षुष ज्ञानका आलबन कारण हो प्रकाश तो बिल्ली, व्याघ्र आदिक जीवोको चाक्षुषज्ञान होता है उसमे तो प्रकाशकी जरूरत नही पडती। तो पदार्थ और आलोक—इन ज्ञानोका एक उदासीन कारण भले ही कह दो, किन्तु ये ज्ञानके आलंबनकारण नही कहलाते, ज्ञानका कारण तो अतरग है, ज्ञानावरणका क्षयोपशम आदिक और बाह्य कारण है इन्द्रिय आदिक और भीतरी कारण याने कारणको कुछ बात उत्पन्न करने वाले, बल भी उत्पन्न नही करते, किन्तु जिसकी उपस्थितिमे ज्ञानके निमित्तभूत इन्द्रियाँ प्रवर्त हो सकें वह भी एक कारण कहा जा सकता, किन्तु आलबन कारण उनमे से कुछ भी नही कहलाता। ज्ञानका पदार्थोंके साथ केवल विषयविषयी भाव सम्बध है।

मतिज्ञानमें पदार्थकी उत्पादककारणताकी असिद्धि एवं विषयभूतताकी सिद्धि—पदार्थको जो ज्ञानका कारण मानते है वे यह बतायें कि जिस समय क्षणिक पदार्थ ज्ञानका जनक बन रहा है उस समय तो आलम्बन है नही और जब नष्ट हो चुका तो आलम्बन बने

कौन ? उनमे जब वह जनक नही । तात्पर्य यह है कि क्षणिकवादी लोग ऐसा मानते है कि प्रत्येक पदार्थ एक क्षणको ही ठहरता है और वह पदार्थ ज्ञानको उत्पन्न करता है । अब ज्ञान को उत्पन्न ही कर ले, यह भी बडी गनीमत है । प्रथम तो पदार्थ जब है तब वह ज्ञानको कैसे उत्पन्न कर सकता ? और कदाचित् मान भी लें तो उत्पन्न हुए बाद ही तो आलम्बन की बात सोची जाय तो जब पदार्थ कहलाता नही तो ऐसी विडम्बना बनेगी कि उत्पत्ति तो की किसी पदार्थने और आलम्बन बना और कोई पदार्थ । इससे पदार्थ तो विषयमात्र है, वह ज्ञानका जनक नही है । ज्ञानका कारण तो ज्ञानावरणका क्षयोपशम आदिक ही हैं ।

यहाँ शकाकार कहते हैं कि पदार्थ तो ज्ञानका अनिवार्य कारण है । जैसे प्रकाश्य पदार्थके अभावमे प्रकाशक सूर्य आदिके प्रकाशकपना नही बनता है, सो अर्थ उस प्रकाशकका जनक है, ऐसे ही अर्थके अभावमे ज्ञान नही बनता, सो अर्थ ज्ञानका जनक है । यह शका सगत नही है । यो तो यह भी कह सकते है कि प्रकाशकके अभावमे हम किसीको प्रकाश्य भी नही कह सकते, सो प्रकाशक प्रकाश्यका जनक हो जावे, ज्ञानके अभावमे अर्थ ज्ञेय नही होता, सो ज्ञान अर्थका जनक हो जावे । यदि शकाकार यह कहे कि प्रकाशक (सूर्य आदि) व प्रकाश्य (घट-पट आदि) तो अपने-अपने स्वरूपसे उत्पन्न हैं उनमे प्रकाशकपना और प्रकाश्य-पना सापेक्ष है तो यही उत्तर यहा दे लो कि पदार्थ और ज्ञान तो अपने-अपने स्वरूपसे उत्पन्न है, उनमे ज्ञातापन व ज्ञेयपन परस्पर सापेक्ष हैं ।

इसका साराश यह हुआ कि जैसे गुरु शिष्यका जनक नही, शिष्य गुरुका जनक नही, वे दोनो पुरुष अपने अपने कारणसे उत्पन्न है, फिर भी उनमे परस्परोपग्रह होनेसे गुरु शिष्य-त्वका व्यवहार है । ऐसे ही अर्थ ज्ञानका जनक नही, ज्ञान अर्थका जनक नही, वे सब तो अपने-अपने कारणसे निष्पन्न हैं, किन्तु उनमे ज्ञाता ज्ञेयका व्यवहार परस्पर सापेक्ष है । यहाँ भी यह नही कहा जा सकता कि अर्थ (पदार्थ) अपना आकार भी ज्ञानको सौप देता है, इस कारण पदार्थ ज्ञानका जनक है, क्यो नही यह युक्त है ? यो नही कि शङ्काकारके सिद्धान्तसे प्रथम ज्ञान द्वितीय ज्ञानमे अपना आकार सौप देता है तभी द्वितीय ज्ञानसे पदार्थका निर्णय होता । प्रथम ज्ञान तो निर्विकल्प है, अनिर्णायक है । तो यहा प्रथम ज्ञानने द्वितीय ज्ञानको आकार सौप दिया, इससे ज्ञानको भी ज्ञानका जनक मानना पडेगा । इन सब दोषोंके निवार-णार्थ यह मान लो कि पदार्थ विषयभूत मात्र है वह ज्ञानका उत्पादक कारण नही । हाँ मतिज्ञान छद्मस्थ जीवका है वह निरावरण नही व प्रत्यक्ष भी नही, सो उस ज्ञानकी उत्पत्ति इन्द्रिय व मनको निमित्त करके होती है । यह इस सूत्रका भाव है ।

ज्ञानके अर्थजन्यत्वका अभाव—ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है, इस प्रकरणको यो सम-झना चाहिए कि केवलज्ञान तो स्वय उत्पन्न होता रहता है । पहली बारके केवलज्ञानका

निमित्त कारण तो ज्ञानावरणका क्षय है। उसके बाद केवलज्ञान निरन्तर मात्र कालद्रव्यको निमित्त पाकर होता ही रहता है। उससे पहले जितने भी ज्ञान है वे सब उस-उस ज्ञानके आवरणके क्षयोपशमसे होते हैं। यहाँ मतिज्ञानका प्रसग चल रहा है। मतिज्ञान मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे और वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे होता है। उसमे पदार्थ विषय पडता है, अर्थात् क्या जाना, किसे जाना, जाननेमे क्या आया ? यो पदार्थ विषयमात्र है, परन्तु पदार्थ ज्ञानका कारण नही है। यदि पदार्थ ज्ञानका कारण बने तो स्वसम्वेदन ज्ञानकी सिद्धि नही होती है। स्वसम्वेदनमे केवल स्वका ही सम्वेदन है, पदार्थका सम्वेदन तो नही है, और कोई कहे कि स्वसम्वेदनमे एक निज स्व ही कारण बन जाय सो वहाँ कारणका कोई मतलब नही। वह है और सवेदन हो रहा है, अकारण हो रहा है। यो कहना चाहिए, और माना है शकाकारने स्वयमे "नैकं स्वस्मात् प्रजायते" यह खुद एक अपने आपसे उत्पन्न नही होता, तो इस कारण ज्ञान अर्थजन्य है, इस सिद्धान्तमे अनेक दोष आते है। ज्ञान अर्थजन्य है तो सर्वज्ञका ज्ञान बन ही नही सकता, क्योकि भूत भविष्यके अर्थ विद्यमान तो है नही, जिससे कि वे ज्ञानके कारण बन सकें। और जो नही है वह कारण बनता नही। तो सर्वज्ञज्ञानकी भी सिद्धि न हो सकेगी। इस कारण यह ही निर्णय रखना योग्य है कि ज्ञान अर्थसे उत्पन्न नही होता, किन्तु अलग-अलग ज्ञानोकी अलग-अलग बात है। सम्यक् मतिज्ञान मत्यावरणके क्षयोपशमसे होता, अन्य ज्ञान उन ही के आवरणके क्षयोपशमसे होता। मतिज्ञानमे तो इन्द्रिय और मन कारण पडते है, सम्यक् श्रुतज्ञानमे मन कारण है और पारमार्थिक प्रत्यक्ष ज्ञानोमे इन्द्रिय, मन दोनो ही कारण नही है। तो ज्ञानका वह कारण बताना चाहिए जैसा कि सभी ज्ञानोमे अपनी-अपनी जगह घटित हो जाय। कोई कहे कि स्वसम्वेदन ज्ञान होता ही नही तो उनका कहना असगत है। स्वसम्वेदन हुए बिना ज्ञान परको भी नही जान सकता और फिर आत्माका स्वसम्वेदन तो एक अनुभूतिकी चीज है। ज्ञानका स्वसम्वेदन और अध्यात्मस्वसवेदन दोनोका अर्थ थोडा जुदा-जुदा है। ज्ञानका स्वसम्वेदनका अर्थ है कि जो ज्ञान परपदार्थका जाननहार है वह ज्ञान स्वका भी निर्णय रखता है और परका निर्णय रखता है। तो स्वका निर्णय न हो तो परका निर्णय नही हो सकता। जैसे कोई ज्ञान अपने बारेमे तो सशय रखे कि यह ज्ञान सही है या नही और उस ज्ञानके विषयभूत पदार्थमे निश्चय रखे, ऐसा नही हो सकता। जिस ज्ञानमे खुद अपने आपमे निश्चय पडा है वही ज्ञान परपदार्थका निश्चायक होता है और यह तो सब अनुभूतिसिद्ध बात है।

पदार्थोंके अधिगमके उपायभूत सम्यक् मतिज्ञानकी निमित्तताके प्रतिपादक सूत्रमें कहे गये दोनो पदोमे अवधारणकी संगतता—इस प्रकार 'तदिन्द्रियान्द्रियनिमित्त' इस सूत्रका यह अर्थ हुआ कि मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रियके निमित्तसे ही होता है। दूसरा अर्थ

इन्द्रिय और अनिन्द्रियके निमित्तसे मतिज्ञान ही होता है। यहाँ कोई कहे कि मनके बिना एकेन्द्रियसे लेकर असञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक ज्ञान होता है, तो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीवों के भी मतिज्ञान होता और उसमे इन्द्रिय मन कारण पडते, याने कुमति ज्ञानमे भी इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होता, इसलिए इस अवधारणमे निर्बलता है। उत्तर देते हैं कि यह है सम्यग्ज्ञानका प्रकरण। सम्यक् मतिज्ञानकी बात कही जा रही है, क्योंकि इस प्रकरणमे पदार्थोंके सही जाननेके उपायोका वर्णन है। पदार्थ प्रमाण और नयोसे सही जाना जाता है। तो मिथ्यादृष्टि सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोकी बात ही यहाँ नही है, क्योकि वहाँ मतिज्ञान नही। दूसरी बात यह कि उन मिथ्यादृष्टि सञ्ज्ञी जीवोका मन दर्शनमोहके उदयसे ऐसा पिस गया है, निर्बल हो गया है कि मन होते हुए भी अब मन नही सा है, ऐसी परिस्थिति बन गई है।

तीसरी बात यह है कि इन्द्रिय और मन दोनोंसे जो हो उसकी बात कही जा रही है। एकेन्द्रियसे असञ्ज्ञी तकके मन ही नही होता, अतः यहाँ मतिज्ञानसे अर्थ लेना सम्यक् मतिज्ञान और वह इन्द्रिय और मन दोनो सयुक्त निमित्तोंसे होता है। यहाँ उभयका ग्रहण है, किसीके इन्द्रियके निमित्तसे होता, किसीके मनके निमित्तसे होता, यो भेद जानकर असञ्ज्ञी जीवकी बात भी डाल दी जावे, ऐसा कथन नही है। भले ही ज्ञानके इन्द्रियके निमित्तसे होने वालेका विवरण किया है, लेकिन जिसके मनमे सम्यक्मतिज्ञान होता है उसके इन्द्रियसे भी सम्यक्मतिज्ञान होता है। इस प्रकार इस सूत्रका अर्थ हुआ कि वह मतिज्ञान इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर उत्पन्न होता है। अब इनमेसे कहे गए प्रथम मतिज्ञानके भेद कहते है।

अवग्रहेहावायधारणा: ॥१५॥

मतिविशेषनामक साव्यवहारिक प्रत्यक्षके भेदोका वर्णन—मतिज्ञानके चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। अवग्रह कहते है उसे जो इन्द्रिय और पदार्थका सबन्ध बनने पर याने अभिमुखता होनेपर जो निर्णय बना है वहाँ जो प्रथम परिचय होता है उसे अवग्रह ज्ञान कहते हैं। अवग्रह ज्ञानके बाद सशय जैसी स्थिति बनती है और उसमे अनेक कोटियोपर दृष्टि जाती है और जिज्ञासा होती है कि क्या है सच ? तो उस समय ईहा ज्ञान संदेह जैसी स्थितिको खतम करता हुआ कुछ जानकारीकी ओर ले जाता है कि अमुक है। ईहामे कुछ निर्णय है, पर उसकी सही दृढता अवायज्ञानसे होती है। अवाय ज्ञानसे निश्चय किए हुए पदार्थको न भूल सके, ऐसी भीतरी धारणाको धारणाज्ञान कहते है।

यहाँ शङ्काकार कहता है कि मतिज्ञानके भेद तो इससे और पहले सूत्रमे कह दिये थे। मति, स्मृति, सञ्ज्ञा, चिंता, आभिनिबोध, ये मतिज्ञानके भेद बताये गए थे। फिर यह सूत्र क्यो कहा जा रहा है ? तो इस कारण यह तो कोई जवाब नही है कि मतिज्ञानके भेदोको बतानेके लिए यह सूत्र है और कोई यह जवाब देना चाहे कि मतिज्ञानके जो और भेद अज्ञात

थे उनको मतिज्ञानके बतानेके लिए यह सूत्र कहा है। यह बात यों ठीक न बैठेगी कि फिर तो जैसे स्मृति सज्ञा आदिक जुदे-जुदे प्रमाण है ऐसे ही अवग्रह, ईहा आदिक भी प्रमाण बन जायेंगे। इन अज्ञात भेदोका स्मृति आदिकमे किसीमे अन्तर्भाव नही होता, इस कारण यह सूत्र कहना निरर्थक है।

इसका समाधान करते है कि यह सूत्र मतिज्ञानके जो प्रकार बताये गए थे पहले मति, स्मृति आदिक उनमे से प्रथम जो मति है याने साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है उसके भेद बताने को यह सूत्र कहा जा रहा है। यह प्रभेद प्रतिपादक सूत्र है। जैसे अनुमान तर्कज्ञानपूर्वक होता है। तर्कज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है, मतिज्ञान स्मरणपूर्वक होता है, स्मरण मतिपूर्वक याने साव्यवहारिकप्रत्यक्षपूर्वक होता है, तो इस मतिज्ञानमे और भी प्रकार है। उनमेसे स्पष्ट प्रकार है धारणा। स्मृति धारणापूर्वक होती है। धारणा अवायपूर्वक होती है। अवाय ईहापूर्वक होता है, ईहा अवग्रहपूर्वक होता है। इस तरह इनमे कुछ भेद थे, और ये सब इन्द्रिय अनिन्द्रियके निमित्तसे हुए है, इस कारण मतिविशेषके ये चार भेद है। जिन जीवोके मतिज्ञान होता है उनको इसी क्रममे होता है। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा बहुत ही जल्दी-जल्दी हो जानेसे लोग यहाँ अन्तर नही समझ पाते, मगर होनेकी विधि इस प्रकार है। उसके प्रभेदोको बतानेके लिए इस सूत्रका अवतार हुआ है।

अब इस अवग्रह आदिकके क्या लक्षण है ? सो सुनो—इन्द्रिय और पदार्थके योगसे, जिसका जैसा जितना योग है उस योगसे उत्पन्न हुए वस्तुमात्र ग्रहणसे जो वस्तुभेदका ग्रहण बनता है वह अवग्रह कहलाता है। वस्तुमात्रका ग्रहण तो दर्शन है और उससे जो कुछ विकल्प बना, समझ बनी, जाननेकी मुद्रा बनी, वह है अवग्रह। पहले तो इन्द्रिय और पदार्थो के योगसे याने कितना दूर, कितना निकट, कितने सयोगमे जाना जा सकता, वैसी ही स्थिति हो तो वहाँ वस्तुका सामान्य प्रतिभास होता है। उसका नाम तो दर्शनोपयोग है, पीछे अवान्तर सत्ताको ग्रहण करने वाला याने एक कुछ वस्तुको ग्रहण करने वाला ज्ञान अवग्रह कहलाता है। जैसे कि देखकर जाना कि यह मनुष्य है और अवग्रहसे ग्रहण किए गए अर्थ-सामान्यमें याने अवग्रहने जाना तो भिन्न पदार्थको, मगर सामान्य तरहसे जाना। अब उसमे विशेषका काक्षण होना, चुनाव होना, इस तरह विशेष जानना वह सब ईहा कहलाता है और उस ही का निर्णय बनाना सो अवाय है, और उसकी स्मृतिका कारण बना रहे, इस प्रकार का जो अवधारण है उसे धारणाज्ञान कहते है। इस प्रकार प्रथम मतिविशेषके ये चार भेद कहे गए है।

'अवग्रहेहावायधारणा.' इस सूत्रका सम्बन्ध तत् शब्दसे लगता है। जो इस सूत्रसे पहले सूत्रमे 'तत्' शब्द दिया है उसके साथ इसका सामानाधिकरण्य बनता है अर्थात् वह प्रत्य-

भिज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा स्वरूप है। सामानाधिकरण्यका अर्थ है विशेषण-विशेष्य भाव जैसा। यहाँ कोई यह शङ्का न करे कि धन- अवग्रह आदि ज्ञानोको तो मान लीजिए परिणाम जो इस सूत्रमे चार ज्ञान बताये है और मतिज्ञान हुआ परिणामी और फिर यो सम्बंध करो कि मतिज्ञानके ये चार भेद है और ऐसा व्यधिकरणपना ठीक भी लगता है। जैसे कोई कहे गेहू चून है, तो इसे सुननेमे अच्छा तो नही लगता और कहा जाय कि गेहूका चून है तो ठीक जचता है, इसी तरह वह मतिज्ञान अवग्रहादि रूप है। इसकी अपेक्षा यो कहा जाय कि मतिज्ञानके अवग्रह आदिक भेद हैं सो ठीक जचेगा, ऐसी शका न करना, क्योकि यहाँ जिन्हे परिणामी और परिणाम कह रहे हो वे अभेद बन जाते है, और अभेदमे समानाधिकरणपना घटता है, मगर ये सब भिन्न हो तो समानाधिकरण तो क्या, अधिकरण भी नही बन सकता। जैसे हिमालय और विन्ध्याचल—ये दो अलग पर्वत है तो उनमे षष्ठी भी नही लग सकती। हिमालयका विन्ध्याचल है या विन्ध्याचलका हिमालय है, कुछ भी नही बनता और यहा चूंकि अवग्रह आदिक भी मतिज्ञान हैं, इसलिए भेददृष्टि रखकर समानाधिकरणपना ठीक बैठता है।

सामान्यविशेषात्मक पदार्थमे विशेषरहित सामान्यकी अज्ञेयता—अब यहाँ कोई शुद्ध सत्तावादी शङ्का करते है कि ५ ज्ञान हैं, चार ज्ञान हैं आदिक ऐसा भेद करना तो बिल्कुल अनुचित है, क्योकि सिर्फ एक शुद्ध सत्ता ब्रह्ममात्र है जगत्। भेद जो कुछ दिख रहे हैं वे सत्य नही है। एक सत्ता ही सत्य है। देखो कभी-कभी दो चन्द्र दिखने लगते तो एक चन्द्रके दो दिखने लगे तो यह भेद गलत हो गया ना? कभी ऐसा कांच लगायें आंखोपर कि एक वस्तुके सैकडो दिखें तो जो भेद दिख रहे वह गलत है ना? तो भेद सब असत्य है। एक चिन्मात्र अभेद शुद्ध सत्ता वही सही है।

इस शङ्काके समाधानमे कहते है कि इस तरह तो यह भी कहा जा सकता कि अभेद भ्रम है। प्रथम तो किसी मनुष्यको अभेद प्रतीत नही होता, किन्तु सब भेद भेदरूप प्रत्येक पदार्थ जैसे जैसे आवान्तर सत् है वैसे ही प्रतीत हो रहे है और फिर देखो बहुत दूरसे एक पर्वतको देखा, जिसपर घने पेड थे तो दूरसे तो ऐसा लगता जैसे एक ही मखमल बिछा हो, अलग-अलग वृक्ष नही मालूम होते। तो देखो-यह अभेद गलत है ना? तो यो तो अभेद भी भ्रम हो जाता है। यदि कहो कि निकटसे विचार कर देखनेसे सब सही हो जाता तो यह ही बात भेदमे भी है। अच्छी प्रकार विचारें तो ज्ञात हो जाता कि चन्द्र तो एक ही है जो दिख रहा है, इसका कारण आंखमे रोग है, सो कई दिखते हैं। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है। सामान्यरहित विशेष कुछ नही, विशेषरहित सामान्य कुछ नही। पदार्थ है सो स्वभावमे सदा रहेगा, अवस्थायें प्रति समय नवीन-नवीन होती हैं। तो

इस तरह केवल अभेद ही है, शुद्ध सत्तामात्र है, यह हठ नही किया जा सकता ।

सामान्यविशेषात्मक पदार्थ सामान्यरहित विशेषकी अज्ञेयता—अब यहाँ कोई क्षणिकवादी कहता है कि हाँ शुद्ध सत्ता या अभेद स्थायी कोई तत्त्व नही है । ये जो सब कल्पनायें है जाति, नाम, सम्बन्ध, द्रव्यपन, स्थूलता, स्थिरता, प्रत्यभिज्ञानका विषय होना आदिक जितने भी भेद हैं ये सब कल्पनायें है । वस्तु तो इन कल्पनाओंसे रहित है और स्वलक्षणमात्र है, ऐसा स्वलक्षणका ज्ञान इन्द्रियसे होता है और वही यथार्थ है और वही ज्ञान है । अन्य कोई तरहका ज्ञेय मानना भी सही नही और अन्य प्रकारका ज्ञान मानना भी सही नही । समाधान यह भी एक कथन मात्र है । वस्तु जब सामान्यविशेषात्मक ही होता है तो उसमे विशेषका एकान्त करना भी हठ है, पदार्थ ज्ञानका विषय है और वह पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है । ज्ञान अपने आवरक कर्मके क्षयोपशमसे होता है और उसका विषय है सामान्यविशेषात्मक पदार्थ । और जो मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे इन्द्रिय अनिन्द्रियका निमित्त करके जो पहले परिचय बन रहा है वह मतिविशेष है और वह मतिविशेष अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा स्वरूप है । अब अवग्रह आदिकका स्वरूप बतलाते है ।

धारोदित दृष्टिसे अवग्रहके स्वरूपका वर्णन—अवग्रहका स्वरूप समझनेके लिए प्रथम सारी विधियोंको समझ ले । हम आप मानवोको सर्वप्रथम तो दर्शन होता है, उसके बाद अनध्यवसाय जैसी स्थिति बनती है । तत्पश्चात् अवग्रह होता है, फिर ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान इस तरहसे यह परम्परा चलती है । यहाँ दर्शन का तो अर्थ है एक, जैसा कि कोई लोग शुद्ध प्रतिभास मानते करीब-करीब उस तरहका । उसके बाद अनध्यवसाय होता है याने ईषत् अध्यवसाय कुछ तो प्रतिभासमे आया, पर कह नही सकते । वह है क्षणिकवादियोके निर्विकल्प प्रत्यक्ष जैसा । उसके बाद हुआ अवग्रह ज्ञान तो प्रथम दर्शनका स्वरूप समझें जो कि अवग्रहका कारण है । कुछ है इस प्रकार प्रतिभास करने वाला और पृथक् न हुए, ऐसे सामान्य वस्तुको जो ग्रहण करे उसको कहते है दर्शनोप-योग ।

जैसे कोई पुरुष आख मीचे हो, जैसे ही आँखें खुली और तुरन्त ही एक सामान्य बात प्रतिभासमे आयी । जहाँ ही कोई वस्तु दिखी, देखी, माना समझी वहाँ बन जाता है अवग्रह । उससे पहले जो महासत्ताका अवलोकन हो, दर्शन हो, वह है दर्शन, और पीछे तुरन्त ही जो विशेषोको जानने वाला ज्ञान हो वह है अवग्रह । दर्शन, अवग्रह, ईहा आदिक ये क्रमसे होते हैं, लेकिन इनका अन्तर नही पहिचानमे आता । इतना शीघ्र होता है कि अन्तर ही बताने को शब्द नही । तो ऐसा दर्शनोपयोग अवग्रह मतिज्ञानका कारण है । यद्यपि ये समस्त पदार्थ अनेकान्तात्मक हैं, आधार-आधेय, जन्य-जनक, सामान्य-विशेष, नित्य-अनित्य अनेक धर्मस्वरूप

है, फिर भी अपने ज्ञानावरण अन्तरायके क्षयोपशमके अनुसार किसी धर्मको अंशरूपका ग्रहण बन जाता है और उस अवग्रह ज्ञानमे विकल्प है, दर्शनमे विकल्प न था, वह अवग्रह ज्ञान अनध्यवसायसे कुछ ऊँचा उठा हुआ है। सामान्यविशेषात्मक वस्तुको जानने वाला अवग्रह प्रमाण अनध्यवसायसे ऊँचा उठा हुआ है। अनध्यवसाय याने निर्विकल्प ज्ञान समाधि वाला नही, किन्तु दर्शनके बाद प्रथम ही प्रथम होने वाला अनिर्णयात्मक ज्ञान वही तो अनध्यवसाय है। इसमे दर्शन न तो प्रमाण है, न अप्रमाण है, किन्तु अनध्यवसाय प्रमाण है, अवग्रह प्रमाण है।

यहाँ यह शङ्का न रखे कोई कि शुद्ध सत्ताका दर्शन होना तो सग्रहनयका काम हो गया, उसे दर्शनोपयोगका विषय क्यो कहते ? तो बात यह है कि सग्रहनय तो तीन लोक तीन कालकी वस्तुवोके दर्शनमात्रको ग्रहण करता है और दर्शन केवल एक प्रतिभास मात्र करता है। उसमे सग्रहण नही है, किन्तु मात्र अवलोकन है। सग्रहनयसे तो अपनी जातिका विरोध न करके सर्वभेदोका सग्रह होता है, परन्तु दर्शनोपयोगमे सग्रह नही है। मात्र एक सामान्य झलक है, और यहाँ दर्शनमे अद्वैतवादियोके ब्रह्मदर्शनके समान दर्शन नही है, क्योकि दर्शन तो अचक्षुर्दर्शन, चक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन—इन सभीमे दर्शनका विषय होना चाहिए। तो पहले हुआ दर्शन, फिर हुआ अवग्रह ज्ञान। अवग्रह ज्ञानमे विशेष बोध हुआ है। जीवोके इसी क्रमसे ज्ञान होता है, किन्तु जल्दी-जल्दी ज्ञान होते रहनेसे क्रमका बोध नही हो पाता, पर जब-जब भी इन छद्मस्थ जीवोको कोई नया-नया मतिज्ञान होता है तो दर्शन, अवग्रह, ईहा आदिक क्रमसे हुआ करते है।

अवग्रहज्ञानकी इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तताका प्रकाश—यहाँ शङ्काकार कहता है कि अवग्रह ज्ञान तो दर्शनसे उत्पन्न होता है तो फिर इस अवग्रह ज्ञानको इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न हुआ, ऐसी विरुद्ध बात क्यो कही जाती है ? समाधान यह है कि अवग्रह ज्ञान परम्परासे इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न हुआ है, इस कारण ईहा, अवाय आदिक ज्ञानोके समान वह अवग्रह ज्ञान भी परम्परासे इन्द्रिय और मनसे जन्य है। जिस अवग्रह ज्ञानसे जो जाना उसी विषयमे ईहा ज्ञान बनता है। तो जो किसी इन्द्रियसे जाना जा रहा था अवग्रहमे वही तो दृढतासे जाना गया ईहा अवाय आदिकमे। तो जैसे ईहा, अवाय आदिकको परम्परासे इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न हुआ कहते हैं, ऐसे ही दर्शन हुआ इन्द्रिय और मनसे, क्योकि चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन ऐसे भेद किए जा रहे हैं।

वास्तविकता तो यह है कि दर्शनोमे जो चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन भेद किए गए, उसका अर्थ यह है कि चक्षुरिन्द्रिय द्वारा जो ज्ञान बनानेके लिए उद्यम किया जाता है उस ज्ञानसे पहले जो सत्ता सामान्यरूप दर्शन है उसका नाम चक्षुर्दर्शन है, इसी प्रकार चक्षुरिन्द्रियको

छोडकर बाकी अन्य इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होने वाला जो ज्ञान है उससे पहले जो सत् सामान्यका दर्शन है वह दर्शन कहलाता है अचक्षुदर्शन। तो ऐसा मानकर चलें कि चक्षु और अचक्षुसे दर्शन हुआ है तो उसी धारामे ज्ञान बना है अवग्रह ज्ञान, तो वह परम्परासे इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न हुआ कहलाता है तथा क्रमसे इन्द्रिय और मन द्वारा जन्य है, ऐसा निश्चय होनेके कारण यहाँ कोई विरोध नही आता।

सारांश यह है कि साक्षात् रूपसे देखें तो यो कहा जायगा कि अवग्रहज्ञान दर्शनसे जन्य है और परम्परा करके इन्द्रियों और मनोसे जन्य है, यह क्रम बरावर है। और जिस तरह अनिन्द्रियसे आत्माका आलोकन प्रतीत होता है उसी प्रकार अवग्रह ईहा आदिक भी तो इन्द्रिय और मनसे होते है, ऐसा प्रतीत हो रहा है तब या तो परम्पराजन्य मान लो अथवा प्रतीतिके अनुसार उसे इन्द्रिय और मनसे जन्य मान लो। साराश यह है कि ये अवग्रह आदिक ज्ञान इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न हुए हैं। पारमार्थिक प्रत्यक्षज्ञानकी भाँति इन्द्रिय और मनसे निरपेक्ष नही है यह ज्ञान। प्रतीति भी कहती है कि जो यह मैं "कुछ है" इस तरह महासत्तारूप केवल सामान्य वस्तुको देख चुका हू वही मै रूप, आकार, रचना आदिक सामान्य भेदो द्वारा वस्तुका अवग्रह कर रहा हू और वही मै अन्य विशेष अशोमे उस वस्तुका निर्णय प्रारम्भ कर रहा हू और वही मैं, ऐसा ही है, इस ढंगसे वस्तुका पूर्ण निर्णय कर रहा हू और वही मैं उसी वस्तुको कालान्तरमे भी स्मरण करने योग्य रहू, इस रूपसे धारणा कर रहा हू। तो देखो उन ही इन्द्रिय और मन द्वारा इन सबकी उत्पत्ति प्रतीत हो रही है। इसी निमित्तको पाकर आत्मा क्रमसे दर्शन और इन अनेक गुणोको उत्पन्न कर रहा है।

अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, इन चारों ज्ञानोमे ज्ञानरूपताकी सिद्धि—अब यहाँ कोई शङ्का करते है कि वर्ण, रचना, आकार आदिकका सामान्यरूपसे जिस ज्ञानमे प्रतिभास हो रहा है वह तो विशेषणज्ञान है। उस विशेषणज्ञानका ही नाम अवग्रह रख दिया जाय तो हम विवाद नही रखते और इसी तरह वस्तुके विशेष अशोका जिस ज्ञानमे निश्चय किया जा रहा है वह अवाय है, तो किसी प्रकार ये दो ज्ञान तो ठीक हो सकते है अवग्रह और अवाय, लेकिन ईहा और धारणा क्या चीज है ? ईहा तो आकाक्षाको बोल रहे हैं सो आकाक्षा, इच्छा ये तो ज्ञानसे पृथक् गुण है और धारणा क्या है ? सस्कार। तो सस्कार भी ज्ञानसे पृथक् गुण है। इच्छा और संस्कार तो ज्ञानरूप नही हो सकते, क्योकि गुणोके २४ भेदोमे इच्छा और सस्कारको याने भावनाको जुदा माना है, ऐसा कोई दार्शनिक कहता है।

समाधान इसका यह है कि इच्छा और सस्कार आत्माकी परिणतिसे कोई अलग चीज नही हैं। अभेददृष्टिसे देखो—इच्छा और सस्कार ये भी ज्ञानकी ही परिणतियाँ हैं। वह

किस तरह कि ज्ञान ही एक चाह रूपसे जानन करे सो ही तो इच्छा है और ज्ञानका एक दृढ अवधारण रहे वही तो सस्कार अथवा धारणा है। आदि आत्मासे इसे पृथक् माना जाय तो यह कुछ भी नही ठहरता। वस्तुके अशोकी आकाक्षारूपमे जो दृढ विशेषज्ञान है उस ज्ञान का ही नाम ईहा है और उस ईहा ज्ञानसे जो अधिक दृढ ज्ञान है सो अवाय है और अवाय ज्ञानसे भी अधिक दृढ ज्ञानका नाम धारणा है। तो ये सब ज्ञानकी ही परिणतियाँ है। यद्यपि इच्छा मोहनीयकर्मके उदयसे चारित्रगुणकी विभाव पर्याय बनती है और ज्ञान आत्माके चैतन्य गुणका परिणमन है सो ऐसी प्रतिबोधप्रायोजनिक भेददृष्टि करें तो इच्छा न्यारी चीज, ज्ञान न्यारा है, फिर भी ईहाज्ञान जो उत्पन्न होता है वह पूर्व समयमे एक जिज्ञासा रूपमे उमड कर ईहा ज्ञान बनता है। सो उस ईहा ज्ञानमे आकाक्षाका व्यवहार करते है। जैसे कि जो श्रेणीमे ध्यानस्थ मुनि है उन्हे भी मुमुक्षु कह देते है और मुमुक्षुका अर्थ है मोक्ष पानेकी इच्छा करने वाले लोग। तो क्या उन श्रेणियोमे रहने वाले मुनि मोक्षकी इच्छा कर रहे हैं? क्या उनमे इच्छा जग रही है? इच्छा तो नही जग रही, फिर भी उपचारसे, व्यवहारसे ऐसा ही कहा जाता है। तो ऐसे ही क्षयोपशमके अनुसार उन ज्ञानोमे अपेक्षाकृत अतिशय उत्पन्न होनेका ही नाम ईहा, अवाय और धारणा है।

सुख दुःख आदि परिणामोमे भी ज्ञानधारावाहिता—यहाँ शकाकार कहता है कि यदि चेतन आत्मामे होने वाले परिणमनोको अभेददृष्टिसे ज्ञानकी ही बात माननेकी कहे और यह बताते यो हैं अनेक लोग कि किसी भी गुणको ज्ञानका उपादान कारण नही कहते। तो सुख दुःख आदिक परिणामोके साथ व्यभिचार दोष आता है। सुख दुःख आदिक भी तो ज्ञानके उपादान कारण बन रहे है, ऐसा प्रतीत हो रहा है।

इस शङ्काका समाधान यह है कि वे सुख दुःख आदिक भी ज्ञानस्वरूपपनेमे युक्त हैं और ऐसी बात स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध है अर्थात् सुख, दुःख, इच्छा, भावना सभी तो स्वसम्वेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध है, और इन सभी परिणामोपर चैतन्यभावका अन्वय है। आत्मा का जो स्वसम्वेदन गुण है उसपर तो ज्ञानात्मकता ही छायी जा रही है और देख लो, सुख दुःख स्वसम्वेद्य होते या नही, तब ही तो जीव तुरन्त सुख दुःखका अनुभव करता है। तो जीवके जितने भी परिणमन हैं उन सबको जीवस्वरूपपनेकी दृष्टिसे स्वसम्वेदनस्वरूपता सिद्ध है। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक ये पाँचो ही भाव है। इन ही के तो ५३ भेद किए गए हैं। ये सबके सब सम्वेदनस्वरूप हैं, क्योकि चैतन्य उपयोग स्वरूप जीवद्रव्यको ही विषय करने वाला है। यदि उनको असम्वेदनपनेकी बात कहेगे तो उनकी व्यवस्था नही बन सकती। इसी कारण सुख, दुःख, इच्छा, द्वेषादिक ये प्रधानके धर्म नही हैं। अवग्रह ज्ञान आदिक भी प्रधानके धर्म नही है। दर्शन सभी प्रकारके ज्ञान ये सब आत्मा

की परिणति हैं, प्रकृतिकी परिणति नही है, अचेतनके परिणाम नही है। यदि ये अचेतनके परिणाम होते तो अचेतनके परिणामोका आत्मा कभी भी सम्वेदन कर न सकता था। जो लोग ऐसा कहते हो कि पुरुषका याने आत्माका स्वभाव तो मात्र चेतना है और बाकी सकल्प ज्ञान-अभिमान अभिमनन निर्णय, ये सब प्रधानकी पर्याये है, वह ठीक नही है, क्योकि जो जो स्वसम्वेदनात्मक हो वे सब आत्माके ही परिणाम हो सकते है, नही तो उनका स्वसम्वेदन नही बन सकता। यह सब स्वसम्वेदन सही है, इसके सभी लोग साक्षी है, इसमे कोई भी बाधक प्रमाण नही आता।

अवग्रह आदिक ज्ञानोकी क्रमशः उत्पत्ति—यहाँ शङ्काकार कहता है कि अवग्रह आदिक मतिज्ञान ये सब इस क्रमसे होते हैं, इसमे तो कुछ सन्देह हो रहा है, क्योकि जैसे दूरवर्ती पदार्थोमे इन अवग्रह आदिक ज्ञानोका क्रमसे प्रवर्तन माना जा रहा है सो ऐसा तो समीपवर्ती पदार्थोमे नही दिखता। जिस किसीको देखते है तो एक साथ ही एकदम स्पष्ट हो जाता। वहाँ पहले दर्शन हुआ, फिर अवग्रह हुआ, ईहा हुई, ऐसा कुछ नही है।

समाधान यह है कि भले ही जल्दी-जल्दी होनेकी दृष्टिसे इनका क्रम नही जाना जाता, किन्तु होते ये सब क्रमसे ही है। जैसे १०० पानोमे एक सूई जोरसे छेदी जाय तो वहाँ पता नही पडता है कि ये पान क्रम-क्रमसे छिदे है, लेकिन छिदे तो क्रम-क्रमसे ही हैं, ऐसे ही ये दर्शन, अवग्रह, ईहा आदिक अभ्यास दशामे एकदम शीघ्र होते है तो उनकी शीघ्रताके कारण यह नही ज्ञान हो पाता कि ये सब क्रमसे होते हैं। इसका कारण है कि ऐसा अधिक अभ्यास कि शीघ्र होने वाले पदार्थका क्रमसे ज्ञान होना कठिन हो जाता है, यह सब क्षयोपशमविशेष का प्रताप है। अवग्रह आदिक ज्ञान जब अनभ्यस्त दशामे पाये जाते है और पदार्थोका अभ्यास नही है समझनेका, वर्णनका तो क्रम कुछ ज्ञान होता है। तो जैसे वहाँ क्रम बसा है, ऐसे ही अभ्यासदशामे भी ये सब ज्ञान क्रमसे होते है और उनका क्रम है, मगर अभ्यास है, क्षयोपशम विशेष है कि वहाँ क्रमका पता नही पडता।

अवग्रह ज्ञानकी इन्द्रियजन्यता व प्रमाणरूपता—अब यहाँ कोई क्षणिकवादी शङ्का रख रहा है कि जो यह कहा जा रहा कि अवग्रहज्ञान इन्द्रियसे उत्पन्न होता है सो तो बात सही नही है, क्योकि अवग्रहज्ञान तो विकल्पात्मक ज्ञान है, और इन्द्रियाँ सकल्प-विकल्प वाले ज्ञानको पैदा नही करती। विकल्प करना तो मिथ्या वासनाका काम है। उनमे मनका सहयोग रहे तो रहे, पर इन्द्रियसे उत्पन्न होनेकी बात नही बनती। इन्द्रियाँ तो निर्विकल्प ज्ञान को ही उत्पन्न करती है। तब बात यह आयी कि अवग्रहज्ञान विकल्पस्वरूप है। और जो-जो विकल्पस्वरूप है वह सब अवस्तु है। तो अवस्तुको जो विषय करे वह ज्ञान क्या प्रमाण कहला सकता?

इस शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि अवग्रहज्ञानका विषय द्रव्य और पर्यायोको सामान्यरूपसे विषय करना है। केवल सामान्यको या केवल विशेषको, या केवल क्षणको ही जाने सो बात नही। तो सामान्यविशेषात्मक पदार्थको जाननेके कारण अवग्रहज्ञान इन्द्रियजन्य है, ऐसी बात युक्तिसगत हो जाती है। इस अवग्रहज्ञानका कोई निषेध भी तो नही कर सकता। जो विकल्प ज्ञानस्वरूप अवग्रहज्ञान हो रहा सो सच्चा ही हो रहा, मिथ्या विकल्परूप नही है। अगर मिथ्या विकल्परूप होता अवग्रहज्ञान तो अन्य विकल्पोसें इसमे बाधा आ जाती और साथमे अवग्रहज्ञान स्पष्ट भी है। तो ऐसा स्पष्ट अवग्रहज्ञान जो निर्णायक है, अवग्रहरूप है उसका कैसे प्रतिबोध किया जा सकता है ? स्पष्ट ज्ञान इन्द्रियजन्य स्वय शङ्काकारने भी माना है, बल्कि निर्विकल्प ज्ञानको स्पष्ट नही माना जा सकता है। तो चूंकि अवग्रहज्ञान एकदेश स्पष्ट है, इसलिए वह इन्द्रियसे जन्य है और हेतुवोसे भी सिद्ध है कि अवग्रहज्ञान प्रमाण है। उसका अनुमान प्रमाण है कि अवग्रहज्ञान प्रमाण है सम्वादक होनेसे। जो ज्ञान सम्वादक होते वे प्रमाण हैं। सम्वादकका अर्थ है कि उनसे सफल प्रवृत्ति बने और उनमे किसी प्रमाण से बाधा न आये, और अवग्रहज्ञानका साक्षात् फल भी है, परम्परा फल भी है। साक्षात् फल तो यह है कि अपना और पदार्थका निर्णय करना है और परम्परा फल यह है कि उससे ईहा ज्ञान बनता और त्याग, उपादान और उपेक्षा—ये तीन बातें भी प्रकट होती है। तो इतना उत्तम है यह अवग्रहज्ञान जो कि प्रमाणयोग्य कार्यको कर रहा है। इस कारण अवग्रहज्ञानको इन्द्रियजन्य न मानना और प्रमाण न मानना यह तो एक मिथ्या प्रलाप है।

अधिगमके उपायोमे प्रारम्भिक उपाय अवग्रहज्ञान—पदार्थोके स्वरूपके जाननेका उपाय प्रमाण और नय है, इसी प्रसगमे प्रमाणका वर्णन चल रहा है। प्रमाण दो प्रकारके होते है—परोक्षप्रमाण और प्रत्यक्षप्रमाण। प्रत्यक्षप्रमाण तो उसे कहते है जो इन्द्रिय और मनके निमित्त बिना केवल आत्मशक्तिसे उत्पन्न होते है और परोक्षज्ञान उन्हे कहते हैं जो इन्द्रिय और मनके निमित्तसे उत्पन्न होते है। परोक्षज्ञान दो प्रकारके है—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। यहाँ प्रकरण चल रहा है जानकारीके उपायका। सही जानकारी बनती है सही प्रमाणोंसे। तब यहाँ मतिज्ञान श्रुतज्ञानका प्रयोजन है। सम्यक्मतिज्ञान और सम्यक्श्रुतज्ञान से सम्यक् मतिज्ञानकी ५ जातियाँ हैं—साव्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान। उनमेसे साव्यवहारिक प्रत्यक्ष जिसका कि नाम मतिविशेष है उसके भेद कहे जा रहे हैं। ये चार प्रकारके होते हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।

अवग्रहज्ञानके विषयमे अनेक शका समाधान द्वारा वर्णन चल रहा है। यहा अवग्रह ज्ञानको प्रमाण और इन्द्रियज एव अनिन्द्रियज सिद्ध किया है। अवग्रहज्ञानका विषय है द्रव्य पर्यायको सामान्य विशेष रूपसे जानना। द्रव्यपर्यायको सामान्य विशेष रूपसे जाननहार

यही व्यवस्था अभेदमे नही बन सकती, अन्य व्यवस्था तो क्या बनाई जा सकेगी, क्योकि अभेद व व्यवस्थामे विरोध है। इस शङ्काका समाधान यह है कि कोई भी एक पदार्थ अनेक धर्मात्मक हुआ करता है। तो जब पदार्थ अनेकधर्मस्वरूप है तो ज्ञानसाधकतम भी है और क्रियारूप भी है। तो साधकतमकी दृष्टिसे तो ज्ञानमे प्रमाणता आयी और क्रियाके रूपसे उसमे फलकी व्यवस्था बनी, इसमे कोई विरोध नही है। जैसे एक दीपक है, उसमे प्रकाश-कत्व धर्म भी है और प्रकाशन क्रिया भी है, वह प्रकाशका कारण भी है और प्रकाश करनेकी क्रिया भी है।

यहाँ यह शङ्का न रखनी चाहिए कि एक ही ज्ञान कारण बन जाय और क्रिया बन जाय, यह कैसे हो सकेगा ? उसमे दो शक्तियाँ है—जैसे अग्निमे कारण और क्रिया एक साथ पायी जाती हैं, अर्थात् अग्नि गर्मीके द्वारा जलती है। तो जलानेकी क्रिया भी है और उसके कारण गर्मी भी है। तो जैसे एक साथ अग्निमे दो शक्तियाँ देखी गईं, इसी प्रकार ज्ञानमे भी प्रमाणत्व और क्रिया ये दोनो पायी जा सकती है। तो पदार्थ अनेक धर्मात्मक है, इसलिए उसका करण बननेमे और क्रिया बननेमे परस्पर विरोध नही है। इस तरह अवग्रहज्ञान प्रमाणरूप है और वह अज्ञाननिवृत्ति करता है, यह तो उसका साक्षात् फल है और उसका परम्परया फल है हेय वस्तुमे हानिकी बुद्धि कराना, उपादेय वस्तुमे ग्रहणकी बुद्धि कराना व उपेक्ष्य वस्तुमे उपेक्षाकी बुद्धि कराना। अत प्रमितिमे साधकतम व फलवान् अवग्रहज्ञान प्रमाण है।

अवग्रहज्ञानकी प्रमाणताके विषयमे शका व समाधान—यहाँ शङ्काकार कहता है कि पदार्थका याने परमार्थ स्वलक्षणका ग्रहण तो परमार्थभूत निर्विकल्प दर्शन द्वारा हो चुका है अर्थात् निर्विकल्प प्रत्यक्षसे वस्तुका ग्रहण हो चुका है, उसके बाद फिर अवस्तुभूत पदार्थको विषय कर रहा है अवग्रहज्ञान याने अवग्रहज्ञानसे अन्यापोह ही तो समझा गया। अन्यापोह का अर्थ है अन्यका निवारण कर देना। जैसे प्रथम ही कुछ दीखा, तो जब तक उसमे अमुक पदार्थ है, ऐसा विकल्प नही बनता तब तक तो वह सही ज्ञान है, क्योकि उसने परमार्थ स्व-लक्षणको जाना। अब जहाँ पदार्थकी सत्ता ज्ञानमे आती है। जैसे कि यह घडा है तो इसका अर्थ है कि उस ज्ञानमे यह आया कि अन्य कुछ पदार्थ नही है, अघट नही है। घडेको छोड-कर अन्य पदार्थ नही है—ऐसा बोध हुआ अवग्रहज्ञानमे। सो यह बोध तो अवस्तुभूत है। सो यो अवग्रहज्ञान अस्पष्ट ज्ञान रहा। यदि उस अवग्रहज्ञानको निर्विकल्प प्रत्यक्षके पीछे हुआ न माना जाय और यो कह दिया जाय कि अवग्रहज्ञान भी निर्विकल्प दर्शनके साथ ही उसी समयमे हुआ तो ऐसा अवग्रहरूप विकल्पज्ञान प्रमाणसे बाधित होता है। इस कारण अवग्रह-ज्ञान प्रमाणभूत नही, किन्तु निर्विकल्प दर्शन ही प्रमाणभूत है।

इस शङ्काके उत्तरमे कहते है कि जब सम्यक् प्रतीतिपूर्वक ज्ञात हो रहा कि यहां स्व और अर्थका सम्वेदन है तो वहां निर्विकल्प कैसे कहा जा सकता है ? अवग्रहज्ञान तो इन्द्रिय-जन्य ज्ञान है और निश्चयात्मक ज्ञान है। यद्यपि उसमे ईहा और अवायकी तरह निश्चय नही पडा, फिर भी जाना वह तो निश्चय ही है। अवधारण न हो, पर समझा तो गया ही। निर्विकल्प ज्ञानोसे पदार्थका सम्वेदन नही हो पाता, सविकल्प ज्ञानकी भी महत्ता समझनी चाहिए। और फिर ज्ञान तो जितने भी होते है सब सविकल्प होते हैं अर्थात् अर्थाकारका परिचय रखने वाले होते हैं। यहां बात यह चल रही है कि सबसे पहले तो होता है दर्शन। उसके बाद होता है अवग्रहज्ञान। इसे क्षणिकवादी यो कहते हैं कि दर्शनका अर्थ है निर्विकल्प-प्रत्यक्ष और अवग्रहका अर्थ है सविकल्प प्रत्यक्ष। वास्तविक अर्थ तो निर्विकल्प प्रत्यक्षके विषयमे है। सविकल्प प्रत्यक्ष तो अन्यापोह रूप सामान्यको विषय करता है, इस कारण अवग्रह ज्ञान अप्रमाण है, किन्तु उनका यह कथन प्रतीति विरुद्ध है। निर्णायक ज्ञान तो सविकल्प ज्ञान ही हो पाता है। जिसे कि निर्विकल्पज्ञान कहते है वह तो मात्र दर्शन है।

निर्विकल्प और सविकल्प ज्ञानोंके धर्मोंका एक दूसरेमे अध्यारोप माननेके व्यर्थ परिश्रमका निरूपण—अब इस प्रसगमे क्षणिकवादियोका एक सिद्धान्त और समझना चाहिए। वह ज्ञानपरिणतियोको दो प्रकारसे मानते है—एक तो यह कि एक ही ज्ञानधारामे निर्विकल्पज्ञान और सविकल्पज्ञान क्रमसे शीघ्र-शीघ्र उत्पन्न होते रहते है और तब जैसे शीघ्र पहिया घुमाया जाय तो उसमे जो जुदे-जुदे आरे रहते है, भाग उन भागोके एकपने जैसा ज्ञान होता है। अतिशीघ्र भ्रमणमे तो उनको अन्तराल भी दृष्टिसे अगोचर रहता है। और कभी-कभी तो बिल्कुल पोलसी ही दिखाई देती है। तो इस ही तरह वहाँ ज्ञानधारामे आगे-पीछे जो निर्विकल्प सविकल्प ज्ञान हो रहे सो उनका ऐक्य प्रतिभासित होता है। दूसरी बात क्षणिकवादी यो भी मानते है कि उन दो ज्ञानधारावोकी साथ-साथ प्रवृत्ति हो रही है, इस कारण उन सविकल्प अविकल्प मन स्वरूप दोनो ज्ञानोकी युगपत् प्रवृत्ति होनेके कारण व्यवहारी जन मोहवश सविकल्पज्ञान और निर्विकल्पज्ञानमे एकत्वका निर्णय कर बैठते हैं। इससे व्यवहारी लोग सविकल्पज्ञानका जो निर्णय करना धर्म है उसका निर्विकल्पज्ञानमे आरोप कर बैठते है और निर्विकल्पज्ञानमे जो स्पष्टता धर्म है उसका सविकल्प मिथ्याज्ञानमे आरोप कर बैठते है।

साराश यह है कि जो प्रतिभास होता है कि सविकल्पज्ञान तो स्पष्ट है और निर्विकल्पज्ञान भी निर्णायक है, सो बात तो यह है कि स्पष्टता तो है निर्विकल्पज्ञानमे, पर एक साथ होनेके कारण या अतिशीघ्र होनेके कारण निर्विकल्पज्ञानकी स्पष्टताका आरोप सविकल्प ज्ञानमे किया जाता है। इसी प्रकार सविकल्प ज्ञान तो है निर्णायक, किन्तु एक साथ होनेके कारण या शीघ्र होनेके कारण सविकल्प ज्ञानके निर्णयका आरोप निर्विकल्प ज्ञानमे किया

जाता है। इस तरह क्षणिकवादी मानते तो है निर्विकल्पज्ञानको ही प्रमाण और स्पष्ट और सविकल्पज्ञानको अप्रमाण और अस्पष्ट मानते है और प्रतीतिसे, भ्रम सिद्ध करते हैं, किन्तु क्षणिकवादियोका यह कथन सगत नही है, क्योकि दोनो ज्ञानोका जब अपना-अपना व्यवसाय, विषय प्रतिभास जुदा-जुदा है तो उसमे एकका दूसरेमे आरोप करनेका कोई स्थान नही रहता। अगर एकके धर्मका दूसरेके धर्ममे आरोप कर दिया जाय तो कोई भी धर्म किसीका अपना निजी नही रह सकता। फिर तो कोई यो भी बक सकता है कि आत्माके ज्ञानका आरोप घटके रूपमे कर दो। घटके रूपका आरोप आत्माके ज्ञानमे कर दो। यो तो सर्व अव्यवस्था हो जायगी। और यो फिर व्यवहारमे न किसीका पुत्र, मकान, स्त्री, धन कुछ भी निर्णय नही रख सकते। किसीका किसीमे आरोप करके किसीका स्त्री, पुत्र किसीका भी सिद्ध कर डालें। तो इस तरह निर्विकल्प दर्शनका विषय अलग है, अवग्रहज्ञानका विषय अलग है। उनमे एक दूसरेका आरोप करके अवग्रहज्ञानको व्यर्थ सिद्ध करनेका प्रयास व्यर्थ है।

स्वपरव्यवसायात्मक अवग्रहज्ञानमे निरारोप स्पष्टता—सम्यग्ज्ञानका स्वभाव स्वपर निर्णय करना है। चाहे कोई बडा ज्ञान हो, चाहे कोई अल्प ज्ञान हो, मगर ज्ञानके स्वरूपकी झलक सभी ज्ञानोमे है। जैसे चाहे छोटासा टिमटिमाता हुआ दीपक हो और चाहे महान प्रकाशक सूर्य हो, पर स्वपर-प्रकाशकता दोनो जगह एक समान है। इसी प्रकार सब जीव एक समान है, ज्ञानका स्वरूप भी एक समान है, सभी स्वपर-प्रकाशक हैं। अब उनमे कुछ अन्य बातोकी विशेषता होती है। कोई ज्ञान अस्पष्ट है, कोई ज्ञान स्पष्ट है, उनमे किसीकी अस्पष्टताका स्पष्टमे आरोप करना और किसीकी स्पष्टताका अस्पष्टमे आरोप करना यह तो मात्र अज्ञानपन है। और भी विचार करिये—स्पष्ट और अस्पष्टको मिला देने और आरोप करनेका कारण यह ही तो बताया था क्षणिकवादियोने कि निर्विकल्पज्ञान और सविकल्पज्ञान एक साथ होते है। तो एक साथ होनेके कारण यदि एकके धर्मका दूसरेमे आरोप करना माना जाय तो यह बतायें क्षणिकवादी कि किसी समय कोई गायको तो देख रहा है और घोडेका विकल्प करे है याने चिन्तन तो चल रहा था घोडेका और सामनेसे गाय निकली तो दर्शन हो गया गायका। तो दर्शन और विकल्प—ये दोनो एक साथ हुए ना। तो यहा भी ऐक्य आरोप कर लिया जाय क्या ? क्यो नही वहा एकपनेका निर्णय करते ? दर्शनमे तो गाय मानते और विकल्पमे घोडा मानते, ऐसा क्यो ? वहां भी परस्पर धर्मका आरोप होना चाहिए।

यदि क्षणिकवादी यह कहे कि गायका दर्शन और घोडेका विकल्प— इन दोनो ज्ञानोमे निकटता नही है और इस कारण एकके धर्मका दूसरेमें आरोप नही होता, किन्तु एक ही

पदार्थका दर्शन हो और उस ही एकका विकल्प हो तो उसमे निकटता मानी जाती है, याने प्रत्यासत्ति मानी जाती और वह प्रत्यासत्ति है एक विषयपर। तब समाधानमे यो समझो कि व्यर्थका परिश्रम क्यो किया जा रहा है ? वह प्रत्यासत्ति तादात्म्य सम्बन्धको छोडकर अन्य कुछ नही है। यदि वे कहे कि एक सामग्रीके आधीन होना यह प्रत्यासत्ति है तो यह तो गौदर्शन और अश्वविकल्पमे भी है। इस कारण मानना चाहिए कि एक जीव एक ही पदार्थके बारेमे जो दर्शन ज्ञान बना रहा है वही एक प्रत्यासत्ति है।

इस प्रकरणका भाव यह लेना कि निर्विकल्प दर्शन और सविकल्प अवग्रह ज्ञान ये एक धारामें चल तो रहे है क्रमसे, पर इनका विषय जुदा-जुदा है। एकके धर्मका दूसरेमे आरोप नही किया जा सकता। तो अवग्रहज्ञान एक स्वतत्र प्रमाण है, निर्विकल्प दर्शनसे पृथक् उसकी अवस्था है।

स्पष्टज्ञानावरण व अस्पष्टज्ञानावरणके क्षयोपशमरूप योग्यतासे विकसित ज्ञानोमें स्पष्टता व अस्पष्टताका योग—क्षणिकवादियोके निर्विकल्प ज्ञान और उसके बाद होने वाले सविकल्प ज्ञानमे एकत्वकी बात कहना जब जरूरी पड गई और अन्य प्रकारसे सिद्धि न हुई तो उनका यह कहना है कि आत्मामे कोई ऐसी विशेष वासना लगी हुई है जो किन्ही-किन्ही दर्शन और विकल्पमें एकत्वका आरोप करती है और गौदर्शन अश्वविकल्प जैसे दर्शन और विकल्पमे एकत्वका निश्चय नही करती। यद्यपि सहभावी दोनो ही है याने एक अर्थविषयक दर्शन और विकल्प ये भी सहभावी है और गौदर्शन और अश्वविकल्प ये भी सहभावी है, तिस पर भी कोई वासना विशेष ऐसी है कि किसीमे एकत्वका आरोप है, किसीमे नही। इस मंतव्यके समाधानमे कहते है कि यही बात तो क्षयोपशमरूप योग्यतासे मानी गई है। वह वासना क्या है ? क्षयोपशमरूप, योग्यतारूप ही होगी। याने इन्द्रियजन्य विकल्पज्ञानमे जो स्पष्टपना होता है वह स्पष्ट ज्ञानावरणके क्षयोपशमके कारण होता है। यह स्पष्टता अनुमान आदिकमे नही होती, क्योकि वहाँ स्पष्ट ज्ञानावरणका क्षयोपशम नही है। यही योग्यता कहलाती है इसलिए ज्ञानके विकास योग्यतानुसार होते है, ऐसा मानना चाहिए।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि दो प्रकारके अवग्रह ज्ञान हुए। एक तो वस्तुविषयक अर्थात् सामान्यविशेषात्मक वस्तुको विषय करने वाला इसका नाम है अर्थावग्रह और दूसरा है अव्यक्त शब्द रस, गध, स्पर्श स्वरूप व्यञ्जनको जानने वाला। इसका नाम है व्यञ्जनावग्रह। यह अस्पष्ट ज्ञान है। स्पष्टता और अस्पष्टताका सम्बन्ध विषयसे वहाँ नही, किन्तु जो विषय करने वाला ज्ञान है उसका कारणभूत ज्ञानावरण क्षयोपशमसे है। तब निष्कर्ष यह हुआ कि स्पष्ट इन्द्रियावग्रह ज्ञानावरणके क्षयोपशमरूप योग्यतासे तो अर्थावग्रह होता है और अस्पष्ट इन्द्रियावग्रह ज्ञानावरणके क्षयोपशमरूप योग्यतासे व्यजनावग्रह होता है। इस प्रकार

दर्शनके बाद किमीके व्यजनावग्रह होता है। उसकी धारा आगे नही चलती। किसीके अर्थावग्रह ज्ञान होता है, उसकी धारा आगे चल सकती है। यो अवग्रहके विषयमे उपयोगी तथ्यो का विचार समाप्त हुआ।

मतिविशेषके भेदरूप ईहाज्ञान प्रमाणका निर्देश—अब ईहा नामक ज्ञानका विचार करनेके लिए उपक्रम होता है। ईहाज्ञान कहते हैं उसे कि अवग्रह ज्ञानमे गृहीत पदार्थके विषयमे जिज्ञासाकी पूर्ति जैसे करता हो, ऐसा जो प्रारम्भिक निश्चय है उसे ईहा कहते हैं। तो ऐसा ईहाका विशेष विवरण जानना हो तो इसके सम्बधमे तीन विकल्प उठाये जाने चाहिएँ। क्या ईहाज्ञान मनसे ही उत्पन्न होता है, क्या ईहाज्ञान इन्द्रियसे ही उत्पन्न होता है, क्या ईहाज्ञान इन्द्रिय और मन दोनोंके उभयसे ही उत्पन्न होता है ? इन तीन विकल्पोमे से यदि प्रथम विकल्प उपस्थित किया जाय कि ईहाज्ञान केवल मनसे ही उत्पन्न होता है तो यह बात सगत नही है, क्योकि ऐसी प्रतीति हो रही है कि ईहा सभी इन्द्रियके व्यापारोंकी अपेक्षा रखता है। आत्मा और इन्द्रियका व्यापार न हो तो ईहाकी उत्पत्ति नही होती। इस कारण ईहा केवल मनसे ही उत्पन्न हो जाता, यह बात सही नही है। इसका कारण यह है कि ईहाज्ञान स्पष्ट ज्ञान है, केवल मनसे होने वाला ज्ञान स्पष्ट नही होता। और दूसरा कारण यह है कि ईहाज्ञान इन्द्रियजन्य अवग्रहज्ञानके तुरन्त बाद होता है और अवग्रहज्ञान इन्द्रियज है। तो इस तरह ईहाज्ञान भी केवल मनसे उत्पन्न हुआ न बनेगा। मनसे जो मति बनती है वह मानसप्रत्यक्ष तो है, पर मानसप्रत्यक्ष सब ईहा नही कहलाते। मानसप्रत्यक्षके अतिरिक्त भी सविकल्पज्ञान, निश्चयात्मक ज्ञान, ईहाज्ञान सम्भव है।

ईहाज्ञानकी अक्षजता, स्पष्टता व प्रमाणताके विषयमे शंका व समाधान—यहाँ कोई क्षणिकवादी शका करते है कि ईहाज्ञानमे तो जाति, सम्बध शब्दयोजना आदिक कल्पनायें नही बनती, इस कारण वह भ्रान्तिरहित भी है और इसी कारण ईहाज्ञान अनिश्चयस्वरूप है, निश्चयात्मक नही है, क्योकि जो भ्रान्तिरहित निर्विकल्प ज्ञान हो वह निश्चयस्वरूप नही हो सकता है। इस शङ्काके समाधानमे कहते है कि ईहाज्ञान मनसे उत्पन्न हुआ मानसप्रत्यक्ष ही नही है, क्योकि इन्द्रियजन्य अवग्रहज्ञानके बाद ही हो जाता है, इस कारण ईहाज्ञान निश्चयात्मक है, अगृहीतग्राही है, जानने वाले इसकी अपेक्षा रखते हैं। सशय, विपर्यय आदिक दोषोका निषेध करने वाला है तब वह ईहाज्ञान स्पष्ट है और निश्चायक है। वह केवल झूठा कल्पनारूप नही है। यह ईहाज्ञान साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है और स्वसम्वेदन प्रत्यक्षसे भी ईहाज्ञान प्रत्यक्षस्वरूप प्रतीत होता है। इस कारण कल्पनारूप ज्ञान न समझना ईहाज्ञानको और ईहाज्ञान ही एक पर्याप्त है निर्णयकी ओर ले जानेके लिए। वहाँ अन्य कल्पनायें करना व्यर्थ है। यदि ईहाको मनसे उत्पन्न हुआ स्मरणज्ञान जैसा माना जायगा तो फिर ईहाके बाह्य इन्द्रियजन्य ज्ञानसे उत्पत्ति मानना असम्भव हो जायगा, क्योकि इन्द्रियप्रत्यक्षज्ञान और

मानसिक स्मरणज्ञान, इन दोनोकी जाति अलग-अलग है। विजातीय ज्ञानसे अन्य ज्ञानकी उत्पत्ति नही मानी जाती, और अगर मान ली जाय तो इसका अर्थ यह हुआ कि मानस-प्रत्यक्षका कारण पूर्ववर्ती इन्द्रियज्ञान हो गया। फिर तो इन दोनोमे विशेषता ही न रहेगी।

यदि क्षणिकवादी यह कहे कि परमार्थ वस्तुको स्पष्ट विषय कर लेनेसे वह तो मानस-प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य ज्ञानके समान है तब तो यह बात हुई ना कि इन्द्रियप्रत्यक्ष और मानस-प्रत्यक्षमे प्रत्यक्षपनेसे सजातीयता सिद्ध हो गई। चाहे इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षज्ञान हो, चाहे मानसिक प्रत्यक्ष हो, प्रत्यक्षपनेकी जातिसे दोनो सजातीय हो गए और इस तरहसे स्मरण और ईहाका उपादान कारण इन्द्रियजन्य ज्ञान हो सकता है, क्योकि ज्ञानपनेसे सजातीयता है और ऐसी सजातीयता यदि न मानी जाय तो स्मरणके साथ मानसिक प्रत्यक्ष न हो सकेगा, क्योकि सजातीयता भी न रही और फिर मानसप्रत्यक्षको स्मरणका उपादानका कारण न माना जा सकेगा, फिर तो प्रसङ्ग यह है कि इन्द्रियज्ञान और स्मरणके बीचमे मानसप्रत्यक्षकी कल्पना करना व्यर्थ है, इन्द्रियज्ञानसे ही आगे स्मरण उत्पन्न हो जायगा।

एक ही सतानमें योग्यतानुसार विविध ज्ञानोंका अभ्युदय—यदि क्षणिकवादी यह कहे कि यहां तो दो सतान हैं भिन्न भिन्न, एक है स्मरणज्ञानकी सतान, दूसरी है इन्द्रियज ज्ञानकी सतान, और इस कारणसे स्मरणका उपादान कारण इन्द्रियज्ञान नहीं होता। इसका समाधान यह है कि फिर तो शङ्काकारके यहाँ मानसप्रत्यक्षकी कल्पना करना व्यर्थ रहा, क्योकि दो सतान हो गईं। इन्द्रियज्ञानकी धारामे इन्द्रियज्ञान चलेगा, स्मरणज्ञानकी सततिमें स्मरणसे स्मरण चलता रहेगा। यदि इन्द्रियज्ञान और स्मरणज्ञान—इन दोनोको एक सतान स्वीकार लेंगे तब तो इन्द्रियज्ञानसे स्मृतिकी उत्पत्ति बन जायगी, फिर तो एक विशेषताका अन्तर ही रहा। वासनारहित इन्द्रियज्ञानसे इन्द्रियज्ञान बनेगा और वासनासहित इन्द्रियज्ञानसे स्मरणज्ञान बन जायगा। सो दो सतानधारायें माननेपर यह दोष है कि कभी दोनो ही एक साथ बन जायें, क्योकि भिन्न-भिन्न सतान हैं, इन्द्रियज्ञान और स्मरणज्ञान एक ही समयमे हो जाना चाहिए, और फिर बीचमे मानसिक ज्ञानकी कल्पना करना व्यर्थ रहा, ये समस्त दोष स्याद्वादमें नही आते, क्योकि ज्ञानावरणका क्षयोपशमरूप योग्यता ही सारी व्यवस्था बना लेती है। सजातीय, विजातीय ज्ञानोंकी एक सतान हो जाय, इन्द्रियज्ञानके बादमे स्मरण आवरणका क्षयोपशम हो, यो स्मरणज्ञान हो जायगा, अन्यथा इन्द्रियज्ञानसे इन्द्रियज्ञान बन जायगा। एक चेतनकी धारामे है यह सब ज्ञान। आवरण कर्मके क्षयोपशमके अनुसार ज्ञान व्यक्त होते रहते हैं। जब क्षय हो जाता है तो उस ही एक सतानमे केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है और कहो अवधिज्ञान श्रुतज्ञानका कारण बने, श्रुतज्ञान अवधिज्ञानका कारण बने, मनःपर्ययज्ञानका कारण बने, केवलज्ञानका कारण बने। एक सतानमें इन सब ज्ञानोंकी

योग्यतानुसार होनेमे कोई विरोध नही है। और इस प्रकार जब स्व और अर्थका निश्चय करने वाला मानसप्रत्यक्ष शकाकारने मान लिया, तब फिर इन्द्रियजन्य निर्विकल्प कल्पनापोढ ज्ञानके माननेका प्रयोजन क्या रहा ? जब मानसप्रत्यक्ष स्व-परका निर्णय बन गया तो इन्द्रियजन्य निर्विकल्प ज्ञान मानना ऐसा व्यर्थ है, जैसे छेडी (बकरी) के गलेमे दो थन लगना व्यर्थ है।

ईहाज्ञानकी इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तता, प्रत्यक्षपरोक्षरूपता व व्यक्तिशक्तिरूपता—यहा क्षणिकवादी यह कहते है कि अवग्रह आदिक ज्ञान तो सविकल्प ज्ञान है, उनकी उत्पत्ति इन्द्रियजन्य निर्विकल्प ज्ञानके न होनेपर नही हो सकती। अगर इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षके बिना मानसप्रत्यक्ष हो जाने लगे तो जितने अंधे बहरे जीव है उनको भी मानसप्रत्यक्ष हो जाय। अतः इन्द्रियप्रत्यक्षकी कल्पना एक सफल कल्पना है। इस शङ्काके समाधानमे कहते है कि बात तो ठीक है, पर उमे यों ही तो मानना पडा कि इन्द्रिय और अनिन्द्रियसे जिसकी उत्पत्ति होती है, जो स्व और अर्थका निश्चय करने वाला है ऐसा ज्ञान ही सब व्यवस्था करता है, इसीके मायने है कि ईहा आदिक ज्ञान। उक्त समस्त कथनका निष्कर्ष यह हुआ कि द्रव्य और पर्यायको विषय करने वाले अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा क्रमसे होते है और ज्ञानावरणके क्षयोपशम विशेषके अनुसार उनकी क्रमश उत्पत्ति होती है। क्षयोपशम विशेष ही इस ढगका है कि इन ज्ञानोमे इस क्रमका वह कारण है और वह ज्ञान एक ही समयमे प्रत्यक्ष है, परोक्ष है, अपने ग्रहणकी अपेक्षासे प्रत्यक्ष है और विषय अशकी अपेक्षासे परोक्ष है। यह ही ज्ञान उपयोगरूप व्यक्तिसे सहित है और योग्यतारूप शक्तिसे सहित है, इसी कारण ये एक अर्थ वाले है। कोई दार्शनिक शुद्ध ज्ञान अशको प्रत्यक्ष मानते, वेद्य वेदक अशोसे परोक्ष मानते, किन्तु इस तरह एक ज्ञानकी प्रत्यक्षता परोक्षता नही है। स्वग्रहणकी अपेक्षा प्रत्यक्ष है, विषयाशकी अपेक्षा परोक्ष है। कोई दार्शनिक ज्ञानाशकी व्यक्ति मानते है और वेद्य वेदक सम्वित्ति अशोके विवेकके ज्ञानकी शक्ति मानते है, पर ऐसी व्यक्ति शक्ति नही है। जो उपयोगरूप जानन है सो व्यक्ति है और जो क्षयोपशमरूप, लब्धिरूप योग्यता है सो शक्ति है, ऐसी लब्धि और उपयोगसहित अवग्रह ज्ञान, ईहाज्ञान आदि ये सब अर्थकी व्यवस्था करनेमे समर्थ है।

मतिविशेषके भेदरूप अवायज्ञान प्रमाणका निरूपण—मति विशेषके भेदोमे जो अवायज्ञान बताया गया है उसका स्वरूप क्या है, इसीको कहते है। सर्वप्रथम तो निर्विकल्प-दर्शन हुआ था, उसके पश्चात् अवग्रहज्ञान हुआ। अवग्रहज्ञानमे विशेषोको सामान्य रूपसे जाना था। अब ईहाज्ञानमे उसको और विशेषरूपसे जाना। ईहाज्ञानका जानना आकाक्षा सहित है याने अवग्रहज्ञानसे जानकर साथ ही जिज्ञासा बनती है कि क्या है ? उस जिज्ञासाकी

पूर्तिके साथ-साथ जो विशेष ज्ञान हुआ वह ईहाज्ञान है, लेकिन ईहाज्ञानमे जाना तो गया सही, फिर भी इसमे अवधारण नही है। जैसा कि वाक्योका प्रयोग होता है, बन गए वाक्य और उसके साथ एव शब्द और लग जाय तो उसका अवधारण कहलाता है। एव न भी लगे तो भी कुछ वाच्य तो है ही और एव लगनेसे उसका पूर्ण निर्णय होता है। इसी प्रकार ईहा ज्ञानमे जाना तो गया द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु, पर उसे जाननेके पश्चात् सम्भव है कि सशय विपर्यय ज्ञान बन सकते है। ईहा स्वयं सशय नही है, न विपर्यय है, यह तो सम्यग्ज्ञान है, पर सम्भव है कि सशय विपर्यय हो सकता—इस ढंगका निश्चयात्मक ज्ञान है ईहा, पर उस ईहाज्ञानमे जब निर्णय हो जाता, अवधारण बन गया कि यह ही है, ऐसा जो इन्द्रियज स्पष्ट ज्ञान है वह अवायज्ञान है। यह अवायज्ञान अवायज्ञानावरणके क्षयोपशमसे हुआ है। अवाय ज्ञानके न होनेपर ईहाज्ञानसे जान लिये गये विषयमे किसी कारण सशय या विपर्यय ज्ञान भी हो सकता है। और अवायज्ञान होनेपर सशय विपर्यय नही हो सकता है, हो ही नही सकता। अवधारण है, इस तरह निश्चयात्मक होनेपर भी ईहाज्ञानसे अवायमे अन्तर पाया जाता है।

अवग्रहज्ञानने जो जाना सो अपने अशका निर्णय करा दिया। ईहाज्ञानने जो जाना उसने अपने विशेष अशका निर्णय करा दिया। अब इससे और आगे ऐसा दृढतम ज्ञान बने कि सशय विपर्यय न सभव हो सके, वह बात यहाँ तक न आ पायी थी। सशय विपर्ययकी सम्भावना ही न रही, इस तरहका दृढ़तम ज्ञान हुआ है अवायज्ञानमे। यो तो पदार्थोमे अनेक विशेष अश ऐसे पडे हुए है कि जिनको बडे-बडे ज्ञान ता क्या, केवलज्ञानके सिवाय अन्य कोई भी नही जान सकता। फिर भी अपने-अपने विषयमे निश्चय होता है और अवधारण होता है। यह अवायज्ञान सशय और विपर्यय ज्ञानोसे उल्टे स्वभाव वाला है। अवायके बाद सशय आदिक ज्ञानोकी सम्भावना नही है, क्योकि अवायज्ञान पूर्ण दृढ स्वरूप है। इन्द्रियजन्य ज्ञान तो ये सभी है, उसकी अपेक्षासे देखा जाय तो अवग्रह, ईहा और अवाय—तीनो एक जातीय है। चेतन आत्माका क्रमसे अवग्रह, ईहा, अवाय, ज्ञान रूपसे परिणमन होता है। इन्द्रिय और आत्माकी सहायतासे आत्मा तो जाननहार ही है, इन्द्रिय बलाधानरूप है, इस प्रकार क्रम करके हुई, और क्षयोपशमके अनुसार इन चार ज्ञानोका उत्पाद होता है, यह बात स्पष्ट अनुभवमे आ रही है।

गृहीत अर्थमे उपयोगविशेष होनेके कारण अवाय व धारणा ज्ञानमे सर्वथा गृहीत-ग्राहित्व न होनेसे स्पष्ट प्रमाणरूपता—अब यहाँ शकाकार कहता है कि देखो जिस पदार्थको अवग्रहने ग्रहण किया, उसके ग्रहण किए गए पदार्थके ही विशेष अशमे ईहाज्ञानकी प्रवृत्ति है। सो यो ईहाज्ञान तो कुछ विशेष ज्ञान है। यहाँ तक तो प्रमाणपनेका निर्वाह ठीक हो सकता है, किन्तु अवायज्ञान तो ठीक उसी ही विषयको जान रहा जिस विषयमे ईहाज्ञानकी

प्रवृत्ति हुई। और इसी तरह धारणामे भी वही विषय जाना जा रहा है जो ईहा द्वारा जाना गया था। तो अवाय और धारणा—ये दोनो ज्ञान गृहीतग्राही कहलाये और गृहीतग्राही ज्ञान प्रमाण नही कहलाते, इसलिए अवग्रह और ईहा ये दो भेद ही कहे जाने चाहिएँ थे। अवाय और धारणा न कहा जाना चाहिए था। इस शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि सम्यक् ईहा ज्ञानके द्वारा जाने गए अर्थमे अवाय और धारणा, इन दोनोकी प्रवृत्ति हो रही है, ऐसा बताकर गृहीतग्राही कहकर अवाय और धारणाको यदि प्रमाण न माना जायगा तब तो अनुमान प्रमाण न बन सकेगा या अनुमान प्रमाण अप्रमाणपनेका व्यापार कर बैठेगा। अनुमान अप्रमाण हो जायगा, क्योकि अब तो यह नियम बना दिया शङ्काकारने कि किसी प्रमाणसे गृहीत अर्थको ग्रहण करे वह ज्ञान गृहीतग्राही है और अप्रमाण है। तो यो अनुमान अप्रमाण हो जायगा, क्योकि वह अनुमान भी व्याप्ति ज्ञानसे ग्रहण किए गए विषयको ही चलता है और इस तरह तो स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदिक सभी अप्रमाण हो जायेंगे, इसलिए सर्वथा एकान्त यह न करना चाहिए कि किसी ज्ञानके द्वारा ग्रहण किए गए पदार्थका ग्रहण करे वह अप्रमाण है। भले ही किसी प्रमाणके द्वारा ग्रहण किया गया, लेकिन उसमे कुछ नवीनता आये तो गृहीतग्राहीका दोष नही माना जाता, और वहाँ भी देखे गए पदार्थ भी स्मरण हो जानेके कारण अदृष्टके समान हो जाते हैं। इसी तरह ग्रहण किए गए पदार्थमे भी विशेष-विशेष अशो को ग्रहण करनेसे वह गृहीतग्राही नही रहता, किन्तु प्रमाण हो जाता है।

अवाय और धारणा ज्ञानमे भी यही कला है। भले ही जिस ही पदार्थको दर्शनने देखा उस ही को अवग्रहने जाना, उस ही को ईहाने जाना, उस ही को अवायने और उस ही को धारणाने जाना, लेकिन इन सब ज्ञानोका उत्तरोत्तर विषय विशेष और स्पष्ट होता जा रहा है। अवाय और धारणा ज्ञान भी स्व और अर्थको जाननेमे सही हैं अतएव प्रमाण हैं। गृहीतका ग्रहण तो किया मगर अब विशेष उपयोग बन रहा, जिन अशोका अवग्रह और ईहा ज्ञानने स्पर्श भी न किया था उन विशेषोका उपयोग अवाय और धारणा ज्ञानमे हो रहा। जैसे ईहाज्ञान तो इतने दर्जेमे जान रहा था कि जो सशय विपर्यय आदिकका कारण बन सकता था, अर्थात् सशय विपर्यय ज्ञानके लिए भी तो बुद्धि चाहिए। इतनी बुद्धिकी पात्रता ईहा ज्ञान तक आ जाती है। तो ईहा ज्ञान तो समारोपके कारणपनेको करके जान रहा था, उस प्रकार अवाय तो नही जानता, क्योकि अवाय ज्ञान अपने विषयको जाननेमे अत्यन्त दृढ है। ईहा ज्ञान होनेके बाद सशय, विपर्यय हो सकता है, अवाय ज्ञान होनेके बाद संशय विपर्ययकी सम्भावना ही नही। तो इसमे उपयोग विशेष नही आया क्या ? और अवायसे धारणामे क्या विशेषता है कि अवायसे जान लेनेपर कदाचित् विस्मरण हो सकता है, उसका स्मरण न आये, मगर धारणा ज्ञानसे जान कर उसका विस्मरण नही होता। धारणा

ज्ञान विस्मरणके अभावरूपके कारणपनेसे जान रहा है, याने अवायज्ञान तो विस्मरणका कारण हुए पनसे उस पदार्थको जानता है, पर धारणाज्ञान उस तरह नही जानता । कालान्तरमे विस्मरण न होने देनेका कारण बने—इस ढगसे जानता है । इस कारण अवायज्ञानसे धारणाज्ञानमे विशेष उपयोग हुआ । तब ही तो बताया है कि स्मरणका कारण साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है और सांव्यवहारिक प्रत्यक्षोमे धारणा ।

परोक्षज्ञानोमे कारणकार्यरूपताकी एक विहंगमदृष्टि—अब प्रथम और द्वितीय सूत्रको याने 'अवग्रहेहअवायधारणा' और 'मतिःस्मृतिः' आदिक इनको एक जगह कर कारणपनेकी बात सोचे तो यो देखा जायगा कि अनुमान ज्ञानका जनक तो है तर्क, तर्कका जनक है प्रत्यभिज्ञान, प्रत्यभिज्ञानका जनक है स्मरण, स्मरणका जनक है धारणाज्ञान, धारणाका जनक है अवाय, अवायका जनक ईहा, ईहाका जनक अवग्रह और अवग्रह उत्पन्न हुआ दर्शनके बाद । किसी भी पदार्थको जाना, उसमे कोई त्रुटि रह गई, उसे भी जान ले तो यह गृहीतग्राही न कहलायगा, किन्तु विशेष अशको ग्रहण करने वाला कहलाया । इस प्रकार मतिविशेष नामका जो ज्ञान है, जिसका दूसरा नाम सिद्धान्तग्रन्थोमे आभिनिबोधिक कहा है उसके ये चार भेद कहे गए है—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ।

इनका साधारणरूपसे यह दृष्टान्त हो सकता है कि जाते हुए सामने कोई मनुष्य देखा तो पहले कुछ है इस तरहका प्रतिभास तो है दर्शन, जो मनुष्य है ऐसा प्रतिभास हुआ मानो अवग्रह । अब कैसा है, कौन है ? एक ऐसी आकाक्षाकी पूर्तिसी करता हुआ जो यह ज्ञान हुआ कि यह तो मराठा है, यह ज्ञान ठीक चल तो रहा है, पर यहाँ अवधारणारूप दृढ़ता नही, सो इतने ज्ञानके बाद सशय भी हो सकता, यही है कि नही । तो सशय होकर फिर सशयका निवारण हो तब अवाय कहलाये, ऐसा तो नही है, मगर ईहाज्ञानकी विशेषता कहां है कि वह ऐसी स्थितिमे है ज्ञान । उस ईहाज्ञानने जाना कि यह मराठा है और उसीकी दृढता हो जाती है कि यह मराठा ही है । जिममे सशय, विपर्ययका अवकाश ही नही रहता, ऐसा दृढ ज्ञान अवायज्ञान कहलाता है । और जो जाना, मराठा ही है, उसे फिर भूले नही, स्मरण कर सके, ऐसे दृढतम ज्ञानको कहते है धारणाज्ञान । इस प्रकार आगेके प्रमाणकी उत्पत्तिके साधनभूत मतिविशेषके ये चार भेद बताये गए है । यहाँ तक जाना कि पदार्थ इस प्रकार होते । अब यह समझना है कि ये चार ज्ञान जिस पदार्थको जानते है वह क्या पदार्थ है, इसका विषयभूत क्या है ? उसका उत्तर अब अगले सूत्रमे देते है ।

बहुबहुविधक्षिप्रनिःसृतानुक्तध्रुवाणा सेतराणाम् ॥१६॥

बहु बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त, ध्रुव तथा इनसे विपरीत अर्थात् एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त व अध्रुव—इन बारह प्रकारके पदार्थोंका अवग्रह, ईहा, अवाय व

धारणा ज्ञान होता है। यहाँ अवग्रह आदि शब्दोमे धातुसे कृत् प्रत्यय लगनेसे वहु आदि विषयोको षष्ठी विभक्तिमे रखा है, किन्तु मौलिक अर्थ है वहु, आदिकको अवग्रहता है, ईहता है इत्यादि अर्थात् जानता है। अवग्रह आदि शब्दोकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—अवगृह्णाति, ईहते, अवैति, धारयति। इन सभी धातुवोमे कृत् प्रत्यय लगाकर 'इनको जानता है' इस अर्थको प्रतिपादनेमे षष्ठी विभक्ति लगाई गई है। इसी कारण यह भी शङ्का नही करनी चाहिये कि ज्ञानोका विषय तो आगे 'मतिश्रुतयोर्निबन्धो' इत्यादि सूत्रोमे कहा जावेगा ही तव 'बहुबहुविध' आदि सूत्रका कहना व्यर्थ है। यह शङ्का यो ठीक नही कि इस सूत्रमे विषय प्रतिपादनकी मुख्यता नही है, किन्तु अवग्रह, ईहा, अवाय व धारणा—इन चारो ज्ञानोके प्रभेद बतानेका प्रयोजन है। ये चार ज्ञान १२-१२ प्रकारके होते हैं। इस प्रकार यहाँ तक मतिविशेषके ४८ भेद होते है। इन्हीको निमित्तसे भेद करनेपर और अवग्रहके अर्थावग्रह व व्यञ्जनावग्रहको पृथक्-पृथक् समझनेपर इस प्रकार मतिविशेपके भेद हो जाते है—व्यजनावग्रहके १२ × ४ = ४८, क्योकि व्यञ्जनावग्रह स्पर्शन, रसना, घ्राण व श्रोत्र—इन चार इन्द्रियोके ही निमित्तसे होता है, चक्षु व मनके निमित्तसे नही। अर्थावग्रहके १२ × ६ = ७२, ईहाके १२ × ६ = ७२, अवायके १२ × ६ = ७२ व धारणाके १२ × ६ = ७२, इस प्रकार सब ४८ + ७२ + ७२ + ७२ + ७२ = ३३६ भेद मतिविशेष याने साव्यवहारिक प्रत्यक्षके हो जाते हैं।

बारह प्रकारके पदार्थोके अवग्रहण ईहन आदि करनेकी निष्पत्ति—मतिविशेषके अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा—ये चार भेद, ये ज्ञान वहु आदिक पदार्थोको जानते है। यदि केवल अवग्रहण आदि क्रियाका कर्म है वहु आदिक इतना ध्यान रखकर, इसको द्वितीया विभक्तिमे कहते तो लाघव तो हो जाता, किन्तु समझमे कठिन हो जाता, क्योकि पूर्व सूत्रमे कृत् प्रत्यय लगाकर अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा कहा। अगर क्रियारूपमे प्रयोग होता उन चारोका तब तो द्वितीया विभक्ति भी लगानेपर इस प्रकृत सूत्रमे अर्थ सूकर हो जाता, लेकिन कोई ऐसा सोचे कि अब कृदन्त याने कृत्प्रत्यान्त शब्दोसे परिवर्तित कर बुद्धिमे क्रियारूप बना लिया जाय और ऐसी स्थितिमे इस सूत्रमे द्वितीया विभक्ति कर दी जाय तो लाघव हो जायगा, सो बात सगत नही है, क्योकि लाघवकी हर जगह टेव रखना अच्छी बात नही है। जहाँ गौरव है वहाँ लघुता बतावो तो लोकमे भी उत्तम नही माना जाता।

जैसे कोई लोकव्यवहारमे ऐसा लाघव करे कि मान लो कोई अतिथि आया और उसे वस्त्र देना है धोती, चादर, साडी वगैरा और वस्त्र न देकर देवे बिनौलेके १००-५० बीज और कहे कि देखो हम वस्त्रोका भार न देकर वस्त्रोका बीज दे रहे, जिससे वस्त्र उत्पन्न होते है तो इस लघुताको कोई पसद करेगा क्या? और वही पुरुष जिस पुरुषसे बिनौले भेट पाकर

धोखा खाया जा चुका है तो यहाँ धोखा खाने वालेके घर अतिथि बनकर आये और वह भोजनमे एक-एक अंगुलके गन्नेकी गाँठ परोस दे और कहे कि देखो हम मीठेका बीज आपको दे रहे है तो क्या वह प्रसन्न हो जायगा ? लाघव जहाँ योग्य है सो ठीक है । यहाँ चूँकि कृत् प्रत्ययमे यह शब्द है वहाँ षष्ठीमे प्रयोग होना उत्तम रहता है अर्थात् अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—ये बहु आदिक पदार्थोंके होते है ।

अब यहाँ जिज्ञासा होती है कि बहु बहुविध आदिक जो १२ प्रकार बताये गए है वे तो है अवग्रह आदिकके कर्म तो इन कर्मोंको और अवग्रहण आदिक क्रियाविशेषका परस्पर सबध किस प्रकार है ? इस बातको सुनो । बहु बहुविध आदिक १२ प्रकारके पदार्थोका अवग्रहण होता, ईहन होता, अवाय होता, धारण होता, ये प्रत्येक अलग-अलग भेद है । भले ही कोई अवग्रह बहुको जान रहा, एकविधको जान रहा, क्षिप्रादिकको जान रहा, एक साथ जान रहा, तो यह क्षयोपशम विशेपकी बात है, मगर सम्बध लिए है प्रत्येक एक-एकके साथ, और फिर चाहे कुछ अवग्रहादिक क्रियाके विषय ३ भी हो, ४ भी हो, यह बात अलग है, मगर नियमरूपसे तो यहाँ प्रत्येकके साथ सम्बध करना है । समुदाय रूपसे सम्बध न करना । जिस आत्माके जब-जब क्षयोपशमविशेष होता है तो सख्याविशेषके रूपमे बहुतका ज्ञान कर लेता है या अधिक प्रमाण वाले विपुल पदार्थका अवग्रह कर लेता है, इसी प्रकार और विशेष क्षयोपशम होनेसे इन्ही बहुतोकी ईहा कर लेता है, अवायज्ञान और धारणाज्ञान कर लेता है । इसी तरह प्रत्येकके साथ समझना चाहिए । एकका कर लेना, एकविधका कर लेना, बहुविधका कर लेना, इन १२ प्रकारके पदार्थोमे चार प्रकारके ज्ञान हुआ करते है ।

बहु बहुविध आदि पदार्थोंके स्वरूपका सक्षिप्त लक्षण—अब यहाँ इन १२ प्रकारोंका थोडासा अर्थ समझना है जिसके आधारपर इनमे कुछ अन्तर समझा जाता है । बहुका ज्ञान अर्थात् बहुत पदार्थोंका ज्ञान, विपुल प्रमाण वालेका ज्ञान, विपुल प्रमाणके रूपसे देखो तो वहाँ क्षेत्रमे बहुता बनी, बहुता दिखी और जहाँ सख्या विशेषसे देखा वहाँ व्यक्तिस बहु दीखा । तो बहुत पदार्थोंका ज्ञान होना सो बहु अवग्रह है और बहु प्रकारके पदार्थोंका ज्ञान होना, यह बहुविध अवग्रह है । क्षिप्र शीघ्र निकल जाने वाले पदार्थोंका अथवा पदार्थोंका शीघ्रतासे ज्ञान कर लेना, अवग्रह कर लेना, क्षिप्रावग्रह है । कोई पदार्थ पुद्गल उसके अङ्ग पूरे निकले नही है, एक ही कोई अग प्रकट है वहाँ चूकि सब गुप्त है । तो कुछ ही अगोको देखकर उस सम्पूर्ण अवयवीका ज्ञान कर लेना, यह अनि.सृतावग्रह है । कोई बात कोई कहना चाहता है, कह न सका और बिना ही उसके कहे हुए यह सब कुछ जाना गया, यह उक्तावग्रह है अथवा कोई फलादिक दीखा तो देखनेमे तो रूप ही आया, पर रूपके दिखनेके ही साथ मिठास है कि खटास है, ऐसे रसोका ज्ञान कर लेना तो ऐसा अवग्रह करना भी अनुक्तावग्रह हो गया । जो

पदार्थ अचलित हैं उन पदार्थोंका ज्ञान करना ध्रुवावग्रह है। इसी प्रकार इसके उल्टेका भी ज्ञान करना, जैसे एकका ज्ञान करे, अवग्रह करे एकावग्रह है। एक प्रकारके पदार्थोंका ज्ञान करे, जैसे गेहुवोंका ढेर रखा वह सब एक प्रकारका है, यह एकविधावग्रह है। देरीसे ज्ञान कर सकना या धीरेसे निकालने वाले पदार्थका ज्ञान करना यह अक्षिप्तावग्रह है। पूर्ण प्रकट पुद्गलका ज्ञान करना यह निःसृतावग्रह है। कहे हुएका ज्ञान करना, अवग्रह करना यह उक्तावग्रह है और अध्रुव पदार्थका, नाशशील पदार्थका ज्ञान करना अध्रुवावग्रह है। इस तरह १२ प्रकारके पदार्थोंका अवग्रह होता, ईहा होता, अवाय होता, धारणा होता।

बहु बहुविध आदि धर्मोंमे परस्पर अन्तरका प्रदर्शन––अब एक बात यहाँ और समझनी है कि इनका परस्परमे अन्तर क्या है ? जैसे बहु और बहुविध कुछ एकसी बात जचती है. इनमे अन्तर क्या है ? अन्तर यह है कि बहुका ज्ञान होता हैं तो वह व्यक्तिके आश्रयसे होता है, और बहुविधका ज्ञान होता है तो वह जातिके आश्रयसे होता है। तो बहुज्ञान व्यक्त्याश्रित है, बहुज्ञान जात्याश्रित है। यह इनमे परस्पर भेद है। इसी प्रकार इसका उल्टा है एक और एकविध। एकका ज्ञान करना व्यक्त्याश्रित है, एकविधका ज्ञान करना जात्याश्रित है। मायने एक ही जातिके पदार्थोंका ज्ञान यह है एकविध ज्ञान। तो इस प्रकार इनमे अतर है।

अब यहाँ कोई ऐसी जिज्ञासा कर सकता है कि बहु बहुविधका भेद तो आया, मगर बहुत और एकविधमे क्या भेद है ? क्योकि जैसे बहुतसे गेहू रखे हैं तो बहुत भी हो गए और एक ही प्रकारके है वे एकविध भी हो गए, तो इसमे क्या भेद है ? हाँ भेद है। क्या भेद है कि जहाँ बहुत कहा वहाँ तो जातिकी ओर रच भी दृष्टि नही है और एक व्यक्तिकी ओर ही दृष्टि है। और एकविध कहा तो एक प्रकारकी केवल जातिकी ओर दृष्टि है। भले ही वे एक प्रकारके बहुत है, पर एकविध ज्ञानमे उन बहुतो जैसी प्रतीतिकी मुद्रा नही है, तो एकविध जब कहा जाता तो वहाँ बहुतपनेका व्यवहार नही होता। इस प्रकार बहु बहुविध, एक एकविध इन चारका परस्परमे एक दूसरेसे अन्तर आता है।

अब जिज्ञासा होगी कि इस सूत्रमे क्षिप्र और अध्रुव शब्द पडा है। क्षिप्रका अर्थ है शीघ्रकालका और चलित स्वरूप अध्रुव कहलाता, तो वह भी सदा रहनेका नही है। तो एक समान जैसे हो गया तो क्षिप्र और अध्रुवमे क्या अन्तर है ? अन्तर यह है कि क्षिप्रमे तो शीघ्र ही जाननेका विषय हो जाना पन है। क्षिप्र ज्ञान मायने शीघ्र ही बोध हो गया और अध्रुवज्ञानमे, चरितपनेकी अनियत पदार्थोंकी जानकारी होती है ऐसा विषय पडा है। यो समझिये कि क्षिप्र तो ज्ञानका विशेषण बनकर भेद बनता है और अध्रुवमे अर्थका विशेषण बनकर इसका ज्ञान बनता है। अब निःसृत और उक्तमे क्या अन्तर है, इस बात पर ध्यान

देना है। नि.सृत क्या कहलाता है? सम्पूर्ण पुद्गलका एकदम प्रकट रूप होना, बाहर निकला हुआ रहना, यह तो निःसृत होता है और अनिःसृत वह कहलाता है कि उस एक पदार्थमे कुछ अशोके निकलनेसे जो ज्ञान बनता है वह अनिःसृत है और अनुक्त कहलाता है, अभिप्रायोंसे जान लिया, न भी कहे तो भी अभिप्रायसे जान लिया, वह कहलाता है अनुक्त का ज्ञान और पूर्णरूपसे कह दे वह कहलाता है उक्त। तो अब यहाँ कोई यो पूछे कि उक्तमे और निःसृतमे क्या अन्तर है ? उक्तमे भी यही बात आयी कि पूर्ण कह दिया, नि सृतमे भी यही बात आयी कि पूर्ण निकला हुआ है। तो सम्पूर्ण शब्दोका मुख द्वारा निःसरण हुआ तब सुना और सुननेसे एक कर्णइन्द्रियजन्य ज्ञान बना तो उसे भी निःःसृत ज्ञान ही कह देना चाहिए। उक्त ज्ञान भी इसी प्रकारसे है।

समाधान यह है कि दूसरेके उपदेशपूर्वक शब्दजन्य वाच्यका ग्रहण होना सो तो उक्त का ज्ञान है, स्वतः उनका ग्रहण होना वह नि.सृत है। उक्तमे भी यद्यपि एक तरहसे निकला हुआ ही है शब्द और निःसृत पदार्थोंमे जैसे जो कुछ पूरे दिख रहे है मनुष्य, पशु आदिक वे भी निकले हुए है, लेकिन नि.सृतमे तो स्वय ज्ञान कर लो। निकलेका ज्ञान कर लिया, पर उक्तमे तो दूसरा कुछ कहे, उसके कथनसे जन्य है यह उक्त और उसका ज्ञान करना कहलाता है उक्तज्ञान। तो शब्दजन्य वाच्यका ग्रहण है उपदेशपूर्वक, उसे तो उक्त बोलते है और जो स्वत ग्रहण हो गया वह निःसृत है। इस प्रकार अनि.सृत और अनुक्तकी बात समझना है। अनि सृतके मायने है कोई पदार्थ पूरा नही निकला, कुछ ही हिस्सेको देखकर उस पदार्थका ज्ञान कर लेना। जैसे जलमे कोई हाथी डूबा है, केवल ऊपर एक सूड मात्र ही निकली है तो जरासी सूड देखकर हाथीका ज्ञान कर लेना, यह अनि सृत मतिज्ञान है, और बाहर खडा है पूरा, उसे जान रहा है वह हाथीका ज्ञान नि.सृत ज्ञान है। तो अनुक्तमे तो अभिप्रायवश जानकारी होती है और उसमे परोपदेशका कोई सम्बध है, कुछ भी थोडा कहा, उससे जाना, किन्तु अनिःसृतमे तो स्वतः ग्रहण करने जैसी बात है, और फिर इन सबका एक-एक रूपसे ज्ञान होना, यह तो कहा ही है, पर दो का मिलकर, चारका मिलकर भी हुआ ज्ञान वह भी मतिविशेष ही है। जो एकविध निःसृत क्षिप्र एक ही ज्ञानमे सब आ रहे हो तो भी इसमे कोई अनिष्ट बात नही है।

सूत्रमे बहुबहुविध आदि शब्दोको प्रधानता देनेके कारणकी जिज्ञासा व उसका समाधान—अब यहाँ एक आशका होती कि जो सूत्र रचना की गई है उसमे मुख्यरूपसे बहु बहुविध, क्षिप्र, अनि.सृत, अनुक्त और ध्रुव, ये छः बातें कही है तो यह तो पूरे-पूरे शब्दोमे कहा गया है और शेष ६ को इतर शब्द डालकर इससे उल्टा बताकर उनसे उल्टी ६ बातें कही तो जाती है, मगर प्रयोगकी कला ऐसी है कि जिससे पूरे शब्दोमे बोला है वे तो हो गए

प्रधान और बाकी जो ६ है, जिनको एक इतर शब्दसे ग्रहण किया गया है वे हो गए गौण। तो उनको प्रधान बतानेका क्या कारण है ? कही इससे उल्टी तरह क्यो नही कह दिया ? यो भी सूत्र बना सकते थे कि "एकएकविधाक्षिप्रनि:सृतोउक्ताध्रुवाणा सेतराणा" याने जिनको गौण किया है उनको प्रधानरूपसे सूत्रमे रखते और शेषको इतर शब्दसे ग्रहण करते, ऐसा न कहकर बहु आदिकोको ही प्रधानता क्यो दी गई है ? और एक बात और भी साथ है कि अगर एक-एकविध आदिक शब्द लिखते तो इसमे उनकी अपेक्षा लाघव भी है। किसीका अर्थविषयक लाघव है। एक तो बहुत एक-एक ही बहु, तो गुरु हो गया, एक लघु बन गया। किसीमे एक घनकृत लाघव है, और जाननेकी भी सुगमता है। बहुतको जानना एक बडा काम है, एकको जानना छोटा काम है। तो लाघवकी बात पहले रखते और बाकीको इतर शब्दमे गर्भित करते, ऐसा क्यो नही किया ? और भी देखो—धीरे-धीरे किसीको जानना, यह तो एक सरलसा काम है और बहुत शीघ्र जान लेना यह कुछ दुष्कर काम है। तो अक्षिप्र तो सुगम कहलाता और क्षिप्र ज्ञान कुछ दुष्कर रहा तो क्यो नही सुगमताका पहले शब्दोंसे कथन करते ? सूत्रमे अनि:सृत शब्द दिया है, और नि:सृतको इतर शब्दसे कहा है। अब सब जान सकते है कि नि:सृतका ज्ञान करना तो सुगम है और अनि:सृतका ज्ञान करना दुष्कर है। फिर नि:सृतको ही बोलते सूत्रमे कठोक्त पूरे शब्दसे। ऐसे ही उक्त अनुक्तमे समझियेगा। सूत्रमे अनुक्त शब्द दिया है याने अभिप्रायवश न कहेको समझ लेना, यह तो बडा काम हुआ और पूरे कहेको समझ लेना, यह तो बहुत सुगम है, फिर सूत्रमे उक्तका शब्द देते, अनुक्तको इतरमे डालते। इसी प्रकार ध्रुवका निश्चय करते, ध्रुवके निर्णय करनेकी अपेक्षा अध्रुवका निर्णय करना सुगम होता है, तो सुगम विधिमे तो अध्रुवको पहले कहना चाहिए, फिर ऐसा प्रयोग न कर बहु आदिकका पहले प्रयोग किया है, इसका क्या रहस्य है ? रहस्य यह है कि यह समझना चाहिए कि सूत्रमे जो कठोक्त शब्द दिये गये है, उनके वाच्य अर्थके परिज्ञानमे ज्ञानावरणका विशेष क्षयोपशम चाहिए और उस विशेष क्षयोपशमसे बहु आदिक ज्ञानो की उत्पत्ति होती है, और फिर जो विशेष समझा उसको फिर उनका विशेषण जैसा बनकर एक-एकविध आदिकका ज्ञान बहुत अच्छी तरह बन जाता है। तो जो बडे क्षयोपशमसे होने वाले ज्ञानसे पदार्थका निर्णय करता है उसके लिए फिर बहुत ही सुगम है कि वह एक एकविध आदिकका ज्ञान कर ले। आत्मामे अचिन्त्य शक्ति है और वह अपने इस ज्ञानबलका प्रयोग क्यो न ऊँचेसे करे ? यही आशय रखकर इस सूत्रमे बहु आदिकका पूरे शब्दोंसे जिक्र किया है और एक एकविध आदिकका इतर शब्दोमे अन्तर्गत रूपसे परिचय कराया है।

प्रकरणोक्त विषयोके स्वरूपका पुनः स्मरण—प्रकरण साव्यवहारिक प्रत्यक्षके विवरणका चल रहा है। जो इन्द्रिय और मनके द्वारा हम आप लोगोको जानकारी होती है वह

सब सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। उसके चार भेद कहे गए—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा याने प्रथम प्रथम ही किसी वस्तुके दर्शनके बाद जो सामान्यतया द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुका बोध होता है उसे अवग्रह ज्ञान कहते है। अवग्रह ज्ञानसे जाननेके बाद उस ही वस्तुमे कुछ विशेषका परिचय होना ईहाज्ञान है, फिर उस विषयका अवधारण होना कि यह पदार्थ वही ही है सो अवाय है। फिर इसका इतना दृढ़ परिचय हो जाना कि भविष्यमे भूल न सके इसको धारणा ज्ञान कहते है। तो ये चार प्रकारके ज्ञान किस प्रकारके पदार्थोंको जानते है, इसका विवरण इस सूत्रमे किया गया है।

कोई ज्ञान बहुत पदार्थोंको जानता है, जैसे नगर, बाजार, घर, सभा या अनेक प्रकारकी फैली हुई चीजें, एक ही घरमे रखी पचासो चीजे। इन सबको कोई ज्ञान जान लेता है ना, तो इस ही का नाम है बहुज्ञान याने बहुत पदार्थोको ज'न लेवे ऐसे ज्ञानको बहुज्ञान कहते है। एक ही ज्ञानसे जान लिए गए वे सब पदार्थ। कही ऐसा नही है कि उन बहुत पदार्थोंको क्रम-क्रमसे जाना हो। जैसे एक चटाईको जान लिया और चटाईमे सीकें अनेक है तो कही ऐसा नही हो रहा कि एक-एक सीकको जाना जा रहा हो क्रमसे और इस तरहसे चटाईको जान पाते हो, किन्तु एक ही निगाहमे उन सब पदार्थोंको जान लेते है। तो इसका नाम हैं बहुज्ञान। और चीजें बहुत रखी है, अनेक तरहकी रखी है उन अनेक चीजोको जाति की दृष्टिसे जानना कि ये तो अनेक प्रकारकी चीजें है, जैसे गेहू, चना, मूंग ये बहुतसे अनाज मिल गए, अब मिले हुए अनाजको देख रहे तो बहुत दाने भी जाननेमे आ रहे और यह भी जाननेमे आ रहा कि ये तो बहुत प्रकारके अनाज है, तो ऐसे भी ज्ञान हुआ करते है जिनमे जातिकी दृष्टिसे जान लिया जाता है कि ये बहुत प्रकारके पदार्थ है, इसको कहते है बहुविध ज्ञान याने बहुत प्रकारके पदार्थोंको जान लेना यह कहलाया बहुविध ज्ञान।

कोई ज्ञान क्षिप्र ही जान लेता है। क्षिप्र मायने जल्दी। जल्दीकी जानकारीको कहते हैं क्षिप्रज्ञान। जैसे कई बालक होते हैं, विद्यार्थी पढते हैं, एक विद्यार्थी तो किसी बातको झट समझ लेता है और कोई विद्यार्थी किसी बातको बहुत देर तक दिमाग लगानेपर समझना है तो जानकारीमे यह अतर है ना। तो जो झट समझ लेता है उसके ज्ञानका नाम है क्षिप्रज्ञान और जो देरीसे समझता है उसके ज्ञानका नाम है अक्षिप्रज्ञान। तो ऐसा भी तो ज्ञान होता है सांव्यवहारिक प्रत्यक्षमे तो यह कहलाया क्षिप्रज्ञान जो जल्दी समझमे आये। कोई ज्ञान अप्र-कट पदार्थको भी जान लेता है। याने पदार्थका कोई हिस्सा देखनेमे आया, अब उस हिस्सेके परिचयके साथ ही पूरे पदार्थका ज्ञान बन जाता है।

जैसे तालाबमे एक हाथी डूबा है, उसकी केवल सूड बाहर निकली है। उस सूडको देखते ही 'हाथी है' ऐसा जो ज्ञान बनता है उसका नाम है अनिःसृत ज्ञान। तो अनिःसृतका

भी ज्ञान होता है, उसका भी निर्देश इस सूत्रमे किया है।

कोई ज्ञान बिना कहेको ही जान लेता है। कोई पुरुष कुछ कहनेको ही था, दो शब्द ही बोल सका कि उसकी टोन और शब्दकी विधि जानकर तुरत सब समझ गए कि यह, यह कहना चाहता है। तो इस तरह अनुक्तकी भी तो जानकारी चलती है, इसका नाम है अनुक्त-ज्ञान। और कोई ज्ञान ध्रुवको जानता है याने जो पदार्थ स्थायी है, वही है, चलित नही है उसे जानता है। जैसे मकान, खम्भा, अलमारी आदि जो चीजें स्थिर है उन्हे भी जानता है। तो ऐसे ज्ञानका नाम है ध्रुवज्ञान।

सूत्रमे संकेतित इतर शब्दसे गृहीत एक एकविध आदि धर्मोंके स्वरूपका स्मरण— जैसे उक्त ६ प्रकारके पदार्थोकी जानकारी होती है, इसी प्रकार इससे उल्टोकी भी जानकारी चलती है। अर्थात् जैसे किसीको बहुतका ज्ञान होता है तो किसीको एकका भी ज्ञान होता है। एक पुस्तक, एक केला, एक फल, यो एकका भी ज्ञान चलता है। तो साव्यवहारिक प्रत्यक्ष की विशेषतामे यह बतलाया जा रहा है कि १२ प्रकारके पदार्थोका जीवोको साव्यवहारिक प्रत्यक्ष होता है। तो ७वाँ प्रकार है यह एकको जानना, एक ज्ञान, और ८वाँ प्रकार यह है कि एक प्रकारके पदार्थकी भी जानकारी होती है। जैसे गेहुवोका ढेर लगा है तो जान तो गए बहुत, मगर बहुत है, ऐसी दृष्टि नही है अभी और यह दृष्टि है कि यह सब एक ही प्रकारकी चीज है। तो एक ही प्रकारकी है यह सब, इस तरहकी ज्ञानकारीका नाम है एकविधज्ञान। ९वें प्रकारमे यह बताया है कि कोई ज्ञान देरी-देरीसे जानता है, बहुत देरमे समझमे बात आती है।

जैसे कि बताया गया था कि कोई विद्यार्थी किसी बातको बहुत देरमे समझ पाता। सामने कोई चीज आयी हो तो उसे कोई तो तुरन्त जान लेता है, कोई धीरे-धीरे परख बना-कर जान पाता है। तो जो देरसे जानकारी बनती है उसे कहते है अक्षिप्र ज्ञान। १०वा प्रकार है निःसृत ज्ञानका याने पूरा प्रकट पदार्थ है, निकला हुआ है, सामने है, स्पष्ट है, उसे जान गए। तो यह कहलाता है निःसृत ज्ञान। ११वाँ प्रकार है उक्त ज्ञानका याने पूरा बोल दिया और उसका मतलब समझ गए। तो पूरे कहे गए को जानना, यह है उक्तज्ञान। और १२वाँ प्रकार है अध्रुवज्ञानका। याने कोई चीज जो स्थिर नही हो रही उसकी जानकारी हो गई। जैसे बिजली चमकी, उसकी जानकारी बन गई, तो बिजली स्थिर चीज तो नही। तुरन्त ही तेजीसे कोई चीज निकल गई, उसका ज्ञान हुआ तो वह स्थिर तो न रही। थोडी देर ही सामने आयी तो उसका ज्ञान कहलाया अध्रुव ज्ञान। तो इस प्रकार इन १२ प्रकारके पदार्थोका अवग्रह होता है, ईहा होती है, अवाय होता है, धारणा होती है, यह इस सूत्रमे कहा जा रहा है।

बहु बहुविध आदिका क्रम रखे जानेका कारण—अब इस विषयमे एक जिज्ञासा होती है कि सूत्रमे इन १२ बातोंका, शब्दोका कथन तो किया गया है, मगर ६ शब्द तो सूत्र मे दिये। बहु बहुविध, क्षिप्र, अनि:सृत, अनुक्त और ध्रुव और इससे उल्टी जो ६ बातें है उनका नाम नही दिया, और सेतर यह शब्द करके बता दिया। सेतरका अर्थ है—स इतर। स मायने सहित, इतर मायने उल्टे याने इन ६ के एवजके उल्टे जो हुए वे ६ और ले लें। तो इसका तो समाधान हो गया था कि इन ६ का जो नाम लिया सो क्यो ? और उन ६ को इतरमे शामिल कर लिया सो क्यो ? तो उत्तर यह आया था कि जिनका नाम लिया गया वह ज्ञान कुछ बडा है याने उन ६ प्रकारके पदार्थोका ज्ञान बडी योग्यता हो तब होता है, इसलिए पहले काम लिया, लेकिन अब यह जानना चाहिए कि जो ६ नाम दिये बहु बहुविध आदिक उनको इस ही क्रमसे क्यो रखा ? जैसा चाहे बोल देते, पहले बहुविध बोलते, फिर बहु बोलते, और और तरह बोलते। ऐसा ही क्रम रखनेका क्या कारण है ?

अब इस जिज्ञासाका समाधान करते है। जो ये ६ शब्द रखे है उनके क्रमका यह कारण है कि पहले भेदके ज्ञानमे योग्यता ज्यादा चाहिए और उसके बादके जो दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवे, छठवें प्रकारका ज्ञान चलता है उसमे उत्तरोत्तर योग्यता कम भी हो तो भी जानकारी बनती है। जैसे इन ६ को उल्टे नम्बरसे समझिये। छठवाँ ज्ञान है ध्रुवज्ञान। जो स्थिर है, सामने है उसका ज्ञान किया। तो ऐसी जानकारी बडी आसानीसे होती है लोगोको और उसकी अपेक्षा ५वें भेद वालेके ज्ञानमे याने अनुक्तके ज्ञानमे कुछ ज्यादा योग्यतासे जानकारी बनती, याने कोई पुरुष बातको पूरा न कह सका और आशयको जान लिया गया तो ऐसे अनुक्तका ज्ञान करना, उस ध्रुवज्ञानसे तो बडी जानकारीका ज्ञान हुआ ना ?

अब देखिये चौथे नम्बरका ज्ञान। उसका नाम है अनि:सृत ज्ञान याने पदार्थ निकला हुआ नही है और उसे जान गए तो अनुक्त ज्ञानसे भी थोडी ज्यादा योग्यता चाहिए अनि:सृत का ज्ञान करनेके लिए। अब तीसरे प्रकारका ज्ञान देखिये—इसका नाम है क्षिप्रज्ञान, याने झट जानकारी कर लेना। तो अनि:सृत ज्ञानसे भी अधिक योग्यता चाहिए क्षिप्रज्ञानमे। कोई बालक किसी बातको झट जान लेता है तो इसमे विशेष योग्यता चाहिए और उससे अधिक योग्यता चाहिए बहुविध ज्ञानमे। बहुत प्रकारके पदार्थोकी जानकारी चल रही है, और उससे अधिक प्रशसनीय और बहुविद्वत्ताकी बात होती है बहुज्ञानमे। तो ज्ञानावरणके विशेष क्षयोपशमकी बात है तो ऐसी बड़ी योग्यताका क्रम ज्ञानका निरखकर इन शब्दोका क्रम रखा है।

ज्ञानकी पूज्यताका अर्थधर्मोमें आरोप—यहाँ कोई कहता है कि ज्ञान ही तो पूज्य है। जो ऊँचा ज्ञान है सो पूज्य है, जो हलकी योग्यताका ज्ञान है सो उससे कम है। तो ज्ञानो की बात तो कह लो, पर इन शब्दोमे तो पूज्यता नही, जिनके ज्ञानोका क्रम बना रहे। जो

बडी योग्यताका ज्ञान है उसे पहले बोलें, पर शब्दोमे तो पूज्यता नही होती। शब्द तो कैसे ही रख लो।

तो उत्तर यह है कि इन पदार्थोंके विषयका ज्ञान है, ऐसा सम्बन्ध होनेके कारण इन शब्दोमे भी पूज्यताका आरोप किया जाता है। जैसे कोई कहने लगे कि भगवान मोक्ष गए, सो भगवान तो पूज्य है, क्योकि वह आत्मा वीतराग है, सर्वज्ञ है, पर जो मूर्ति बनाते है भगवानकी वह तो पाषाण है, उसमे पूज्यता क्यो आती है ? पूज्यता तो पवित्र आत्मामे है। तो वहाँ भी यही समाधान होता है कि चूंकि उन पवित्र आत्माकी स्थापना की है मूर्तिमे सो इस कल्पनाके नातेसे पाषाणकी मूर्ति भी पूज्य बनती है। तो ऐसे ही इन ६ शब्दो द्वारा उन ६ प्रकारके ज्ञानोकी बात समझायी जा रही है। इसलिए जैसे ज्ञान पूज्य है तो ये पदार्थ भी पूज्य है, इस तरहका आरोप है।

एक ज्ञान द्वारा बहुत पदार्थोंके ज्ञानकी संभवता—अब यहा एक दार्शनिक शका करता है कि अभी जो यह कथन किया गया नाना प्रकारसे कि कोई ज्ञान बहुतको जानता है, कोई ज्ञान बहुत प्रकारके पदार्थोंको जानता है, सो यह बात सही नही जचती, क्योकि एक ज्ञान बहुत पदार्थोको जान ही नही सकता, क्योकि ज्ञान होता है प्रत्येक पदार्थसे निकला हुआ। तो जिस पदार्थसे ज्ञान निकला वह ज्ञान उस ही एक पदार्थको जानेगा। कोई भी ज्ञान बहुत पदार्थोंको नही जान सकता और इसी प्रकारसे जब बहुतको ज्ञान नही जान सकता तो बहुत प्रकारके पदार्थोंको भी नही जान सकता, इसलिए यह अवग्रह आदिक १२ प्रकारके पदार्थोको जानता है, ऐसा कहना युक्त नही है।

एक ही ज्ञान द्वारा अनेक पदार्थोको जाननेकी संभवतापर शंका व समाधान—अब इस शकाके समाधानमे अधिक कहना यो व्यर्थ है कि जब सामने प्रतीतिसिद्ध तत्त्व प्रसिद्ध हो रहा है कि एक ज्ञान बहुतको जान लेता है, यह घास पडी है, पुराल पडा है, इसमे कितनी सीकें है ? इसमे उन सब सीकोको एक साथ ही तो कोई ज्ञान जान रहा, यह बात तो स्पष्ट सिद्ध है, फिर उसके लिए समझानेकी ज्यादा दिमाग पच्ची करना व्यर्थ है। अब यहाँ कोई कहे कि चाहे पुराल भरा पडा है तो इनमे से एक एक सीकसे एक एक ज्ञान निकलकर एक एक को ही जान रहा है, यह बात तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। एकका भी ज्ञान हुआ करता है एक ज्ञानके द्वारा और एक ज्ञान द्वारा बहुतका भी ज्ञान हुआ करता है।

अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि वास्तविक बात तो यह है कि जो अनेक चीजें जान रहे है, ये अनेक सीके जानी जा रही है, सो एक प्रत्यक्ष नही है। यहाँ जितनी सीके हैं, जितने पदार्थ है उतने ही प्रत्यक्ष ज्ञान बन गए और इस तरह एक ज्ञान एक ही पदार्थको जान रहा, वे पदार्थ अनेक है तो ज्ञान भी अनेक हो रहे है। तो लोगोको यह बोध क्यो हो

रहा है कि देखो एक ही बारमे एक ही ज्ञानसे जान लिया, यह तो भ्रम हो रहा है, क्योंकि शीघ्र शीघ्र वे ज्ञान चल रहे हैं, इससे ऐसा लगता है कि ये सब एक साथ जाने जा रहे, एक ज्ञान द्वारा जाने जा रहे हैं। जाने जा रहे है अनेक ज्ञानो द्वारा अनेक पदार्थ, पर क्रम हो जाता।

इस शङ्काके समाधानमे यह पूछा जाना योग्य है कि शङ्काकार यह बताये कि अनेक प्रत्यक्षो द्वारा इन अनेकोका ज्ञान हो रहा, ऐसा कहने वाले यह बतायें कि उन अनेक प्रत्यक्षो का उन्हे ज्ञान हो रहा क्या? याने **अनेक ज्ञान है** जो इन अनेकोको जानते है, तो इसमे अनेक ज्ञान है– यह ज्ञान कैसे हुआ? अगर कहो कि उन अनेक ज्ञानोको जाननेके लिए अनेक ज्ञान और पैदा हो जायेंगे तो उनके लिए और चाहिए, यो अनवस्थादोष आता है। यह पूछा जा रहा है कि शङ्काकार जो यह कहता है कि ये अनेक सीके रखी है, इनका जो ज्ञान हो रहा है सो जितनी सीके है उतने ज्ञान हो रहे। याने अनेक ज्ञानोसे बहुत पदार्थ जाने जा रहे हैं तो यह पूछा जा रहा है कि उन अनेक ज्ञानोका ज्ञान कैसे हो रहा? अनेक ज्ञानोसे तो होगा नही, उसके दोष तो बता दिये। अगर वे यह कहे कि अनेक सीकोको जाननेके लिए अनेक ज्ञानोकी आवश्यकता हुई, सो उन अनेक ज्ञानोको एक ज्ञानने जान लिया तो वाह बड़े गजबकी बात है, उन अनेक ज्ञानोको जाननेके लिए एक ज्ञान ही काफी रहा। और यहाँ अनेक पदार्थोंको जाननेके लिए एक ज्ञान मानते नही। सो सीधा ही समझना चाहिए कि ऐसे भी ज्ञानकी विशेषता होती है, एक ज्ञान अनेक पदार्थोंको जान लेता है।

ज्ञेय अर्थोकी बहुता होने से ज्ञानकी एकता न माननेपर दोषापत्तियाँ—अब वही शङ्काकार फिर कह रहा है कि जो यह पूछा गया था कि अनेक पदार्थोंको जानने वाले अनेक ज्ञान कैसे जाने जाते हैं तो इसका उत्तर यह है कि वे सब स्वय जान लिए जाते है। अनेक सीकें पडी हैं, उन्हे अनेक ज्ञानोने जाना। उन अनेक ज्ञानोका ज्ञान खुद हो जाया करता है। तो क्षणिकवादी शङ्काकारका यह कहना भी ठीक नही, क्योकि क्षणिकवादियोका तो यह सिद्धान्त है ना कि क्षण क्षणमे नया-नया आत्मा बनता है, क्षण-क्षणमे नया नया ज्ञान बनता है। तो इस सिद्धान्तके अनुसार जो इन अनेक सीकोका अनेक ज्ञान बताया जाता, इसके मायने यह हुए कि अनेक आत्माओका वह ज्ञान है, तो जब अनेक आत्माओ द्वारा इन अनेक सीकोका ज्ञान हुआ तो उन अनेक ज्ञानोमे एकपनेका अनुसधान नही बन सकता याने जैसे यह अनुसधान चलता है सबका अपनी-अपनी बातका कि जिस मुझने अभी छुवा था वही मै अब सूघ रहा हू, उस ही का मै विचार कर रहा हूं, तो एक आत्मामे तो उन अनेक ज्ञानोका अनुसधान बनता, एकपना बनता, धारा बनती, पर अनेक आत्मा अनेक ज्ञान करले, उन सब ज्ञानोमे एक ज्ञानपनेका अनुसधान नही बन सकता, इसलिए यह बात भी

नही वनती कि उन अनेक ज्ञानोकी स्वतः उत्पत्ति हो जाय। तव सीधा यही मानना चाहिए कि कोई ज्ञान ऐसा होता है जो बहुत पदार्थोंका ज्ञान कर लेता है।

अब क्षणिकवादी शकाकार ही कह रहे है कि अभी-अभी जो यह दोष दिया कि अनेक पदार्थोंके अनेक ज्ञानोमे अनुसधान न वन सकेगा कि जो ही अभी जाना था, मैंने जाना था वही मै अब इसे जान रहा हू, क्योकि ऐसे अनुसधान बिना एक ज्ञान न वन पायगा, सो यह अनुसधान बनता है। कैसे ? इन अनेक सीकोका जो अनेक ज्ञान हुआ, उसके वाद जो विकल्पज्ञान जगता है उस विकल्प ज्ञानमे अनुसधान वन जायगा। यह कहना ठीक नही है, क्योकि क्षणिकवादियोके सिद्धान्तमे जिस ज्ञानके वाद विकल्पज्ञान वना वह विकल्पज्ञान उस ही एक पदार्थ मे अनुसधान करता, मायने एकपना लाता। तो विकल्पज्ञानसे भी उन अनेक ज्ञानोमे एक ज्ञानकी बात नही वनती। इससे भाई जिस तरह एक विकल्पज्ञानसे बहुत ज्ञानोका जानना मान रहे हो तो सीधा ही मान लो ना कि एक ही ज्ञान कोई ऐसा होता है कि जो बहुत पदार्थोंको और बहुत प्रकारके पदार्थोंको जान लेता है। भारी तोड-मरोडका परिश्रम करनेसे लाभ क्या है ?

संख्या व सख्यावानका भेद बनाकर बहुज्ञानकी इन्कारीका रास्ता ढूढनेका व्यर्थ प्रयास—अब कोई दूसरा दार्शनिक कहता है कि किसीको भी बहुत पदार्थोका ज्ञान नही होता, किन्तु बहुत सख्याका ज्ञान होता है, याने जैसे १२ केले रखे हैं तो १२ केलोका ज्ञान नही हो रहा, किन्तु केलेकी १२ सख्याका ज्ञान हो रहा। समाधानमे इतना कहना ही पर्याप्त है कि वाह रे गजवकी बात, कैसा बुद्धिसे तोडा गया कि १२ केलोका ज्ञान नही, किन्तु केलो की १२ सख्याका ज्ञान है। अरे छोटे वच्चेसे लेकर बडे बूढे तक वे १२ जो रखे हुए केले है उनका ज्ञान हो रहा कि नही ? उनकी जो १२ सख्या है तो क्या वह सख्या अलग धरी है पिटारेमे ? सख्यामे सख्यावानकी भिन्नता नही होती। वे केले १२ है और उनमे उनकी सख्या बतायी जा रही है। सख्यासे सख्या वाली चीज कोई न्यारी नही हुआ करती कि यह कहना कि वाह १२ केलोका तो ज्ञान नही है, किन्तु केलेकी १२ सख्याका ज्ञान है—यह सब व्यर्थकी कल्पना है। जिस किसी भी पदार्थको देखते तो सारे पदार्थ जाननेमे आ गए। सबको स्पष्ट है कि बहुत पदार्थोका ज्ञान हो रहा। अगर इस तरह बहुत पदार्थोका ज्ञान न माना जाय तो फिर नगरका, वनका ज्ञान ही न हो सकेगा, क्योकि नगर एक चीज तो नही, बहुत चीजोका समुदाय है। वन एक चीज नही, बहुतसी चीजोका समुदाय है। इस कारण यह मानना चाहिए कि कोई ज्ञान ऐसा होता है जो बहुत पदार्थोंकी जानकारी कर लेता है।

यदि शङ्काकार दार्शनिक ऐसा मान लें कि जैसे सर्वज्ञ योगीका ज्ञान बहुत प्रकारके पदार्थोका जानने वाला है, जैसे कि सहस्र किरण वाला सूर्य एक ही साथ अनेक पदार्थोका

प्रतिभास कर देने वाला है, ऐसा यदि मानें तो यह तो उचित ही है। सभीका ज्ञान ऐसा ही है, अन्तर आवरणका है। जिसके जितना आवरणका क्षयोपशम हो वह उतनी अवधिमें पदार्थोंको एक साथ जान लेता है।

पूर्व ज्ञानोंकी स्मृतिकी सहायतासे उत्तर उत्तर ज्ञानोसे जानकर बहुज्ञान सिद्ध करनेका निष्फल प्रयास—यदि शङ्काकार दार्शनिक यह कहे कि सर्वज्ञके ज्ञानकी बात दूसरी है। यहाँ हम लोगोको जो प्रत्यक्ष हो रहा है और अनेक पदार्थोंका ज्ञान हो रहा है सो होता तो है प्रत्येक पदार्थका एक ज्ञान, लेकिन पूर्व ज्ञानके स्मरणकी मदद लेकर दूसरा ज्ञान चलता है और इस तरह मदद ले लेकर उत्तरोत्तर ज्ञान चलता है और तब यह परिचय बनता है कि बहुत पदार्थोंको जान लिया। जैसे कि वाक्यज्ञानमे भी ऐसा ही होता है जैसे एक वाक्य, एक पक्ति मे लिखा है या एक पद ५-७ अक्षरोका है तो वे अक्षर जाने तो जा रहे है क्रमसे और उस शब्दका भाव क्या है यह समझा जाता है तब जब आखिरी अक्षर पढ लिया जाता है। तो वहाँ वह भाव केवल आखिरी शब्दमे तो नही बसा और न किसी एक-एक अक्षरमे बसा, किन्तु पूर्व अक्षर पढ़े, उसे स्मरणमे रखे, फिर दूसरे अक्षर पढे, उन्हे भी स्मरणमे रखे, फिर तीसरे पढे, इस तरह मानो ७ अक्षरका पद हो तो इस तरह उसका भाव आता है। तो अर्थ यह ही हुआ ना कि पहलेके अक्षरोका स्मरण हो, उसकी सहायता पाकर आखिरी अक्षरका ज्ञान करे, इसी तरह बहुतसे पदार्थोंका जो ज्ञान होता है सो होता तो है प्रत्येक पदार्थका अलग-अलग ज्ञान, पर वह उत्तरोत्तर ज्ञान पूर्व पूर्व ज्ञानका स्मरण पाकर बढ जाता है और उन बहुत पदार्थोमे जो आखिरी पदार्थका ज्ञान है उसके होते ही यह स्पष्ट होता है कि मैने बहुतको जान लिया, ऐसा दार्शनिकोका कहना युक्तिसगत नही है, क्योकि प्रत्यक्ष विदित हो रहा है कि बहुत पदार्थोंका जो ज्ञान होता है वह स्मरणकी मदद लेकर नही होता, किन्तु सीधा ही बहुत पदार्थ हैं तो उनका ज्ञान हो जाता है। तो जो लोग ऐसा मानते है कि स्मृतिकी मदद लेकर इन्द्रिय द्वारा उत्पन्न होता है बहुतका ज्ञान, तो वे यह बतायें कि बहुत और बहु-विध आदिक पदार्थोमे जो अवग्रहज्ञान होता है, होता तो है इन्द्रियसे, मगर क्या वह स्मरण सापेक्ष इन्द्रियसे जाना जाता है या स्मरण निरपेक्ष इन्द्रियसे जाना जाता है?

यदि शङ्काकार यह कहे कि स्मरण निरपेक्ष इन्द्रियसे जाना जाता है तब तो सही ही बात कह रहे और जब स्मृतिकी बात नही लेते इन्द्रियसे पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है। तो यह क्षयोपशमविशेषकी ही तो बात है कि बहुत पदार्थोंका अवग्रहादिक हो जाता है। यदि दार्श-निक यह कहे कि नही, स्मरण सापेक्ष होकर ही इन्द्रियाँ बहुत आदिक पदार्थोंको जानती है याने एक पदार्थको जाना, उसका स्मरण रख लिया, इस तरह याद कर करके पदार्थोंको जानता है और जहाँ सब जान लिया गया तब ऐसा लगता है कि मैने बहुत पदार्थोंको एक

साथ जान लिया। तो इस तरह अगर स्मरण सापेक्ष होकर इन्द्रिय जानती है, यह बात कहेगे तो यह बिल्कुल असंगत है, प्रतीतिसे विरुद्ध है और यह भी समझें कि कोई पुरुष यदि नये पदार्थोंको जानता है जिन पदार्थोंको कभी जाना ही न था, ऐसे बहुत पदार्थोंको जानता है तो वहां तो स्मरणकी गुन्जाइश भी नही। स्मरण तो तब ही होता है कि जब पदार्थोंको पहले जान लिया हो, बादमे देखे तो स्मरण हो। या बिना देखे भी स्मरण हो, पर जो पदार्थ नवीन हैं उनको देखकर ही एकदम बहुतका ज्ञान हो जाता है, इसलिए अवग्रहादिक ज्ञान-स्मृति सापेक्ष इन्द्रियसे नही उत्पन्न होते, किन्तु स्मृति निरपेक्ष ही साव्यवहारिक प्रत्यक्ष बनता है। इस कारण यह मान लेना चाहिए कि बहुत, बहु प्रकारके अनेकोका ज्ञान एक ही ज्ञानके द्वारा स्पष्ट हो जाता है।

बहु बहुविध आदि पदार्थोंके स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदि प्रमाणोंकी संभवता—जैसे बहुत-बहुत आदिक पदार्थोंके विषयमे इन्द्रियज ज्ञान होता है, अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा नामके ज्ञान होते है, इसी प्रकार १२ प्रकारके अर्थोंमे ही स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क आदिक ज्ञान भी हुआ करते हैं, क्योकि इन १२ प्रकारके पदार्थोंका अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा—ये चार ज्ञान होते है। यहां तक तो शङ्काकारको मानना ही पडा। अब धारणाज्ञानके द्वारा जब उन पदार्थोंका दृढतम अवधारण हो गया तो फिर उन्ही अर्थोंमे स्मरण आदिक ज्ञान भी होते हैं, यह अनुभव सिद्ध है, प्रतीति सिद्ध है। इसमे किसी प्रकारका विरोध नही है। अन्यथा अर्थात् यदि इन १२ प्रकारका पदार्थोंका स्मरणज्ञान न माना जाय तो सारी लोक-प्रवृत्ति नष्ट हो जायगी, क्योकि जितना भी लोकका व्यवहार है, सम्बन्ध है, प्रवर्तन है, वह स्मृतिके आधारपर चल रहा है। और ऐसे ही १२ प्रकारके पदार्थोंकी स्मृतियाँ चल रही है तो उस पर होने वाला जो व्यवहार है वह व्यवहार खत्म हो जायगा। होता तो नही, इस कारण यह मानना चाहिए कि १२ प्रकारके पदार्थोंका अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा तो होता है, पर इनके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क आदिक भी होते हैं। यहाँ तक यह बात सिद्ध हुई कि मतिविशेषके चार प्रकार है—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। ये १२ प्रकारके पदार्थों का ज्ञान करते हैं।

पदार्थोंके उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होनेसे उनके सब प्रकारोकी ज्ञेयता—प्रकरण मति-विशेषका है इसलिए उसकी ही बात गायी जा रही है। उस प्रसगमे क्षणिकवादी शकाकार कहता है कि इन १२ प्रकारके पदार्थोंमे से कुछ ऐसे भी नाम हैं कि जिनका ज्ञान असम्भव है। जैसे क्षिप्रज्ञान कहा सो यह तो ठीक है, पदार्थ क्षणिक हैं, एक ही समय ठहरते हैं और तुरन्त ही ज्ञान न हो तो फिर कभी ज्ञान हो ही नही सकता, क्योकि जब पदार्थ ही न रहा तो ज्ञान कहासे होगा ? इसलिए क्षिप्रज्ञान, तुरन्त ज्ञान यह तो सम्भव है, परन्तु अक्षिप्र अव-

ग्रह याने देरीसे जानना यह सम्भव नही, क्योकि जाननेमे देर लगाग्रोगे तब तक पदार्थ निपट ही चुका, क्योकि सर्व पदार्थ क्षणिक ही होते है, फिर कुछ भी ज्ञान करोगे वह सब मिथ्या है। जितने भी पदार्थ है सभी पदार्थ एक क्षण ही ठहरा करते है, इसलिए पदार्थका क्षिप्र-ज्ञान तो होता है। जब एक क्षणसे अधिक काल तक कोई पदार्थ नही स्थिर रहता तो अक्षिप्रज्ञान कैसे सम्भव है ?

इस शङ्काके समाधानमे विचार करें कि क्या पदार्थ सब क्षणिक ही है ? अनुभव तो कहता है कि पदार्थ क्षणिक नहीं, किन्तु उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यसे सहित है, याने पदार्थ प्रतिक्षण नवीन पर्यायसे उत्पन्न होते है, पूर्व पर्यायसे विलीन होते है और द्रव्यस्वभावसे स्थिर रहा करते है। तो पदार्थ क्षणिक ही हो यह तो है ही नही। प्रत्येक पदार्थ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, इन तीन धर्मोसे सहित हैं। अणु-अणु जो भी सत् है वह सब उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त है तो उसमे यह भी बात आयी ना कि पदार्थ कालान्तर तक ठहरता हुआ ध्रुवरूप है। हाँ सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे एक-एक पर्याय भले ही एक-एक समय तक ही रहती जानी जाती है, किन्तु व्यवहारनयसे या प्रमाण द्वारा यह जाना जा रहा है कि वस्तु अधिक काल तक ठहरती है। वस्तु तो एक ही है, पर्याय तो उसके एक क्षणका अश है, पर वस्तु तो सदा रहने वाला है। तो इस तरह जब वस्तु बहुत काल तक ठहरती है तो उसका ज्ञान होना युक्त ही है।

अब दूसरा शङ्काकार कहता है कि हाँ ठीक कहा जा रहा है कि वस्तु सदा काल रहती है और वह ध्रुव है, अपरिणामी है, कूटस्थ है, इस कारणसे अक्षिप्र, अवग्रह तो सही है, किन्तु क्षिप्र, अवग्रह ठीक नहीं हैं, याने पदार्थको कई समयोमे जान पाना यह बात ठीक बैठती है। ऐसा कहने वाले दार्शनिक भी सगत मतव्य नही रखते, कारण कि पदार्थ जैसा एकान्ततः क्षणिक नही है इसी प्रकार पदार्थ एकान्ततः कूटस्थ भी नही है। जो पदार्थ कालान्तर तक एकसे दिखते रहते है उनमे भी जैसे सूर्य, चन्द्र, वज्र, हीरा जैसे कठोर पदार्थोमे भी प्रतिक्षण अपूर्व-अपूर्व अवस्थाये वनती रहती हैं। परमाणुओका खिरना, अन्य परमाणुवोका आना और तत्कृत जो अवस्थायें है वे भिन्न-भिन्न रहती है। इससे पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त हैं, अतएव ज्ञानावरणके क्षयोपशमके अनुसार क्षिप्र अवग्रह ज्ञान भी होते है और अक्षिप्र अवग्रह ज्ञान भी होते है तो बहु बहुविधादिक अनेक प्रकारके पदार्थोका ज्ञान होना विरुद्ध नही है। चूंकि पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है, अतएव शीघ्र अवग्रह हो जाना, शीघ्र ईहा, अवाय आदिक हो जाना जैसे सम्भव है उसी तरह अक्षिप्र अवग्रह हो जाना, अक्षिप्र, ईहा आदिक हो जाना भी सम्भव है।

अप्राप्यकारी चक्षु और मनसे अनिःसृत ज्ञान व अनुक्तज्ञान होनेकी असंभवताका शङ्काकार द्वारा उद्घाटन—अब इस प्रसगमे कोई शङ्काकार दार्शनिक कहता है कि देखिये

जो प्रत्यक्षज्ञान होता है वह इन्द्रिय और पदार्थोंका सयोग पाकर होता है। किसी भी प्रकार का सम्बन्ध बने, सम्बध करके होता है। उसमे से दो साधन ऐसे हैं चक्षु और मनके, जिनके द्वारा पदार्थोंका सयोग न हो तो भी ज्ञान हो जाता है। जैसे छूना तब ही बनता है जब पदार्थका सम्बध बने। यह पदार्थ ठडा है या गर्म है—यह ज्ञान तब होता है जब पदार्थको छुवे। खट्टा मीठा रसका अवग्रह आदिक तब होता है जब उन रसोका, रसवान पदार्थोंका रसनासे सम्बध बने। सूघना भी ऐसे ही बनता है। चाहे नाक सुगधित पदार्थोंके पास जाय, चाहे सुगधित पदार्थके सूक्ष्म स्कध नाकके पास आये, जब सम्बन्ध होता है तब ज्ञान होता है। कर्णेन्द्रियसे भी ऐसा ही है कि जब शब्द कर्णसे सम्बन्धित हो तब ज्ञान होता है, मगर चक्षुमे तो यह बात नही है कि एक पदार्थके पास जाय, भिडे तब ज्ञान हो, और मनकी भी यह बात नही कि मन उस पदार्थके साथ भिडे तब ज्ञान हो। तो जब साधनकी यह विशेषता है तो अनिसृत और अनुक्त पदार्थका याने जो पदार्थ पूरा निकला नही, जैसे जलमे डूबा हुआ हाथी है और जो बात पूरी कही नही गई, ऐसे पदार्थोंका ज्ञान चारइन्द्रियसे कैसे हो सकता? याने स्पर्शन, रसना, घ्राण और कर्ण जो इन्द्रिया पदार्थोंको छूकर जानती है उन इन्द्रियोंके द्वारा अनिसृत और अनुक्त पदार्थ कैसे जाना जायगा? क्योकि जो निकला नही है उसको इन्द्रियाँ छू नही सकती। जो कहा नही गया उसका कर्णसे सम्बध कैसे बन सकता? तो चार इन्द्रियका सम्बध अनिसृत और अनुक्त पदार्थोंके साथ नही हो सकता, इस कारण जो भिडकर जानने वाली चार इन्द्रियाँ है उनके द्वारा अनिसृत और अनुक्त अर्थका अवग्रह, ईहा आदिक न होंगे। यदि स्पर्शन आदिकके द्वारा अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंका ज्ञान अवग्रह आदिक मान लिया जाय तो यह भी अप्राप्यकारी हो जायगा, याने जैसे आँख और मन पदार्थ से भिडे बिना जान लेते है उसी तरह स्पर्शन आदिक भी पदार्थसे भिडे बिना जान लेवे, फिर तो जैसे मिठाई खाना है, बस बाजारमे खडा हो जाय और मिठाईका स्वाद लेता रहे, क्योकि अब तो विना भिडे ही स्पर्शन, रसना, घ्राण और कर्णसे तुमने विषयको जानना मान लिया। भले ही पेट न भरे, पर आनन्द तो उसे आ जायगा, पर ऐसा होता नही। चार इन्द्रियाँ—स्पर्शन, रसना, घ्राण और कर्ण ये तो पदार्थोंसे भिडकर ही जानते हैं और चक्षु एव मन ये भिडकर नही जानते। तब ही तो यह व्यवस्था रखी है कि चक्षु और मनसे व्यञ्जनावग्रह नही होता, क्योकि उनसे स्पष्ट ज्ञान ही बनता है।

योग्य देशावस्थिति प्राप्तिरूप सबधके कारण सर्व पदार्थोंके ज्ञानोकी व्यवस्था बताते हुए समाधान—शङ्काकारका ऐसा कहना सगत नही है। कारण कि यहा इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध प्राप्तिरूप है, भिडने और न भिडनेसे मतलब नही है। सो अनिःसृत पदार्थ और अनुक्त पदार्थकी भी उनके सूक्ष्म अशोको कई जगहसे प्राप्ति रूप सम्बन्ध बन जाता है।

जैसे जलमे हाथी डूबा है और दिख रही केवल सूँड और उसी समय डूबे हुए उस ही हाथी के सब अवयवोका जाननरूप, प्राप्ति रूप सम्बन्ध बन रहा है और भी बाते देखी जाती है; चार हाथ दूर आग रखी है और हम स्पर्शन इन्द्रियसे उसकी गर्मी समझ लेते हैं तो सूक्ष्म अशोसे उस फैली हुई अग्निको छू लेते है। अग्निका पिण्ड नही फैला, पर अग्निका निमित्त पाकर पासके स्कध गर्म हो गए, जो दिख नही सकते, सूक्ष्म है। कोई अशोमे गर्मी है तो वे उष्ण स्कध भी तो अग्निस्वरूप ही माने गए हैं। और भी देख सकते है—दूर पर कोई खटाई कूट रही है तो उसके खट्टेपनका ज्ञान भी तो हो जाता है। कोई सूक्ष्म अंशोसे रसना द्वारा ससर्ग बन गया, कोई सुगधित पदार्थ रखा है, इत्रादिक दूर रखा है, पर इत्रके उस सम्बन्धसे छोटे-छोटे अश भी वहाँकी सुगध रूप परिणम जाते है और नासिका द्वारा उन अशोकी प्राप्ति बन जाती है तो लो अनिःसृत पदार्थोकी गधको भी सूघ लिया। किसीको पता ही नही कि इत्र धरा कहाँ और सुगध ले ली जाती है। बहुत दूर पौद्गलिक शब्द हो रहे, पर पासके अनेक छोटे-छोटे अवयवोसे फैल-फैलकर कान तक आ जाते है और सुनाई देने लगते हैं। तो चार इन्द्रियाँ जब प्राप्यकारीपनकी रक्षा भी कर रही और उनके द्वारा अनि.सृत और अनुक्त पदार्थोका अवग्रहादिक ज्ञान भी हो रहा तो सम्पूर्ण पदार्थोंकी ऐसी ही कला है कि उनकी पारिणामिक लहरें चारो ओर फैलती हैं अर्थात् उनका निमित्त पाकर पासका स्कंध समुदाय इसके अनुरूप परिणम जाता है।

जैसे चमकदार पदार्थोके निमित्तसे निकट निकटवर्ती पदार्थ चमक जाते है, दुर्गन्धित वायु होनेसे पदार्थ दुर्गन्धित हो जाते है। और की तो बात ही क्या, कही-कही तो छोटे-छोटे बच्चोका खेल या नाटक या कुछ गोष्ठी हो रही हो और उस बीचमे कोई गम्भीर विद्वान भी बैठा हो तो भी उसमे कुछ बचपन जैसा प्रवर्तन बन जाता है। अथवा विद्वान बैठा हो तो छोटे-छोटे बालकोमे भी कुछ गम्भीरता आ ही जाती है। तो ऐसे हो ये पदार्थ जो चार इन्द्रियके विषयभूत है वे पदार्थ भी किसी न किसी रूपसे इन्द्रियसे सम्बंधित होकर ज्ञात हो जाते है, इसमे किसी भी प्रकारका विरोध नही है। तब वह समझना कि बहु आदिक १२ प्रकारके पदार्थोका अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा—ये चार प्रकारके साव्यवहारिक प्रत्यक्ष होते है। अनि.सृत और अनुक्तमे जो शँका उठायी गई थी कि इनका ज्ञान प्राप्यकारी चार इन्द्रिया कैसे कर लेगा ? सो यह बात है कि किन्ही भी अशोसे इनका सम्बन्ध होता है। पूर्णभावना से न हो फिर भी किन्ही-किन्ही अशोसे सम्बन्ध होता है और अवग्रह ज्ञान आदिक बन जाते हैं और इस दृष्टिसे चक्षुमे और अन्य इन्द्रियोमे अन्तर है। चक्षुका तो सभी प्रकारसे कुछ भी सम्बन्ध नही बनता है, किन्तु अभिमुख हो तो वे असम्बद्ध अर्थको जान लेती हैं। इस दृष्टिसे चक्षुको अप्राप्यकारी कहा। वहाँ अन्य इन्द्रियोके अर्थकी भाँति सूक्ष्म अशोसे नेत्रमे भिड जायें,

ऐसा सम्बन्ध नहीं, बल्कि भिड जाये तो देखनेमे बाधा ही आयगी। तो जो इन्द्रिय जिस विधिसे ज्ञान करने का कारण बनती है उस विधिसे कारण है। होता सबका ज्ञान है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त, अध्रुव और इनसे उल्टा एक एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त और ध्रुव, इन १२ प्रकारके पदार्थोंका अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार प्रकारके सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष होते है।

योग्यदेशावस्थितिक प्राप्तिरूप सम्बधसे इन्द्रियो द्वारा ज्ञान होनेके तथ्यका पुन. स्मरण—प्रकरण यह चल रहा है कि अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंका अवग्रहादिक कैसे हो जाता है ? तो उत्तर यह दिया गया था कि अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके विषयमे भी किसी न किसी अवयव रूपमे इन्द्रिय मनका प्राप्तिरूप सम्बन्ध बन जाता है। यहाँ प्राप्तिका अर्थ है योग्य देशमे पदार्थका स्थित रहना, भिडना मिलना यह अर्थ नही है। सो जो पदार्थ अनिःसृत है, पूरा प्रकट नही है उसका कोई ही अवयव निकला है तो इतनेका ही प्राप्तिरूप सम्बध बन जानेपर अवयवीका जो ज्ञान कर लिया जाता है वह अनिःसृतावग्रह है। इसी प्रकार किसीने कोई बात कह न पायी पूरी, थोडी ही कही, मगर उसका चेहरा मुद्रा आँखसे देखकर पहिचान ली जाती है कि इसका अभिप्राय यह है। तो कुछ अवयवोंका सम्बध बना उससे जान लिया गया। तो इस तरह अनिःसृत और अनुक्तका भी अवग्रह होना सम्भव है।

ज्ञानकी योग्यता व ज्ञेयकी उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकतासे विविध ज्ञानोंकी सिद्धि—सूत्रमे यह बताया है कि बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और अध्रुव तथा इनसे विपरीत एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त एव ध्रुव इन १२ प्रकारके पदार्थोंका याने इन १२ धर्मों से युक्त वस्तुका ज्ञान होता है। सो यह बात भली-भाँति प्रतीतिसिद्ध है। जो लोग ऐसी शङ्का रखते थे कि पदार्थ क्षणिक है, इसलिए ध्रुवका अवग्रह न होगा। कोई कहते थे कि पदार्थ नित्य है, सदा अपरिणामी है, इस कारण अध्रुवका अवग्रह न होगा, यह उनकी मान्यता गलत है, क्योकि पदार्थ नित्यानित्यात्मक है। नित्यानित्यात्मक है पदार्थ, ऐसा सुनकर कोई शका करने लगे तब तो विरोध हो ही गया, उसीको नित्य कहा, उसीको अनित्य कहा। सो यह भी सोचना सही नही है, क्योकि जिस दृष्टिसे नित्य कहा उसी दृष्टिसे अनित्य कहा जाय तब तो विरोध है, पर नित्यकी दृष्टि दूसरी है, अनित्यकी दृष्टि दूसरी है, ऐसे परस्पर विरुद्ध धर्मोंका एक पदार्थमे अवस्थान देखा जाता है। पदार्थ नित्य है द्रव्यदृष्टिसे। चूंकि सत्त्व सदा रहेगा, इस कारणसे नित्य है और अनित्य है पर्यायदृष्टिसे।

जो अवस्था जिस क्षण है वह अवस्था अगले क्षण नही होती, ऐसा प्राकृतिक नियम है। भले ही चाहे कई पदार्थ एकसा ही काम कर रहे हैं, पर जो पहले समयमे काम है दूसरे समयमे नही। दूसरे समयमे अन्य है। यदि पहला ही काम आगे हो रहा, ऐसा माना जाय

तो इसके मायने है कि हो ही नही रहा। जो काम था वही रहा और रहा भी क्या ? तो वस्तु फिर अवस्थाशून्य हो जायगी, अपरिणामी हो जायगी। एक ज्ञानके द्वारा भगवान प्रतिक्षण तीन लोक तीन कालको जानते रहते है। पहले सब कुछ जान लिया, कुछ दूसरे समय का वही सब कुछ जाना जा रहा। असत् तो जाना नही जाता। सत् सब थे, सब जाने गए। दूसरे समयमे भी सत् सब जाने गए। लेकिन पहले समयकी शक्तिसे, परिणतिसे पहले समयमे जाना, दूसरे समयकी परिणतिसे दूसरे समयमें जाना, इस कारण अवस्था प्रतिक्षण नवीन-नवीन प्रत्येक पदार्थमे होती है, और इस दृष्टिसे पदार्थ अनित्य है। तो यहाँ कोई यह भी न कहे कि जैसे ध्रुवका अवग्रह कैसे ? मेरू पर्वत आदिक ये ध्रुव है और उनका ज्ञान होता है तो वह तो ध्रुव ही है, अध्रुव तो न रहे, और जो अध्रुव चीज है, जैसे बिजली तडकी वह अध्रुव ही तो रही, ध्रुव तो न रही, तो नित्यानित्यात्मक तो कोई पदार्थ हो नही सकता।

समाधान इसका यह है कि जो सुमेरूपर्वत ध्रुव है, सत् है उसमे भी प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। कितने ही परमाणु नये आते हैं, कितने ही परमाणु उससे अलग हो जाते है और उसकी परिणति त्रिविध यो होती रहती है, तो स्थूल दृष्टिसे ध्रुव है, पर प्रमाण-दृष्टिसे तो वह नित्यानित्यात्मक है। इसी तरह जो बिजली चमकी और चमक मिट गई तो बिजली क्या थी ? कोई पुद्गल परमाणु थे सो चमक रूपमे आ गए थे, दो चमक न रही तो क्या वे पुद्गल परमाणु मिट गए ? अब वे पुद्गल परमाणु चमक रूपमे नही हैं, अन्य रूपमें है। तो पदार्थ तो नित्यानित्यात्मक रहा, वे परमाणु तो सदा रहेगे। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ नित्यानित्यात्मक है, स्थूल दृष्टिसे तो समझमे आ रहा उसकी अपेक्षा ध्रुव और अध्रुव कहा जाता है। ध्रुवका ज्ञान करना, अवग्रह करना, ध्रुवावग्रह है। अध्रुवका अवग्रह करना, ज्ञान करना अध्रुवावग्रह है।

इस तरह इस सूत्रमे यह बताया गया कि जो मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अनुमान ये मतिविशेषके प्रकार है, सो ये इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होते है तथा इनमे मतिविशेषके है अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा भेद, तो ये चार भेद तथा अन्य मतिज्ञान ये सब बहु बहुविध आदिक १२ प्रकारके पदार्थोंमे होते हैं याने उन पदार्थोंका ज्ञान होता है। अब दार्शनिक जिस प्रकार मानते है इस प्रकारसे यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि इन १२ प्रकारके धर्मोंका ही ज्ञान होता है या यह धर्म जिसमे है उस पदार्थका ज्ञान होता है, इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए सूत्र कहते हैं—

अर्थस्य ॥१७॥

सामान्यविशेषात्मक पदार्थका कतिपय धर्मोंके रूपमे अवग्रहादिका अभ्युदय—सूत्रका अर्थ है पदार्थका। अनुवृत्तिसे अर्थ कर लिया जायगा कि पदार्थके बहु बहुविध आदिक धर्मोंका

अवग्रह आदिक होता है। एक जिज्ञासा हुई थी कि जो पूर्व सूत्रमे बहु आदिक ६ धर्म कहे और उनका उल्टा धर्म कहा एक, एकविध आदिक, सो ये १२ प्रकारके धर्म किस धर्मीके होते है, जिन धर्मोका ज्ञान करना बताया है वे बहु बहुविध आदिक किस धर्मीके है, इसका उत्तर देनेके लिए यह सूत्र कहा है कि ये १२ प्रकारके धर्म पदार्थमे होते है याने जाना तो जाता है पदार्थ ही, पर उस पदार्थको किस रूपसे जाना जाता है, यह ज्ञानोकी अलग-अलग बात है, पर जाननेमे पदार्थ ही आता। जैसे आंखसे रूप देखा तो क्या आंखने खाली रूपको जान लिया ? खाली रूप कुछ है ही नही, जाना ही नही जा सकता, किन्तु जाना गया पदार्थ, और वह पदार्थ रूपमुखेन जाना गया। केवल रूपको कोई नही जान सकता याने पदार्थ तो जाना न जाय और खाली रूपको जाना जाय, ऐसा सम्भव ही नही, क्योंकि पदार्थ तो हो नही और कही रूप-रूप ही धरा हो, ऐसा कही होता ही नही है। तो जाना तो जाता है पदार्थ ही, पर पदार्थ रूपमुखेन जाननेमे आया, घ्राणके द्वारा गंधमुखेन जाननेमे आता, ऐसा भिन्न-भिन्न इन्द्रियो द्वारा भिन्न-भिन्न रूपमे जाना जाता है, और जाना जाता है पदार्थ ही। जैसे कोई आत्माका ज्ञान करे तो अनेक प्रकारसे करता है। आत्मामे दर्शन गुण है, चारित्र गुण है, आनन्द गुण है आदिक या आत्मामे क्रोध है, मान है, जिस किसी भी तरहसे आत्माके बारेमे जाना तो क्या कोई खाली क्रोधको जान सकता है ? अरे क्रोधसहित आत्माको जाना जा रहा। क्या कोई खाली आनन्द नामके धर्मको जान सकता है ? नही। आनन्दरूपमय आत्मा को जाना जा रहा है। आत्माको ही आनन्द रूपमे जाना, ज्ञानरूपमे जाना, अन्य अवस्था रूप मे जाना, जाना पदार्थ ही। चाहे जैसे कोई मीठा रस खाना चाहता है तो उससे कहो कि पदार्थको तो छूना नही, मुखमे रखना नही और खाली मीठा तुम चख लो, तो मीठा अलगसे कहाँ चखा जायगा ? मीठा कुछ अलग है ही नही, मीठा रस असत्। पदार्थ ही जाना गया है स्वादमे, केवल मीठा नही जाना गया, तो जितना भी ज्ञान होता है जिस किसीको भी वह सब पदार्थका ज्ञान होता है। पदार्थका ज्ञान जिस किसी भी रूपमे हो जाय यह साधन कारण योग्यता आदिककी कला है।

धर्मोसे धर्मका अभेद और उनका परिचय करनेके लिये भेदव्यवहार—कोई शङ्काकार पूछ रहा है कि हमको तो यह नही जचता कि धर्मी याने पदार्थ कोई चीज है, जो कुछ है वह सब धर्म धर्म ही पूर्ण पूर्ण वस्तु है अन्यथा बताओ जैसे रूपका और पुद्गलका ही विचार कर लो। रूप धर्म है, पुद्गल धर्मी है याने रूपवान है तो वह रूप पुद्गलसे न्यारा है कि अभिन्न है। अगर कहो कि रूप पुद्गलसे अलग है तो पुद्गलका यह रूप है, यह कैसे कह सकते ? जब अलग ही है तो जिस चाहेका कह दो या किसीका ही न कह सकें। रूप रूप है, तो रूप अगर पुद्गलसे न्यारा है तो यह पुद्गलका है, यह कथन ही गलत है और

कहो कि रूप पुद्गलमे एकमेक है तो एकमेकके मायने यह है कि रूप और पुद्गल एक हो गए, दो रहे ही नही, तो नाम ही क्यो लो यह ? ऐसे ही बहु बहुविध आदिक जो १२ धर्म कहे, ये पदार्थके बताये जा रहे है तो यह बताये कोई कि ये १२ धर्म पदार्थसे भिन्न है या अभिन्न है ? अगर पदार्थसे भिन्न है तो ये पदार्थके धर्म है, यह कथन ही गलत हो जायगा। अगर पदार्थो से अभिन्न है तो दो नाम ही न कहना चाहिए। चीज एक ही है। धर्म धर्मी ही न रहे।

इस शङ्काके समाधानमे अधिक कहना तो यो व्यर्थ है कि यह सारी बात प्रतीति सिद्ध हो रही है। पुद्गलसे रूप कही अलग नही दिखता और पुद्गलको ही देखकर आँखसे खुले रूपमे जाना जा रहा है, घ्राणसे गध जाना जा रहा है, रसनासे केवल रस जाना जा रहा है, और अलग सो है नही और परिचय अलग-अलग रूपसे हो रहा, इसीके मायने है कि किसी दृष्टिसे तो यह भिन्न कहा जा सकता और किसी दृष्टिसे इसे अभिन्न कहा जा सकता, ऐसे ही जब बहु बहुविध आदिक धर्मोका ज्ञान हो रहा है तो वह ज्ञान सब एक मतिज्ञान है। उसका विषय यह पदार्थ है। उनका उस-उस रूपमे ज्ञान हो रहा।

पूर्वोक्त दो सूत्रो सहित इस सूत्रका प्रतिलोमविधिसे अर्थ—इससे पहले सूत्र कहे गए है उनको अगर एक ही जगह रखकर एक ही वाक्य मान लिया जाय तो यो अर्थ होगा—सूत्र यो है—अवग्रेहावायधारणाः, बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणा सेतराणाम्, अर्थस्य। अब इन तीन सूत्रोका विपरीत प्रकारसे अर्थ बनाओ। पदार्थके बहु बहुविध आदिक १२ प्रकारके धर्मोका अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा होता है। पदार्थ क्या चीज है ? इस विषयमे कुछ थोडा और समझना है। पदार्थ मायने व्यक्त पदार्थ। चूंकि आगे सूत्र आयगा व्यञ्जनस्यावग्रह अर्थात् अध्रुव पदार्थके अवग्रह ही होता है, उससे भी यह ध्वनित हुआ कि यहाँ अर्थस्यका अर्थ है कि व्यक्त पदार्थके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—ये सब मति-विशेष होते है। तो द्रव्य और पर्यायस्वरूप जो पदार्थ है उसीका नाम है व्यक्त पदार्थ। यद्यपि पदार्थ ही व्यञ्जनविग्रहका विषय है, मगर अर्थावग्रहका विषय है व्यक्त पदार्थ, जो स्पष्ट हुआ और जब स्पष्ट नही हुआ ज्ञानमे तो वह कहलाता है अव्यक्त पदार्थ, जिस पदार्थका व्यञ्जनावग्रह ज्ञान होता है। तो पदार्थरहित पदार्थकी पर्याय नही जानी जाती, किन्तु पर्याय-युक्त पदार्थ जाना जाता है, क्योकि कोई भी वस्तु पर्यायसे रहित नही है और कोई भी पर्याय वस्तुसे रहित नही है। चीज है और प्रतिक्षण उसमे अवस्थायें आती रहती है, इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि पदार्थके बहु आदिक धर्मोका अवग्रहादिक होता है और यही मतिज्ञान माना गया है। अब अव्यक्त पदार्थके कौन-कौनसे मतिविशेष होते है, इसका उत्तर देते है।

व्यञ्जनास्यावग्रहः ॥१८॥

अव्यक्त पदार्थके अवग्रह तक ही हो सकनेका नियम—व्यजन पदार्थके अर्थात् अव्यक्त पदार्थके अवग्रहज्ञान होता है। यहाँ व्यञ्जनका अर्थ अव्यक्त है। अव्यक्त पदार्थके याने अस्पष्ट पदार्थके अवग्रह ही होगा। ईहा, अवाय, धारणा, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान—ये ज्ञान नही होते। कोई शका करता है कि जब पहले सूत्रमे बता दिया कि व्यक्त पदार्थके अवग्रहादिक होते हैं तो अपने आप सिद्ध हो गया कि व्यञ्जन पदार्थके अवग्रह ही होता है, ईहा आदिक न होगे ? इसके समाधानमे कहते हैं कि यह सूत्र नियम करनेके लिए कहा गया है याने अव्यक्त पदार्थके अवग्रह ही होता है। जब कोई बात अपने आप सिद्ध होती है और उसे दुबारा कहा जाय तो उसमे नियम बन जाया करता है। अव्यक्त चीज क्या ? अव्यक्त स्पर्श, अव्यक्त रस, अव्यक्त गध और अव्यक्त शब्द। आँखोसे जो देखा जायगा वह अव्यक्त नही रह सकता व स्पष्ट रहेगा। चाहे पासका देखे, चाहे दूरका देखे। मनसे जो सोचा जायगा वह अव्यक्त न रहेगा, चित्तमे स्पष्ट हो जायगा, पर स्पर्श, रस, गध, शब्द—ये चार किसीको स्पष्ट भी ज्ञात होते हैं, किसीको अस्पष्ट भी ज्ञात होते हैं। जैसे छूनेमे कुछ आया तो कभी किसीको ऐसा लगता है कि क्या था ? कुछ था, समझमे न आया, कैसा था, क्या था ? इसी तरह रस, गधका भी होता है और शब्दका भी समझमे आता है। चले जा रहे है, कोई शब्द सामान्य रूपसे सुननेमे आये, फिर खतम, फिर सोचते भी है कि किसका शब्द था वह, पर निर्णयमे नही आ पाता। तो ऐसे अस्पष्ट पदार्थका अवग्रह होता है।

यहा यह समझना चाहिए कि रूपका और मनके विषयका अस्पष्ट अवग्रह क्यो नही होता, शेष चारका अस्पष्ट क्यो होता ? तो इसका कारण यह है कि जो इन्द्रियसे भिडकर जाननेमे आया उसका तो स्पष्ट और अस्पष्ट—इन दोनो तरह ज्ञान होता है, और जो पदार्थ इन्द्रियसे भिडे बिना दूरसे ही समझमे आ जाय वह पदार्थ स्पष्ट ही होता है याने साफ जानने मे आता है।

अप्राप्यकारी इन्द्रिय द्वारा जन्य ज्ञानमे अस्पष्टताका अनवकाश—सुननेमे भले ही उल्टी बात लग रही होगी कि जो पदार्थ बहुत दूर है वह तो हो जाता है बिलकुल साफ विदित और जो पदार्थ इन्द्रियसे भिडे वह पदार्थ साफ भी विदित हो और न भी हो, यह उल्टा कुछ नही है, स्पष्ट चीज है। जैसे कोई कोरा घडा है, उसपर दो-चार बूंद पानीके डाल देवें तो वह अव्यक्त गीला होता है। समझमे तो न आयगा कि गीला हो गया और उस पर १०-१५-२० बूद पानी डालता रहे तो स्पष्ट समझमे आता कि यह घडा गीला हो गया। तो चूंकि वह जल भिडता है घडेसे तो उसमे दोनो प्रकार हो गए—कितना भिडे तो अव्यक्त रहे और कितना भिडे तो स्पष्ट हो जाय। और जैसे दूरसे रोशनी हुई घडेपर, घडा व्यक्त हो गया, मालूम पड गया, चाहे धुधला दिखे, चाहे कैसा ही। स्पर्शन इन्द्रिय स्पर्शसे भिडकर

जानती है। चीज छूनेमे आयी तो ठंडा गर्म आदिक जाना जाता है। अब किस तरह छूनेमें आये तो बढ़िया जाना जाय और कितना छूनेमे आये तो साफ न जाना जाय, यह भेद पड जाता है। पर आँखोसे जब पदार्थ देखते है तो वहा यह भेद नही पडता, क्योकि नेत्र पदार्थ से भिडकर नही जानते, दूरसे जानते। तो जो दीखा वह साफ ज्ञानमे आ जाता है। ऐसे ही मनसे जो सोचा—सामने एक बना हुआ सा रहता है। तो यह व्यञ्जनावग्रह चूकि आँखसे और मनसे नही हो सकता, इसलिए यह अस्पष्ट ही है, स्पष्ट नही होता, पर ईहा आदिक स्पष्ट के होगे, अस्पष्टके न होगे। अवग्रह तो कहते है किसी पदार्थको जानने चले तो प्रारम्भमें जो सामान्य जानकारी बनती है उसका नाम है अवग्रह, फिर उसी पदार्थमे कुछ विशेषका ज्ञान होता है विशेषरूपसे। जैसे दूरसे देखा कि यह मनुष्य है, ऐसा जाना तो अवग्रह है और जब यह जाना कि यह अमुक चदसे है यह हुआ ईहा और जब समझमे आ जाय कि अमुक चद ही हैं तो वह हुआ अवाय और उसे न भूले तो यह हुई धारणा। तो ईहा, अवाय, धारणा तो तब ही होगे जब पदार्थ स्पष्ट हो जाय। तो अस्पष्टके अवग्रह ही होता, ईहा आदिक नहीं हो सकते। ऐसा नियम बनानेके लिए यह सूत्र कहा गया है।

यहाँ कोई पूछे कि जब इन्द्रियसे अर्थावग्रह जाना, इन्द्रियसे व्यञ्जनावग्रह जाना, फिर इन दोनोमे यह भेद कैसे आया कि व्यञ्जनावग्रह तो अस्पष्टको जाने और अर्थावग्रह स्पष्ट जाने? तो इसका उत्तर यह है कि जानने वाले जीवके ज्ञानावरणके क्षयोपशमकी विशेषता है। जिसको विशेष क्षयोपशम है वह स्पष्ट जानता है, जिसको हीन क्षयोपशम है वह अस्पष्ट जानता है। यहाँ यह शका न रखनी कि जो प्रत्यक्ष होता है सो स्पष्ट ही है। प्रत्यक्ष स्पष्ट और अस्पष्ट दोनो तरह होते है। मगर कहा क्यो गया कि प्रत्यक्षज्ञान स्पष्ट होता है? कहा यो गया कि जितने अशोमे कुछ परख पाया वहा आशिक स्पष्टता है। जैसे कभी तेज धूपमे, प्रकाशमे आँखें मीचकर बैठ जायें तो भी कुछ दिखता सा है अथवा उल्लू वगैरा जो दिनमे नही देख पाते तो आखिर दिनमे कुछ देख सकते है, मगर सब अस्पष्ट है। जिसकी आँखोमे रोग है, जिसको कम दिखना तो वह कहता ना कि भाई हाथ दो हाथ दूरकी चीज दिखती है, मगर धुँधलीसी तो देखे वह स्पष्ट और धुधला वह अस्पष्ट। दूरसे वृक्षोको देखा। जो देखा वह स्पष्ट और कितना बडा है, कैसा है, यह ज्ञात न होना सो अस्पष्ट। इसी तरह इस साव्य-वहारिक प्रत्यक्षमे अस्पष्टका ज्ञान, स्पष्टका ज्ञान दोनो ही सम्भव है और फिर स्याद्वादमे तो शङ्का ही नही है, क्योकि यहां तो वास्तवमे इन ज्ञानोको परोक्ष कहा गया। 'आद्ये परोक्ष, यह एक स्वय सूत्र है कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान होते हैं, पर व्यवहारसे ये मतिविशेष प्रत्यक्ष कहे गए। तो उसके साव्यवहारिकमे स्पष्ट और अस्पष्ट धर्मरूपसे जाना जाता है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि अस्पष्टका अवग्रह व्यञ्जनावग्रह है और स्पष्टका अवग्रह अर्थावग्रह है।

अस्पष्टप्रतिभासी व्यञ्जनावग्रहमे श्रुतलक्षणत्वका अभाव—यहाँ शकाकार कहता है कि जो यह बताया गया कि अवग्रहज्ञान अर्थके धर्मोका होता है और यह अस्पष्ट भी होता और स्पष्ट भी होता है। अस्पष्ट अवग्रहको व्यञ्जनावग्रह कहा है। स्पष्ट अवग्रहको अर्थावग्रह कहा है। और अस्पष्ट अवग्रहके लिए दृष्टान्त दिया है कि जैसे दूर देशमे रहने वाले वृक्षादिक मे जो ज्ञान हम लोगोको होता है वह अस्पष्ट ज्ञान है, वहाँ कुछ विशेष नही जाना जा रहा है। इसी पकार जो दिनमे नही देख पाते, रात्रिमे ही जिन्हे दिखता है विशेष, तो जब दिन होता है तब सूर्यकी किरणोमे थोडा काला-काला सा दिख जाता है तो वहाँ भी विशेष अशको विषय नही किया, सो यह बात तो हम मानते हैं, लेकिन यहाँ हमारा यह कहना है कि ऐसा जो अस्पष्ट अवग्रह हुआ जिन्हे कि व्यञ्जनावग्रह कहा जा रहा है, यह अस्पष्ट ज्ञान इन्द्रियजन्य नही है, यह अवग्रह ही नही है, किन्तु अस्पष्ट होनेके कारण श्रुतज्ञान है, क्योकि अस्पष्ट विकल्परूप तर्कणाये करना श्रुतज्ञानका काम है।

इस शङ्काके उत्तरमे कहते हैं कि ऐसा कहना सगत नही है। इसका कारण यह है कि एक तो प्रत्यक्षसिद्ध बात है कि इन्द्रियसे ही देखकर जानकर यह अस्पष्ट प्रतिभास बन रहा है और फिर अनुमानविरुद्ध भी है। किस तरह ? देखिये अधिक दूर रहने वाले वृक्षादिकका ज्ञान इन्द्रियजन्य है, क्योकि इन्द्रियके साथ इस ज्ञानका अन्वयव्यतिरेक चल रहा है याने इन्द्रियके होनेपर यह ज्ञान हो रहा है, इन्द्रियव्यापारके बिना नही होता तो जो दूरवर्ती पदार्थोका अस्पष्ट ज्ञान हो रहा है सो वह बराबर इन्द्रियजन्य है। इस प्रकार उल्लू आदिक तमाम पक्षियोको जो दिनमे अस्पष्ट प्रतिभास हो रहा है वह भी इन्द्रियजन्य है, क्योकि इन्द्रिय के न होनेपर नही होता यह सब ज्ञान। और फिर व्यञ्जनावग्रह ही क्या ? अर्थावग्रह स्मृति, सज्ञा, चिन्ता, अनुमान, ईहा, अवाय, धारणा—ये सब परोक्ष कह दिए जायें तो यह तो सिद्धान्त ही है। एकदेश स्पष्ट होनेके कारण इस मतिविशेषको साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जा रहा है। तो व्यञ्जनावग्रह भी अर्थावग्रहकी भाँति इन्द्रियजन्य है। यहाँ यह बात समझनी कि अस्पष्ट जानकारी होना श्रुतज्ञानका लक्षण बताया वह ठीक नही है। भले ही श्रुतज्ञानमे अस्पष्ट प्रतिभास है, मगर जहाँ-जहाँ अस्पष्ट प्रतिभास हो वह सब श्रुतज्ञान है—ऐसा लक्षण नही कहा जा सकता, क्योकि ऐसा कहनेपर स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदिक भी श्रुतज्ञान कहलाने लगेंगे। मतिज्ञानसे जिस पदार्थका ज्ञान किया गया अब उसमे मनके बलसे ऐसा अस्पष्ट प्रतिभास हुआ, जो स्वसम्वेदन प्रत्यक्षसे निराला हो और नाना प्रकारके स्वरूपोका प्ररूपण हो रहा हो वह श्रुत है—ऐसा मान लेनेपर तो सही ही बात है। सो ही कहा है आगममे कि "श्रुतमतिपूर्व।" लेकिन इस तरहका ज्ञान इन दूरवर्ती पदार्थोके निरखनेमे नही है। यहाँ ऐसा नही है कि पहले मतिज्ञानसे कुछ जाना अस्पष्ट और उसके बाद फिर यह अस्पष्ट ज्ञान

हो रहा है, किन्तु सीधा ही आँखोसे निरखकर इन दूरवर्ती वृक्षोका ज्ञान चल रहा है और वह अस्पष्ट चल रहा है। यहाँ भी यद्यपि कुछ तो जाना, इस अशसे तो वह साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है, मगर जो अस्पष्ट प्रतिभास है वह बीचमे अन्य ज्ञान करके नही हो रहा है, किन्तु सीधा ही इन्द्रियसे जन्य हो रहा है। यह ज्ञान श्रुतज्ञान, स्मृतिज्ञान आदिककी अपेक्षा स्पष्ट है, इस कारण साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है, पर विशेष अशका बोध नही चल पाता, इस कारण अस्पष्ट है।

परोक्षज्ञानोंमे अस्पष्टताकी संभवता—अब यहाँ कोई दार्शनिक शङ्का कर रहा है कि हम तो ऐसा समझते है कि जितने भी ज्ञान होते है समस्त ज्ञान स्पष्ट ही होते है, क्योकि अपने-अपने विषयको जाननेमे अन्य किसीको भी उन ज्ञानोकी व्यवस्था करानेका योग नहीं है। सभी ज्ञान अपने आपके विषयके व्यवस्थापक बनते है। तो जब सभी ज्ञानोमे यह कला है कि अपने आपके विषयके व्यवस्थापक है और स्वय जानते है तो सभी स्पष्ट ही तो कहलाये, और इस रीतिके अनुसार व्यजनावग्रह भी अस्पष्ट नही है, वे भी स्पष्ट है। इस शका का समाधान करते है कि सभी लोग निर्वाध स्पष्ट प्रतिभासका स्पष्ट अनुभव करते हैं और अस्पष्ट प्रतिभासमे अस्पष्टकी जानकारी करते है तो यह स्पष्ट और अस्पष्टपना ज्ञानोंमें अनुभवसिद्ध है, प्रतीतिसिद्ध है। इसलिए प्रतीतिसिद्ध, प्रत्यक्षसिद्ध, युक्तिसिद्ध निर्णयोका अपलाप न करना चाहिए।

ज्ञानमे स्पष्टत्व व अस्पष्टत्व धर्मका विचार—अब यहाँ कोई शकाकार कहता है कि अस्पष्ट होना यदि ज्ञानका धर्म है तो फिर बार-बार यह क्यो कह रहे हो कि अर्थ अस्पष्ट है? ज्ञानके अस्पष्ट होनेसे अर्थको अस्पष्ट कह देना अच्छा तो नही है अन्यथा किसीका धर्म किसी मे ही लगाया जा सकता है। ऐसा कहने वाले शकाकार यह बतायें कि जो ज्ञानको स्पष्ट हो स्वीकार करते है, अस्पष्ट प्रतिभास नही मान रहे हैं तो स्पष्ट होना भी तो एक धर्म है। तो वह स्पष्टता यदि ज्ञानका धर्म है तो फिर पदार्थकी स्पष्टता क्यो कहते हो? अगर कहो उपचारसे द्वितीय धर्मका याने ज्ञानके धर्मका विषयमे उपचार कर दिया जाता है इसलिए ज्ञान की स्पष्टताका प्रयोग पदार्थमे भी होता है। तो यही उत्तर तो अस्पष्ट ज्ञानमे है। यहाँ भी अस्पष्ट ज्ञानके धर्मका पदार्थमे उपचार कर दिया जाता है।

अब कोई दार्शनिक कहता है कि ज्ञानमे जो स्पष्टता आती है वह तो प्रकाशके निमित्तसे आ रही है तो यह कथन युक्त नही है। कारण यह है कि अगर प्रकाशके कारण स्पष्टता आती है तो उल्लुवोको भी तो वही प्रकाश है, फिर दिनमे उन्हे स्पष्ट प्रतिभास क्यो नही होता? और फिर आलोक तो यह भिन्न विषय है। ज्ञानका कारण तो स्पष्टताका कारण तो आवरणका क्षय, क्षयोपशम आदि है, अन्यथा भूत भविष्य पदार्थोका आलोक

कहाँ रखा है ? तो जब उन पदार्थोंके साथ आलोक नही मिल रहा तो उनका ज्ञान फिर कैसे होगा ? हो तो रहा ही है, इनमे जाति, रस, गध आदिक अनेक पदार्थोंका ज्ञान होता प्रकाशके बिना ही। इससे यह कथन भी युक्त नही है कि ज्ञानमे स्पष्टताका कारण प्रकाशका होना है। इस तरह यह मानना चाहिए कि जितने प्रकारका बोध चल रहा है स्पष्ट बोध, अस्पष्ट बोध, वह सब ज्ञानावरणके क्षयोपशमपर निर्भर है। जहाँ स्पष्ट ज्ञानावरणका क्षयोपशम है और वीर्यान्तरायका क्षयोपशम है वहाँ स्पष्ट ज्ञान होता। जहाँ अस्पष्ट ज्ञानावरणका क्षयोपशम है, वीर्यान्तरायका क्षयोपशम है वहाँ अस्पष्ट बोध होता है।

चक्षु और मनसे व्यञ्जनावग्रह न होनेका निरूपण—तो इस प्रकार यह जानना चाहिए कि स्पष्ट ज्ञानावरणके क्षयोपशममे होने वाले व्यञ्जनावग्रहसे चक्षु और मनके निमित्त नही हुआ करते, इसीलिए वह अस्पष्ट है। इस तरह जो मतिविशेषके भेद कहे जा रहे हैं उनमे अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा यह तो १२ प्रकारके पदार्थोंको ६ निमित्तो से जानता है याने ५ इन्द्रिय और एक मन। इस कारण १२ × ६ = ७२ भेद प्रत्येकके हुए, किन्तु व्यञ्जनावग्रह चूँकि अस्पष्ट प्रतिभास है सो उसका उत्पाद सिर्फ चार इन्द्रियोसे होता है—स्पर्शन, रसना, घ्राण और कर्ण। तो व्यञ्जनावग्रह भी १२ प्रकारके पदार्थोंको चार-इन्द्रियोसे जानता है, सो इसके १२ × ४ = ४८ भेद हुए। अब व्यञ्जनावग्रह अस्पष्ट ज्ञान क्यो है, उसका समाधान देनेके लिए सूत्र कहते हैं।

न चक्षुरिन्द्रियाभ्याम् ॥१९॥

सूत्रका अर्थ इतना है शब्दो द्वारा कि चक्षुइन्द्रिय और मन— इन दोनोसे नही होता। अब इन दोनोसे क्या नही होता ? क्या अवग्रहादिक ज्ञान नही होते या व्यञ्जनावग्रह नही होता ? ऐसी एक जिज्ञासा हो सकती है। तो समाधान यह है कि इसके अनन्तर पूर्व सूत्रमे जो कहा हो उसकी अनुवृत्ति लेनी चाहिए अर्थात् 'व्यञ्जनस्यावग्रह.' इसकी अनुवृत्ति आयगी तो अर्थ यह हुआ कि व्यञ्जनावग्रह चक्षु और मनसे उत्पन्न नही होता। अच्छा व्यञ्जनावग्रहका अर्थ है अस्पष्ट पदार्थका अवग्रह करना और उसे बताया है कि चक्षु और मनसे वह उत्पन्न नही होता, ऐसा क्यो है ? इसका कारण यह है कि चक्षु और मन अप्राप्यकारी है याने पदार्थोंसे भिडकर आँखे ज्ञान नही करती, बल्कि आँखोपर पदार्थ भिड जाय तो ये कुछ देख ही न सकेंगी। आँखें तो दूरसे ही पदार्थोंका ज्ञान करती है, इसी प्रकार मन भी अप्राप्यकारी है। भूत भविष्य दूरवर्ती पदार्थोंको मन जानता है तो क्या उनसे भिडकर जानता है ? तो ये दो साधन चक्षु और मन चूँकि पदार्थोंसे भिडकर नही जानते, इसलिए इनके द्वारा स्पष्ट ज्ञान ही होता है। यहाँ कोई यह शका न रखे कि जब आँखें पदार्थोंसे भिडकर नही जानती तो आँखें फिर जिस चाहे को जान बैठें। पीठ पीछे कोई चीज रखी है

उसे क्यो नही आँखें जानती ? ऐसी शका इस कारण ठीक नही कि आंखोका और पदार्थका सम्बन्ध तो है, उस सम्बन्धका खण्डन नही किया जा रहा, किन्तु पदार्थसे भिडकर नही जानती आँखे। सो आँखे अप्राप्यकारी है, लेकिन पदार्थके साथ प्राप्तिरूप सम्बन्ध है। यहाँ प्राप्तिका अर्थ सयोग नही, भिडकर जानना नही, किन्तु कितनी दूर पदार्थ रखा हो तो ये चक्षु जान सके, ऐसे योग्य देशमे पदार्थका अवस्थित रहना, इसे कहते है प्राप्तिरूप सम्बन्ध। हां तो जो इन्द्रियां भिडकर जानती है उन इन्द्रियोसे कभी स्पष्ट प्रतिभास होता है, कभी अस्पष्ट प्रतिभास होता है। इसका कारण यह है कि वहाँ प्राप्तिका भेद है याने कितनी दूर हो तो स्पष्ट बने और कितनी दूर पास हो कि अस्पष्ट बने, ऐसे प्राप्ति भेदके कारण और अतरंग योग्यताके कारण प्राप्यकारी इन्द्रिय द्वारा स्पष्ट और अस्पष्टका ग्रहण होता है।

जैसे नया सकोरा हो मिट्टीका और उसपर दो-चार बूंद पानी डाल दें तो अस्पष्ट गीलापन रहेगा, स्पष्ट न होगा, व्यक्त न होगा और लगातार अनेक बूंद पड जायें तो उसका गीलापन स्पष्ट हो जायगा। तो जैसे यहां प्राप्तिके भेदसे व्यक्तपना और अव्यक्तपना है, ऐसे ही यहां भी याने अवग्रहमे भी प्राप्तिके भेदसे अस्पष्टपना और स्पष्टपना है। यहां प्राप्तिका मतलब है प्राप्यकारीसे। अच्छा, और जो अप्राप्तिकारी चक्षु और मन है, वे पदार्थकी स्पष्ट ही जानकारी बनाते है। इसका कारण यह है कि अप्राप्तिमे भेद नही हुआ करता। जैसे घडेमे तो भेद है, कोई छोटा घडा कोई बडा घडा, पर घडेके अभावमे क्या भेद ? जैसे घडेका अभाव, किवाडका अभाव, भीतका अभाव। अभावमे क्या भेद पडता है ? तो ऐसे ही जो इन्द्रियाँ भिडकर जानती है उनके भिडनेमे तो भेद होता है और उस भेदके अनुसार प्रतिभास भेद होता है, किन्तु चक्षु और मन जो पदार्थसे भिडकर नही जानते वहां प्राप्तिकारीका अभाव है। तो अभावमे क्या भेद है, इस कारण चक्षु और मन पदार्थको व्यक्त ही जान जाते है।

चक्षुकी अप्राप्यकारिताकी मीमांसा——अब यहाँ नैयायिक एक आशङ्का रख रहे है कि जैसे स्पर्शन, रसना, घ्राण और कर्ण——ये पदार्थको छूकर ही जानते है, ऐसे ही आँखें भी पदार्थके साथ सम्बन्ध होता है तब जानती है, क्योकि बाह्यइन्द्रिय होनेसे। जो-जो बाह्य इन्द्रियां है वे पदार्थसे भिडकर ही जानती है। हाँ, मन बाह्यइन्द्रिय नही है, सो मन पदार्थसे भिड़े बिना जान ले वह तो ठीक है, पर इन्द्रियाँ सभी पदार्थोंसे भिडकर जानती है, ऐसे ही चक्षुइन्द्रिय भी पदार्थसे भिड़कर जानती है।

इस शङ्काके समाधानमे कहते है कि इस कथनमे प्रत्यक्ष बाधा है। यदि आँखें पदार्थसे भिड़कर जानें तो पहले तो आँखें इन काले और सफेद गटाको ही जान लें, जो आँखके पास ही चिपके हुए हैं, जिनके बीचमे ही आँखें बैठी हैं। तो ये आँखें अपने काले सफेद गटा तकको जान नही पाती, और बाहरी पदार्थोंको कहते है कि उनको भिडकर जानती है। तो

इस तरहसे चक्षु भी प्राप्यकारी है, ऐसी सिद्धि करनेमे प्रत्यक्षसे बाधा है। अब अनुमानसे समझिये। अनुमान है कि चक्षु भिडकर जानने वाले नही हैं, क्योकि वे छूकर नही जानते। जो छूकर जानते हैं वे इन्द्रिया भी प्राप्यकारी कही जाती और जो छूकर नही जानते उन्हें प्राप्यकारी कैसे कहेंगे? इस अनुमानको सुनकर यदि शङ्काकार मनमें यह आशंका रखे कि हम तो शक्ति स्वरूप चक्षुकी बात कह रहे। शक्तिस्वरूप चक्षुमे अंजन, सुरमा आदिक नही लगते है, इसलिए उसमे कोई दोष नही है। तो इसपर उत्तरमे यह ही कहना है कि तुम्हारे शक्तिमान चक्षु बडे वेढब है कि जहाँ शक्तिमान चक्षु रहता है उस जगहके पदार्थोंसे भिडता नही है और दूसरे देशमे स्थित पदार्थोंसे भिडता है, बडा वेढब है यह शक्तिमान चक्षु और ऐसे शकाकारकी एक ही बात क्या अटपट है? वह तो यह कहता है कि आत्माका ज्ञानगुण आत्मासे विल्कुल जुदा है, तो ऐसी दशामे पदार्थका, आत्माका निज स्वरूप तो जड़ ही हुआ। अब बाहरी ज्ञान चिपकाकर अपने को चेतन बनावे तो यह ऐसी विडम्बना है कि जैसे कोई दूसरेके गहने मागकर अपनेको सम्पन्न बनावे। मांगे हुएसे क्या सम्पन्नता होती है? वस्तुतः तो वह दरिद्र है। तो ऐसे ही यह बात बन गयी कि शक्तिमान चक्षुमे अञ्जनका स्पर्श नही होता। तो जहाँ शक्तिमान चक्षु है वहाँ तो पदार्थका स्पर्श नही होता और बहुत दूरमे स्पर्श हो जाता। इसलिए कल्पना करके और-और कुछ माननेमे क्या तत्त्व रखा? जो प्रतीतिसिद्ध है उस ही को मान लेना चाहिए। प्रतीतिसिद्ध बात यह है कि चक्षु भिडकर नही देखती, किन्तु दूर ही रहकर योग्य क्षेत्रमे अवस्थित पदार्थोंको जान लेती है।

नियामिका योग्यताके अन्तर्गत तथ्योको न माननेपर अन्य कल्पनाओंसे ज्ञानपथभ्रष्टता--यहाँ शङ्काकार कहता है कि चक्षु दो प्रकारके होते हैं--एक शक्तिरूप चक्षु, दूसरा व्यक्तिरूप चक्षु। व्यक्तिरूप चक्षु तो जो लोगोको दिखता है वह है। शक्तिरूप चक्षु जिसके द्वारा देखा जाता है, ज्ञान होता है वह शक्तिरूप चक्षु है। इसमे प्रथम तो व्यक्तिरूप चक्षुका, दूर देश रहने वाले पदार्थके साथ सम्बध होता है और उस सम्बन्धपूर्वक फिर शक्तिरूप चक्षुका सम्बध बनता है, इसी तरह ज्ञान हो पाता है। यदि ऐसा न हो तो ज्ञान नही हो सकता।

इस शङ्काका समाधान यह है कि यह बात कहनी तो तब भली हो सकती थी जब कि चक्षुमे यह कला न होती कि वह बिना सम्बध किस ही पदार्थको जानती। जब चक्षुमे यह सामर्थ्य है कि बिना सम्बध किए ही पदार्थको जना सकती है तो यह शका अत्यन्त निर्मूल है, बल्कि चक्षु पदार्थसे सम्बध करके जान ही नही सकती। अगर पदार्थसे भिडकर चक्षु जानती होती तो आंखसे भिडा हुआ जो अञ्जन है उसे क्यो नही आँखें जान पाती। वह तो खूब डटकर भिडा हुआ है। अगर शङ्काकार यह कहे कि वहाँ उसको समझनेकी योग्यता नही है तो बस योग्यता ही मानो। उस योग्यताके ही द्वारा सब व्यवस्था बनती है और वह

योग्यता क्या है ? ज्ञानावरणका क्षयोपशम उस योग्यताके होनेपर कोई इन्द्रिय तो किसी अर्थ को भिडकर जानती है और कोई इन्द्रिय किसी अर्थसे अछूता रहकर ही जानती है। जो प्रतीतिसिद्ध बात है उसमें उसका अपलाप करना बुद्धिमानी नही है। देखो मन जैसे विषयोके साथ न भिडकर भी पदार्थको जाननेकी योग्यता रखता है, ऐसे ही चक्षुइन्द्रिय भी पदार्थसे न भिडकर ही जाननेकी योग्यता रखती है। तो जो प्रतीतिसिद्ध बात है उसको न मानकर कल्पना करके कुछ सिद्ध करना बुद्धिमानी नही है।

चक्षु एवं मनकी अप्राप्यकारिताकी युक्ति प्रतीतिसिद्धता—यदि शकाकार यह कहे कि जो ऐसा कहा है कि चक्षु बिना भिडे ही पदार्थको जनाती है, मगर भिडकर जनाती होती तो आखमे लगे हुए अञ्जनका क्यो न ज्ञान करा देती ? और दृष्टान्त देते है मनका। तो दृष्टात तो सही न मिला, क्योकि मन तो भिडे पदार्थको जान जाता है। जैसे सुख दु ख उत्पन्न हुए तो उन्ही प्रदेशोमे ही तो सुख दु ख होते है। जहा मन है और मन सुख दुःखका अच्छी तरह वेदन करता है। तो देखो भिडे हुए को जान लिया ना, तो मन तो अप्राप्यकारी न रहा। इस शकाका समाधान यह है कि प्रकृतमे जो हेतु दिया जा रहा है वह चक्षुको अप्राप्यकारी सिद्ध करनेके लिए दिया जा रहा है और मनको अप्राप्यकारी सिद्ध करनेके लिए अन्य युक्ति है। वह क्या ? मन अप्राप्यकारी है, क्योकि शरीरके हृदय देश से अतिरिक्त अन्य जगहोमे, अन्य प्रदेशोमे सुख दु ख आदिकका ज्ञान कराने वाला है। अथवा दूसरा हेतु यह है कि भूत भविष्य व दूरवर्ती पदार्थोका ज्ञान कराने वाला है। मन तो हृदयमे रहता है और सुख दु खका वेदन हृदयसे अतिरिक्त किसी भी अगमे सुख दु ख हो रहा हो उसका भी वेदन करता है, अथवा दूसरा हेतु और भी स्पष्ट है कि भूतकालकी बातको मन जान लेता है। अब जो गुजर गया उस पदार्थके साथ इस वर्तमान मनका सम्बन्ध कैसे होगा ? यदि मन भिडकर जानने वाला होता तो भविष्यकी बातको कैसे जान सकता था ? अत्यन्त दूरकी बातको कैसे जान सकेगा ? इसलिए मन अप्राप्यकारी है। यहाँ तो नेत्रको अप्राप्यकारी सिद्ध किया जा रहा है। वहाँ यह हेतु अत्यन्त युक्त है कि यदि नेत्र भिडकर जानता होता तो नेत्र मे भिडे हुए अञ्जनको क्यो नही जान लेता ? जो-जो प्राप्यकारी होता है वह भिडकर जाना करता है। जैसे स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र। ये अपने विषयसे सम्बन्ध कर, स्पर्श कर जाना करते हैं।

चक्षुको प्राप्यकारी माननेपर अनेक आपत्तियोका प्रसङ्ग—यहां प्रसङ्ग चल रहा है कि व्यञ्जनावग्रह चक्षु और मनके द्वारा नही होता, याने अस्पष्ट ज्ञान चक्षु और मनसे नही होता, क्योकि जो नेत्रसे देखा जायगा वह स्पष्ट ही कहलायगा। जितना देखा उतना स्पष्ट है, यह व्यञ्जनावग्रह दर्शनोपयोगके बाद होता, इसके बाद अर्थावग्रह आदिक भी हो —

तो वह व्यञ्जन न रहा। जो अस्पष्ट ज्ञान है उसके बाद यह योग्यता नही कि उस अस्पष्ट अर्थमे ईहा आदिक बन सके। तो आंखें चूकि भिडकर नही जानती, इसलिए जिसे जानेंगी वह स्पष्ट ही रहेगा। जो इन्द्रिया भिडकर जानें वे इन्द्रिया स्पष्टको भी जानती, अस्पष्टको भी जानती। मूल बात यह चल रही है। तो चक्षुइन्द्रिय पदार्थको छूकर नही जानती, इसके लिए यह भी हेतु है। चक्षु बिना भिडे ही जानती है, क्योंकि अगर भिडकर जानती होती तो काच स्फटिक स्वच्छ जलके पीछे कोई पदार्थ पडा हो तो वह जाननेमे न आना चाहिए। जैसे लोग खिडकीके काचमे से बाहरकी चीजें देखते है। तो बाहरकी चीजें तब ही तो दिखती हैं कि आखे कोई भिडकर नही जानती। आखें भी पदार्थ को छूकर जानें तो बीचमे तो काच आ गया, सो आखें तो काचमे रुक जायेंगी, फिर उसके पीछे रहने वाले पदार्थ कैसे जान जायेंगे? यदि शकाकार वहा भी यही माने कि आखें तो उस काचमे से निकलकर पदार्थसे भिड जायें तब पदार्थ देखनेमे आते है तो भला बतलावो कि अगर ये आखें पदार्थ काचको भेद कर जायें और काचके बाद रहने वाले पदार्थसे भिडें तो काच टूट न जायगा क्या? पर ऐसा किसीको नही दिखता। काच वहीका वही है और फिर देखो बहुत बडा मोटा काच है उसको तो पार करके आखें चली जायें दूर रहने वाली चीजोको देखनेके लिए और रुई कपडा जैसी कोमल चीजोको भेदकर नही जा सकती। यह कितने बडे आश्चर्यकी बात कही जा रही है?

किसी भी पदार्थका अन्य पदार्थमे प्रवेशकी अशक्यता तथा निमित्तनैमित्तिक योगसे औपाधिकार्यकी व्यवस्था—यहा शकाकार कहता है कि इसमे क्या आश्चर्य है? आखें काच, स्फटिक आदिक जैसे कठोर पदार्थोंको तो भेदकर चली जायेंगी और रुई वगैरा कोमल पदार्थो से न भिदेंगी। उससे आखें छिद जायेंगी, यह तो अपनी-अपनी विशेषता है। जैसे लोहेका बना हुआ कोई पदार्थ है, उसको भेदनेमे समर्थ है पारेसे बना हुआ पदार्थ, मगर तुम्बीको वह पारे वाला पदार्थ भेदनेमे समर्थ नही है। सूर्यकी किरणें भी तो काचके भीतर घुस जाती है, पर मखमल रुईके भीतर नही घुस पाती। यह तो पदार्थोंकी अलग-अलग बात है। बिजलीका करेन्ट तामेमे, लोहेमे प्रवेश कर जाता है, पर रबडमे नही कर पाता। तो रबड तो कोमल चीज है। इसमे तो बिजली जाती नही और कठोर तावेमे, लोहेमे चली जाती है। इसी तरह यहा बात है कि आखकी किरणें काच आदिकको भेदकर चली जायेंगी, पर रुई आदिकको नही भेद सकती हैं।

इस शकाके समाधानमे कहते हैं कि उनका कहना यह प्रत्यक्षविरुद्ध है, क्योकि यदि ये आखकी किरणें काचके टुकडेसे भेदकर चली जायें तो इसके मायने हैं कि वह काच टूट गया, पर किसीको टूटा दिखता कहा है? सभी लोग यही अनुभव करते हैं कि वही काच है जो अभी देखा जा रहा था तो प्रत्यक्षबाधित बातमे और-और पदार्थोंके दृष्टान्त लगाकर

असत्यको सत्य साबित करनेमे चतुराई न समझना चाहिए और देखो जो एक दृष्टान्त दिया कि सूर्यकी किरणें उस कांचको भेदकर चली जाती है तब ही तो कमरेमे प्रकाश आ जाता है, सो यह बात भी सत्य नही है । सूर्यकी किरणें कांचको भेदें या कही जायें, ऐसा नही है, किन्तु ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि सूर्यका सन्निधान पाकर पदार्थ प्रकाशित हो जाता है । तो ये सूर्यके जो पुद्गल परमाणु है उनमे यह विशेषता है कि वे परपदार्थके प्रकाशित होनेमे निमित्त है और उसमे यह डबल विशेषता है कि वह स्वयं प्रकाशरूप है और दूसरेके प्रकाश होनेमे निमित्त है, पर कांचमे एक विशेषण है कि वह स्वयं प्रकाशरूप तो नही है, पर सूर्यका सन्निधान पाकर प्रकाशरूप हुआ कांच अन्य पदार्थोके प्रकाशमे निमित्त है । तो यह तो निमित्तनैमित्तिक योगवश व्यवस्था बनायी है । कही सूर्यकी किरणें आती हो और कांचमे से घुसकर कमरेमे आती हो ऐसी बात नही है, और आंखकी बात तो सभीको स्पष्ट है । न आंखमे से किरणें निकलती हुई कोई जानता है और न युक्तिसे सिद्ध है । तो ये चक्षु अप्राप्यकारी है, पदार्थसे भिड़कर नही जानते, इसी कारण ये कांचसे पीछे रहने वाले पदार्थोको भी जान लेते है ।

नेत्ररश्मिसे कांचके टूटते रहनेपर भी शीघ्र शीघ्र उत्पाद होते रहनेसे विनाशकी असमझ होनेके कारण नेत्रकी प्राप्यकारितामें दोषके निवारण करनेका निराकरण—यहा शकाकार कहता है कि नेत्रमे किरणें होती हैं और किरणे जाकर पदार्थसे भिडती है तब ये शक्तिरूप चक्षु उन पदार्थोको जानते हैं, और वे काचसे भिडकर छिदकर भी पहुच जाते हैं, और उस समय काच टूट भी जाता है, मगर वह काच तुरन्त बन जाता है । तो चूकि कांच जल्दी टूटता है, बनता है, सो बननेका जल्दी-जल्दी काम होते रहनेके कारण और वह काच का बनना समान-समान आकारका होनेके कारण लोग उसका विनाश समझ नही पाते । तो काच स्फटिक आदिकका नेत्रकिरणोके घातके कारण नाश होता रहता है, पर शीघ्र-शीघ्र उसकी उत्पत्ति होती रहती है और समान-समान आकारमे ही काचकी उत्पत्ति होती रहती है । इस कारण स्थूल दृष्टि वाले मनुष्य ऐसा ही समझते है कि यह काच नष्ट नही हुआ । जैसे कि बाल कट गए और फिर नये उत्पन्न हो गए तो उनमे कोई यह नही समझ पाता कि ये तो बाल नये उत्पन्न हुए है । कहते हैं लोग कि वे ही तो बाल है जो शुरूसे ही थे, तो ऐसे ही यहा भी स्फटिक और काच फूटते रहते है कि नेत्रके दनादन चोटसे, मगर तुरन्त पैदा होते भी रहते है, इसलिए लोग नाशकी बात नही समझ पाते ।

इस शकाके समाधानमे कहते है कि यह बात तो प्रत्यक्षविरुद्ध है । इसमे एकत्वको साबित करने वाला प्रत्यभिज्ञान जो बन रहा है वह सिद्ध न हो सकेगा और फिर ऐसा अगर मान लिया जाय कि काच तो दनादन टूट रहा, उत्पन्न हो रहा तो यह तो क्षणिकवादका

सिद्धान्त बन जायगा जो कि चक्षुको प्राप्यकारी मानने वाले दार्शनिकोंके सिद्धान्तसे विपरीत है। शङ्काकार वैशेषिकोने आत्मा आकाश परमाणु आदिक पदार्थोको नित्य ही माना है, ऐसे ही काच जैसी बात सबको ही माननी पड़ेगी। तो आत्मा भी तो अनित्य हो गया। तो इसमें तो शङ्काकारके सारे सिद्धान्तका विघात हो गया। लेकिन जब इन सब पदार्थोंमे एकताकी बात बराबर ज्ञानमे आ रही है। यह वही है जो बालपनमे था, अब युवापनमे आ गया, ऐसे ज्ञानोसे पदार्थकी नित्यता ही सिद्ध हो रही है। और देखो यदि आखें काचको भेदकर, भिदकर आगे जाती हो तो चाहे कितनी ही जल्दी वह काच बनता रहे, लेकिन हाथसे कोई टटोले तो कुछ तो अडचन आनी चाहिए, पर हाथसे टटोलनेमे तो वहीका वही काच है। तो कैसे कहा जाय कि आखकी किरणें काचसे भिडी और ये किरणें बाहर गई ? यदि शकाकार फिर भी हठ करे कि विनाशके बाद शीघ्र नया-नया काच स्फटिक उत्पन्न होता रहता है और फिर उत्पन्न हुआ, फिर आखकी किरणोने फोड दिया, फिर उत्पन्न हुआ, फिर फोड दिया तो ऐसा बराबर उत्पन्न होता रहता है तो उसमे फिर लगातार होनेसे वैसाका वैसा ही नवीन कांच हाथ द्वारा पकड लिया जाता। इसीलिए लगता है, ऐसा कि वही का वही काच है जैसा था। ऐसा शंकाकारके कहने पर उनसे यह पूछा जा सकता है कि जब आंख की किरणें उस काचको तोडती फोडती रहेंगी और वह काच क्षण-क्षणमे नया बनता रहेगा तो ऐसी स्थितिमे आंखकी किरणें भीतर जाकर पदार्थके साथ सम्बन्ध न कर सकेंगी, क्योकि जब काच बन गया, उतनी देरको किरणें रुक गई तो ,इसमे देखनेमे व्यवधान पडते रहना चाहिए, लेकिन व्यवधान तो नही मालूम पडता, निरन्तर दिखाई देता है।

भावाभावात्मक पदार्थमे भाव या अभावके किसीका एकान्त करनेके मन्तव्यके पक्षपातमे वस्तुस्वरूपसिद्धिकी अशक्यता—यदि शकाकार यह कहे कि वहा जैसे पहले आंखकी किरणोने कांचको फोड दिया। उसके बाद वह पहिले जैसा उत्पन्न हो गया। तो यहा समझिये—पहले काच टूटा, फिर उत्पाद हुआ, फिर फोड दिया, फिर उत्पन्न हुआ तो वह कहलाया तीसरे समयमे उत्पाद, तो पहला समय और तीसरा समय ये जल्दी हुए ना, फिर ५वें समय फिर ७वें समय ये उत्पाद जल्दी-जल्दी होते रहते है। तो बीचके समयका विनाशका तिरोभाव हो जाता है, वह समझमे ही नही आता विनाश, इस कारण वहां जो उपयोग लगा रहा है जीव उसको देखनेमे बाधा नही आती, क्योकि आगे पीछे होने वाले उत्पादके बीच विनाश तो छिप ही जाता है।

इस शकाके समाधानमे सभी सोच सकते है कि जैसे पहले और तीसरे समयके उत्पादमे विनाश ढक जाता है तो ऐसे ही दूसरे और चौथे समयके विनाशके बीचका उत्पाद क्यो न ढक जायगा ? फिर तो जैसे कांच ही कांच सही दिख रहा, ऐसे ही निरन्तर टूटा

फूटा हुआ दिखना चाहिए। इससे सिद्ध है कि न कांच टूटता है और न कांचको फोड़कर किरणें जाती हैं। यहां शङ्काकार कहता है कि जो हमे दिया है कि आखकी किरणोके टक्कर के कारण काच टूटता रहता है और तुरन्त नया बनता रहता है, इसमे जो यह कहा था कि उत्पत्ति जल्दी-जल्दी होती रहती है, इसलिए उत्पत्तिके बीच विनाश दब जाता है, और इसके एवजमे यह प्रसग चलाया कि जैसे उत्पत्तिके बीच विनाश दब जाता, ऐसे ही विनाशके बीच उत्पत्ति क्यो नही दब जाती ? और तब तो काच हमेशा टूटा-फूटा ही दिखना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि शङ्काकार ही कह रहा है कि जो दो उत्पाद है उनके बीच जो विनाश है सो विनाश तो है अभावरूप और उत्पाद है भावरूप। तो भाव स्वभाव बलवान होता है, इस कारणसे उत्पादोके द्वारा विनाशका तिरोभाव होता है, क्योंकि अभाव तो दुर्बल चीज है। अभाव क्या है ? अभावमे कोई बल है क्या ? चीजमे ही तो बल होता है, जो सद्भावरूप है। सो उत्पाद है सद्भावरूप और विनाश है अभावरूप, सो भाव होता है दुर्बल और सद्भाव होता है बलिष्ट। इसलिए जो काच उत्पन्न होते रहते है उन्होने कांचके विनाश को दबा दिया। शकाकारकी उक्त शकाका समाधान यह है कि यह कहना कि भाव बलवान होता है और अभाव दुर्बल होता है, यह युक्त कथन नही है। भाव और अभाव दोनो समान बल वाले होते है, क्योकि इनमे से यदि यह कहा जाय कि अभाव बलवान नही है तो वस्तु की प्रतीति नही हो सकती और यह कहा जाय कि भाव बलवान नही है तो वस्तुकी प्रतीति नही हो सकती।

जैसे कहा कि यह पुस्तक है तो यह पुस्तक पुस्तकके सद्भावरूप है और वस्तुसे अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थोंके अभावरूप है। अब इनमेसे किसको दुर्बल कहेगे ? पुस्तक अपने चतुष्टयसे है, इसको अगर दुर्बल कहा तो पुस्तक न रही और पुस्तक अन्य पदार्थ रूप नही है। अगर अन्य रूप नही है इस भावको दुर्बल कहेगे तो इसके मायने है कि अन्य रूप हो गया। फिर पुस्तक न रही, इसलिए वस्तुमे सद्भाव और अभाव दोनो ही समान बलवान है। वस्तुका स्वभाव ही है यह कि अन्यसे विविक्त रहे और अपने एकत्वमे रहे। और भी देखिये अभाव कितना बलिष्ट होता है ? अभाव चार प्रकारके बताये गए है— (१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव, (३) इतरेतराश्रय भाव और (४) अत्यन्ताभाव। यदि वस्तु मे प्रागभाव न मानते, उसे दुर्बल कर देते, हटा देते तो इसका अर्थ यह है कि किसी भी वस्तु के पहले पर्यायमे अभाव नही है। इसके मायने हो गये कि अवस्था अनादि है, याने प्रत्येक अवस्था अनादि है और यदि प्रध्वसाभाव नही मानते तो इसका अर्थ यह हो गया कि किसी भी अवस्थाका उत्तरपर्यायोमे अभाव नही है। तो अवस्था अनंतकालीन हो जायगी। अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव नही मानते तो इसका अर्थ यह हो गया कि सब कुछ, सब कुछ

रूप है तो चीज ही न रही। तो कैसे कहा जाय कि अभाव बलवान नहीं होता। तब यह ही समस्या खड़ी रही कि चक्षुइन्द्रियकी किरणें अगर कांचमे घिसकर चली जाती है तो कांचका टूटना मालूम होना चाहिए या जल्दी उत्पन्न हो जाता है कांच तो उस ज्ञानका अन्तर मालूम होना चाहिए कि जब कांच बने तो चीज न दिखे आगेकी। जब कांच टूटे तब चीज दिखे आगेकी। इससे चक्षुइन्द्रियको प्राप्यकारी कहना उचित नही है। तो चक्षु अप्राप्यकारी हुई और अप्राप्यकारी होनेसे चक्षुइन्द्रिय द्वारा जो जाना जायगा वह स्पष्ट जाना जायगा। इसी कारण व्यञ्जनावग्रह चक्षुइन्द्रियसे नही बनता। ज्ञानका कैसा विलास है कि किस आत्माका ज्ञान, किस पदवीमे, किस रूपमे चलता है, यह सब ज्ञानावरणके क्षयोपशम आदिकपर निर्भर है, क्योंकि अन्तरङ्ग कारण ज्ञानावरणका क्षयोपशम आदिक ही है।

प्रकाश द्वारा नेत्ररश्मियोके अविभाव हो जानेकी कल्पनामें ज्ञानका अभाव—अब अन्य बातपर विचार करो। भला यह बतलाये कोई कि नेत्रोंकी किरणें कही प्रसिद्ध भी है? फिर तो यह बादमे कहे कि वे किरणें दनादन निकलती हैं और कांचको तोडकर आगे चली जाती है। हम लोगोके किसीके भी नेत्रकी किरणें देखी ही नही जाती। शकाकार यहाँ कहता है कि देखो जैसे कोई छोटी रोशनीका दीपक है या बहुतसी छोटी मोमबत्ती जल रही है, अब दिनमे धूपमे रखा हुआ वह दीपक जब कि खूब तेज रोशनी सूर्यकी है तो वह कुछ दिखता है क्या? क्यों नही दिखता अथवा क्यो कम दिखता? यो कि सूर्यकी रोशनीसे उस टिमटिमाते दीपककी रोशनी दब गई है, ऐसे ही जब उजेला होता है तो उस उजेलेके द्वारा आंखकी किरणे दब जाती है। इसलिए लोगोको आखकी किरणें दिखती नहीं हैं।

इस शङ्काका समाधान यह है कि अगर उजेलाने आखकी किरणोको दबा दिया और नही दिखता है तो रात्रिमे तो दिखनी चाहिएँ नेत्रकी किरणे निकलती हुईं, क्योंकि वहाँ उजेला नही है, कोई दबाने वाला है नही, इस कारण एक कल्पना बनाना कि आखमे किरणें होती। वे किरणे पदार्थोसे संघर्ष करती है तब पदार्थ जाना जाता, इस कल्पनासे क्या लाभ है?

चक्षुके तैजसत्व और रश्मिवत्वकी असिद्धि—शकाकार यहाँ कहता है कि आखमे किरणे तो है, पर वे किरणें अनुद्भूत रूप है, याने उनका रूप, उनका तेज प्रकट नही है, भीतर ही है, इस कारणसे लोगोको आखकी किरणें नही दिखती। ऐसी आशका करने वाले कोई प्रमाण तो दें, जिससे यह सिद्ध हो जाय कि किरणोका रूप तो प्रकट नही है, बाहर दिखता नही है, मगर है जरूर। इसकी सिद्धि करनेके लिए वे कोई प्रमाण तो दें। शकाकार प्रमाण देता है कि देखो आखे किरणे वाली हैं, क्योकि तैजस होनेसे। जो-जो तैजस होता है वह किरणो वाला होता है, जैसे दीपक तैजस है। तैजस मायने अग्निसे बना हुआ। सो उसमें

किरणें है। तो ऐसे ही आखें भी अग्निसे बनी है, तैजस है, इस कारण किरणें जरूर होनी चाहिएँ। कुछ दार्शनिक ऐसा मानते है कि शरीरमे जो गध वाली चीज है वह तो पृथ्वीसे बनती, और शरीरमे जो रसीली चीज है वह जलसे बनती है और जो स्पर्श वाली चीज है वह वायुसे बनी और आखें अग्निसे बनी, या इन्द्रियमे लगाये। स्पर्शनइन्द्रिय वायुसे बनी, रसना-इन्द्रिय जलसे बनी, घ्राणइन्द्रिय पृथ्वीसे बनी और चक्षुइन्द्रिय अग्निसे बनी, कानोको आकाश से बना कहते हैं। तो ऐसा कहने वाले लोगोने इन शङ्काकारोको ऐसा समझ रखा कि आखें अग्निसे बनती है और उसमे किरणें होती है। उसी आधारपर यह अनुमान बना रहे है कि नेत्र किरणो वाले होते हैं, क्योकि तेजोद्रव्यसे बने हुए है, और कोई कहे कि आखें तैजस है, उसको ही सिद्ध करो, तो सुनो——आखें तेजोद्रव्यसे बनी हुई है, क्योकि पदार्थमे रस, गध, रूप, शब्द इकट्ठे है, लेकिन आखें रूपको ही देखती है, इससे आखे अग्निसे बनी हुई है, ऐसा शङ्काकार कहता है।

इसके समाधानमे कहते है कि आखको अग्निसे बनी हुई है, ऐसा सिद्ध करके लिए जो हेतु दिया है कि चूंकि वह केवल रूपका ही प्रकाश करती है तो यह हेतु सही न रहेगा, क्योकि चन्द्रमा भी रूपका प्रकाश करता है, पर चन्द्रमा तो अग्निसे नही बना। तो जब आखें तैजस ही नही है तो किरणें कहाँसे आयेगी ? और जब आखोमे किरणें नही होती तो आखें छूकर कैसे जानेंगी ? इससे सीधा यह मानना चाहिए कि और इन्द्रिया तो छूकर जानती है, पर आखे पदार्थको छूकर नही जानती, ये बिना छुवे ही जानती है और जो बिना छुवे जाने वह साफ जानेगा, स्पष्ट जानेगा। तो चक्षु स्पष्ट जानते है, इस कारण व्यञ्जनावग्रह चक्षु-इन्द्रियके द्वारा उत्पन्न नही होता।

प्रकाशापेक्षी हेतु बताकर चक्षुको तैजस सिद्ध करनेका व्यर्थ प्रयास—यदि चक्षुके किरणें होती, चक्षु तैजस होता तो चक्षुसे देखनेके लिए फिर प्रकाशकी जरूरत न रहता, क्योकि जो तैजस होता है उससे खुद ही प्रकाश होगा, फिर अन्य प्रकाशकी क्या जरूरत ? लेकिन जरूरत पड ही रही है, मनुष्य प्रकाशके बिना देख नही सकता। तो इससे सिद्ध है कि चक्षु किरणो वाली चीज नही है, तैजस नही है। अब यहा शकाकार कहता है कि बात यह है कि जैसे कोई दीपक बहुत हल्का प्रकाश रखता है, टिमटिमानासा है तो फिर उस दीपकसे काम नही चलता। तो अन्य और बडे दीपककी जरूरत पडती है। इसी प्रकार जो नेत्रकी किरणे है वे स्वय प्रकाशी है इसलिए उन्हे सूर्यचन्द्र आदिकमे प्रकाशकी जरूरत पडती है, क्योकि अपने द्वारा जो काम होता है उसमे सहायता मिलती है समान जाति वाले कारण से, इससे नेत्र तैजस है और तैजस ही होनेके कारण उनकी मददके लिए सूर्य आदिक बड़े प्रकाशकी अपेक्षा बनती है।

इस शकाके समाधानमे कहते है कि देखो जैसे कोई कितना ही छोटा दीपक है टिम-टिमाता सा, उसे अपने आपके प्रकाशके लिए अन्य सूर्यादिककी अपेक्षा नही होती। तो कमसे कम मद दीपक भी हो तो उसमे स्वभाव तो पडा है कि वह अपना और पदार्थका प्रकाश करता है, लेकिन मनुष्योको तो कभी भी यह नही देखा जाता कि आलोकके बिना वे देख सके। मदसे भी मद दीपक हो तो उसे भी अपने प्रकाशनके लिए अन्य दीपोको आवश्यकता नही होती। हा, बडे लम्बे चौडे पदार्थोंके प्रकाशके लिए अच्छे दीपककी जरूरत होती है। तो मद दीपकमे भी जैसे किरणें दिखाई देती, तैजसपन नजर आता उतना तो नेत्रमे आना चाहिए, सो बात नही है। इससे सिद्ध है कि नेत्र तैजस नही है। यहा शंकाकार कहता है कि आलोकके बिना भी तो दिखता है ना कुछ न कुछ। क्या दिखता है? अधेरा दिखता हो तो प्रकाशके बिना अधेरेका तो प्रतिभास होता है रात्रिमे। तो कुछ न कुछ तो ज्ञानमे आया फिर प्रकाशकी आवश्यकताका आग्रह क्यो किया जा रहा? समाधान करते है कि देखो आप शङ्काकार वैशेषिकोके यहा अधकार कोई चीज नही मानी गई, याने ज्ञानका अभाव होना यह ही अधकार कहलाता है, फिर अन्धकारका दिखना थोडे ही है। वह तो ज्ञानका अभाव है। हाँ जैनसिद्धान्तमे अवश्य अन्धकार भी पुद्गलकी पर्याय है और प्रकाश भी पुद्गलकी पर्याय है।

तो शकाकार कहता है कि जैनोने तो माना है अधकारको पुद्गलकी पर्याय और उसको जान लिया, तो यो जानना कह लो। तो भाई जैसे यहाँ जैनोके सिद्धान्तको बात कह कर तुम समर्थन करते हो तो सीधी यही क्यो नही जैनसिद्धान्तकी बात मान लेते कि चक्षु अप्राप्यकारी हैं और वे पदार्थोंको स्पष्ट जानते है और फिर शकाकार जो यह कह रहा था कि चक्षु तैजस है और उसको अपना अतिशय बढानेके लिए तैजस द्रव्यकी अपेक्षा रहती है, प्रकाश आदिककी अपेक्षा रहती है, सो यह कहना भी उचित यो नही है कि देखो आँखकी रोशनी बढानेके लिए या देखनेकी शक्ति बढानेके लिए अजन लगाया जाता है तो अजन तो तैजस नही है, कोई प्रकाशकी चीज तो नही है, तो इसमे अतैजस भी सहकारी हो जाता है। इसलिए यह भी नियम न बना कि आलोकको सहायता मिलना, इससे चक्षु तैजस सिद्ध हुआ। शङ्काकार कहता है कि अजन आदिक भी तो तैजस माने गए है। हा उनमे तैजसपना अप्रकट है। कहते है कि यह बात भी गलत है, क्योकि आखोसे देखनेमे चन्द्रमाकी किरणें भी सहकारी है, लेकिन चन्द्रको तो तैजस माना भी नही है। इससे व्यर्थके विशेष प्रलाप और प्रयास करना व्यर्थ है। सीधा सादा सिद्धान्त है जैसा कि लोगोको विदित है कि नेत्रमे किरणें नही होती और वह दूरसे ही जान लेता है और स्पष्ट ज्ञान होता है और इसी कारण चक्षुइन्द्रियके द्वारा व्यञ्जनावग्रह नही होता।

अनुद्भूतरूप एवं अनुद्भूतोष्ण्य चक्षुके तैजसत्वकी असिद्धि—दूसरी बात यह है कि जो यह कहा जा रहा कि नेत्र है तो तैजस, मगर अप्रकट रूप वाले है, सो शङ्काकारके सिद्धान्तमे दो बातें मानी गई है—जो अग्निसे बनी हुई चीज है उसमे चमक और गर्मी दोनो होती हैं और यह भी कहते है कि किसी-किसी तैजसमें चमक प्रकट न हो तो उष्णता प्रकट है। जिसमे उष्णता प्रकट न हो तो चमक प्रकट है। किसीमे दोनो प्रकट है। जैसे दोनो जहा प्रकट है उसका दृष्टान्त दिया है दीपक और जहां चमक प्रकट नही वहां उष्णता प्रकट है। उसका दृष्टान्त है गर्म जल। शङ्काकार नैयायिक व वैशेषिक जलमे अग्नि घुस गई ऐसा मानते है, तो वहा गर्म तो हो गया और रूप अप्रकट है और स्वर्णको तैजस मानते है तो उसमे रूप तो प्रकट है और गर्मी अप्रकट है। कैसे ही माने, मगर नेत्रमे तो दोनो ही बातें प्रकट नही है इस कारण तैजस नही हैं नेत्र। शकाकार कहता है कि नेत्र तैजस है, क्योकि उष्ण वीर्यस्वभाव है उसका, याने नेत्रमे उष्णत्वकी शक्ति है तब ही तो नेत्रमे कोई जीव आ जाय तो वह मर जाता है, क्योकि नेत्रमे गर्मीका स्वभाव है। कहते है कि यह बात कहना भी प्रलाप मात्र है। काली मिर्च भी उष्ण वीर्य है। जो कोई खाता है उसमे उष्णता लाती है, तिक्त है, चर्परा है, पर तैजस तो नही है। और आंखें बन्द हो जाती है तो घबडाहटसे जीव मर जाता है जो आंखके अन्दर जाय पर इससे वे तैजस नही कहलाती। ऐसे ही एक क्या अनेक दोष है।

मनोनियंत्रित होकर चक्षुरश्मियोके काम करनेकी कल्पनामें तथ्यका घात—शकाकार यहां मानता है कि आंखसे किरणें तो निकलती है और उनपर मनका कब्जा रहता है, तो मनके नियन्त्रणमे किरणें काम करती हैं। सो मन तो माना गया है परमाणु बराबर शका-कारके यहां, तो परमाणु बराबर मन ज्यादासे ज्यादा एक किरणपर नियन्त्रण कर ले, पर सब किरणोपर कैसे नियन्त्रण करता ? और जब सब किरणोपर नियंत्रण नही होता तो पर्वत जैसी बडी चीज क्यो एक साथ पूरी दिख जाती है ?

शकाकार कहता है कि बात यह है कि पर्वत है निरंश, अखण्ड, अवयवी, एक। सो एक किरणपर भी मनका नियन्त्रण हो तो एक किरणसे भी देखा हो तो सारा दिख जाता है। यह कहना क्यो ठीक नही कि फिर तो यह बतायें कि कमरेमे अगर भिन्न-भिन्न चीजें रखी हैं बहुतसी और उनका जो ज्ञान हो जाता है सो फिर वह कैसे होगा ? क्योकि वे चीजें अवयवी एक अखड तो नही है। पचासो चीजें रखी है, जुदी-जुदी हैं। वहां कैसे मनका नियन्त्रण बना लोगे ? और भी सुनो—यह मानते हैं शकाकार कि आंखसे किरणें निकलती हैं और पदार्थको छूती है तब वे पदार्थ जाननेमे आते हैं। सो देखो जब कभी किसीको चन्द्रमा दिखता है तो बीचमे जैसे मान लो पेड रखा है और पेडके बीचमे से वह चन्द्र दिख रहा है

तो जब नेत्रसे किरणें निकली तो किरणोके चलनेमे कुछ देर तो लगेगी। जैसे यहाँ रोशनीकी गतिमे देर लगती है, पर नेत्रकी किरणोने पहले तो वृक्षको छुवा और अब चन्द्रमा कितनी दूर है ? बहुत दूर। लेकिन देखने वालोको दिखता है कि सब कुछ एक साथ देख लिया गया। तो एक साथ दिखता है। इससे मानना चाहिए कि किरणें नही है। नेत्रसे देखते है तो दूर हो, पास हो, सब कुछ एक साथ दिख जाता है।

छद्मस्थ ज्ञानके बहिरंग साधनभूत इन्द्रियोकी विशेषतायें--जब यह तथ्य है कि अन्य इन्द्रियकी भाँति चक्षु भी एक पौद्गलिक इन्द्रिय है, भौतिक इन्द्रिय है और अन्य इन्द्रियमे तो यह बात है कि वे भिडकर जाने, मगर चक्षुइन्द्रियमे यह बात नही कि भिडकर जानें और इसीलिए काँच नही टूटता है, पर काँच पारदर्शी है, उसके पीछे रहने वाली चीजें भी दिख जाती हैं। उससे कोई बाधा नही आती। तो ये सारी बाते सही है। इसकी पहिचान है कि नेत्रमे किरणें नही है, न नेत्र प्राप्यकारी है। वे बिना छुवे ही जानने वाले है। तो स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि इन ५ इन्द्रियोमे चक्षुइन्द्रिय तो है ऐसी कि बिना छुवे, बिना भिडे पदार्थको जानती है। अन्य इन्द्रियोमे अप्राप्यकारिता नही। कर्णइन्द्रियमे यह कला है कि वह बिना बाधे शब्दको जानती, मगर बिना छुवे नही जानती। याने कान शब्दोको चबाता नही है, स्पर्श मात्रको जान लेता है, लेकिन घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शन– ये पदार्थोंको छूकर व बाधकर जानते हैं। जैसे मुखसे न चबाया जाय तो रस नही ज्ञात होता, हाथसे न जोर दिया तो स्पर्श नही जाना जाता, पर नेत्र जो हैं वे बिना बँधे और बिना छुवेको ही जानते है।

अब यहा शङ्काकार कहता है कि यदि नेत्र बिना छुवेको जानता है तो बहुत दूरकी चीज, सुमेरुपर्वत या बहुत पहलेकी चीज राम रावण आदिक जो हुए उन सबको क्यो नहीं देख पाते, क्योकि नेत्र बिना छुवे जानते। वे भी बिना छुवे है। इसके उत्तरमे यह पूछा जा रहा है कि शङ्काकार यह बतायें कि घ्राणइन्द्रिय तो छूकर जानती है ना ? तो अनेक परमाणु घ्राणपर लोट रहे है, उनकी गध क्यो नही जान लेते ? यदि कहो कि ऐसी योग्यता है कि घ्राण स्थूल पदार्थको जाने, परमाणुओकी गधको न जाने तो यही बात आखके सम्बधमे कह लो कि आख इतनी दूर रखी हुई चीजको ही जाने, इससे बहुत दूरका न जाने। यह तो नेत्र-शक्तिपर आधारित बात है। तो जैसे घ्राणेन्द्रिय आदिकसे जाननेमे एक अदृष्टको, शक्तिको बीचमे लाते हो, तो यही बात सब जगह है। जिस इन्द्रिय द्वारा जिस विधिसे जाननेकी बात होती है, ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर उस इन्द्रियसे उस विधिसे जाना जा सकता है। इस प्रकार इस मतिज्ञानके भेदोंके प्रकरणमे मतिविशेषका जो वर्णन चल रहा है और उसकी सब विधिया बतायी जा रही है उनमे यह कहना बहुत युक्तिसंगत है कि अर्थावग्रह तो स्पष्ट पदार्थका होता है और व्यञ्जनावग्रह अव्यक्त पदार्थका होता है, और व्यञ्जनावग्रह आख

और मनसे उत्पन्न नही होता ।

चक्षुको प्राप्यकारी सिद्ध करनेके लिये दिये गये भौतिकत्व हेतुकी अयुक्तता—जो लोग चक्षुको अप्राप्यकारी मानते है उनका सिद्धान्त प्रत्यक्षसे बाधित है, अनुमानसे बाधित है, और उनके आगमसे भी बाधित है। यह बात अब तक कही गई है। अब किसी अन्य हेतुवोंका भी विचार करे तो वह भी दूषित ही बनेगा। जैसे कोई कहे कि चक्षु प्राप्यकारी है अर्थात् पदार्थको छूकर ही जानता, क्योकि भौतिक होनेसे तो उनका यह हेतु सही नही है। क्या जो-जो भौतिक है वह प्राप्यकारी ही होता है ? जैसे किसी प्रकार सानी या भुसके साथ सूई भी चली जाय गाय भैसके पेटमे, तो जानकार लोग क्या करते है कि उसके शरीरके ऊपर चुम्बक लोहा फेरते हैं और पेटमे रहने वाली सूई उसके अनुसार फिरती है और उस विधिसे उसे निकाल लेते है, तो भौतिक ही तो है चुम्बक, मगर प्राप्यकारी तो न रहा और फिर भी उसको ग्रहण करनेका साधन बना हुआ है। इस विषयमे और-और कल्पनायें करना केवल मनगढन बात है।

जैसे कोई कहे कि कोई इत्र या गधकी चीज कही रखी है और उसे उठा लें तो भी वहां गध रहती है। गधके परमाणु फैल गए, ऐसे ही इस चुम्बकके परमाणु भी निकलकर पेटमे पहुच गए और सूईको खीचने लगे तो ऐसी प्रत्यक्षविरुद्ध कल्पना केवल मनगढत ही है। किसीने भी चुम्बकके परमाणुओको अलग होता हुआ देखा नही। वह ठोस पदार्थ है। फैलने वाली चीज नही होती। तो भौतिक हैं, ऐसा हेतु देकर चक्षुको प्राप्यकारी नही सिद्ध किया जा सकता। इसी तरह कोई कहे कि चक्षु जाननेका साधन है, इसलिए प्राप्यकारी है। जैसे कि अन्य-अन्य इन्द्रिय। तो जो साधन हो वह प्राप्यकारी ही हो, यह भी बात सिद्ध नही होती। जैसे मन साधन है जाननेका, पर प्राप्यकारी नही, कोई वशीकरण, निर्विषीकरण आदिक मत्र हैं, वे दूसरेमें चिपटते तो नही है, प्राप्यकारी नहीं होते, फिर भी काम होते है। जैसे सर्पने डस लिया, अब कोई मत्रवादी मत्र द्वारा सर्पका विष उतार लेता, सर्पको भी बुला लेता तो कही वह सर्पके पास नही गया, न चिपटा, लेकिन निमित्तनैमित्तिक योग है ऐसा। सभी जगह प्रायः निमित्तनैमित्तिक योग देखा जा रहा है। सूर्यका प्रकाश फैल रहा तो क्या सूर्य अपने स्थानको छोडकर यहा प्रकाश फैलाने आता है। निमित्तनैमित्तिक योग है ऐसा। तो ऐसे ही यह भी निमित्तनैमित्तिक योग है कि चक्षुइन्द्रियके व्यापारसे दूर रहने वाली चीजको बिना छुवे जान लिया जाता है। इस तरह चक्षुइन्द्रिय अप्राप्यकारी है और इसी कारण उससे स्पष्ट अर्थ जाना जाता है। व्यञ्जनावग्रहकी उत्पत्ति चक्षुइन्द्रियसे नही होती और इसी प्रकार मनसे भी व्यञ्जनावग्रह नही बनता।

घ्राणेन्द्रियकी तरह कर्णेन्द्रियमें भी प्राप्यकारिताकी सिद्धि होनेसे उपालम्भका

अनवकाश—अब यहाँ कोई शङ्काकार कहता है कि जैसे चक्षुको अप्राप्यकारी कहते हो, इसी प्रकार कर्ण भी तो अप्राप्यकारी जच रहा है। कर्ण भी कहा बाहर जाते है शब्दको सुननेके लिए। और व्यवहार भी देखा जाता है। लोग कहते है कि हम इतनी दूरके शब्द सुनते हैं तो शब्द भी कर्ण द्वारा बिना भिडे जाने गए तो चक्षुकी तरह श्रोत्रको भी अप्राप्यकारी कहना चाहिए। समाधानमे कहते है कि यो तो गधके विषयमे भी व्यवहार देखा जाता। मैं बहुत दूर तककी गधका गंध लेता हू, ऐसा लोग कहते भी है। तो ऐसे व्यवहारसे अगर अप्राप्यकारी मान लिया जाय तो घ्राणइन्द्रिय भी अप्राप्यकारी बन बैठेगी। मगर शङ्काकार तो घ्राणेन्द्रिय के विषयमे दृढतासे प्राप्यकारीपनकी बात करते हैं। तो गधके विषयमे जो जो भी समाधान देंगे शङ्काकार, वही समाधान शब्दके विषयमे भी है। शङ्काकार कहता है कि जिसमे तेज गंध है और उसकी वासना जिस-जिस साधनमे हो गई है या उससे जो-जो द्रव्य सम्बन्धित हो गया है, अब उस दूरपनेसे उसका ज्ञान होता है। हुआ तो भिडकर। दूरसे गध किसी औरमे आयी, उससे और पासमे आयी, इस तरहसे स्कध घ्राणइन्द्रियमे गए, मगर लोग ऐसा समझते है कि उसकी गध ले रहे है जो बहुत दूर रखा है। बस यही समाधान शब्दमे है। शब्द भी बोले जाते हैं तो उसका सम्बध पाकर और निकटके भाषावर्गणा शब्दरूप बनते हैं और इस तरह बनते चले जाते है तब जो कर्णके विवरमे शब्द पहुचा वह सुनाई देता है।

शकाकार यदि यह कहे कि भीतादिकके व्यवधानमे कोई शब्द बोल रहा हो तो उस शब्दका ज्ञान हो जाता है। इसमे सिद्ध है कि श्रोत्रइन्द्रिय अप्राप्यकारी है। तो बस यही समाधान गधमे लगायें कि भीतादिके व्यवधानमे कोई गध वाली चीज रखी है और उसका गध आ जाता है, तो यो गध ज्ञानके साधन घ्राणेन्द्रियको भी अप्राप्यकारी मान लें। इस तरह जैसे गध एक पौद्गलिक पदार्थ है ऐसे ही शब्द भी पौद्गलिक पदार्थ है। यह छूकर भिडकर जानती है। इस तरह जैसे गधका ज्ञान प्राप्यकारी विधिसे होता है, ऐसे ही शब्दका ज्ञान भी प्राप्यकारी विधिसे होता है। और जैसे घ्राणेन्द्रिय प्राप्यकारी है, श्रोत्रेन्द्रिय प्राप्य-कारी है, स्पर्शन और रसना भी प्राप्यकारी है, इस विषयमे तो किसीको विवाद ही नही है। इस तरह इस सूत्रका अर्थ यह हुआ कि चक्षु और मनके द्वारा व्यञ्जनावग्रह नही होता, क्योकि यह अप्राप्यकारी है और अप्राप्यकारी साधनसे जो ज्ञान होता है वह स्पष्ट ज्ञान होता है, व्यञ्जनावग्रहमे स्पष्ट ज्ञान नही होता। अब मतिविशेषका वर्णन करनेके बाद श्रुतज्ञानका वर्णन करते हैं।

श्रुत मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥२०॥

श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है और उसके दो अनेक और १२ भेद होते है याने पहले तो दो भेद किए—अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्ट। अङ्गबाह्यके अनेक भेद है और अङ्ग-प्रविष्टके १२ भेद है। अङ्गप्रविष्टका अर्थ है जो अङ्गरूप श्रुत है। द्वादशाङ्ग श्रुत बोलते हैं,

और द्वादशाङ्ग श्रुतके अतिरिक्त जो कुछ और बच जाता है वह अङ्गबाह्य कहलाता है। यहा एक जिज्ञासा हो सकती है कि अभी-अभी मतिज्ञानका प्ररूपण हुआ है, उसके बाद ही इस सूत्रके कहनेका प्रयोजन क्या है ? तो उसका समाधान यह है कि यह बताना इस सूत्रका प्रयोजन है कि इस परोक्ष श्रुतज्ञानका निमित्त कारण क्या है और उस श्रुतज्ञानके भेद कितने है और उन भेदोके भी भेद कितने है ? इस सूत्रमे तीन बातोका निर्णय किया गया है—श्रुतज्ञान किस निमित्तसे होता है ? श्रुतज्ञानके कितने भेद है और श्रुतज्ञानके भेदोके भेद कितने है ? यह सब बतानेका कारण यह है कि कुछ दार्शनिक ऐसा मानते है कि श्रुत याने आगम नित्य शब्दोका निमित्त पाकर हुआ है। कोई मानते है कि पुण्यसे या भावनासे या आशीर्वादसे या ईश्वरके निमित्तसे आगमज्ञान होता है—ऐसी अनेक धारणायें है। उनका समाधान देनेके लिए यह कहा है कि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। दूसरा प्रसंग यह है कि श्रुतज्ञानके दो भेद है। यह बात इसलिए कहानी पडी कि श्रुत याने आगमके विषयमे भी लोगोकी अनेक भेदोकी धारणा है। कोई कहते है कि चार भेद है ऋजुवेद आदिक, कोई कहते है कि उनके ६ अङ्ग है शिक्षा व्याकरणादिक, कोई तीन वेद और तीन उपवेद कहकर ६ वेद मानते हैं। कोई उस आगमके दो भाग मानते है—(१) ब्राह्मणभाग और (२) यत्र-भाग। कोई भेद ही नही मानते। एक ही ब्रह्म प्रतिपादक मानते है, आदिक अनेक प्रकारके विचार है। उनका समाधान करनेके लिए बताया गया है कि श्रुतज्ञानके दो भेद है और फिर उन भेदोके भी भेद बताये है कि अग बाह्यके अनेक भेद है और अग प्रकृष्टके १२ भेद हैं। इस तरह तीन बातोका विवरण इस सूत्रमे किया है कि श्रुतज्ञान किस निमित्तसे होता है और श्रुतज्ञानके भेद कितने है तथा उन भेदोके भेद कितने है ?

अब यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि श्रुत क्या चीज है ? क्योकि श्रुतके तो अनेक अर्थ है—शास्त्र, अर्थ, सुने गए शब्द। तो यहाँ श्रुतज्ञानका क्या अर्थ है ? तो श्रुतका अर्थ समझनेके लिए इसके प्रसगकी बात जाननी होगी। प्रसग चल रहा है कि वस्तुके स्वरूपका अधिगम किन उपायोसे होता है ? तो सूत्र कहा गया था कि प्रमाण और नयोसे पदार्थका अधिगम होता है। तो प्रमाण क्या है ? उसका ही विवरण चल रहा है। प्रमाण ५ बताये गए—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन.पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। तो चूकि ज्ञानका प्रमाण है, ज्ञानकी अनवृत्ति है इससे श्रुतका अर्थ हुआ श्रुतज्ञान, न कि केवल सुने हुए शब्द मात्र। शब्द सुनकर जो ज्ञान किया जाता है वह है श्रुतज्ञान। तब एक जिज्ञासा और हो जाती है कि श्रुतका अर्थ श्रुतज्ञान किया गया है, तो शब्दात्मक श्रुत कैसे सिद्ध हो सकेगा ?

समाधान यह है कि मुख्य प्रसग तो श्रुतज्ञानका ही है और श्रुतज्ञान ही अर्थ है, मगर उपचारसे शब्द भी श्रुत कहलाता है। सूत्रमे श्रुत शब्द दिया है, सो उसका मुख्यरूपसे

तो श्रुतज्ञान अर्थ है और उपचारसे वह शब्दादिक श्रुत है, इसका भी ग्रहण करना चाहिए। और शब्दोके भेदके आधारपर दो भेद, अनेक भेद, १२ भेद कहे गए है। सो केवल शब्दका ही भेद नही है वहाँ, किन्तु उसके वाच्य अर्थका भी विभाग है। इस तरह श्रुतका अर्थ श्रुतज्ञान है और उपचारसे वह समस्त आगम है। श्रुत शब्द श्रु धातुसे बना है जिसका अर्थ श्रवण है, सुनना है। उस श्रु धातुमे क्त् प्रत्यय लग गया है और उससे श्रुत शब्द बना है। यहा श्रुत शब्दको भी उपचारसे ग्रहण किया गया है। उसका कारण यह है कि श्रुतज्ञानका कारण शब्द है। जो प्रवचन है, आगम है वह श्रुतज्ञानका कारण शब्द है। वह प्रवचन दो भेद वाला है—अगबाह्य और अङ्गप्रविष्ट। अङ्गप्रविष्टमे १२ अङ्ग आते है—(१) आचाराङ्ग, (२) सूत्रकृताङ्ग, (३) स्थानाङ्ग, (४) समवायाङ्ग, (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति, (६) ज्ञातृकथा, (७) उपासकाध्ययन, (८) अत कृतदशाङ्ग, (९) अनुत्तरोपपादिकदशाङ्ग, (१०) प्रश्नव्याकरणाङ्ग, (११) विपाकसूत्राङ्ग और (१२) दृष्टिवादाङ्ग।

ये १२ अङ्ग है और इनसे अतिरिक्त सामायिक, चतुर्विशति, स्तवन, वदना, प्रतिक्रमण आदिक ये सब अङ्गबाह्य है। यहा जैसे श्रुतज्ञान पूज्य है वैसे ही श्रुतज्ञानका एक आधारभूत यह शब्द श्रुत भी पूज्य कहा जाता है। यह सम्यग्ज्ञानका अधिकार है, इस कारण केवल सम्यक् श्रुतज्ञानका ही ग्रहण है और सम्यग्ज्ञानके ५ भेद बताये गए। उनमेसे यह द्वितीय ज्ञान है और परोक्षज्ञान है।

"श्रुतमतिपूर्वंद्व्यनेनद्वादशभेद" इस सूत्रमे यह कहा जा रहा है कि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। इतने शब्दमे क्या-क्या तथ्य डाले है? एक तो यह बतायें कि श्रुत दो प्रकार का होता है—(१) द्रव्यश्रुत और (२) भावश्रुत। जो ज्ञानरूप है वह तो भावश्रुत है और जो अक्षरोरूप है, शास्त्रोंमे लिखित है या भगवानकी दिव्यध्वनि खिरी है वह सब द्रव्यश्रुत है। तो द्रव्यश्रुत भी नित्य नही और भावश्रुत भी नित्य नही। द्रव्यश्रुत तो शब्दरूप है। शब्द नित्य नही होते याने सदा वहीका वही रहे, ऐसा नही होता। जैसे हम आप बोलते हैं तो शब्द बोला और वे शब्द मिट गए, और भावश्रुत ज्ञानकी परिणति है। तो जो ज्ञानकी अवस्था है वह उसी समयसे है, अगले समय नही है। तो इस तरह न तो द्रव्यश्रुत नित्य है और न भावश्रुत नित्य है, ये दो बातें इस सूत्रमे कहे गए शब्दोसे झलकती है। इसके अतिरिक्त तीसरी बात यह स्पष्ट होती है कि श्रुत किसी नित्य पदार्थके निमित्तसे उत्पन्न नही होता, जैसा कि कुछ लोग मानते है कि व्यापक कूटस्थ है, शब्दोके निमित्तसे उत्पन्न होता है, सो श्रुतका जो निमित्त है वह भी अनित्य है और श्रुतमतिपूर्वं इतने ही शब्दसे चौथी बात यह ध्वनित होता है कि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है याने पहले मतिज्ञान हो, उसके बाद श्रुतज्ञान हो, अवधिज्ञानपूर्वक न होगा, अन्य ज्ञानपूर्वक न होगा।

अब यहाँ कोई शंका करता है कि कोई-कोई श्रुतज्ञान ऐसे भी देखे गए है कि श्रुतज्ञानके बाद ही श्रुतज्ञान हो जाय याने मतिज्ञानसे हुआ श्रुतज्ञान और उस मतिज्ञानसे और श्रुतज्ञान हो जाय। जैसे धुवां दीखा और उससे अग्निका ज्ञान किया, दूसरेको समझाया तो वह श्रुतज्ञान बन गया। फिर उस अग्निकी और भी विशेषतायें कहीं। तो ऐसे श्रुतपूर्वक भी श्रुत हुआ करता है। जैसे किसी पुरुषके द्वारा धूम शब्द सुना तो सुन करके झट यह जान गया कि जहाँ धुवां होता है वहाँ अग्नि होती है। तो पहले तो कानोसे सुना तो मतिज्ञान, फिर इसने धुवां कहा, ऐसा समझना श्रुतज्ञान, फिर उसके बाद और-और तर्क उठाना, अग्निका अनुमान कराना, तर्कज्ञान करना और वितर्क करना, ये तो श्रुतज्ञानसे भी श्रुतज्ञान बना करते हैं। फिर यह कहना कि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है इसमे तो विरोध आया।

इसके समाधानमे कहते है कि श्रुतमतिपूर्वंका यह अर्थ है कि श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। अब सापेक्ष हो या परम्परा हो। जैसे कोई कहता है कि मेरठसे मुजफ्फर नगर उत्तरमे है तो मेरठके बाद तो बीचमे अनेक गाँव पडते है, फिर कैसे कह दिया कि मेरठसे मुजफ्फरनगर उत्तरमे है ? तो भले ही पडे, मगर ऐसा व्यवहार देखा जाता। बीचके गाँवोका नाम नही लेते। तो ऐसे ही श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है तो चाहे कितना भी श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक हुआ हो, लेकिन पहले श्रुतज्ञान अवश्य मतिज्ञानपूर्वक हुआ है। इससे श्रुतमतिपूर्वंमे जो चार अर्थ ध्वनित हुए है वे सही है।

अब शकाकार कहता है कि श्रुत तो केवलज्ञानपूर्वक भी होता है याने केवली भगवान केवल ज्ञानसे जानते हैं और फिर उनकी दिव्यध्वनि खिरती है। तो जो दिव्यध्वनि है वह तो श्रुत है और वह हुआ केवलज्ञानपूर्वक तो फिर यह कहना कैसे बने कि श्रुतमति पूर्वक होता है ? इसके समाधानमे कहते है कि जो भगवानकी दिव्यध्वनि खिरी वह श्रुत तो है, पर श्रुतज्ञान नही है। श्रुतज्ञान तो छद्मस्थ जीवोके होता है। भगवानके तो केवलज्ञान है और वहा ज्ञानका प्रकरण है। इसलिए श्रुत शब्दसे यहाँ कोरा श्रुत न लेना, किन्तु श्रुतज्ञान लेना और वह श्रुतज्ञान केवलज्ञानपूर्वक नही होता। केवलीके श्रुतज्ञान ही नही है, फिर केवलज्ञानपूर्वक हुआ श्रुतज्ञान, यह शंका ही नही हो सकती। इस तरह श्रुतमतिपूर्वं इस शब्दसे जो चार बातें ध्वनित हुईं वे युक्तिसगत है। पहली बात यह है कि श्रुत नित्य नही है। न तो द्रव्यश्रुत नित्य है, न भावश्रुत नित्य है। तीसरी बात– किसी भी धर्मके निमित्तसे नही होता श्रुत, चौथी बात—श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है। चाहे श्रुतसे श्रुत हो जाय, मगर पहले जो श्रुत हुआ वह मतिज्ञानपूर्वक ही होगा। इस तरह परोक्षज्ञानके प्रमाण मे मतिज्ञानके वर्णनके बाद श्रुतज्ञानकी बात कही गई है। अब यहाँ एक बात और विशेष समझनी है कि श्रुतज्ञानकी जो उत्पत्ति होती है सो शब्द सुननेके बाद ही होती है, सो बात

नही। किसी भी इन्द्रियसे कुछ भी ज्ञान करनेके बाद श्रुतज्ञान हो सकता है। यद्यपि श्रुत शब्दमे श्रुत पडा है और उसका अर्थ है शब्द सुनना और उससे यह प्रकट होता है कि शब्द सुननेमे बाद श्रुतज्ञान जगता है। सो सीधा लगता तो है ऐसा कि श्रोत्र द्वारा शब्द सुनकर जो मतिज्ञान बना उस मतिज्ञानपूर्वक श्रुत होता है, लेकिन यथार्थता यह है कि चाहे स्पर्शन इन्द्रियको छूकर मतिज्ञानके बाद श्रुत बन जाय। जैसे कोई चीज छुई जाती, अब उसके ठडे गर्मके विषयमे और और बातें समझना कैसे बना है आदिक, तो देखो स्पर्शनइन्द्रियके मतिज्ञानके बाद श्रुतज्ञान हुआ ना? इसी तरह शेष इन्द्रियोंसे जो मतिज्ञान होता है, चक्षुइन्द्रिय से कोई चीज दिखेके बाद भी श्रुतज्ञान हो सकता। श्रुतज्ञान कहते हैं उसे कि मतिज्ञानसे जानकर फिर अन्य बातको समझना यह श्रुतज्ञान है। सो होता तो है ५ इन्द्रिय और मन पूर्वक मतिज्ञानमे, किन्तु प्रसिद्धि शब्दसे है, क्योकि आगम शास्त्र, उपदेश इनमे शब्द ही तो हैं। और यहा एक विशिष्ट श्रुतज्ञानकी बात चल रही है, शास्त्रज्ञानकी बात। तो प्रधानता तो श्रोत्र मतिपूर्वक श्रुत है, यह बन सकता है, किन्तु नियम नही बन सकता, किसी भी मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान हो सकता है।

अब यहाँ कोई शका करता है कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदिक भी तो श्रुतज्ञानमे शामिल होना चाहिए, क्योकि उसमे विचार होता है। स्मरण किया किसीका तो मनसे कुछ जाना, तो उसमे विचार बनता है, तर्कणा बनती है, इसलिए वह श्रुतज्ञान ही कहलायगा। कहते है कि नही, श्रुतज्ञान सभी मतिपूर्वक होते है। भले ही किसी श्रुतसे श्रुतज्ञान बन जाय, पर वह तो मतिपूर्वक है, किन्तु स्मरण आदिक तो सब मतिज्ञान बनते है याने मनके द्वारा सीधा पदार्थका स्मरण हो गया। अब उस स्मरणके बाद फिर अन्य बात विचारी जाय तो वह श्रुतज्ञान होगा। दूसरी बात यह भी समझें कि श्रुतज्ञान उत्पन्न होनेका अन्तरग निमित्त श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम है। भले ही अन्य-अन्य ज्ञानमे श्रुतज्ञानके सहयोगी निमित्त बन जायें, लेकिन अन्तरङ्ग निमित्त तो श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम है। वह क्षयोपशम स्मृति आदिकमे नही है, इस कारण स्मरण आदिक श्रुतज्ञान नही कहलाते, किन्तु मतिज्ञान ही कहलाता है। इससे यह बात समझनी चाहिए कि जो ज्ञान मतिज्ञानपूर्वक हो, जिसमे अस्पष्ट तर्कणायें उठे, जो स्वसम्वेदनसे निराला हो उसे श्रुतज्ञान कहते है। ऐसा यह श्रुतज्ञान दो भेद वाला है और अङ्गबाह्य, अङ्गप्रविष्ट, और अङ्गबाह्यके अनेक भेद है। अङ्गप्रविष्टके १२ भेद है। इन भेद-प्रभेदोमे भी मुख्यता श्रुतज्ञानकी है और गौणता इन शब्दोकी है। शब्दके भेद है ये, यह तो गौण अर्थ है और ज्ञानके भेद हैं ये, यह उसका मुख्य अर्थ है।

अब यहाँ कोई दार्शनिक शङ्का करता है कि ठीक कह रहे हो कि श्रुतज्ञान शब्द

ज्ञानपूर्वक होता है, पर वे सब शब्द नित्य हैं, और नित्य शब्दमे ही यह आगम बनता है। उनका यह कहना यो युक्तिसगत नही कि कही अचेतनसे चेतन बनता है ? शब्द तो अचेतन हैं, उनमे ज्ञान नही है। तो अज्ञानपूर्वक कही श्रुतज्ञान बनेगा, और फिर जैसे जो कुछ भी शब्द बोले जाते है अपौरुषेय वेद मानने वालोंके यहाँ जैसे अग्नि नीले आदिक। याने मैं अग्नि को पूजता हू तो इसमे ज्ञान ही तो बना। ज्ञानसे ही तो सब कुछ जाना जा रहा है। शब्दसे तो ज्ञान नही उठा, बल्कि ज्ञानने शब्दको समझा, इसलिए शब्दोसे आगमके ज्ञानकी उत्पत्ति हुई—यह न कहना, किन्तु ज्ञानसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है और इस तरह श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है, यह भली-भाँति समझे हुए है। श्रुत दो प्रकारका कहा गया है—(१) द्रव्य-श्रुत और (२) भावश्रुत। द्रव्यश्रुतका अर्थ है आगमोक्त शब्दोका समूह और भावश्रुतका अर्थ है उनको सुनकर, बांचकर उनके अर्थका ज्ञान करना। इस प्रसगमे एक दार्शनिक यह कहता है कि श्रुतको मतिपूर्वक कहा है, सो यह बात सही नही जच रही, श्रुत आगम तो शब्दजन्य है और शब्द नित्य है। इस विषयमे बताया गया था कि यह प्रतीतिविरुद्ध है। जो भी शब्द बोले जाते हैं उन शब्दोका ज्ञानपूर्वक वेदन होता है। शब्दसे ज्ञान प्रकट होता है, यह न होकर ज्ञानसे शब्दका बोध होता है, क्योकि सब कुछ ज्ञानपूर्वक ही है। रचना व्यवहार सब ज्ञानपूर्वक ही होता है, इसलिए शब्द कहो, श्रुत कहो, वह ज्ञानपूर्वक होता हैं, मतिपूर्वक होता है। यहाँ शङ्काकार यह कहता है कि शब्दकी उत्पत्ति तो नही होती, पर शब्दकी अभि-व्यक्तिके लिए ज्ञान पहले हुआ करता है। शब्द तो नित्य है, पडा हुआ है, एक है, व्यापक है, उसकी अभिव्यक्ति होती है। जैसे कोई पदार्थ पहलेसे पडा है और ऊपर कपडा डाल दिया तो कपडा उघाडनेसे उस पदार्थकी अभिव्यक्ति होती है। जिसके समाधानमे कहत है कि शब्द की अभिव्यक्तिसे ही सही, पर यह बताओ कि शब्दकी अभिव्यक्ति क्या शब्दसे न्यारी चीज है ? वह भी तो शब्दस्वरूप है। अगर शब्दकी प्रकटता शब्दसे न्यारी चीज है तो यह शब्दकी अभिव्यक्ति है, ऐसा न कहा जायगा। उस अभिव्यक्तिको जिस चाहेका कह दिया जाय। अगर कहो कि उसमे सम्बन्ध है तो बस वही एक स्वभाव है, वही एकता है।

अथवा और समझो—जो यह कहते हैं कि शब्दकी अभिव्यक्ति होती है तो उस अभिव्यक्तिका अर्थ क्या हुआ ? जैसे कि बर्तन मलीन पडा है और उसे रेतादिकसे रगड दिया जाय तो उसमे उज्ज्वलता प्रकट हो जाती है। तो उस उज्ज्वलताकी अभिव्यक्ति क्या है ? सस्कार। तो इसी प्रकार जो स्वर व्यञ्जन शब्दोकी अभिव्यक्ति कहते है तो उसका अर्थ क्या है ? सस्कार। तो सस्कार किसका किया गया ? उस अक्षरका सस्कार हुआ या श्रोत्रे-न्द्रियका सस्कार हुआ या उस शब्दके ज्ञानके आवरणका विनाश हो जाना, इसका नाम सस्कार है। सस्कारका क्या अर्थ है ? सस्कार तो वही रगडनेसे होता। जैसे बर्तनोको रगड़के हो

जाता, कुछ सरकार नई चीज जलनेसे होता। जैसे भोज्य पदार्थोंमे ममालोका छौक दे दिया तो वे सुवासित हो गए, या कोई अतिशय कर दिया जाय सो सस्कार है या उन शब्दोको रोकने वाली वायु हवा मुख चलना न चलना आदिक था सो उसका छेद हो गया, सो सस्कार हो गया या शब्दावरणका क्षयोपशम क्षय विनाश हो गया वही सरकार हो गया। इनमेसे कोई भी विकल्प युक्तिसगत नही बनता। वर्णोंका सस्कार क्या ? कोई शब्द है, जिसको कोई रगडता है या कानमे रगडता है या दोनो रगडे जाते है। हाँ शब्दज्ञान होता है ज्ञानावरणके विनाशसे, सो ठीक ही है। श्रुतज्ञान जो होता है वह श्रुतज्ञानावरणके विनाशसे होता है। तो यह कहना उचित नही कि शब्दसे ज्ञान बना या वह शब्द ही अपौरुषेय आगम है। अरे श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। शब्द किसी ज्ञानपूर्वक होता है और शब्दको सुनकर किसी अन्य ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। वास्तविक तो बात यह है कि प्रत्येक पदार्थकी उत्पत्ति अपने-अपने उपादानसे होती है। ज्ञानका उद्भव ज्ञानयोग्यतासे हुआ, जीव उपादानमे हुआ, शब्दकी उत्पत्ति भाषावर्गणाके स्कधोमे हुई। नित्य शब्दको मानने वाले जरा यह बतायें कि जब शब्द नित्य है, व्यापी है, एक है तो जब उसको अभिव्यक्ति होती है तो समस्त काल और समस्त लोकमे रहने वाले शब्दोका एक साथ उद्भव हो जाना चाहिए, क्योकि शब्द एक है।

यदि शङ्काकार यह कहे कि कही भी शब्दकी अभिव्यक्ति हो, हो तो जाती है पूरे लोकमे, पर जिन जीवोका जितना भाग्य है, जैसी दृष्टि है उसके अनुसार उतना समझमे आता है। ऐसा कहने वाले दार्शनिक कुछ और आगे क्यो नही बढते जाते ? सारे जगतको ही शब्दात्मक मान लें और कह दें कि है तो सारा जगत शब्दात्मक, पर जिन जीवोका जैसा भाग्य है, अदृष्ट है उसके अनुसार उनको चीजें दिखती है। तो यह कोई उत्तर नही है। यदि कहे कि उस शब्दकी एक जगह व्यक्ति होती तब तो शब्द एक न रहा, अनेक शब्द हो गए और उनको प्रकट करने वाले साधन भी अनेक है। इससे सीधा मानना चाहिए कि जैसे और-और पुद्गल स्कध है, इसी प्रकार भाषावर्गणाके भी पुद्गल स्कध है और उपादान निमित्त योगवश अनुकूल शब्दोकी उत्पत्ति हो जाती है, वह शब्द अवस्था है और अनित्य है। उन शब्दोके सग्रहसे बना हुआ द्रव्यश्रुत है, यह भी नित्य नही है और द्रव्यश्रुतको जानकर फिर जो अनेक अर्थ समझे जाते है वे भावश्रुत है। यह भी ज्ञानकी पर्याय है।

शकाकार कहता है कि वचन जो बोले जाते है वे दूसरोको समझानेके लिए, सो शब्द तो वही हैं, पर समझानेके समय उनकी व्यक्ति होती है। शब्द किसीने बनाया नही, और यो आगम भी किसीने बनाया नही। तो जो वचनका उच्चारण होता है और वह दूसरेके ज्ञानोका निमित्त कारण बन जाता है, सो इस पद्धतिके कारण लोगोको भ्रम हो गया कि शब्द

उत्पन्न होते है, और यही कारण है, चूंकि शब्द नित्य है, आगम नित्य है, इस वजहसे अपौरुषेय आगमका, वेदका कोई कर्ताका स्मरण नही हो पाता।

दूसरी बात है कि यदि कहा जाय कि सभी लोग अपने-अपने आगमके कर्ता मानते हैं, उनका स्मरण होता है तो अपौरुषेय वेदके भी कर्ताओंका स्मरण किया जाता है। तो शकाकार कहता है कि जब वेदोका कोई एक कर्ता नही ख्यालमे आता, लोग अनेक कर्तारूपसे स्मरण करते तो इससे सिद्ध है कि कर्ता नही है। समाधानमे कहते है कि भाई जो वेद है, जिसे अपौरुषेय कह रहे हो उसके अनेक खण्ड है, अनेक विभाग है। किसी खण्डको किसीने बनाया, किसीको किसीने, इसलिए अनेक कर्ताओका स्मरण किया जाता है और फिर जो रचना है, नवीनता है जिसमे, उसे कर्ताका स्मरण न होनेसे अपौरुषेय कह दिया जाय। अनेक पुराने टूटे कुवें हैं, टूटे फूटे महल है, जिनके कर्ताका स्मरण भी नही होता कि किसने बनाया, तो क्या वे सब भी अपौरुषेय बन जायेंगे? इसलिए आगम है। जो सर्वज्ञ है, विशेषज्ञ है उन्होने वस्तुके स्वरूपको जाना और शब्दो द्वारा उस वस्तुस्वरूपके विज्ञानको एक ग्रथमे निबद्ध किया। वह ही आगम है और उनसे लोग अपनी कल्पनाका लाभ उठाते हैं, क्योंकि जो वीतराग सर्वज्ञकी परम्परामे रचित शास्त्र है उनमे चूंकि सर्वज्ञता मिल गई है, इसलिए और वीतरागतामूलक है, इस कारण कही चूक नही हो सकती। वे गलत नही हो सकते। वही श्रुत है, उसका ज्ञान होना भावश्रुत है, और जो शब्दरचना है वह द्रव्यश्रुत कहलाती है। श्रुतआगम कौनसा प्रमाण है? यह तो एक इस कुजीसे जाना जा सकता है कि जो वस्तुके यथार्थस्वरूपको बताये और वैराग्यकी ओर ले जाय, ऐसा आगम प्रमाणभूत है। अब इसकी परीक्षा ज्ञानी जन अपने-अपने ज्ञानबलसे कर सकते है।

स्पष्ट बात तो यह है कि पदार्थ सब द्रव्यपर्यायात्मक हैं याने वे हैं, सदा रहेंगे और प्रतिसमय उनकी अवस्था बनती रहती है। तो चूंकि वह द्रव्यरूप है इसलिए नित्य है, पर्याय रूप है इस कारण अनित्य है। इसी कारण एक अनेक रूप है। ऐसे ही स्याद्वाद द्वारा वस्तु के स्वरूपको जानकर फल यह लूटना चाहिए कि समग्र वस्तुमे जान लें और प्रत्येक वस्तु एक दूसरेसे अत्यन्त पृथक् है। सभी वस्तुवें मुझसे अत्यन्त भिन्न है। सबका परिणमन अपने आपके उपादानसे है। ऐसे सबसे विविक्त निज आत्मस्वरूपमे भावना बनायें, यही वैराग्यका मूल है। यह कुञ्जी जहां मिले वही वीतराग सर्वज्ञकी परम्पराका कहा हुआ आगम है।

अब यहां उक्त मीमांसाके सम्बधमे एक बात और पूछी जा सकती है कि जो यह कहा है शङ्काकारने कि शब्दकी पीछे योजना लगती है वह ज्ञान श्रुत हो जाता है। तो शब्दकी योजना कर देनेसे श्रुत ही होता है या शब्दकी योजनासे ही श्रुत होता है? क्या मतलब है? अगर कहो कि शब्दकी योजनासे श्रुत ही होता है तो ठीक है। शब्दकी योजना करनेके

पश्चात् जो वाच्य अर्थका ज्ञान होता वही तो श्रुतज्ञान कहलाता है। यदि यह कहो कि शब्द की योजनासे ही श्रुत होता है तो इसके मायने यह हुए कि शब्दकी योजनासे ही श्रुतज्ञानको श्रुत कहा, तब तो कर्णसे जो शब्द सुने जाते, उससे जो ज्ञान होता वह तो मतिज्ञान है, फिर वह न हो पायगा क्या ? शङ्काकार कहता है कि भाई दुनिया मे ऐसा कोई ज्ञान नही है कि जो शब्दसे बीधा हुआ न हो। याने शब्दयोजना बिना ज्ञान हो जाय, ऐसा कोई ज्ञान नही है। जैसे हम किसी चीजको देखते है तो कोई न कोई शब्द मनमे आते है, यह कहना अयोग्य है। इन्द्रिय द्वारा स्पर्श, रस, गंध आदिकका अनुभव होता। वहा शब्दयोजना कहाँ चलती है ? एकेन्द्रिय, दोइन्द्रियका ज्ञान होता, वे क्या शब्दयोजना कर पाते है ? ज्ञान ज्ञान है। कोई ज्ञान शब्दयोजनासे भी होता, कोई ज्ञान शब्दयोजनाके बिना भी होता। तो ऐसे ये सभी ज्ञान है। शब्दयोजना केवल मति स्मृति बिना बहुत ज्ञान हैं। शब्दयोजना करे कि वह श्रुतज्ञान बन गया। तो यह एकान्त करना कि जितने भी ज्ञान होते है वे सब योजना सहित होते हैं, अयुक्त बात है। इन्द्रिय मनसे बहुत-बहुत ज्ञान होते। सभी शब्द सहित कहाँ होते ? स्वय शङ्काकार मानते है कि वाणी तीन तरहकी होती है—(१) बैखिरी, (२) मध्यमा और (३) पश्यन्ती। तो शकाकार स्वय जानता है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान तो बैखिरी और मध्यमा वाणीके बिना हो जाता है और आत्माका स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष भी बैखिरी और मध्यमा वाणीके बिना हो जाता है। हा, केवल एक पश्यन्ती वाणीके बिना ज्ञान नही मानते, सो यह कहना भी उनका असंगत है, जिसे वे शब्दानुविद्ध कहते है उसका अर्थ करना चाहिए सविकल्प। ज्ञान कुछ विशेष निर्णयको लिए हुए ही तो होता है। इन वाणियोका अर्थ कहा है कि बैखिरी वाणी, तो एक मोटे शब्द सुने, जो इन्द्रियसे सुननेमे आये वह बैखिरी वाणी है और मध्यमा वाणीका अर्थ कहते हैं अन्तर्जल्प, सो इससे अगर बीधा हुआ ज्ञान कहे तो ज्ञान हो तो वाणी जानी जाय और वाणी हो तो ज्ञान जाना जाय, इतरेतराश्रय दोष होगा।

शङ्काकार कहता है कि शब्द तो ज्योतिस्वरूप है, परम देवता है, सबके अन्तरङ्गमे वह प्रकाश रहा है और उसी वाणीसे सबका ज्ञान चल रहा है। उसके बिना न वाणी होती, न ज्ञान होता तो सब कुछ व्यवहार वाणीका बनता, यह सब पश्यन्ती वाणीसे होता है। पश्यन्ती एक सूक्ष्म वाणी है। शब्द ज्योति है वह सब कुछ बनता है। ऐसा कहने वाले भी युक्तिसिद्ध बात नही कहते। पश्यन्ती वाणी मायने शब्ददेवता, शब्दब्रह्म। जो निरश है उसे तो बोला ही नही जा सकता और उसकी कोई अवस्था नही बन सकती, क्योकि शब्दब्रह्मकी बताओ वे सारी अवस्थायें क्या सत्य है ? अगर सत्य हैं तो केवल एक निर्विभाग शब्दब्रह्म ही तो न रहा, और अगर कहो कि असत्य है तब आगम भी न बन सकेगा। इस कारण

भाषावर्गणाके स्कंधमे से शब्द निकलते है, उनकी उत्पत्ति कंठ तालू आदिकसे होती है, उनसे आगमरचना होती है। ज्ञानानुरूप उन शब्दोका सचय होता है, वही श्रुत है, आगम है, वह अनित्य है और उसका ज्ञान करना भी अनित्य है, पर इस अनित्यके प्रयोगके सहारे जीव अपने कल्याणका लाभ पाते है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है और ज्ञानस्वरूप आत्माका अनुजीवी धर्म है। जबसे आत्मा है तब ही से यह स्वरूप है। आत्मा अनादि अनन्त है, यह सहज ज्ञानस्वरूप भी अनादि अनन्त है। प्रत्येक पदार्थ निरन्तर परिणमता रहता है। यह आत्मा भी निरन्तर परिणमता रहता है। आत्माका ज्ञानस्वरूप भी निरन्तर अवस्थाओरूपमे परिणमता रहता है। तो यह ज्ञान किस-किस प्रकारसे अपनी अवस्थायें बनाता है? उसका यहाँ प्रकरण चल रहा है, क्योंकि पदार्थोंके स्वरूपका अधिगम ज्ञान द्वारा ही होता है अर्थात् ज्ञानकी व्यक्तियो द्वारा होता है, तो वे ज्ञानव्यक्तियां अर्थात् ज्ञानकी अवस्थायें किस-किस प्रकारकी होती है? उस प्रकरणमे यहाँ यह बताया जा रहा है कि मति श्रुत आदिक ५ ज्ञानोमे से दो आदिकके ज्ञान परोक्ष है। उनमे मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है, ऐसी बात जिन्होने पायी, प्राय: वे छद्मस्थ हैं, उनकी बात कही जा रही है। श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। मतिज्ञानसे तो रूप, रस, गध, स्पर्श, शब्द जाने गए हैं और उस मतिज्ञानके बाद जो अर्थान्तरका बोध किया जाता है वह श्रुतज्ञान है। यह श्रुतज्ञान होता तो है ५ प्रकारके इन्द्रियजन्य मतिज्ञान एवं मानसिक ज्ञानके बाद, किन्तु उनमे शब्दप्रत्यक्षके बाद जब बहुसा हुआ करता है, इस कारण इसका नाम श्रुतज्ञान रखा है, अर्थात् शब्द सुनकर जो अर्थान्तरका बोध होता है वह श्रुतज्ञान है। तो श्रुत शब्द यहाँ उपलक्षण है याने केवल शब्द सुननेके बाद ही श्रुतज्ञान हो, ऐसा नही है, पर मुख्यता इसकी अवश्य है। इसी कारणसे इसका नाम उपलक्षण करके रखा गया है।

इसके विरोधमे शङ्काकार यह कहता है कि श्रुत तो आगमका नाम है और वह आगम अपौरुषेय है, किसीके द्वारा बनाया नही गया। जो उनमे शब्द है वे बोले देखे जाते है वह शब्दकी पर्याय है। शब्दब्रह्म नित्य है, निरश है, इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षसे अतीत है और अनुमान स्वसम्वेदन आगम सभीसे अतीत है। वह तो एक शब्दब्रह्मकी पर्याय है। उससे आगमका ज्ञान होता है। ऐसा कहने वाले इस बातको किसी भी तरह सिद्ध नही कर सकते। जब इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षका विषय ही नही है, अथवा अनुमान स्वसम्वेदन आगम प्रमाण किसी से भी प्रसिद्ध नही होता है तो उसका अस्तित्व कैसे समझा जाय? शब्दाद्वैतवादी सभी बातोको अप्रमाण कहते हैं।

केवल एक शब्दब्रह्म ही सत्य है और उस शब्दब्रह्मके जो चार प्रकार है—बैखिरी, मध्यमा, पश्यन्ती और सूक्ष्मा, इनमेसे जो सूक्ष्मा वाणी है अर्थात् शब्दज्योति, वह तो शब्दब्रह्म

का स्वरूप है। बाकी तीन अवस्थायें है। इस प्रकार कहने वाले शङ्काकार इस तरहसे मानें कि जो शब्द है वे चार प्रकारोमे विभक्त है और वे चार प्रकार दो प्रकारोके अन्तर्गत हैं— द्रव्यवचन और भाववचन। द्रव्यवचनके तो दो रूप है—बैखिरी और माध्यमा और भाववचनके दो रूप है—पश्यन्ती और सूक्ष्मा। द्रव्यवचन कहलाते है ये शब्दवर्गणा व्यञ्जन, स्वर आदिक जो बोले जाते है सो ये चूकि श्रोत्रइन्द्रिय द्वारा ग्राह्य है, इस कारण ये दोनो द्रव्यवचन है, और भाववचन कहे जाते है ज्ञानरूप। उनमे पश्यन्ती तो विकल्प रूप है। जो कुछ शब्दोकी मुद्रामे विचार-विकल्प उठा करते है वे विकल्प ज्ञान पश्यन्ती वाणी है, और उस वाणीकी जो शक्ति है अथवा उस ज्ञानकी जो शक्ति है, जो कि आवरणके क्षयोपशम और क्षयसे उत्पन्न हुई है वह है सूक्ष्मा। तो यहाँ ये सभी अनित्य है और भिन्न-भिन्न है। उन्ही शब्दोकी योजनासे यह श्रुत बना हुआ है, इसलिए श्रुत अपौरुषेय नही, किन्तु बडे-बडे विद्वान् विशिष्ट ज्ञानियो द्वारा रचे गए है, और चूकि उनमे परम्परा एक सर्वज्ञ वीतराग देवसे प्रकट हुई है, इसलिए उसके ही अनुसारकी धारामे रचा जाने वाला यह सब आगम समीचीन है। इस सिद्धातके अतिरिक्त अन्य प्रकारकी कल्पनाये करना किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नही होता। शब्दब्रह्मकी सिद्धि-प्रत्यक्षसे तो है नही, अनुमानसे भी नही। जैसे कि क्षणिक सम्वेदनकी सिद्धि शब्दाद्वैतवादियोने स्वसम्वेदनसे नही मानी, क्योकि वह निरश और क्षणिक है। इस प्रकार निरश नित्य शब्दब्रह्मकी सिद्धि भी स्वसम्वेदनसे नही होती। आगमसे भी सिद्ध नही, बल्कि यहाँ अन्योन्याश्रय है। जब शब्दब्रह्मकी सिद्धि हो तब आगमकी सिद्धि मानी जाय। जब आगमकी सिद्धि हो तब शब्दब्रह्मका अस्तित्व समझा जाय और फिर शब्दब्रह्मकी जो भी पर्याय है वह सब मिथ्या बताई गई है, अविद्यात्मक बताई गई है। तो जो अविद्यास्वरूप आगमादिक हैं वे शब्दब्रह्मका ज्ञान कैसे करा सकेंगे? प्रमाणके बिना अगर किसी पदार्थको जबरदस्ती सिद्ध किया जाय तो फिर भागके बबूला भी सिद्ध कर लो। यो अटपट बाते भी सिद्ध कर दी जायेगी। इसलिए कोई शब्दब्रह्म नित्य है और उसकी पर्याय आगम है ऐसा नही है, किन्तु शब्द एक सकेतकी चीज है और उन सकेतके शब्दो द्वारा उनकी योजना करके एक भाव ज्ञानको बताया गया है, वही श्रुतज्ञान कहलाता है।

श्रुतज्ञानके सम्बन्धमे वास्तविकता यह है कि इसकी मूल उत्पत्ति वीतराग सर्वज्ञदेवकी दिव्यध्वनिसे हुई है। जो वीतराग सर्वज्ञ सकलपरमात्मा होते है वे इस पृथ्वीसे ५ हजार धनुष ऊपर रहते हैं। इन्द्रजन वहाँ समवशरणकी रचना करते है, उनकी दिव्यध्वनि खिरती है, उसे गणधर झेलते है, विशिष्ट ज्ञानी साधुसत उस आगमका गूथन करके फिर साधारणजनो मे ज्ञानप्रकाश कराते है, फिर किसी समय कोई वीतराग सर्वज्ञ सकलपरमात्मा हो तो उनके

भी वही दिव्यध्वनि प्रकट होती है। उस मूल परम्पराके अनुसार जो भी आचार्यों द्वारा विरचित ग्रंथ है वे सब आगम है। इसी तथ्यको अगर कोई इस तरहसे कहे कि सबसे पहले तो इस आगमको स्वर्गमे ब्रह्माने पडा था, फिर उसे यहांके ऋषियोको दिया गया, फिर वही स्वर्गमे चला गया, फिर दोनो जगह चलता आदिक कल्पनायें इसी आधारको लेकर लोग किया करते है, पर वास्तविकता यह है कि श्रुतज्ञान पौरुषेय है। मूल परम्परामे तो सकलपरमात्मदेव रचा गया है और परम्परामे आचार्यों द्वारा रचा गया है। तो इसलिए शब्दजन्य यह श्रुतज्ञान है। तो शब्दजन्य मतिज्ञानपूर्वक होने वाला यह श्रुतज्ञान युक्ति, आगम, अनुभव सभीसे सिद्ध है और मुख्य बात तो यह है कि जो कोई भी ज्ञानी पुरुष है वे युक्तियोसे, अनुभवसे सब प्रकारसे उसे समझ लें। अगर कोई दोष नही आता तो वह वस्तुस्वरूपको समझाने वाला श्रुतज्ञान है, ऐसा समझ लेना चाहिए।

यहां शब्दब्रह्मवादी कहते है कि शब्दब्रह्म ही एक तत्त्व है और वह तो जलके समान है और उसमे जो अनेक बबूले उठा करते है इस तरह ये सब दृश्यमान पर्यायें है। सो यह सब झूठा प्रतिभास हो रहा है। यह माया दुस्वार है अर्थात् उसका पार पाना बड़ा कठिन है। ऐसी मायाके कारण प्राणियोको भ्रम है कि वस्तुतः तो मूल तत्त्व एक शब्दब्रह्म ही है और उस ही शब्दब्रह्मकी ये सब पर्यायें है जो दिख रही है। उन्ही पर्यायोमे से एक आगम भी है। तो यह सब जो विशेष निर्णयमे आता है वह तो अविद्या है और जब अविद्याका कोई अविद्यारूपसे ज्ञान कर ले तब विद्याका ज्ञान होता है। तो मिथ्याज्ञान हो, सम्यग्ज्ञान हो, सबका बीज शब्दब्रह्म है। आगम या श्रुतज्ञान शब्दब्रह्मसे अलग कुछ नही है।

इस शङ्काके समाधानमे कहते है कि जो ऐसा ज्ञान कराये कि शब्दब्रह्म भ्रान्तियोका बीज है और भ्रान्तियोके बीजके साथ अविनाभाव बतानेसे तो यहाँ अनुमान प्रमाण बन गया। और जब अनुमान प्रमाण बने तो हेतु पक्ष दृष्टान्त आदिक सब बनेंगे। इस तरहसे यह तो खूब द्वैत हो गया, अद्वैत कहाँ रहा? और भी अधिक न चलें तो कमसे कम इतना तो मान ही लें कि बीजभूत शब्दब्रह्म है और नैमित्तिक यह सब अविद्या है, इससे भी द्वैत सिद्ध हो गया। तब अनादि अनंत एक नित्य व्यापी शब्द परमब्रह्म तो सिद्ध नही हो सकता, जिससे कि यह कहा जाय कि शब्दब्रह्म ही घट-पट आदिक पदार्थोंके रूपसे परिणमता है और श्रुत आगम आदिक रूपसे परिणमता है, और भी देखिये—जब तक यह निश्चय न हो कि सम्पूर्ण भेदोको प्रकाश करने वाली प्रतीति भ्रान्तिरूप है तब तक शब्दब्रह्मकी सिद्धि नही होती और जब तक शब्दब्रह्मकी सिद्धि न हो तब तक भेदप्रतीति भ्रान्तिरूप है, यह सिद्ध नही हो सकता। तो इसमे तो अन्योन्याश्रय दोष है। किसी तरह शब्दब्रह्म ही नही सिद्ध हो सकता। फिर उसकी चार अवस्थायें कहना—वैखिरी, मध्यमा, पश्यन्ती और सूक्ष्मा आदिक कथन सब

असगत है, और स्याद्वादियोके सिद्धान्तसे चले तो ये चार वाणियाँ भी सिद्ध हो जाती है, क्योकि वचनके दो भेद है—(१) द्रव्यवचन और (२) भाववचन। तो द्रव्यवचन तो श्रोत्र-ग्राह्य है और बैखिरी, मध्यमा आदिक श्रोत्रग्राह्य होते हैं तब यह द्रव्यवचनका ही दूसरा नाम रखा गया है। द्रव्यस्वरूप वाणी तो भाषावर्गणाके परिणमन है। सो जैसे बैखिरीमे कहते हैं कि कठ, तालू आदिकका निमित्त पाकर, वायुका सघर्ष पाकर यह बैखिरी प्रकट होती है तो यही तो द्रव्यवचनकी बात है। इसी प्रकार मध्यमा वाणी भी बैखिरीसे सूक्ष्म है। वह भी किसी रूपसे श्रोत्रग्राह्य है, और भाववचनके दो भेद है—(१) एक विकल्परूप, (२) शक्ति रूप। तो विकल्परूप तो है पश्यन्ती। सो भाववाणीमे सज्ञा पश्यन्ती रखी गई है तो वह ठीक है और शक्तिरूप भाववाणी सूक्ष्मा है। वचनविज्ञानके आवरण करने वाले कर्मोके क्षयो-पशमसे जो आत्मामे शक्ति होती है वह शक्तिस्वरूप भाव वाणी सूक्ष्मा वाणी है तब तो उसमे कोई विरोध नही, क्योकि ऐसी शक्तिरूप सूक्ष्मा वाणीके बिना किसी भी जीवके वचन नही निकल सकते। याने वचनविज्ञानके आवरणका क्षयोपशम हो वही तो वचनमे प्रवृत्ति कर सकता। सर्वज्ञ भगवानके भी जो दिव्यध्वनि खिरती है वह तो सर्व केवल ज्ञानावरणके क्षयसे उत्पन्न होता है। सो वहाँ भी उस दिव्यध्वनिका कारण आवरणका विच्छेद है। इस तरह चैतन्यस्वरूप सामान्यसे बात देखें तो वह सब आत्मामे व्यापने वाली शक्ति है, परन्तु विशेष-विशेष स्वरूपसे तो वह सर्वव्यापक नही है। प्रत्येक जीवकी शक्ति उस ही जीवमे व्यापक है। तो ऐसी शब्दकी योजना होती है उससे पहले जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है। सभी ज्ञानो मे शब्दकी योजना अनिवार्य नही है। शब्दकी योजना कर देनेपर जो ज्ञान बनता है वह श्रुतज्ञान है।

इस प्रसगमे कुछ सक्षिप्त प्रासगिक विवरण समझना चाहिए कि सर्व ज्ञानोमे उत्कृष्ट ज्ञान केवलज्ञान है और सब ज्ञानोमे छोटा ज्ञानसूक्ष्म निगोदियाका जो लब्धपर्याप्तक है, तीन मोडे वाली गतिसे जो जन्म चल रहा है उसका प्रथम मोडेमे होता है। तो इस जघन्यज्ञानमे भी अनन्तअविभागी प्रतिच्छेद है। शक्तिके अशोकी जघन्य वृद्धिको अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं। तो जो सबसे छोटा ज्ञान है वह भी जघन्य अतरसे अनन्तगुना है। उसे बोलते हैं लब्ध्य-क्षर श्रुतज्ञान। यह ज्ञान भी इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक है। इस सूक्ष्म निगोदिया लब्धपर्या-प्तकके केवल स्पर्शनइन्द्रिय है। उस स्पर्शनइन्द्रियसे उत्पन्न हुए मतिज्ञानके अनन्तर यह लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान होता है। यह ज्ञान सब निरावरण है, क्योकि इससे कम ज्ञान होता ही नही। अगर इतना भी ज्ञान नष्ट हो जाय तो आत्मा ही न रह सकेगा। तो जैसे पहले कहा गया था कि सभी श्रुतज्ञान शब्दयोजनापूर्वक हो, ऐसा नियम नही है, किन्तु जो सम्यक् श्रुत-ज्ञान है वह सज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोके ही होता है और वह शब्दयोजनासहित होता है। इस

कथनमें किसी भी प्रकारका विरोध नही है।

तो यहाँ यह समझना कि वह जो शक्तिरूप लब्धि है सूक्ष्मवाणी है यह नाम रखा है और फिर जो पर्यायरूप है, विकल्परूप तो पश्यन्ती वाणी और अक्षर प्रयोग वाली वैखिरी और मध्यमा वाणी है। यहाँ जो श्रुतज्ञान कहा जा रहा, आगम कहा जा रहा वह सम्यग्ज्ञान के प्रकरणका है और वहा यह कहना कि शब्दकी अनुयोजनासे ही श्रुत होता, इस लक्षणमे कोई विरोध नही है। यद्यपि श्रोत्रेन्द्रियके सिवाय अन्य इन्द्रियसे भी मतिज्ञान होता है और उससे अर्थान्तरका ज्ञान होता है, वह अवाच्य श्रुत हो या अन्य श्रुत हो, उसमे भी इस तरह निरखें कि भाववाणीरूप चेतनाकी योजना है। तो सब जगह यह श्रुतपना व्यवस्थित होता है। एकेन्द्रिय आदिकके भी श्रुतज्ञान है, पर वह है कुश्रुतज्ञान। और उनके जो मतिज्ञान हो सकता है तत्पूर्वक है और जिससे वस्तुस्वरूपका अधिगम किया जाना है, जैसा कि इस अध्यायका प्रसग है वह सब प्रधानतया श्रोत्रजन्य मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है अथवा न भी सुनो—यदि आगमके अक्षरोको पढकर, भीतर अन्तर्जल्प भीतर उस ही प्रकारके शब्दसे उठते है जो अव्यक्त हैं, तत्पूर्वक श्रुतज्ञान होता है तो वहाँ भाव शब्दोंकी योजना है। इस तरह भावशब्द और द्रव्यशब्द इनके अनियोजनसे ही श्रुतज्ञान होता है। तब यह विल्कुल ठीक ही कहा गया है कि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है और जिस मतिज्ञानसे पदार्थका निश्चय होता, श्रुतज्ञानसे भी पदार्थका विशेषरूपसे निश्चय होता है। जो मूल ज्ञान ५ कहे गए है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन.पर्ययज्ञान और केवलज्ञान—इनमेसे प्रथम दो ज्ञान तो परोक्षज्ञान कहलाते है, जिसमे मतिज्ञानके पर्यायान्तर है।

साव्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमान और उन सबसे बचा हुआ जो भी ज्ञान है परोक्ष, वह सब श्रुतज्ञान है। जैसे कि जैसा कुछ दार्शनिक मानते हैं उपमान, तो उपमान भी शब्दयोजनापूर्वक होता है इसलिए श्रुतज्ञानके ही अन्तर्गत है। जैसे जो पुरुष रोज ही रोझ गायको देखता है और यहाँ किसीने समझाया, जानकारने बताया कि गायके समान रोझ हुआ करता है जो जगलमे पाया जाता है। अब ऐसी शक्ति वाला पुरुष जगलमे कभी पहुंचे और वहाँ रोझ दिखे तो झट उन शब्दोंकी याद हो गई—बताया था कि गायकी तरह रोझ होता है, उन शब्दोंकी यादपूर्वक जो वहाँ अर्थान्तरका ज्ञान हुआ कि ओह यही है वह रोझ, देखो गायके सदृश है ना। तो शब्दयोजनापूर्वक जो वहाँ गाय बना यह श्रुतज्ञान है। इस उपमानको नियत प्रमाणसे न्यारा प्रमाण नहीं कह सकते। ऐसे तो अनेक प्रमाण है जिनके नाम जुदे-जुदे है। फिर कितने प्रमाण बनाये जायेंगे? संख्याओंका ज्ञान, रेखाओंका ज्ञान, कुञ्जियोंका ज्ञान। कोई वस्तु जितने रुपयेमे मन भर आये उतने ही आनेमे कई सेर आयगी आदिक गणितकी कुञ्जियां हैं, उनका ज्ञान। गणितोंकी कुञ्जियां

है उनका ज्ञान और भी अनेक प्रकारके ज्ञान है, उन ज्ञानोका किसमे अन्तर्भाव करेंगे ? बात यह है कि शब्दयोजनापूर्वक जितने भी ज्ञान बनते है वे सब श्रुतज्ञान कहलाते है।

यहा शङ्काकार कहता है कि जो परोपदेशकी अपेक्षा रखे उसे ही तो श्रुतज्ञान कहेंगे, पर गणितका ज्ञान और सभी ज्ञान ये तो उपदेशकी अपेक्षा नही रखते। इसलिए वे सब प्रत्यक्षज्ञान कहलाते हैं। मनसे जान लिया—३ और ३ मिलकर ६ होते है, अब इसमे श्रुत ज्ञानकी क्या बात आयी ? इस शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि जब तक शब्दयोजना न हुई थी, न पडा था, न बताया था तब तक तो यह ज्ञान न चलता था। कोई अध्ययनसे, मननसे, शब्दयोजनासे ये सब ज्ञान चले है तो ये सब श्रुतज्ञानमे शामिल है। श्रुतज्ञान केवल शास्त्रो के ज्ञानका ही नाम है। वह तो जीवोके ज्ञानकी पर्याय है शब्दश्रुतज्ञान। जो धर्मसम्बधित है वस्तुस्वरूपको बताने वाले शब्द हैं वे सब शास्त्र है, पर उनके अतिरिक्त रोज-रोज सभी जीवोके जो मतिज्ञानपूर्वक अर्थान्तरका ज्ञान होता है वह भी सब श्रुतज्ञान कहलाता है।

यहां सम्यग्ज्ञानका प्रकरण है, क्योकि सम्यग्ज्ञानसे ही वस्तुस्वरूपका अधिगम होता है। इससे यहां सम्यक् श्रुतज्ञान होता है। अथवा शब्दयोजनापूर्वक जो ज्ञान होते है उन सबको भी आगम कह लीजिए, पर आगम दो तरहके समझो फिर। एक लौकिक और दूसरा धार्मिक आगम। जैसे किसी पुरुषने सुना कि जो सिंहासनपर बैठा हो वह तो राजा कहलाता और जो छोटे आसनपर बैठा हो वह मत्री आदिक है, ऐसा किसी जानकारके मुखसे शब्द सुना और ऐसा ही प्रत्यक्षमे देखा तो देखकर जो शब्दयोजना बनी, ऐसा उसने कहा था, ऐसा सुना था, जैसा उसने कहा था वैसा ही दिख रहा और उनको राजा, मत्री समझ लेना, यह सब श्रुतज्ञान है। हाँ जब कोई अभ्यस्त पुरुष शब्दयोजना बिना सीधा परिचय करता है निरपेक्ष होकर तो वह मतिज्ञान कहलाता है। तो यह लक्षण यथार्थ है, कि शब्दयोजनासे जो ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान कहलाता है।

यहां मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयका कुञ्जीरूप स्पष्टीकरण किया जा रहा है। जहा शब्दकी अनुयोजना नहीं है वहा होने वाले ज्ञान तो मतिज्ञान हैं और जहा शब्दकी अनु-योजना है, शब्दसे, नामसे छुवा हुआ है वह सब श्रुतज्ञान है। जैसे स्वार्थानुमान और परा-र्थानुमान। जब तक शब्दयोजनासे विद्ध नहीं है, मात्र धूमको देखकर अग्निका ज्ञान हुआ वह तो है मतिज्ञान और जहा शब्दयोजना सहित है, पूर्वके सम्बधको प्रतिपक्ष करके शब्द-योजना सहित ज्ञान है, समझाये या समझे, वह अनुमान श्रुतज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार एक अनुमानकी ही क्या बात, प्रत्यभिज्ञान आदिक, स्मरण आदिक और साव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी जब तक नामसे असस्पृष्ट है तब तक मतिज्ञान है। जहा शब्दसे अनुयोजित हुआ तब जो ज्ञान बना वह श्रुतज्ञान है। इस कुञ्जीके आधारसे अन्य लोग उपमानको जो अलगसे प्रमाण

मानते है वह अलग प्रमाण नही है। यदि शब्दयोजना रहित है तब तो वह प्रत्यभिज्ञानमे शामिल है और शब्दयोजनामे विद्ध है तो वह शुद्ध ज्ञान कहलाता है। उपनाम नामका प्रमाण कोई अलग प्रमाण नही है। यदि उपमानको अलगसे प्रमाण समझा जाय तब तो बहुत-बहुत ज्ञान है, ऐसे जिनको अलग-अलग प्रमाण मानना चाहिए। जैसे सीढ़ीमे, नसैनीमें, जीनेमे ऊपर नीचेका ज्ञान है। यह सदूक स्थूल है, यह कपाट महान है आदिक अनेक ज्ञान है। सूर्य, मंगल दूर है, यह अनाज छोटा है, यह वजनदार है, सूई आदिक हलकी है, यह कोठी निकट है, यह लेखनी सीधी है, यह टेढी है आदिक अनेक ज्ञान है। उन सबको अलग प्रमाण मानना चाहिए उन्हे जो उपमान प्रमाणको अलग प्रमाण माननेकी हठ करते है, क्योकि ये सब ज्ञान प्रत्यक्ष मे तो शामिल है नही। प्रत्यक्षने तो जैसे सदूक देखा, जीना देखा, देखा क्या अब, यह बडा है, छोटा है आदिक बाते है, ऐसा बतलाता नही है प्रत्यक्ष। वह जो है सो दिख गया। अब उसमे यह शब्दयोजना लगे और इस तरहकी विशेषता जाने तो वह श्रुतज्ञान कहलाता है, पर इसे प्रत्यक्ष भी न कह पायेंगे। और श्रुतज्ञान न माननेकी हठपर शंकाकार है ही तो ऐसे कितने प्रमाण माने जायेंगे ? यदि शङ्काकार कहे कि इन सबको श्रुतज्ञान मान लो तो बस ऐसे ही उपमान भी श्रुतज्ञान है।

जैसे किसी अनजान पुरुषको किसी जानकारने समझाया कि यह जीना है, इसमे अमुक सीढी ऊँची है, अमुक सीढी नीची है। उसने सुन लिया। अब देखा तो न था, अब देखने मे आया। पहले जो उपदेश सुना था उसको स्मरण कर अब वहा यह कह रहा है, जान रहा है, ओह! जो वह कहा गया था वह ठीक है, यह ऊँचा है, यह नीचा है। तो शब्दयोजना सहित ज्ञान है, इसलिए श्रुतज्ञान कहलाया। सख्याओका ज्ञान—२ और २ मिलकर ४ होते है या अनेक प्रकारके गणित है। प्रत्यक्षमे तो है नही, और सांव्यवहारिक मति स्मृति ये भी नही, तब समझना चाहिए कि चूकि ये शब्द योजनासहित है, इस कारण ये श्रुतज्ञान कहलाते हैं। यदि शकाकार यह कहे कि जो सख्याका ज्ञान स्थूलताका, अल्पताका, ऊँचा-नीचापन का ज्ञान हो वह तो प्रत्यक्ष प्रमाण है। इन ज्ञानोमे परोपदेशकी अपेक्षा नही हुई। हा वहां सज्ञा संज्ञीके सम्बन्धकी जानकारीके लिए परोपदेशकी अपेक्षा हुई याने जो किसीने कहा था कि यह महान् है, यह अल्प है, यह यह ही है। यही तो महान् है। तो यहा उस सम्बधकी जानकारीके लिए परोपदेशकी अपेक्षा हुई है। वहा यह सब ज्ञान प्रत्यक्ष है।

इस शकाके समाधानमे कहते है कि फिर यह बताओ कि सज्ञा और संज्ञा वाले पदार्थोंके सम्बधकी जो जानकारी हुई इसे किस ज्ञानमे मेल करेंगे ? प्रत्यक्ष तो तुम भी नही मान रहे। स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदिक भी नही। तो शकाकार द्वारा नियत प्रमाणोसे अतिरिक्त प्रमाण मानना चाहिए। प्रत्यक्षमे है नही, अनुमानमे है नही, उपमानमे भी नही, तब

फिर कौनसा प्रमाण है ? इसकी अलग प्रमाणता समझनी चाहिए। सो ऐसी तो कोई व्यवस्था ही न कर सकेगा। बात सीधी दो है—परोक्षज्ञान जितने है उनमे जो शब्दसे अछूते है, निर्विकल्प हैं, सीधा एक प्रतिभाससे सम्बध रखते है वे तो मति, स्मृति आदिक ज्ञान है कोईसे भी और यह ही ज्ञान अथवा अन्य अर्थान्तरका ज्ञान जो भी शब्दसे स्पृष्ट है और शब्दो से अनुयोजित होकर ज्ञान हुए है वे सब श्रुतज्ञान कहलाते है। यहाँ छद्मस्थ जीवोको जो ज्ञान हो रहे है वे ज्ञान दो किस्मके हैं—एक तो विकल्परहित, शब्दयोजनारहित प्रतिभास मात्र। वह तो मतिज्ञान कहलाता है। दूसरा शब्दयोजनापूर्वक जो विशिष्ट ज्ञान हैं वह श्रुत-ज्ञान कहलाता है। इसका उल्लघन करके अन्य प्रकारसे प्रमाणको माननेकी व्यवस्था नही बनती। उपमान प्रमाण भी यदि नामसे अनुयोजित नही है, सज्ञा सज्ञीके सम्बधकी प्रतिपत्ति-पूर्वक नही है, अथवा परोपदेशकी अपेक्षा रखने वाला नही है, तो वह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान बनेगा और यदि परोपदेशकी अपेक्षा है, शब्दसे अनुयोजित है तो वह श्रुतज्ञान कहलायगा।

यहाँ शकाकार कहता है कि जो यथार्थ वक्ताके उपदेशसे शिष्यको सज्ञा और सज्ञीके सम्बन्धमे जानकारी हुई है तो वह आगमज्ञानका फल ही है, इस कारण वह अलग प्रमाण कुछ नही है। वह तो प्रमाणका फल है। प्रमाण तो वह कहलायगा जो प्रमिति क्रियाका साधक हो। फलोमे क्या ढूँढना ? प्रमाणके फलरूप तो अनेक जानकारियाँ है। स्वय तो सिद्धान्त कहता है कि प्रमाणका फल है अज्ञाननिवृत्ति, त्याग, ग्रहण, उपेक्षा, इसे फल माना है, प्रमाण तो नही माना। तो जो फलरूप है उसमे कौनसा प्रमाण है, ऐसा तर्क न उठाना चाहिए ? इस शंकाके उत्तरमे कहते हैं कि इस तरहसे उपदेशमे आये उपमान वाक्यसे ही तो सदृशताका ज्ञान हुआ कि ओह जिसको कहा था कि रोझ होता है जगलमे और गायके सदृश होता है। अब जगलमे देखा और उन शब्दोका ख्याल किया और उन उपदेशोके आधारपर यह रोझ है, कितना है, ऐसी जानकारी की, तो इसे आगम प्रमाण कह लीजिए और आगम ही श्रुत है। तो श्रुतसे अलग उपमान प्रमाण तो न रहा और जो यह कहा था कि प्रमाणके फलमे प्रमाणपनेको खोज नहीं हुआ करती। तो उसका यह सीधा उत्तर है कि फल प्रमाणसे अभिन्न है, कोई अलग चीज नही है। प्रमाणका फल प्रमाणस्वरूप ही है। इस तरह उपमान शब्दसे अनुयोजित है तो वह श्रुतज्ञान ही कहलायगा।

अब यहाँ शकाकार कहता है कि उपमानमे यथा समान तुल्यादिक शब्दोंसे सूचित होता है उपमान उपमेय भेद, उस भेदको बतानेमे तत्पर है यह उपमान प्रमाण। यदि ऐसा उपमान वाक्यसे उत्पन्न हो, उपमान प्रमाण तो श्रुतसे अलग है, और जब उपमान प्रमाण द्वारा कोई बात सुनते हैं, समझाते हैं कि इसका मुख चन्द्रकी तरह है या अन्य कुछ, तो एक अतिशय सहित चमत्कारी ज्ञान पैदा होता है। सुनने वालेके चित्तमे भी कोई एक तरह

उठती है तो ऐसा उपमान भी श्रुतसे अलग प्रमाण है।

इस शंकाका समाधान यह है कि इस तरह अगर इव यथा आदिक माननेके कारण उपमान अलग प्रमाण हो जाय तो फिर रूपक अलकारसे पहले सहोक्ति अलकार आदिक अनेक ऐसे उपदेश है, वचन है कि जिनमे रूप्य-रूपक भावको समझनेमे समर्थ है वह शब्द और बल्कि उपमान वाक्यसे भी बहुत ही ऊँचे अलकार और भावमे है यह वाक्यमे उत्पन्न होने वाला ज्ञान, ऐसे १० ज्ञान अलग प्रमाण मानने पडेंगे। ज्ञान सो वह है ही, और उनसे भी कोई विशिष्ट बोध होता है, तरग उठती है, सुनने वालोको हर्षादिक उत्पन्न करते है, विसम्वाद भी नही, सो अप्रमाण भी नही। तब तो रूपक आदिक अनेक अलकार प्रमाण बन बैठेंगे। अगर शकाकार ऐसा समाधान करे कि रूपक, उपमा आदिक अलंकार तो श्रुतज्ञान हैं, क्योंकि उपदेशका मूल कारण पाकर ये अलकार बने हैं। तो यही समाधान उपमानके के लिए भी होना चाहिए। उपमान भी तो प्रयोजनमूलक है, इस कारण उपमान अलग प्रमाण नही। यदि वह शब्दयोजनासे रहित है तो मतिज्ञान है और शब्दसे अनुयोजित है तो वह श्रुतज्ञान है।

अब कोई यह जिज्ञासा करे कि प्रतिभा कौनसा प्रमाण होता है? तो प्रतिभा ऐसी बुद्धिको कहते है कि जो सत्य होने वाली बातोको शीघ्रतासे समझ लेती है। जैसे अमुक चीज मदी हो जायगी, अमुक तेज हो जायगी। सभाचतुर विद्वान् तो समयोचित ऐसे तत्त्वकी बात कह डालते है कि सुनने वाले बडे प्रभावित होते हैं। कहते है ना कि इसकी प्रतिभा बहुत अच्छी है, तो वह प्रतिभा कौनसा प्रमाण है? ऐसी कोई जिज्ञासा रखे तो उसका यह ही समाधान है कि प्रतिभा ऐसे ही ज्ञानका तो नाम है जो देश, काल, प्रमाण अनुसार उत्तरकी जल्दी जानकारी बन जाय। तो ऐसी जानकारी प्रतिभा शब्दयोजना सहित है, अतएव श्रुतज्ञान है। हाँ उसका अभ्यास हो और फिर अनेको ही प्रतिभायें बन जाती है तो वह मतिज्ञान है। शब्दयोजना लग जानेपर अर्थसे अर्थान्तरका ज्ञान होना वह श्रुत कहलाने लगता है, ऐसे ही जितना भी मतिज्ञानकी पर्यायोमे बताया है, सभीके सभी शब्दयोजना होनेपर श्रुतज्ञान है, और शब्द विकल्परहित सम्भव प्रमाण मात्र प्रतिभास हो तो वह मतिज्ञान है। ऐसे अनेक सम्भवप्रमाण है। जैसे कोई सुने कि यह अष्टसहस्रीका विद्वान् है तो इतना सुनते ही समझ जायगा कि फिर तो इसको देवागम स्तोत्रका बहुत ऊँचा ज्ञान है। किसीने कहा चार बज गए तो वह तुरन्त समझता है कि ओह! तीन तो बहुत देरके बज चुके, आदिक ज्ञानोका नाम सभव प्रमाण कहलाता है। तो उपमानको अलग प्रमाण माननेका आग्रह करने वाले तो सम्भव आदिक और भी प्रमाण मान बैठेंगे, मानने पडेंगे। एक अभाव प्रमाण है कि जिस वस्तुके जाननेकी इच्छा है उसका प्रतियोगी तो मिल जाय। उस वस्तुरहित प्रतियोगीका दर्शन

होना यह अभाव प्रमाण कहलाता । तो ऐसे अनेक प्रकारके अभाव और अर्थापत्तियाँ, ऐसा है तो ऐसा हो गया तो ये सारे प्रमाण चूकि परोपदेशापेक्ष है, शब्दयोजना सहित है, सज्ञा सज्ञी के सम्बधकी जानकारी रखकर होते है, इस कारण ये सभी ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाते है ।

सारांश यह हुआ कि नाम शब्द ससर्ग रहित जो ज्ञान है वह तो है मतिज्ञान और नाम शब्द सम्बन्ध प्रतिपत्ति सहित परोपदेशापेक्ष जो ज्ञान है वह श्रुतज्ञान है । श्रुतज्ञान एक सामान्यतया हुआ और एक सम्यग्ज्ञानके प्रकरणमे सम्यक् श्रुतज्ञानकी बात हुई । तो इस प्रसंग मे सम्यक् श्रुतज्ञानकी बात चल रही है, क्योकि वस्तुके स्वरूपके अधिगमका उपाय क्या है, इसके उत्तरमे इस अध्यायमे ज्ञानका विवरण चल रहा है ।

तो ऐसा यह श्रुतज्ञान जो पदार्थोंके स्वरूपका खूब विवरण करते हैं वे मूलमे दो प्रकारके है– अगबाह्य और अगप्रविष्ट । अगप्रविष्टके १२ अग है और उनमे भिन्न-भिन्न विषयो का बहुत विशाल वर्णन है । जैसे आचारागमे मुनियोके आचरणका बहुत विस्तृत वर्णन है । तो ऐसे भिन्न-भिन्न विषय वाले ये अग है और उनके अतिरिक्त जो कुछ विचित्रता है वह अगबाह्य है, जिसमे स्फुट विषयोका वर्णन है । जैसे सामायिककी समस्त बातें, तीर्थंकरोकी स्मृतिके सब तथ्य, वदना, प्रतिक्रमण आदिककी सब विधियाँ अगबाह्यमे वर्णित है । इस प्रकार यह भी श्रुतज्ञान है कि जिसके आधारपर ज्ञानका विकास होता है । यह श्रुतज्ञान केवलज्ञान का बीज है और तब ही यह बतलाया है कि श्रुतज्ञानमे और केवलज्ञानमे विषय बहुत विशाल है, समान है, पर अन्तर यह है कि श्रुतज्ञान तो परोक्षज्ञान है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है ।

इस सूत्रमे जो यह कहा है कि "श्रुतमतिपूर्वं ।" तो उसका भाव है कि श्रुतस्य प्रमाणत्व पूरयति इति श्रुतपूर्वं याने श्रुतके प्रमाणपनेको जो पूर दे उसे श्रुतपूर्वं कहते है । तो श्रुतके प्रमाणपनको पूरने वाला कौन है ? पहले हुआ निमित्तभूत कारण, वह है मतिज्ञान याने मतिपूर्वक मतिज्ञानके कारण करके उत्पन्न हुआ ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है । यहाँ यह शका न करनी कि लोकमे कारणके समान कार्य देखा जाता है, जैसे गेहूमे गेहू उत्पन्न होता है तो मतिसे जो होगा वह मति ही कहलायेगा । श्रुतज्ञान कैसे हो सकता ? गेहू पूर्वक गेहू होता है इसी प्रकार मतिपूर्वक मति ही तो होगा । जो होगा वह मतिस्वरूप ही तो बनेगा, तब श्रुत नही कहला सकता ।

समाधान यह है कि ऐसा एकान्त नही है कि जितने भी कार्य होते है वे कारणके ही समान होते है । देखो दड, चक्र आदिक कारण पूर्वक घडा बनता है, पर घडा दडरूप तो नही हो जाता, और फिर स्पष्ट बात यह है कि मतिज्ञान होनेपर भी और बाह्य श्रुतज्ञानका निमित्त सन्निधान होनेपर भी जिसके श्रुतज्ञानावरणका प्रबल उदय है उसके श्रुतज्ञान नही

सम्भव हो सकता। और श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम बने विशेष तो श्रुतज्ञान होता है। तो कारण तो वास्तविक श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम है, पर उसकी उत्पत्ति मतिज्ञानपूर्वक होती है। इस तरहसे मतिज्ञान निमित्तमात्र समझना।

यहां यह भी शका न रखनी कि श्रुत तो अनादि निधन माना गया है। जैसे लोग कहते है कि वेद अपौरुषेय है, अनादि अनत है, किसीने रचे ही नही। तो जब श्रुन अनादि अनन्त है, तो उसे मतिपूर्वक कैसे कहा जा सकता ? और अगर मतिपूर्वक कहेगे तो अनादि निधन न रहा। उसकी आदि तो हो गई। उससे पहले मतिज्ञान था तो श्रुतज्ञानकी आदि हो गई और जब श्रुतकी आदि हो गई तो उसका अन्त भी होगा, क्योकि जिसकी आदि है उसका अन्त भी होता है, और जब आदि अन्त हो गए श्रुतमे तो वह पुरुषकृत हो गया याने पुरुषोंने बनाया। तो जो पुरुष बनाये, प्राणी बनाये वह तो अप्रमाण है, यह शङ्का यो ठीक नही है कि यहाँ स्याद्वादसे उसका अर्थ लगाना चाहिए। द्रव्यदृष्टिसे याने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सामान्यरूपसे विवक्षित किए जाये तो कहा जायगा कि श्रुत अनादिनिधन है अर्थात् श्रुतज्ञानमे जो बात बतायी जाती है, जिसका उत्थान दिव्यध्वनिसे चलता है वह श्रुतज्ञान कोई नया गढा गया हो याने था ही नही, ऐसा है ही नही और कल्पनासे किया गया हो ऐसा तो नही होता। अनन्त तीर्थंकर हो चुके है और भी अनन्त अरहत हो गए है परम्परासे, ठीक ऐसे ही वस्तुस्वरूपके अनुरूप ज्ञान चल रहा है, श्रुत चला आ रहा है। किसी भी पुरुष ने कही भी, किसी भी समय किसी तरह उसे गढ़ा हो नया अपनी बुद्धिसे, सो बात नही है। भगवान सर्वज्ञदेवकी जो दिव्यध्वनि होती है वह तो इच्छारहित है। वहाँ तो प्रकृत्या एक ध्वनि खिरती है और अन्य लोग जो आगम, शास्त्र, पुराण रचना करते है सो उस मूल उपदेशके अनुसार करते है। तो वह जो श्रुत परम्परा है वह अनादि अनन्त है। उस ही का विशेषकी अपेक्षासे आदि अन्त सम्भव है। जिस पुरुष ने उन शब्दोको सुनकर आगमको जान कर ज्ञान किया उसकी आदि है और अन्त भी है, क्योकि श्रुतज्ञान तो ज्ञानस्वरूपकी पर्याय है। पर्याय अनादि अनन्त नही हुआ करती। सामान्यपर्याय, उत्तरपर्यायोका निरन्तर होते रहना यह तो है अनादि अनन्त, पर कोई विशिष्ट पर्याय अपने क्षणमे है, अगले क्षण नही, तो इस दृष्टिसे आदि अन्त भी है। यो श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक सिद्ध होता है।

जैसे वृक्षमे अकुर उत्पन्न होते है तो बीजपूर्वक होते है, पर सतानकी अपेक्षासे देखा जाय तो अनादि अनन्त है। यह बीज पहले वृक्षसे था, वह वृक्ष पहले बीजसे था, वह बीज वृक्षसे था। एक परम्परा है, अनादि है। अगर व्यक्तिगत बीज हो या व्यक्तिगत वृक्ष हो कि अमुक वृक्ष, अमुक बीज, उसकी तो आदि है, इस तरह श्रुत द्रव्यार्थिकसे तो अनादि निधन है और पर्यायदृष्टिसे सादि सान्त है, तब श्रुतज्ञानको मतिपूर्वक कहना यह अयुक्त नही है।

दूसरी बात यह है कि लोग आगमको, वेदको अपौरुषेय इस ख्यालसे सिद्ध करना चाहते हैं कि यह आगम पूरा प्रमाणभूत कहलाये। देखो यह आगम, यह शास्त्र यह वेद किसीने नही बनाया। और है तो इसका अक्षर-अक्षर प्रमाण। कोई बनाये तो वह बनाया हुआ है, यह बनाया हुआ नही है। तो यो अपौरुषेय कहकर ख्याल तो यह जमायें कि इस तरह शास्त्र आगम पूरे प्रमाण हो जायेंगे। लेकिन दो बातें ध्यानमे न रखी। पहली बात तो यह है कि जो जो चीज अपौरुषेय है वह क्या प्रमाणभूत है? ऐसा तो नियम नही है। देखो जीवोका उपदेश, इसका कोई कर्ता स्मरणमे तो नही आता कि किसने चोरीके उपदेशकी रचना की या पापका उपदेश यह किसने प्रारम्भ किया? था ही नही और किसीने कल्पनासे एक तरकीब बनायी हो, लिखा हो, ऐसा कोई कर्ता नही है। चले आ रहे हैं अनादिसे तो क्या चोरी का उपदेश यह प्रमाणभूत हो जायगा? मिथ्यात्व मोह ये अनादिसे चले आ रहे तो क्या ये प्रमाणभूत हो जायेंगे? न तो अपौरुषेयता ध्यानका कारण है और न अनादिसे चली आयी हुई बात वह प्रमाणका कारण है। प्रमाणका कारण तो जो युक्तिसिद्ध हो, दोषरहित हो, जीवके हितरूप हो वह सब प्रमाणभूत होता है। प्रत्यक्ष आदिक भी तो अनित्य ज्ञान हैं। अगर अनित्यता होनेसे प्रमाणपना न रहे तो शकाकारके माने हुए अन्य सब ज्ञान अप्रमाण ही बैठेंगे। इसलिए अपौरुषेयताका दिमाग प्रमाणताकी सिद्धिके लिए नही बनता, किन्तु वह कथन सही है, परस्पर विरुद्ध नही है, वस्तुके स्वरूपके अनुकूल है। ये बातें निरखनी चाहिएँ। अगर युक्ति आगमसे विरोध न पडे तो वह प्रमाणभूत है, और भला जहाँ कुछ वाक्य बनाये गए अग्निकी पूजा करो इससे स्वर्ग मिलेगा, आदिक जो कुछ भी बनाये गए है, वाक्य रचे गए है यह तो एक रचना है, वह विना की हुई कैसे हो सकती है? बात यह ढूंढना चाहिए कि मूल कर्ता सर्वज्ञ हुआ, निर्दोष आत्मा हुआ। जो निर्दोष है, सर्वज्ञ आत्मा है उसका मूलसे जो उपदेश चला वह प्रमाणभूत है।

अब यहाँ शकाकार कहता है कि देखो किसी जीवको प्रथम-प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न हो रहा तो यह बताया जाता ना कि सम्यग्दर्शनसे पहले जो ज्ञान है वह मिथ्याज्ञान कहलाता है। जब सम्यग्दर्शन होता है तब वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। तो अब जब प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान—ये दोनो समीचीन बन गए, तुरन्त ही बन गए। क्या उनमे ऐसा होता कि सम्यग्दर्शन हो तो पहले मतिज्ञान सम्यक् बने, बादमे श्रुतज्ञान सम्यक् बने। जो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान थे वही सम्यक्त्व होते ही समीचीन हो जाते है। तो जब दोनो ज्ञान एक साथ सम्यक् बने तो उसमे यह कैसे कहा जा सकेगा कि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है?

इस शकाका समाधान यह है कि उत्पत्ति तो मति और श्रुतके क्रमसे होती है,

मगर उनमें समीचीनता वह सम्यक्त्वकी कारण होती है। तो सम्यक्त्वकी अपेक्षा तो समीचीनताके लिए है, पर उनका स्वरूपलाभ तो क्रमसे ही होता है। पहला श्रुतज्ञान मतिपूर्वक है, इस कथनमे कोई दोष नही है और भले ही अनेक श्रुतज्ञान श्रुतज्ञानपूर्वक भी होते हैं, पर जिस श्रुतज्ञानके बाद हुआ है श्रुतज्ञान वह श्रुतज्ञान तो मतिपूर्वक था। चाहे एक दो श्रुतज्ञानोका भी अन्तर पड जाय, मगर जिस धारामे श्रुतज्ञान है उसके प्रथम श्रुतज्ञान तो मतिज्ञानपूर्वक ही हुआ था। जैसे किसीने शब्द सुना, शब्द क्या चीज है ? भाषावर्गणाके पुद्गल स्कधोमे शब्दपर्याय बनती है। तो उस शब्दपर्यायिसे वर्ण, पद, वाक्य यह समझा या अन्य इन्द्रियसे कुछ देखा, जाना, उससे तो पहले श्रुतज्ञान हुआ। अब उस श्रुतज्ञानके बाद कुछ और अभ्याससे, समागमोसे और और बातें भी सोचता है, करता है। घट, यह शब्द सुना तो जब तक घ ट यह शब्द मात्रका ज्ञान है, मतिज्ञान है, ओह ! इसका यह अर्थ है, यह घडा, यह श्रुतज्ञान हो गया, और इस घडेसे पानी भरा जायगा, चलो पानी भर ले आयें, ये भी श्रुतज्ञान होते जा रहे है, अर्थात् इस तरह श्रुतपूर्वक भी श्रुत है, मगर सर्वप्रथम मति हुआ, उसके बाद श्रुतधारा चली, इस कारण यह दोष नही आता कि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक नही होता। यहाँ सम्यग्ज्ञानका प्रकरण है और श्रुत आगमकी बात कही जा रही तो इस श्रुतके मूल वक्ता सर्वज्ञ तीर्थंकर या अन्य परमात्मा थे। उसके बाद श्रुतकेवली अन्य आचार्यजन हुए। तो उन सर्वज्ञ परमर्षिकी परम्परासे उनके उपदेशके अनुसार जो हो उसे आगम कहा है। तो वह आगम प्रमाण है, क्योकि प्रत्यक्ष दृष्टिके मूलसे चला है, निर्दोष आत्माके मूलसे चला है। अब उसे अनेक शिष्य जन जिनमे बुद्धि अधिक है गणधर आदिक, उन्होने ग्रथरचना की। सो मूलमे जो रचना हुई वह अग पूर्वादिक रूप है। फिर जब इतनी भी समझ न रही, ज्ञानहीन होता गया, लेकिन बुद्धि निर्दोष रही तब फिर छोटी आयु वालोके अनुग्रहके लिए अल्प मति बल वाले शिष्योके उपकारके लिए फिर ग्रन्थरचना चली। इस तरह परपरासे चला आया हुआ वही ज्ञान। जैसे कोई इस तरह कुवेंसे एक घडा पानी भर लाया, अब उस घडेमे से एक लोटेमे निकाला, फिर लोटेमे कटोरी मे लेकर पीने लगे। तो है तो उसी कुवाका जल। कोई कहे कि कटोरीका जल है, लोटेका जल है, अरे मूल तो वही है। इसी तरह कोई भी आचार्य ऋषि जन कुछ ग्रन्थरचना करें, आखिर भाव तो वही है और उसी मूल आगमके अनुसार ही बात कही जा रही है। इस तरह वस्तुस्वरूपका आगम करनेके लिए और समीचीन निर्णय करानेके लिए यह श्रुतज्ञान समर्थ है। उस श्रुतज्ञानका इस सूत्रमें विवरण किया गया है।

सूत्रमे जिस श्रुतका वर्णन किया गया है वह श्रुत दो प्रकारका है—(१) द्रव्यश्रुत और (२) भावश्रुत। तो ये दोनो ही श्रुत एक सम्यक्पनेमे सम्बन्ध रखते है, जिनमे द्रव्यश्रुत

तो है, ऐसे ग्रन्थोकी रचना जो बडे-बडे अतिशयो वाले ऋद्धि वाले मुनिराजोके द्वारा स्मरण की गई है, रची गई है, वे दो प्रकारके है—(१) अगप्रविष्ट और अगबाह्य। भगवान अरहत सर्वज्ञरूपी हिमालयसे निकली जो वचन गंगा है उसको सुनकर जिसका अंत.करण विशुद्ध हो गया है, याने दिव्यध्वनिका जो अर्थ समझा उस जलके द्वारा जिसका हृदय पवित्र हो गया है ऐसे बडे-बडे ऋद्धिधारी गणधरोके द्वारा जो ग्रन्थ रचना है वह है आगम। सो वह १२ प्रकारके अगोमे रचा हुआ है। जैसे प्रथम अगका नाम है आचाराग। इस आचाराग मे चर्याका विधान बताया गया है। ८ प्रकारकी शुद्धियाँ, ५ प्रकारकी समितिया और गुप्ति आदिकके भेद, सब इस आचाराङ्ग सूत्रमे विस्तार सहित कहा गया है। यह आचाराङ्ग साधु सत जनोके लिए एक मार्गप्रदर्शन करने वाला है। किस तरह रहना, कैसे चलना, समय किस तरफ लगाना, इन सब बातोका आचाराङ्गमे वर्णन है। दूसरा अङ्ग है सूत्रकृताङ्ग। इसमे ज्ञानविषयक बातोका, विनय आदिक व्यवहारोका सब प्रज्ञापन किया गया है। क्या करना चाहिए, क्या न करना चाहिए, व्रतमे कैसे बढना चाहिए? व्रतमे कोई भग हो जाय तो कैसे उठना चाहिए? इन समस्त व्यवहारधर्मोकी क्रियाओका इस अङ्गमे वर्णन है। तीसरा अग है स्थानाङ्ग। इसमे पदार्थोके भेद स्थानोके सहारे वर्णन किए गए है। जैसे जीव कितनी तरहके, पुद्गल कितनी तरहके, ऐसे अनेक वर्णन है। समवायाङ्गमे समान चीजोका अलग-अलग समवाय किया गया है। जैसे द्रव्य समवाय, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, लोकाकाश, एक जीव, इनके समान प्रदेश है, याने असख्यात प्रदेश है। तो जो समान द्रव्य हैं उनका वर्णन है। क्षेत्रसमवाय भी किया। जैसे जम्बूद्वीप सर्वार्थसिद्धि, सप्तम नरकका बीचका बिल नन्दीश्वर द्वीपकी एक बावडी, ये सब एक समान विस्तार वाले हैं, मायने एक लाख योजनके विस्तार वाले हैं। ऐसा क्षेत्रोकी समानता की दृष्टिसे वर्णन है, ऐसे अनेक वर्णन हैं, क्षेत्रसमवाय हैं। कालसमवायमे समयोकी समानताका वर्णन है। जैसे उत्सर्पिणी अवसर्पिणी ये बराबर १० कोडाकोडी सागरके है। भाव समवायमे भी अनेक वर्णन है। जैसे क्षायक सम्यक्त्व केवलज्ञान, केवलदर्शन, असख्यात चारित्र, ये जो परिणाम हैं ये अनन्त है अर्थात् अविभागप्रतिच्छेदकी अपेक्षा ये अनन्त परमाणु वाले हैं। इस तरह समवायाङ्गमे कई विधियोसे समान-समान पदार्थोका वर्णन है। व्याख्याप्रज्ञप्ति अङ्गमे ६० हजार चर्चाओ द्वारा अनेक प्रश्नोत्तर है। जैसे जीव है अथवा नही है, नित्य है आदिक अनेक चर्चाओका वर्णन है।

ज्ञातृधर्मकाङ्गमे जो बडे महापुरुष ज्ञाता हुए है धर्मात्मा जन, उनके आख्यान अवाख्यानोका कथन है। उपासकाध्ययनमे श्रावकोके आचार, व्रत आदिकका वर्णन है। अतःकृतदशागमे उन-उन १०-१० महान् आत्माओका वर्णन है जो एक-एक तीर्थंकरके तीर्थमें हुए और बडे परीषहोको सहकर, कठिन उपसर्गोको जीतकर, समस्त कर्मोका क्षय करके हुए है औपपा-

दिक दशाङ्गमे ऐसे-ऐसे महामुनियोंका वर्णन है जो प्रत्येक तीर्थंकरोके समयमे बडे-बडे उपसर्गों को जीतकर समाधिमरण करके ५ अनुत्तर विमानोमे उत्पन्न हुए है। विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वारिसिद्धि, इन ५ उत्तम साधनोमे उत्पन्न हुए है। प्रश्नव्याकरणाङ्गमे हेतु, नय आदिकके सहारे या आक्षेप आदिकपूर्वक प्रश्नोका सग्रह है, जिसमे लौकिक धार्मिक सभी पदार्थोंका निर्णय किया गया है। विपाकसूत्रांगमे कर्मोंके पुण्य-पापके फलका चिन्तवन किया गया है, और १२वाँ जो दृष्टिवादाङ्ग है उसमे अनेक दृष्टियोका वर्णन है। जैसे १८० क्रियावादी लोग होते है उनके मतोका वर्णन है। ८४ प्रकारके अक्रियावाद दृष्टि वाले है, उनका वर्णन है। ६७ प्रकारके अज्ञानदृष्टि वाले मत है, उनका वर्णन है। ३२ प्रकारके वैनशक दृष्टि वाले मत है उनका वर्णन है, ऐसे ३६३ प्रकारके जो कुमत है उनका वर्णन है तथा इसके अतिरिक्त ५ प्रकारके इसी दृष्टिवादके अंग है, भेद है। परिकर्मसूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगतचूलिका, पूर्व १४ प्रकारके होते है—पहला उत्पाद पूर्व, जिसमे यह वर्णन है कि पुद्गल जीव काल आदिकका जब-जब जहाँ जिस प्रकार पर्यायसे उत्पाद हुआ करता है उस सबका वर्णन। दूसरा है अग्रायणीपूर्व—जो क्रियावाद आदिककी प्रक्रियायें है, क्रियाकाड है वे सब अग्रायणी कहलाते है। उनका विशेषतया इस पूर्वमे वर्णन है। तीसरा पूर्व है वीर्यप्रधान—इसमे शक्तियोका वर्णन है, छद्मस्थोका, केवलीका, देवेन्द्रोका, नरेन्द्रोका, चक्रवर्ती बलदेव आदिककी शक्तियोका वर्णन है, और सम्यक्त्वका भी उसीमे लक्षण है, जिससे आत्मशक्तिका भी वर्णन चलता है। चौथा अस्तिनास्तिप्रवाद है, जिसमे ५ अस्तिकायोका वर्णन है। नयोका अनेक पर्याय भगोके रूपसे वर्णन है। अस्तिनास्ति और भी अनेक भगोसे जहाँ पदार्थोका वर्णन किया हो वह अस्तिनास्तिप्रवाद है। छहो द्रव्योका भाव और अभावकी विधिसे दोनो नयोकी विवक्षासे वहां निरुपम होता है वह अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व है। ५वाँ ज्ञान प्रवाद पूर्व है। पांचो प्रकारके ज्ञानोका कैसे उत्पाद होता, क्या विषय है ? ज्ञानी और अज्ञानी जीवोंकी इन्द्रियोका कैसा उपयोग है, इन सब बातोके समाधानसे जिसमे विवेचना है वह ज्ञान प्रवाद पूर्व है। छठा सत्यप्रवादपूर्व है। इसमे सत्यका निरूपण है अर्थात् सत्य वचन कितने प्रकारके होते हैं। उनमे किस किसका परिहार है ? १२ प्रकारकी भाषायें है, १० प्रकारके सत्य है, इन सबका जहाँ वर्णन है वह सत्यप्रवाद है। वचन निकलनेके साधन कौनसे है ? वे ही सस्कारके कारण कहलाते है। जैसे सिर, कठ, तालू, ओठ, मूर्धा आदिक ये ८ साधन होते है, उनका भी वर्णन है सत्यप्रवादपूर्वमे। वचनोका प्रयोग शुभ और अशुभ दो प्रकारसे होता है। सो यह भाषा १२ प्रकारकी है। इसमे भली और बुरी सभी आती है।

जैसे एक आव्याख्यान भाषा है याने हिसा आदिक क्रियावोको करने वाले विरक्त

अथवा देशसयमीमे यह इसका कर्ता है—इस प्रकारकी जो बोल-चाल है वह अाभ्याख्यान है। कोई कलह करनेकी भाषा, कोई चुगली करनेकी भाषा, पीठ पीछे दूसरेके दोषको बखानना, यह पैशून्य भाषा है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ कहे गए है। इससे सम्बंध रखने वाली वाणी सम्बद्ध वाणी कहलाती है और इससे हटकर जो भी बोलता है वह असम्बद्धप्रलाप कहलाता है। प्रीति उत्पन्न कराये, ऐसी वाणीको इतिवचन बोलते हैं, और उन्ही शब्दादिक विषयोको अरति उत्पन्न कराये वह अरतिवाणी है। जिन वचनोंको सुनकर परिग्रह की कामनायें, रक्षा आदिकमे आसक्ति बने वह उपाधि वचन है। वाणिज्य व्यवहारमे जिसको निश्चय करे, कुछ मायाकी ओर आत्मा झुके वह विकृति वाणी है। जिसको सुनकर तप ज्ञानमे अधिक पुरुषोके प्रति भी प्रणाम करनेकी बुद्धि न जगे, न प्रणाम करे वह अप्रणति वचन है। जिसको सुनकर चोरीमे दृष्टि जाय वह स्तेय वचन है। जिसको सुनकर समीचीन मार्गमे बुद्धि जाय वह सम्यग्दर्शन वचन है और अमार्गमे दृष्टि जाय जिस वचनको सुनकर वह मिथ्यादर्शन वचन है। ऐसी १२ प्रकारकी भाषायें होती है। इनका विस्तारपूर्वक वर्णन सत्यप्रवाद पूर्वमे है। इसी तरह वक्ता भी अनेक हुआ करते हैं। किसीके बोलनेकी स्थिति प्रकट हुई है, किसीके नही हुई है, ऐसे अनेक लोग हैं, असज्ञी जीव है, सज्ञी जीव है। दो-इन्द्रियसे पहले तो वक्तृत्व शक्ति होती ही नही। वहा भाषा नही निकलती। तो जिन जीवो के भाषा सम्भव है उन जीवोकी विशेषतायें भी कही हैं। इस प्रकार नाना प्रकारके असत्य वचन होते हैं उनका वर्णन इस सत्यप्रवादपूर्वमे है, और १० प्रकारके सत्यवचन हुआ करते हैं उनका वर्णन इस सत्यप्रवादपूर्वमे है। जैसे नामसत्य, व्यवहार रखनेके लिए नाम रख दिया वह नामसत्य है। जैसे किसीका नाम इन्द्र रख दिया तो इन्द्र तो नही है, पर नामकी दृष्टिसे इन्द्र ही है, उसी नामको कहकर लोग बोलते है, यह नामसत्य है। कोई रूपसत्य होता है। जैसे पदार्थ तो नही है, फिर भी केवल रूप मात्रसे ही कहा जाता है। जैसे फोटो है सामने किसीके तो वह आदमी नही है, वह जीव नही है, वहाँ तो केवल कागज है, स्याही है, पर रूपको देखकर यह बता देना कि यह अमुक आदमी है, यह रूपसत्य है। एक स्थापनासत्य होता है। पदार्थ तो नही है, पर किसी प्रयोजनके लिए उसमे स्थापना कर दे वह स्थापनासत्य है। जैसे धर्मसाधनाके लिए प्रभुकी मूर्तिकी स्थापना की, वह स्थापनासत्य है। दिल बहलानेके लिए काठ पत्थरकी बोटोमे यह वजीर है, राजा वजीर है, राजा है आदिक मान लेना स्थापनासत्य है। कोई वचन प्रतीतिसिद्ध होते है, याने जो भावोका विश्वास कर, प्रतीति कर जो वचन बोले जाते हैं वह प्रतीतसत्य है। कोई सम्वृतसत्य होता है। जैसे लोकमे जो कल्पनायें करके लगाये गए वचन हो, जैसे कमलको पंकज कहते, जिसका अर्थ

होता है ,कीचड़से उत्पन्न हुआ। तो क्या कमल केवल कीचडसे उत्पन्न हो जाता ? पृथ्वी कारण है, बीज कारण है, पानी कारण है, फिर भी लोकमे ऐसी ही प्रसिद्धि है, कल्पना है उससे यह नाम बोला जाता है। कोई संयोजनासत्य होता है। याने चेतन अचेतन पदार्थोंका उस-उस ढगसे रखकर फिर उस आकारमे कोई एक बात मान ली, वह सयोजनासत्य है।

जैसे चक्रव्यूह अन्यव्यूह आदिक मान लेते है या धूप चूर्ण आदिकमे कहते कि जो यह अमुकका चूर्ण है यह पाचन चूर्ण है, यह सब सयोजनसत्य है। कोई जनपदसत्य होता याने धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी प्राप्ति करा देने वाला जो वचन है वह जनपदसत्य होता। कोई देशसत्य होता, याने ग्राम नगर राजगण अथवा जाति कुल आदिक धर्मोंका उपदेश करने वाला जो वचन है वह देशसत्य होता। कोई भावसत्य होता याने सयमी या सयमासंयमी जीव अपनी गुणवृत्तिका परिपालन करते रहे, इसके लिए जो ऐसा कहा जाता, यह प्राशुक है। यह प्रासुक है ऐसा छद्मस्थ ज्ञान तो नही हो सकता कि यह प्रासुक ही है या यह अप्रासुक ही है ? सूक्ष्म रीतिसे नही जान सकते। फिर भी जाना समझा जितना व्यवहार है और प्रयोग है, परिहार है उस माफिक कहना सो भावसत्य है, एक वचन है, समयसत्य, याने द्रव्यपर्यायोका जैसा स्वरूप है वैसा स्वरूप बतलाना सो समयसत्य है। इस तरह अनेक प्रकारकी भाषाओका सत्यका जहाँ वर्णन हो वह सत्यप्रवाद पूर्व है। ७वें पूर्वका नाम है आत्मप्रवाद। इस पूर्वमे आतमाके अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिक धर्मोंका युक्तिपूर्वक वर्णन है, याने आत्मा कर्ता है या नही ? है तो किसका कर्ता है ? नही है तो किस प्रकार ? ऐसे ही सभी धर्मोंका युक्तिपूर्वक वर्णन है और इस ही पूर्वमे समस्त जीवभावका वर्णन है। ८वाँ पूर्व है कर्मप्रवाद। कर्मोके बध, उदय, उपशम, निर्जरा ये परिणमन कैसे है, किस प्रकार होते है और उनके अनुभाग प्रदेश किस प्रकार होते है, स्थिति जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट कहाँ किस तरह बनती हैं, किन-किन जीवोकी कौन-कौनसी प्रकृतियोका बंध उदय आदिक है, आदिक वर्णन इस पूर्वमे किया गया है। ९वें पूर्वका नाम है प्रत्याख्यानपूर्व व्रत, नियम, प्रतिक्रमण आदिक आचारोका, प्रायश्चित शुद्धि आदिकका तथा नियमसे यमसे कुछका सर्वथा द्रव्योका त्यागका जहां वर्णन किया गया है वह प्रत्याख्यान बात पूर्व है। १०वाँ पूर्व है विद्यानुवाद। इसमे छोटी बड़ी सभी विद्याओका वर्णन है और उन विद्याओका विषयभूत क्षेत्र, श्रेणी, सस्थान, समुद्धात आदिकका वर्णन है। लघु विद्याये होती है ७००, और रोहणी आदिक महाविद्यायें होती हैं ५००। महानिमित्त जिससे कि भविष्यका भी ज्ञान कर लिया जाता है वे अनेक प्रकारके है। उनका वर्णन इस पूर्वमे किया गया है।

जैसे आकाशमे कोई नक्षत्र आदिक देखना, स्वर सुनकर भविष्य जानना, स्वप्न देखकर जानना, शरीरपर मसा, तिल आदिक चिह्नोको देखकर जानना, यह सब वर्णन इस पूर्व मे है तथा उन महानिमित्तोका विषय, क्षेत्र, लोक आदिकका इसमे वर्णन है। यह लोक तीन भागोमे विभक्त है---ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक। इन सब लोकोका मध्य भाग है मेरुपर्वतकी जडके नीचे ८ प्रदेश। वहांसे विभाग होता है। जो नीचे है सो तो अधोलोक है और उस मेरूपर्वतकी जडसे लेकर शिखर पर्यन्त मध्यलोक है और उससे ऊपर ऊर्ध्वलोक कहलाता है। ऊर्ध्वलोकमे स्वर्ग ग्रैवेयक अनुदिश, अनुत्तर आदिक विमानोकी रचना है, जिसमे देव रहते है। उससे ऊपर सिद्धशिला है और उससे ऊपर सिद्धलोक है, जो लोकके अतमे है। जहां सिद्धभगवान विराजे रहते है। मध्यलोकमे अनेक द्वीप समुद्र आदिक रचनायें हैं। अधोलोकमे प्रथम तो इस पृथ्वीके दो भागोमे नीचे भवनवासी और कुछ व्यन्तरोका निवास है। उसके नीचे भागमे पहला नरक है, उससे नीचे ६ पृथ्वियां और हैं, दूसरे तीसरे आदिक नरक है। यह सब वर्णन इस सूत्रमे किया गया है। जीवोके प्रदेश बस इस ससारमे देहके बराबर हैं अर्थात् देह जितने तक फैला है वहाँ तक ही यह जीव फैला हुआ है, पर कुछ कारण होते हैं ऐसे कि जो देहसे बाहर भी आत्माके प्रदेश हो जाते है, इसे कहते हैं समुद्घात। ये समुद्घात ७ प्रकारके होते है। किसी प्राणीको कोई कठिन रोगादिक हो जाय तो उस वेचैनीमे वे प्रदेश बाहर होते है और कदाचित् जहां कोई औषधि रखी हो वहां तक प्रदेश पहुच सकें तो उसका सम्बध इस जीवके आरोग्यका कारण भी बन जाता है। तो वेदनाकृत है यह समुद्घात। इसका नाम वेदनासमुद्घात है। किसी सामर्थ्यको किसी दूसरेके कारण कठिन क्रोध आ गया, इस समय कषायसमुद्घात होता है अर्थात् जीवके प्रदेश शरीरसे कुछ बाहर हो जाते है। जब किसी जीवका मरणकाल होता है तो किसी-किसीके जिसको कि एक सीधी गतिमे जैसे नरक या कही सीधी गतिमे श्रेणीमे कोई जन्मस्थान हो तो मरणसे पहले वहाँ तक प्रदेश छू आते हैं और फिर वापिस होकर देह बराबर रहकर मरण हो जाता है। एक समुद्घात है तैजस समुद्घात। यदि किसीपर दया आयी तैजसऋद्धि वालेको तो उसका भला हो जायगा। दाहिने कधेसे तैजस शरीर निकलेगा और किसीका अगर दुर्भाग्य है और उसपर क्रोध आ गया तो बाये कधेसे तैजस शरीर निकलता है और सबको भस्म कर देता और खुद भी भस्म हो जाता है। विक्रियासमुद्घातमे भी जीवके प्रदेश बाहर हो जाते हैं।

जैसे देव कोई रूप धरना चाहता है, दूर जाना चाहता है, समवशरणमे आ रहा है तो उनका मूल शरीर तो वही रहता है, पर विक्रियाका शरीर आया करता है। तो मूल शरीरमे भी जीवप्रदेश हैं और रास्तेमे सर्वत्र जीवप्रदेश हैं, तो यह उनका

वैक्रियकसमुद्घात है। देव अपने शरीरसे भिन्न अनेक रूप शरीर धारण कर सकते है। नारकी जीव अपने शरीरका कुछसे कुछ रूप बना ले, वे अनेक शरीर नही बना पाते। जिनकी जैसी योग्यता है उस योग्यतानुसार जो उत्तर शरीर बनता है वहाँ जीवके प्रदेश बाहर जाते है। वह वैक्रियकसमुद्घात है। एक होता है आहारकसमुद्घात। जिसके आहारकऋद्धि उत्पन्न होती है ऐसे महामुनिके कोई तत्त्वशका हो या क्षेत्रवंदनाका भाव हो तो उनके मस्तकसे एक हाथका शुक्ल वर्णका पुतला निकलता है और यह तीर्थंकरके क्षेत्रवंदना आदिक करके, दर्शन करके वापिस आ जाता है। शका उत्पन्न हुई हो तो सीधा तीर्थंकर केवलीके दर्शनको वह आहारक शरीर जाता है। दर्शन करते ही शंका दूर हो जाती है और फिर आहारक शरीर वापिस आ जाता है। एक समुद्घात है केवलीसमुद्घात। जब केवलीभगवानके वेदनीय नाम गोत्र ये तो रह जायें बहुत स्थितिमे और आयु हो अल्प स्थितिकी तो उस बडी स्थितिको आयुके बराबर करनेके लिए बाहर प्रदेश निकलते है और पहले दडाकार लोकके १४ राजू प्रमाण फैलते है, फिर कपाटके आकार अगल-बगल फैलते है, फिर प्रतराकार चारो तरफ हो जाते हैं, फिर जो वातवलय बचती है वहाँ प्रदेश फैल जाते है। फिर इसी विधिसे सकुचित होता है और फिर शरीरमे सर्व प्रवेश कर जाते। सभी समुद्घातोमे मूल शरीरको प्रदेश बिल्कुल नही छोडते, किन्तु वहाँ रहते हुए फैला करते है। इस तरह इन समुद्घातोका वर्णन इस विद्यानुवाद पूर्वमे है। ये समुद्घात शरीरसे बाहर प्रदेश भरमे होते है, पर आहारक समुद्घात और मारणांतिक समुद्घात ये एक दिशामे ही जाते है। मारणान्तिक समुद्घात भी अन्य क्षेत्रवर्ती जीवोके नही होता, इसलिए वे एक दिशामे गमन करते हैं। शेष ५ समुद्घात चारो तरफ फैलते हैं। इन समुद्घातोका समय सख्यात समय है, किन्तु केवलीसमुद्घात केवल ८ समय होता है। इसी विद्यानुवाद पूर्वमे सपनोका भी वर्णन है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह नक्षत्रको चालसे सही और विपरीत हल आदिकका ज्ञान हो, इस विषयका भी वर्णन इस विद्यानुवाद पूर्वमे है। तीर्थंकरोके पंचकल्याणक आदिकका वर्णन है। ११वां है प्राणानुवाद पूर्व। इसमे आयुर्वेदका वर्णन है। कैसी चिकित्सा है, आयुर्वेदके ८ अग होते है। इन सबका इसमे विस्तारपूर्वक वर्णन है। क्रियाविशाल पूर्वमे सब कलाओका वर्णन है।

जैसे ७२ कलायें, ६४ कलायें, शिल्पविद्या, काव्य, गुण, दोष, क्रिया, छद रचना और इन सबके करने वालोके फलका सब कुछ व्याख्यान इस क्रियाविशालपूर्वमे है। लोकबिन्दुसार मे गणितोके और अनेक क्रियावोके तीन विभाग बताये गए है। इस तरह १२ अगोमे नाना प्रकारके विषयोका वर्णन है, जिसके पारगामी बडे ऋद्धिसम्पन्न मुनिराज होते है। इस अंगसे अतिरिक्त याने इसके ही अनुसार इसके विभाग बनाकर जो आचार्य आदिककी ग्रन्थरचना है

वह सब अगबाह्य है । यहाँ श्रुतज्ञानसे मतलब आगमज्ञान और मतिज्ञानके अनन्तर होने वाले अन्य भी अर्थान्तरके ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाते है । अनुमान, उपमान अर्थापत्ति आदिकका भी अन्तर्भाव इस श्रुतज्ञानमे हो जाता है । यह श्रुतज्ञान इस आत्माके कल्याणका बीज है । श्रुतज्ञानके बलसे ही सर्व तत्त्वोका निर्णय कर, फिर सबसे विविक्त अपने आत्माके सहज चैतन्यस्वरूपकी आराधना कर समाधिभावको प्राप्त होता है । सर्वविकल्पोका परिहार कर एक चित्स्वरूपका ही आराधन रहता है । उस समाधिके बलसे सर्व प्रकारके कर्मोका क्षय हो जाता है, परमात्मा हो जाता है । तो यह श्रुतज्ञान पवित्र है । इसी कारण सरस्वतीपूजा आदिकके रूपमे इस श्रुतकी उपासनाकी प्रेरणा दी गई है । यहाँ तक वस्तुस्वरूपके जाननेके उपायोके प्रसगमे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका वर्णन किया । अब परोक्षज्ञानके वर्णनके बाद प्रत्यक्षज्ञानका वर्णन आयगा, और जिसमे सर्वप्रथम अवधिज्ञानका वर्णन चलेगा ।

॥ मोक्षशास्त्र प्रवचन अष्टम भाग समाप्त ॥
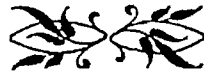
मोक्षशास्त्र प्रवचन नवम भाग

मोक्षमार्गस्य नेत्तार भेत्तार कर्मभूभृतां ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानाम् बन्दे तद्‌गुणलब्धये ।।

प्रत्यक्षज्ञानोंके वर्णनका प्रारम्भ—अब प्रत्यक्षज्ञानोमे सर्वप्रथम अवधिज्ञानका वर्णन कर रहे है। अवधिज्ञानका भेद प्रभेद पूर्वक वर्णन चलेगा। इस कारण प्रथम कुछ उसके भेद प्रभेद जानना आवश्यक है। अवधिज्ञान दो प्रकारका कहा गया है—(१) भवप्रत्ययक अवधिज्ञान और (२) क्षयोपशमप्रत्ययक अवधिज्ञान। भवप्रत्ययक अवधिज्ञान उसे कहते हैं कि जो अवधिज्ञान अपने योग्य नियत भवको पाकर नियमसे उत्पन्न ही हो। चाहे वह सम्यग्ज्ञान रूप हो, चाहे मिथ्याज्ञान रूप हो, पर उस भवमे अवधिज्ञान होता ही है। ऐसा होनेपर भी अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम भी आवश्यक ही है। सो वहाँ होता ही है। दूसरा अवधिज्ञान है क्षयोपशमनिमित्तिक अवधिज्ञान। याने जो अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमका निमित्त पाकर हो उसे कहते है क्षयोपशमनिमित्तक याने भव कारण नही है। इनमेसे क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञानके तीन भेद है—देशावधि, सर्वावधि और परमावधि। देशावधि अवधिज्ञान भवप्रत्ययक भी है और क्षयोपशमनिमित्तक भी होता है। सर्वावधि और परमावधि ज्ञान भवप्रत्ययक नही होता। इसी प्रकार अवधिज्ञानके और-और भी प्रकारसे भेद प्रभेद है, जो कि सूत्रके प्रकरणमे वर्णित किये जायेंगे। अब यहाँ प्रथम भवप्रत्यय अवधिज्ञानका वर्णन कर रहे है।

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ।।२१।।

भवप्रत्यय अवधिज्ञानकी भवप्रत्ययता—भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियोके होता है अर्थात् देवगतिमे जिसका जन्म हो और नरकगतिमे जिसका जन्म हो, ऐसे जीवोंके अवधिज्ञानावरणका यथासम्भव क्षयोपशम होता ही है और उस भवमे वे जीव नियमसे अवधिज्ञान प्राप्त करते है, इसी कारण इसको भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते है। भवका अर्थ क्या है? आयुकर्म और नामकर्मके उदयविशेषसे जो आत्माका पर्याय होता है उसे भव कहते है। भवमे मुख्य कारण आयुकर्म और नामकर्मका उदयविशेष है, पर साथ ही अनेक कारणोंकी अपेक्षा होती है। उस भवका जहाँ प्रत्यय है अर्थात् निमित्त है उसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते है। प्रत्यय शब्दके अनेक अर्थ होते है, लेकिन विवक्षावश उसका अर्थ लगाया जाता

है। जैसे प्रत्ययका अर्थ ज्ञान भी है। जैसे अर्थ और शब्दका प्रत्यय करना याने ज्ञान करना। प्रत्ययका अर्थ शपथ लेना भी है। जैसे कहते है कि इसने अमुक पापके त्यागका प्रत्यय किया है, याने जैसे किसीको दोष कोई लोग लगायें, दूसरेका धन चुरानेका कोई आरोप करे तो कोई कहता है कि अजी यह तो चोरीके त्यागका प्रत्यय लिए हुए है। तो प्रत्ययका अर्थ कही शपथ ग्रहण करना है, कही प्रत्ययका अर्थ हेतु लिया जाता, कारण लिया जाता। जैसे कहते कि सस्कार अविद्याप्रत्ययक होता है अर्थात् अज्ञानके कारणसे सस्कार होता है। इस तरह भवप्रत्यय शब्दसे यह ध्वनित हुआ कि देव और नारकियोंके उस भवमे अवधिज्ञान होता ही है।

भवप्रत्ययक अवधिज्ञानमे भी अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमकी अनिवार्यता होनेपर भी भवप्रत्ययकता होनेके कारण—अब यहाँ एक आशका होती है कि भवप्रत्ययक अवधिज्ञान जो कहा है सो क्या उसमे अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमकी आवश्यकता नही है ? उत्तर यह है कि अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम तो अतरग कारण है याने अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम हुए बिना तो अवधिज्ञान हो ही नही सकता। वह तो एक अतरग और साधारण कारण है याने सर्वत्र अवधिज्ञानमे अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम होता ही है। फिर भी एक यह विशेषता बतानेके लिए कि एक देव और नारकीका भव ऐसा है कि उस भवमे अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है और अवधिज्ञान होता है। यदि अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशम बिना देव और नरकगतिमे अवधिज्ञान होने लगे तब तो यह आपत्ति होगी। यह प्रसग आयगा कि सभी देव और नारकियोमे फिर तो एक समान अवधिज्ञान होना चाहिए, लेकिन ऐसा वहाँ नही है। कम अधिक अवधिज्ञान पाये जाते है। तब फिर यह पूछा जा सकता कि फिर भव कारण क्या रहा ? जब अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमके अनुसार अवधिज्ञानकी विशेषता है तो उसमे भवकी बात क्या रही ? सो उसका उत्तर यह है कि तिर्यंच और मनुष्योंके तो कुछ न कुछ व्रत नियम आदिक होनेके कारण अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम और अवधिज्ञान होता है, परन्तु देव और नारकीके व्रत, तप आदिक नही होते, क्योकि देव और नारकियोंके अधिकसे अधिक चौथा गुणस्थान कहा गया है। सदा वे असयमी रहते है। तो व्रत, नियम आदिकका वहा अभिप्राय भी नही होता। वहाँ तो भवको निमित्त करके इस ही प्रकारका कर्मोदय है कि सयम नही हुआ करता। तब फिर वहाँ बाह्यसाधन क्या है ? सो तो कुछ है नही, याने मनुष्य और तिर्यञ्चोके बाह्यसाधन तो व्रत, नियम आदिक हैं, जिनकी विशेषता पाकर यथासम्भव योग्यतासे अवधिज्ञाय बनता है। तो जब बाह्यसाधन व्रत, नियम आदिक देव और नारकियोंके नही है तब भव ही एक बाह्यसाधन है, यह बात अपने आप सिद्ध होती है। इसी कारणसे देव और नारकियोके अवधिज्ञानको भवप्रत्ययक अवधिज्ञान कहा गया है।

समस्त देव नारकियोंमें सुअवधिज्ञान न होनेका कारण—अब यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि जब बाह्य साधन तो है नही, केवल भवका ही निमित्त पाकर होता है तब तो देव और नारकियोके अवधिज्ञान जैसे कहा तो मिथ्यादृष्टियोके भी अवधिज्ञान ही बनेगा। सो यह जिज्ञासा इस तरह शान्त करनी चाहिए कि देखो यह प्रकरण है सम्यक्ज्ञानके अधिकारका याने वस्तुका स्वरूप कहा जाता है तो उसके साधन बताये जा रहे है। प्रमाण और नयोसे वस्तुका अधिगम होता है। तो वस्तुकी यथार्थ जानकारी सम्यग्ज्ञानसे ही तो हो सकेगी। समस्त वर्णन इस प्रसगमे सम्यग्ज्ञानका चल रहा। मिथ्यादृष्टि जीवके अवधिज्ञान नही होता, किन्तु कुअवधिज्ञान, जिसका दूसरा नाम है विभग अवधिज्ञान, वह होता है। तब यह विभाग करना चाहिए कि देव और नारकियोमे सम्यग्दृष्टियोके तो अवधिज्ञान होता है और मिथ्यादृष्टियोके कुअवधिज्ञान होता है। तो पूर्व सम्बन्धसे यहाँ यह समझना चाहिए कि यह सम्यग्ज्ञानका प्रकरण है अथवा इस तरह भी समझ सकते है कि कुछ आगे चलकर यह कहा जायगा इसी अध्यायमे कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये विपरीत भी होते हैं—तो जब आगे विपर्ययका सकेत किया है तो उससे पहले-पहले यह सिद्ध हो जाता है कि यह सब सम्यग्ज्ञानका प्रकरण है।

देव नारकाणां शब्दमे देव शब्दको प्रथम कहनेका कारण—अब यहाँ एक आशका होती है कि आगममे जब भी गतिके भेद कहे गए है तो नरकगतिसे शुरू किया गया। गतियाँ चार होती हैं—(१) नरक, (२) तिर्यञ्च, (३) मनुष्य और (४) देव। तो जब नरक शब्दका प्रथम ही कथन होता है तो इस सूत्रमे नरक शब्दको पहले रखना था याने भव-प्रत्यय अवधिज्ञान नारक और देवोके होता है, ऐसा ही सूत्र बनाते, देव नारकाणा कहनेके बजाय नारक देवाणा, ऐसा कहना था। इस शंकाका समाधान करते है कि देखिये शब्दोके पूर्व निपात करनेके मुख्य दो कारण हुआ करते है। एक तो थोडे स्वर होना, दूसरा कुछ महिमा वाला होना। सो दोनो ही बाते देव शब्दमे घटित होती है। देव शब्दमे दो स्वर हैं जो कि तीन भाषाओमे है, और नारक शब्दमे तीन स्वर है जो कि चार मात्राओमे है। तो तो थोडे स्वर देव शब्दमे मिले, इस कारणसे देव शब्दको पहले रखा गया है। लोकप्रवृत्ति भी ऐसी ही देखी जाती है। अगर दो-तीन बच्चोका नाम लेना है तो जिस बच्चेके नाममे बहुत थोडे शब्द होते है उसका नाम पहले लिया जाता है। ऐसी प्राकृतिक बात भी है। तो इस ही कारण देव शब्द यहाँ पहले रखा है। दूसरा कारण यह है कि देवकी महिमा अधिक है। लौकिक जन भी देवगतिकी महिमा गाते है और देव होनेकी वाञ्छा भी रखा करते है और प्रयोगमे भी देवगतिके जीवोके सुख विशेष है उनको समवशरणमे जाना और अकृत्रिम चैत्यालयोकी वन्दना करना आदिक सुविधायें प्राप्त है, इसलिए देव अभ्यर्हित याने महिमा वाले है,

इस कारणसे देव शब्द ही पूर्वमे प्रयोग करनेके योग्य है ।

भवनवासी, व्यंतर व ज्योतिषी देवोके जघन्य व उत्कृष्ट अवधिज्ञानकी सीमा—अब इन देव नारकियोके अवधिज्ञान किस-किस प्रकार कम बढ होता ? इस विषयमे सर्वप्रथम देवो का अवधिज्ञान देखिये कि किसका कितना अवधिज्ञान होता है ? देव चार निकायोमे विभक्त है—(१) भवनवासी, (२) व्यन्तर, (३) ज्योतिषी और (४) वैमानिक । भवनवासी १० प्रकारके होते है—असुरकुमार, नागकुमार आदिक । तो जिनमे दोनो प्रकारके इन भवनवासियोके जघन्य अवधिज्ञान २५ योजनका होता है याने कमसे कम २५ योजन तककी बातको ये जान लेते है । उत्कृष्ट अवधिज्ञानमे असुरकुमारके भवनवासियोंका असख्यात कोडाकोडी योजन है, याने असुरकुमार भवनवासी देव अवधिज्ञानसे इतने बडे दूर तक याने असख्यात कोडाकोडी योजन तक जानेंगे, नीचे जानेंगे । ऊपरकी ओर नही है इतना ऊँचा अवधिज्ञान, और ऊपर जानेंगे तो ऋजुविमानके ऊपर तक ही जानेंगे याने इस मध्यलोकमे जो सुमेरुपर्वत है उसकी चोटी जहाँ समाप्त होती है वहाँ प्रथम कल्पका प्रथम विमान ऋजुविमान है । तो ऋजुविमानका जो ऊपरी हिस्सा है वहाँ तक जानेंगे, पर शेषके नागकुमार आदिक ६ प्रकार तो भवनवासी उनका अवधिज्ञान उत्कृष्ट तो असख्यात योजन है सो वह नीचे है । ऊपर तो केवल सुमेरुपर्वतकी चूलिका तक है, याने मध्यलोक तक ही इनका अवधिज्ञान ऊपर चलता है, नीचे विशेष है । और अगल-बगल याने पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तरकी ओर असख्यात योजन है । भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी—ये तीन देव खोटे देव माने गए हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्वमे मरण कर इन तीन प्रकारके देवोमे उत्पन्न नही होते । हाँ उत्पन्न हुए बाद पौरुषबलसे इनके सम्यग्दर्शन हो सकता है । अब व्यन्तरोमे कैसा अवधिज्ञान होता है ? तो व्यन्तर होते है ८ प्रकारके—(१) किन्नर, (२) किम्पुरुष, (३) महोरग, (४) गधर्व, (५) यक्ष, (६) राक्षस, (७) भूत, (८) पिशाच । तो इन ८ प्रकारके देवोका जघन्य अवधिज्ञान तो २५ योजन है, जैसा कि भवनवासियोका भी है, अच्छा और उत्कृष्ट अवधिज्ञान इनके असंख्यात हजार योजन है याने ये असख्यात हजार योजन तककी घटनायें जान लेते हैं, किन्तु यह उत्कृष्ट अवधिज्ञान नीचेकी ओर है ।

यहाँ एक बात और विशेष समझनी कि यह अवधिज्ञान शब्द ही यह बतला रहा है कि जो ज्ञान नीचे-नीचे अधिक-अधिक अवधि रखे उसे अवधिज्ञान कहते है । आठो प्रकार के व्यतरोका जघन्य अवधिज्ञान २५ योजन तकका है व इन ही व्यन्तरोका उत्कृष्ट अवधिज्ञान असख्यात हजार योजनका विषय वाला है और ऊपरमे अपने ही विमानसे अपर पर्यन्त मायने जो जिस विमानमे रह रहा है, जिस आवासमे रहता है उस आवासके ऊपर तक ही जान पाता है और व्यन्तरोका पूर्व पश्चिम आदिक दिशाओमे असख्यात कोडाकोडी योजन

है । ज्योतिषी देवोका जघन्य अवधिज्ञान संख्यात योजन तक का है और वह नीचेकी ओर है तथा नीचे ही उत्कृष्ट अवधिज्ञान असख्यात हजार योजन तक का है और ऊपर अपने विमानके ऊपर पर्यन्त और तिर्यक् रूपमें असख्यात कोडाकोडी योजन है ।

कल्पोपपन्न वैमानिक देवोके जघन्य व उत्कृष्ट अवधिज्ञानकी सीमा— अब वैमानिक देवोंकी चर्चा सुनो—वैमानिक देव दो भागोमे विभक्त है, (१) कल्पोपपन्न, (२) कल्पातीत । सोलह स्वर्गोको कल्प कहते है । सोलह स्वर्गोमे उत्पन्न हुए देवोका नाम कल्पोपपन्न है और सोलह स्वर्गोसे ऊपर जो नवग्रैवेयक, ६ अनुदिश और ५ अनुत्तर विमान है, इनमे उत्पन्न हुए देवोका नाम है कल्पातीत । तो प्रथम कल्पोपपन्न देवोकी बात कही जा रही है । इन वैमानिकोमे सौधर्म और ईशान दो स्वर्गोके देवोका जघन्य अवधिज्ञान तो उतना है जितना कि ज्योतिषी देवोका उत्कृष्ट अवधिज्ञान है अर्थात् असख्यात हजार योजन प्रमाण तक जघन्य अवधिज्ञान जानता है, और इन दो स्वर्गोके देवोका उत्कृष्ट अवधिज्ञान रत्नप्रभा नाम की पहली पृथ्वीके नीचे तक है, याने पहले नरक तक है । तीसरे और चौथे स्वर्गोके देवोका जघन्य अवधिज्ञान तो उतना है जितना प्रथम द्वितीय स्वर्गके देवोका उत्कृष्ट अवधिज्ञान याने इनका जघन्य अवधिज्ञान पहली पृथ्वीके नीचे तक है और उत्कृष्ट अवधिज्ञान दूसरी पृथ्वीके नीचे तक है, याने तृतीय चतुर्थ स्वर्गके देव अधिकसे अधिक दूसरे नरक तककी बात जान लेते है । ५वें, ६वें, ७वे, ८वें स्वर्गके देवोका जघन्य अवधिज्ञान उतना है जितना कि तृतीय, चतुर्थ स्वर्गके देवोका है, याने जघन्य रूपसे ये द्वितीय पृथ्वीके नीचे तकका हाल जानते हैं और उत्कृष्ट अवधिज्ञान तीसरे नरकके नीचे तकका जान लेता है । ९वें, १०वें, ११वें, १२वें स्वर्गके देवोका जघन्य अवधिज्ञान तृतीय पृथ्वीके नीचे तक है और उत्कृष्ट अवधिज्ञान चौथी पृथ्वीके नीचे तक है । १३वें, १४वे, १५वें, १६वें स्वर्गके देवोका जघन्य अवधिज्ञान चौथे नरकके नीचे तक है और उत्कृष्ट अवधिज्ञान ५वी पृथ्वीके नीचे तक है । सीता जी का जीव १६वें स्वर्गमे प्रतीन्द्र हुआ, जो कि अब भी १६वें स्वर्गका प्रतीन्द्र है । वह लक्ष्मण और रावणके जीवसे मिलनेके लिए नरकमे गया था और वहाँ उन दोनो आत्माओं को समझाया । लक्ष्मण और रावण ये दोनो जीव नरकमे थे । वहाँ सीताके जीवने सम्बोधा । ये दोनो भव्य जीव है, वहाँसे निकल कर तीर्थंकर होगे, और रावण जब तीर्थंकर होगा तो उनकी सभाका मुख्य गणधर सीताका जीव होगा । तो चूकि अवधिज्ञान जब इतना विस्तृत है १६वें स्वर्गका कि वह ५वें नरक तक की बात जान सकता है, फिर तो ये तीसरे चौथे नरकमे ही गए हुए थे । इस प्रकार कल्पोमे रहने वाले देवोके अवधिज्ञान वहाँ होता है ।

कल्पोत्तर वैमानिक देवोके अर्थात् ग्रैवेयक, अनुदिश व अनुत्तर विमानवासी देवोके जघन्य व उत्कृष्ट अवधिज्ञानकी सीमा—अब कल्पोत्तर जो देव हैं उनके वर्णनमे सर्वप्रथम

नवग्रैवेयक वाले देवोका वर्णन करते है । स्वर्गोके ऊपर ९ पटल है, इन पटलोको ग्रैवेयक कहते हैं और उन पटलोमे ग्रैवेयकवासी अहमिन्द्र देव होते है । यह स्थान लोकरचनामे पुरुषाकारकी ग्रीवा जैसा स्थान है और ९ पटल है, अत: उन्हे नवग्रैवेयक कहते हैं । एक-एक पटलमे बीचमे इन्द्रक विमान है और सब दिशाओमे व विदिशावोमे एक-एक विमान है । उन विमानोमे रहने वाले देव ग्रैवेयकवासी कहलाते है । चूकि यह स्थान पुरुषाकार लोकमे ग्रीवा के स्थानपर पडता है, इसलिए इसे ग्रैवेयक कहते हैं । ग्रीवा, कठ ये एकार्थवाचक शब्द है । जो लोग बैकुण्ठ मानते हैं, ठीक वैकुण्ठकी स्थिति और ग्रैवेयककी स्थिति करीब तुल्य है । वैकुण्ठ वाले भी यह मानते हैं कि तपश्चरण करके जीव बैकुण्ठमे पहुचता है और वहाँ आनद भोगता है, निर्दोष है, कषायरहित है । फिर कुछ कल्प काल बाद उसको जन्म लेना पडता है । तो ग्रैवेयकवासी देवोकी भी ऐसी स्थिति है कि साधु मुनि निर्ग्रन्थ होकर तपश्चरण करके ही ग्रैवेयकमे उत्पन्न हुआ जाता है । निर्ग्रन्थ साधुके अतिरिक्त वहाँ किसीकी उत्पत्ति नही हो सकती । और उनकी स्थिति अधिकसे अधिक ३१ सागर प्रमाण है, जो लोगोकी समझसे बाहर है कि कितने समय तक वे वहाँ रहते है ? इसमे अनगिनते वर्ष लग जाते हैं । ग्रैवेयकवासी देव अनेक सम्यग्दृष्टि भी होते हैं और अनेक मिथ्यादृष्टि भी होते है । सभी शुक्ल लेश्या वाले हैं, पवित्र भाव वाले है । उनके चित्तमे अशान्ति आकुलता नही है, कामवासना भी नही है, उनके देवियाँ भी नही होती, किन्तु अपनी आयु पूर्ण करके उन सबको जन्म लेना पडता है । तो इन नवग्रैवेयक देवोका जघन्य अवधिज्ञान तो ५वी पृथ्वीके नीचे तक है और उत्कृष्ट अवधिज्ञान छठी पृथ्वीके नीचे तक है । ग्रैवेयकके ऊपर ९ अनुदिशकी रचना है । इनका पटल एक ही रहता है । उस एक पटलके बीचमे इन्द्रक विमान चार दिशाओमे चार विमान व विदिशावोमे भी चार विमान हैं, इस तरह कुल ९ विमान होते है और इन ९ विमानोकी सख्याके आधारपर इन्हे ९ अनुदिश कहा जाता है । तो इन ९ अनुदिशवासी देवो के उत्कृष्ट अवधिज्ञान लोकनाली पर्यन्त अर्थात् नीचे तो ७वें नरकके नीचे तक और ऊपर भी लोकनालीके अन्त तक इनका अवधिज्ञान है । और इस प्रकार अनुदिशके ऊपर रहने वाले ५ अनुत्तर विमानवर्ती देवोका अवधिज्ञान है । अनुदिशके ऊपर एक पटल है, जिसके बीचमे सर्वार्थसिद्धि और पूर्व आदिक दिशामे विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नामके विमान है । उनमे रहने वाले देव बहुत शान्त और सदा तत्त्वचर्चा करने वाले होते हैं । इनका भी अवधिज्ञान लोकनाली पर्यन्त है । इस अनुत्तर स्थानके ऊपर एक पृथ्वी है, जिसका नाम है सिद्धशिला । इस सिद्धशिलापर सिद्धभगवान नही रहते हैं, सिद्धभगवान तो उससे ऊपर रहते है, मगर इस पृथ्वी और सिद्धशिलाके बीचमे कुछ निवासस्थान भी नही है । इस कारण इसका नाम सिद्धशिला रख गया । वैमानिक देवोका यह अवधिज्ञान सबसे नीचे कितना है, क्योकि

उत्कृष्टता नीचेकी ओर अवधिज्ञानकी ज्यादा रहती है। अब ऊपर कितना है ? तो सौधर्म आदिक स्वर्गोमे रहने वाले जीवोका तथा ग्रैवेयक अनुदिश व अनुत्तर विमानवासी देवोका ऊपरकी ओर अवधिज्ञान कितना ? वे अपने विमानके ऊपर तकका ही अवधिज्ञान रखते है और तिर्यक् रूपमे असख्यात कोडाकोडी योजन तक अवधिमे उनका ज्ञान जानता है। इस प्रकार भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवोके कहाँ-कहाँ तक होता है, इसका वर्णन हुआ।

नारकियोंके अवधिज्ञानकी सीमा—अब थोडासा नरकमे रहने वाले जीवोके अवधिज्ञानका वर्णन सुनो। नीचेकी ओर इनका अवधिज्ञान कितना है, रत्नप्रभा नामक पहली पृथ्वी में एक योजन तक अवधिज्ञान है अर्थात् ४ कोश प्रमाण तक उनका अवधिज्ञान है, याने इतने नीचे तककी बात वे जानते है। दूसरी पृथ्वीमे याने नरकमे रहने वाले नारकियोका अवधिज्ञान साढे तीन कोश तकका होता है मायने साढे तीन कोश तकके क्षेत्रमें होने वाली घटनाओ और वस्तुवोका ज्ञान होता है। तीसरे नरकमे रहने वालोका अवधिज्ञान तीन कोश तककी घटना जानना है। चौथे नरकमे निवास करने वाले नारकियोका अवधिज्ञान ढाई कोश तककी बात जानता है। ५वें नरकमे निवास करने वाले नारकियोका अवधिज्ञान दो कोश तककी बात जानता है और छठे नरकमे रहने वाले नारकियोका अवधिज्ञान डेढ कोश तककी बातको जानता है और ७वें नरकमे रहने वाले नारकियोका अवधिज्ञान एक कोश तककी घटनाको जानता है। इनके भी नीचे-नीचे अवधिज्ञान ऊपरकी अपेक्षामे विशेष रहता है और सभी पृथ्वियोमे सभी नारकियोका अवधिज्ञान ऊपरसे उतने ही क्षेत्र तक है जितना कि उनका आवास स्थान है और दिशाओकी ओर असख्यात कोडाकोडी योजन तक ज्ञान रहता है। इनके अवधिज्ञान तिर्यक् रूपमे विशेष पाया जाता है। इस तरह भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियोके होता है। इस सूत्रका वर्णन समाप्त हुआ। अब यह जिज्ञासा स्वयमेव होगी कि भवप्रत्यय अवधिज्ञान तो देव और नारकियोके होता है, तो क्षयोपशमहेतुक अवधिज्ञान किन जीवोके होता है, इसका उत्तर अगले सूत्रमे किया गया है।

क्षयोपशमनिमित्त षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥२२॥

क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञानकी निष्पन्नता—क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान शेष जीवोके होता है। यहाँ शेपसे मतलब है ऊपर कहे गए देव नारकियोको छोडकर बाकी जो मनुष्य तिर्यञ्च बचे है उनका याने मनुष्यगति और तिर्यञ्च गतिमे जिन जीवोको अवधिज्ञान होता है वह क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान होता है। इस क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञानके ६ प्रकार है, जिनका वर्णन आगे किया जायगा। अभी क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञानका व्युत्पत्तिपूर्वक अर्थ सुनना है। क्षयोपशम नाममे तीन शब्द पडे है—क्षय, उपशम, और निमित्त, याने आवरण कर्मके क्षय और उपशमसे होने वाले ज्ञानको क्षयोपशमनिमित्तक कहने

है। सो इसमे शब्द जरूर दो दिए गए हैं—क्षय और उपशम, पर लेना है तीन शब्द—क्षय उदय और उपशम याने अवधिज्ञानावरणके ही स्पर्धकोका उपशम भी हो, उदयाभावरूप क्षय भी हो, उदय भी हो, ऐसी स्थितिमे अवधिज्ञान होता है। क्षयसे मतलव समस्त रूपसे क्षयका नही है, क्योंकि चार ज्ञानावरणोका क्षय तव ही होता है जव केवलज्ञानावरणका क्षय होनेको होता है। इससे पहले इन चार ज्ञानावरणोका भी क्षय नही है, किन्तु यहाँ क्षयका नाम है उदयाभावी क्षय याने उदय हो और एक समय ही पहले वह अन्य रूप परिणमे, किसी भी प्रकार उसका फल न मिल सके वह उदयाभावी क्षय है। अथवा उसे इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि उदयके होनेपर क्षय हो याने अवधिज्ञानावरणके देशघाती स्पर्धको का यदि उदय हो, उसके होते सते सर्वघाती स्पर्धकोका उदयाभावरूप क्षय हो, उसे कहते हैं यहाँ क्षय और उपशम वह कहलाता है कि सर्वघाती स्पर्धकोका जो कि उदयमे नही आ रहे उनकी सद्अवस्थारूप उपशम हो याने वह सत्तामे पडा रहे, उदयमे न आ सके, ऐसी स्थितिको कहते है उपशम। तो ऐसे क्षय और उपशम जिसका निमित्त है, हेतु है उसे कहते है क्षयोपशमनिमित्तक। ऐसा अवधिज्ञान शेपके अर्थात् मनुष्य और तिर्यञ्चोके ही होता है। यहा शेषके वताया, इससे यह अर्थ लेना कि एक इन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तक सभी तिर्यञ्चो के अवधिज्ञान होता है और सभी मनुष्योके होता है, यह अर्थ यहा न लेना, क्योकि असज्ञी जीवोमे तो अवधिज्ञानकी सामर्थ्य ही नही है और सज्ञी जीवोमे भी सबके अवधिज्ञान नही होता, किन्तु जिन जीवोके शान्ति, समता, अनाकुलता कुछ विशेष हो और सम्यग्दर्शन आदिक परिणामोका निमित्त मिलनेपर उन शान्त और क्षीणकर्म वाले जीवोंके अवधिज्ञानकी उपलब्धि होती है।

सभी अवधिज्ञानोकी अवधिज्ञानावरण क्षयोपशम हेतुकता होनेपर भी इस सूत्रके पृथक् कथनका रहस्य—इस सूत्रमे 'शेषाणा' ऐसा जो कहा है उसका अर्थ निवारणात्मक है अर्थात् देव और नारकियोके तो बता ही दिया था। उनको छोडकर बाकी जीवोमे होता है। सो बाकी जीव मनुष्य और तिर्यञ्च गतिके जीव है। उनमे जो योग्य हैं, जिनके अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम है उन जीवोके अवधिज्ञान होता है। यहाँ एक आशका और हो सकती है कि अवधिज्ञान तो सभीके अवधिज्ञानावरणोके क्षयोपशमसे होता है। देव हो, नारकी हो, तिर्यञ्च हो, मनुष्य हो, अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमके बिना किसी को भी अवधिज्ञान नही हो सकता। फिर क्षयोपशमनिमित्तक है ऐसा कहना व्यर्थ है। इस आशकाका उत्तर यह है कि जब कभी स्वयं सिद्ध बात होती है और उसे भी कहा जाय तो उसका नियम वाला अर्थ बन जाता है। जैसे पानी तो सभी मनुष्य पीते हैं। कोई ऐसा नही है जो पानी न पीता हो, फिर भी किसीके विषयमे यदि यह कहा जाय कि वह तो पानी लेता है तो

इसका अर्थ यह बनेगा कि वह पानी ही लेता है और कुछ नही लेता। तो इसी तरह जब सभी अवधिज्ञान क्षयोपशमनिमित्तक होते है और फिर भी कहा जाय कि क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान मनुष्य तिर्यञ्चोंके होता है तो उसका नियम बन जाता है। याने मनुष्य और तिर्यञ्चोंके क्षयोपशमके निमित्तक ही अवधिज्ञान होता है, दूसरा नहीं होता याने भवप्रत्यय नहीं होता। जैसे किसी सज्जनके बारेमे कहे कि यह तो पानी लेता है तो उसका यही अर्थ बनता है कि यह पानी ही लेता है, अन्नादिक नही ले रहा। तो ऐसे ही यहाँ यह नियम बनेगा कि शेष जीवोंके क्षयोपशमका निमित्तक ही अवधिज्ञान होता है, भवप्रत्ययक अवधिज्ञान नहीं होता।

प्रमाणमे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है, उस प्रमाणसे बढता हुआ ही चला जाय, जितना कि उसका उत्कृष्ट विकास है याने असख्यात लोकपर्यन्तकी जान सके उतना तक अवधिज्ञान बढता जाय तो ऐसे बढनहार अवधिज्ञानको वर्द्धमान अवधिज्ञान कहते है। चौथा अवधिज्ञान है हीयमान अवधिज्ञान। जो गुण आत्माने प्राप्त किया है सम्यग्दर्शन आदिक उनकी हानि हो, संक्लेश परिणामकी वृद्धि हो, ऐसा योग बन जाय तो उस समय जिस परिमाणमे सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ था उससे घटता हुआ ही रहे, कहा तक घट सकता फिर यह ? अगुलके असख्यातवें भाग तक। देव और नारकियोके अवधिज्ञानका क्षेत्र कमसे कम भी बताया गया था तो एक कोशसे कम किसीका न था। मगर मनुष्य तिर्यचोमे कमसे कम अवधिज्ञान जगे तो अगुलके असख्यातवें भाग क्षेत्र तक ही जाने, इतना मामूली अवधिज्ञान हो और उत्कृष्ट अवधिज्ञान हो मनुष्योंके तो असख्यात लोकको, सारे लोकको जान ले। इतना ऊँचा अवधिज्ञान देव और नारकियोमे नही होता और इतना नीचा अवधिज्ञान भी देव और नारकियोमे नही होता। तो जो क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान है वह यदि हीयमान भेद वाला है तो वह घटता-घटता जघन्य तक हो सकता है। ५ वें अवधिज्ञानका नाम है अवस्थित अवधिज्ञान। सम्यग्दर्शन आदिक गुणोके अवस्थित होनेसे एक रूप परिणामोंके विशुद्ध रहनेसे जिस परिमाणमे अवधिज्ञान उत्पन्न होता है उसी परिमाणमे ही अवधिज्ञान रहे, उससे न बढे, न घटे उसे कहते है अवस्थित अवधिज्ञान। यह अवस्थित अवधिज्ञान कब तक अवस्थित रहता है ? ज्यादहसे ज्यादह जीवन तक रहता है या केवलज्ञान उत्पन्न होने तक रहता है याने केवलज्ञान उत्पन्न हो तब तो रहता ही नही, मगर उससे पहले तक चलता है। छठे अवधिज्ञानका नाम है अनवस्थित अवधिज्ञान। सम्यग्दर्शन आदिक गुणोकी वृद्धि और हानि होनेके योगसे बढे और घटे याने जिस प्रमाणमे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ था उससे बढे, कभी घटे, इस तरह की बातें चलें तो उसे कहते है अनवस्थित अवधिज्ञान। जैसे कि जब जलमे हिलोरें उठती हैं तो कभी बढती, कभी घटती, इस तरहसे चलती रहती हैं इसी प्रकार यह अनवस्थित अवधिज्ञान होता है। इस प्रकार क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञानके ८ भेद कहे गए है। अब दूसरी प्रकारसे अवधिज्ञानके भेद कहे जाते है।

त्रिविध अवधिज्ञानका विवरण—अवधिज्ञान तीन प्रकारका होता है—देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। देशावधि शब्दका अर्थ है एकदेश अवधिज्ञान, अल्प अवधिज्ञान। परमावधिका अर्थ है परम अवधि, अधिक विशेष अवधिज्ञान, और सर्वावधिका अर्थ है सर्वांश पूर्ण जितना अवधिज्ञान हो सकता है वह समस्त अवधिज्ञान। इन तीन प्रकारके अवधिज्ञानोसे देशावधि तीन प्रकारका होता है—जघन्य, उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्ट याने मध्यम। जघन्यका अर्थ है—बहुत थोडी जगहका जान सकना। थोडे समयको जान सकना, यह तो है जघन्य

और बहुत दूर तककी जान सकना और बहुत अधिक काल तककी जान सकना—यह कहलाता है उत्कृष्ट और इन दोनोके बीच जितने भी और स्थान है वे सब कहलाते है मध्यम। इसी प्रकार परमावधि भी तीन प्रकारसे है– जघन्य, उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्ट याने न जघन्य, न उत्कृष्ट, किन्तु बीचका। सर्वावधि ज्ञान एक किस्मका है। उसमें भेद नही है, क्योकि वह तो एक सपूर्ण अवधिज्ञान है। तो अब देशावधिज्ञानका जघन्य क्षेत्र काल आदिक क्या है और उत्कृष्ट क्या है, यह समझनेसे पहले थोडा यह मनमे अवधारण करना कि परमावधि और सर्वावधि तो सयमी मुनियोके होता है और उन मुनियोके जिनके कि केवलज्ञान होगा और देशावधिज्ञान मुनियोके और श्रावकोके सम्यग्दृष्टिके होता है और यदि कुत्सित अवधिज्ञान है तो मिथ्यादृष्टियोके होता है।

देशावधिज्ञानकी जघन्य व उत्कृष्ट सीमा—देशावधिज्ञान कमसे कम कितने क्षेत्र तक की जाने? वह है उत्सेधांगुलका असख्यातवां भाग याने एक अगुलकी जितनी लम्बाई है उसकी जो एक रेखा सी है उसके अनगिनतवाँ भाग दूर तक की जाने। कुछ समझमे ऐसा आ रहा होगा कि यह तो कुछ भी क्षेत्र नही है, यह तो शरीरके बाहर एक रोम बराबर जगह भी नही है कि जितना कि एक रोम मोटा हो उतने क्षेत्रकी बात जाने वह देशावधि है। इसका क्या रहस्य है? तो भाई रहस्य क्या? यह तो ज्ञानकी एक कला है। इतना भी न जान सकते थे जिसके अवधिज्ञानावरणका उदय है, तो क्षयोपशम तो आया। इतना जाना तो सही इन्द्रिय और मनकी सहायताके बिना। यह जीव तो इतना परतत्र है कि मन और इन्द्रियके साधन बिना यहाँ जान ही नही पाता। यद्यपि जाननेवाला आत्मा ही है लेकिन मन और इन्द्रियके साधन बिना यह जान नही पा रहा। तो कमसे कम एक परतंत्रता तो मिटी, केवल आत्मीय शक्तिसे तो जाना। तो देशावधिका जघन्य क्षेत्र है—उत्सेधागुल का असख्यातवाँ भाग और देशावधिका उत्कृष्ट क्षेत्र कितना है? अधिकसे अधिक जाने तो कहाँ तक जाने? तो वह है सारा लोक। जितना ३४३ घनराजू प्रमाण लोक है उस सबको जान जाता है और मध्यम इन दोनोके बीच संख्याते विकल्प है। सख्याते प्रकार है वह है अजघन्योत्कृष्ट। जब अवधिज्ञान बाहर की चीजको जानता है तो उसी बाहरी क्षेत्रमे कमसे कम क्षेत्र समझना और अधिकसे अधिक क्षेत्र समझना तो वह है कमसे कम अगुलका असख्यातवा भाग और अधिकसे अधिक सर्व लोक।

परमावधि व सर्वावधिज्ञानकी सीमा—परमावधिका जघन्य क्षेत्र क्या है? उसका क्षेत्र है देशावधिके क्षेत्रसे एक प्रदेश अधिक याने देशावधिज्ञान उत्कृष्टसे जितने दूर तकके क्षेत्रकी बात जानता है उससे एक प्रदेश अधिक परमावधिका जघन्य क्षेत्र है याने जितना लोक है उससे एक प्रदेश अधिक। यहा शका की जा सकती कि लोक तो जितना है सो है ही और

अवधिज्ञानका विषय है रूपी पदार्थ। उस सबको जान लिया उत्कृष्ट देशावधिज्ञानने। अब उसके बाहर तो कुछ है ही नही, पर परमावधिका जघन्य क्षेत्र इस तरह कैसे कहा जा रहा है ? भाई उत्तर यह है कि नही है बाहर रूपी पदार्थ सो न जानेगा, लेकिन क्षयोपशम इतना है कि इसके आगेकी जान सकता है। परमावधिका उत्कृष्ट क्षेत्र है असख्यात लोक प्रमाण। अब लोक तो एक है लेकिन शक्ति इतनी है कि ऐसे असख्यात लोक हो तो वे भी जाननेमे आयेंगे परमावधिज्ञानीके ज्ञानमे, और मध्यम है इसके बीचका क्षेत्र। अब सर्वावधि ज्ञानका जघन्य और उत्कृष्ट क्षेत्र सुनो। उत्कृष्ट परमावधिक्षेत्रसे बाहर असंख्यात क्षेत्र तक जानता है सर्वावधिज्ञान। यह सर्वावधिका क्षेत्र है, न वहाँ जघन्य है, न उत्कृष्ट है। यहाँ सक्षेपसे यह जानना कि देशावधिका जघन्य क्षेत्र है अगुलका असख्यातवाँ हिस्सा और उत्कृष्ट है सारा लोक और सारे लोकसे एक प्रदेश अधिक यह है परमावधिका जघन्य क्षेत्र और उत्कृष्ट है। असख्यात लोक और इससे बाहर असख्यात क्षेत्र, और भी मिलकर सर्वावधिका क्षेत्र होता है।

देशावधि, परमावधि व सर्वावधिज्ञानमे अष्टविध विशेषताओसे विशेषताका दिग्दर्शन— अब देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ज्ञानमे परस्पर भिन्नता समझनेके लिए आठ प्रकारके भेदोका सहारा लें। जैसे कि ऊपर कहा गया था कि अवधिज्ञान ६ प्रकारका होता है—(१) अनुगामी, (२) अननुगामी, (३) वर्द्धमान, (४) हीयमान, (५) अवस्थित और (६) अनवस्थित। इन ६ के अतिरिक्त दो भेद और लगायें—प्रतिपाती और अप्रतिपाती। इसका अर्थ है कि जो अवधिज्ञान छूट जायगा वह तो है प्रतिपाती और जो अवधिज्ञान छूट न सके, किन्तु उसके बाद केवलज्ञान हो ऐसे अवधिज्ञानको कहते है अप्रतिपाती। तो यो अवधिज्ञानकी भिन्नता समझनेके लिए ८ प्रकारके भेद जानना चाहिए। इनमेसे देशावधिज्ञानमे तो ये ८ ही भेद होते है। देशावधिज्ञान अनुगामी होता है याने अन्य क्षेत्रमे जाय, अन्य भावमे जाय और अननुगामी भी होता याने न भी जाय। वर्द्धमान होता। जिस तादादमे उत्पन्न हुआ उससे बढता ही रहे और हीयमान भी होता याने यह घटता रहे। अवस्थित होता। ज्यो का त्यो रहे और अनवस्थित होता याने कभी घटे, कभी बढे। देशावधिज्ञानकी बात कही जा रहा है। वह प्रतिपाती भी हो सकता, अप्रतिपाती भी हो सकता। याने छूट जाय और न भी छूटे, याने केवलज्ञान होकर ही छूटे। ऐसे आठो ही प्रकार देशावधिज्ञानमे सम्भव है। परमावधि ज्ञानमे हीयमान और प्रतिपाती ये दो भेद नही होते, बाकी ६ भेद होते है।

देखो परमावधि ज्ञान नियमसे केवलज्ञान होने तक रहता है, केवलज्ञान हुए बाद ही निवृत्त होता है याने ज्ञानकी पर्याय अवधिज्ञानरूप चल रही है। चल रही है उसके अनन्तर ही केवलज्ञानकी पर्याय होती है तब अवधिज्ञान रहता ही नही। उस अवधिज्ञानका व्यय और केवलज्ञानका उत्पाद वे एक ही समयमे है। तो जो अवधिज्ञान केवलज्ञान उत्पन्न करके ही निवृत्त होगा उसे प्रतिपाती कैसे कहा जायगा ? यह एक स्थिति उत्कृष्ट है कि केवलज्ञान

होनेपर छूटा तो छूट ही गया। केवलज्ञानमें तो और विषय बढ़ गया। अब यह ज्ञान तीन-लोक अलोककी बात जानने लगा। इसी प्रकार परमावधि ज्ञानमे हीयमान प्रकार नही होता याने परमावधि घटता जाय यह स्थिति नही आती। जिस अवधिज्ञानके बाद केवलज्ञान होगा तो उस ज्ञानमे तो अतिशय ही बढता जायगा। घटनेका कोई सवाल नही। सर्वावधि ज्ञानमे चार ही भेद होते है—(१) अवस्थित, (२) अनुगामी (३) अननुगामी (४) अप्रतिपाती। इसका कारण यह है कि सर्वावधिज्ञान एक ही प्रकारका होता है। उसका जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट क्षेत्र नही होता। जो है सो ही होता है। तो जब जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट नही है तो बढने घटनेकी बात कैसे हो सकती? बढने घटनेका तो अर्थ यह ही है कि कभी आगेके क्षेत्र को जानने लगे, कभी कम जानने लगे और वह तो एक ही प्रकारका है तो वर्द्धमान हीयमान भेद नही, अनुगामी, अननुगामी होते है, इसका भावार्थ क्या है? अनुगामीका तो अर्थ यह है कि जहाँ-जहाँ जाय वहाँ-वहाँ सर्वावधि भी रहे। मिटता नहीं, क्योकि अनुगामीमे तीनो प्रकार होते है। इनका मरण तो होता नही, निर्वाण होगा तो अगले भवमे सर्वावधिज्ञान जाता कि नही। इसका प्रश्न ही नही उठता, पर एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमे वे मुनिराज जायें तो अवधिज्ञान भी साथ ही जाता, मिटता नही है। यह कहलाया अनुगामी अवधिज्ञान और अनुगामीपना कैसे होता? मायने साथ न जाय---यह तो हल्की बात जचेगी? उत्तर सुनो—केवलज्ञान जब हो गया तब आगे नही जाता, इस दृष्टिसे सर्वावधिको अननुगामी जानना है। ऐसी ही दृष्टि परमावधिमे लेना। अप्रतिपाती तो है ही याने गिरेगा नही, बढता ही चला जायगा। केवलज्ञान होगा तो अवधिज्ञान स्वय न रहेगा और साथ ही ऐसा एक सर्वावधिज्ञान अवस्थित ही होता है।

देशावधिज्ञानका जघन्य क्षेत्रसीमाके साथ कालसीमाका परिचय—अच्छा ऐसे सामान्य वर्णनके बाद अब इसकी विशेपताओको कालके साथ सुनो। तीन प्रकारके अवधिज्ञान कहे गए—देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। देशावधिका जघन्य क्षेत्र है उत्सेधागुलका असख्यातवा भाग। तो जो इतना ही मात्र जान पा रहा है अवधिज्ञानके द्वारा अगुलका असख्यातवाँ भाग तो उसका समय कितना याने कितने समय पहले बादकी बात जानेगा? तो वह समय है आवलीका असख्यातवाँ भाग। आवली बहुत छोटा समय कहलाता। आँखकी पलक जितनी देरमे गिरती है उतनी देरमे अनगिनते आवली समय गुजर जाते हैं। उसमेंसे एक आवलीका असख्यातवाँ भाग जघन्य काल है। यह बात सुनकर भी क्षेत्रकी तरह एक अचरज वाली बात होगी कि यह भी कोई काल है? याने जघन्य देशावधि ज्ञानी आवलीके असख्यात भाग आगे पीछे की बात जानता है। अरे इतने समयमे तो एक डेढ़ शब्द भी नही बोला जा सकता। इतने छोटे कालकी बात जानना है। इसका आश्चर्य न करना

चाहिए ।

कारण यह है कि वह अब इन्द्रिय और मनका आलम्बन तजकर एक जाननेकी स्थितिमे तो आया । चाहे कितना ही जाना हो, केवल आत्मीय शक्तिसे तो जाना, प्रत्यक्ष तो जाना, स्पष्ट तो जाना । अच्छा तो जो देशावधिज्ञान सर्व जघन्यरूपसे उत्सेधागुलके असख्यातवें भाग जगहकी जाने और आवलीके असख्यातवें भाग जगहकी जाने और आवलीके असख्यातवें भाग कालकी जाने तो वह द्रव्य जितना जानेगा । तो द्रव्य भी उस सर्व जघन्य देशावधिका जो विषय क्षेत्र है अगुलका असख्यातवा भाग उतने ही प्रदेश प्रमाण द्रव्यको जानेगा । इतना स्थूल पदार्थ जानेगा जिसमे कि अनन्त प्रदेश होते है और भाव कितना जानेगा ? तो भावके मायने हैं जिस पदार्थको जाना जा रहा है उस पदार्थमे पाये जाने वाले अनन्त वर्णादिक जो विकल्प है याने उन पर्यायोकी जो हीनाधिकता आदिक अविभागप्रतिच्छेद वाली पर्याय है वह भाव कहलाती है, उसे जाने; यह तो हुआ सर्वजघन्य देशावधिज्ञान का वर्णन ।

देशावधिज्ञानकी अजघन्योत्कृष्ट व उत्कृष्ट क्षेत्रसीमाके साथ कालसीमाका परिचय— अब इसके बाद बढ़े ही बडे ज्ञान होंगे । तो एक जीव जो जघन्य देशावधिज्ञानमे है वह इससे आगे और बढे तो एक प्रदेश आगे न बढेगा, वह विशेष आगे बढेगा । हाँ नाना जीवोकी अपेक्षा ये सब बाते मिल जायेंगी कि कितने जीव सर्व जघन्य अवधिज्ञानके क्षेत्रसे एक प्रदेश अधिककी बात जानेगा, पर वही एक जीव अवधिज्ञानमे बढेगा तो पहली बारमे एक ही साथ अनेक डिग्रियोकी वृद्धि कर पायगा, एवकी नही कर सकता । जैसे मेढक उछलता है तो उससे कहे कोई कि तू बस एक सूत आगे ही उछल तो वह उछल तो न पायगा । तो जैसे मेढक उछलता है तो उन उछालोमे जघन्य उछाल कितनो है ? कमसे कम कितनी दूर उछलेगा ? उसका उत्तर कोई देगा तो एक सूतका तो न देगा । आधा इचका भी न देगा । उछाल तो उसकी कमसे कमकी भी अधिक है । जितना भी देगा कमसे कम, सो वह हुई मेढकके उछलने की पहली वृद्धि । इस तरहसे बढते-बढते यह अवधिज्ञान सर्व लोक पर्यन्त बढ जाता है । अब थोडा सक्षेपमे इसके एक मोटे-मोटे बढावकी बात सुनो । जो बढ-बढकर एक अगुल दूरकी बात जानने लगा, ऐसा जिसके अवधिज्ञान हो याने आत्मा जितने क्षेत्रमे है, देह प्रमाण है ना, तो देहका जितना प्रमाण है उतनी जगह आत्मा है तो उस क्षेत्रसे बाहर एक अगुल प्रमाण मानो जान लिया तो ऐसा जानने वाला जीव कालकी अपेक्षा कितने समय पहले और बादकी बात जानेगा ? तो उसका काल होगा कुछ कम एक आवली काल । यह भी एक अभी तक हैरानीका उत्तर जैसा है । एक आवली होती ही कितनी है ? एक पलक गिरनेमे असख्यात आवली होती है । फिर भी कितना ही हो, जाना तो कुछ विशेष ही । अब इसके आगे बढ-

बढकर जो जीव ७-८-६ अंगुल तककी बात जानने लगा तो उसका समय होगा एक आवली प्रमाण। कोई जीव एक हाथ दूर तककी बात जानने लगा अवधिज्ञानके द्वारा तो उसका काल होगा आवलीपृथक्त्व उसे ६ तकके अदर आवलियाँ। जो जीव एक गव्यूति प्रमाण क्षेत्र अर्थात् दो कोश तककी बात अवधिज्ञानसे जाने तो ऐसा जीव कितने पीछे तककी बात जानेगा? कुछ अधिक उच्छ्वासके काल बराबर। जो अवधिज्ञान एक योजन (चार कोश) तककी बात जान लेगा तो वह कितने समय आगे पीछे जानेगा? तो वह है अन्तर्मुहूर्त। कुछ मिनट पहले और पीछेकी बात जान लेगा। जो जीव २५ योजन प्रमाण क्षेत्र तकका जाननेका सामर्थ्य रखता है अवधिज्ञानसे तो वह कितना आगे पीछे कालकी बात जानेगा? तो उसक काल है कुछ कम एक दिनका। मायने एक दिन पहले व बादकी बात अवधिज्ञानसे जान ले। देखिये यहाँ बहुत वृद्धि होनेके बाद इतना समय आ पाया। यहाँ एक बात और समझनेकी है कि समयका तो प्रमाण कम बढ़ता है और क्षेत्रका प्रमाण ज्यादा-ज्यादा बढ रहा है। जो जीव भरतक्षेत्र तककी बात जान सकता है अवधिज्ञानसे, जिसके अवधिज्ञानका क्षेत्र इतना बडा हो गया है उसके कालका कितना समय है? कितना आगे पीछेकी बात जान ले? तो उसका काल है आधा महीना (१५ दिन) और जो जीव जम्बूद्वीप तकके क्षेत्रकी बात अवधिज्ञानसे जानता है उसका काल कितना है? मायने कितना आगे पीछे तककी बात जान सकता है? तो उसका काल है कुछ अधिक एक महीना। और जो जीव मनुष्यलोक तककी बात जान सकता है तो वह कितना आगे पीछे तककी बात जानेगा? तो उसका काल है एक वर्ष और जो रुचकगिरि पर्यन्त जानता है उसका काल है ७-८ वर्ष। और जो सख्यात द्वीप समुद्रकी बात जानता है उसका काल है सख्याते वर्ष और जो असख्यात द्वीप समुद्रके क्षेत्रको बात अवधिज्ञानसे जानता है उसका काल है असंख्यात वर्ष का। इनके आगे पीछे भूत भविष्यकी बात जान लेगा। इस तरह यह सामान्यतया याने तिर्यञ्च और मनुष्योका जघन्य और उत्कृष्ट ज्ञान है।

सिर्फ तिर्यंचोंके अवधिज्ञानकी जघन्य और उत्कृष्ट सीमाका परिचय—सिर्फ तिर्यंचो को उत्कृष्ट देशावधिज्ञान कितना याने गाय, भैंस, घोडा आदिक जो सज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव है उनके भी अवधिज्ञान हो जाता और उनमे भी सम्यग्दृष्टि जीव पाये जाते है, तो उनके अवधिज्ञानका क्षेत्र कितना है उत्कृष्ट? तो वह है असख्यात द्वीप समुद्र, और असख्यात वर्ष काल और तैजसशरीरप्रमाण द्रव्यको जानता है। तो देशावधिकी बातमे एक यह भी अन्तर जानना कि कमसे कम देशावधिज्ञान मनुष्यके होगा, तिर्यंचके नही। और ऊँचेसे ऊँचा देशावधिज्ञान मनुष्यमे होगा, तिर्यंचोके नही। और तिर्यंचोके केवल देशावधिज्ञान ही हो सकता है, परमावधि और सर्वावधि ज्ञान नही होते। ये तो मनुष्योंके ही होते है। अब मनुष्योका उत्कृष्ट

देशावधिज्ञान असंख्याते द्वीप समुद्र तकको जानता है और असंख्याते कालके भूत भावीको जानता है, और द्रव्यादिक इतना छोटा जानते जितना कि कार्माण द्रव्य होता है। इस तरह देशावधिका वर्णन समाप्त हुआ।

परमावधिज्ञानकी जघन्य व उत्कृष्ट सीमा और विशेषता—अब परमावधिका वर्णन करेंगे। जो उत्कृष्ट देशावधिज्ञानका क्षेत्र और काल है, जैसा कि बताया गया है कि असंख्याते द्वीप समुद्र तो क्षेत्र है और असंख्याते वर्ष काल है और द्रव्य है कार्माण द्रव्य बराबर अवधिज्ञानका विषय। तो इस देशावधिज्ञानसे कुछ अधिक क्षेत्र काल परमावधिका जघन्यरूपसे विषय है और उत्कृष्ट परमावधिका क्षेत्र है असंख्याते लोकप्रमाण अर्थात् असंख्याते लोक है याने कितने असंख्यात ? जितनी कि अग्निकायिक जीवोकी संख्या है, इतने लोकप्रमाण उत्कृष्ट परमावधिका क्षेत्र है। इसमे अवधिज्ञानके सामर्थ्यकी महिमा बतायी गई है। और मध्यम उसके बीचका क्षेत्र काल है तो यह तीनो प्रकारका ही परमावधि ज्ञान उत्कृष्ट संयमी जीवोंके होता है, साधारण संयमीके भी नही। और यह परमावधि वर्द्धमान होता है, बढता हुआ ही रहता है, पर हीयमान नही होता। अप्रतिपाती याने केवलज्ञान इसके बाद ही होगा। केवलज्ञानसे पहले छूटता नही और इस परमावधिको अननुगामी भी कह सकते है, क्योंकि परलोकमे यह जाता नही याने परलोक होता ही नही, निर्वाण होता है परमावधि ज्ञानी जीवो का केवलज्ञान होकर, इस तरह वह परमावधिज्ञान हीयमान नही और प्रतिपाती नही।

सर्वावधिज्ञानकी एकरूपता व विशेषता—अब सर्वावधि ज्ञानका वर्णन करते हैं। सर्वावधि ज्ञानका क्षेत्र, काल, द्रव्य, भाव सभी प्रकारका विषय एक रूप है, क्योंकि यहाँ जघन्य और उत्कृष्ट अवस्था नही होती। असंख्यात तो असंख्याते प्रकारकी होती है। तो उत्कृष्ट परमावधि क्षेत्रमे असंख्याते लोकका गुणा किया जाय तो उतना क्षेत्र सर्वावधि ज्ञानका है। इसमे सामर्थ्य बतायी गई है, लोक तो जितना है सो ही है। यह अवधिज्ञान न वर्द्धमान है, न हीयमान है, न अनवस्थित है, क्योंकि सर्वावधि ज्ञानका विषय एक ही है। अगर सर्वावधि नही है तो उसका अर्थ है कि उस अवधिज्ञानकी जातिमे विकासकी घटा-बढी होती है और उसके भेद बन जाते है। सर्वावधि प्रतिपाती नही है और जब तक उस संयम अवस्थामे वह मुनि विराजमान है तब तक वह अवस्थित है, फिर तो केवलज्ञान हुआ और मे अवधिज्ञान ही नही रहता, सिर्फ केवलज्ञान ही रहता है और भवान्तरमे यह जाता नही याने भव होता ही नही, इसलिए अननुगामी भी कह सकते और अन्य क्षेत्रमे जाय तो वहाँ भी जाय अवधिज्ञान, इस तरह अनुगामी कह सकते।

अवधिज्ञानकी अभ्युदितता—अवधिज्ञान अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमके अनुसार होता है। और अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम विशुद्ध परिणाम करके होता है, और उन

विशुद्ध परिणामोमे महिमावान विशुद्ध परिणाम है सहज ज्ञानस्वभावकी दृष्टि रखना और इस ही अंतस्तत्त्वकी आराधना करना। इसीसे ही सयमकी वृद्धि है। इस ही अतस्तत्त्वकी उपासनामे ऋद्धि सिद्धि समृद्धि है। आत्माके कल्याणका मूल आत्मस्वभावकी दृष्टि है। अन्य तो संसारमे जितनी भी विषयसामग्री पडी है, चेतन हो, अचेतन हो, वे केवल मोहके निमित्त बनकर इसकी बरबादीके तो कारण है, पर इसके उत्थानके कारण नही। आत्माका उत्थान आत्मस्वभावकी उपासनासे ही सम्भव है। क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान इन्द्रिय और मनसे नही होता, फिर भी आत्मप्रदेश और सूक्ष्म स्कध हृदयगत, अंतर्गत, वृषभ, स्वस्तिक, नंद्यावर्त आदिक रूपसे एक सस्थानसा होता है और उसके माध्यमसे उपयोग बनता है, फिर भी यह पराधीन नही है अवधिज्ञान। यह तो प्रत्यक्ष ही है, क्योकि जहाँ इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा होती है वहाँ ही पराधीनता है, परोक्षरूपता है, क्योंकि पर इन्द्रियको ही कहते है और इन्द्रियसे परे है मन और मनसे परे है बुद्धि, और वुद्धिसे परे है यह अवधिज्ञान। इस तरह यह क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान उत्कृष्ट रूपसे सयमी साधु मुनिजनोके होता है। जो अतस्तत्त्वकी आराधना करते है उनके कर्मपटल दूर होते है और यहाँ स्वय ही ऐसी ऋद्धियाँ उन्हे प्राप्त होती है। अब अवधिज्ञानका वर्णन करनेके बाद मनःपर्ययज्ञानका नम्बर है। उस ही के विषयमे सूत्र कह रहे है।

ऋजुविपुलमतीमन पर्यय ॥२३॥

द्विविध मनःपर्ययका वर्णन—मन.पर्ययज्ञान ऋजुमति और विपुलमति दो प्रकारका होता है। मन.पर्ययज्ञानका अर्थ है कि दूसरेके मनमे तिष्ठते हुए विकल्पगत अर्थका ज्ञान कर लेना सो मनःपर्ययज्ञान है। बहुतसे लोग सकेतसे, मनोविज्ञानसे मनकी बातका परिचय देते है, पर वह मन.पर्ययज्ञान नही है, क्योकि उनका ज्ञान स्पष्ट नही है, पराधीन है, और मन - पर्ययज्ञान इन्द्रिय मनसे परे है और इसमे दूसरेके मनोगत भाव, विकल्पगत अर्थका स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है। यो मन पर्ययज्ञान प्रत्यक्षज्ञान है। इसके दो भेद है—ऋजुमति मन.पर्यय और विपुलमति मन.पर्यय। ऋजुमतिमे दो शब्द है—ऋजु और मति। ऋजुका अर्थ है सरल और मतिका अर्थ है ज्ञान याने सरल मन, वचन, कायकृत अर्थका ज्ञान होना मन पर्ययज्ञान है। और दूसरा ज्ञान है विपुलमति मन पर्यय। विपुल कहते है विशालको, कुटिलको भी, उसमे भी सोचा हो, सोचेगा कुछ उसे भी जान ले। आधा ही सोच पाया उसे भी जान ले पूरा, ऐसा विपुल ज्ञान होता है विपुलमति मन पर्ययज्ञानीके। जिसका ज्ञान विपुल है उसे विपुलमति कहते है। ऋजुमति विपुलमति ऐसे दो शब्द थे, पर एक ही मति शब्द होनसे अर्थका ज्ञान हो जाता है, इसलिए सूत्रमे दो मति शब्द नही दिए गए अथवा यहाँ समास है ऋजु और विपुल ऐसा द्वन्द्व समास होकर बना— ऋजुविपुले, जिसका रूप है ऋज्वी च विपुला

च, ऋजुविपुले यह हुआ द्वन्द्व समास । अब इसके बाद वहुव्रीहि समास होगा । ऋजुविपुले मती ययोस्तौ ऋजुविपुलमती । याने सरल और कुटिल, कठिन, सभी प्रकारके रूपसे ज्ञान जिनको हो सो ऋजुविपुलमति वाले कहलाते हैं याने मन पर्ययज्ञान दो प्रकारका है—(१) ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान और (२) विपुलमति मनःपर्ययज्ञान ।

मनःपर्ययज्ञानकी स्वतंत्रता व स्पष्टरूपता—यहाँ कोई आशका करता है कि जव मन का सम्बध हो गया याने दूसरेके मनमे जो विकल्प हो, जो पदार्थ चिन्तवन किया हो उसे जानता है मन पर्ययज्ञान । तो मनका आलम्बन होनेसे तो यह उत्पन्न हुआ । तो इस तरह उत्पन्न होने वाले मनःपर्ययको मतिज्ञान कहना चाहिए । अलगसे मन.पर्यय क्यो कहा ? यह आशका यो ठीक नही कि यहाँ मनका आलम्बन नही है, किन्तु मनमे तिष्ठी हुई बातको जाना है । जैसे कोई आकाशमे चन्द्रमाको देखता है तो क्या आकाशके द्वारा देखता है ? देखा तो आँखसे ही, पर आकाशमे देखा, इसी तरहसे जाना तो अपने ही ज्ञानसे, आत्मशक्तिसे, पर दूसरेके मनमे ठहरे हुए पदार्थको जाना । इस तरह कही आलम्बन न वन जायगा । और जब दूसरेका मन केवल उस विकल्पका आधारमात्र है, साधनमात्र है तो उसको रहा आया, मगर मन पर्ययज्ञान वाला मनके आलम्बनसे नही जानता, वह तो आत्मीय शक्तिसे निरपेक्ष हो जान लेता है । इस कारण मनःपर्ययज्ञान मतिज्ञान नही कहला सकता, किन्तु स्पष्ट प्रत्यक्षज्ञान है ।

मन पर्ययज्ञानका अनुमानज्ञानमे अन्तर्भाव किये जानेकी अशक्यता—अब यहाँ शङ्काकार एक और आशका रख रहा है कि जव मन पर्ययज्ञानमे मनका प्रतिवोध है अर्थात् अन्य पुरुषके मनमे रहने वाले अर्थको जानता है तो मन पर्ययज्ञान अनुमानज्ञान कहलायगा । अनुमानज्ञानमे भी तो यही होता है कि धूमके प्रतिबध होनेसे धूमसे सम्पृक्त गुणका अनुमान बनता है और ऐसा ही यहाँ हो रहा है कि अन्य पुरुषके मनके प्रतिषेधसे उसके मनमे लगे हुए, विकल्पित हुए अर्थोंको मन पर्ययज्ञान जानता है । तो यो यह अनुमानज्ञान क्यो न बन जायगा ? इस शङ्काका उत्तर देते है कि अनुमानज्ञानमे और प्रत्यक्षज्ञानमे लक्षणका विरोध है । मन पर्ययज्ञानमे प्रत्यक्षका लक्षण ही घटित होता है । प्रत्यक्षका लक्षण बताया गया है कि जो इन्द्रिय और मनसे निरपेक्ष हो, जिसमे व्यभिचार न आये, स्पष्ट ग्रहण हो उसे कहते हैं प्रत्यक्ष । तो इस लक्षणके साथ मनःपर्ययज्ञानका अविरोध है, किन्तु अनुमानज्ञानमे यह लक्षण घटित नही होता । अत मन पर्ययज्ञानको अनुमानज्ञान नही कह सकते । अथवा ऐसा समझना कि अनुमानज्ञान तो उपदेशपूर्वक होता है और चक्षु आदिक इन्द्रियके सम्बन्धसे होता है अर्थात् जब पहले सुना कि यह अग्नि है, यह धूम है, यह जानकर समझाते ही है जैसे बच्चोको, अथवा बच्चे स्वय दूसरेके शब्द सुनकर समझ ही जाते हैं कि यह अग्नि है, यह धूम है, तो पहले तो इस तरह अग्नि और धूमका परिचय बना, फिर पीछे धूम देखा । अब

चक्षुइन्द्रियसे उपयोग हुआ, उससे फिर अग्निमे अनुमान बनता है। तो इसमे तो प्रत्यक्षका लक्षण नही घटित होता। और मनःपर्यय ऐसा है नही। न वह उपदेशकी अपेक्षा रखता है और न चक्षु आदिक इन्द्रियके सम्बन्धसे होता है, किन्तु इन्द्रिय और मनकी सहायताके बिना केवल आत्मीय शक्तिसे ही दूसरेके मनोगत पदार्थोको जानता है। इस कारण मन पर्ययज्ञान अनुमान ज्ञानमे सम्मिलित नही हो सकता। वह तो स्पष्ट स्वतत्र प्रत्यक्षज्ञान है।

ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानका विवरण—अब ऋजुमति मनःपर्ययके भेदोके विवरण द्वारा परिचय करें। ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान तीन प्रकारसे होता है, एक तो दूसरेके सरल मनसे निष्पन्न अर्थको जानने वाला, दूसरा—सरल वचनसे कृत अर्थको जानने वाला, तीसरा– सरल कायसे कृत अर्थको जानने वाला। इसका भाव यह है कि किसीने मनसे व्यक्त अर्थका सचिंतन किया, फिर कालान्तरमे उस ही का फिर विचार किया और फिर वह विस्मृत होकर उसका चिन्तवन करनेमे समर्थ न रहा, ऐसे पदार्थको ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान किसीके द्वारा पूछे जाने पर या न पूछे जानेपर भी जान लेता है कि यह पदार्थ है व इस प्रकारसे इसने इन पदार्थोका चिन्तवन किया है। इसी प्रकार कोई पुरुषने धर्मादिक भाव वाले वचनसे खूब भली प्रकार बोला—अब बोलनेके बाद कालान्तरमें उसे भूल गया। अब वह चिन्तन करना चाहता है—क्या कहा ? चिन्तवन कर नही सकता। ऐसे उस विकल्पको, पदार्थको ऋजुमति मन पर्ययज्ञान स्पष्ट जान लेता है कि इसने यह बोला था। इसी प्रकार किसी पुरुषने सरल चेष्टा द्वारा कोई क्रिया की और क्रियाकार कालान्तरमे मानो अब उसे सोच रहा है, पर विस्मृत होनेके कारण चिन्तन नही कर सकता, उसे भी मन पर्यय-ज्ञान जान लेता है कि इसने यह किया था। तो चूकि वह पुरुष मनमे चिन्तन करना चाहता, नही सोच पाता। उसके मनमे क्या विकल्प है, उससे सम्बधित पदार्थोको यह ऋजुमति मन.-पर्ययज्ञान वाला जानता है। मनःपर्यय शब्दमे सीधा अर्थ यह आया है कि मनकी परिणति को जानता है याने मनको ही जानता है। दूसरेके मनको जान लेना, स्पष्ट प्रत्यक्ष विवाद रहित जान लेना सो मन.पर्ययज्ञान है। यह ऋजुमति मन.पर्ययज्ञान भूतकालमे कब तकके चिन्तन किए हुए को जानता है याने दूसरा पुरुष कितने समय पहले चिंतन कर रहा था, उसे जानता है। तो उसका समय जघन्यसे तो है २–३ भव और उत्कर्षसे है ७–८ भव और कहा तककी बात जानता है ? उस सूत्रकी मर्यादा है जघन्यसे तो प्रायः ७-८ कोश अर्थात् ३ कोशसे लेकर ९ कोश भीतर तक, इससे बाहर नही जान सकता और उत्कर्षसे जानेगा। तो पृथक्त्वयोजन अर्थात् ३ से लेकर ९ योजनके बीच तक। यह ऋजुमन पर्ययज्ञान संयमी जीवोके होता है, सम्यग्दृष्टियोके होता है, जिन्होने सहज अनस्तत्त्वकी उपासना की और उससे अनेक कर्मकलक दूर हुए, पवित्रता बढी। ऐसे पुरुषके ज्ञान किस-किस प्रकारसे विकसित होत है वह सब कला इस प्रसगमे समझना है।

विपुलमति मनःपर्ययज्ञान का विवरण—अब विपुलमति मन पर्ययज्ञानकी बात सुनो। विपुलमति मन.पर्ययज्ञान ६ प्रकारका होता है—सरल मनके विषयको जानना, सरल वचनके विषयको जानना, सरल कायके विषयको जानना, कुटिल मनके विषयको जानना, कुटिल वचनके विषयको जानना, कुटिल कायके विषयको जानना। सरल मनकी बात तो ऋजुमति मन.पर्ययज्ञानमे जिस तरह बताया सो है और कुटिलकी बात ऐसी है कि किसी मनुष्यका कुटिल मन है, मायाचारी वाला मन है, ऐसे कुटिल वचन और शरीरकी बात है। उससे चिन्तन किये हुये, बोले हुये, चेष्टा किए हुए पदार्थका कालान्तरमे वह चिन्तन न कर सके अथवा भविष्यमे उसका कभी चिन्तन करेगा अथवा चिन्तन नही किया, चिन्तनका विचार भी नही उठ रहा, फिर भी उसके पूर्व चिन्तित पदार्थको जान लेना सो यह विपुलमति मन पर्ययज्ञान है। विपुलमति मन.पर्ययज्ञानी जीव तो और दूसरोका चिन्ता, जीवन, मरण, सुख दु ख, लाभ अलाभ, सरल मनसे, कठिन मनसे चिन्तन किए हुए, न चिन्तन किए हुए सभी प्रकारके पदार्थोंको जानता है। विपुलमति मन पर्ययज्ञान कितने भूत और कितने भविष्य तक की बात जान सकता है, तो जघन्यसे तो ७—८ भव और उत्कृष्टसे असख्याते भव तककी बात जान सकता है। क्षेत्रकी अपेक्षासे कहाँ तकके मनके चिन्तन वालेको जान सकता है ? तो जघन्यसे तो पृथक्त्व योजन अर्थात् तीन योजनसे ६ योजन तक और उत्कर्षसे मानुपोत्तर पर्वतके भीतर। इस सम्बन्धमे दो मतव्य मिलते है, एक तो ऐसा कि मानुषोत्तर पर्वतके भीतर तक जानेगा, बाहर नही, एक ऐसा कि मानुषोत्तर पर्वत तकका क्षेत्र है ४५ लाख योजन। तो कोई जीव अगर मानुषोत्तर पर्वतके पास निकट ही बैठा है, भीतर सयमी मुनि और वह विपुलमति मन पर्ययज्ञानी है तो उत्कर्षसे जानेगा तो ४५ लाख योजन तककी जान लेगा। अब वह बाहरका भी क्षेत्र बन जायेगा। तो एक मतव्यसे तो नाप वाला क्षेत्र है और एक मतव्यसे अवधि वाला क्षेत्र है कि मानुपोत्तर पर्वत तक जानेगा, उसके बाहर नही। उसके भीतर ४५ लाख योजन जान लेगा। अब ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानका विवरण करके यह कहते है कि इन दोनोमे परस्परमे अन्तर है क्या ?

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्या तद्विशेषः ॥२४॥

ऋजुमति मन पर्ययज्ञान व विपुलमति मन.पर्ययज्ञानमे विशेषताका वर्णन—विशुद्धि और अप्रतिपातसे ऋजुमति मन पर्ययज्ञान और विपुलमति मन पर्ययज्ञानमे विशेषता है, परस्पर अन्तर है। विशुद्धि नाम है आत्माके निर्मल भावका। विशुद्धचावरण कर्मका क्षय होने पर अर्थात् चारित्रमोहनीय प्रकृतियोका यथासम्भव क्षयोपशम होनेपर आत्मामे जो प्रसन्नता होती है, निर्मलता जगती है उसको विशुद्धि कहते है, और अप्रतिपात कहते हैं प्रतिपात न होना याने गिरना नही, केवलज्ञान ही उत्पन्न होवे, उससे पहले मन पर्ययज्ञान छूटे नही, इसे

कहते है अप्रतिपात । तो इन दोनों दृष्टियोसे ऋजुमतिमनःपर्यय और विपुलमतिमनःपर्यय ज्ञानमें अन्तर है । कैसा अंतर है कि ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानीके जितनी विशुद्धि होती है उससे अधिक विशुद्धि विपुलमति मनःपर्ययज्ञानीके है । उसके ज्ञान विशेष है और ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान तो प्रतिपाती भी हो सकता याने केवलज्ञान होनेसे पहले छूट जाय, न केवलज्ञान हो अथवा उस भवमे केवलज्ञान ही न हो और विपुलमति मनःपर्ययज्ञान अप्रतिपाती होता है अर्थात् केवलज्ञान ही होगा, उससे पहले छूटेगा नही, केवलज्ञान होते समय तो केवलज्ञान ही रहता, कोई भी ज्ञान नही रहता । मनःपर्ययज्ञानकी इस द्विविधामे कारण यह है कि जो जीव कषायोका उपशमन करके ऋद्धि प्राप्त करता है, मनःपर्ययज्ञान प्राप्त करता है । उसके जब चारित्रमोहका उदय आता तो वह सयमरूपी शिखरसे गिर जाता है तब मनःपर्ययज्ञान छूट जाता । सयमसे गिर गया तो संयमसे प्रतिपात हो गया, केवलज्ञान न हो सका । यह स्थिति बन सकती है ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानीकी । और जो कषायोको क्षीण करके चढा उसके गिरने का कोई कारण ही नही रहता । क्षपकश्रेणीसे चढ रहा, चारित्रमोहनीयका क्षय करता हुआ चढ रहा, क्षीण कषाय गुणस्थानमे आ गया । विपुलमति मनःपर्ययज्ञान उसके है तो छूटेगा नही । १२वें गुणस्थानके अतमे केवलज्ञान हुआ उस समय मनःपर्ययज्ञान नही रहेगा । यह है उसके अप्रतिपातकी कथा ।

नाम द्वारा दोनों मनःपर्ययज्ञानोमें अन्तर सिद्ध होनेपर भी सूत्र द्वारा कथन करनेके रहस्य----यहाँ एक आशंका हो सकती कि पूर्व सूत्रमे जो शब्द दिया है----ऋजुमति, विपुलमति, उससे ही अन्तर सिद्ध हो जाता कि ऋजुमतिसे विपुलमति मनःपर्ययज्ञान विशेष होता है, फिर यह सूत्र बनानेकी क्या आवश्यकता थी ? तो उत्तर इसका यह है कि पूर्व सूत्रसे जो अन्तर जाना जाता है वह काफी परिचय नही है और उतने मात्रसे सतोष नही होता । वह तो एक साधारणसा परिचय है । और इस सूत्रसे अनेक तथ्य प्रकट हो रहे । विशेष अन्तरकी जानकारीके लिए इस सूत्रकी रचना हुई है । अतर यह है कि विशुद्धिसे जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूपसे ऋजुमतिमे विशुद्धि है उससे अधिक विशुद्धि है विपुलमति मनःपर्ययज्ञानमे । इसके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चारकी अपेक्षा ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानीसे विशेष विशुद्धि है । जैसे सर्वावधिज्ञानने क्या जाना था ? कार्माण द्रव्यका अनन्तवाँ भाग । इतना सूक्ष्म विषय था । अब सर्वावधिके द्वारा जाने गए विषयके भी अनन्त भाग किए जायें वह है मनःपर्ययज्ञानका विषय, क्योकि अनन्तके अनत भेद होते है । हाँ, उत्कृष्टानतके अनन्त भेद नही है । अनन्त तो ९ प्रकारके होते है तथा उसमे भी अनेक है तो यो अनन्तके अनन्त भेद होनेसे ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी सर्वावधि ज्ञानके द्वारा जाने गए विषयका भी अनन्तवाँ भाग जानता है । अब ऋजुमतिने जितना जाना उससे और दूरका विप्रकृष्टका और सूक्ष्म अनन्तवा भाग जानता है । तो यो विपुलमति मनःपर्ययज्ञानकी विशुद्धि ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानीसे बहुत अधिक होती है ।

इसी तरह अप्रतिपाती है विपुलमति मन.पर्यय और ऋजुमति मन.पर्यय प्रतिपाती है, क्योकि ऋजुमति मन पर्ययज्ञानके जो स्वामी मुनिराज है उनके कषायके उदयके अनुसार चारित्रकी हीनता हो जाती है। इस तरह ऋजुमति मन पर्यय ज्ञान और विपुलमति मनःपर्ययज्ञानमें अन्तर समझना चाहिए। अब अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानके मध्य क्या अन्तर है, इस विषयका वर्णन करते हैं।

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ॥२५॥

अवधिज्ञान व मनःपर्ययज्ञानमे परस्पर चतुर्विध अन्तरप्रदर्शनके प्रसंगमें विशुद्धिकृत अन्तरका कथन— विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय—इन चार अपेक्षाओसे अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानमे अन्तर समझना चाहिए। विशुद्धि नाम है निर्मलताका। क्षेत्र नाम है जहाँ रहने वाले पदार्थोंको यह ज्ञान जानता है। स्वामी नाम है इस ज्ञानके प्रभुवोका और विषय मायने है ज्ञेय पदार्थ। कौन ज्ञान कितना विशुद्ध है, कितनी दूर तकका जानता है और उसके कितने स्वामी हैं और वह किस बातको जानता है, इन चार बातोका प्रकाश इन दोनो ज्ञानो के बीच समझना। यहाँ शङ्काकार कहता है कि समझ गए हम। विशुद्धि अवधिज्ञानमे ज्यादा है और मनःपर्ययज्ञानमे कम है, क्योंकि मन पर्ययज्ञानका विषय तो छोटा है याने अवधिज्ञानका जितना विषय है उसका अनन्तवाँ भाग है और अवधिज्ञानका विषय बडा है, इस कारण विशुद्धि अवधिज्ञानमे विशेष हुई अपेक्षाकृत मन.पर्ययज्ञानके। इस आशकाका समाधान करते है कि विशुद्धता तो मन पर्ययमे विशेष है याने अवधिज्ञान की अपेक्षा मन पर्ययज्ञान की विशुद्धि और निर्मलता अधिक है। क्योकि एक तो यह बात समझनी चाहिए कि जो ज्ञान जितनी बारीक चीजको जान सके, महिमा तो उस ज्ञानकी है और जो ज्ञान एक मोटी चीजको जाने उसकी महिमा उससे कम है। तो अवधिज्ञान जितने द्रव्यको जानता है उसके भी अनन्तवें भागको मन.पर्ययज्ञान जानता है तो इसमे तो विशुद्धि विशेष समझनी चाहिए। आम बात भी है ऐसी, किसीको मोटी चीज दिखती है और किसीको बारीक चीज दिख जाती है तो दृष्टि किसकी विशुद्ध कहोगे? जिसको छोटी चीज दिखती, बारीक चीज दिखती उसकी विशुद्धि विशेष है। कोई बडे अक्षरकी बातोको दिख सकता है, कोई बहुत छोटे अक्षरोको बाच लेता है तो दृष्टि किसकी निर्मल कही जायगी? दृष्टि कही जायगी निर्मल छोटे अक्षर पढ लेने वालेकी। तो अवधिज्ञानका अनन्तवा भाग मन पर्ययज्ञानका विषय है द्रव्य, तो इससे तो महिमा ही जानी गई मन पर्ययज्ञानकी। दूसरी बात यह है कि मन पर्ययज्ञान बहुत पर्यायोको जानता है, बहुत प्रकारोसे जानता है बनिस्बत अवधिज्ञानके। जैसे कोई पुरुष पढता तो बहुत शास्त्र है, व्याख्यान करता है, मगर थोडे-थोडे रूपसे ही वर्णन कर सकता है, समस्त रूपसे शास्त्रगत् अर्थको कह नही सकता। और दूसरा पुरुष ऐसा है कि एक शास्त्रको बहुत पूरे तौर

से व्याख्यान कर देता है और उसके सब अर्थको कहनेमें समर्थ है। तो विशुद्ध ज्ञान किसका कहेंगे ? चाहे एक ही शास्त्रका व्याख्यान करता है, मगर सूक्ष्मसे सूक्ष्म तत्त्वके रहस्यका वर्णन करता है तो कौन कहलायगा विशुद्ध ? अधिक पर्यायोको अधिक अर्थोंको, अधिक नय और रहस्योको जानने वाला कहलायगा बडा, उसी प्रकार अवधिज्ञानके विषयके अनन्त भागको जो जानने वाला है मनःपर्यय उसे ज्यादा विशुद्ध कहा जायगा, क्योंकि उस अनन्त भागको रूपादिक बहुत पर्यायोसे उसको जानता है, इस कारण विशुद्धि मनःपर्ययज्ञानमे विशेष है, अवधिज्ञानमे मन पर्ययज्ञानसे कम है।

अवधिज्ञान व मनःपर्ययज्ञानमें क्षेत्र विषय व स्वामीकी अपेक्षासे अन्तरका कथन— क्षेत्रकी बात यह है कि अवधिज्ञान तो सारे लोकको जानता है, उसका क्षेत्र बडा है और मनःपर्ययज्ञान मनुष्य क्षेत्र प्रमाण जानता है और विषय अवधिज्ञानसे भी और बारीक अनन्तवाँ भाग मन पर्ययज्ञानका विषय है। स्वामी मनःपर्ययज्ञानके कम है, अवधिज्ञानके ज्यादा है, इसका कारण यह है कि जिन मुनिराजोके सयम गुण विशिष्ट होता है उनके ही मन पर्ययज्ञान होता है। इस तरह बात समझनी चाहिए कि चारो गतियोके जीवोमे से सिर्फ मनुष्योमे ही मन.पर्ययज्ञान हो सकता है। देव, नारकी और तिर्यञ्चके मनःपर्ययज्ञान सम्भव ही नही, और मनुष्योमे भी उत्पन्न होने वाले जीव सभी मन पर्ययज्ञान प्राप्त नही कर सकते, किन्तु गर्भज मनुष्योके ही मन.पर्ययज्ञान हो सकता है। सम्मूर्छनज मनुष्योमे मन.पर्ययज्ञान उत्पन्न नही हो सकता। गर्भजमे भी जो कर्मभूमिके जीव है उनमे मन.पर्ययज्ञान उत्पन्न हो सकता है, भोगभूमिके जीवोमे नही। कर्मभूमिजोमे भी जो पर्याप्तक है उनमे ही उत्पन्न हो सकते है, किन्तु जो अपर्याप्तक हैं याने निवृत्यपर्याप्तक है उनमे उत्पन्न नही होता। पर्याप्तकोमे भी सबमे मन.पर्ययज्ञान नही होता, किन्तु सम्यग्दृष्टि हो उनमे ही उत्पन्न होता है। मिथ्यादृष्टि मनुष्यो के मन.पर्ययज्ञान सम्भव नही, सम्यग्दृष्टियोमे भी सभी सम्यग्दृष्टियोके नही होता, किन्तु सयमी सम्यग्दृष्टिमे होता है याने चतुर्थ और पचम गुणस्थानमे भी मन पर्ययज्ञान नही होता, सयमी जीवोमे भी छठेसे १२वें गुणस्थान तकके जीवोमे होता, सो भी उन मुनिराजोके होना जिनका चारित्र बढता हुआ है, हीयमान चारित्र वालोमे मन पर्ययज्ञान नही होता और उनमे भी सब मुनियोमे नही होता, किन्तु ७ प्रकारकी ऋद्धियोमे से कोई भी ऋद्धि प्राप्त हुई हो, ऐसे मुनियो के ही सम्भव हो सकता है। सो ऋद्धि प्राप्त मुनिराजोमे भी सबमे नही होता, किसी बिरलेमे होता है। इस तरह यह समझना कि जिनके विशिष्ट सयम पाया जाता हो उनके ही मनःपर्ययज्ञान होता है। अब समझिये कि मनःपर्ययज्ञानके स्वामी कितनेसे है ससारमे और अवधिज्ञानी चारो गतियोके जीवोमे उत्पन्न हो सकते, जो सज्ञी जीव है। तो इस तरह स्वामीके भेदसे भी अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमे अन्तर पाया जाता है।

वर्णनमे क्रम प्राप्त केवलज्ञानका कथन न करके ज्ञानके विषयोंका वर्णन करनेका सयुक्तिक संकल्प—अब इस समय केवलज्ञानका लक्षण कहना चाहिए, क्योकि सब ज्ञानोंके विषयमे चर्चा चल चुकी है। तो नम्बर यद्यपि केवलज्ञानके वर्णनका आ रहा है तो भी चूंकि उसका वर्णन अंतिम अध्यायसे शुरू होगा सब विधियोके बाद, सवर निर्जराका विवरण करने के बाद जब मोक्षतत्त्वका वर्णन चलेगा, वहाँ केवलज्ञानका वर्णन चलेगा, इसलिए अन्तमे होता है। इस बातको लेकर आचार्य यहाँ केवलज्ञानके लक्षणको न कहकर इस समय ज्ञानके विषयोकी बात बतायेंगे। तो सब ज्ञानोमे प्रथम ज्ञान है मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। उसके सम्बधमे कहते है।

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥२६॥

मतिज्ञान व श्रुतज्ञानके विषयका निबन्धन—मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयमे नियम यह है कि वह कुछ पर्यायो सहित सर्वद्रव्योको जानता है याने कुछ पर्यायसहित समस्त द्रव्योंके विषयमे मति श्रुतज्ञानका नियन्त्रण है। यह सब मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयका निबध कहा जा रहा है। यह कैसे जाना ? विषय शब्द जो इस सूत्रमे पडा ही नही है, तो उसकी पूर्व सूत्रसे अनुवृत्ति आती है। सो यद्यपि पूर्व सूत्रमे विषयेभ्यः, यो शब्द पचमी विभक्ति वाला है, फिर भी प्रकरणवशसे उसका ग्रहण है और प्रकरणके अनुसार उसका षष्ठीमे प्रयोग है। ऐसा देखा भी जाता, बोला भी जाता।

जैसे कोई कहे कि देवदत्तका घर ऊँचा है, उसको बुला लावो। तो कोई कहेगा कि पहले वाक्यमे तो देवदत्तका कहा—अब यहाँ उसको क्यो कहते ? तो प्रकरणवश विभक्ति बदल जाती है। तो ऐसे ही यहाँ विषयमे षष्ठी विभक्ति लगाई गई है। तब सूत्रका अर्थ हुआ कि मतिश्रुतज्ञानका कुछ पर्यायो सहित सर्व द्रव्योमे विषयका नियम है। मतिश्रुतज्ञान सभी द्रव्योके बारेमे जान लेता है। यह बात कहनेके लिए द्रव्येषुमे बहुवचनका प्रयोग किया गया है। ६ प्रकारके द्रव्य होते हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। उन सबका परिचय मतिज्ञान और श्रुतज्ञान कर लेते है, लेकिन समस्त पर्यायोका ग्रहण नही कर सकते। कारण यह है कि यह ज्ञान इन्द्रिय और मनके निमित्तसे उत्पन्न होता है। सो जिस साधन की जितनी योग्यता है उसके अनुसार ही परिचय हो पाता है। जैसे चक्षुइन्द्रियसे कोई पदार्थ देखा तो केवल रूप पर्यायको ही तो जाना जा सका। रस आदिक तो परिचयमे न आये। तो सर्वपर्यायोका ग्रहण तो न हो सका। इसी तरह श्रुतज्ञानसे भी शब्द द्वारा होता है परिचय। तो शब्द तो सख्यात ही है और द्रव्यपर्याय असख्यात हैं, अनन्त है याने मोटे स्कधकी दृष्टि से तो असख्याते है और अणु-अणुकी दृष्टिसे अनन्त हैं। तो श्रुतज्ञानके द्वारा भी सर्व पर्याय

ज्ञानमे आ ही नही सकती। और मोटे रूपसे यह बात है कि भगवानके केवलज्ञानमे जितना झलका है, दिव्यध्वनिमे उतना प्रकट नही होता, दिव्यध्वनिमे जितना प्रकट होता है गणधर उतना नही गूंथ पाते, जितना गणधर गूंथ लेते है उतना लेखनमे नही आ पाता है। इस तरह श्रुतज्ञानके द्वारा भी सब कुछ नही जाना जा सकता। यो मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका कुछ पर्यायो सहित सर्व द्रव्योमे विषयका नियम है।

मतिज्ञान व श्रुतज्ञानमें अमूर्त द्रव्यको भी जान सकनेकी योग्यता—अब शंकाकार कहता है कि धर्मास्तिकाय आदिक तो बिल्कुल अतीन्द्रिय विषय है, अमूर्त है, इन्द्रिय द्वारा गम्य है ही नही, तो उनमे तो मतिज्ञानका प्रवेश नही हो सकता और जब अतीन्द्रियको मतिज्ञान जान नही सकता तो फिर यह कहना कैसे ठीक है? मतिज्ञान सर्व द्रव्योका विषय करता है।

इस शकाका उत्तर यह है कि धर्म अधर्म आदिक अमूर्त पदार्थोंका ज्ञान इन्द्रिय द्वारा तो नही होता, किन्तु मन द्वारा तो हो जाता है। मनका नाम नोइन्द्रिय है अर्थात् अन्तरगकी इन्द्रिय, अन्तःकरण, ईषत्इन्द्रिय। सो नोइन्द्रियावरणका क्षयोपशमकी अपेक्षा रखकर होने वाला जो मानसिक ज्ञान है उसका तो व्यापार है कि अमूर्त पदार्थोंको जान ले और एक इस तरह भी समझ लेना चाहिए कि यदि उसमे न लगे मन अर्थात् मन धर्मास्तिकाय आदिक अमूर्त पदार्थोंको न जानता होता तो जैसे अवधिज्ञानका विषय बताया है कि रूपी पदार्थोंको ही अवधिज्ञान जानता है तो उसके साथ ही मनको भी जोड देते कि मन भी रूपी पदार्थोंको ही जानता है, पर चूंकि मन अमूर्त पदार्थोके विषयको भी समझता है, इस कारण इस सूत्रमे बिल्कुल उपयुक्त कहा है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयका नियम है कि वह समस्त द्रव्योको जान ले। हां, पर्याय सब नही जानी जा सकती। अब अवधिज्ञानके विषयका नियम बतलाते है।

रूपिष्ववधेः ॥२७॥

अवधिज्ञानके विषयका निबन्धन—अवधिज्ञानका रूपी पदार्थोमे विषयका नियम है। रूपीका अर्थ है मूर्तिक, पौद्गलिक। यद्यपि रूप शब्दके अर्थ अनेक होते है। जैसे रूपका अर्थ वर्ण है—यह तो प्रसिद्ध ही है, जो चक्षुइन्द्रियसे जाना जाता है, पर रूपका अर्थ कही स्वभाव भी होता है। जैसे यह अनन्तरूप है मायने अनन्त स्वभाव वाला है। कही रूपका अर्थ स्वरूप होता है। फिर भी यहां जो प्रसग है, प्रकरण है उसके अनुसार अर्थ है रूपी मायने वर्ण वाला। रूपी होता है पुद्गल। यदि रूपीका अर्थ स्वभाव लिया जाय तो क्या हर्ज है? ऐसी जिज्ञासा करें तो उसका उत्तर यह है कि यदि रूपका अर्थस्वभाव कर दिया जाय तो स्वभाव तो सभी पदार्थोंमे होता है, फिर अ० विज्ञानका विषय अलगसे क्या कहा गया? इसलिए रूपीका अर्थ

यहाँ स्वभाव नहीं, किन्तु रूपीका अर्थ पुद्गल है। यहाँ एक बात और समझनी चाहिए कि रूपीका अर्थ है रूपवान। और जहाँ ऐसा मातुप् प्रत्यय लगा हुआ है उसका अर्थ निकलता है बहुत वाला, याने बहुत रूप वाला, बहुत धन वाला धनवान, बहुत ज्ञान वाला ज्ञानवान, ऐसे ही बहुत रूप वाला सो रूपी अथवा रूपवान, क्या ऐसा अर्थ है ?

तो उत्तर यह है कि इस तरहका अर्थ नहीं है, फिर क्या अर्थ होगा ? यहा नित्य अर्थ है याने पुद्गल नित्य होता है, वह नित्य ही रूपसे सत् होता है। जैसे कहा गया कि क्षीरी वृक्ष याने दूधिया वृक्ष, तो अर्थ हुआ कि जो वृक्ष नित्य ही दूध वाला है, इसी तरह नित्य ही जो रूप वाला है वह ही तो पुद्गल है, ऐसे पुद्गल अवधिज्ञानके विषय होते हैं, सो रूपमुखेन होते है ऐसा अर्थ न लेना। रस आदिक रूपसे नही जाना जाता पुद्गल अवधिज्ञानके द्वारा यह अर्थ न लेना। कोई यो सोच ले कि रूपी कहा है तो केवल रूपका ही ज्ञान होता होगा। रस आदिक तो कहे ही नही, सो यह अर्थ न लेना. क्योकि रूपी शब्द उपलक्षण है। तो रसादिकका उपलक्षणरूपसे ग्रहण है, इस कारणसे रूपके अविनाभावी जो रस आदिक है उनका भी ग्रहण करना चाहिए। और इस तरह अर्थ हुआ कि रूपी पदार्थोंका ज्ञान अवधिज्ञान करता है, सो रूपी पुद्गलके रसका गधका, स्पर्शका, वर्णका अवधिज्ञान परिचय करता है।

रूपी पदार्थोमे भी असर्वपर्यायोमे अवधिज्ञानके विषयका निबन्धन—अब यहाँ कोई यह जिज्ञासा करता है कि अगर उपलक्षण लिया गया कि रूपी मायने रूप, रस आदिक तो यो ही उपलक्षणसे आगे बढ-बढकर ऐसा अर्थ कर लीजिए कि सभी अनन्त पर्यायोमे अवधिज्ञानका विषय नियम चलता है। चलो रूपी पदार्थके ही बारेमे, किन्तु उसकी समस्त पर्यायो को अवधिज्ञान जानता है, क्या ऐसा अर्थ लगा लिया जाय ? उत्तर यह है कि यह अर्थ भी सही नही है। अवधिज्ञानकी म्याद हुआ करती है। कितना जाने, कितने भविष्यको जाने, कितनी पर्यायको जाने वह अवधि है और इस बातका निश्चय इस तरह भी कर लीजिए कि पूर्व सूत्रमे जो असर्वपर्यायीषु कहा गया है उसकी अनुवृत्ति यहाँ आ जायगी याने अवधेय असर्वपर्यायेषु रूपिषु, याने इस पर्यायसहित रूपी पदार्थोमे अवधिज्ञानके विषयका नियम है और अनवृत्ति हुआ ही करती है। जैसे कोई कहे कि इसके लिए गाय दे दो और उसके लिए कम्बल, तो उसके लिए कम्बल—इतनेका क्या अर्थ हुआ ? उसके लिए कम्बल दे दो। तो पहले वाक्यमे जो 'दे दो' शब्द था उसकी अनवृत्ति हो जाती है।

जैसे कहते हैं कि आप भोजन कीजिए और आप भी। तो कीजिए की अनुवृत्ति दूसरे वाक्यमे भी लगती है, ऐसे ही पूर्व सूत्रमे कहे गए असर्वपर्ययिषु इस शब्दकी अनुवृत्ति इस सूत्रमे आयगी। और, इसमे यह अर्थ मिट गया कि अवधिज्ञान समस्त रूपी पदार्थोंको नही

जानता, सर्व पर्यायोंको नही जानता, किन्तु कुछ पर्यायों सहित पुद्गलको जानता है। यहाँ यह भी एक विशेष बात समझनी कि रूपीका विषय करता है अवधिज्ञान, सो रूपका जहाँ किसी प्रकार कुछ भी सम्बध हो उसे भी जानता है और इस विधिसे औदयिक, औपशमिक, क्षयोपशमिक— इन तीन प्रकारकी जिन पर्यायोमे भी अवधिज्ञानकी गति बन जाती है, पर क्षायिक भावमे नही और पारिणामिक भावमे भी नही, क्योकि रूपी द्रव्यके सम्बधसे ये क्षायक और पारिणामिक भाव नही होते, अतः ये अवधिज्ञानके विषय नही है और इस प्रकार धर्मास्तिकाय अमूर्त पदार्थ भी अवधिज्ञानके विषय नही है, क्योकि ये न रूपी है, न रूपीका इनमे सम्बन्ध है। इस तरह अवधिज्ञानके विषयका निबन्धन कहा गया। अब मनः-पर्ययज्ञानका विषय निबंध बतलाते है।

तदनन्तभागे मन.पर्ययस्य ॥२८॥

मनःपर्ययज्ञानके विषयका प्रतिपादन—मनःपर्ययज्ञानका विषय अवधिज्ञानके अनन्तवें भाग है, अवधिज्ञानमे सर्वोत्कृष्ट ज्ञान सर्वावधिज्ञान है और सर्वावधिज्ञानका जो विषय है वह भी रूपी द्रव्य याने कार्माण द्रव्यका अनन्तवाँ भाग, उसका भी अनन्तवाँ भाग करके एक भाग मे मनःपर्ययज्ञानकी गति बनती है अर्थात् मन पर्ययज्ञान सर्वावधिज्ञानके विषयके अनन्तवें भाग को जानता है। इस सम्बधमे मनःपर्ययज्ञानके विवेचनके समय बहुत स्पष्ट विवेचन आया है कि मन:पर्ययज्ञानका कितना सूक्ष्म विषय है ? जब कार्माण द्रव्यका अनन्तवाँ भाग अवधिज्ञान का उत्कृष्ट विषय है तो अब उस अनन्तवे भागका और क्या अनन्तवाँ भाग है ? उससे बहुत सूक्ष्म पर्यायोका समाधान मिलता है। तो ऐसे बहुत सूक्ष्म द्रव्योंको और वे भी दूसरेके द्वारा चिन्तित किए गए अर्थको यह मन.पर्ययज्ञान जानता है। अवधिज्ञान तो एकदम सीधे ही द्रव्यको जानता है। है द्रव्य, जान लिया, पर मनःपर्ययज्ञान इस ढगसे जानता है कि किसीने कुछ चिन्तन किया तो उस चिन्तनमे आये हुए विकल्पको, अर्थको जानता तो यह अवधिज्ञान से भी बहुत अन्तका सूक्ष्म विषय है। ऐसा एक ज्ञानविकास जो मनःपर्ययज्ञान केवलज्ञानसे पहले दर्जेमे है यह उपलब्धि महामुनिको प्राप्त होती है निज सहजज्ञायकस्वरूप अंतस्तत्त्वकी उपासनासे। यह जीव ससारमे रुला रहा है तो निज अन्तस्तत्त्वकी सुध न रखनेसे। जिसको अन्तस्तत्त्वकी सुध हुई है वह पुरुष वह भव्य जीव कैसे-कैसे ज्ञानविकासको प्राप्त होता है, कैसे ऋद्धियाँ स्वय सहज होती है उन सबका इससे अनुमान हो जाता है। अब मनःपर्ययज्ञानके बाद केवलज्ञानके विषयका नियम कहते है।

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥२९॥

केवलज्ञानके विषयका निबंधन और द्रव्य शब्दके निष्पत्यर्थमे अनेक रहस्योंका दर्शन—केवलज्ञानका समस्त द्रव्यपर्यायोंमे विषयका नियम है अर्थात् केवलज्ञान समस्त द्रव्य, समस्त

पर्यायोको एक साथ स्पष्ट जानता है। द्रव्यका अर्थ क्या है? तो द्रव्य शब्दकी जो व्युत्पत्ति है वह यह है कि—आत्मन पर्यायान् द्रवति गच्छति इति द्रव्य, अर्थात् अपनी पर्यायोको जो प्राप्त करे उसे द्रव्य कहते हैं। इस अर्थमे दो बातें ध्वनित होती हैं—एक तो यह कि द्रव्य अपनेमे अपनी ही पर्यायोको उत्पन्न करता है, अन्य दूसरेकी पर्यायोको उत्पन्न नही करता। दूसरी बात यह ध्वनित होती है कि पर्यायोको यह प्राप्त करता है, उसे कहते हैं द्रवति शब्द से याने अपने आपमे अपनी पर्याय द्रवण कर अवस्था बनाता है– इस तरहकी ध्वनि निकलती है और यही तथ्य है प्रत्येक पदार्थका। यह तो कर्तृसाधनमे व्युत्पत्ति हुई और कर्मसाधनसे इस तरह बनेगा कि तैः द्रूयते इति द्रव्य अर्थात् पदार्थोंके द्वारा जो द्रुत हो सो द्रव्य है।

अब यहा शकाकार कहता है कि द्रव्यका जब यह अर्थ किया कि जो पर्यायोको प्राप्त करे सो द्रव्य है। तो इसमे तो द्रव्य और पर्याय भिन्न-भिन्न सिद्ध हो गई। तो क्या इस प्रकार भिन्न हैं और यदि भिन्न नही है, द्रव्य और पर्याय एक ही है, अभेद हैं, तो उसमे कर्ता कर्मका व्यपदेश नही बन सकता, क्योंकि अत्यन्त एक है। जो एक ही निर्विशेष हो उसमे कर्ता कर्मपना नही बन सकता। तो द्रव्यका पर्यायसे भेद है तब तो सिद्धान्तका ही घात है और यदि अभेद है तो कर्ता कर्मका व्यवहार नही बन सकता। इस शकाके उत्तरमे कहते हैं कि द्रव्य और पर्यायोका परस्परमे कथञ्चित अभेद निरखा जायगा। द्रव्यदृष्टिसे तो चूकि सब वही सत् है तो एक सत् होनेके कारण तो अभेद है, पर पर्याय अवस्थाका नाम है और वह अपने समयमे होता है, अगले समय रहता नही, द्रव्य सदा रहता है, इस कारणसे भेद है। तो द्रव्यका और पर्यायोका कथचित् भेद होने पर इसमे कर्ता कर्मका व्यवहार सिद्ध होता है। फिर भी ये द्रव्य, द्रव्यके भेद भिन्न-भिन्न सत् नही है, किन्तु एक ही सत् है सब।

पर्यायोका पर्यय—अब द्रव्यकी पर्याय क्या होती है? इस विषयमे विचार करिये। पर्याय नाम है अवस्था विशेषका। तो जो अवस्था विशेष है वह जीवके बताई गईं है ५३, जिसे कहते ५३ भाव। जीवके सम्बधमे कह रहे है तो उन ५३ भावोमे कुछ तो धर्म परस्पर विरोधी है और कुछ धर्म अविरोधी है। जैसे जीवत्व पारिणामिकके साथ भव्यत्व या अभव्यत्व हो, और और भी औदयिक हो, औपशमिक हो, क्षायोपशमिक हो, इनका परस्पर विरोध नही है, इसलिए यह अविरोधी धर्म है, पर जैसे नारक है, तिर्यञ्च है, मनुष्य है, देव है, य चार औदयिक भावमे हैं गति, ये तो विरोधी हैं। एक जीवके चारो कैसे सभव हैं? जो मनुष्य है वे तिर्यंच आदिक नही, जो तिर्यंच है वे मनुष्यादिक नही। इस प्रकार पुरुषवेद स्त्रीवेद, नपु सकवेद ये एक जीवके एक साथ कहा सम्भव हैं? तो कुछ पर्याय याने धर्मविरोधी है परस्पर तथा कुछ अविरोधी है। इसी तरह पुद्गलद्रव्यमे भी जो रूप, रस, गध, स्पर्श आदि गुण हैं, अनादि पारिणामिक हैं वे शुक्ल आदिक सब पर्यायोके साथ अविरोधा

है, मगर शुक्ल कृष्ण आदिक ये पर्याय परस्पर विरोधी है, एक साथ नही रह सकते। तो कहनेका तात्पर्य यह है कि कुछ विरोधी धर्म होते, कुछ अविरोधी धर्म होते और कुछ भाव नैमित्तिक होते, कुछ अनैमित्तिक होते। जैसे जीवत्व यह अनैमित्तिक है, पारिणामिक है; क्रोधादिक नैमित्तिक है। तो ऐसे सब यथासम्भव जो अवस्थाये है इनको पर्याय कहते है।

अभिन्न तत्त्वोमें भी द्वन्द्व समासकी सिद्धि—इस सूत्रमे यह बतलाया जा रहा कि केवलज्ञानका विषय समस्त द्रव्य और पर्यायोका है। यहाँ शब्द दिया है सर्वद्रव्यपर्यायेषु। जिसका अर्थ है समस्त द्रव्य और समस्त पर्यायोमे। तो इसका समास किस तरह है? द्रव्य और पर्याय, ऐसा द्वन्द्व समास है—जिसकी व्युत्पत्ति है द्रव्याणि च पर्यायाः च इति द्रव्य-पर्यायाः, द्रव्य और पर्याये केवलज्ञानके विषयभूत हैं अर्थात् केवलज्ञान द्रव्य और पर्यायोको जानता है। तो यहाँ शंकाकार कहता है कि इसका द्वन्द्व समास करनेसे यह भाव निकला कि द्रव्य अलग चीज है, पर्याय अलग चीज है। जैसे कोई कहे कि नीम, पीपल, वट आदिक वे सब न्यारे-न्यारे हैं ना, तभी उनमे द्वन्द्व बनता है तो द्वंद्व समास करनेपर तो द्रव्य और पर्याय भिन्न-भिन्न हो जायेगे।

इस शंकाके उत्तरमे कहते हैं कि यह एकांत नियम ठीक नही है। द्वद्व समास भिन्न-पदार्थोंमे भी होता और एक पदार्थके ही गुणगुणी आदिक व्यवहार करके कथञ्चित् भेद कल्पनामे लाकर उनका भी द्वन्द्व समास होता है। जैसे कहेगे कि वृक्षत्व और नीम या गोत्व और गोपिण्ड, गौ और गौ जाति। तो अभेदमे भी तो व्यवहार होता है द्वन्द्व रूपसे बोलने का। यहाँ वैशेषिक यह कह सकते है कि सामान्य विशेष भी तो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। सो इनका निराकरण न्याय ग्रथोसे समझना। निष्कर्ष यह है कि सामान्य विशेष भिन्न-भिन्न चीज नही है। एक ही पदार्थमे सामान्य और विशेषत्व है।

द्रव्यपर्यायेषुमे शब्दोंका तत्पुरुष समास करनेपर अनिष्ट आपत्ति—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि हम यदि तत्पुरुष समास कर दें तो क्या हानि है? द्रव्याणापर्यायः इति द्रव्य-पर्यायाः, याने सर्व द्रव्योकी पर्यायोको केवलज्ञान जानता है। इस शंकाके समाधानमे कहते है कि यदि यहाँ तत्पुरुष समास इष्ट होता अथवा तत्पुरुष समासका भेद अभीष्ट होता तो द्रव्य ही शब्द क्यो दिया जाता? सीधा कह देते कि केवलज्ञान सर्वपर्यायोको जानता है, क्योकि पर्याये तो द्रव्यकी ही होती है, अवस्तुके तो नही होती। तो द्रव्य शब्दका यह ग्रहण ही यह बात कह रहा है कि तत्पुरुष समासका कोई अर्थ नही बनाना, किन्तु यह अर्थ करना कि केवलज्ञानका समस्त द्रव्य और समस्त पर्यायोमें विषयका नियम है। और ऐसा समास बनानेपर कि केवलज्ञान द्रव्यकी पर्यायोको जानता तो इसका यह भी अर्थ हो सकता कि केवलज्ञान पर्यायोको जानता, द्रव्योको नही जानता, क्योकि तत्पुरुष समासमे उत्तर पदार्थ

प्रधान होता है। जैसे कोई कहे कि राजाके लडकेको बुलावो तो कोई राजाको तो न बुलायगा ? जो उत्तरमे कहा गया है उसीका ही ग्रहण होगा तत्पुरुष समासमे। तो ऐसे ही अगर यह तत्पुरुष समास कर दिया जाय कि द्रव्योकी पर्यायोको जानता है तो यहाँ फिर द्रव्य ज्ञात न रहे, यह भाव बन जाता है। शकाकार कहता है कि जब सब पर्यायें जान ली गईं केवलज्ञानके द्वारा, तब फिर कुछ अज्ञात न रहा, क्योकि पर्यायोसे भिन्न द्रव्य कुछ नही है। पर्याय जान लिया तो द्रव्य तो अपने आप ही जान लिया गया समझिये।

समाधान—फिर तो शका क्या है ? यह तो समाधानमे मदद दे रहा। तो ऐसा है कि समस्त पर्यायोके जान लेनेपर कुछ भी अज्ञात नही रहता, क्योकि पर्यायोसे भिन्न द्रव्य नही है तो लो फिर तो सूत्रमे द्रव्य ग्रहण करना ही न चाहिए। सिर्फ यह कहा जाय कि केवलज्ञान सब पर्यायोको जानता है तो सब कुछ आ गया। तो सूत्रमे द्रव्य शब्दका ग्रहण अनर्थक हो जायगा। पर आचार्य स्वामीने सूत्रमे द्रव्य शब्द दिया है। तो इससे ही सिद्ध होता है कि यहाँ तत्पुरुष समास न करना, किन्तु द्वन्द्व समास करना चाहिए, याने केवलज्ञान समस्त द्रव्योको और समस्त पर्यायोको जानता है। शकाकार कहता है कि इसमे द्वन्द्व समास भी कर दें फिर भी द्रव्यका ग्रहण करना अनर्थक है, क्योकि पर्यायसे भिन्न द्रव्य कुछ नही उपलब्ध होता। इसके समाधानमे कहते है कि यह दोष न देना, क्योकि द्रव्य और पर्याय यद्यपि एक सत् है, पर सज्ञा लक्षण आदिक भेदोसे उनमे भेदकी उपपत्ति होती है।

सूत्रमे सर्व शब्द देनेकी सार्थकता—अब शकाकार कहता है कि चलो सब शब्दोका अर्थ ठीक निकला, मगर सूत्रमे 'सर्व' शब्दका देना बिल्कुल अनर्थक है, क्योकि जब बहुवचन शब्द कह दिया—द्रव्यपर्यायेषु केवलस्य, तो द्रव्यपर्यायेषु ऐसा बहुवचनान्त जब शब्द आ गया तो बहुवचनका अर्थ है सब, बहुत। तो फिर सर्व शब्द सूत्रमे देनेकी क्या जरूरत है ? इस शकाके उत्तरमे कहते हैं कि द्रव्यपर्यायेषु ऐसा बहुवचन कहनेपर अर्थ तो लग जायेंगे अनेक, लेकिन निर्विशेषका याने कुछ भी शेष न बचे, समस्त आ जाय, ऐसा यहाँ भाव है कि लोक और अलोक इन तीन कालोमे रहने वाली अनन्त पर्यायें सब कुछ केवलज्ञानके विषय हैं, ऐसा बतानेके लिए यहाँ सर्व शब्द दिया है और इससे यह भी ध्वनित होता है कि जितना लोक है, समस्त पर्यायें हैं, अनन्तानन्त हैं, उतनी ही अगर और भी होवें तो उनको भी जाननेकी सामर्थ्य है केवलज्ञानमे। यह भी शब्दोसे सिद्ध होता है। इस प्रकार केवलज्ञानके विषयमे यह युक्त ही कहा गया सूत्रमे कि केवलज्ञानका सर्व द्रव्य और सर्व पर्यायोमे विषयका नियम है। यहाँ तक मति आदिक ज्ञानोके विषयका निबन्ध बताया। अब इतना बतानेपर भी यह ज्ञात नही हो सकता कि एक आत्मामे ज्ञान एक साथ कितने हो सकते हैं ? सो अब इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए कहते है।

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥३०॥

एक जीवमें एक साथ कितने ज्ञान हो सकनेकी संभवताका प्रतिपादन—एक आत्मा मे एक साथ एकसे लेकर चार पर्यन्त ज्ञान लगा लेना चाहिए, याने किसी आत्मामे एक ही ज्ञान होता है तो वह केवलज्ञान ही होता है, दूसरा नही। किसी आत्मामे दो ज्ञान हो तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो ज्ञान होगे। किसी आत्मामे तीन ज्ञान होते है, तो मति, श्रुत, अवधि—ये तीन होगे या किसी महामुनिके मति, श्रुत, मनःपर्यय—ये तीन होंगे। जिस आत्माके चार ज्ञान होते है उसके याने मुनिराजके मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय—ये चार ज्ञान होंगे। ५ ज्ञान एक साथ नही हो सकते। इसका कारण यह है कि चार ज्ञान तो क्षायोपशमिक है और केवलज्ञान क्षायिक है। जहाँ क्षायिक ज्ञान होता है वहाँ उस जातिका क्षायोपशमिक भाव नही रह सकता। इस सूत्रमे जो एकादीनि शब्द कहा है उसमे बहुत रहस्य गर्भित है। जैसे एक शब्दका अर्थ क्या है ? पहले यह ही विचारणीय हो जाता है, क्योंकि लोकमे एक शब्दकी अनेक अर्थोंमे प्रसिद्धि है। कही तो एकसे सख्या अर्थ लिया जाता, जैसे- एक, दो, तीन आदिक। कही एक शब्दका अर्थ भिन्न माना जाता, जैसे व्याकरण या न्याय आदिकमे बहुतमे वर्णन आता कि एक आचार्यका यह कहना है, एकका यह कहना है, तो मायने भिन्न-भिन्न हो गए। अन्य आचार्यका यह कहना, अन्य आचार्यका यह कहना, तो कही एकका अर्थ अन्य भी होता है। कही एकका अर्थ असहाय होता, मायने जो स्वय समर्थ है, जिसको अन्यकी सहायताकी जरूरत नही है, ऐसा अर्थ होता है।। जैसे वे एक ही विचरते रहते हैं, अकेले ही घूमते रहते है। कही एक शब्दका अर्थ होता है प्राथम्य मायने प्रथम बार ही होने वाला या पहले नम्बरमे आया हुआ।

जैसे कोई आया हो नया-नया आदमी तो कहते हैं कि इमका तो एक ही आगमन है मायने प्रथम ही आना हुआ है। तो कही एक शब्दका अर्थ प्रथम भी होता है। कही एक शब्दका प्रधान अर्थ होता है। यह तो एक ही है याने यह ही प्रधान है अथवा जैसे कहते कि वह राजा एकके द्वारा मारी गई सेनाकी फिरसे रचना कर रहा है, तो यहाँ एकका अर्थ प्रधान हो गया। किसी खास प्रधानके द्वारा मारी गई सेना थी। तो इन एकके अनेक अर्थोंमे से कौनसा अर्थ लेना चाहिए ? तो यहाँ सख्याका भी अर्थ सम्भव हो सकता है। उससे भी सूत्रका सही अर्थ लिया जायगा। जैसे एकको आदि लेकर चार पर्यन्त ज्ञान लगा लेना चाहिए याने एक भी हो, दो भी हो, तीन भी हो, चार भी हो। एकका असहाय अर्थ भी लिया जा सकता। उस एकको आदि लेकर मायने उस असहाय समर्थ केवलज्ञानको आदि लेकर, जो असहाय ज्ञान हुआ उसको आदि लेकर चार ज्ञान हो सकते है। असहाय ज्ञान केवलज्ञान होता। तो केवलज्ञान यो एक होता। दो होते तो मति, श्रुत आदिक रूपसे लेते, और एक

का अर्थ प्रत्यक्ष भी लिया जा सकता याने प्रथम ही प्रथम जो होता हो याने केवलज्ञान उसको आदिका कर चार पर्यन्त लगा लेना चाहिए। मायने एक भी होता, दो भी, होते तीन भी होते और चार भी होते।

आदि शब्दका अर्थ अवयव वा सामीप्य करनेपर मतिश्रुत आदि रूपसे चार तक याने एकसे लेकर चार तक लगा लेनेका भाव—यहाँ आदि शब्दके अर्थ अनेक होते हैं, उनमे से आदिका अर्थ अवयव करने पर परोक्षका अवयव मतिज्ञान लिया जा सकता है, उसके साथ श्रुत होता ही है। यहाँ कोई शका कर सकता है कि एकका अवयव अर्थ जब लिया तो परोक्षका आदि अवयव ज्ञान तो मतिज्ञान है तो क्या मतिज्ञान भी अकेला होता है ? तो ऐसी शङ्का न करना, क्योकि जहा मति होगा वहाँ श्रुत होगा ही और जहा श्रुत होगा वहां मति होगा ही। याने जीवोके अनादिसे मति और श्रुत चले आये हैं। केवलज्ञान होनेपर ही मति श्रुत मिटते है। तो मति जहाँ ग्रहण किया वहा उसके साथ श्रुत ले लिया जायगा या आदि शब्दका अर्थ यहां किया जाय समीप, क्योकि आदि शब्दके भी अनेक अर्थ होते है। कही आदि का अर्थ अवयव है।

जैसे कहते हैं कि वह ऋग् आदिकका अध्ययन करता है। ऋग्वेदका एक अङ्ग है मायने ऋग्वेदके अवयवका अध्ययन करता है। कही व्यवस्था अर्थ होता है आदिका। जैसे ब्राह्मण आदिक चार वर्ण होते है तो यह ब्राह्मण शब्द व्यवस्था आदिककी सूचना देता है। कही आदिका प्रकार अर्थ भी होता। जैसे सर्प आदिकसे दूर रहना चाहिए तो आदिकसे मतलब सर्प और सर्प जैसे ही अन्य जीव-जतुवोसे अलग रहना चाहिए। आदिका अर्थ कही समीप भी होता जैसे नद्यादि क्षेत्र अर्थात् नदी है समीपमे जिसके ऐसा क्षेत्र। तो इसमे आदि शब्दसे समीप अर्थ लिया। तो एकका आदि मायने समीप वाला कौन हुआ ? श्रुतज्ञान।

यहाँ भी कोई कह सकता है कि तब तो इसका अर्थ श्रुतज्ञान ही लिया जायगा। मतिज्ञान अलग हो गया। सो यह बात यो नही कि चाहे मतिका नाम लो, चाहे श्रुतका नाम लो, दोनो ही एक जीवके छद्मस्थोके होते है। अथवा यहाँ आदिका अर्थ अवयव ले लो। एक का आदि, एकका अर्थ हो गया परोक्ष, क्योकि दो प्रकारके ज्ञान कहे गए—परोक्ष और प्रत्यक्ष, तो परोक्षका आदि मायने परोक्षका अवयव मतिज्ञान। तो इस तरह एकादीनि शब्दमे अनेक अर्थ बसे हुए हैं। यहाँ एक शब्दसे जब मति या श्रुतका सकेत होता है तो यह शका न रखनी कि यह तो एक अकेला किसीके होता ही नही, फिर इस एकका अर्थ मतिज्ञान कैसे ले लिया जाय ? यह शंका यो न रखना कि यहाँ एक शब्दसे जब मतिका सकेत है और उसके साथ श्रुतका है तो यह एक शब्द सख्यावाची न रहा। मति, श्रुत आदिक चार पर्यन्त लगाना चाहिए। तो चार पर्यन्तमे यह ध्वनित हो गया कि एकसे लेकर चार तक। जब एक शब्दका

अर्थ अवयवरूप लिया जाय तो यहाँ एक शब्द संख्यावाची न रहा।

संख्यावाची एक शब्द माननेपर सुगम स्पष्ट अर्थ—सख्यावाची एक "एक" शब्द माननेपर तो अर्थ होगा—एकसे लेकर चार तक 'एकादीनि आचतुर्भ्यः' एकसे लेकर चार पर्यंत, तो कहाँसे लेकर ? जहाँसे शुरू होती हो सख्या। तो आचतुर्भ्यः इससे ही यह अर्थ बन गया कि एकसे लेकर चार पर्यंत अथवा जब एकको सख्यावाची मानेंगे तो मति, श्रुत आदिक किसीका भी सकेत न होगा। तब यह होगा कि एक आदिक चार पर्यंत एक भी हो, दो भी हो, तीन भी हो और चार भी हो। इससे सूत्रका अर्थ हुआ कि एक आत्मामे एकसे लेकर चार पर्यंत ज्ञानका विभाग करना चाहिए। अब एक होता है तो केवलज्ञान, क्योकि वह असहाय ज्ञान है। अन्य ज्ञान क्षयोपशमनिमित्तक है। केवलज्ञानके साथ नैमित्तिक ज्ञान नही हो सकता।

केवलज्ञानके साथ अन्य अधूरे विकासोंके न होनेके सिद्धान्तमे की जा सकने वाली कुछ शंकाओका समाधान—यहाँ कोई यह शका रख सकता है कि जब एक बडा ज्ञान हो गया तो छोटे ज्ञान तो होगे ही। उनका अभाव क्यो बताया जा रहा ? अथवा जैसे जब सूर्य का उदय है तो सूर्यकी प्रभासे नक्षत्रोकी प्रभा दब गयी, मगर नक्षत्र तो अपनी जगह अपना व्यापार कर ही रहे है, ऐसे ही जब केवलज्ञान हो गया तो छोटे-छोटे मति, श्रुत आदिक ज्ञान तो होगे ही। भले ही केवलज्ञान महान् ज्ञान है और उससे आविभूत हो गए, किन्तु अपने प्रयोजनसे कुछ व्यापार तो भी करते ही रहते होगे। तब केवलीभगवानमे क्षायोपशमिक ज्ञानो का अभाव नही कहा जा सकता।

इस शकाका समाधान यह है कि क्षायिक ज्ञान समस्त ज्ञानावरणके क्षयसे हुआ है। वहाँ ज्ञानावरणकी कोई प्रकृति न रही। तो जब ज्ञानावरण प्रकृति ही नही है तो क्षयोपशम किसका ? फिर क्षायोपशमिक ज्ञानका क्या मतलब ? क्षायोपशमिक ज्ञान सम्भव नही हो सकता। जहाँ सर्व शुद्धि प्राप्त हो गयी उस साधकके प्रादेशिक अशुद्धि नही रह सकती। यहाँ शंकाकार यह कह सकेगा कि आगममे भी तो बताया है कि पञ्चेन्द्रिय जीव असज्ञी पञ्चेन्द्रिय से लेकर अयोगकेवली पर्यंत होते हैं। जब अयोगकेवली, सयोगकेवली पचेन्द्रिय हैं, इन्द्रियवान है तो उनके कार्यज्ञान भी होना चाहिए। तो यह शका यो युक्त नही है कि शका रखने वाले लोगोने आगमके अर्थका सही बोध नही कर पाया। आगममे सयोगकेवली अरहत भगवान और अयोगकेवली अरहतदेवको पञ्चेन्द्रिय जो कहा है सो द्रव्येन्द्रियकी अपेक्षासे कहा गया है, भावेन्द्रियकी अपेक्षासे नही। यदि भावेन्द्रियकी दृष्टिसे प्रभु पचेन्द्रिय होते, भावेन्द्रिय कहते हैं ज्ञान, बुद्धि विचारको, अगर यह बात होती तो वहाँ केवलज्ञान भी न रहता या लौट जाता। केवलज्ञान हो ही न सकता था। इससे यह सिद्ध हुआ कि भाई एक आत्मामे एक ज्ञान होगा

तो केवलज्ञान, दो ज्ञान है तो मति, श्रुत, कही तीन ज्ञान होते तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान अथवा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, मन पर्ययज्ञान, इस तरह तीन होते। कही चार ज्ञान होते–मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान। याने ज्ञान एक आत्मामे एक साथ कभी सम्भव ही नही है।

प्रमाणविवरणके पश्चात् कुज्ञान और नयोका वर्णन आगे किया जानेका संकेत—इस अध्यायमे अब तक 'प्रमाणनयैरधिगमः' मे कहे गए प्रमाणकी व्याख्या चली। वस्तुस्वरूप का अधिगम होता है प्रमाणके द्वारा और वह प्रमाण है ५ ज्ञानो रूप—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। और इन ५ ज्ञानोंसे पदार्थका अधिगम होता है। तो उन ५ ज्ञानोका स्वरूप विषय स्वामी आदिक सभी प्रकारका विवरण करके वस्तुस्वरूपकी जानकारीके उपायभूत प्रमाणका भली प्रकार वर्णन किया गया है।

अब इसके बाद नयोका वर्णन किया जाना चाहिए, क्योकि संकल्प यही किया था कि प्रमाण और नयोंसे वस्तुस्वरूपका अधिगम होता है। तो अब प्रमाणका वर्णन हो चुका तब नयोका वर्णन करना चाहिए। तो अब नयोका वर्णन किया जायगा, पर बीचमे एक थोडासा यह भी अनुषगसे दिखा दिया जाना सूत्रकारको इष्ट है कि जिन ५ ज्ञानोका जिक्र किया वह सब सम्यग्ज्ञान है। कही ज्ञान विपर्यय भी हुआ करते है, मगर पाचो ज्ञान विपरीत नही हो सकते। मनःपर्ययज्ञान तो सयमी सम्यग्दृष्टिके ही होता, केवलज्ञान भगवानके ही होता। इसका तो सवाल ही नही कि यह विपरीत हो, पर शेष जो मति, श्रुत, अवधिज्ञान हैं ये विपरीत हो सकते है। सो उसके सम्बन्धमे आगेके सूत्रमे वर्णन करेंगे। सो प्रसंगवश अब कुमति, कुश्रुत व कुअवधिज्ञानका वर्णन चलेगा। तदनतर नयोका वर्णन आवेगा।

॥ मोक्षशास्त्र प्रवचन नवम भाग समाप्त ॥

मोक्षशास्त्र प्रवचन दशम भाग

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥३१॥

आदिके तीन ज्ञानोंमें विपर्ययताकी संभावना—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान—ये तीन ज्ञान विपर्यय भी होते हैं। विपर्ययका अर्थ है अन्य प्रकार याने जिस प्रकार पदार्थोंका स्वरूप है उस प्रकार जाननेमे आवे सो तो है सम्यग्ज्ञान, और उससे उल्टा जाननेमे आवे इसे कहते है विपरीत ज्ञान। किससे विपरीत ? विपर्यय शब्दका अर्थ होता है उल्टा, तो किससे उल्टा ? तो अर्थ आया सम्यग्ज्ञानसे उल्टा, यह कैसे जाना गया ? यों जाना गया कि यह सारा ही प्रकरण सम्यग्ज्ञानका था। अब सम्यग्ज्ञानका वर्णन तो समाप्त हुआ, उसके बाद फिर उससे विपरीत ऐसा कहनेसे वही अर्थ बना कि सम्यग्ज्ञानसे विपरीत मिथ्याज्ञान मति श्रुत अवधिज्ञान है, क्यो है यह विपरीत ज्ञान ? तो मिथ्यादर्शनका परिग्रह लगनेसे दर्शन मोहनीयका उदद होने पर इस जीवको मिथ्यादर्शनरूप परिणाम होता है। उस परिणामके साथ स्वार्थ समवाय होनेसे मायने यह ही तो जीव है जिसको मतिज्ञान हो रहा और वही हो रहा है मिथ्यादर्शन तो उस मिथ्यादर्शनका परिणाम होता है, उसके साथ समवाय है याने एक ही अर्थमे, एक ही जीवमे मिथ्यादर्शन है और मतिज्ञान है तो वह मतिज्ञान विपरीत हो जाता है।

कुज्ञानोमे विपरीतताका कारण आधारके दोषसे आधेयमे दोषका आना—यहाँ शङ्काकार कहता है कि यह बात तो कुछ जचतीसी नही। कैसा ही दर्शन मोह हो या अन्य कुछ बात हो जीवमे तो मतिज्ञान कैसे विपरीत हो जायगा ? देखो हीरामणि यदि सडासमे भी गिर जाय तो हीरामणि तो विपरीत नही हो जाता कि वहा गिरनेसे वह लोहा बन जाय या और कुछ हो जाय, ऐसा तो नही होता। इसी तरह आत्मामे दर्शन मोहका उदय होनेसे मिथ्यादर्शन परिणाम भी हो तो हो, पर यह मतिज्ञान विपरीत कैसे हो जायगा ? स्वभावका विनाश तो न होना चाहिए। हीरा रत्न गिर गया अशुचिगृहमे तो हीरा रत्नका स्वभाव तो नही बदल जाता। इसी प्रकार मति श्रुत अवधिज्ञानका भी स्वरूप न बदलना चाहिए। इस शङ्काके उत्तरमे कहते है कि जैसे कडवी तूम्बीमे दूध रख दिया जावे तो दूधकी प्रकृति बदल जाती है या नही ? बदल जाती है। दूध भी कडवा हो जाता है तो इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि रूपी पात्रमे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान हो तो वह भी दूषित हो जाता है। आधारके दोष

से आधेयमे दोष आ जाता है और उसका यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। तो जैसे कडवी तूम्बीमे रखा हुआ दूध दूषित हो जाता है ऐसे ही मिथ्यादृष्टि जीवमे हुआ मतिज्ञान दूषित हो जाता है और देखा भी जा रहा है। मिथ्यादर्शनका उदय होने पर इस जीवके अन्यथा व्यापार होता है, अन्यथा याने अन्य प्रकारकी इसकी दृष्टि बनती है। देखो जगतके प्रत्येक पदार्थ अपने अपने स्वरूपमे है। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थके स्वरूपको ग्रहण नही करता। कभी भी नही कर सकता। निमित्त सन्निधान कितने ही हो, पर कोई पदार्थ अपना गुणपर्याय किसी दूसरे पदार्थको नही दे सकता। वस्तुस्वरूप तो यो है, पर मिथ्यादृष्टि जीवके कैसी कल्पनायें होती है कि यह घर मेरा, ये पुत्र मित्र स्त्री आदिक मेरे, इस तरहकी उनकी कल्पना जगती है। सो ये सब कल्पनायें मिथ्या है। वस्तुस्वरूपके विपरीत है तो इस तरह मतिश्रुतका परिणमन दूषित हो जाता है।

एक बात और समझनी चाहिए कि एक दृष्टान्त तो ऐसा मिल गया कि आधारके दोषसे आधेयमें दोष आता और एक उदाहरण ऐसा भी है कि आधारके दोषसे भी आधेयमे दोष नही आता। जैसे शंकाकारका दिया हुआ ही दृष्टान्त अशुचि घरमे रत्न हीरा पडा हों तो वह तो स्वभाव नही बदलता। वह अशुचि घर हीरा रत्नमे विकार उत्पन्न करनेमे समर्थ नही है। सो यह तो अपनी-अपनी योग्यता प्रकृतिकी बात है कि कोई पदार्थ दूषित आधार पाकर विकृत हो जाय, कोई पदार्थ दूषित आधार पाकर विकृत न हो, तिसपर भी इतनी मलिनता तो हीरा रत्नमे आ ही गई कि वहाँ अशुचि बन गया, उसमे भी कुछ न कुछ अन्यथापन आ जाता है। अन्यथा जो दूकानमे रखा हीरा रत्न है उसकी तरह लोग उस हीरा रत्नको प्यारसे क्यो नही जेबमे रखते? क्यो उसे पानीसे धोते, साफ करते अथवा उसे अग्नि दिखाते तो अन्यथापन वहाँ भी आ जाता है। विशेष अन्यथापन न आये, अन्य ढगमे अन्यथापन न आये, सो यह तो अपनी-अपनी वस्तुकी योग्यता है तथा वह तूम्बीके सन्निधान को पाकर दूषित हो तो कही तूम्बीने अपने दोष दूधमे नही डाल दिये, लेकिन उसका सम्बध पाकर ऐसा ही परिणमन होता है कि दूध स्वय अपने स्वरूपमे विपरीत परिणम जाता है, दूषित हो जाता है। तो इस प्रकार मिथ्यादर्शनका उदय होनेपर मतिज्ञान दूपित हो जाता है और वही मतिज्ञान सम्यग्दर्शनका उदय होनेपर सम्यक् हो जाता है, क्योकि मिथ्यादर्शनका परिणाम न रहा, इसलिए उन ज्ञानोमे समीचीनता आती है। इस कारण सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शनके उदय भेदसे मति आदिक ज्ञानोमे विभिन्नता हो जाती है। कोई सम्यक् रहता, कोई मिथ्या रहता।

सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि द्वारा पदार्थोंका एक समान दिखाई दिया जानेपर विपर्ययज्ञानकी असंभवताकी एक जिज्ञासा—अब यहाँ एक शकाकार कहता है कि हमको तो मिथ्या-

दृष्टिके ज्ञानमे और सम्यग्दृष्टिके ज्ञानमे कोई अन्तर नही मालूम पडता । आँखोसे जैसे मिथ्या-दृष्टि देखता है वैसे ही सम्यग्दृष्टि देखता है । सफेदको सफेद मिथ्यादृष्टि भी कहता, सफेदको सफेद सम्यग्दृष्टि भी कहता । यह घडा है, यह मकान है, यह घर है, जैसे सम्यग्दृष्टि जानता वैसे ही मिथ्यादृष्टि भी जानता । कही ऐसा तो नहीं देखा गया कि सम्यग्दृष्टि तो ऐसी पक-वान खाता हो और मिथ्यादृष्टि ढेला पत्थरको रोटी मानकर चबा लेता हो ? जब दोनोका ज्ञान समान लोकमे देखा जाता है तो यह कैसे कहा गया कि सम्यग्दृष्टिका मतिज्ञान तो सम्यक् होता और मिथ्यादृष्टिका मतिज्ञान विपरीत होता है । ऐसी ही अवधिज्ञानकी भी बात है । अवधिज्ञानी जीव जैसे अवधिज्ञानसे रूपी पदार्थोको निश्चित करता है, जानता है वैसा विभग ज्ञानी जीव भी रूपी पदार्थोंको निरखता है, इसलिए विपरीतता है इन ज्ञानोमे । यह बात तो युक्त नही जचती । इस शकाके समाधानमे ग्रन्थकार स्वयं ही सूत्रमे उत्तर दे रहे है ।

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥३२॥

दर्शनमोहके उदयसे मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत तत्त्वोमे समीचीनताका परिचय न होने के कारण ज्ञानमे विपर्ययताकी सिद्धि—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान क्यो विपरीत होते है ? उसका कारण है कि सम्यक्त्व रहित जीव सत् और असत् पदार्थोमे विशेषता नही जान पाता, भेद नही जान पाता । यह सत् ही है, यह समीचीन है, यह मिथ्या है, ऐसा भेद नही जान पाता और अपनी इच्छानुसार उनकी जानकारी रखता । अब ऐसी जानकारी रखते हुए मे चाहे कभी वस्तुस्वरूपके अनुसार भी बोल जाय अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव तो भी भेदज्ञान न होनेसे, परिचय न होनेसे उसे दृढतम ज्ञान नही कह सकते, सम्यग्ज्ञान नही कह सकते । और ऐसी स्थिति उस पागल पुरुषकी तरह हो जाती है जैसे पागल पुरुष कभी माँ को स्त्री कह दे, कभी स्त्रीको मा कह दे और कदाचित कभी मा को मा कहे और स्त्रीको स्त्री कहे तो क्या उस समय वह पागल नही है ? अरे कह तो दिया, पर उसके चित्तमे दृढता तो नही है, निर्णय तो सही नही है । इसी तरह रूपादिक पदार्थोंके जाननेकी बात तो लौकिक है । उसका तो यहा प्रकरण नही है, प्रकरण तो मोक्षमार्गका है । मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत जीवादिक ७ तत्त्वोमे यथार्थ परिचय श्रद्धान होवे उसका यह प्रकरण है । तो वहां मोही जीवका यथार्थ निर्णय और श्रद्धान नही है । कदाचित् किसी आवेशमे धर्मावेशमे वस्तुस्वरूपके अनुकूल भी शब्द बोल जायें, लेकिन उसका अनुभव तो नही है, इस कारण वह विपरीत ज्ञान है । अब सूत्रमे लिखे हुए शब्दोके अनुसार अर्थ समझिये । सूत्रमे लिखा है सत् और असत् तो सत् शब्द के तो अनेक अर्थ होते है । सत् अस्तित्व वाला है यह भी अर्थ है, सत्का अर्थ समीचीन भी है, सत्का अर्थ सत्ता भी है । तो प्रकरणवश सत्का अर्थ समीचीन लेना है, प्रशस्त लेना है ।

याने सत्का जानना, सही तत्त्वका जानना, असत्को जानना, मिथ्यारूपको जानना। तो सत् और असत्मे भेद न होनेसे और अपनी इच्छानुसार उपलब्धि होनेसे वह विपरीत ज्ञान होता है। किस तरह ? उन्मत्त पुरुषकी तरह। जैसे उन्मत्त पुरुष दोषका उदय होनेसे, दिमागमे फर्क आ जानेसे, इन्द्रिय और बुद्धि अपहृत हो जानेसे, बरबाद सी हो जानेसे जैसे उन्मत्त विपरीत ही ग्रहण करता है। कहो वह घोडेको बैल मान ले, बैलको घोडा मान ले, लोहेको स्वर्ण कह दे, स्वर्णको लोहा कह दे और कदाचित लोहेको लोहा ही कहे, स्वर्णको स्वर्ण कहे तो भी भेदका ज्ञान तो नही है, इसलिए [कि उसकी बुद्धि बिगडी है और वह विपरीतग्राही है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव भी दर्शन मोहके उदयसे बाह्यपदार्थोंको आत्मारूपसे निरखता है इसलिए वह विपरीतग्राही है। यो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान विपरीत ज्ञान होते है।

इस सूत्रमे जो सत् असत् शब्द कहे गये है उनके बहुत अर्थ होते है। जैसे कि सत् मायने विद्यमान और असत् अर्थात् अविद्यमान। विद्यमान और अविद्यमान पदार्थमे, धर्मकी विशेषता न करके याने एक अविद्यमानको विद्यमान कहना, विद्यमानको अविद्यमान कहना ऐसी अपनी इच्छानुसार जानकारी करनेसे विपरीत ज्ञान होता है, क्योकि उसने कभी सत्को असत् मान लिया, असत्को सत् और इस तरह सत्को सत् भी माने और असत्को असत् भी माने, किन्तु दृष्टिका प्रकाश तो नही है, इस कारण वे सब मति, श्रुत, अवधि मिथ्याज्ञान होते हैं। सत्को असत् कहना, असत्को सत् कहना, यह किस प्रकार है ? उसका कुछ उदाहरण देते है।

गुणपर्यायरहित द्रव्य कल्पित करने वाले मन्तव्यमें सत् असत्की अविशेषताका व्यामोह—एकान्तवादियोने अपनी कल्पनासे जो सत् असत्का अविशेष रूपसे ग्रहण किया है उनमे से देखिये कोई दार्शनिक तो द्रव्यको ही मानते है, रूपादिकको नही मानते। जैसे एक ही सद्ब्रह्म है, ब्रह्म है, आनन्दस्वरूप है आदिक शब्दो द्वारा कथन करके एक अद्वैत सत्ब्रह्म ही तो माना। रूपादिक अथवा अवस्था पर्याय ये कुछ भी तो नही माना। सो यदि द्रव्य ही द्रव्य है, रूपादिक नही है तो लक्षणका अभाव हो गया। उसका कोई स्वरूप, अवस्था मानते ही नही है। तो जब स्वरूप अवस्था आदिक नही मानते तो लक्षण तो कुछ रहा नही। तो जो द्रव्य कहा जा रहा है उस द्रव्यका भी अनवधारण हो गया। कोई निर्णय न हो सका। और यो भी सुनो। बाहरी चीजें तो है नही, केवल द्रव्य ही माना और उस द्रव्यका इन्द्रियके साथ सन्निकर्ष होता तब उसका ज्ञान होता है। तो जब इन्द्रियसे सन्निकर्ष हुआ द्रव्यका तो रूपादिक तो माने नही, कोई अवस्था स्वरूप तो माना नही, तो इसका अर्थ यह हुआ कि इन्द्रियका द्रव्यके साथ सन्निकर्ष हो गया तो सर्वात्मक रूपसे सन्निकर्ष हो गया, फिर तो द्रव्य की पूरे रूपसे जानकारी होनेका भी प्रसग आना चाहिए। जैसे रूप मानते थे तो चक्षुका रूप-

मुखेन सन्निकर्ष हुआ सो रूप ही जाना गया। अब रूपादिक तो कुछ रहे नही, तो इन्द्रियसे जो सन्निकर्ष बना सो समूचे द्रव्यसे बना और यो समूचे द्रव्यका ग्रहण हो जाना चाहिए। दूसरी बात यह कि इन्द्रियका भेद भी न रहना चाहिए। समूचा द्रव्य चक्षुसे भी जाना गया, समूचा द्रव्य स्पर्शन आदिकसे भी जाना गया। फिर यह कैसे भेद बना कि यह तो चक्षुरिन्द्रिय है और यह स्पर्शनइन्द्रिय है, यह घ्राणेन्द्रिय है। जब रूप, रस, गध, स्पर्श कुछ होते ही नही, यह मान लिया गया तो इन्द्रियभेद भी नही बन सकता, पर ऐसा तो सही है नही ना? इन्द्रियभेद है, पदार्थमे रूपादिक है, प्रतिनियत व्यवस्था चल रही है। चक्षुइन्द्रियमे रूपका ग्रहण होता है तो कैसे यह सत्य कहा जा सकता कि बस द्रव्य ही है, रूपादिक नही है। फिर भी कुछ दार्शनिक मानते हैं तो विपरीत हो गया ना? सत्को असत् और असत्को सत् कल्पित कर लिया ना। रूपरहित द्रव्य असत् है, उसे तो मान लिया सत् और रूपादिक है उनको मान रहे असत् तो ऐसा विपरीत ग्रहण होता है जिससे यह ज्ञान विपरीत ज्ञान कहलाने लगता है।

द्रव्यरहित पर्यायकी कल्पनाके मन्तव्यमें सत् असत्की अविशेषताका व्यामोह—अब अन्य दार्शनिककी बात सुनो। कोई यह कहता है कि बस रूपादिक ही तो है, द्रव्य कुछ नही है। याने रूप, रस, गध, स्पर्श बस ये ही वस्तु है, कोई प्रदेशात्मक, कोई अन्य आधार इसमे कुछ वस्तु है, ऐसा कुछ नही मानता तो भला सोचो तो सही कि यदि रूपादिक ही वस्तु है, द्रव्य कुछ है ही नही तो रूपादिक निराधार हो गए, फिर उनका आधार क्या रहा? केवल रूप ही रूप है, केवल रस ही रस है, आधार क्या रहा? जब आधार कुछ नही है तो रूपादिकका भी अभाव हो जायगा। और रूपादिक तो ये परस्पर विलक्षण धर्म है। रूप तो शुक्ल कृष्ण आदिक कहलाते है, रस खट्टा मीठा आदिक कहलाते है। ये तो परस्पर विलक्षण चीजें है तो वे रूपादिक फिर ये बिखरे-बिखरे फिरें। ऐसा क्यो है कि एक ही जगह रूप, रस सब पाये जा रहे है। जब परस्पर विलक्षण है तो वे भिन्न ही भिन्न है और कहो कि नही, उनका समुदाय बन जाता, वे सब इकट्ठे पिण्डके रूपमे हो जाते तो उनका समुदाय भी हो तो यह बतलाओ कि वह एक ही वस्तु है कि भिन्न-भिन्न वस्तु है? अगर एक वस्तु हो गई तब फिर तो वे रूप रस आदिक भिन्न-भिन्न रूप न रहे और कहो कि भिन्न-भिन्न है पिण्ड होने पर तो वही प्रश्न फिर खडा रहता है कि वह तो निराधार है। उनकी सत्ता ही क्या है? तो कोई दार्शनिक जो मानते है कि रूपक्षण, रसक्षण बस ये ही तत्त्व है, द्रव्य कुछ वास्तव मे नही है तो वह भी देखिये—अविद्यमानको विद्यमान कर लिया, विद्यमानको अविद्यमान बना लिया। द्रव्य सत् है, उसे माना ही नही, रूपादिक स्वतत्र ये सब असत् है, उनको वस्तु मान लिया, तो यही तो है उन्मत्त पुरुषोकी तरह सत् और असत्मे भेद न समझ पाना। और फिर

जैसा मन चला वैसा ही कह देना ।

भेदाभेदविपर्ययकी कल्पनाके मन्तव्यमें सत् असत्की अविशेषताका व्यामोह— इसी तरह भेदाभेदमे भी भेदका अन्तरका ज्ञान सही ज्ञान नही होता है मिथ्याज्ञानीके । जैसे जो कोई मानते है कि रूप भी है, द्रव्य भी है और माने यो कि है दोनो भिन्न-भिन्न रूपमे अलग पदार्थ है तो ऐसा मानने वाले फिर कैसे समझ पायें कि यह द्रव्य है, यह रूप है । जब लक्ष्य लक्षण भाव न रहा परस्पर, वे भिन्न-भिन्न हो गए तो यह कैसे समझा जाय कि यह इसका रूप है, यह रूपवान है ? यदि शङ्काकार दार्शनिक यह कहे कि जैसे दडा और दडीका ज्ञान होता है ना ? लक्ष्यलक्षण भेद बन जाता । दडी मायने दडे वाला तो दडा लक्षण हो गया और दडे वाला पुरुष लक्ष्य बन गया और हैं भिन्न-भिन्न दोनो चीजें । दडा जुदा है, दडा वाला जुदा है । तो जैसे जुदी-जुदी इन दो वस्तुओंके होनेपर लक्ष्यलक्षण भाव बन गया ऐसे ही रूपादिक और द्रव्य इनके भिन्न-भिन्न होनेपर भी लक्ष्यलक्षण भाव तो बन ही सकता है ।

इस आशका का समाधान यह है कि दृष्टान्त ही विपरीत दिया गया । दडा और दडी आखिर ये सब पृथक्-पृथक् सत् ही तो है, दोनो ही वस्तु है । दडा भी सत् है और पुरुष भी सत् है । तो दोनो पृथक्-पृथक् सत् है, उनके पृथक्-पृथक् लक्षण बन गए, क्योकि सत् तो है, सम्बन्ध तो है, मगर पृथक्-पृथक् रूप और द्रव्य ये तो सत् ही नही हैं । द्रव्यरहित रूप क्या ? रूपरहित द्रव्य क्या ? रूपादिक जो अमूर्त गुण हैं उनका क्या सत्त्व है और रूपादिक रहित द्रव्यका क्या सत्त्व है और फिर दूसरा दोष यह है कि रूपादिक गुण तो अमूर्त हैं और वे द्रव्यसे भिन्न है । पुद्गलद्रव्य मूर्तिक होता, रूपादिक अमूर्त है । तो अमूर्त रूपादिकके साथ इन्द्रियका सम्बंध कैसे हो जायगा ? जब इन्द्रियका सन्निकर्ष न हो सकेगा । तो रूपादिक का अभाव हो गया, ज्ञान ही न बनेगा उनका । द्रव्य तो भिन्न है ना रूपादिकसे तो उसके साथ तो सन्निकर्षका प्रश्न ही नही उठता और द्रव्य है भिन्न चीज, वह कभी जानकारीमे कारण नही बन सकता । तो इस तरह यह विपरीत रूपसे ग्रहण किए विद्यमानको अविद्यमान कहनेके लिए अविद्यमानको विद्यमान कह डाला । एकमे भेद डाल दिया, सर्वथा भेद । तो ऐसे स्वरूपविपर्यय और भेदाभेदविपर्ययके रूपसे जानकारी जहाँ होती है वहाँ सम्यग्ज्ञान नही होता ।

कारणविपर्ययकी कल्पनाके मंतव्यमें सत् असत्की अविशेषताका व्यामोह—अब कारणविपर्ययकी बात सुनो याने वस्तुका कारण कुछ है और कारण कुछ माने तो वह विपरीत ज्ञान कहलाता है । जैसे कोई दार्शनिक कहता है कि जितने भी जगतमे जो कुछ दृश्यमान है घट रूपादिक जो कुछ भी जगतमे है उसका कारण है अव्यक्त प्रकृति और कैसे रचना होती है इस जगतकी ? उसका क्रम यह है कि अव्यक्तसे तो पहले महान् उत्पन्न हुआ, महान्से

अहंकार हुआ और अहकारसे तन्मात्राये हुई याने स्पर्श रस आदिक, इनसे फिर इन्द्रियाँ बनी और इन्द्रियसे फिर महाभूत बना पृथ्वी जल आदिक, वहाँ मिट्टीका पिण्ड हुआ, उससे फिर घडा बना, ऐसे ही सब वस्तुओमे लगाना। तो इस सारे जगतका उत्पाद अव्यक्त प्रकृतिसे होता है।

अब देखिये—जो प्रत्येक वस्तुका निज द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव है, जिसकी योग्यतासे बाह्य निमित्त सन्निधान मिलने पर परिणति होती है, उत्पत्ति होती है अवस्थारूपसे उस सीधी बातको इसमे माना नही, क्या और कल्पना की? किसी एक अव्यक्त की। उस अव्यक्त से ये सब धीरे-धीरे बढ-बढ़कर सृष्टि हो जाती है। तो यह कथन सगत नही है, क्योकि वह अव्यक्त प्रधान अमूर्त माना गया, अवयव रहित माना गया, निष्क्रिय माना गया, अतीन्द्रिय अनन्य नित्य और दूसरेके द्वारा प्रयोग मे न आ सकने योग्य माना गया, और जितने ये कार्य दिख रहे है ये सब इस माने गए कारणभूत अव्यक्त प्रकृतिसे विलक्षण है। तब फिर विजातीयसे विजातीयकी उत्पत्ति नही हो सकती। प्रधान अमूर्त है, घट मूर्त है, प्रधान अवयवरहित है, घट सावयव है। घटके हिस्से हुआ करते है। प्रधान निष्क्रिय है, घट क्रियावान है, कहीसे कही चला जाय। प्रधानको अतीन्द्रिय कहा, ये घट आदिक इन्द्रियागोचर हैं। प्रधानको अन्तरहित कहा। घट तो फूट जाता है, प्रधान नित्य है, घट अनित्य है। प्रधान किसीके द्वारा प्रयोगमे आने योग्य नही है। क्या किया जाय प्रधान को? क्या खाने-पीने, मसलने आदिके काममे आयगा प्रधान? कौनसे प्रयोगमे है? न दिखता है, न कुछ है, और घट प्रयोगमे आनेकी चीज है। पानी भरें, पानी पीकर तृप्त हो। तो कल्पित कारणसे घट आदिककी उत्पत्ति मानना, यह सगत बात नही है। तो जो वास्तविक कारण है उनको तो क्षण आदिक रूपसे जाननेकी और और यदृच्छासे कल्पना करके कुछसे कुछ गढ लिया, ऐसी जहाँ दृष्टि होती है उसको सम्यग्ज्ञान कैसे कहा जा सकता है? वे सब मिथ्या ज्ञान है। तो जो प्रयोगमे नही आ सकता, प्रयोजन जिसका कुछ नही उसकी तो कल्पना कर डाली और जो एकदम दृष्ट है, प्रत्यक्ष सिद्ध है, वस्तु है, जिसकी शक्तिसे परिणमन होता है यह बात सब ओझल कर दी।

प्रयोगरहित निष्क्रिय कल्पित प्रधान पदार्थसे सिद्धि, निष्पत्ति, व्यवहारकी असम्भवता—जो दूसरेके द्वारा प्रयोगमे नही आ सकता ऐसा प्रधान और अचेतन माना गया। तो जो स्वयं अभिप्राय रहित है उसकी अभिप्राय पूर्वक उत्पत्ति कैसे हो सकती? कहा था ना कि अव्यक्त प्रधानसे पहले महान्की उत्पत्ति होती है, वह महान् क्या है? बुद्धि अभिप्राय। अचेतनसे अभिप्राय कैसे बने और अचेतन स्वय अभिप्रायसे रहित है, उससे अभिप्रायपूर्वक क्रम वाला उत्पाद कैसे सम्भव है?

यदि यह कहे कोई शंकाकार कि एक तत्त्व पुरुष तो माना गया है याने आत्मामे तत्त्व दो है—पुरुष और प्रधान। पुरुष मायने चेतन आत्मा, प्रधान मायने प्रकृति। सो यह चेतन आत्मा है, वह प्रधानको ऐसी प्रेरणा कर देगा कि वह महान् आदिककी उत्पत्ति करनेके लिए तैयार हो जाय, सो वाह यह कहना भी कैसे सगत हो सकता ? तब पुरुष भी निष्क्रिय माना गया है, जैसे प्रधान निष्क्रिय कहा है, ऐसे ही पुरुषको भी, आत्माको भी इस दार्शनिकने निष्क्रिय कहा है। तो निष्क्रिय होनेसे पुरुष भी प्रधानको प्रेरित नही कर सकता कि वह महान् आदिकके रचनेके लिए तैयार हो जाय। और प्रधान स्वयं निष्क्रिय है ही, सो वह अपनेको महान् आदिकके उत्पत्तिके लिए तैयार भी नही कर सकता। याने पुरुष प्रेरणा करें तो भी प्रधान अपनी सृष्टि नही कर सकता और पुरुष स्वय निष्क्रिय है, सो प्रेरणा कर ही नही सकता। जो स्वय क्रियारहित है, लंगडा है, चल-फिर नही सकता वह अपना ही सहारा लेकर उठ करके चल दे, ऐसा नही देखा जा सकता। तो जब प्रधान स्वयं निष्क्रिय है तो वह अपने आपमे ऐसा प्रयोग बना ले कि वह उत्पन्न करने लगे, यह नहीं बन सकता।

साराश यहां यह है कि जैसे जीव और अजीव दो तत्त्व कहे जाते हैं, जिसमे चेतना है सो जीव, जिसमे चेतना नही सो अजीव, ऐसे ही इसके एवजमे ये दार्शनिक ऐसा मानते है कि पुरुष और प्रधान। पुरुष तो है चेतन, प्रधान है अचेतन, और दोनो निष्क्रिय हैं। पुरुष तो कोई सृष्टि होती नही, याने आत्मासे कोई सृष्टि नही चलती। सृष्टि चलाने वाला है प्रधान, अजीव, प्रकृति। सो इस मान्यतामे ये सब दोष आते है।

अप्रयोजन कल्पनाओंकी भरमारकी व्यर्थता—और फिर यह भी बतायें कि प्रधान तो अप्रयोजन है। उसका अभिप्राय नही, कोई प्रयोजन नही। तो बिना प्रयोजन महत् अहंकार आदिककी उत्पत्ति कर देना, यह सगत नही जचता। प्रयोजन बिना तो साधारण भी आदमी, बेवकूफ भी कुछ प्रवृत्ति नहीं करता। यदि शकाकार यह कहे कि प्रधानका प्रयोजन तो है। क्या प्रयोजन है ? भाई चेतन आत्मा प्रधानविकारको भोगोपभोगमे ले। यह प्रधानका प्रयोजन है, याने प्रधान पहले रूप, रस इन्द्रिय आदिककी उत्पत्ति करता है, महान् अहकार जो प्रधानसे बनता है, उसका प्रयोजन यह है कि चेतन उसका भोग कर लें। यह कहना भी सगत नही। इसमे प्रधानका निज तो कुछ प्रयोजन न रहा। और दूसरी बात यह है कि आत्माको तो नित्य माना सर्वथा तो नित्य व्यापक आत्माके भोगका परिणाम ही नही बन सकता याने भोगनेकी स्थिति ही नही बन सकती। सो ये सारी बातें सीधी मानो। कार्यप्रणालीकी बातको छोडकर कल्पना करके एक दिमागको परेशान किया जा रहा है। सीधी बात दोषकी दिख ही रही है, इस कल्पनामे कि प्रधान अचेतन है तो वह कुछ भी प्रयोजन बना कैसे सकता ? दूसरेको भी भोग करा कैसे सकता ? अचेतन है वह स्वय। जो अचे-

तन हो, जैसे यहाँ रसोईया या कोई मालिक अपने व दूसरेके खानेका प्रयोजन रखता, सो उसके लिए क्रिया और फल बन जायगा। रसोई बनाना, भोजन करना, पर प्रधानमें तो चेतना है ही नही। वह किसलिए प्रवृत्ति करेगा ? तो प्रधान, स्वयं अपने आप कुछ कर सकेगा नही और आत्मा निष्क्रिय है सो वह प्रधानकी कुछ मदद कर सकेगा नही। फिर ऐसा समझना कि जितना जो कुछ भी जगत है उसकी रचना है, वह रचना सब अव्यक्त प्रधानसे हुई है—केवल एक कपोल कल्पना मात्र है। तो यो पदार्थोंके कारणोमे विपरोत श्रद्धा करना बस यही तो मिथ्यादर्शनका परिणाम है और जब इन बातोंकी कोई विशेष सही जानकारी नही है तो बस इसी कारण मिथ्याज्ञान कहलाता। यो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मिथ्यादर्शनका उदय होनेपर ये मिथ्या कहलाते है।

स्वरूपविपर्यय, भेदाभेदविपर्यय व कारणविपर्ययकी कल्पनामें मिथ्याज्ञानरूपता— अभी यहाँ कारणविपर्ययकी चर्चा चल रही है कि जैसे सम्यग्दृष्टि जन स्वरूपमे विपर्ययज्ञान रखते है कि वस्तुका स्वरूप तो है और कुछ और मान लिया जाता और कुछ तो वह ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है, क्योकि उसमे जानकारी बिल्कुल विपरीत की गई है और इसी तरह भेदाभेद विपर्ययकी भी बात विपरीत ज्ञानमे चली कि जो परस्पर भिन्न है उन्हे तो मान लेते अभिन्न और जो अभिन्न है, एक है उसमे मान लेते भेद। जैसे रूप और द्रव्य, द्रव्यके मायने पुद्गल, वस्तु, जैसा कि लोगोको दिखता है सो वहा रूपको और द्रव्यको परस्पर भिन्न मान लिया रूप अलग, द्रव्य अलग, लेकिन ये अभेदमे भेद मान बैठे, तो यह विपरीत बोध ही तो हुआ, इसी प्रकार जो भिन्न-भिन्न चीजें है उनको एक मान लेना यह भी विपरीत ज्ञान है, अनन्तानन्त परमाणु, अनन्तानन्त जीव और भी चेतन—ये परस्पर अत्यन्त भिन्न है, याने एक जातिका पदार्थ दूसरी जातिके पदार्थसे तो भिन्न है ही, मगर स्वजातीय भी अनेक पदार्थ है, परस्परमे भिन्न होते है, उन सबको एक कह डालते। सारे पदार्थोंका समूह एक ब्रह्म है यह क्या ? भेदमे अभेदकी भावना। तो यह भी विपरीत ज्ञान हुआ ना, इसी तरह कारणविपर्यय भी कहा जा रहा।

जैसे एक उदाहरण दिया था प्रकृतिसे सारे संसारकी उत्पत्ति माननेका। तो है नही ऐसा, फिर भी मान रहे तो यह कारणविपर्यय कहलाया। इस तरह स्वरूपविपर्यय, भेदाभेद विपर्यय और कारणविपर्ययरूप जानकारी होनेसे ये सब ज्ञानविपरीत ज्ञान कहलाते हैं। प्रथम अध्यायमें उद्देश्य और पदार्थके जाननेके उपायोका वर्णन है। अधिगमके उपायोंमे प्रमाण और नय—ये दो मुख्य कुञ्जी बतायी है, जिसमे प्रमाणका वर्णन हो चुकनेके बाद नयका वर्णन किया जाना चाहिए था, किन्तु ऐसा न कर प्रसगवश प्रमाणके बाद ही एकदम

प्रमाणाभास अथवा कुज्ञानका वर्णन करना पडा । जहाँ सम्यग्ज्ञानका वर्णन चल रहा था वहाँ थोडेमे ही शब्दोमे विपरीत ज्ञानका वर्णन आ जाता है । तो बताया गया था कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान—ये तीन विपर्यय भी होते है, क्यो विपर्यय होते है ? उसका कारण यह है कि अज्ञानी जीवोको सत् और असत्मे भेदविज्ञात नही है । सत्को असत् कह दे, असत्को सत् कह दे, तो इसी भूलके तीन प्रकार बताये गए है—स्वरूपविपर्यय, भेदाभेदविपर्यय और कारणविपर्यय । कारणविपर्ययकी बात चल रही है कि कैसे-कैसे कौन लोग पदार्थ की उत्पत्तिके कारण बतलाते है ? इस प्रसगमे एक मुख्य दार्शनिकने मतव्य तो बता दिया था कि अवक्तव्यसे समस्त जगत्की उत्पत्ति मानते है । बहुत कुछ विचार कर दिया गया ।

कारणविपर्ययरूप कल्पनाका एक और उदाहरण—अन्य कोई दार्शनिक कहता है कि जो कुछ दृश्यमान घट आदिक कार्य है उनका कारण तो परमाणु है, जो कि प्रतिनियत पृथ्वी आदिक जातिमे विशिष्ट है । कोई पार्थिव है, कोई जलकायिक है, कोई अग्नि वाला है, कोई वायु वाला है । ऐसे भिन्न-भिन्न जातिके परमाणु हुआ करते है । उन परमाणुओंसे घट-पट आदिक कार्योंके स्वरूपका लाभ होता है । कब ? जब इस योग्य अदृष्ट आदिकका सन्निधान हो जाय सो उनके परमाणुओका समुदाय बनकर फिर उनसे अन्य घट-पट आदिक कार्यों का आत्मलाभ होता है ।

इस शकाके उत्तरमे कहते है कि यह कथन भी युक्तिसगत नही है, क्योकि परमाणु को नित्य माना गया है, और परमाणु जो कि नित्य है उनसे कार्यका प्रारम्भ नही हो सकता, क्योकि जिसमे कुछ भी विकार नही, कुछ भी परिणाम नही बनता, 'ऐसा परमाणु कैसे अन्य पदार्थोंका कार्य कर दे । तो नित्य परमाणुओसे कार्यका प्रारम्भ नही होता । अगर कार्यका प्रारम्भ उनसे माना जाय तो वह नित्य नही ठहर सकता और फिर दूसरी बात यह है कि परमाणुओका लक्षण है और ढगका और कार्यभूत घट-पट आदिक पदार्थोंका लक्षण माना गया और ढगका तो विजातीय परमाणुओसे अन्य प्रकारके कार्यका प्रारम्भ कैसे बन जायगा ? और अगर कहो कि नित्य परमाणुओंसे भी घट-पट आदिक कार्य हो जाते है तब तो इन पदार्थोंमे छोटे बडेका भेद न रहना चाहिए । अब यहाँ जातिका भी प्रतिनियत नही बनता, क्योकि भिन्न जाति वाले पदार्थोंका भी उत्पाद देखा जाता है । कैसे ? देखो पृथ्वीके परमाणुओसे पानी भी बन जाता । चन्द्रकान्त मणि अथवा अन्य ओला आदिक, तो भिन्न पदार्थोंसे भी कार्य बन जाता है । अगर कहे शकाकार कि भाई जातीय पदार्थोमे तो समुदाय मात्र ही कार्य है ।

तो उसका उत्तर यह है कि फिर तो समान जाति वाले पदार्थोंमे भी कार्यका प्रारम्भ हो जाना चाहिए । यहाँ विचार चल रहा है इस बातका कि पदार्थका कारण तो निश्चयसे

खुद ही है। स्वयं ही उपादानमे अपने आपकी अवस्था प्रकट होती जाती है और निमित्त कारण अनुकूल बाह्य पदार्थ है और इस तरहसे समस्त जगत कार्योंकी उत्पत्ति चलाता जा रहा है, पर ऐसा न मानकर कोई दार्शनिक यह मानते है कि परमाणु है नित्य और उन परमाणुवोसे जगतके पदार्थोंकी उत्पत्ति हो रही है। इस विषयपर विचार करें तो विदित होगा कि परमाणु घट पट आदिक पदार्थोंका कार्य नही कर सकता, क्योकि परमाणुवोको निष्क्रिय और नित्य माना गया है। तो जो स्वय निष्क्रिय है और नित्य है उससे कोई कार्य नही बन सकता। वह कभी कर्ता नही हो सकता। यदि कोई कहे कि फिर तो आत्माका भाग्य कार्य हो जायगा याने जिसका जैसा भाग्य है उसको वैसी चीज मिल जाती है, उसके लिए वैसी चीज बन जाती है, तो जीवका भाग्य कारण हो जायगा, सो यह भी बात उन दार्शनिकोके उचित नही बनती। कारण यह है कि वे अदृष्ट आदिक गुणोको भी निष्क्रिय मानते हैं। वह किस तरह कि अदृष्ट याने भाग्य, यह है आत्माका गुण और आत्मा है निष्क्रिय। तो जो निष्क्रियका गुण है वह भी निष्क्रिय है। तो जब भाग्य भी निष्क्रिय हो गया तो वह किसीका कर्ता कैसे बन सकता और फिर जो निष्क्रिय पदार्थ है वह अपनेमे भी किसी क्रिया का कारण नही बन सकता। तो इस तरह कारणविपर्ययरूपसे जानकारी जो रखते है उनके ज्ञानको सम्यग्ज्ञान नही कहा जा सकता।

प्रत्येक सत्का स्वातन्त्र्य और सत्के विकारमे निमित्तनैमित्तिक भाव अपरिचित रहने से मन्तव्योके गड़नेकी विडम्बना—कुछ लोग मानते है कि वर्णादिक परमाणुवोका समुदाय स्वरूप जो रूप परमाणु है, अतीन्द्रिय है वह ही जब इकट्ठा हो जाता है तो इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य बन जाता है और तब फिर वे घट पट आदिक कार्योंके स्वरूपलाभके कारण बन जाते हैं। शकाकारको कहना कुछ यहाँ बल-सा रख रहा प्रतीत हो रहा है। इसका सिद्धान्त है कि दुनियामे रूप परमाणु अनन्त है, अतीन्द्रिय है और उन रूप परमाणुओमे वर्णादिक परमाणु और मिले हुए हैं। ऐसे ये रूप परमाणु जब इकट्ठे हो जाते है तो इन्द्रियग्राह्य हो जाता है, जब तक न्यारे-न्यारे है तब तक भी इन्द्रियग्राह्य नही होते। जैन भी तो ऐसा मान लेते है कि जो एक परमाणु है उसका ज्ञान कोई नही करता, और वे ही अतीन्द्रिय परमाणु जब इकट्ठे मिल जाते है स्कधरूपको धारण कर लेते है तो वे इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हो जाते है। तो ऐसे ही यह रूप परमाणु भी समुदायरूपमे होकर यह इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हो जाता है। और इन्द्रिय द्वारा ग्राह्यपनेका अनुभव करके फिर ये घटपट आदिक कार्यकी उत्पत्तिके कारण बन जाते है।

इस शकाके समाधानमें कहते हैं कि यह कथन भी इस कारण युक्त नही है कि जो यह माना कि प्रत्येक रूप परमाणु वह अतीन्द्रिय है और उनसे मिलकर इन्द्रियग्राहीपना अनु-

भव कर फिर यह आगे कार्यरूप परिणम जाता है, सो बतलाया यह कि प्रत्येक रूप परमाणु तो अतीन्द्रिय है और अतीन्द्रिय अतीन्द्रिय मिलकर कितने ही समुदायरूपमे हो जाय उनसे भिन्न कार्य उनसे बन नही सकता, और जो कार्य होगा तो वह अतीन्द्रिय ही होगा। तो देखो रूप परमाणु अनन्त मिल गए, सो अनन्त मिलकर भी मानो कार्य बन गया तो वह कार्य अतीन्द्रिय ही रहा, इन्द्रियगोचर न हो गया। तो जब इन्द्रियगोचर कुछ हो ही न सकेगा तो फिर इन पदार्थोंमे यह सही है, यह झूठ है, यह प्रमाण है, यह प्रमाणाभास है, ये सब निश्चय न हो सकेंगे और तब यह कार्यकी सिद्धि नही हो सकती। तो जब कार्य नही है तो फिर कारण भी नही सिद्ध हो पाता। और भी बात सुनो—जो रूप परमाणु आदिक माने जाते है वे सब क्षणिक हैं और निष्क्रिय है, जो क्षणिक है वे कार्यके उत्पादक नही बन सकते। जब वे रूप परमाणु अनन्त है तो उनकी शक्तियाँ उनके अपने आपमे हैं। किसी परमाणुकी शक्ति किसी अन्य परमाणुमे नही पहुच सकती है। तो जब उनकी भिन्न-भिन्न शक्तियाँ है तो उनका परस्परमे सम्बध भी नही बन सकता। कोई कहे कि इन सब कारणपरमाणुओका सम्बध जुटानेमे, इकट्ठा करनेमे ईश्वरको कारण मान लिया जायगा, सो भी बात नही सम्भव है। अन्य कोई पदार्थ चेतन इन सबका सम्बन्ध नही बना सकते। इसलिए जब कारणपरमाणुओका सम्बध ही नही बन सकता तो दृश्यमान ये पदार्थ, यह कार्य कैसे सम्भव बन सकता है ? तो इस तरह सत् असत्मे विवेक न होनेसे मिथ्या ज्ञानियोका अप्रमाण ज्ञान रहा करता है।

दर्शनमोहमे स्वरूपविपरीत दर्शन होनेसे ज्ञानोमें विपर्ययता—यह सब मिथ्या कल्पनाओका ज्ञान मिथ्यादर्शन नामक प्रकृतिके उदयसे हो रहा है, सो जानना चाहिए। जैसे कि जिन मनुष्योको कभी-कभी पित्त ज्वर हुआ हो, पित्तकी अधिकता होती है तो पित्तके प्रकोपसे वे आकुलित हो जाते है और जब पित्त प्रकोपसे आकुलित हुई इन्द्रियोमें अन्य परिवर्तन हो उस समय ये इन्द्रियाँ थोडा जानती, खोटा जानती। तो पित्तोदयसे आकुलित जिनकी रसना-इन्द्रिय हो गई तो जैसे उस रसनासे विपर्य-ज्ञान होता। कैसे ? खाया मीठा, लगा कडुवा, तो इसी तरह मिथ्यात्व पित्तसे आकुलित चित्त वाले जीवोका सत् असत्का विवेक नही रहता। और जब सत् असत्का विवेक नही रह पाता तो जो यह बात कही थी शंकाकारने पहले कि मिथ्यादृष्टिके ये तीन ज्ञान अज्ञान नही कहला सकते, क्योकि रूपादिक विषयोको जिस तरह सम्यग्दृष्टि देखता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी देख रहा है। फिर मिथ्यादृष्टियोका ज्ञान कुज्ञान रहे और सम्यग्दृष्टिका ज्ञान सम्यग्ज्ञान रहे, यह कैसे हो जायगा ? तो यहाँ तक यह बताया गया कि मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीवोंके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान विपरीत भी होते है तब इनके नाम हुए कुमति, कुश्रुत व कुअवधि।

नयोंके वर्णनका प्रसंग—उक्त प्रकार प्रमाणके विषयमे वर्णन समाप्त हुआ, अब इस समय चारित्रकी बात कहनी चाहिए, क्योकि किसी न किसी रूपसे प्रथम अध्यायमे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका वर्णन हुआ। अब सम्यग्ज्ञानके वर्णनके पश्चात् चारित्रका वर्णन किया जाना चाहिए। तो चारित्रका वर्णन न कर नयोंका वर्णन किया जा रहा है। चारित्र का वर्णन तो आगेके अध्यायोमे आयगा। ९वें और १०वें अध्यायमे चारित्रका वर्णन है। तो जब मोक्षका प्रकरण चलेगा तब यह बतलाया जायगा कि यह आत्मा व्युपरतक्रिय नामक जब ध्यानको करता है और उससे आत्मबल प्रकट होता है तो वह आत्मबोध आत्मज्ञान, आत्मानुभूति, समस्त कर्म ईंधनको दहन करनेमे समर्थ होता है। तो मोक्षके प्रकरणमे चारित्र का वर्णन किया जायगा। इस कारण यहा चारित्रका वर्णन न करके नयोका वर्णन कर रहे है, क्योकि सकल्प यह किया गया था कि पदार्थके जाननेके उपाय दो है—(१) प्रमाण और (२) नय। सो इस विज्ञानसे नयका वर्णन किया जाना तो कम प्राप्त है। यहा शङ्काकार कहता है कि कोई जीव क्षायक सम्यग्दर्शन और केवलज्ञानसे सहित भी हो जाय तो भी क्यो नही उसी समय कर्मोंका क्षय हो जाता है ? तो वही समाधान दिया जा रहा है यहाँ कि क्षायक सम्यग्दर्शन और क्षायक सम्यग्ज्ञान उत्पन्न भी हो गया तो भी व्युपरतक्रिया निवृत्ति नामका ध्यान जब तक नही होता तब तक मोक्ष नही होता और वही व्युपरतक्रिया ध्यान उत्तम चारित्र कहा गया है। यदि उस सब चारित्रको यहाँ कहा जावे तो यह कह दिया और जब मोक्षका प्रसंग आनेको होता तो वहा भी कहना पडता, सो ग्रथ गारव न हो जाय याने ग्रथमे अप्रयोजन अधिक वर्णन न हो जाय इस कारणसे प्रमाणाभासका यही कथन करनेके बाद चारित्रका वर्णन नही किया गया, क्योकि यहाँ चारित्रका वर्णन करते तो यहाँ भी यह कहना पडता और मोक्षके प्रकरणमे भी कहना पडता, इसलिए मोक्षके प्रसगमे ही चारित्रका वर्णन कर देना ठीक है। यहाँ नयोका वर्णन करना उचित है। क्योकि सकल्प भी यही किया गया था कि पदार्थोंका अधिगम प्रमाण और नयोसे होता है। प्रमाणका वर्णन समाप्त हुआ, अब उसके अनन्तर नयोका वर्णन किया जाता है। नय कौन होते है, कैसे होते है, इसका निर्देश करनेके लिए अब इस अध्यायका अतिम सूत्र कहते है।

नैगमसग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवभूता नया ॥३३॥

नयके मूल दो भेदोके आधारपरह्नयभेदोका विस्तार—नय ७ है—नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्दनय, समभिरूढ और एवभूत। नयका अर्थ है प्रमाणसे प्रकाशित अर्थात् ग्रहण किए गए पदार्थोंका अभिप्रायवश किसी विशेषका परूपण करना सो नय है। नय प्रमाणसे ग्रहण किए गए पदार्थोंमे नय नही कहलाता। जैसे पदार्थोंमे अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व आदिक धर्म है, इन धर्मों सहित पदार्थोंके जो विशेष है, पर्यायें है, भेद हैं

उनका प्रकर्ष रूपसे प्ररूपण करने वाला अर्थात् जिसमे दोष न आये इस ढगसे दृष्टि लगाकर प्ररूपण करने वाला नय होता है। ऐसे नयके भेद नियत नही हो सकते। २-४-६-१० कितने ही लगाओ, सख्याते नय लग सकते है। जैसी दृष्टि वैसा ही प्ररूपण, उतने ही नय। और शब्दादिककी अपेक्षासे, परिणामकी अपेक्षासे अनगिनते नय कहे जा सकते है। शब्दकी अपेक्षा से सख्या अर्थ और भावकी अपेक्षासे अनगिनते नय है, लेकिन वहुत थोडे वर्णनसे भी तीर्थ-प्रवृत्ति नही चल सकती। और वहुत अधिक वर्णनसे बुद्धिमानोको जो कुछ थोडी प्रज्ञा रखते हैं साधारण बुद्धिजनोको उससे लाभ नही होता, उपकार नही होता। इसलिए न सक्षेपसे भेद बताना चाहिए और न विस्तारसे भेद बताना चाहिए, इस ही कारण इस सूत्रमे नयोंके ७ भेद कहे है, जिसके अन्तर्गत सभी प्रकारके नय शामिल हो जाते हैं। ऐसे नयके मूल भेद तो दो है— (१) द्रव्यास्तिकनय, (२) पर्यायास्तिकनय। द्रव्य है इस प्रकारकी बुद्धि जिसके होती है याने द्रव्यका अस्तित्व जिसकी बुद्धिमे होता है याने उत्पत्ति सद्भाव इस प्रकार विकार रूपसे जिसकी बुद्धि होती है याने उत्पाद व्ययसे रहित केवल द्रव्य ही दृष्टिमे रहे, उससे अन्य भाव, विकार या अभाव न रहे, ऐसे आशयको द्रव्यास्तिकनय कहते है, और पर्याय ही है, ऐसी बुद्धि जहाँ है, जहा उत्पाद, भाव विकार ये सव मनन देखे जाते हो, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ द्रव्य नही है, क्योकि पर्यायको छोडकर द्रव्य नही पाया जाता। इस तरह पर्यायमे ही मति है, वह पर्यायास्तिकनय है याने द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है, गुण कर्मको देखनेकी दृष्टि जहाँ नही है उसे द्रव्यास्तिकनय कहते है। द्रव्यास्तिकनयमे केवल अनादि अनन्त एकस्वरूप द्रव्य ही दृष्टिमे होता है। गुण और कर्म ये अवस्था और भेद है, ये द्रव्यार्थिकनयके विषय नही हैं और पर्यायार्थिकनयमे पर्याय ही जिसका प्रयोजन है। जैसे रूपादिक या क्रिया, यही जिसके विषय है, प्रयोजन है उससे अन्य कुछ द्रव्य नही, इस प्रकारकी बुद्धिको पर्यायार्थिकनय कहते है। पर्यायका अर्थ है—परि समतात् आय पर्याय. याने जो चारो ओरसे आता है, आय है, होना है वह पर्याय है, और द्रव्यका अर्थ है जो परिणमनको प्राप्त करे सो द्रव्य है। तो ऐसा द्रव्य ही जिसका अर्थ है याने कारण कार्य है, सर्वस्व द्रव्य ही जिस दृष्टिमे है उसे द्रव्यार्थिक-नय कहते है, और पर्याय ही जिसका प्रयोजन है याने कार्य ही जिस दृष्टिमे है, भूत भविष्यमें रहने वाला द्रव्य नही है इस दृष्टिमे वह सब पर्यायार्थिकनय है। सो इन नयोंके ७ भेद होते हैं——नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्दनय, समभिरूढ और एवभूत। नयके अनेक प्रकार से प्रकार बनते है, पर मूल बात यह समझनी चाहिए कि अभेद और भेदके आधारपर हीं समस्त नय होते है। फिर इस अभेद और भेदके आधारपर नयोके कितने ही ढगमें प्रकार बनाये जायें, उनमे कुञ्जी यह है कि कोई नय भेदकी ओर दृष्टि करा रहा है तो कोई नय अभेद की ओर दृष्टि करा रहा है।

नयके भेद बतानेके तीनों प्रकारोमें भेदनय व अभेदनयका दर्शन— नयके भेद बताने के ये तीन प्रकार है—एक तो साधारणपद्धति, आगमपद्धतिसे जिसके भेद किए ही गए है नैगम संग्रह आदिक और एक होती है बुद्धिशब्दार्थपद्धति याने ज्ञाननय, अर्थनय, शब्दनय जो ज्ञानकी मुख्यतासे याने कल्पनारूपसे केवल जाननरूपमे ही ग्रहण किया जाय सो है ज्ञान-नय और जो पदार्थका परिचय किया जाय वह है अर्थनय, और शब्दनयकी दृष्टिसे निर्णय बने वह है शब्दनय। और एक पद्धति है अध्यात्मपद्धति। इस पद्धतिमे परमशुद्ध निश्चयनय, शुद्धनिश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय और व्यवहारनय– ये चार भेद किए गए है। तो कोई भी ढगसे प्रकार हो नयोके उनमे भेद और अभेद ये सबमे पाये जाते हैं। जैसे नैगममे अभेद है और सग्रहमे भेद है और व्यवहारकी दृष्टिसे अभेद है, व्यवहारमे भेद है और ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमे अभेद है, ऐसे ही परमशुद्धनिश्चयनय अभेद है, शुद्धनिश्चयमे भेद किया गया, क्योकि शुद्धपर्यायका ग्रहण किया, मगर व्यवहारकी तुलनामे अभेद है, क्योकि व्यवहार दो द्रव्योको विषय करता है और शुद्धनिश्चयनयमे द्रव्य केवल एक ही विषयभूत है और अशुद्धनिश्चय-नय भी अभेद है और व्यवहारकी तुलनामे, किन्तु द्रव्यके पर्यायको देखनेपर भेद हो गया। तो नयोमे मूलमे कुञ्जी ये ही दो है कि कोई नय भेदग्राही है और कोई नय अभेदग्राही है। तो नैगमनय किसे कहते है? नैगमनयका अभिप्राय है सत् और असत् दोनोको मिला देना, ऐसा अभेद सत्मे असत् आ गया।

जैसे कोई रसोईघरमे अग्नि ही जला रहा और पूछता है कोई कि क्या कर रहे तो वह कहता है कि रोटी बना रहे। तो वहाँ सत् तो केवल अग्नि जलानेकी बात है और रोटी वहाँ सत् है, मगर सत् असत् दोनोको मिलाता है, ऐसा अभेद है। यह नय एक व्यापक नय है और सग्रहनयमे केवल सत्को ग्रहण किया है, असत्को नही लिया। व्यवहारनयने उस सत्के भी भेद कर दिये। इस तरह सत्के भेद करते जायें तो सब भेदग्राही है। तो मूल नाम अभेदनय और भेदनय है, क्योकि वस्तु तो एक अखण्ड है, इसलिए अभेदकी बात तो एक सहज बात बनी, मगर वस्तु परिणमे बिना रहती नही। है, तो परिणमन होगा अवश्य। तो जो परिणमन है सो भेदरूप है। यो वस्तुमे अभेद और भेद दोनो ही धर्म पाये जाते है। तो अभेदग्राही अभिप्रायको कहते है अभेदनय और भेदग्राही अभिप्रायको कहते है भेदनय।

नैगमनय आदि सप्तनयोमे भेद अभेदका दर्शन—तो नैगमनयके क्या विषय हुए? पदार्थको सकल्प मात्रसे ग्रहण करना सो नैगमनय है। जो निगममे होवे, कल्पनामे होवे उसे कहते हैं नैगमनय, याने पदार्थको सकल्पमात्रसे ग्रहण करना। जैसे यह अमुकका घर है अथवा यह पसेरा है, यह आधा सेरा है तो यह भेद भी सत् पदार्थमे नही आता। उसमे अभिप्रायसे यह बात थोप दी कि इसमे आधा सेरा है, यह पसेरा है। तो नैगमनय कल्पना मात्रसे

पदार्थको ग्रहण करता है । तो नैगमनय भूत और भावीको मिलाता, अभेदाभेदको मिलाता, सत् असत्को मिलाता, इस तरह मिलकर जाने सो नैगमनय है । लोकमे व्यवहार नैगमनयके आधारपर बहुत होता है, क्योकि हर जगह सकल्पकी मुख्यता रहती है । अब यहाँ कोई शकाकार कहता है कि यह तो भावी संज्ञाका व्यवहार है, नैगमनय तो नही हुआ । जैसे रसोई बनाना है । बना नही रहे अभी, लकडी कडा आदि सामान रोटी बनानेके लिए रख रहे, मगर भविष्यमे काम होने वाला है उसका व्यवहार किया जा रहा है । जैसे कोई एक ढाई सेरका लकडीका माप बनाया, जिसमे गेहू भरें तो ढाई सेर आ जाय तो लोग पूछते है कि क्या है ? तो कहते हैं कि यह आधा सेरा है । एक सकल्प कर लिया कि इसमे ढाई सेर अनाज आयगा । तो यह भावीमे होने वाली जो चीज है उस सज्ञाके नामसे व्यवहार है, इसमे नैगमनयकी क्या बात आयी ? ऐसी शङ्का हुई । उसमे समाधान करते है कि भावी संज्ञाका व्यवहार अलग है और नैगमनयका विषय अलग है, क्योकि नैगमनय तो भूतमे भी होता है और भूत द्रव्य तो अब मौजूद नही है । जैसे जो बात गुजर गई उसे अब कहा, जैसे आज दीवाली है, तो दीवालीका दिन गुजरे तो ढाई हजार वर्ष हो गए, अब आज कह रहे कि आज दीवाली है । तो पहले जो दिन गुजरा दीवालीका वह तो नही है, भूत द्रव्यका सन्निधान नही है फिर वहाँ कैसे सम्बन्ध बना ? भावी संज्ञाका व्यवहार बना । तो नैगमनयका विषय कोई सद्भूत चीज नही है, जिससे भावी सज्ञाका व्यवहार बने । एक सकल्प मात्रको ग्रहण किया है । सक्षेपमे ऐसा समझें कि बात दो हैं—सत् असत् । असत् कोई चीज नही होती, पर इसमे सत् नही आया । तो सत् और असत् दोनोको अभेद करके बना नैगम । केवल सत् का सग्रह, उससे बना सग्रहनय । अब सत्के भेद, उससे बनेगा व्यवहारनय और फिर उसके भी भेद कर पर्यायको देखा तो बना ऋजुसूत्रनय ।

अब देखते जाइये कि ये नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म-सूक्ष्म होते जा रहे हैं । अब ऋजुसूत्रनयके विषयमे अनेक शब्दोको बोला जाता था, अब उसे एक शब्दसे बोला तो हो गया शब्दनय । जैसे—पुरुष, मनुष्य, जन कई नाम है । किसी भी नामसे बोलें । तो ऋजुसूत्रनय तो स्वीकार कर लेना था कि किसी भी शब्दसे बोलें, चीज बोलना चाहिए, पर शब्दनय कहता है कि अगर कोई मनुष्य आलसी है तो उसे मनुष्य नही कह सकते । कोई पुरुष विवेकरहित है तो उसका नाम मनुष्य नही हो सकता । तो मनुष्यका अर्थ है श्रेष्ठ मन वाला । पुरुषका अर्थ है पुरुषार्थ । तो शब्दके भेदसे इनमे भी भेद कर देवे शब्दनय । और एक शब्द के अनेक अर्थ होते, उनमे से किसी एक अर्थको ही ग्रहण करे तो समभिरूढनय और जिसकी बात कही जा रही जिस क्रियाकी उसी क्रियामे उसका नाम लेवे तो एवभूतनय । तो इस तरह उत्तरोत्तर ये नय सूक्ष्म-सूक्ष्म होते चले जाते है । तो अभेद और भेद बस इनका

विन्यास है समस्त नयोके अन्दर। इससे अपनेको सुगमता क्या मिलती है कि प्रमाणसे एक बार पदार्थको जाना गया, फिर और विशेष निर्णय करनेके लिए नयोका सहारा लिए, विशेष विशेष जानते चले। इस तरह नयके ये ७ भेद बताये गए है।

बुद्धिशब्दार्थपद्धतिके नयोंका विवरण—अन्य प्रकारसे भी नयोके भेद होते है जिसका अभी विवरण किया गया है सक्षेपमे कि ज्ञाननय, शब्दनय, अर्थनय। जैसे भगवान कहा तो मनमे सकल्प बना, वह है ज्ञानभगवान और भ ग वा न ये शब्द बोला तो यह हुआ शब्द-नय, और जो परमात्मारूप भगवान है वह अर्थभगवान है। इस तरह ये तीन नय सबमें मिलेंगे। तो समझो कि निश्चयसे न तो शब्दभगवानकी उपासना कोई करता, न अर्थभगवान की उपासना करता, किन्तु ज्ञानभगवान भक्तकी पर्याय है, इस ज्ञानभगवानसे ही उपासकका लगाव हो सकता है। ज्ञाननयमे तो नैगमनय आता है, क्योकि नैगमनय कहते है सकल्पमात्र से पदार्थको ग्रहण करने वालेको। तो सकल्प ज्ञानका ही तो अवयव है। तो ज्ञाननय मायने नैगमनय, शब्दनय मायने शब्दनय, समभिरूढ और एवभूत, क्योकि इन तीन नयोका शब्दकी विधिसे अर्थ होता है, और अर्थनय मायने है संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्रनय। इस तरह ज्ञान-नय, शब्दनय, अर्थनयमे ७ नय आ जाते है। ज्ञाननय तो ज्ञानकी वजहसे है तो उसकी मुख्यता नैगमनयमे है और अर्थनयमे पदार्थकी मुख्यता है। तो सग्रहनयमे पदार्थ है, व्यवहारनयमे पदार्थ है, उन्हीका सग्रह पदार्थमे यहाँ किया। ऋजुसूत्रनयमे भी पदार्थ है, क्योकि पर्यायमुखेन पदार्थको जाना। इस तरह ये तीन नय बताये गए।

अध्यात्मपद्धतिसे नयोंके प्रकारोका विवरण—अब इसके बाद एक पद्धति समझिये अध्यात्मपद्धति। अध्यात्मपद्धतिमे मूल दो नय है—अभेदनय, भेदनय। जो अभेदको ग्रहण करे उसे कहते है अभेदनय। जो भेदको ग्रहण करे सो भेदनय। इस आधारपर निश्चयनय तो अभेदनय है और व्यवहारनय भेदनय है। यह स्थूलदृष्टिसे कह रहे है। निश्चयनयके तीन भेद है—(१) परमशुद्धनिश्चयनय, (२) शुद्धनिश्चयनय, (३) अशुद्धनिश्चयनय। परमशुद्धनिश्चय-नयके मायने गुणभेद नही, पर्यायभेद नही, किन्तु अनादि अनन्त एकस्वभाव रूप पदार्थको देखना। आत्मा तो अभेद ही है। शुद्धनिश्चयनयका अर्थ है कि शुद्ध पर्यायको देखना, मगर वहाँ निमित्त आदिक न निरखना। शुद्ध पर्याय है, द्रव्यकी है, वह द्रव्यसे प्रकट हुई है। द्रव्य मे है याने उसका षट्कारकपना उस ही एक पदार्थमे लगता हुआ जानें तो शुद्धनिश्चयनयका है। जैसे भगवानका केवलज्ञान, प्रभु केवलज्ञानी है। तो अब उसे इस तरह देखना कि प्रभुकी स्वाभाविक पर्याय है, प्रभुसे हुई है, प्रभुने की है, प्रभुकी ही ज्ञानसाधनासे हुई है, उसका फल प्रभु ही पाते है। प्रभुके प्रथम केवलज्ञानके बाद द्वितीय केवलज्ञान हुआ है और प्रभुकी आत्मा मे ही यह पर्याय है। इस तरह शुद्ध आत्माकी पर्यायको उस ही द्रव्यसे सम्बध रखते हुए

निरखें तो शुद्धनिश्चयनय है। अब यहाँ यह समझनेकी बात है कि अभेद ढग है ना इसमें कि शुद्ध आत्माकी यह पर्याय है, वहीसे प्रकट हुई है, वही है, इस तरह एक अभेद नही किया गया, इसलिए तो निश्चयनय है और चूंकि द्रव्य और पर्यायको भेद कर डाला, इसलिए व्यवहारनय हो जाता है। शुद्धनिश्चयनय व्यवहारनय बन जाता है, तब यह दृष्टि देते हैं कि इसमे तो इतने भेद किए गए। परमशुद्ध निश्चयनयका जो विषय है उसकी अपेक्षासे तो शुद्ध निश्चय व्यवहार है। अशुद्धनिश्चयनय अशुद्ध पर्यायको देखता, मगर उस द्रव्यके भेद कर देखता। जैसे अशुद्ध जीवकी रागपर्याय। यह जीव रागी है। जीवको ही राग हुआ, जीवमें राग हुआ, जीवके ही परिणामोसे राग हुआ, जीवके लिए राग हुआ। सब कुछ जीवमे ही उस राग पर्यायकी बात दिखी। वहाँ निमित्त न दिखा कि कर्मके उदयसे हुआ तो वह शुद्ध निश्चयनय है। और जहाँ निमित्त दिखा कर्मका उदयका निमित्त पाकर राग पर्याय हुई तो यह व्यवहार बन गया, क्योकि जहाँ दो द्रव्योकी दृष्टि हुई तो वह व्यवहार कहलाता है। तो यो परमशुद्ध निश्चयनय, शुद्धनिश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय——ये तीन तो निश्चयनय हैं और इसकी पद्धति अभेद विधि है। और जहाँ दो द्रव्य या एक द्रव्यका दूसरेपर प्रभाव जैसी बात, निमित्त आदिक कथन यह सब व्यवहारनय कहलाता है। तो इन नयोसे वस्तुका परिचय हुआ करता है। आत्मा कैसा है, कैसा बनता रहता है, यह सब परिचय नयोके ज्ञानसे बनता है। अब नैगम आदिक जो ७ नय हैं उन ७ नयोका इन अध्यात्मनयोसे मेल किया जाय तो अभेद विधिसे जाना गया तो नैगम सग्रह व्यवहार यह निश्चयनयमे गर्भित होगा, और भेद-विधिसे जैसे व्यवहारनय यह व्यवहारनयमे गर्भित होगा। ऋजुनय यह शब्दनय, समभिरूढ-नय, एवभूतनय——ये व्यवहारमे भी गर्भित होते और कोई अभेद विधि बन जाय तो निश्चय-नयकी भी झलक होती है।

नैगमनय व संग्रहनयका एक अध्ययन——सूत्रमे कहे गये ७ नय ये पदार्थोंके अधिगम करनेके भले उपाय है। इनको नैगमनय तो सकल्पसे ग्रहण करता जिसे आग ही सिलगा रहे है, और कोई कहता कि क्या करते ? तो कहते कि रसोई बनाते, रोटी बनाते। इसको भावी सज्ञाका व्यवहार नही कह सकते। जैसे कोई कहे कि राजाका पुत्र है और उसे कोई राजा कहता है तो चूकि आगे राजा होगा, इसलिए उस कुमारमे राजाका व्यवहार है, ऐसा नैगमनयका विषय नही है, क्योकि वैसे तो राजपुत्र मौजूद है जिसमे कि भावी सज्ञाका व्यव-हार है, पर यहाँ तो कुछ मौजूद ही नही हैं नैगमनयमे। न चावल रखे, न रोटी रखी, लकडी जला रहे और फिर उसमे व्यवहार है तो केवल संकल्पका व्यवहार है, इसलिए नैगमनयका विषय अलग है। सग्रहनयमे सर्व पदार्थोंका सग्रह है। अपनी जातिका विरोध न करके सब पदार्थ आ जायें, वह सग्रहनय है। जैसे कह दिया सत् तो सत्वके नातेसे सब पदार्थ आ गए।

द्रव्य द्रव्यके नाते सब पदार्थ आ गए। चाहे घट हो, पट हो, जीव हो, धर्म, अधर्म, आकाश सभी सत् हैं। अब संग्रहनयमे दो किस्म होते है—एक तो होता है परसंग्रह याने जिसको भेद नही, पूर्ण संग्रह कहो। जैसे सत् द्रव्य अर्थ बस यह ही शब्द है जिससे कि सबका संग्रह हो जाता है और दूसरा सग्रहनय है अपरसंग्रह। जैसे सत्, उसके दो भेद है—(१) जीव और (२) अजीव। अब जीव यह अपरसंग्रह बन गया। मायने जीवमे सब जीव तो आ गए, मगर सभी चीज नही आयी, इसे कहते अपरसंग्रह। एक परसंग्रह, एक अपरसग्रह।

अब भेद करते जायेंगे तो भी भेदके अन्दर भी संग्रह जुडा रहता है वह अपरसंग्रह। जैसे—जीवके दो भेद है—(१) ससारी और (२) मुक्त। तो यह तो हो गया व्यवहार। जीव के आगे तो हो गया व्यवहार, क्योकि उसके दो भेद किए— संसारी और मुक्त, मगर अब संसारी अकेला ही देखे तो यह हो गया सग्रहनय मायने ससारी जीवमे भी बहुतसे जीव है। जैसे ससारी दो तरहके है— त्रस और स्थावर तो त्रस और स्थावर ये दो नाम रखा तो संसारी के आगे व्यवहार बन गए, क्योकि भेद कर डाला ससारीके। अगर एक उसमेसे त्रस ले लिया तो त्रस तो सग्रह बन गया, किन्तु त्रसमे अनेक त्रस आ गए। इस तरह सग्रहनय, अपरसग्रह-नय बनते चले जाते है। पूर्ण सग्रहकी बात देखिये सत्, ऐसा कहनेसे सभी पदार्थ आ गए।

सत्का स्वयं सहज स्वरूप सत्त्व—सत्के विषयमे एक दार्शनिकका ऐसा मतव्य है कि जगतके पदार्थ अपने आप सत् नही है, किन्तु इनमे सत्ता जुडी तो ये सत् कहलाये। सत् मायने "है" तो ये पदार्थ जब सत् है तो इनमे सत्ताका सम्बन्ध हुआ। अब हर एक आसानी से समझ सकता है कि पदार्थमे क्या सत्ताका सम्बध हुआ करता है ? पदार्थकी सत्ता है—यह तो व्यवहारसे कहते है, पर है तो स्वय सत्। कोई पदार्थ है तो अपने आप है। कही ऐसा नही है कि उसमे सत्ताका सम्बध जुडे तब वह सत् कहलाये। जैसे मनुष्य है, अब मनुष्यमे मनुष्यत्व हुआ करता। तो क्या ऐसा है कि मनुष्यत्वका उसमे सम्बध जुटाये तब मनुष्य कहलाये ? अरे वह है मनुष्य तो मनुष्य है ही अपने आप। उसका जो विचार है, भाव है वह मनुष्यत्व है। तो ऐसे ही सब पदार्थ खुद सत् हैं। कही यह नही कि पदार्थमे सत्ताका सम्बध लगाया गया हो तो सत् कहलाये। अगर पदार्थमे सत्ताका सम्बंध लगानेसे सत् कह-लाये तो यह बतलाओ कि जब सत्ताका सम्बध न हुआ था उससे पहले यह सत् था या नही ? अगर पहले सत् था तो सत्त्व था ही, फिर सत्ताका सम्बन्ध जोडनेकी क्या जरूरत रही ? अगर कहो कि सत् न था तो सत्ताका सम्बध किससे जोडना ? वह तो था ही नही। तो जो चीज है वह स्वय है, अपने आप है, कोई सत्ताका सम्बध जोडनेसे नही है। कितने सत् है ? अनन्तानन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असख्यात कालद्रव्य। ये सत् अपने आप सत् है, अनादिसे हैं। कभी नष्ट न होगे। अच्छा

फिर थोडा यह भी सोच सकते कि सत्ताका सम्बध जुड जाय तो उससे सत्तावान कहना चाहिए, न कि सत् कहना चाहिए : जैसे धनका सम्बध जुड गया, तो उसे धनवान कहते हैं न कि स्वय धन कहते है।

जैसे गायका सम्बध हो गया तो गाय वाला कहेगे, गाय न कहेगे मनुष्यको, ऐसे ही ये पदार्थ अगर सत्ताके मेलसे सत् कहलाये तो सत्ताका मेल होनेसे सत्तावान कहना चाहिए, न कि सत्। तो सभी पदार्थ खुद सत् है, कोई सत्ताके सम्बधसे सत् नही हैं।

सत्के छहो साधारणगुणोंकी सत्से अनन्यता—यहाँ यह बात समझनी कि जो सत् होता है वह स्वय सत् है, इसका नाम है अस्तित्व। गुण यह गुण पदार्थका ही है और अपने स्वरूपसे सत् है, पररूपसे सत् नही, क्योकि व्यक्ति तो अनन्त है, जीव अनन्त है, पुद्गल अनन्त है। तो प्रत्येक जीव अपने स्वरूपसे है, दूसरेके स्वरूपसे नही है। प्रत्येक परमाणु अपने स्वरूपसे है, दूसरेके स्वरूपसे नही है। मगर सब सत्ताकी दृष्टिसे सत् कहलाते हैं। कही ऐसा नही कि सारे पदार्थ मिलकर कोई एक सत् कहलाते हो और फिर ये उसके अनुकूल हो। प्रत्येक पदार्थ जुदे-जुदे हैं, पूर्ण पूर्ण सत् है। उनका काम उन ही मे अपनेमे अकेलेमे होता है और उनको जाति अपेक्षासे कह दिया कि ये सब सत् है। तो जो सत् होता, जो पदार्थ होता वह अपने स्वरूपसे सत् है, पर रूपमे सत् नही। जो पदार्थ होता वह निरन्तर परिणमता रहता है। कोई समय ऐसा नही हो सकता कि जिस समय कोई परिणमन न हो। कोईसा भी पदार्थ हो, प्रतिसमय वह परिणमता रहेगा। तो यो अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व गुणकी बात आयी। अब आगे चलें तो प्रत्येक पदार्थ अपने रूपसे परिणमता है, पररूपसे नही परिणमता। जीव है वह अपने ही चैतन्यरूपसे परिणमेगा, दूसरेके चेतनसे न परिणमेगा, पुद्गल आदिकके स्वरूपसे न परिणमेगा। यह है उसका अगुरुलघुत्व गुण। और सत् जितने होते है चाहे एकप्रदेशी हो, चाहे अनेकप्रदेशी हो, चाहे अनन्तप्रदेशी हो। प्रदेश बिना पदार्थ हो ही नही सकता। है तो उसका कुछ निजी क्षेत्र तो है। तो प्रत्येक पदार्थ प्रदेशवान होता है और जब प्रदेश है तो प्रमेय होता। जो है वह प्रमेय है, ज्ञेय है, जाननेमे आता है। जो नही वह क्या जाननेमे आये ? जो है ही नही, वह कभी जाननेमे आ ही नही सकता। है ही नही। क्या है जानना ? भले ही ऐसा लगता कि जैसे मानो गधेके सीग तो नही होते, मगर जाननेमे आ जाते। कभी-कभी तो कल्पनामे दिखते हैं– गधा है, सीग बैठाल लिया अपनी कल्पनासे उसके सिर पर तो ऐसा कुछ भी सोचा जाय, वहा सर्वथा असत् कुछ नही सोचा जा रहा। सीग तो होते है दुनियामे, बस उसकी कल्पना कर ली। जो कुछ है ही नही उसकी कल्पना ही नही उठ सकती। न उसके कोई शब्द ही हुआ करते। तो जितने सत् है, जो पदार्थ है वे प्रमेय हुआ करते है। भले हो यह बात है कि हम लोगोको छोटा

ज्ञान है तो हम सत्को नही जान सकते, मगर जो सत् है वही जाना जा सकता है, अन्य कुछ नही । यह नियम समझना है, यह बात प्रमेयत्व गुण बतलाती है तो इस तरह जो भी पदार्थ है उस पदार्थमे ६ साधारण गुण होते है—अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व और प्रमेयत्व तो अभिन्न ६ गुण सहित पदार्थ होते है और वे पदार्थ सब सत् कहलाते है । तो एक सत् ऐसा कहनेमें सबका सग्रह हो गया । यह हुआ संग्रहनय ।

नयोके विषयकी उत्तरोत्तर सूक्ष्मताके प्रकरणमें नैगम व संग्रहनयका हृदय—एक बात और समझनी है कि इन ७ नयोमे पहला नय तो स्थूल है, दूसरा नय उससे सूक्ष्म है, तीसरा उससे सूक्ष्म है, इस तरह सूक्ष्मसूक्ष्म होते जाते है एवभूतनय तक । तो ये स्थूल कैसे स्थूल है कि उसे सत् और असत् दोनोका मेल कर दिया । सर्वथा असत्का मेल नही होता, किन्तु जो वर्तमानमे नही विद्यमान है उसका और जो वर्तमानमें विद्यमान है उसका मेल कर दिया । जैसे चावल धो रहे है और कह दिया कि भात बना रहे है या आटा गूंथ रहे और कह दिया कि रोटी बना रहे, तो उस समय अभी रोटी तो नही बनी, रोटी पर्याय तो आगेकी है, और वर्तमानमे आटा है तो आटामे रोटीका मेल बना दिया कहनेमे कि रोटी बना रहे । तो सत्मे असत्का मेल किया, यह तो हुआ नैगमनय । अब उसमेसे केवल सत् सत्को ग्रहण करें, असत्को छुवें ही नही तो हो गया सग्रहनय । तो सूक्ष्मविषय हुआ इसमे । नैगमनयसे तो सत् असत् दोनो ग्रहणमे आये और सग्रहनयसे सिर्फ सत् ग्रहणमे आया और व्यवहारनयसे सत्का भी भेद करेंगे । जैसे सत्मे चेतन अचेतन दो भेद है तो वे सूक्ष्म बन जायेंगे । इस तरहसे ये नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म बनते चले जाते है ।

अब इसमे अनेक दार्शनिक तो ऐसे हैं कि जो एक सत् ही ब्रह्म है याने सारा जगत एक सत् है, उसे ब्रह्मरूप कहते । कोई ज्ञानरूप कहते, कोई शून्यरूप कहते । कोई कहते कि एक ही है, यह सग्रहनयका एकान्त है । कैसे एकान्त किया कि वास्तविकता तो यह थी कि चीजें तो अनेक है और वे अनेक चीजें एक जातिकी होनेसे एक कहलाती थी । जैसे—जीव । जीव अनन्त है, वे सब अनन्त जीवत्वके नातेसे जीव कहलाते है । जैसे गेहूका ढेर पडा है तो गेहू तो अनेक है, पर गेहू गेहूकी जातिसे उस सारे ढेरको एक कह देते है । यह गेहू किस भाव का है, और है गेहू उसमे बहुत, मगर एकवचनका प्रयोग करते है । तो ऐसे ही सग्रहनय अनेक चीजोंका सग्रह करता है, न कि सब एक ही है । जो लोग मानते कि सब कुछ एक ब्रह्म है उन्होने सग्रहनयका एकान्त किया । जो कि स्याद्वादसे विरोध है । सग्रहनय तो अनेक व्यक्तियोका एक जाति रूपसे संग्रह करता, ऐसा अगर देखे तब तो सही है, कह दें एक ब्रह्म, क्या हर्ज है ? मगर जाति अपेक्षा कहे तो सही है और ऐसा ही मान लें कि सब कुछ एक ही ब्रह्म है तो दूसरा कुछ है ही नही अन्य, तो यह तो केवल एक स्वप्नकी बात है, झूठ है,

मिथ्या है। तो यह मतव्य ठीक न रहा। स्याद्वाद विधिसे समझनेसे सारे मतव्य सही हो जाते है और स्याद्वादको छोड दें तो सब मिथ्या हो जाते हैं। तो सग्रहकयने अनेक सत्का सग्रह किया।

नयोकी उत्तरोत्तर सूक्ष्मताके प्रकरणमे व्यवहारनयका हृदय—अब द्रव्यार्थिकनयका तृतीय भेद व्यवहारनय है उसका वर्णन करते है। व्यवहारका अर्थ है वि अवहार, वि मायने विधिपूर्वक, अवहार मायने अवहरण करना याने सग्रहनयसे विधिपूर्वक अवहरण करना सो व्यवहार है। सग्रहनयसे जिन अर्थोंका ग्रहण किया गया था उनके भेदरूपसे जानकारी करना यह व्यवहार कहलाता है। यह व्यवहारनय पर्यायार्थिकनय नही है, द्रव्यार्थिकनय है, इसलिए पर्यायकी प्रधानतासे इसे नही जाना जा रहा, किन्तु जाना जा रहा है द्रव्यकी प्रधानतासे, किन्तु अवहरण किसी न किसी अशमे पर्यायको किए बिना नही होता, पर व्यवहारनयकी दृष्टि द्रव्यपर है। सग्रहनयसे ग्रहण किए हुएका विधिपूर्वक अवहरण करना, इसमे विधिका क्या मतलब है; याने सग्रहनयसे जो ग्रहण किया गया पदार्थ है वही आनुपूर्वी रूपसे उसका व्यवहार बन सके, इस तरहकी विधि होती है। जिस सर्वसग्रहनयने अर्थात् परसग्रहनयने सत् का ग्रहण किया था। अब सत् इतना ही मात्र कहा, उसमे विशेषकी अपेक्षा न रहे तो उससे व्यवहार तो नही बन सकता है। प्रयोग न होगा, काम न होगा, इस कारणसे व्यवहारका आश्रय किया जाता है। तो उस सत्के विशेष समझनेके लिए दो रूप रखे– द्रव्य और गुण। यहा सत् नाम है द्रव्य गुणका अभेद एक भावरूप सत् और उस सत्का जो द्रव्य और गुण भेद किया है तो उसमे द्रव्यके मायने तो है एक अन्वयरूप तत्त्व और गुणके मायने है अन्वय-शक्तिरूप तत्त्व। तो संग्रहनय जहा सत्को विषय करता है वहाँ द्रव्य और गुणकी चर्चा हो तो व्यवहार है। अब द्रव्यगुणमे से एक द्रव्यको एक इकाईमे रखा जाय याने सग्रहसे आक्षिप्त किए गए द्रव्यके द्वारा याने जिसमे जीव अजीवकी विशेषता न लगाई जाय उस विशेषताकी अपेक्षाके बिना उस सग्रहनयका ग्रहण किये गये द्रव्यके द्वारा भी व्यवहार नही बनता। तब उस जीवका विधिपूर्वक अवहरण करना, भेद करना कि वे द्रव्य जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य दो प्रकारके है, ऐसे दो प्रकार कर लेनेसे अब इसका व्यवहार बनने लगता है। अब जीव और अजीवका सग्रहनयसे ग्रहण किया। यह सग्रहनय जिस आशयसे ग्रहण किया गया उस जीव अथवा अजीवसे भी व्यवहार नही बनता। तो फिर जीवके भेद किए जायें देव नारकी तिर्यंच मनुष्य अथवा अजीवके भेद किए जायें घट पट आदिक तो लो अब उसके अनुकूल व्यवहार बनने लगा और लो यो व्यवहारका आश्रय हो गया। चीज वही है। विशेषकी अपेक्षा न हो तो व्यवहार नही बनता। विशेषकी अपेक्षा बन जाय तो व्यवहार बनता। जब तक विशेषकी अपेक्षा नही तब तक वह सग्रहनयका विषय है और जहाँ विशेषकी अपेक्षा हुई

कि व्यवहारनयका विशेष होता है। अब नयका निक्षेपोके साथ कैसा मेल होता है ? तो निक्षेप है चार, नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप, द्रव्यनिक्षेप और भावनिक्षेप—इन चार निक्षेपोमे तो नाम स्थापना, द्रव्य तीन निक्षेप संग्रहनयसे ग्रहण किए जाते है, अतएव दो निक्षेपोसे व्यवहार नही बनता। व्यवहारके लिए भावनिक्षेप समर्थ है। यहाँ प्रमाण और नयोसे वस्तुका अधिगम होता है। यो वस्तुकी जानकारीके उपायोके प्रसगमे नयोका विवरण चल रहा है। नय द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक ऐसे दो प्रकारके होते है। द्रव्यार्थिकनयमे नैगम, सग्रह, व्यवहार ये तीन नय है और उन तीनोमे भेद करके जानना यह व्यवहारनय है। यह द्रव्यार्थिकनयका एक नीचा अन्तिमरूप है। द्रव्यार्थिकनयसे एक सामान्य द्रव्यका बोध किया जाता है।

पर्यायार्थिकनयमे ऋजुसूत्रनयकी अर्थनयरूपता—अब पर्यायार्थिककी बात कहते है। पर्यायार्थिकका अर्थ है— पर्याय ही जिसका प्रयोजन है, सो पर्यायमे और भेद क्या ? वह तो भेदरूप अश है। इसलिए पर्यायार्थिकनयमे अर्थनय तो एक ही है—ऋजुसूत्रनय। अब उस ही एक अर्थके ऋजुके द्वारा विषय किए गए पर्यायके शब्दभेदसे और रूढिसे और तत्क्रिया निष्पत्तिकी दृष्टिसे तीन भेद और होते है, वे भी पर्यायार्थिकनय कहलाते है। यहाँ पर्यायार्थिकनयमे जो अर्थनय है उसका नाम है ऋजुसूत्रनय। ऋजु मायने एक सूत्रपात, उसकी तरह जो ऋजुको जाने उसका नाम है ऋजुसूत्र याने जैसे कारीगर सूत्रपात करके सूतसे एक तत्र बनाता उसी प्रकार इस नयकी दृष्टिसे द्रव्यमे प्रथम क्षणकी परिणतिको निरखकर एक वहाँ विशेष तत्रकी तरह बनाता है, ऐसी दृष्टिको ऋजुसूत्रनय कहते है। ऋजुसूत्रनय समस्त त्रिकाल विषयोका उल्लघन कर, उसकी अपेक्षा न रख वर्तमान विषयके कालको ही ग्रहण करता है, याने वर्तमान क्षणकी पर्याय मात्र इस नयका विषय है। तीन कालको पर्यायमे अतीत कालकी पर्याय तो नष्ट ही हो चुकी। उससे तो व्यवहार प्रयोगका काम क्या बनेगा ? भविष्यकालकी पर्याय उत्पन्न हुई नही, उससे भी कार्य कुछ न बनेगा ? व्यवहार न हो सकेगा। इस कारण इस पर्यायार्थिकनयमे इस वर्तमान पर्यायकी ही एक नजर रखी गई है।

जैसे कोई कहे कि आँवलेमे दवाई है तो आंवलेके पहले और अन्तकी स्थितियाँ तो दवाईमे नही आती। उसका अर्थ ही यह है कि जब उसमे रस उत्पन्न हुआ है, ऐसा आँवला दवाई है। पहिली अवस्थामे रस अल्प था, अगली अवस्थामे वह रस रहता नही। तो जैसे वहाँ एक बीचकी प्रथम स्थिति उपकारी है, ऐसे ही पर्यायोमे प्रथम क्षणका पर्याय ही एक अर्थक्रिया करता, काम करता। पर सूक्ष्म दृष्टि करके देखें तो वह भी प्रयोगमे नही आता। तब तो ऋजुसूत्रनयका विषयमात्र जान जान लेना इस नयका प्रयोजन है।

ऋजुसूत्रनयकी अप्रयोज्यता व अव्यवहार्यता होनेसे मात्र विषयज्ञप्तिके लिये नयरूपता—यहाँ कोई ऐसी आशका रख सकता है कि ऋजुसूत्रनयका विषय क्या बताया जाय ?

जो कहा जायगा वह या तो अतीतको सकेत करेगा या भविष्यको सकेत करेगा या हो चुका या होगा। हो रहेका सकेत करने वाला शब्द क्या है ? तो सुनो, इसे पच्यमानपक्व ऋजुसूत्र-नयसे कहा जायगा। जैसे चावल पकाये तो वर्तमान अवस्था क्या ? पक रहा, - पक गया, उनमे विरोध न समझना, क्योकि वह पक रहा, पका कहलाता है, क्योकि पहले समयमे यदि कोई अश न बना, पका तो दूसरे क्षणमे भी न पका, तीसरेमे भी न पका। कभी एक ही समयमे तो पक नही जाता। फिर तो पाकका अभाव ही हो गया और पक गया, ऐसा बोल नही सकते। तब उसे बोलेंगे पच्यमानपक्व। जैसे किसी अनाजके बर्तनका नाम रखा प्रस्थ, प्रकर्ष रूपसे जिसमे गेहू आदिक ठहर सकें उसे प्रस्थ कहते हैं। तो जब मापा जा रहा है तब वह प्रस्थ है, शेष समय नही। जैसे कोई आनेके बारेमे पूछे कि भाई आज तुम कहाँसे आ रहे हो ? तो वह कहता है कि कहीसे नही आ रहे, क्योकि जिस समय पूछा जा रहा है तो वह तो बैठा हुआ है और बैठे हुएमे पूछ रहे कि कहाँसे आ रहे ? आ कहाँ रहे, चल कहाँ रहा, बैठा ही तो है। उस कालमे तो चलनेकी क्रिया नही हो रही है। तो ऋजुसूत्रनयका ऐसा वर्तमान क्षणका विषय है कि वह व्यवहारके अयोग्य है, फिर भी पर्याय तो है, समयमे जानने का तो है। क्या हो रहा है ? ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमे विशेष्यविशेषण भाव भी नही कहा जा सकता।

जैसे कोई विशेषण लगाया काला कौवा, तो काला तो कालेमे ही कृष्णत्व रखता है और कौवा कौवामे ही काकपना रखता है। कृष्णत्व काकमे नही, काकमे कृष्णत्व नही। कृष्ण कृष्णात्मक है। वह काकात्मक नही। यदि काला कौवा स्वरूप हो जाय तो जो-जो काले हैं वे सब कौवा कहलाने लगेंगे और कौवा अगर कृष्णादिक हो जाय तो उसी शरीरमे जो अन्य वर्ण है सो अन्य वर्ण न रहना चाहिए। खून भी काला हो, हड्डी भी काली हो तब कहा जाय कौवा काला। तो ऋजुसूत्रनयकी दृष्टि एक ऐसे क्षणपर है कि जिससे व्यवहार नही बनता। केवल एक जानकारीका विषय बनता है। ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमे समानाधिकरण भी नही बनता। शक्ति शक्तिरूप है, पर्याय पर्यायरूप है। यह सब वर्णन कि एक पदार्थ है, उसमे गुण है, उसमे पर्याय है, यह पर्यायार्थिकनयका विषय नही है। यह तो द्रव्यार्थिकनयका भेदगत व्यवहारनयका विषय है। व्यवहारनय वर्तमान पर्याय मात्रको ग्रहण करता, जिसमे निर्णय कुछ नही पडा हुआ है और न उसका आश्रय लेकर निर्णय ही किया जाना चाहिए, क्योकि पर्यायार्थिकनय तो केवल वर्तमान पर्यायमात्रको विषय करता, निर्णयके लिए वह किसी भी रूपमे समर्थ नही है, वह तो ऐसी वर्तमानपर्यायको ग्रहण करता कि जहाँ उत्तरक्षण और पूर्वक्षणसे कुछ सम्बध न रखा हो। इस नयकी दृष्टिमे कोई यह भी व्यवहार नही कर सकता कि अगर दूकानमे रुई जल रही हो तो वह कह सकेगा इस दृष्टिमे कि रुई जल रही

है, क्योकि क्षरणको देखिये—जो जल रही है वह रुई नही, जो रुई है वह वर्तमानमे जल नहीं रही। इस प्रकार ऋजुसूत्रनय एक क्षणके ही मात्र तत्त्वको देखता है। वहाँ न कार्य कारण भाव है, न विशेष्यविशेषण भाव, न समानाधिकरण भाव, किन्तु एक क्षण बिजली दर्शनकी तरह एक वर्तमान पर्याय मात्रका अवलोकन हो जाना ही इस पर्यायार्थिकनयका प्रयोजन है। यहाँ कोई यह आशका कर सकता है कि जब व्यवहार ऋजुसूत्रनयमे नही तो कोई व्यवहार बनता नही, भोजन पान आदिकका व्यवहार बनता नही, कोई चीज भी तैयार हो सकती। सारे व्यवहारका लोप हो जायगा। तो इस शंकाका समाधान यह है कि व्यवहार बना रहे यह कोई मंशा नही है नयोकी। जहाँ हो सकना है व्यवहार हुआ। इस प्रकारकी दृष्टिमें व्यवहार नही बनता है तो मत बनो। यह तो वर्तमान पर्यायमात्र किस प्रकार है, कैसा अवक्तव्य है, अप्रयोजन है, अव्यवहार्य है, इतने मात्रका दर्शन इस नयमे कराया गया है। व्यवहारकी सिद्धि पूर्वनयसे हो जायगी और व्यवहारकी सिद्धि पर्यायार्थिकनयके भेद रूप व्यवहारनयसे होती है।

नयोकी उत्तरोत्तर सूक्ष्मताके प्रसंगमे शब्दनयका विवरण—अब यहाँ ऋजुसूत्रनयसे एक वर्तमान पर्याय जाना, इतनी बात तो आयी। अब उसमे भी कई और भेद हो सकते है। इसका वर्णन शब्दनय समभिरूढ और एवभूतमे होगा। यद्यपि अतिम तीन नयोके भेदसे अर्थ मे भेद नही पडता, क्योकि ऋजुसूत्रनयका विषयभूत जो अर्थ है वह एक अन्तिम भेद है। एक क्षरणसे और भेद क्या बनेगा ? लेकिन एक क्षणके विषयको शब्दो द्वारा भेद करना इन नयोका प्रयोजन है। शब्दनय ऋजुसूत्रनयसे ग्रहण किए गए अर्थमे शब्दोसे अर्थ भेद करना, उपयुक्त शब्द द्वारा किसी एक अर्थको ग्रहण करना प्रयोजन है। शब्दका अर्थ है जो सर्व सम्पति याने अर्थको कहे, अर्थका ज्ञान कराये उस नयको शब्दनय कहते है, याने जिस शब्दका उच्चारण किया गया है वह शब्द। जो पुरुष सुन रहा हो उसको अपने अविधेयमे जानकारी बना दे, उसीका ही नाम तो शब्द है, शब्दनय है। यह शब्दनय लिंग, संख्या, साधन आदिक का व्यभिचार दूर कर देता है याने ऋजुसूत्रनयसे तो लिंग सख्याकी विशेषता नही, इसकी ओर दृष्टि भेद न डालकर किसी भी शब्दसे कह लो, बस वर्तमान अर्थमे आना चाहिए। यहाँ तक ही मशा ऋजुसूत्रनयकी थी। अब शब्दनय शब्दके उपयुक्त अर्थको ग्रहण करता है। जैसे एक स्वाति नक्षत्र तारा होता है। अब उस स्वाति तारा है ऐसा कथन ऋजुसूत्रनयमे तो चल जाता है, क्योकि ऋजुसूत्रनयकी दृष्टि शब्द पर नही है, पर शब्दनय यह कहता है कि स्विति तारा यह कहना उपयुक्त नही है, क्योकि स्वाति है पुल्लिग और तारा है स्त्रीलिंग। स्त्रीलिगके साथ पुल्लिगको कहना, पुल्लिगके साथ स्त्रीलिंगको कहना यह शब्दनयमे दोषकी बात है।

जैसे कोई कहे विद्या याने ज्ञान तो विद्या स्त्रीलिंग और ज्ञान नपुसक । तो इसका कैसे जोड सही बन रहा ? कोई कहे कि आयुध शक्ति है, आयुध मायने हथियार, आयुध है नपुसकलिंग, शक्ति है स्त्रीलिंग । इन दोनो शब्दोका मेल कर देना ऋजुसूत्रनयमे तो क्षम्य है, पर शब्दनयकी दृष्टिमे क्षम्य नही है । वे इसे दोष समझते हैं कि अन्य लिंगकी सिद्धि के साथ अन्य लिङ्गका सम्बन्ध बनाना । इसी प्रकार सख्याका व्यभिचार भी शब्दनयको पसद नही है । जैसे बहुतसे आमके पेड है और उसे यो कहना कि यह आम्र बन है । तो ऋजुसूत्र-नय तक यह बात चलती थी, वहाँ शब्दकी मुख्यता नही, मगर आम तो बहुत हैं और वन एक कहा जा रहा है तो बहुतके साथ एकका जोड करना शब्दनयमे मजूर नही है । तो इसी तरह शब्दोके भेदसे ऋजुसूत्रनय द्वारा गृहीत अर्थमे भेद करना और ऐसे भेद करते हुए परि-चय करना यह शब्दनयका कार्य है ।

जैसे कोई कहे कि इसका सर्वको जान लेने वाला पुत्र होगा तो पुत्र तो होगा भविष्य मे और उस पुत्रका रख रहे हैं विशेषण—सर्व (सबको) जानने वाला तो यहाँ जान लेना तो उठती हुई बात हुई और होगा भविष्यमे । तो भूतका भविष्यके साथ मेल बनाना यह शब्दनय को पसद नही है । शब्दनय तो शब्दमे जैसी ध्वनि है उस ही रूप अर्थसे मेल करेगा । तो इस प्रकारके व्यभिचार नही होते कि पुल्लिङ्ग शब्दके साथ स्त्रीलिंग, भूतका भविष्यके साथ मेल कराये, ये दोष शब्दनयमे नही हुआ करते, क्योकि शब्दनयकी दृष्टिमे वे सब जुदे-जुदे अर्थ हैं और जुदे-जुदे अर्थका अन्य अर्थसे सम्बध नहीं जोडा जा सकता । यदि भिन्न अर्थका भिन्नके साथ सम्बध जुड जाय तो घडा कपडा हो जाय, कपड़ा मकान बन जाय, क्योकि एक अर्थ दूसरे रूप होने लगा मान लिया । तो शब्दनय इतने बारीक विषयको ग्रहण करता कि ऋजुसूत्रनयसे जो अर्थ ग्रहण किया गया उसमें भी शब्दभेदसे भिन्न भिन्न रूपमे ग्रहण करता है । यहाँ कोई कहे कि इस तरहसे तो लोकका, सिद्धान्तका, व्यवहारका विरोध हो जाता है । तो उत्तर यह है कि विरोध होने दो । यहाँ तो ऐसी चर्चा चल रही है कि किस नयमे क्या तत्त्व नजर आता है ? व्यवहार कैसे द्रव्यार्थिकनयके भेदाभेद व्यवहारसे चलेगा । तो यहाँ तक शब्दनयसे ऋजुसूत्रनयमे ग्रहण किए गए अर्थमे और भी भेद करके जुदा-जुदा पहिचाना ।

नयोकी उत्तरोत्तर सूक्ष्मताके प्रसंगमे समभिरूढ़नयका प्रतिपादन—अब इस ऋजुसूत्र-नयके विषयसे और सूक्ष्म विषय है समभिरूढनयका । तो शब्दभेदसे अर्थभेद किया । अब समभिरूढनयमे एक शब्दके अनेक अर्थ है । उन अनेक अर्थोंको तो शब्दनयने जाना, पर सम-भिरूढनय उन अनेक अर्थोमे से एक पदार्थ जो कि समभिरूढ है, प्रसिद्ध है, लोकसम्मत है, उसको ही ग्रहण करना, यह समभिरूढनयका अर्थ है । समभिरूढका अर्थ है नाना अर्थोंको एक अर्थमे ही अभिमुखताको रूढ करे वह समभिरूढ है । जो एक अर्थ पकड़ा गया समभिरूढनय

वह अन्य वस्तुमे संक्रमण नही करता । जैसे कि तीसरा शुक्लध्यान बताया है सूक्ष्मक्रिय, वह वितर्करहित है, परिवर्तनरहित है, क्योकि यह सूक्ष्म कार्य योगमे हुआ करना है । इसी प्रकार समभिरूढनयसे जो कोई बोला गया शब्द, जैसे गौ तो यह शब्द यद्यपि अनेक अर्थोमे लग रहा है तो भी एक अर्थमे ही वर्तमान होता है । गौ के अर्थ अनेक है—कान्ति, वाणी, किरण, पर अर्थ लिया गया गाय पशुसे । तो समभिरूढमे यह मशा है कि एक अर्थका एक पदार्थके ही साथ प्रयोग होवे, क्योकि शब्दभेद है तो अर्थभेद भी अवश्य होना चाहिए । तो नाना अर्थों मे लगने से यह समभिरूढ कहलाता है, याने जो शब्द जिस पदार्थमे प्रसिद्ध है उसका वही वाच्य होता है, ऐसी समभिरूढकी मशा है, क्योकि प्रत्येक अपने आपमे ही रहने वाला होता है ।

नयोकी उत्तरोत्तर सूक्ष्मताके प्रसंगमे एवंभूतनयका विवरण—अब समभिरूढनयसे और सूक्ष्मनय है एवभूत । जिस स्वरूपसे, जिस अविधेयसे याने शब्दकी जो मशा है उस रूप क्रियासे जो हो उसे उस ही क्रियासे निश्चय करना सो एवभूत नय होता है । जैसे राजाका अर्थ है शासन करना, राज्य करना, वह कभी किसी जगह खेल रहा हो तो वह राजक्रिया नही कर रहा उस समय उसमे राजत्व नही है । जैसे इन्द्र शब्दका अर्थ है विलय, ऐश्वर्य वाला होना । तो जब अपना ऐश्वर्य कला दिखा रहा उसी समय वह इन्द्र है, अन्य समय उसे इन्द्र कहना युक्त नही है, क्योकि जिस समय जो क्रिया हो रही है उस क्रियामे ही वह है, पूर्व उत्तर कालमे वह क्रिया नही है तो उस शब्दके द्वारा वह वाच्य नही हो सकता । इस नयकी दृष्टिमे तो इन्द्रके ज्ञानमे लग रहा आत्मा ही इन्द्र कहलाता है । अग्निके ज्ञानमे लग रहा अग्नि ही इन्द्र कहलाता । षट्खडागम ग्रंथमे बताया है कि एवभूत नयसे नारकी कौन है जो नरक पर्याय सम्बन्धी ज्ञानसे परिणत हो रहा है ।

यहाँ कोई यह शका कर सकता है कि यदि अग्निके ज्ञानमे परिणत जीवको ही अग्नि कह दिया जाय तो अग्निको जलाने वाली होती है तो क्या वह जल उठेगा ? इसका समाधान यह है कि एवभूतनयमे आगमभाव अग्निकी बात कही जाती है । यो आगमभाव अग्नि तो अग्नि ही है, उसमे दाहकत्व तो है, पर अग्निके स्वरूपको जानने वाले आगम भाव निक्षेपकी अपेक्षा अग्नि कहलाती है तो वह तो आगम भाव रूप है । एवभूतनय, समभिरूढनयसे भी सूक्ष्म है । तो ये सातो नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषय वाले होनेसे इनका क्रम यो रखा गया है कि ताकि यह ज्ञात हो कि अगला-अगला नया कारण पूर्व-पूर्व नय होता है । तो पहले-पहले के जो महान् विषय है उस ही के अन्तर्गत अल्प-अल्प विषय वाले नय होते जाते है । तो ये सब नय जब गौण प्रधान रूपसे समझें जो पर सापेक्ष हो जाते है, इस तरहका कोई परिचय करे तो ये सम्यग्दर्शनके हेतु होते है, और यदि ये स्वतंत्र-स्वतत्र ही अपने-अपने विषयकी जानकारी भर रखनेका प्रयोजन पूर्ण करें तो ये सम्यग्दर्शन जैसे विशुद्ध परिणामकी उत्पत्तिमे

कारण नही हो सकते ।

नयोके विवरणकी तीन पद्धतियां—वस्तुके स्वरूपके जाननेके उपाय मुख्यतया प्रमाण और नयोको कहा है, जिसमे प्रमाणके वर्णनके बाद नयोका वर्णन चल रहा है । ये नय एक साधारण पद्धतिमे तो ७ प्रकारके है । जैसा सूत्रमे कहा है कि अध्यात्मपद्धतिसे चार प्रकारके है—परमशुद्धनिश्चयनय, शुद्धनिश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय और व्यवहारनय । परमशुद्ध-निश्चयनय तो अखण्ड एक स्वरूपको विषय करता है । शुद्धनिश्चयनय शुद्ध पर्यायको द्रव्यके साथ एकतारूपसे देखता है अर्थात् वहाँ किसी परपदार्थपर दृष्टि नही है । किसके अभावसे स्वभावपर्याय हुई, यह भी वहाँ कल्पना नही है । अशुद्धनिश्चयनयके विषय है जीवके अशुद्ध परिणमन । यह अशुद्धनिश्चयनय अशुद्ध पर्यायको जीवके साथ ही जोडता हुआ देखता है । किसका निमित्त पाकर हुआ है, ऐसी कल्पना नही करता और न किसी अन्य पदार्थपर दृष्टि रख रहा है । व्यवहारनय एक विकारके तथ्यको प्रकट करता है अथवा समस्त नयोंके प्रति-पादनकी विधि बनाता है । तीसरी पद्धति है बुद्धिशब्दार्थपद्धति याने ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय । ज्ञाननय तो नैगमनय है, इसमे ज्ञानरूप विषय है, अर्थनय, सग्रहनय, व्यवहारनय और ऋजुसूत्रनयके विपयको जानता है । शब्दनय, समभिरूढनय और एवभूतनय—इन तीन नयोके विषयको जानना है ।

नयोंकी व्यापकविवरणवाली पद्धतिमे द्रव्यार्थिक हेतुक निश्चयनयके प्रथम प्रकारका दिग्दर्शन—अब चौथी पद्धति देखिये एक व्यापक विवरण वाली पद्धति । इस पद्धतिके अनु-सार नयके दो भेद है— (१) निश्चयनय, (२) व्यवहारनय । निश्चयनयके दो भेद हैं— (१) द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय (२) पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय । इसी प्रकार व्यवहारनयके चार भेद है—उपचरित सद्भूतव्यवहारनय (२) अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय (३) उप-चरित असद्भूतव्यवहारनय और (४) अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय अथवा इस पद्धतिमे व्यवहारनयके ५ भेद किए जाते है—(१) शुद्ध सद्भूतव्यवहारनय (२) अशुद्ध सद्भूतव्यव-हारनय (३) स्वगात असद्भूतव्यवहारनय (४) विगात असद्भूतव्यवहारनय (५) स्वगात-विगात असद्भूतव्यवहारनय । अभी जो निश्चयनयके भेद कहे गए थे—द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय और पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय । इनमे से द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनयका विवरण सुनो—मूलमे इस प्रकारका अर्थ है कि जो निश्चयनय द्रव्यार्थिकनयकी विधिको विषय करता हुआ है वह है द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय । जैसे यह नय १० प्रकारोमे बँटा हुआ है, जिसमे पहला प्रयोग है—परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय, याने जो वस्तुके परमपारिणामिक सहजस्वभावको ग्रहण करने वाला हो वह परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय है । जैसे आत्मतत्त्व के विषयमे इस दृष्टिमे ऐसा परिचय मिलता है कि आत्मा चैतन्यस्वरूप है । नयोके समस्त

विवरणमे, सभी भेदोमे यह घटाते जाना चाहिए कि इस नयसे हमे वस्तुका किस भाँति परिचय मिलता है, और उस परिचयसे आत्मा अपने हितकी ओर कैसे मुडता है, इस नयने आत्माको चैतन्यस्वरूप देखा। अखण्ड, अन्य कुछ दिख ही नही रहा यह नय तो इस नयका प्रभाव जो आत्मापर पडता है वह तो प्रकट ही है। केवल एक चैतन्यस्वरूपपर दृष्टि होनेसे यहाँ विकल्प दूर होते है, संकट नही रहते, सहजस्वभावकी उपासना बनती है। जिससे कर्मकलंक दूर होते है, मुक्तिके निकट पहुचते है। वस्तुके स्वरूपका प्रयोजन यह है कि आत्म-अहितका त्याग करे और हितको ग्रहण करें। अहित है विकारको स्वीकार करना और हित है सहजस्वभावको स्वीकार करना, क्योकि हित तो जीवका अनाकुल भाव है। जिसमे आकुलता मिटे वह तो हित है और जहाँ आकुलता बढे वह अहित है। तो जहाँ विकारसे लगाव रहेगा वहाँ आकुलता ही मिलेगी। विकारके लगावका आधार पाकर ही जीव बाह्य पदार्थों मे लगाव रखता है। वस्तुतः देखा जाय तो बाह्य पदार्थोमे लगाव कोई भी नही रख सकता, क्योकि बाह्य पदार्थ भिन्न पदार्थ है, आत्मा भिन्न पदार्थ है। भिन्न पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ से सम्बध नही रख सकता। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कुछ भी एकका दूसरेमे नही है। तो निश्चयतः लगाव जीवका अन्य द्रव्योमे नही होता, किन्तु कर्मोदयको निमित्तमात्र पाकर होने वाला जो जीवमे प्रतिफलन है, प्रतिबिम्ब है उसके साथ यह जीव लगाव करता है। सो ये विकार परभाव है, औपाधिक है, जीवके स्वरूप नही है। उसे परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय ने स्वीकार भी नही किया। तो इस दृष्टिमे जीवको आकुलता नही रहती और अपने निराकुल स्वरूप हितको इस नयके माध्यमसे पा लेता है। सर्वत्र नयोके विवरणमे यह ध्यान रखना चाहिए कि कोई भी नय निरपेक्ष होकर सत्य नही होते, सापेक्ष होकर ही सत्य होते है। तो यह सापेक्षता उस समय दृष्टिमे तो नही, किन्तु प्रमाणसे अधिगम होता है, अतएव उसकी जानकारीमे वह सब अपेक्षा पडी हुई है। तो इस प्रकार प्रमाणसे जाने गए पदार्थमे फिर नयोसे जाननेको सही नय कहते है।

भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नामका द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय—द्रव्यार्थिक हेतुक निश्चयनयका दूसरा प्रकार है भेदकल्पना निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय। इस नयके नाम से ही अर्थ निकल आता है याने भेदकल्पना जहाँ नही होती, भेदकल्पनाकी अपेक्षासे अलग रहकर याने भेदकल्पना न करके अभिन्न वस्तुके ग्रहण करने वाले नयको भेदकल्पना निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय कहते है। इस दृष्टिमे ग्रहण किए गए एक शुद्ध द्रव्यको अर्थात् परसे भिन्न और निजके एकत्वमे तन्मय, पर गुणपर्यायोसे अभिन्न देखा गया है। भेदकल्पना नही की, इसके एवजमे अभेदरूपसे निरखना चल रहा है। जैसे आत्मा अपने गुण और पर्यायोसे अभिन्न है, इस नयका प्रभाव आत्मापर क्या पडता है, यह बात समझनेके लिए इसमे विप-

रीतनयकी दृष्टिके प्रभावसे पहले समझिये— जब कोई जीव आत्माको इस तरह देखे कि इसमे गुण है, पर्याय है, गुण अनन्त है, प्रत्येक गुणकी पर्याय होती है, ऐसा प्रतिसमय उतनी ही पर्यायें है और फिर अगले-अगले समयमे जुदी-जुदी पर्यायें होती है, है तो यह विवरण ही। वस्तुके बारेमे प्रतिपादन इस तरह भी होता है, पर यो भेद करके दृष्टि रखनेसे एक निर्विकल्पता अथवा समाधिका अवसर नही होता और जहाँ समस्त गुण पर्यायोसे अभिन्न एक द्रव्यको ही देखा वहाँ विकल्प शान्त होते है और यह समाधिके अवसरका पात्र होता है। तो इस नयकी दृष्टिमे इस जीवने अपने आपमे एक अद्भुत प्रभाव पाया। यह प्रभाव तब ही बन सका जब प्रमाण द्वारा ग्रहण किए गए आत्मपदार्थमे इस दृष्टिसे निरखा गया है।

स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नामका द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय—द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनयका तीसरा प्रकार है स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय अर्थात् अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मुख्यतासे वस्तुको ग्रहण करना इस नयका काम है। जैसे आत्मतत्त्वके बारेमे यो निरखना कि यह मैं आत्मा अपने द्रव्य, अपने क्षेत्र, अपने काल और अपने भावसे हू अर्थात् जो मै हू शक्तिरूप, परिणामरूप ऐसा यह मै पूरा पदार्थ अपने ही द्रव्यसे हू, ऐसा निरख रहा है यह नय। साथमे यह भी बात लगी है कि परद्रव्यसे मैं नही हू। पर यह सब प्रमाणसे जान लिया गया था, तो प्रमाणसे जाने हुए आत्मपदार्थके विषयमे इस नयसे समझा जा रहा कि मैं अपने द्रव्यसे हू, अपने क्षेत्रमे हू। जो मेरा निज क्षेत्र है, आत्मप्रदेश है, उन रूपसे मैं हू, किसी परके प्रदेश रूपसे मैं नही हू। जो सत् होता है वह स्वतत्र होता है, वह अपने आपके सर्वास्तित्वसे अपने आप सत् रहता है। तो यह मैं आत्मा अपने क्षेत्रसे हू, यह इस नय ने जाना। यह मैं आत्मा अपने कालसे हू। मै पदार्थ हू तो मुझमे प्रतिसमय परिणमन होता रहता है। जो मेरा परिणमन है वह मेरा काल है, स्वकाल है। मैं स्वकालसे हू। इसके साथ यद्यपि यह भी बात लगी हुई है कि परकालसे नही हू, किन्तु यह समझ प्रमाणकी है और प्रमाणसे समझे गए ही पदार्थमें इस नयसे जाननेका प्रभाव होता है। मैं अपने परिणमनसे हू, अपनी पर्यायको अपनेमे ही विकसित करता हू, ऐसा इस नयमे देखा जा रहा है। मैं अपने भावसे हू अर्थात् मेरी शक्ति, मेरा बल मेरेमें ही है और उस ही भावसे रहता हू। ये ही शक्तियाँ गुण कहलाती है, ये ही शक्तियाँ अभेददृष्टिसे स्वभाव कहलाती हैं। मैं अपने स्वभावसे हू, अपने गुणोंसे हू, इस प्रकारकी दृष्टि इस नयमे होती है। इस दृष्टिका फल यह है कि जहाँ नि.शकतापूर्वक यह बोध चल रहा है कि मैं अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे हू। तो इस प्रकारके दर्शनमे इस जीवको सकट, आकुलताका कोई अवसर नही होता।

परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नामका द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय—द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनयका चौथा प्रकार है परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय। तो परद्रव्यके द्रव्य, क्षेत्र, काल,

भावको ग्रहण करने वाला है द्रव्यार्थिकनय । अर्थात् यह नय परद्रव्यके क्षेत्रको किस तरह ग्रहण करता ? यह बात समझनेकी है । वह ग्रहण है एक प्रतिबंधक अर्थात् जैसे मै परद्रव्यके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नही हू, मुझमे किसी भी परपदार्थका द्रव्य नही है । द्रव्य स्वय सभी परिपूर्ण होते हैं और अपने आपमे परिसमाप्त है, किसी भी द्रव्यका प्रवेश किसी अन्य द्रव्यमें नही होता, इसी प्रकार परद्रव्यका प्रवेश उस ही मे है, तन्मय ही तो है वह द्रव्य । परद्रव्यका क्षेत्र किसी अन्य द्रव्यमे नही पहुच सकता । मै परद्रव्यके क्षेत्रसे नही हूं, अर्थात् मेरेको छोडकर अनत जीव, समस्त अनत पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य, इनके प्रदेशसे मैं नही हू । परद्रव्यका काल याने परद्रव्यका परिणमन उन ही मे है, प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने परिणमनसे व्याप्त होते जाते है, मै परद्रव्यकी पर्यायसे अत्यन्त जुदा हूं, इस तरह इस नयमे निरखा जा रहा है । मैं परभावसे नही हू, अन्य पदार्थकी शक्ति, अन्य पदार्थके गुण, अन्य पदार्थके भाव उस ही पदार्थमे है, अन्य पदार्थमे नही पहुच सकते । मुझमे किसी एक पदार्थका, परभावका भाव नही, शक्ति नही, धर्म नही है । इस तरह यह नय परपदार्थोंसे अपनेको विविक्त निरख रहा है । सम्यक्त्वउत्पत्ति ऐसे ही परिचय वाले पुरुषके होती है जो परपदार्थोंसे भिन्न और अपने आपमे तन्मय निज द्रव्यको निरखते है । तो इस नयका परपदार्थ से भिन्नताके निर्णयकी ओर इस आत्माको प्रभावित किया है ।

अन्वयद्रव्यार्थिक नामका द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय—द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनयका ५वां प्रकार है अन्वयद्रव्यार्थिकनय । याने गुण और पर्यायोमे अन्वय रूपसे रहने वाले द्रव्यको इस नयने ग्रहण किया है । प्रत्येक पदार्थ अपने समस्त गुणोमे अन्वित है और इसी प्रकार जितनी पर्याये होती है उन सब पर्यायोमे पदार्थ अन्वित है । जैसे यह मैं आत्मा अपने समस्त गुणो रूप हू अथवा गुण कहां अलग है ? आत्मा स्वय एक अखण्ड तत्त्व है, एक स्वभावरूप है । वही एक स्वभाव जब समझा जाता है, जब इसे हम समझते है तो हम भेद करके गुणों के रूपसे समझते है, तो वे गुण मुझसे भिन्न नही, उन गुणोमे ही अन्वयरूपसे मैं हू, समस्त गुणोमे व्यापक हू । इस प्रकार मेरी जो-जो पर्यायें होती जाती है वे सब पर्यायें मुझमे है । मै उन पर्यायोमे व्यापता जाता हू । पर्यायें मुझसे अलग नही है, मुझमे ही वे उत्पन्न हुए तो उन पर्यायोमे अन्वयरूपसे रहता हू, ऐसा इस नयने दिखाया, जिससे संक्षेपमे यह निर्णय रहा कि मै अपने गुणपर्याय स्वभाव वाला हू । प्रत्येक द्रव्य अपने गुणपर्याय स्वभाव वाला होता है ।

उत्पादव्ययगौणसत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक नामका द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय—द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनयका छठा प्रकार है उत्पादव्ययगौणसत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय । इस नयके नामसे ही इस नयका विषय परख लिया जाता है । याने जिस दृष्टिमें उत्पाद और

व्यय तो गौण है और सत्ताका ग्रहण है, ऐसा शुद्ध अभेद द्रव्यको निरखने वाला नय यहाँ इस प्रयोगताको अभेदकी ओर ले जाया जा रहा है। इस नयकी दृष्टिमे पदार्थ नित्य दिख रहा है, क्योकि उत्पादव्ययको तो गौण किया गया है और केवल ध्रौव्य विषयको सदा ही निरखा जा रहा है। उत्पादव्यय नही होते, यह बात न समझना। उत्पाद व्यय सापेक्ष ही ध्रौव्य हुआ करता, लेकिन वह सब तो इस ज्ञानीने प्रमाणादिक द्वारा जान लिया। अब प्रमाण द्वारा जान ली गई वस्तुको ध्रौव्यदृष्टिसे देख रहा है तो उत्पाद व्यय गौण हो गए। केवल सत्ताकी दृष्टिसे वस्तुके धर्मको ग्रहण किया जा रहा है। तो इस नयमे पदार्थ नित्य निरखा जा रहा है और इस निरखनेका प्रभाव यह होता है कि जब यह निश्चय हो गया कि नित्य हू, सदा रहता हू तो इस दृष्टिके बलसे बहुत-सी आकुलता, शका, भय दूर हो जाता है, और चूंकि मैं नित्य हू, सदा रहता हू तो मुझे अब थोडे समयके कल्पित सुखोमे रहकर अपना भविष्य न बिगाडना चाहिए, आदिक प्रेरणायें इस नयसे मिलती है।

कर्मोपाधिनिरपेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय नामका द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय—द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनयका ७वा प्रकार है कर्मोपाधि निरपेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय, जहाँ कर्मोपाधिकी अपेक्षा नही है और अशुद्ध द्रव्यको देखा जा रहा है, ऐसे आशयमे जो द्रव्यका निरखना है वह कर्मोपाधि निरपेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है। इसका विषय है जैसे ससारी जीव सिद्ध समान शुद्ध आत्मा है, कर्मोपाधिकी अपेक्षा रखी नही गई तो विकारके निरखनेकी गुञ्जाइश ही नही है और चूकि देखा जा रहा है ससारी जीवको ही तो उसे समझाया जा रहा है सिद्ध समान शुद्ध आत्मा। इस नयका विषय द्रव्य है, इस कारण यह द्रव्यार्थिक है। इस नयने अभेद भीतरी स्वभावको ग्रहण किया, इस कारण यह निश्चयनय है। कर्मोपाधिकी अपेक्षा न होनेसे यहाँ निरखा जा रहा है सिद्ध समान शुद्ध आत्मा। इस नयकी दृष्टिमे शिक्षा क्या मिलती है कि ससार अवस्थामे भी जीवमे जीवत्व तो सिद्धप्रभुकी तरह है और उसमे जीवकी प्रकृति सिद्ध आत्माकी तरह शुद्ध अविकार अवस्थाकी है। इस नयकी दृष्टिमे बहुत बडी प्रेरणा मिलती है। हम अपनेको विकृत ससारमे भटकने योग्य पदार्थ न मानें कि हम तो ऐसे ही है कि जो ससारमे जन्म मरण करते रहे और इस तरह ससार बढाते चले जायें, इसके लिए ही मेरा अस्तित्व है, ऐसा जानकर कायरता आती है। उस कायरताको यह नय मिटा देता है और अन्त: एक स्फूर्ति उत्पन्न करता है कि तू तो सिद्धप्रभुके समान शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्रकृति वाला है।

कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकहेतुक नामका द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय—अब द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनयका ८वा प्रकार सुनो। वह है कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय। इस दृष्टिसे अशुद्ध द्रव्यको निरखा जा रहा है, परन्तु अभेद रूपसे देखा जा रहा। साथ ही

कर्मोपाधिकी अपेक्षा भी चल रही है । अभी जो ७वें प्रकारमें कहा गया था, जैसे वहाँ अशुद्ध द्रव्यको देखा ऐसे ही वहाँ अशुद्ध द्रव्यको देखा जा रहा है, किन्तु उस ७वे प्रकारको कर्मोपाधिकी अपेक्षा न होनेसे अन्तः शुद्धत्वकी दृष्टि हुई थी, किन्तु यहाँ कर्मोपाधिकी अपेक्षा होनेसे अशुद्ध विकारको दृष्टि हो रही है । इसका विषय है– जैसे कर्मके निमित्तसे उत्पन्न हुए क्रोधादिक भावात्मक आत्मासे वर्तमानमे आत्माको देखा जा रहा है वर्तमान पर्यायसे परिणत और चूकि यहाँ उस पर्यायका द्रव्यसे भेद करके नही देखा जा रहा है, किन्तु उस पर्यायात्मक रूपसे देखा जा रहा है, इस कारण यह निश्चयनयका विषय है, फिर भी कर्मोपाधिकी अपेक्षा इस नयमे चल रही है, इस कारण अध्यात्मपद्धतिमे बताये गये अशुद्ध निश्चयनयसे इस नय मे व्यवहारिकता अधिक है, फिर भी आशयभेद होनेसे इसे पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनयमे कहा गया है । इस नयकी दृष्टिसे हम यही तो निरख रहे हैं कि आत्मा क्रोधादिक भाव रूप है, कही अचेतन प्रकृतिरूप नही है, किन्तु आत्मावा ही यह विकार बन रहा है और आत्माकी परिणतिसे बन रहा है, अतः हमे प्रमादी न होना चाहिए या सतुष्ट न रहना चाहिए इस ओरसे कि ये तो सब प्रकृतिके विकार है, मेरा इसमे क्या बिगाड है ? उस बिगाड़ रूप मैं हूँ ऐसा एक चित्तमे पुरुषार्थकी ओर प्रयास बनता है और उस प्रयासमे मदद दे रही है कर्मोपाधिकी अपेक्षा वाली दृष्टि । ये क्रोधादिक दूर हो सकते है, क्योकि ये मेरे सहजस्वभाव से नही हुए है कर्मोपाधिकी अपेक्षा रखकर हुए हैं । इस तरह मिल-जुलकर एक जागृति उत्पन्न हुई है ।

भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नामका द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय — द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनयका ६वां प्रकार है भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय । इस नयमे अशुद्ध द्रव्यको ग्रहण किया गया है, मगर यह अशुद्ध विकाररूप नही है, किन्तु अखण्ड द्रव्यमे प्रतिबोधके लिए जैसे भेद किया जाता है उस भेदविधिसे खण्ड करके गुणोको निरखा जा रहा है । आत्मामे अनन्त गुण है, ऐसा निरखना, आत्मामे भेद कल्पना किए बिना नही बनता । वस्तु तो प्रत्येक अखण्ड है और उसका स्वरूप स्वभाव अखण्ड है, किन्तु अखण्ड स्वभावका एकान्त करके कोई कुछ प्रतिपादन करना चाहे और दूसरेको समझाना चाहे तो उसमे समझ नही बढती । इस कारण अखण्ड वस्तुमे भेदकल्पना करके अनुरूप स्वभावके अविरुद्ध और स्वभावको समझनेमे मदद करने वाली शक्तिको निरखा जाता है । इस नयके बलसे आत्माके विषयमे बडे विवरणके साथ समझ बनती है । आत्मा कैसा है ? ज्ञानवान है, क्योकि यह जाननहार है । इसमे जाननेकी शक्ति है । आत्मा कैसा है ? आनन्दस्वरूप है, अनाकुल स्वभावी है, इसमे आत्मीय सहज आल्हादकी शक्ति है । आत्मा चारित्रवान है । आत्मा ज्ञानमुखेन ज्ञानबलसे अपने ज्ञानस्वरूपमे समा जाय, ज्ञान द्वारा ज्ञानस्वरूपको ही जाना करे, ऐसी

इसमे शक्ति है आदिक रूपसे आत्माका विशेष विवरण समझमे आता है और जब आत्माका विशेष विवरण समझमे हो तो उसे संकोच कर, स्वभावमे ढालकर हम स्वभावके परिचयके पात्र बनते है, और स्वभावका आश्रय स्वभाव परिचय बिना नही बनता। स्वभावपरिचयसे स्वभावाश्रयकी पात्रता होती है और स्वभावाश्रय होनेमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की समृद्धि होती है।

उत्पादव्ययसापेक्ष द्रव्यार्थिकनय का द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय—द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनयका १०वां प्रकार है उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय। इस नयकी दृष्टिमे देखा तो जा रहा है द्रव्यको जो कि ध्रुव है, पर उसे उत्पादव्ययसापेक्ष देखा जा रहा है, इस नय का विषय है द्रव्य एक ही समय मे उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है अर्थात् पदार्थ उसी समय नवीन अवस्थामे आता है, पुरानी अवस्थाको विलीन करता है और उसका द्रव्यत्व सदा रहता है, सो उस समय भी है। इस नयमे द्रव्यको ही देखा जा रहा है और उस द्रव्यको अभेद रूपमे देखा जा रहा है, इसलिए यह निश्चयनय है और इसका विषय द्रव्यार्थिक है, अत द्रव्यार्थिकहेतुकनिश्चयनय है, किन्तु साथमे उत्पादव्ययकी अपेक्षा चल रही है, इसलिए यह अशुद्ध है। यहां अशुद्धका मतलब विकारसे नही है, किन्तु खण्डसे है। एक अखण्ड पदार्थ मे उत्पादव्ययध्रौव्यका भेद रखकर पदार्थको देखा जा रहा है जिसका परिणाम तथ्यभूत है। इस नयका विषयभूत जब आत्माको किया जाता है तो वहां यह शिक्षा मिलती है कि आत्मा केवल ध्रुव ही नही है। जो अपरिणामी हो, जिसमे कुछ परिवर्तन हो ही न सकता हो वह उत्पादव्यय वाला है। आज यदि अज्ञान अवस्था है, विकट अवस्था है तो इसे दूर कर निराकुल अवस्था प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय १० प्रकारोमे परखा गया है। बताया गया था कि निश्चयनयके दो भेद है—(१) द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय और (२) पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय, जिसमे प्रथमका वर्णन हुआ।

पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनयके प्रसगमे अनादिनित्य पर्यायार्थिकनयका वर्णन—अब पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनयका वर्णन करते है। इसके ६ प्रकार हैं, जिनमे पहले प्रकारका नाम है अनादिनित्य पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय। इस नयकी दृष्टिमे देखा तो जा रहा है पर्यायरूप से ही, परन्तु स्थूल दृष्टिसे देखा जा रहा है। पदार्थमे प्रतिक्षण नवीन-नवीन पर्याय बनती है, लेकिन ऐसी समय-समय वाली पर्यायको न देखकर स्थूल रूपसे देखा जा रहा है। इस नयकी दृष्टिमे जैसे यहाँ देखा जाता है कि चन्द्र सूर्यादिक पर्यायें नित्य है, चन्द्र सूर्य भी विमान हैं और स्कध है, पर्याय है, लेकिन यहाँ भी क्षण-क्षणमे कितने ही परमाणु बनते हैं, कितने ही परमाणु नये आते हैं और इस कारण इस स्कधमे भी प्रतिक्षण नई अवस्था चलती है, किन्तु उसे दृष्टिमे न लेकर एक स्थूल पर्याय दृष्टिमे ली गई है, जिसमे कि वह नित्य प्रतीत होती है।

सभी लोग जानते है कि चद्र सूर्य तो एक नित्य है और लोग दृष्टान्त भी देते है कि जब तक सूर्य चन्द्र हो तब तक अमुक प्रभावना बनती रहे। तो चन्द्र, सूर्य ये स्कध है, पर्यायरूप है, अतएव वस्तुतः अनित्य है, लेकिन उन पर्यायोको समान रूपसे निरखा गया और स्थूल रूपसे देखा गया तो जैसे लोकप्रसिद्ध बात है उस तरहसे समझा कि चन्द्र, सूर्य आदिक पर्याये नित्य है। इस दृष्टिमे जब आत्माको देखा जाता है तो आत्माकी भी पर्याय जैसे मनुष्य, पशु आदिक है तो मनुष्यपर्यायमे चूकि यह कुछ वर्षों तक रहता है तो लोग ऐसा जानते है कि यह मनुष्यपर्याय नित्य है। सदा नित्य नही है, अनादि नित्य नही है, इस कारण इस नयका यह उदाहरण नही बन सकता, फिर भी स्थूल दृष्टिसे इस प्रकार निरखा जाता है। कही चन्द्र, सूर्यकी तरह मनुष्यपर्यायको नित्य न मान लिया जाय, यह एक शिक्षा इस नयसे मिलती है।

सादिनित्य पर्यायार्थिक नामका पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय—पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनयका दूसरा प्रकार है सादिनित्य पर्यायार्थिकनय। इस नयकी दृष्टिमे उस पर्यायको देखा जा रहा है, जो पर्याय सदा रह सकती है। स्थूल दृष्टिसे देखनेपर पर्यायकी समानतामे एकत्वका उपचार करनेकी बात कही जा रही है। यहाँ पर्यायको देखा जा रहा है जो सदा रहेगी, किन्तु उसकी आदि हुई है। जैसे सिद्धपर्याय नित्य है, जो जीव सिद्धपर्याय पा चुकता है उसकी वह सिद्धता कभी नष्ट नही होती। अनन्त काल तक अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त आनन्दरूप रहेगा ही। इस कारण यह सिद्धपर्याय नित्य कही जाती है। वस्तुतः देखा जाय तो सिद्धपर्यायमे भी जीवका जो जो भी परिणमन चल रहा है वह प्रतिक्षण एक नवीन-नवीन परिणमन है, लेकिन विलक्षण परिणमन न होनेसे, समान परिणमन होनेसे उन सब परिणमनोमे अभेद दृष्टि गई है और इस दृष्टिमे सिद्धपर्याय नित्य प्रतीत हुई। इस नयसे एक यह आश्वासन मिलता है कि एक बार यह जीव कर्मकलकको नष्ट करके सिद्धपर्याय प्राप्त कर ले, फिर यह सिद्धपर्याय प्राप्त कर ले, फिर यह सिद्धपर्याय जो कि अनन्त आनन्दका धाम है वह कभी नष्ट नही हो सकती, और ऐसी ही अवस्था हम सब जीवोके लिए उपादेय है। इस अवस्थाकी प्राप्तिके लिए जिन्होने उद्यम किया उनका जीवन सफल है।

सत्तागौण उत्पादव्ययग्राहक नित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नामका पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय—पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनयका तीसरा प्रकार है सत्तागौण उत्पादव्ययग्राहक नित्य शुद्धपर्यायार्थिकनय। इस नयमे प्रत्येक समयकी पर्याय निरखी गई है और प्रत्येक समयकी अर्थात् एक समयकी जो पर्याय है वह अखण्ड है, यह अभेद निरख अभेद है याने इसके और कोई खण्ड नही हो सकते। यह एक अन्तिम खण्ड है, इसलिए अभेद है। ऐसी अभेद पर्याय को देखनेसे इसे शुद्ध पर्याय कहा गया है। यहाँ विकारी पर्याय है या स्वाभाविक पर्याय है

इसमे शक्ति है आदिक रूपसे आत्माका विशेप विवरण समझमे आता है और जब आत्माका विशेष विवरण समझमे हो तो उसे संकोच कर, स्वभावमे ढालकर हम स्वभावके परिचयके पात्र बनते है, और स्वभावका आश्रय स्वभाव परिचय विना नही वनता । स्वभावपरिचयसे स्वभावाश्रयकी पात्रता होती है और स्वभावाश्रय होनेसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की समृद्धि होती है ।

उत्पादव्ययसापेक्ष द्रव्यार्थिकनय का द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय—द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनयका १०वां प्रकार है उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय । इस नयकी दृष्टिमे देखा तो जा रहा है द्रव्यको जो कि ध्रुव है, पर उसे उत्पादव्ययसापेक्ष देखा जा रहा है, इस नय का विषय है द्रव्य एक ही समय मे उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है अर्थात् पदार्थ उसी समय नवीन अवस्थामे आता है, पुरानी अवस्थाको विलीन करता है और उसका द्रव्यत्व सदा रहता है, सो उस समय भी है । इस नयमे द्रव्यको ही देखा जा रहा है और उस द्रव्यको अभेद रूपमे देखा जा रहा है, इसलिए यह निश्चयनय है और इसका विषय द्रव्यार्थिक है, अत द्रव्यार्थिकहेतुकनिश्चयनय है, किन्तु साथमे उत्पादव्ययकी अपेक्षा चल रही है, इसलिए यह अशुद्ध है । यहां अशुद्धका मतलव विकारसे नही है, किन्तु खण्डसे है । एक अखण्ड पदार्थ मे उत्पादव्ययध्रौव्यका भेद रखकर पदार्थको देखा जा रहा है जिसका परिणाम तथ्यभूत है । इस नयका विषयभूत जब आत्माको किया जाता है तो वहां यह शिक्षा मिलती है कि आत्मा केवल ध्रुव ही नही है । जो अपरिणामी हो, जिसमे कुछ परिवर्तन हो ही न सकता हो वह उत्पादव्यय वाला है । आज यदि अज्ञान अवस्था है, विकट अवस्था है तो इसे दूर कर निरा-कुल अवस्था प्राप्त की जा सकती है । इस प्रकार द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय १० प्रकारोमे परखा गया है । बताया गया था कि निश्चयनयके दो भेद है—(१) द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चय-नय और (२) पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय, जिसमे प्रथमका वर्णन हुआ ।

पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनयके प्रसंगमे अनादिनित्य पर्यायार्थिकनयका वर्णन—अब पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनयका वर्णन करते है । इसके ६ प्रकार हैं, जिनमे पहले प्रकारका नाम है अनादिनित्य पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय । इस नयकी दृष्टिमे देखा तो जा रहा है पर्यायरूप से ही, परन्तु स्थूल दृष्टिसे देखा जा रहा है । पदार्थमे प्रतिक्षण नवीन-नवीन पर्याय बनती है, लेकिन ऐसी समय-समय वाली पर्यायको न देखकर स्थूल रूपसे देखा जा रहा है । इस नयकी दृष्टिमे जैसे यहाँ देखा जाता है कि चन्द्र सूर्यादिक पर्यायें नित्य है, चन्द्र सूर्य भी विमान हैं और स्कध हैं, पर्याय हैं, लेकिन यहाँ भी क्षण-क्षणमे कितने ही परमाणु बनते हैं, कितने ही परमाणु नये आते हैं और इस कारण इस स्कधमे भी प्रतिक्षण नई अवस्था चलती है, किन्तु उसे दृष्टिमे न लेकर एक स्थूल पर्याय दृष्टिमे ली गई है, जिसमे कि वह नित्य प्रतीत होती है ।

सभी लोग जानते है कि चंद्र सूर्य तो एक नित्य है और लोग दृष्टान्त भी देते है कि जब तक सूर्य चन्द्र हो तब तक अमुक प्रभावना बनती रहे। तो चन्द्र, सूर्य ये स्कध है, पर्यायरूप है, अतएव वस्तुतः अनित्य है, लेकिन उन पर्यायोको समान रूपसे निरखा गया और स्थूल रूपसे देखा गया तो जैसे लोकप्रसिद्ध बात है उस तरहसे समझा कि चन्द्र, सूर्य आदिक पर्यायें नित्य है। इस दृष्टिमे जब आत्माको देखा जाता है तो आत्माकी भी पर्याय जैसे मनुष्य, पशु आदिक है तो मनुष्यपर्यायमे चूकि यह कुछ वर्षों तक रहता है तो लोग ऐसा जानते है कि यह मनुष्यपर्याय नित्य है। सदा नित्य नही है, अनादि नित्य नही है, इस कारण इस नयका यह उदाहरण नही बन सकता, फिर भी स्थूल दृष्टिसे इस प्रकार निरखा जाता है। कही चन्द्र, सूर्यकी तरह मनुष्यपर्यायको नित्य न मान लिया जाय, यह एक शिक्षा इस नयसे मिलती है।

सादिनित्य पर्यायार्थिक नामका पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय—पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनयका दूसरा प्रकार है सादिनित्य पर्यायार्थिकनय। इस नयकी दृष्टिमे उस पर्यायको देखा जा रहा है, जो पर्याय सदा रह सकती है। स्थूल दृष्टिसे देखनेपर पर्यायकी समानतामें एकत्वका उपचार करनेकी बात कही जा रही है। यहाँ पर्यायको देखा जा रहा है जो सदा रहेगी, किन्तु उसकी आदि हुई है। जैसे सिद्धपर्याय नित्य है, जो जीव सिद्धपर्याय पा चुकता है उसकी वह सिद्धता कभी नष्ट नही होती। अनन्त काल तक अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त आनन्दरूप रहेगा ही। इस कारण यह सिद्धपर्याय नित्य कही जाती है। वस्तुत: देखा जाय तो सिद्धपर्यायमे भी जीवका जो-जो भी परिणमन चल रहा है वह प्रतिक्षण एक नवीन-नवीन परिणमन है, लेकिन विलक्षण परिणमन न होनेसे, समान परिणमन होनेमे उन सब परिणमनोमे अभेद दृष्टि गई है और इस दृष्टिमे सिद्धपर्याय नित्य प्रतीत हुई। इस नयसे एक यह आश्वासन मिलता है कि एक बार यह जीव कर्मकलकको नष्ट करके सिद्धपर्याय प्राप्त कर ले, फिर यह सिद्धपर्याय प्राप्त कर ले, फिर यह सिद्धपर्याय जो कि अनन्त आनन्दका धाम है वह कभी नष्ट नही हो सकती, और ऐसी ही अवस्था हम सब जीवोके लिए उपादेय है। इस अवस्थाकी प्राप्तिके लिए जिन्होने उद्यम किया उनका जीवन सफल है।

सत्तागौण उत्पादव्ययग्राहक नित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नामका पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय—पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनयका तीसरा प्रकार है सत्तागौण उत्पादव्ययग्राहक नित्य शुद्धपर्यायार्थिकनय। इस नयमे प्रत्येक समयकी पर्याय निरखी गई है और प्रत्येक समयकी अर्थात् एक समयकी जो पर्याय है वह अखण्ड है, यह अभेद निरश अभेद है याने इसके और कोई खण्ड नही हो सकते। यह एक अन्तिम खण्ड है, इसलिए अभेद है। ऐसी अभेद पर्यायको देखनेसे इसे शुद्ध पर्याय कहा गया है। यहाँ विकारी पर्याय है या स्वाभाविक पर्याय है

यह दृष्टिमे नही लेना है, किन्तु एक समयकी पर्याय है, यही मात्र दृष्टिमे लेना है। तो ऐसी एक समयकी शुद्ध पर्याय अनित्य ही है, इसलिए इसके साथ जो अनित्य विशेषण दिया है वह व्यक्तिसगत है। यह अनित्य शुद्ध पर्याय तब दृष्टिमे आती है जब उत्पादव्ययका ग्रहण किया जा रहा हो। अब यह पर्याय हुई, अब यह पर्याय हुई, ऐसा उत्पाद देखा जाता हो, और जहाँ ऐसा उत्पाद देखा जा रहा हो वहाँ व्यय भी उसकी दृष्टिमे चल रहा है। किन्तु इस दृष्टिमे सत्ता गौण है, ध्रुवता गौण है। तो ऐसा जहाँ सत्ता गौण हो और उत्पादव्ययका ग्रहण हो ऐसी अनित्य शुद्ध पर्यायको निरखना चूंकि अभेदरूपसे ही बनता है इस कारण यह सत्ता गौण उत्पादव्ययध्रौव्यग्राहक अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिकनय कहलाता है। इस नयमे एक प्रभाव बनता है। जो मनुष्य प्रमाण द्वारा वस्तुके स्वरूपको जान चुका है वह जब इस नयका उपयोग करता है तो चूंकि उसके उपयोगका विषय है एक समयकी शुद्धपर्याय।

यद्यपि छद्मस्थ अवस्थामे एक समयकी पर्यायका ज्ञान नही बनता, क्योंकि यह उपयोग अन्तर्मुहूर्तमे जानता है और अन्तर्मुहूर्तकी पर्यायको जान पाता है, फिर भी श्रुतज्ञानकी ऐसी महिमा है कि विशेष ज्ञान द्वारा एक समयकी तो बात क्या, एक समयमे भी कल्पना द्वारा खण्ड करके जान सकते है। जैसे कहा जाता है कि शुद्ध परमाणु एक समयमे चौदह-राजू गमन करता है। चौदह राजू गमन कर चुका, वहाँ एक समय नही व्यतीत हुआ है। समयसे कम कोई समय नही होता, लेकिन ऐसा सोचा जाय कि एक परमाणु जब उतनी जगहको उल्लघ करके गया तो उस उल्लघके समयमे और भी खण्ड कल्पना कर लिया। ज्ञानकी महिमा विचित्र है। मूल बात यह कही जा रही है कि यद्यपि एक समयकी पर्यायका छद्मस्थ जीव परिचय नही करते, फिर भी उसका अनुमान और आगम द्वारा, युक्ति द्वारा उसका बोध किया करते है और यह एक समयकी पर्याय चूकि अन्यसे सम्बन्ध नही निरखा जा रहा इसलिए शुद्ध है और ऐसे शुद्धकी अनित्य पर्यायके निरखते समय जीवके विकल्प नही दौडा करते। उन विकल्पोका उपशमनका अवसर है, इस कारण मुमुक्षु जन इस नयकी दृष्टिसे भी लाभ लिया करते है, परन्तु इसका यदि एकान्त हो जाता है तो वस्तुस्वरूप खण्डित हो जाता है। इसलिए प्रमाण द्वारा जिन्होंने वस्तुस्वरूपका परिचय किया है उनको ही अधिकार है कि कभी-कभी इस नयका उपयोग भी करें।

सत्तासापेक्ष अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नामका पर्यायार्थिकहेतुक निश्चय— पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनयका चौथा प्रकार है—सत्तासापेक्ष अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय। इस नयकी दृष्टिमे पर्याय तो देखा जा रहा है, मगर ध्रुवताकी अपेक्षा रखते हुए देखा जा रहा है चूंकि उत्पादव्यय देखा जा रहा है, इसलिए अशुद्ध पर्याय अनित्य है और सत्तासापेक्ष देखा जा रहा है इस कारण यह निश्चयनयकी ओर जा रहा है। इस नयका विषय है, जैसे

पर्याय उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक तो द्रव्य होता है, लेकिन द्रव्यसे सर्वथा भिन्न पर्याय नही होती और चूंकि इस नयकी दृष्टिमे पर्यायपनेके नातेसे पर्यायको देखा जा रहा है तो चूंकि पर्याय बिना कभी द्रव्य हो ही नही सकता, प्रतिसमय द्रव्यमे कोई न कोई पर्याय रहेगी ही, इसलिए पर्याय ध्रुव है याने पर्याय सदा रहा करेगी। पर्यायोका कभी उल्लघन न होगा अर्थात् पर्यायशून्य कभी द्रव्य हो जाय, ऐसा त्रिकाल नहीं होता, इस कारण पर्याय ध्रुव है और चूंकि पर्याय उत्पन्न हुई है, नष्ट हुई है वह वस्तुका परिणमन है, इस कारण उत्पादव्यय है। इस प्रकार पर्यायको उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक निरखना इस दृष्टिका विषय है। इस नयके उपयोगसे वस्तुस्वरूपके अधिगममे सहायता मिलती है। पदार्थ हमेशा रहेगा और पर्यायरूप रहेगा, फिर भी वहाँ उनमे पर्याय प्रतिक्षण नवीन-नवीन होती जायगी, पुरानी-पुरानी विलीन होती जायगी। इस प्रकार एक शुद्ध वस्तुका स्वरूप जाना जा रहा है। साथ ही ऐसा वस्तुस्वरूप जाननेमे स्वतन्त्रका भी बोध हो रहा है। प्रत्येक पदार्थमे ऐसी ही विधि है, और इस विधिमे कोई किसीकी पर्यायको ग्रहण नही करता, इसलिए प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है, ऐसा इस नयमे परिचय मिलता है।

कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्य शुद्धपर्यायार्थिक नामका पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय—पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनयका ५वाँ प्रकार है कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्य शुद्धपर्यायार्थिकनय। इस नयमे दिखाया तो जा रहा है ससारी जीवोको, पर उन्हे दिखाया जा रहा है एक बाह्य-दृष्टिमे पर्याय रूपसे, किन्तु केवल परिणमन सामान्यकी दृष्टिसे। और साथ ही निरखा जा रहा है कर्मोपाधिकी अपेक्षासे रहित। तो जहाँ कर्मोपाधिकी अपेक्षा छोड दी, केवल परिणमनको ग्रहण किया तो उपाधि निरपेक्ष परिणमन तो परिणमन ही है। उस परिणमनमे विकार तो न देखा जा सकेगा। परिणमन सामान्य देखा जा रहा है, और उस परिणमनकी दृष्टिसे जैसा सिद्धका परिणमन है तैसा ससारी जीवोका परिणमन है। यह बात विशेष ध्यानमे देनी है। कर्मोपाधिकी अपेक्षा छोड़कर केवल परिणमन सामान्यको देखा जा रहा है। परिणमन विशेष-पर दृष्टि नही है। चूंकि प्रत्येक पदार्थमे परिणमनकी कला है और उस कलामे नया परिण-मन होता है, इतनी भी बात यहाँ देखी जा रही है। निमित्त सन्निधान या निमित्त वियोग, इसके कारण प्रभावित पर्यायकी यहाँ दृष्टि नही है, अतः इस दृष्टिमे यही देखा जा रहा है कि संसारी जीवका परिणमन सिद्धपर्यायके समान शुद्ध है। यह शुद्धता केवल परिणमन सामान्य रूप है, यह दृष्टिमे रखकर इस नयका विषय समझना चाहिए।

कर्मोपाधिसापेक्ष अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नामक पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय—पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनयका छठवाँ प्रकार है कर्मोपाधिसापेक्ष अनित्यअशुद्धपर्यायार्थिकनय। इस नयकी दृष्टिमे अशुद्ध विकारी पर्यायको ग्रहण किया गया है और साथ ही इसमे कर्मोपाधि-

की अपेक्षा है, पर मुख्य विषय द्रव्य है याने द्रव्यके बारेमे जाननेका प्रयास है, इस कारण यह कर्मोपाधिसापेक्ष अनित्य अशुद्धपर्यायार्थिकनय नामका पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय है। इस नय की दृष्टिका उदाहरण हैं, जैसे ससारी जीवोके जन्म-मरण होते है यहाँ किसकी चर्चा चल रही है ? ससारी जीवोकी। जीवद्रव्य है और ससारी विशेषण लगनेसे अशुद्ध द्रव्य हो गया, उस अशुद्ध द्रव्यकी बात चल रही है। अतएव यह पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय है। इस नयकी दृष्टिसे यह शिक्षा मिलती है कि वर्तमानमे वास्तविकता यह ही हो रही कि यह ससारी जीव कर्मके परतत्र होता हुआ जन्म-मरण प्राप्त कर रहा है। याने किसी भवको छोडकर किसी अन्य भवको ग्रहण करता रहता है। यह कोई सम्भावित बात नही है कि मात्र दिख गया हो ऐसा और वास्तविकता कुछ न हो। इस समय इसकी स्थिति ऐसी ही है कि इस जीवका यह अशुद्ध परिणमन चल रहा है। यदि इसको अवास्तविक माना जाय अर्थात् एक भ्रम कल्पना ही माना जाय, ये होते नही हैं जीवके। होते होंगे किसी अन्य प्रकृति आदिकके, तो इस कपोल कल्पनाके आशयमे इस जीवको इस विपत्तिसे बचनेका प्रयास करनेका अवसर नही मिलता। यहाँ तक विवरण पद्धति वाले निश्चयनयका वर्णन हुआ।

उपचरित असद्भूत व्यवहारनय—अब व्यवहारनयका वर्णन चलना है। निश्चयनय और व्यवहारनयमे यहाँ यह अन्तर जानना कि निश्चयनयमे तो एक दृष्टिसे अभेददृष्टिसे एक परिचय बताया गया और इस व्यवहारनयसे इन समग्र बातोका प्रतिपादन किया जा रहा है। व्यवहारनयका अर्थ है कि जो वस्तुको भेदकी मुख्यतासे देखे, विशेष एव बहिरग विषयकी मुख्यतासे देखे। अनेक वस्तुओके सम्बधकी दृष्टि बनाकर देखे यह सब व्यवहारनय कहलाता है। इस व्यवहारनयके चार भेद है। पहला प्रकार है—उपचरितअसद्भूत व्यवहारनय। इस नयकी दृष्टि समझनेके लिए इन तीन शब्दोपर विशेष ध्यान देना—उपचरित, असद्भूत और व्यवहार। व्यवहार कहते है प्रतिपादन करनेको, जिसमे व्यवहरण हो, प्रतिपादन हो, लोग समझें, समझा जाय, प्रतिबोधकी विधि बने, ऐसी प्रयोगात्मक विधिको व्यवहारनय कहते हैं। तो व्यवहारके मायने है प्रतिपादन, और असद्भूतका अर्थ है कि जो वस्तुमे अपने सत्त्वसे तो न हो याने सहजस्वभाव तो नही है, किन्तु हो गया है, होता है ऐसा कि परपदार्थका निमित्त सन्निधान पाकर कोई विकार उपादानमे हुआ करता।

जैसे किसी रग बिरगी चीजका सन्निधान हुआ, तो दर्पण उन रगबिरगोके अनुकूल परिणम जाता है, प्रतिबिम्बित हो जाता है तो ऐसे ही आत्मामे जो भाव अपने स्वरूप से तो नही है, किन्तु कर्मविपाकका सन्निधान पाकर हुए हो तो वे असद्भूत कहलाते है, तो रागादिक भाव असद्भूत हैं। उनका प्रतिपादन करना असद्भूत व्यवहार है और ये आत्माके

है । इस प्रकार उन रागादिक भावोको आत्माके कहना, यह उपचरित है । तो उपचरित तो कहलाया कि जो आत्माकी चीज तो नही है, किन्तु जिस निमित्तका सान्निध्य पाकर हुआ है उस निमित्तके न बनाकर और निरपराध निरपेक्ष अशुद्ध होकर भी सन्निधान स्ववश आत्मा के कहना, यह हुआ उपचरित असद्भूतव्यवहार । यहाँ यह ध्यानमे देना कि असद्भूत तो कहलाना है पर-उपाधिका निमित्त पाकर होने वाला भाव, किन्तु वह भाव यदि बुद्धिगत है, समझने समझानेके व्यवहारमे आता है उसे आत्माका कहना सो उपचार है । तो इस दृष्टिमे इतनी बात आयी कि ये क्रोधादिक विभाव केवल जीवके तो है नही, क्योकि ये पौद्गलिक कर्मके विपाक है । पुद्गलकर्मका उदय आया और वह अनुभाग, वह पुद्गलकर्मकी दशा जो उस उदयमे बनी है वह सब इस आत्मामे प्रतिबिम्बित हुआ और उसे इस आत्माने अपनी बुद्धिमे लिया, ऐसा क्रोधादिक भावोका प्रतिपादन होना सो उपचरित असद्भूत व्यवहारनय है । इससे शिक्षा यह मिलती है कि ये विभाव आत्माके स्वरूप नही है, क्योकि ये असद्भूत हैं, ये आत्माके नही कहे जाने चाहिएँ, क्योकि ये औपाधिक है । तो इन समस्त विभावोको पौद्गलिक जानकर पुद्गल विपाकका प्रतिफलन जानकर इनसे अपना लगाव न रखना चाहिए और इससे विरक्त रहकर निज शुद्ध स्वभावकी ओर उन्मुख होना चाहिए ।

अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय—दूसरा व्यवहारनय है अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय । इसमे विषय तो वही है जो उपचरित असद्भूत व्यवहारनयमे था याने कर्मोपाधि का सन्निधान पाकर जो विकार हुए वे असद्भूत है, उसका ही कथन है, किन्तु जो बुद्धिमे न आयें, ऐसे सूक्ष्म विभावोको विषय किया है इस नयने । उपचार नही हो सकता । किसका है, कैसा है, इसका विवरण नही चलता । आगमसे और युक्तिसे जाना कि कर्मविपाकका सन्निधान पाकर नियमसे प्रतिफलन होता है तो वह प्रतिफलन विभाव है, असद्भूत है । किन्तु बुद्धिगत नही है, अतएव अनुपचरित है । जैसे जो सूक्ष्म रागादिक भाव है उनका उपचार तो हो नही सकता, क्योकि वे सूक्ष्म हैं और बतलाने समझानेके व्यवहार तकमे नही आ पाते, इस कारण अनुपचरित हैं और केवल जीवसे नही होते इसलिए असद्भूत है, और फिर उनको जीवके बताया गया, प्रतिपादन किया गया, यह व्यवहार है । इस नयसे समझ बनाकर यह शिक्षा लेनी चाहिए कि जीवके जो सहज ज्ञायकस्वरूप हैं और जीवकी जो कुछ भी शक्तियाँ है, अनुजीवी गुण है उनका परिणमन उसके अतिरिक्त जो भी परिणाम हैं वे विभाव परिणाम है । कितने ही सूक्ष्म हो, बुद्धिमे भी नही आ रहे, फिर भी ये विभाव हैं और हेय तत्त्व हैं, जो आगमसे जाने, युक्तिसे जाने उससे भी विरक्तता होनी चाहिए ।

उपचरित सद्भूतव्यवहारनय—व्यवहारनयका तीसरा प्रयोग है उपचरित सद्भूत-

व्यवहारनय । इस नयकी दृष्टिमे बात तो सद्भूत कही जा रही है याने उसी वस्तुका गुण उसी वस्तुमे बतया जा रहा, यह सद्भूतपना है, पर उस गुणका परकी अपेक्षासे व्यवहार हो तो वह उपचरित हो जाता है । जैसे यह कहना कि आत्मा स्व और परका ज्ञाता है । विशुद्धता तो यह है कि आत्मा जाननस्वभाव वाला है, अब उसे किसका जानने वाला है, इसके उत्तरके रूपमे प्रमेय पदार्थका सम्बध जैसा बताकर कहा जाय तो यह उपचरित सद्भूतव्यवहारनय हो जाता है । आत्मा स्व-परका ज्ञाता है सो यह आत्माका गुण ही है । यह किसी उपाधिसे नही आया, इस कारण सद्भूत है, और उस ज्ञातापनका आत्मासे भेद कहकर बताया जा रहा है कि यह आत्मा स्व और परका ज्ञाता है, यह उपचरित व्यवहार है । आत्मा वास्तवमे किस प्रकारका स्वभाव किए हुए है इस तथ्यको सही रूपमे रखता है तो स्व-परका ज्ञाता है यह रूप नही रखा जा सकता । यह तो एक उपचरित व्यवहारसे समझाया गया है। आत्मा तो स्वय सहजसामान्यविशेषात्मक है और उसकी अर्थक्रिया भी चलती है । उसको समझानेके लिए स्व-परका ज्ञाता है—यो भेदरूप करके कथन करना यह है उपचरित सद्भूतव्यवहारनय ।

अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय—व्यवहारनयका चौथा प्रकार है अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय । इस नयने अनुपचरित तत्त्वको ही बताया, सद्भूत तत्त्वको ही बताया । जिस तत्त्वको बताया वह एक पवित्र तत्त्व है, पर उसका व्यवहार किया वह अनुपचरित सद्भूतव्यवहार है । जिस पदार्थमे जो गुण है उसे उसीके ही बताया, पर बुद्धिकी अपेक्षारहित बताया तो यह अनुपचरित कहलाता है । जैसे ज्ञान जीवका गुण है, यद्यपि जीव जानता है तो जाननेमे क्या आया, क्या बात बनी, हुआ क्या जाननेमे, उसका वर्णन तो स्व और पर का उपचार करके कहा जायगा, पर यहाँ उपचार नही किया गया । केवल एक ज्ञानशक्ति ही बता दी गई । तो जीवका ज्ञान गुण है । यहाँ अनुपचरित है, सद्भूत है और चूकि यह है निश्चयनयका विषय । प्रतिपादन करने वाला है अतएव व्यवहारनय है । इस प्रकार जिन नयोसे वस्तुस्वरूपका परिचय कराया जाता है उन नयोकी बात कही गई है । नयोसे वस्तुका परिचय करके ज्ञान, उपादान और उपेक्षा अर्थात् त्यागने योग्यको त्याग देना, ग्रहण करने योग्यको ग्रहण कर लेना और उपेक्षा योग्यकी उपेक्षा कर लेना, यह उसका फल है ।

द्विविध सद्भूतव्यवहारनयोका वर्णन--व्यवहारनयका परिचय अन्य प्रकारसे भी होता है, जिन्हे ५ प्रकारोमे विभक्त कर लेना चाहिए । पहला प्रकार है शुद्ध सद्भूतव्यवहारनय । पदार्थ तो शुद्ध है अर्थात् परसे विभक्त और स्वमे तन्मय है, अवक्तव्य है, अखण्ड है, स्वभावात्मक है उस शुद्ध पदार्थमे गुणगुणीका भेद करना, पर्याय पर्यायवानका भेद करना यह शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय कहलाता है । जैसे यहाँ बताते कि चेतन द्रव्यमे चेतन है तो

चेतनद्रव्य अखण्ड है, जो है सो ही है, एकस्वरूप है। फिर भी उसमे स्वभाव-स्वभाववान का भेद करके बताया कि चेतन द्रव्यमें चेतन है अथवा शुद्ध पर्याय और शुद्धपर्यायीका भेद करके बताया। जैसे—आत्माकी स्वाभाविक पर्याय सिद्धपर्याय है। अब जैसे सिद्धप्रभुका कोई ध्यान करता है, ध्यानमें लेता है तो उस ध्यानमे सिद्धप्रभु किस प्रकारसे विषयभूत होते है ? एक शुद्ध अखड ज्योति। वहाँ द्रव्य है और इस शुद्ध पर्यायके रूपमे देखा जा रहा है। जो भी परखा गया उसको पर्याय और पर्यायवानका भेद करके कहना कि सिद्धभगवानका शुद्ध पर्याय है, आत्माकी स्वाभाविक पर्याय सिद्धपर्याय है। इस तरह पर्याय और पर्यायवानमे भेद करके कहना, यह शुद्ध सद्भूतव्यवहार है। दूसरा व्यवहार है अशुद्ध सद्भूतव्यवहार। किया तो जा रहा है सद्भूतका व्यवहार, परन्तु वह सद्भूत अशुद्ध है याने उस ही द्रव्यके अशुद्ध परिणमन का उस ही द्रव्यमे व्यवहार किया जावे तो वह अशुद्ध सद्भूतव्यवहार है। इस नयमे अशुद्ध गुण और अशुद्ध गुणीका भेद करके कथन होता है तथा अशुद्ध पययका अशुद्ध पर्यायवानसे भेद करके कथन होता है। जैसे कहना कि अज्ञानी जीवके भाव अज्ञानरूप हैं, तो वह जीव अज्ञानी है, उस द्रव्यकी विशेष रूपसे व्याख्या हुई है कि अज्ञानी जीव। उस अज्ञानी जीवके परिणमनको व्यवहारमे कहना सो अशुद्ध सद्भूतव्यवहार है।

त्रिविध असद्भूतव्यवहारनयोका वर्णन—तीसरा व्यवहार है स्वजाति असद्भूत-व्यवहार। यहा अब असद्भूतका वर्णन चलेगा। इस नयकी दृष्टिमे प्रयोजनवश अन्य रूपसे वर्णन किया गया है। जैसी बात नही है, जिसका धर्म नही है किसी सम्बन्धके कारण वह धर्म अन्यमे बताना, किन्तु बताना अपनी जाति वालेमे। तो ऐसा अपनी जातिमे असद्भूत तत्त्वका व्यवहार आरोप करना स्वजातिका असद्भूतव्यवहारनय है। जैसे कहना कि परमाणु बहुप्रदेशी है। वास्तवमे परमाणु बहुप्रदेशी नही होता, परमाणु तो एकप्रदेशी ही होता, किन्तु अनेक परमाणुओका सम्बन्ध होनेके कारण एक स्कध बनता है और स्कध बहुप्रदेशी है। स्कध यद्यपि द्रव्य नही है, किन्तु वह अनेक द्रव्योका समुदाय है, लेकिन है तो बहुप्रदेशी तो स्कंध को बहुप्रदेशका स्कधकी जातिमे आये हुए परमाणुमे आरोप करना स्वजाति असद्भूत व्यवहार है। इस नयसे यह निर्णय बताया गया है कि असद्भूत तत्त्व वास्तविक तथ्य तो नही है, लेकिन उसका व्यवहार उसकी ही जातिमे किया गया है। तो वस्तुस्वरूपके परिचय का वर्णन है। कहाँ किस प्रकारसे वस्तुका परिचय किया जाता है ? यह सब कथन इन नयोके प्रकरणमे कहा गया है। चौथा प्रकार है विजातीय असद्भूतव्यवहारनय। इस नयमे व्यव-हार तो किया गया असद्भूतका याने जो पदार्थमे वास्तविक तो नही है, किन्तु किसी पर-उपाधि सम्बन्धवश उसका उपचार किया गया है, जैसे यहा कहना कि मतिज्ञान मूर्त है, आत्मा मूर्त है तो आत्मा अथवा मतिज्ञान ये कुछ वास्तवमे मूर्त तो नही है, किन्तु जब आत्मा

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी
'सहजानन्द' महाराज विरचितम्

सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम्

।। शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।

यस्मिन् सुधाम्नि निरता गतभेदभावाः, प्रापुर्लभन्त अचल सहजं सुशर्म ।
एकस्वरूपममल परिणाममूल, शुद्ध चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ।।१।।

शुद्ध चिदस्मि जपतो निजमूलमत्र, ॐ मूर्ति मूर्तिरहित स्पृशतः स्वतत्रम् ।
यत्र प्रयान्ति विलय विपदो विकल्पा, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।२।।

भिन्न समस्तपरतः परभावतश्च, पूर्णं सनातनमनन्तमखण्डमेकम् ।
निक्षेपमाननयसर्वविकल्पदूर, शुद्ध चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ।।३।।

ज्योति पर स्वरमकर्तृ न भोक्तृ गुप्त, ज्ञानिस्ववेद्यमकल स्वरसाप्तसत्त्वम् ।
चिन्मात्रधाम नियत सततप्रकाश, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।४।।

अद्वैतब्रह्मसमयेश्वरविष्णुवाच्य, चित्पारिणामिकपरात्परजपमेयम् ।
यद्दृष्टिसश्रयणजामलवृत्तितान, शुद्ध चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ।।५।।

आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमश, भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्ट्याम् ।
आनदशक्तिदृशिबोधचरित्रपिण्ड, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।६।।

शुद्धान्तरङ्गसुविलास [illegible] ।
निष्पीतविश्वनिजपर्यय [illegible] सहजं परमात्मतत्त्वम् ।।७।।

[illegible] समाधि ।
[illegible] ।८।।

उपचार लोग तीन प्रकारसे किया करते है—एक तो अपनी जातिमें, जिसका नाम है स्वजाति उपचरित असद्भूतव्यवहार। जैसे एक यह कहना कि पुत्र, स्त्री, बंधु, मित्र मेरे है। तो चेतन मे व्यवहार किया, इसलिए स्वजाति है और मेरा नही है फिर भी मेरा कहा जा रहा, यह असद्भूतव्यवहार है। यदि कोई अचेतनको ही अपनाये कि वस्त्र, मकान मेरे है तो यह भी असद्भूतका ही व्यवहार किया गया, किन्तु किया गया विजातिमे अर्थात् मेरा है यह, इस शब्दसे जिसने कहा—मै वह तो चेतन है और इस मेरेपनका उपचार व्यवहार किया गया है विजातिमे अचेतनमे तो यह है विजातीय उपचरित असद्भूतव्यवहार। यदि कोई यह बताये कि यह देश, नगर मेरा है तो देश क्या चीज है? चेतन और अचेतन पदार्थोंका समुदाय। मनुष्य भी है, मकान भी हैं, पशु-पक्षी भी है, इन सबका मिलकर जो रूप बना वह कहलाता है देश। तो देश हुआ स्वजाति और विजातिरूप, उसमे मेरेपनका व्यवहार किया गया, यह हुआ स्वजातिविजाति असद्भूतव्यवहार। यह सब उपचार मात्र है। और इन तीनो उपचारो से पहले जितना जो कुछ भी कथन आया वह वस्तुस्वरूपके परिचयके लिए था।

नयोका मूलरूप और नयोके वर्णनका प्रयोजन—ये नय जितनी दृष्टियाँ बनायी जायें उतने बन जाते है। पर सभी नयोके मूल स्रोत दो ही है—(१) भेदनय और (२) अभेदनय। प्रत्येक मनुष्य या तो अभेदमें कोई शामिल है या कोई भेदनयमें शामिल है। इन नयोके परिचयसे लाभ यह है कि भेदनय और अभेदनयसे वस्तुके समस्त तथ्य पहिचाने जाते है। पहिचानकर यह ज्ञानी भव्य जीव भेदनयको गौण करता है, क्योकि भेदनय विकल्पकी ओर ले जाता है और अभेदनयको मुख्य करता है, क्योकि अभेदनय आत्माके उपयोगको अभेदकी ओर ले जाकर एक विकल्पजालसे दूर करता है, फिर भी ये दोनो विकल्प हैं। ज्ञाता पुरुष इन दोनो नयोका उपयोग सही उठाकर फिर दोनो नयोसे भी अतीत होकर एक निज अनुभवनमात्र स्थितिमें रहता है। ऐसी एक मगलमय अनुभूति जिन भव्य जीवोको चाहिए उनका कर्तव्य है कि सर्वप्रथम नयोंके द्वारा वस्तुका सही परिचय करें, प्रमाणके द्वारा उसे प्रमाणित करें और अन्तमे सर्वविकल्पोसे अतीत एक सहज अन्तस्तत्त्वका अनुभव कर इस मगलमय समाधिको प्राप्त होवें। इसके लिए ही इस प्रथम अध्यायमे वस्तुस्वरूपके अधिगमका उपाय विस्तारपूर्वक कहा गया है।

॥ मोक्षशास्त्र प्रवचन दशम भाग समाप्त ॥

का कर्म-उपाधिके साथ बन्धन है तो उस बन्धनके प्रति एकत्व होनेसे आत्मा अमूर्त कहा जाता है, तो यह स्थिति मूर्त द्रव्यके सम्बन्धके कारण बनी है, उसका आत्मामे व्यवहार करना विजातीय असद्भूतव्यवहार है। ९वा प्रकार है स्वजाति विजातीय असद्भूतव्यवहार, याने इस नयकी दृष्टिमे कथन तो होगा असद्भूतका, मगर उस असद्भूतका ऐसे पदार्थमे उपचार किया गया है जो पदार्थ उस धर्मके स्वजातिमे आता और विजातिमे भी आता। जैसे यह कहना कि जीव व अजीव दोनो ही ज्ञान है, क्योकि ज्ञानके विषयभूत होनेसे। एक दार्शनिकका सिद्धान्त है कि जगतमे जो कुछ है वह सब ज्ञान ही ज्ञान है। ज्ञानमे आया तो हमने जाना। ज्ञानमे नही है तो हम जानें क्या ? तो वह पदार्थ वस्तुत कुछ नही है, किन्तु वह ज्ञानका ही परिणमन है। तो यह ज्ञान बताया जा रहा स्वजाति और विजातीय दोनो मे। ज्ञानका जो विषय है वह स्वय ज्ञान तो नही है, फिर भी उसमे ज्ञानका उपचार है और उसे बताया जा रहा है ज्ञानका जाति वाला द्रव्य जीवमे और ज्ञानके विरुद्ध द्रव्य अजीवमे। तो इस तरह ज्ञानके विषयमे ज्ञानका व्यवहार करना और उसे जीव और अजीवके कहना यह स्वजाति विजाति असद्भूतव्यवहारनय है। इस तरह यह सब नयोका वर्णन हुआ।

प्रमाण और नयोकी उपयोगिताका समर्थन—प्रमाणसे भले प्रकार परिचय किए हुए पदार्थमे किसी दृष्टिको मुख्य करके उस विषयको प्रधानतया जानना, सो यह है नयका विषय। नयोके परिचयसे प्रमाणका परिचय बनता है और प्रमाणके परिचयसे नयोमे समीचीनता आती है। इस प्रकार जो इस अध्यायमे ग्रन्थकार उमास्वामी महाराजने जो एक उद्देश्य बताया था प्रथम अध्यायमे कि जीवोको मोक्षमार्ग अभीष्ट है, वह मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप है। सम्यग्दर्शन कहते है पदार्थका जैसा भूतार्थ विधिसे स्वरूप है उस रूपमे पदार्थका परिचय करना, उस परिचयके लिए आत्मतत्त्व और अनात्मतत्त्वका परिचय आवश्यक है, अर्थात् पदार्थोका परिचय किया जाना चाहिए। सो उस परिचयका मुख्य उपाय एक सूत्रमे प्रमाण और नय बताया था। तबसे इस ही विषयका वर्णन चल रहा है कि वह प्रमाण और नय क्या है, कैसा है, जिसके द्वारा वस्तुका परिचय होता है ? उस वर्णनमे नय तकका वर्णन यहाँ समाप्त हुआ है। अब अविशिष्ट थोडी बात और समझनी चाहिए कि प्रमाण और नयोंसे तो पदार्थके किसी तथ्यका परिचय होता है, लेकिन तथ्यका जहाँ सम्बध तो नही है, केवल जीवोके मोह रागद्वेषवश कल्पना जग रही है तो ऐसा परिचय, ऐसा व्यवहार न प्रमाणमे आता, न नयमे आता, किन्तु वह सब उपचार मात्र है। निश्चयनय और व्यवहारनय—ये तो वस्तुके तथ्यको बताते है। एक विधिरूपसे बताता, दूसरा निषेध रूपसे बताता, पर परिचय करने वालेका उद्देश्य विशुद्ध स्वरूपका परिचय करता है। लेकिन एक पदार्थको दूसरे पदार्थका कह डालना यह तो उपचार है। नयमे भी शामिल नही होता। तो

उपचार लोग तीन प्रकारसे किया करते है—एक तो अपनी जातिमे, जिसका नाम है स्वजाति उपचरित असद्भूतव्यवहार। जैसे एक यह कहना कि पुत्र, स्त्री, बंधु, मित्र मेरे है। तो चेतन मे व्यवहार किया, इसलिए स्वजाति है और मेरा नही है फिर भी मेरा कहा जा रहा, यह असद्भूतव्यवहार है। यदि कोई अचेतनको ही अपनाये कि वस्त्र, मकान मेरे है तो यह भी असद्भूतका ही व्यवहार किया गया, किन्तु किया गया विजातिमे अर्थात् मेरा है यह, इस शब्दसे जिसने कहा—मैं वह तो चेतन है और इस मेरेपनका उपचार व्यवहार किया गया है विजातिमे अचेतनमे तो यह है विजातीय उपचरित असद्भूतव्यवहार। यदि कोई यह बताये कि यह देश, नगर मेरा है तो देश क्या चीज है? चेतन और अचेतन पदार्थोंका समुदाय। मनुष्य भी है, मकान भी है, पशु-पक्षी भी है, इन सबका मिलकर जो रूप बना वह कहलाता है देश। तो देश हुआ स्वजाति और विजातिरूप, उसमे मेरेपनका व्यवहार किया गया, यह हुआ स्वजातिविजाति असद्भूतव्यवहार। यह सब उपचार मात्र है। और इन तीनो उपचारो से पहले जितना जो कुछ भी कथन आया वह वस्तुस्वरूपके परिचयके लिए था।

नयोका मूलरूप और नयोके वर्णनका प्रयोजन—ये नय जितनी दृष्टियाँ बनायी जायें उतने बन जाते हैं। पर सभी नयोके मूल स्रोत दो ही है—(१) भेदनय और (२) अभेदनय। प्रत्येक मनुष्य या तो अभेदमें कोई शामिल है या कोई भेदनयमें शामिल है। इन नयोके परिचयसे लाभ यह है कि भेदनय और अभेदनयसे वस्तुके समस्त तथ्य पहिचाने जाते है। पहिचानकर यह ज्ञानी भव्य जीव भेदनयको गौण करता है, क्योकि भेदनय विकल्पकी ओर ले जाता है और अभेदनयको मुख्य करता है, क्योकि अभेदनय आत्माके उपयोगको अभेदकी ओर ले जाकर एक विकल्पजालसे दूर करता है, फिर भी ये दोनो विकल्प है। ज्ञाता पुरुष इन दोनो नयोका उपयोग सही उठाकर फिर दोनो नयोसे भी अतीत होकर एक निज अनुभवनमात्र स्थितिमें रहता है। ऐसी एक मगलमय अनुभूति जिन भव्य जीवोको चाहिए उनका कर्तव्य है कि सर्वप्रथम नयोके द्वारा वस्तुका सही परिचय करें, प्रमाणके द्वारा उसे प्रमाणित करें और अन्तमें सर्वविकल्पोसे अतीत एक सहज अन्तस्तत्त्वका अनुभव कर इस मगलमय समाधिको प्राप्त होवें। इसके लिए ही इस प्रथम अध्यायमे वस्तुस्वरूपके अधिगमका उपाय विस्तारपूर्वक कहा गया है।

॥ मोक्षशास्त्र प्रवचन दशम भाग समाप्त ॥

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी
'सहजानन्द' महाराज विरचितम्

सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम्

।। शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।

यस्मिन् सुधाम्नि निरता गतभेदभावाः, प्रापुर्लभन्त अचल सहज सुशर्म ।
एकस्वरूपममल परिणाममूल, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।१।।

शुद्ध चिदस्मि जपतो निजमूलमत्र, ॐ मूर्ति मूर्तिरहित स्पृशतः स्वतत्रम् ।
यत्र प्रयान्ति विलयं विपदो विकल्पा, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।२।।

भिन्न समस्तपरतः परभावतश्च, पूर्णं सनातनमनन्तमखण्डमेकम् ।
निक्षेपमाननयसर्वविकल्पदूर, शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।३।।

ज्योतिः पर स्वरमकर्तृ न भोक्तृ गुप्त, ज्ञानिस्ववेद्यमकल स्वरसाप्तसत्त्वम् ।
चिन्मात्रधाम नियत सततप्रकाश, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।४।।

अद्वैतब्रह्मसमयेश्वरविष्णुवाच्य, चित्पारिणामिकपरात्परजपमेयम् ।
यद्दृष्टिसश्रयणजामलवृत्तितान, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।५।।

आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमश, भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्टयाम् ।
आनदशक्तिदृशिबोधचरित्रपिण्ड, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।६।।

शुद्धान्तरङ्गसुविलासविकासभूमि, नित्य निरावरणमञ्जनमुक्तमीरम् ।
निष्पीतविश्वनिजपर्यंयशक्ति तेजः, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।७।।

ध्यायन्ति योगकुशला निगदन्ति यद्धि, यद्ध्यानमुत्तमतया गदित समाधि ।
यद्दर्शनात्प्रवहति प्रभुमोक्षमार्ग, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।८।।

सहजपरमात्मतत्त्व स्वस्मिन्ननुभवति निर्विकल्प य ।
सहजानन्दमुवन्द्य स्वभावमनुपर्यय याति ।।९।।